पत्र व्यवहार का पता ☎ 32591[illegible]
विशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ
शाकाहार प्रचारक
7/36A, दरियागंज, अन्सारी रोड नई दिल्ली-2

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥ ॐ ॥ श्री महावीराय नमः ॥
सब जीव सुखी रहें-सबका मंगल हो।
सब जीव क्षमा करें-मेरा सब पर क्षमा भाव है।

पर्सनल फोन 3259145 EPABX फोन-3278202
3262046-3276200-3258384-3286635-3273800 Faxalso

पाप, [illegible] व अपने को बचाइये
घर को नरक नहीं, स्वर्ग बनाइये
[illegible] हों या [illegible], कभी न खावें [illegible]

पशु पक्षियों से प्यार करो, उन्हें मत खाओ
Love Animals, DON'T Eat Them

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

श्री स्वामी समन्तभद्र आचार्य रचित





॥ श्री ॥

पं. सदासुख ग्रन्थमाला पुष्प नं. ७

श्री स्वामी समन्तभद्र आचार्य रचित

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

हिन्दी टीकाकार (ढूँढारी भाषा)

पं. सदासुखदासजी कासलीवाल, जयपुर

卐

हिन्दी रूपान्तर :

मन्नूलाल जैन वकील, सागर

प्रस्तावना :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर



प्रकाशक

पं. सदासुख ग्रन्थमाला

अन्तर्गत

श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

वीतराग विज्ञान भवन, पुरानी मण्डी, अजमेर

प्रथम आवृत्ति : 5000

न्यौछावर राशि : 30/– (तीस रुपये मात्र)



प्राप्ति स्थान : पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए – 4, बापूनगर
जयपुर 302 015
दूरभाष : 515581, 515458

पं. सदासुख ग्रन्थमाला
वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
वीतराग विज्ञान भवन, पुरानी मण्डी, अजमेर
दूरभाष : 21397, 423153

मुद्रक : निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स
सुभाष गली, पुरानी मण्डी, अजमेर
दूरभाष : 422291

संक्षिप्त विषय सूची

शास्त्राभ्यास की महिमा

हे भव्य हो ! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं । शब्द या अर्थ का बाँचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारंबार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं, वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना, यदि सर्वशास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम या दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है, वहाँ जिसका बने उसका ही अभ्यास करना; परन्तु अभ्यास में आलसी न होना ।

देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होने पर परम्परा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, मोक्षरूपफल को प्राप्त होता है । यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं - (1) क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती हैं । (2) पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है । (3) अति चंचल मन भी एकाग्र होता है । (4) हिंसादि पाँच पाप नहीं होते । (5) स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीनकाल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है । (6) हेय-उपादेय की पहचान होती है । (7) आत्मज्ञान सन्मुख होता है अर्थात् ज्ञान आत्मसन्मुख होता है । (8) अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है । (9) लोक में महिमा-यश विशेष होता है । (10) सातिशय पुण्य का बंध होता है । सो इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना ।

तथा हे भव्य ! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति महादुर्लभ है; कैसे सो कहते हैं ।

एकेन्द्रियादि असंज्ञीपर्यंत जीवों को मन नहीं और नारकी वेदना से पीड़ित तिर्यंच विवेकरहित, देव विषयासक्त; इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलने पर शास्त्राभ्यास होता है । सो मनुष्यपर्याय की प्राप्ति ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महादुर्लभ है ।

वहाँ द्रव्य से तो लोक में मनुष्यजीव बहुत अल्प हैं, तुच्छ संख्यात-मात्र ही हैं, और अन्य जीवों से निगोदिया अनन्त हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं ।

तथा क्षेत्र से मनुष्यों का क्षेत्र बहुत स्तोक (थोड़ा ही) अढ़ाई द्वीप मात्र ही है और अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्व लोक है, दूसरों का कितने ही राजू प्रमाण है ।

और काल से मनुष्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल स्तोक है, कर्मभूमि-अपेक्षा पृथक्त्व कोटिपूर्व मात्र है और अन्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल-एकेन्द्रिय में तो असंख्यात पुद्गल-परावर्तनमात्र और अन्यों में संख्यात पल्यमात्र है ।

भाव अपेक्षा तीव्र शुभाशुभपने से रहित ऐसे मनुष्यपर्याय के कारणरूप परिणाम होने अतिदुर्लभ हैं । अन्य पर्याय के कारण अशुभरूप या शुभरूप होने सुलभ हैं । अशुभरूप व शुभरूप परिणाम होना दुर्लभ हैं ।

इस प्रकार शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याप्त कर्मभूमिया मनुष्यपर्याय उसका दुर्लभपना जानना।

– प्रस्तावना, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

शास्त्राभ्यास से प्रभावना

इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प हैं; इसलिए प्रयोजन मात्र अभ्यास करना, शास्त्रों का तो पार है नहीं । और सुन ! कुछ जीव व्याकरणादिक के बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषाशास्त्रों के द्वारा व उपदेश सुनकर तथा सीखने से तो तत्त्वज्ञानी होते देखे जाते हैं और कई जीव केवल व्याकरणादिक के ही अभ्यास में जन्म गंवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते हैं - ऐसा भी देखा जाता है ।

सुन ! व्याकरणादिक का अभ्यास करने से पुण्य नहीं होता; किन्तु धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे तो किंचित् पुण्य होता है तथा तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से सातिशय महान पुण्य उत्पन्न होता है; इसलिये भला तो यह है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना । इस प्रकार शब्द-शास्त्रादिक के पक्षपाती को सन्मुख किया ।

अब अर्थ का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या है ? सर्व कार्य धन से बनते हैं । धन से ही प्रभावना आदि धर्म होता है, धनवान के निकट अनेक पंडित आकर रहते हैं । अन्य भी सर्वकार्यों की सिद्धि होती है । अत: धन पैदा करने का उद्यम करना ।

उसको कहते हैं - अरे पापी ! धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो होता नहीं, भाग्य से होता है । ग्रन्थाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है । यदि धन होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा ? अगर नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा ? इसलिये धन का होना न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होता है? और सुन ! धन है वह तो विनाशीक है, भय संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादि का कारण है ।

जो यह शास्त्राभ्यास का ज्ञानधन है, वह अविनाशी है, भयरहित है धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में ही लगता है और तू पापी शास्त्राभ्यास को छोड़कर धन पैदा करने की बढ़ाई करता है, तो तू अनन्त संसारी है ।

तूने कहा कि प्रभावनादि धर्म भी धन से होता है; किन्तु वह प्रभावनादि धर्म तो किंचित् सावद्यक्रिया संयुक्त है; इसलिये समस्त सावद्यरहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है । यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावनादि धर्मसाधन थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में किसलिये लगते हैं ?

शास्त्राभ्यास करने से प्रभावनादि भी विशेष होती है ।

– प्रस्तावना, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

विस्तृत विषय सूची

षष्ठ–भावना अधिकार




सप्तम–सल्लेखना अधिकार

अष्टम–श्रावक पद अधिकार





प्रकाशकीय

प्राणी मात्र के लिए महान् कल्याणकारी पवित्र दिगम्बर जैन वीतराग धर्म को देश विदेशों में प्रचारित करने के मंगल उद्देश्य को हृदयंगत कर अध्यात्म रसिक धर्मनिष्ठ बम्बई प्रवासी - अजमेर निवासी श्री पूनमचंदजी लुहाड़िया द्वारा दिनांक १६ अप्रेल १९८५ को संस्थापित श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट अजमेर तत्व प्रचार कार्य में निरंतर प्रगतिशील है। ट्रस्ट की मुख्य गतिविधियों का परिचय ट्रस्ट के संकल्प एवं समर्पण का प्रतीक है।

पं. सदासुख ग्रन्थमाला द्वारा सत्साहित्य प्रकाशन

ग्रन्थमाला द्वारा निम्न ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

1. मृत्यु महोत्सव - इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।
2. सहज सुख साधन (ब्र. शीतलप्रसादजी) - इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।
3. बारह भावना शतक (द्वितीय खण्ड)
4. साधना के सूत्र
5. आगम रत्न - बोलती दीवारें
6. अध्यात्म पंच संग्रह (श्री पं. दीपचन्दजी कासलीवाल)

'मृत्यु महोत्सव' तथा 'सहजसुख साधन' की अत्यधिक माँग को दृष्टि में रखते हुए शीघ्र ही इनका चौथा संस्करण प्रकाशित किए जाने की योजना है।

श्री सीमन्धर जिनालय

श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के भव्य भवन में स्थित श्री सीमंधर जिनालय अजमेर में प्रतिदिन सामूहिक जिनेन्द्र पूजा एवं स्वाध्याय आदि का नियमित कार्यक्रम आत्मकल्याण के पिपासु धर्मानुरागी बंधुओं के आत्मावलोकन एवं चिंतन का एक सशक्त माध्यम है।

अन्य विविध धार्मिक गतिविधियाँ

अष्टाह्निका, दशलक्षण पर्व एवं अन्य विशेष प्रसंगों पर जैन दर्शन के उच्चस्तरीय प्रखर तत्त्वाभ्यासी आध्यात्मिक विद्वानों के कुशल निर्देशन एवं सान्निध्य में विशिष्ट पूजन विधान, तत्त्व गोष्ठी, प्रवचन, शिक्षण प्रशिक्षण शिविर संयोजन, जिनेन्द्र भक्ति संगीत के विशेष कार्यक्रम एवं आध्यात्मिकता पर आधारित विविध सांस्कृतिक अनुष्ठानों के माध्यम से धर्मप्रेमी आत्मार्थी बन्धुओं में वीतराग विज्ञान एवं तत्त्व की अभिरुचि जागृत करने की दिशा में ट्रस्ट निरंतर प्रयत्नशील रहा है। भारत वर्ष में विभिन्न स्थानों पर आयोजित शिक्षण प्रशिक्षण शिविरों में ट्रस्ट द्वारा प्रदत्त नियमित आर्थिक योगदान के माध्यम से देशव्यापी तत्व प्रचार के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हो रहा है। समाज के प्रतिभाशाली छात्र छात्राओं के प्रोत्साहन हेतु पुरस्कार योजना, आत्मार्थी ट्रस्टी बंधुओं के निवास हेतु कुंदकुंद निलय - आत्मार्थी

निवास-विराग वाटिका का निर्माण, श्री कुंदकुंद शोध संस्थान स्थापना की परिकल्पना, 'श्री पं. सदासुखदासजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व' पर स्वीकृत शोध प्रबंध के लिए शोधकर्त्ता विद्वान को 21000) सन्मान राशि एवं विशेष अभिनंदन की योजना आदि विविध कार्यक्रमों के माध्यम से ट्रस्ट अपने धर्म प्रचार उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृत संकल्पित है। शोध प्रबंध पर कार्य प्रारंभ हो चुका है।

श्री पं. सदासुखदास दिगम्बर जैन सिद्धांत विद्यालय जयपुर की स्थापना

महामनीषी विद्वान श्री पं. सदासुखदासजी द्वारा जिनधर्म के विश्वव्यापी प्रचार एवं समर्पण को चिर जीवित रखने की पावन भावना से अनुप्राणित होकर ट्रस्ट ने गत वर्ष श्री कुंदकुंद कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट बम्बई के अन्तर्गत संचालित श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धांत महाविद्यालय जयपुर की उपशाखा के रूप में श्री पं. सदासुखदास दि. जैन सिद्धांत विद्यालय जयपुर की स्थापना का महत्त्वपूर्ण कदम उठाकर उस पवित्र शृंखला को ठोस, स्थायी एवं रचनात्मक दिशा प्रदान की है।

इस विद्यालय के माध्यम से 25 छात्रों के भोजन, निवास शिक्षण आदि का पूरा खर्च कायमी रूप से वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट वहन करेगा।

श्री पं. सदासुखदासजी की सम्पूर्ण जीवनभर की धर्मप्रचार की पावन अभिलाषा एवं पावन संकल्प को भविष्य के लिए सदा जीवंत रखने की दिशा में उठाए गए इस कदम से दि. जैन वीतराग धर्म की पावन पताका युग युगांतर तक देश विदेशों में फहराती रहेगी। माँ जिनवाणी सदा जयवंत रहे ट्रस्ट का यही उद्देश्य है।

जनोपयोगी विविध योजनाएँ

लोकोपकारी प्राचीन सेवाभावी संस्था श्री जैन औषधालय अजमेर तथा श्री दिगम्बर जैन औषधालय कोटा को क्रमश: 2000) प्रतिमाह नियमित आर्थिक योगदान, समय-समय पर नेत्र शल्य दंत आदि के चिकित्सा शिविरों के संयोजन में विशेष अर्थ सहयोग, असहाय बंधुओं को सहायता आदि विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से ट्रस्ट निरन्तर मानव कल्याण के क्षेत्र में भी जागरूक है।

महान ग्रन्थ श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रकाशन

जैन वाङ्मय के महान मनीषी तार्किक चूडामणि परम पूज्य आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी की अद्वितीय रचना ग्रंथराज श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रकाशन पर ट्रस्ट अपने आप को गौरवान्वित अनुभव कर रहा है। चरणानुयोग के शास्त्रों में यह सर्वाधिक ख्याति प्राप्त, सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण सर्वमान्य श्रावकाचार निरूपक महान ग्रंथ है - यह परवर्ती श्रावकाचारों के लिए आधारभूत एवं आदर्श रहा है। इस भाषा ग्रन्थ में श्री पं. सदासुखदासजी ने श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान समन्वित शुद्ध जैनाचार का बहुत मार्मिक ढंग से निरूपण किया है - निश्चय व्यवहार की कथन शैली का अद्भुत सुमेल आज के धार्मिक वातावरण के लिए बहुत सामयिक एवं उपयोगी है। यह उनके पवित्र जीवन की अनवरत साधना एवं माँ जिनवाणी के प्रति पूर्ण समर्पण की पुनीत भावना का द्योतक है। ढूंढारी भाषा में लिखित

उनकी टीका के हिन्दी अनुवाद की समाज की चतुर्मुखी मांग को देखते हुए जिनवाणी सेवक विद्वान श्री मन्नूलालजी जैन वकील सागर ने लगभग एक वर्ष तक पूर्ण परिश्रम करके ढूँढारी भाषा का हिन्दी अनुवाद तैयार किया । दि. जैन धर्मानुरागी समाज एवं अजमेर ट्रस्ट उनका हार्दिक आभार मानता है ।

अर्न्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान श्री डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल जयपुर ने इसकी सुन्दर प्रस्तावना लिखकर जो उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है, ट्रस्ट हृदय से उनके प्रति आभार प्रकट करता है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर, श्री पं. पूनमचंदजी छाबड़ा तथा सभी दातार महानुभावों का जिन्होंने इसकी कीमत कम करने हेतु आर्थिक योगदान दिया है, ट्रस्ट आभार प्रदर्शित करता है ।

हमारे अनुरोध को स्वीकार करते हुए श्री पं. अरुणकुमारजी शास्त्री ब्यावर ने पूर्ण परिश्रम पूर्वक इसके संशोधन कार्य में जो बहुमूल्य योगदान दिया है, ट्रस्ट उनका आभार मानता है । ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स अजमेर के श्री जितेन्द्र पाटनी (पिंटूजी) का सहयोग भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

सभी तत्त्वानुरागी आत्मार्थी बंधुओं से अनुरोध है कि वे इस महान रचना का आद्योपांत एवं नियमित स्वाध्याय कर अपने अमूल्य मानव जीवन को आत्मकल्याण की ओर अग्रसर करें ।

विनीत

हीराचन्द बोहरा

मंत्री

दि. 1 मार्च 1996 — श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर



आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी...........एक परिचय

रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी हैं । प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों एवं पूज्य महात्माओं में आपका स्थान बहुत ऊंचा है । आप समन्तातभद्र थे - बाहर भीतर सब ओर से भद्र रूप थे । आप बहुत बड़े योगी, त्यागी, तपस्वी एवं तत्त्व ज्ञानी थे । आप जैन धर्म एवं सिद्धान्तों के मर्मज्ञ होने के साथ ही साथ तर्क, व्याकरण छन्द अलंकार और काव्य-कोषादि ग्रन्थों में पूरी तरह निष्णात थे । आपको 'स्वामी' पद से खास तौर पर विभूषित किया गया है । आप वास्तव में विद्वानों, योगियों त्यागी-तपस्वियों के स्वामी थे ।

जीवनकाल : आपने किस समय इस धरा को सुशोभित किया इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । कोई विद्वान आपको ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद का बताते हैं तो कोई ईसा की सातवीं आठवीं शताब्दी का बताते हैं । इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय पंडित जुगल किशोर जी मुख्तार ने अपने विस्तृत लेखों में अनेकों प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया है कि स्वामी समन्तभद्र तत्वार्थ सूत्र के कर्त्ता आचार्य उमास्वामी के पश्चात् एवं पूज्य पाद स्वामी के पूर्व हुए है अतः आप असन्दिग्ध रूप से विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के महान विद्वान थे । अभी आपके सम्बन्ध में यही विचार सर्वमान्य माना जा रहा है ।

जन्म स्थान : पितृ कुल गुरुकुल – संसार की मोहमता से दूर रहनेवाले अधिकांश जैनाचार्यों के मातापिता तथा जन्म स्थान आदि का कुछ भी प्रमाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है । समन्तभद्र स्वामी भी इसके अपवाद नहीं हैं । श्रवणबेलगोला के विद्वान श्री दोर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्र भंडार में सुरक्षित आप्तमीमांसा की एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रति के निम्नांकित पुष्प का वाक्य ''इति श्री फणिमंडलालंकार स्योरगपुराधिपसूनोः श्री स्वामी समन्तभद्र मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्''[1] से स्पष्ट है कि समन्तभद्र फणिमंडलान्तर्गत उरगपुर के राजा के पुत्र थे । इसके आधार पर उरगपुर आपकी जन्म भूमि अथवा बाल क्रीडा भूमि होती है । यह उरगपुर ही वर्तमान का ''उरैयूर'' जान पड़ता है। उरगपुर चोल राजाओं की प्राचीन राजधानी रही है । पुरानी त्रिचनापल्ली भी इसी को कहते हैं । आपके माता-पिता के नाम के बारे में कोई पता नहीं चलता है । आपका प्रारंभिक नाम शान्ति वर्मा था । दीक्षा के पहिले आपकी शिक्षा या तो उरैयूर में ही हुई अथवा कांची या मदुरा में हुई जान पड़ती है क्योंकि ये तीनों ही स्थान उस समय दक्षिण भारत में विद्या के मुख्य केन्द्र थे । इन सब स्थानों में उस समय जैनियों के अच्छे अच्छे मठ भी मौजूद थे । आपकी दीक्षा का स्थान कांची या उसके आसपास कोई गांव होना चाहिये। आप कांची के दिगम्बर साधु थे ''कांच्यां नग्नाटकोऽहं'' ।

पितृ कुल की तरह समन्तभद्रस्वामी के गुरुकुल का भी कोई स्पष्ट लेख नहीं मिलता है । और न ही आपके दीक्षा गुरू के नाम का ही पता चल पाया है । आप मूलसंघ के प्रधान आचार्य थे ।

इतिहास ग्रंथ'' 1. देखो स्व. श्री जुगलकिशोल मुख्तारलिखित स्वामी समन्तभद्र

श्रवणबेलगोल के कुछ शिलालेखों से इतना पता चलता है । कि आप श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त मुनि के वशंज पद्मनन्दि अपर नाम कोन्ड कुन्द मुनिराज उनके वसंज उमास्वाति की वशंपरम्परा में हुये थे (शिलालेख नम्बर 40)

मुनि जीवन और आपत् काल :– बड़े ही उत्साह के साथ मुनि धर्म का पालन करते हुए जब '**मुएवकहल्ली**' ग्राम में धर्म ध्यान सहित मुनि जीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्द्धर तपश्चरण द्वारा आत्मोन्नति के पथ पर बढ़रहे थे उस समय असाता वेदनीय कर्म के प्रबल उदय से आपको 'भस्मक' नाम का महारोग हो गया था । मुनि चर्या में इस रोग का शमन होना असंभव जान कर आप अपने गुरु के पास पहुंचे ओर उनसे रोग का हाल कहा तथा सल्लेखना धारण करने की आज्ञा चाही । गुरु महाराज ने सब परिस्थिति जानकर उन्हें कहा कि सल्लेखना का समय नहीं आया है और आप द्वारा वीर शासन कार्य के उद्धार की आशा है । अत: जहाँ पर जिस भेष में रहकर रोगशमन के योग्य तृप्ति भोजन प्राप्त हो वहाँ जाकर उसी वेष को धारण करलो । रोग उपशान्त होने पर फिर से जैन दीक्षा धारण करके सब कार्यों को संभाल लेना । गुरु की आंज्ञा लेकर आपने दिगम्बर वेष का त्याग किया । आप वहाँ से चलकर कांची पहुँचे ओर वहाँ के राजा के पास जाकर शिवभोग की विशाल अन्न राशि को शिवपिण्डी को खिला सकने की बात कही । पाषाण निर्मित शिवजी की पिण्डी साक्षात भोग ग्रहण करे इससे बढ़कर राजा को ओर क्या चाहिये था । वहां के मन्दिर के व्यवस्थापक ने आपको मन्दिर जी में रहने की स्वीकृति दे दी । मन्दिर के किवाड बन्द करके वे स्वयं विशाल अन्नराशि को खाने लगे ओर लोगों को बता देते थे कि शिवजीने भोग ग्रहण कर लिया। शिव भोग से उनकी व्याधि धीरे-धीरे ठीक होने लगी ओर भोजन बचने लगा । अन्त में गुप्तचरों से पता लगा कि ये शिव भक्त नहीं हैं । इससे राजा बहुत क्रोधित हुआ और इन्हें यर्थाथता बताने को कहा । उस समय समन्तभद्र ने निम्न श्लोक में अपना परिचय दिया ।

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्ड
पुण्ड्रोण्डे शाक्य भिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं भुवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिःस वदतु-पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ।।

कांची में मलिन वेषधारी दिगम्बर रहा, लाम्बुस नगर में भस्म रमाकर शरीर को श्वेत किया, पुण्डोण्ड् में जाकर बौद्ध भिक्षु बना, दशपुर नगर में मिष्ट भोजन करने वाला सन्यासी बना, वाराणसी मे श्वेत वस्त्रधारी तपस्वी बना । राजन् आपके सामने दिगम्बर जैनवादी खड़ा है, जिसकी शक्ति हो मुझ से शास्त्रार्थ कर ले ।

राजा ने शिव मूर्ति को नमस्कार करने का आग्रह किया । समन्तभद्र कवि थे । उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन शुरू किया । जब वे आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का स्तवन कर रहे थे, तब चन्द्रप्रभु

भगवान् की मूर्ति प्रकट हो गई। स्तवन पूर्ण हुआ। यह स्तवन स्वयंभूस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह कथा ब्रह्म नेमिदत्त कथा कोष के आधार पर है।

जिनशासन के अलौकिक दैदीप्यमान सूर्य

देश में जिस समय बौद्धादिकों का प्रबल आतंक छाया हुवा था और लोग उनके नैरात्मवाद, शून्यवाद, क्षणिकवादादि सिद्धान्तों से संत्रस्त थे, उस समय दक्षिण भारत में आपने उदय होकर जो अनेकान्त एवं स्याद्वाद का डंका बजाया वह बड़े ही महत्त्व का है एवं चिरस्मरणीय है। आपको जिनशासन का प्रणेता तक लिखा गया है। आपके परिचय के सम्बन्ध में निम्न पद्य है।

''आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिककोऽहम।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलायामिलाया –
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रार्थियों में श्रेष्ठ हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिष हूँ, वैद्य हूँ, कवि हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ, हे राजन्! इस सम्पूर्ण पृथ्वी में मैं आज्ञासिद्ध हूँ। अधिक क्या कहूँ, सिद्ध सारस्वत हूँ।

शुभचन्द्राचार्य ने आपको 'भारत भूषण' लिखा है आप बहुत ही उत्तमोत्तम गुणों के स्वामी थे फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामक चार गुण आप में असाधारण कोटि की योग्यता वाले थे जैसा कि आज से ग्यारह सो वर्ष पहिले के विद्वान् भगवज्जिनसेनाचार्य ने निम्न वाक्य से आदिपुराण में स्मरण किया है।

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्त भद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥ ४४॥

यशोधर चरित्र के कर्त्ता महाकवि वादिराज सूरि ने आपको उत्कृष्ट काव्य माणिक्यों का रोहण (पर्वत) सूचित किया है। अलंकार चिन्ता मणि में अजित सेनाचार्य ने आपको 'कवि कुञ्जर मुनि वंद्य और निजानन्द' लिखा है। वरांग चरित्र में श्री वर्धमान सूरि ने आपको 'महाकवीश्वर और 'सुतर्क शास्त्रामृत सागर' बताया है। ब्रह्म अजित ने हनुमच्चरित्र में आपको भव्यरूप कुमुदों को प्रफुल्लित करने वाला चन्द्रमा लिखा है तथा साथ में यह भी प्रकट किया है कि वे 'दुर्वादियों की वादरूपी खाज (खुजली) को मिटाने के लिये अद्वितीय महौषधि थे। इसके अलावा भी श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में आपको 'वादीभव ज्रांकुश सूक्तिजाल स्फुटरत्नदीप' वादिसिंह, अनेकान्त जयपताका आदि आदि अनेकों विशेषणों से स्मरण किया गया है।

आपका वाद क्षेत्र संकुचित नहीं था। आपने उसी देश में अपने वाद की विजय दुंदुभि नहीं बजाई, जिसमें वे उत्पन्न हुये थे बल्कि सारे भारत वर्ष को अपने वाद का लीला स्थल बनाया था।

करहाटक नगर में पहुंचने पर वहां के राजा के द्वारा पूँछे जाने पर आपने अपना पिछला परिचय इस प्रकार दिया है ।

पूर्वं पाटिलपुत्र मध्यनगरे भेरि मयाताडिता
पश्चान्मालवसिन्धु ठुक्क विषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

हे राजन्, सबसे पहिले मैंने पाटलीपुत्र नगर में शास्त्रार्थ के लिये भेरी बजवाई फिर मालव, सिन्धु, ढक्क, कांची आदिस्थानों पर जाकर भेरी ताड़ित की । अब बडे-बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूँ । मैं तो शास्त्रार्थ की इच्छा रखता हुवा सिंह के समान घूमता फिरता हूँ।

'हिस्ट्री ऑफ कन्नडीज लिटरेचर' के लेखक मिस्टर एडवर्ड पी. राइस ने समन्तभद्र को तेजपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखा है और बताया है कि वे सारेभारत वर्ष में जैनधर्म का प्रचार करने वाले महान प्रचारक थे । उन्होंने वाद भेरी बजने का दस्तूर का पूरा लाभ उठाया ओर वे बड़ी शक्ति के साथ जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को पुष्ट करने में समर्थ हुये हैं ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आपने अनेकों स्थानों पर वाद की भेरी बजवाई थी ओर किसी ने उसका विरोध नहीं किया । इस सम्बन्ध में स्वर्गीय पंडित श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं कि 'इस सारी सफलता का कारण उनके अन्तःकरण की शुद्धता, चारित्र की निर्मलता एवं अनेकान्तात्मक वाणी का ही महत्त्व था उनके वचन स्याद्वाद न्याय की तुला में तुले होते थे और इसीलिए उन पर पक्षपात का भूत सवार नहीं होता था । वे परीक्षा प्रधानी थे ।''

बहुमूल्य रचनाएँ :-

स्वामी समन्तभद्र द्वारा विरचित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं -

1. स्तुति विद्या (जिनशतक)
2. युक्त्यनुशासन
3. स्वयम्भूस्तोत्र
4. देवागम (आप्तमीमांसा) स्तोत्र
5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्हदगुणों की प्रतिपादक सुन्दर-सुन्दर स्तुतियाँ रचने की उनकी बड़ी रुचि थी । उन्होंने अपने ग्रन्थ स्तुति विद्या में ''सुस्तुत्यां 'व्यसनं'' वाक्य द्वारा अपने आपको स्तुतियां रचने का व्यसन बतलाया है । स्वयंभूस्तोत्र, देवागम ओर युक्त्यनुशासन आपके प्रमुख स्तुति ग्रन्थ हैं । इन स्तुतियों में उन्होंने जैनागम का सार एवं तत्त्व ज्ञान को कूट-कूट कर भर दिया है । देवागम स्तोत्र में सिर्फ आपने 114 श्लोक लिखे हैं । इस स्तोत्र पर अकलंकदेव ने अष्टशती नामक आठ सौ श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी जो बहुत ही गूढ़ सूत्रों में है । इस वृत्ति को साथ लेकर श्री विद्यानन्दाचार्य ने 'अष्ट सहस्री' टीका

लिखी, जो आठ हजार श्लोक परिमाण है । इससे यह स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ कितने अधिक अर्थ गौरव को लिये हुए है । इसी ग्रन्थ में, आचार्य महोदय ने एकान्तवादियों को स्वपर वैरी बताया है ।" एकान्तग्रह रक्तेषुनाथ स्वपरवैरिषु ॥८॥

इन ग्रन्थों का हिन्दी अर्थ सहित प्रकाशन हो चुका है । उपरोक्त उपलब्ध ग्रन्थों के अलावा आपके द्वारा रचित निम्न ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं जो उपलब्ध नहीं हो पाये हैं -

1. जीवसिद्धि 2. तत्त्वानुशासन 3. प्राकृत व्याकरण

4. प्रमाणपदार्थ 5. कर्मप्राभृत टीका और 6. गन्धहस्ति महाभाष्य

महावीर स्वामी के पश्चात् सैकड़ों ही महात्मा-आचार्य हमारे यहाँ हुये है, उनमें से किसी भी आचार्य एवं मुनिराजों के विषय में यह उल्लेख नहीं मिलता है कि वे भविष्य में इसी भारत वर्ष में तीर्थंकर होगें । स्वामी समन्तभद्र के सम्बन्ध में यह उल्लेख अनेक शास्त्रों में मिलता है । इससे इन के चारित्र का गौरव और भी बढ़ जाता है ।

निहालचंद पाण्ड्या

दि. : 1 मई 96

मंत्री पंडित सदासुख ग्रन्थमाला
अजमेर



॥श्री॥

पंडित सदासुखदासजी कासलीवाल

खण्डेलवाल जातिय नररत्न का जीवन परिचय

पं. सदासुखदासजी कासलीवाल (डेडाका) पं. राजमलजी व आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी की परम्परा के विद्वान हुए है। वे पं. जयचन्दजी छाबड़ा के प्रशिष्य व पं. मन्नालालजी के शिष्य थे। अतः आपके विचारों पर उनकी छाया स्वाभाविकतया पूर्णरूप से पड़ी जान पड़ती है। उन्होंने अपना पूर्ण जीवन माँ सरस्वती की उपासना में व्यतीत किया और ज्ञानरूपी महादान की परम्परा को आजतक अक्षुण्ण बनाए रखने का आपने ही पूर्ण श्रेय प्राप्त किया है।

(आज से करीब दो सौ वर्ष पूर्व ई. सन् १७९५) पं. सदासुखदासजी कासलीवाल का जन्म जयपुर में चैत बदी १४ सम्वत् १९५२ में हुआ था। आपके पिता का नाम दुलीचन्दजी था। आपके पुत्र गणेशीलालजी थे। उनके दत्तक पुत्र श्री राजूलालजी हुए और राजूलालजी के पूत्र मूलचन्दजी थे। अब आपके वंश में कोई नहीं है।

मनिहारों का रास्ता जयपुर में स्थित आपके मकान में एक चैत्यालय जो आज भी डेडाकों का चैत्यालय कहलाता है। पंडितजी के पूर्वज डेडराजजी थे, अतः उन्हीं के नाम से "डेडाका" कहलाने लगे। उन्होंने अर्थ प्रकाशिका की प्रशस्ति में स्वयं कहा है:-

डेडराज के वंशमाँहि, इक किंचित ज्ञाता,
दुलीचन्द का पुत्र कासलीवाल विख्याता।
नाम सदासुख कहें, आत्म सुख का बहु इच्छुक,
सो जिनवाणी प्रसाद विषयतैं भये निरिच्छुक॥

भगवती आराधना वचनिका की प्रशस्ति में कहा है :-

खंडेलज श्रावक कुल ठाम, तिनमें एक सदासुख नाम।
गोत्र कासलीवाल जु कहैं, नित जिनवाणी सेवन चहै॥

पं. सदासुखदासजी की विद्वत्ता की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी। उनकी चित्तवृत्ति, सदाचारिता, आत्मनिर्भरता, अध्यात्म रसिकता, धर्मात्माओं और साधर्मियों के प्रति वात्सल्यता, जिनवाणी का निरन्तर स्वाध्याय चिन्तवन आदि से ओतप्रोत थी।

प्राय: प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में कुल परम्परा से प्राप्त पंथ या आम्नाय आदि में जन्म लेकर और किसी न किसी रूप में वह उसका आजीवन निर्वाह करने का प्रयास करता रहता




है। किन्तु इनमें कुछ ऐसे भी महान् व्यक्तित्व सम्पन्न पुरुष होते हैं, जो अपने अध्ययन अनुभव संगति तथा सही गलत की पहिचान के आधार पर कुल परम्परादि से प्राप्त पंथादि को छोड़कर यथार्थता के ग्रहण में किंचित् संकोच नहीं करते। ऐसे ही महान् व्यक्तित्व सम्पन्न पं. सदासुखदासजी थे, जिन्होंने उस समय जयपुर की विद्वत् मण्डली के सत्संग में दीर्घकाल तक स्वाध्याय आदि के बाद स्व-विवेक के आधार पर अपनी कुल परम्परा से प्राप्त बीसपंथ के स्थान पर शुद्ध पंथ के रूप में तेरहपंथ को सहज रूप में अपनाया और तदनुरूप प्रवचन आचार विचार चिन्तन तथा लेखन कार्य में प्रवृत्त रहे।

तत्कालीन भट्टारकीय परम्परा और लोगों के अपने प्रति सत्याग्रह को देखते हुए उस समय के मतभेदों की कल्पना की जा सकती है। पं. सदासुखदासजी को अनेक लोगों, विशेषकर तत्कालीन जयपुर और अजमेर के भट्टारकों के विरोध का भी काफी सामना करना पड़ा पर इन्हें अपने गुरु पं. मन्नालालजी तथा गुरुणां गुरु पं. जयचन्द जी छाबडा का आचार-विचार एवं तत्त्व ज्ञान का साथ इन्हें सदा लुभाता रहा। वे अपने मनोबल से कभी विचलित नहीं हुए। और इस सबके बाद भी कभी वाद विवाद में नहीं उलझे क्योंकि वे इस मनुष्य पर्याय के प्रत्येक क्षण का मूल्य समझते थे। ये उन्हीं के शब्दों से मालूम होता है। "इस मनुष्य जन्म की एक एक घड़ी कोटि धन में दुर्लभ है सो व्यर्थ ना जाए।"

ऐसे ही वातावरण में जन्म लेकर पं. सदासुखदासजी ने पं. रायमल्लजी पं. टोडरमलजी, पं. जयचन्दजी छाबड़ा आदि विद्वानों का अनुकरण करके अपने जीवन को जैन धर्म, संस्कृति और साहित्य के लिए समर्पित कर दिया। शास्त्रों के तलस्पर्शी ज्ञान, जैन संस्कृति और स्थापत्य कला के प्रति विशेष अभिरुचि ने आपकी कीर्ति चारों और फैला दी। आपका घर अपने आप में एक अच्छा खासा विद्यालय सा प्रतीत होता था क्योंकि स्थानीय और बाहर के लोग आपसे पढ़ने, तथा शंका समाधान करने आते रहते थे।

सदा प्रवचन, अध्ययन, मनन-चिंतन में लीन रहकर सीधी सादी सरल भाषा और भावों में अपने श्रोताओं को तीर्थंकरों की अमृतमयी वाणी प्रवचन के माध्यम से सुनाते तो श्रद्धालु श्रोता झूम उठते थे और कठिन विषयों को भी सरलतया हृदयंगम कर लेते थे। इनके प्रवचन इतने प्रभावक होते थे कि दूर-दूर से श्रोता आते थे। आपके प्रवचनों में वाद विवाद के कोई प्रसंग ही नहीं आते थे। निश्चय नय और व्यवहारनय का सुन्दर समन्वय आपके प्रवचनों की विशेषता थी। इसके साथ ही आप सत्य को प्रकट करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करते थे। इनके पत्रों से भी ज्ञात होता है कि अमीर गरीब सभी के प्रति आपका सदा समान व्यवहार रहा।

आपके समकालीन जयपुर के तत्कालीन दीवान अमरचन्दजी आपसे बहुत प्रभावित थे और आपको प्रत्येक कार्य हेतु प्रोत्साहित भी करते रहते थे।





पंडितजी के अपनी आजीविका हेतु नौकरी करते हुए भी समयानुसार मंदिरजी में प्रवचन, विद्वानों के साथ तत्त्वचर्चा, मंदिर और अपने घर पर विद्यार्थियों और श्रावकों को जैन शास्त्रों का अध्यापन आदि कार्यों के साथ ही आस पास के क्षेत्रों से धार्मिक समारोहों पर विद्वत्ता की दृष्टि से विशेष आमन्त्रण पर वहाँ जाना और वहाँ के कार्यक्रमों में प्रमुखरूप से मार्ग दर्शन देकर सहयोग करना और मन्दिर आदि के निर्माण में उन्हें भव्यता प्रदान करने में अपना मार्ग दर्शन देना-ये सब उनके दैनन्दिन कार्य होते थे-वे विधि-विधान और मंदिर प्रतिष्ठा के कार्यों में भी दक्ष थे।

जयपुर के तथा अन्य नगरों के विद्वान आपसे जहाँ प्रत्यक्ष और पत्राचार द्वारा शंका-समाधान करते थे, वहीं दूसरी ओर विद्वानों द्वारा लिखे ग्रंथ भी पंडितजी के पास संशोधनार्थ आते रहते थे -

विद्वत् वर्ग की प्रतिष्ठा के संरक्षक

वे जयपुर की विद्वत् मण्डली की प्रतिष्ठा के संरक्षक थे। निरन्तर प्रवचन शास्त्र स्वाध्याय तत्वचर्चा एवं परिश्रम पूर्वक तत्त्वाभ्यास ने आपके व्यक्तित्व को व्यापकता प्रदान की। आप प्राकृत-संस्कृत भाषा में पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित जैन शास्त्रों के अच्छे विद्वान बन ही गए थे। इनके साथ ही साथ आपने अन्यान्य विद्याओं और अन्य दर्शनों के शास्त्रों का भी अच्छा अध्ययन कर लिया था। स्थापत्य कला में तो आपकी विशेष दक्षता और हिन्दी गद्य तो आपकी प्रमुख विधा थी ही किन्तु हिन्दी के साथ ही आवश्यकतानुसार संस्कृत में पद्य रचना भी वे कर लेते थे।

कहा जाता है कि एक बार जयपुर राज्य के पोथीखाने में दक्षिण भारत से दो विद्वान आए। उन्हें दो श्लोकों का अर्थ किसी से समझना था। अत: पोथीखाने के विद्वानों से उन श्लोकों का अर्थ पूछा किन्तु वहाँ स्थित अनेक अच्छे अच्छे विद्वान भी उनका सही अर्थ करने में असमर्थ रहे। यह चर्चा जयपुर नरेश तक भी पहुँची। नरेश को लगा कहीं ऐसा न हो कि इससे हमारे राज्य के विद्वानों की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। अत: उन्होंने और अन्य विद्वानों ने मिलकर पं. सदासुखदासजी से इन श्लोकों का अर्थ करवाने का विचार किया। पंडितजी को ससम्मान बुलाकर उनसे अर्थ कहने को कहा गया। तब आपने श्लोक को पढ़कर कहा कि इनका अर्थ तो बिल्कुल सरल है। उन्होंने उन श्लोकों का अर्थ बतलाकर सभी को चकित कर दिया। तब पंडितजी ने भी अपने दो अन्य श्लोकों का अर्थ उन दक्षिणी विद्वानों से पूछा किन्तु वे उनका अर्थ नहीं कर सके। इस तरह पंडित जी ने अद्भुत प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमतित्व का परिचय देकर जयपुर के विद्वानों की प्रतिष्ठा बढ़ायी।

इस प्रकार पं. सदासुखदासजी ने अपने पुरुषार्थ, गुरुओं की प्रेरणा और सान्निध्य के द्वारा विद्वत्ता की उस आदर्श और गौरवपूर्ण उपलब्धि और विरासत में अपने को सम्मिलित कर लिया जिसके सृजन में जयपुर के पूर्ववर्ती और समकालीन विद्वानों ने अपना त्यागपूर्ण योगदान देकर जयपुर को

सारे देश में प्रतिष्ठित कर दिया था। क्योंकि इस समय जयपुर जहाँ जैन विद्वानों की नगरी कही जाती थी वहीं प्राचीन शास्त्रों की सरल लोक भाषाओं में टीकायें लिख लिखकर उन शास्त्रों तथा अन्य शास्त्रों की अगणित प्रतिलिपियाँ कराके आज जैसे आवागमन व अन्य साधनों के अभाव के बाद भी उन्हें देश देश के कोने-कोने में भेजा जाता रहा है।

संतोष वृत्ति का अनुपम उदाहरण

संतोष वृत्तिपूर्ण आजीविका की भी उनकी एक घटना प्रसिद्ध है। वे राजकीय सेवा में थे। आपको इस सेवा से आठ रुपया प्रति माह प्राप्त होते थे। इतने में उनकी आजीविका आराम से चलती थी। वे संतोष के पूरे धनी थे। उन्हें सांसारिक देह भोगों से विरक्ति और अध्यात्म रस के आस्वादन की लगन ही सदैव रहती थी और उसी अध्यात्म रस में लीन रहकर सदा प्रसन्नचित्त रहते थे और अन्य साधर्मियों को भी सदा इसी प्रकार रहने की प्रेरणा देते रहते थे, अतः छोटे बड़े सभी उनका सम्मान करते थे। जयपुर नरेश महाराज रामसिंहजी भी आपकी विद्वत्ता के बहुत प्रशंसक थे। उन्हें जब यह मालूम पड़ा कि चालीस वर्ष के लम्बे सेवाकाल के बाद में भी उनकी कोई वेतनवृद्धि नहीं हुई और अन्य लोगों की अब तक काफी वेतनवृद्धि के साथ उनके ओहदे भी बढ़ गए तो उन्होंने उन्हें सम्मानपूर्वक बुलाकर पूछा और उपेक्षा पर खेद व्यक्त किया और संतोष वृत्ति के कारण इसकी ओर कभी आपकी ओर से इस आशय का संकेत न होना आश्चर्यकारी है। आपकी इच्छित वेतनवृद्धि हो जाएगी-आप अपनी इच्छा व्यक्त कीजिए। वे चाहते तो इसका भरपूर लाभ उठा सकते थे। किन्तु आपको वेतनवृद्धि आदि के विषय में सोचने का भी अवसर ही नहीं आया - उन्होंने तो राजा से यह कहा हे राजन्। यदि आप मुझ पर प्रसन्न ही है तो मेरी वेतन वृद्धि की ओर किंचित् दृष्टि नहीं है। यदि आप कुछ देना ही चाहते हैं तो मेरी सेवा की प्रतिदिन की समयावधि के घंटे आधे कर दें तो मैं स्वाध्याय,. पठन-पाठन लेखन तथा आत्म कल्याण हेतु चिंतन मनन में अधिक से अधिक समय लगा सकूँगा क्योंकि जितने कार्य की भावना रहती है उतना समयाभाव के कारण कर नहीं पाता - राजा ने सहर्ष स्वीकार करते हुए वेतन में भी दुगुनी वृद्धि करदी और समयावधि आधी करदी पर निर्लोभी संतोष वृत्ति वाले पंडितजी ने वेतनवृद्धि से इनकार कर दिया। पंडितजी की इन भावनाओं को हम उनके ग्रन्थों की अन्त्य प्रशस्तियों में देख सकते हैं। उन्हें मौलिक सुख सुविधाओं के प्रति कभी आकर्षण ही नहीं हुआ।

हे जिनवाणी भगवती, भुक्ति मुक्ति दातार।
तेरे सेवनतें रहे, सुखमय नित्य अविकार॥
दुःख दरिद्र जाण्यों नहीं, चाह न रही लगार।
उज्वल यश मय विस्तरयो, यो तेरो उपकार।

- रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका

आत्मानुभूति के बारे में वे भगवती आराधना वचनिका अन्त्य प्रशस्ति में लिखते हैं :-

मैं याकूँ अनुभव जब किया, मनुज जनम फल निजसुख लिया ।

काल अनन्त व्यतीत जुभमया ,आराधन अमृत अब पिया ।।१०।।

याकूँ चित्त में धारण किया, तब मेरा मन अति हुलसिया

उनकी मुख्यत: तीन कार्यों में रूचि थी । ज्ञान की दृष्टि से स्वाध्याय, पठन पाठन शास्त्र-प्रतिलिपि सरल भाषाओं में अनुवाद । स्थापत्य के क्षेत्र में प्राचीन शास्त्रों में वर्णित मंदिर निर्माण की विधि-विधान और स्थापत्य कला के अनुसार नए भव्य जिन मन्दिरों का निर्माण तथा उन्हें मात्र दर्शन या पूजा पाठ के ही केन्द्र नहीं, अपितु शिक्षा के प्रमुख केन्द्र रूप में विकसित करने तदनुसार उनका निर्माण करने के लिए प्रेरित करना ।

सोनी नसियाँजी (अजमेर) में अपूर्व पंचकल्याणक रचना के मूल प्रेरणा स्रोत

श्री सेठ मूलचन्दजी सोनी अजमेर वालों से पंडितजी का राजस्थान के टोंक नगर के सुप्रसिद्ध नसियाँजी में चैत्र कृष्णा दसवीं वि. स. १८९७ को सेठ नाथूलालजी द्वारा आयोजित विशाल धार्मिक मेले में आमन्त्रित उनके पिता सेठ जुहारुमलजी सोनी के साथ प्रथम सुखद मिलान हुआ । परस्पर एक दूसरे के व्यक्तित्व और विचारों से इतने प्रभावित हुए जैसे मणि-काँचन योग हो गया हो । धर्म संस्कृति, साहित्य, धर्मायतन, समाज तथा देशकाल के प्रभाव से इन क्षेत्रों में ह्रास और अपने कर्त्तव्य आदि विषयों पर परस्पर विस्तृत विचार-विमर्श हुए ।

पंडितजी प्रारम्भ से ही साहित्यानुरागी थे ही और जब से यह मुलाकात हुई तब से तो उनमें इस क्षेत्र में विशेष लगाव और उत्साह हो गया । उनके एक पत्र सं 4 मिति फागुन सुदी 13 स. 1899 में सेठ साहब को प्रेरणा दी थी- उसका हिन्दी अनुवाद का अंश इस प्रकार है :-

''जितने काल ग्रंथ रहेंगे जितने धर्म की परिपाटी चलती रहेगी इस धर्म के स्तंभ तो ये ग्रंथ ही है । जो ग्रंथ रहेंगे तो पढ़नेवाले भी उपजेंगे । संसार में धर्म ही शरण है । और जो संस्कृत, न्याय सिद्धान्त ग्रंथ का उद्धार हो तो विशेष बात है'' अर्थ प्रकाशिका में जिनवाणी की महिमा बतलाते हुए वे लिखते हैं -''जिनके हृदय में ग्रंथ प्रवेश किए तिनके मिथ्याश्रद्धान जन्मान्तर में प्रगट नहीं होय है । इसकी महिमा वचन द्वारा कहने कूं कौन समर्थ है ? इस कलिकाल में ये ग्रंथ ही साक्षात-केवलीतुल्य है ।'' उस समय हाथ से ग्रंथ लिखे जाते थे ।

इस प्रकार पंडितजी के मार्ग दर्शन से पचासों प्रतिलिपिकार विविध शास्त्रों की प्रतियां करने के कार्य में निरन्तर संलग्न रहते थे। शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ जैसे-जैसे पूर्ण होती जाती वैसे वैसे उन्हें बाहर भेजते रहते । यही कारण है कि आज देश के कोने कोने में प्राय: पुराने मंदिरों में स्थित शास्त्र भण्डारों में जयपुर का लिपिबद्ध कोई ना कोई शास्त्र अवश्य देखने में आ जाता है ।

पंडितजी को अजमेर वर्ष में कई बार आना जाना पड़ता था। सेठ जुहारमलजी के मन में ऐसे भव्य जिनालय के निर्माण की कल्पना थी जिसमें तीर्थंकर जिनेन्द्र देव के दर्शन साक्षात समवशरण युक्त हो सकें। सेठ साहब के मन में यह विचार पं. जी के जैन सिद्धान्त के अनुरूप संस्कृत और कला विषयक ज्ञान तथा रुचि को देखकर उत्पन्न हुआ क्योंकि कुशल व्यक्ति योग्य विद्वान और सामर्थ्यशाली मित्र पाकर अपने मन के संकल्पों और योजनाओं को साकार करने का अवसर नहीं चूकता तदनुसार पंडितजी की पूर्ण देख रेख में उनकी यह भावना साकार हुई और अजमेर में अद्भुत समवशरण की अजोड़ महान् पवित्र, अद्भुत, संसार के सभी जीवों में समानता की द्योतक भव्य रचना हुई, जो विश्व विख्यात है।

इसी श्रृंखला में भव्य सिद्धकूट चैत्यालय (नसियाँजी) के निर्माण का शुभारम्भ 10 अक्टूबर 1864 मिती आसोज शुक्ला 10 वी. स 1921 की सुमगंल वेला में पंडित सदासुखदासजी के सान्निध्य में (योजना की निश्चित रूपरेखा के आधार पर) विधि पूर्वक भूमि पूजन का कार्य सम्पन्न हुआ और बहुत ही उत्साह एवं तीव्रगति से उसका निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ था, जो पच्चीस वर्षों तक निरन्तर चलता रहा। सिद्धकूट चैत्यालय की स्थापना-महोत्सव के लगभग तीन चार महीनों बाद ही पंडितजी को आयुष्य के अन्त का आभास होने लगा तो उन्होंने सल्लेखना व्रत ग्रहण किया।

शास्त्र प्रसार और संरक्षण

पंडितजी ने अपने लिखे पत्रों में गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार, अष्टपाहुड, मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड टीका, स्वयं के स्तोत्र टीका, तत्वार्थसूत्र, तत्वार्थ श्लोक वार्तिक, स्वामी कार्तिके यानुप्रेक्षा, ज्ञानार्णव, अमितगतिश्रावकाचार, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, बाहुबलि चारित्र, संस्कृत चौबीसी पूजा आदि अनेक ग्रंथों की अनेक प्रतिलिपियाँ कराने का जिक्र किया है। पं. जी ने स्वयं भी अपने हाथों से अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ की है जो जयपुर और अजमेर के शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित है।

पं. जी ने अपने मित्रों और शिष्यों में भी इसी प्रकार शास्त्र लेखन एवं ज्ञान प्रसार की विशेष अभिरुचि जागृत की। पं. जी की ही प्रेरणा से अनेक विद्वानों ने प्राचीन शास्त्रों पर टीकाएँ लोक प्रचलित सरल ढूँढारी भाषा में लिखी, जो विभिन्न शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित है।

पंडितजी की रचनाएँ इस प्रकार है - (१) भगवती आराधना की हिन्दी वचनिका (२) मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) की लघु टीका (३) तत्त्वार्थ सूत्र की बडी टीका-अर्थ प्रकाशिका इसके सम्पादन कार्य में पूरे दो वर्ष का समय लगा (४) समयसार नाटक वचनिका (५) अकलंकाष्टक वचनिका (६) मृत्यु महोत्सव (७) रत्नकरण्ड श्रावकाचार (८) नित्यनियम पूजा व ऋषि मण्डल पूजा

सल्लेखना पूर्वक पंडितजी का समाधिमरण

पंडितजी को ग्रन्थो की भाषा वचनिका और समाधिमरण संबंधी ग्रंथ लिखते तथा स्वाध्याय जैसे कार्य करते समय उनके मन में समाधि ग्रहण करने के भाव बराबर विद्यमान रहे है, यह उनकी स्वयं की लेखनी से प्रतीत होता है । ''भगवती आराधना'' की भाषा वचनिका समाप्ति के समय उनके स्व निर्मित पद में उन्होंने कामना की है :-

मेरा हित होने कूँ और, दीखै नहीं जगत में ठौर,
यातैं भगवती शरण जु गही, मरण आराधन पाऊँ सही ।
हे भगवति ! तेरे परसाद तैं, मरण समै मत होहु विषाद,
पंच परम गुरु पद करि ढोक, संयम सहित लहूँ परलोक ॥
हरो जगत के दुःख सकल करो ''सदासुख'' कन्द ।
लसो लोक में भगवती आराधना अमन्द ।

उन्हें जब अपनी इस पर्याय के अन्त का भान होने लगा तब उन्होंने सोचा मेरे जीवन की असली परीक्षा का समय आ गया है । उन्हें ऐसा भान रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका करते हो गया था- उन्होंने षष्ठ भावना अधिकार के अंत में लिखा कि :-

''अनेकान्त भावना और समयसारादि भावना वर्णन करनी चाहिए परन्तु आयु काय का अब शिथिलपनातैं ठिकाना नाहीं इसलिए कथन को समेटकर मूलग्रंथ का कथन लिखना चाहिए ।'' और उन्होंने सप्तम सल्लेखना अधिकार की भाषा-वचनिका लिखते समय स्वलिखित समाधिमरण सम्बन्धी भावनाएँ याद आई, जिसमें उन्होंने लिखा है कि

''समाधिमरण के समान इस जीव का उपकार करने वाला कोई नहीं है........''देह तैं भिन्न ज्ञान-स्वभाव रूप आत्मा का अनुभव करि, भय रहित, चार आराधना शरण सहित मरण हो जाय तो इस समान त्रैलौक्य में, तीन काल में इस जीव का हित है नाही - जो संसार परिभ्रमण तैं छूट जाना सो समाधिमरण नाम मित्र का प्रसाद है''

''अत: भगवान वीतराग सौं ऐसी प्रार्थना करूँ हूँ जो मेरे मरण के समय वेदना-मरण तथा आत्म-ज्ञान रहित मरण मत होहू'' धर्मध्यान तैं मरण चाहता वीतराग ही का शरण ग्रहण करूँ हूँ ।''

पंडितजी का उनके परिवार में उनका सहारा जो एक मात्र पुत्र था जब वह भी युवावस्था में संसार से चला गया था तब उनके शिष्य सेठ मूलचन्दजी सोनी उन्हें अजमेर लिवा लाए थे । उन्होंने सोचा यहाँ मुझे सब तरह की अनुकूलताएँ है, अब मुझे सल्लेखना ग्रहण करने में किंचित् भी विलम्ब नहीं करना चाहिए । इस प्रकार पंडितजी ने मानिसक रूप से सल्लेखना ग्रहण की पूरी तैयारी कर

ली और बडे ही उत्साह और दृढ़ निश्चय पूर्वक सिद्धकूट चैत्यालय (सोनीजी की नसीयाँ) में जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के समक्ष विधि पूर्व शुभ मुहूर्त में सल्लेखना ग्रहण की।

पंडित जी के सल्लेखना ग्रहण का समाचार सुनते ही उनके पास जयपुर से पं. पन्नालालजी संघी, नाथूलालजी दोशी, भोलीलालजी सेठी, पार्श्वदास जी निगोत्या, आदि शिष्य अजमेर उनके पास आए। सेठ मूलचन्दजी वहीं थे ही। पंडित जी ने उन सभी से कहा "मैं अब इस अस्थायी पर्याय से विदा ले रहा हूँ। मुझ से पूर्ववर्ती पं. टोडरमलजी, पं. जयचन्दजी आदि विद्वानों और हम सभी ने बड़े श्रमपूर्वक जिन अपेक्षाओं से साहित्य का सृजन किया है, उसका व्यापक प्रचार-प्रसार करना ताकि वर्तमान और भावी पीढ़ी उससे लाभ उठाती रहे। विद्वानों की परम्परा सदा बनी रहे ऐसा प्रयत्न करते रहना। सच्चे ज्ञान की अजस्र धारा सदा प्रवाहित रखना ही माँ जिनवाणी की सच्ची आराधना है, उपासना है। इससे समाज मिथ्यात्व और शिथिलाचार की ओर प्रवृत्त होने से बचा रहेगा। वर्तमान में जिनवाणी के प्रचार-प्रसार से बढकर पुण्य और धर्म-प्रभावना का अन्य कोई कार्य नहीं है।"

शिष्यों द्वारा अपनी इन अंतिम भावनाओं के संकल्प की स्वीकृति करने पर अपने मन में संतोष और निर्विकल्प भाव का अनुभव किया। सभी सल्लेखना की महत्ता और पंडितजी के दृढ संकल्प से परिचित थे और पंडितजी के शरीर की शिथिलता भी देख रहे थे। अतः अंतिम समय तक इनके साथ रहने तथा इस महत् कार्य में सहयोग देने की इच्छासे ये सभी विद्वान अजमेर में ही रुक गए।

सल्लेखना के ग्रहण का समाचार बिजली की तरह फैल गया। इसका प्रायोगिक रूप, वह भी किसी श्रावक द्वारा इसको ग्रहण करके जीवन सार्थक करते देखने का तत्कालीन लोगों के समक्ष यह प्रथम सुअवसर था। पंडितजी की सल्लेखना पूर्ण दृढ़ता पूर्वक और क्रमशः चतुर्विध आहार के त्याग के साथ पूर्ण साधना और संयमपूर्वक सध रही थी। सल्लेखना के इस महान् स्वरूप को देखने दिन प्रतिदिन बडी संख्या में लोग आ रहे थे। पंडितजी भी द्विगुणित उत्साह से बारह भावनाओं आदि का चिंतन करते हुए आत्म लीन थे और भाद्रपद कृष्णा एकादशी वि. सम्वत् १९२२ को नशियाँजी के पार्श्व में स्थित रंग-महल के एकान्त स्थल में अन्तिम श्वास के साथ ही उन्होने सल्लेखना पूर्ण की और अपने आप में लीन रहते हुए अंतिम श्वास के साथ ही मनुष्य जीवन को सार्थक किया।

पं. पार्श्वदास निगोत्या (पं. सदासुखदासजी के शिष्य) विरचित ज्ञानसूर्योदय नाटक की देश भाषामय वचनिका के अन्तिम पृष्ठ में जिसमें इन्होंने अपने गुरु पंडित सदासुखजी की प्रशंसा की है।

कवित्त :- जयपुर में बसै एक श्रावक खण्डेलवाल -जैनी निगोत्या पार्श्वदास कहायो है। सैली के प्रसाद समझि मिथ्याविष, वमन कियो सदासुखज साहिब पास नाटक सुनि पायो है।

स्याद्वाद रूप छहूँ द्रव्य को स्वरूप जाणि,
आतमरूप परख्यो अनुभूति रूप गायो है ॥

नाटकवचनिका करी बाँचो साधर्मीजन,
अनुभव को ग्रंथ भाव भाय यो रचायो है,

है अनुभव को ग्रंथ यह बाँचो सुणो सजीव ।
उर विच अनुभव कीजियो, पावो सौख्य अतीव ॥

''श्रुत व्याख्या वक्ता उच्चरै, नाम सदासुख जो गुण धरै ।
जिनके गुण कहाँ लौ हम कहे, कथन सुनत जिनमत सरै ॥

''लौकिक प्रवीना तेरापंथ मांयलीना,
मिथ्या बुद्धि कर छीना, जिन आतम गुण चीन्हा है ।
पढै और पढावे मिथ्या अलट कुँ कढावे ज्ञानदान
देय जिन मारग बढ़ावे है ॥

दीसै धरवासी, रहै घर हूँ ते उदासी,
जिन मारग प्रकाशी, जाकी कीरति जगभासी है ।
कहाँ लौ कहीजे गुणसागर सदासुखजू के,
ज्ञानामृत पिय बहु मिथ्यामति नासी है ॥''

''जिनवर प्रणीत जिन आगम मे सूक्ष्म दृष्टि,
जाको जश गावत अधावत नहीं सृष्टि है ।
संशय-तम-हान, सन्तोष-रस मग्न रहे,
साँचो निज-परस्वरूप भाषत अभीष्ट है॥

ज्ञान-दान बटत अमोघ छह पहर जाके,
आसा की वासना मिटाई गुण इष्ट है ।
सुखिया सदीव रहै, ऐसे गुण दुर्लभ मिलै,
''पारस'' अजमाई सदासुख जू पर दृष्टि है ।

वर्तमान दि. जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुर की स्थापना के मूल प्रेरक

शास्त्र प्रचार का कार्य तो यथोचित चल ही रहा था परन्तु अन्यान्य कारणों से स्थायी स्वतंत्र विद्यालय के रूप में ज्ञान प्रसार का कार्य प्रारम्भ तो नहीं हो सका परन्तु पं. पन्नालाल जी संघी आदि के निवास में ही पठन-पाठन का कार्य चलता रहता था । विक्रम संवत् 1922 में जीवन के अन्तिम समय मे पंडितजी ने पंडित भोलीलालजी सेठी को पं. पन्नालालजी संघी की तरह ज्ञान प्रचार प्रसार का कार्य सौंपा । उन्होंने इस हेतु प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया और पं. सदासुखदासजी की अन्तिम अभिलाषा

साकार करने के लिए उन्होंने अपने मित्र श्री धन्नालालजी कासलीवाल (फौजदार) आदि के सहयोग से विक्रम संवत् 1942 (सन् 1885) में जयपुर में मनिहारों के रास्ते में ही एक जैन पाठशाला की स्थापना की और इस प्रकार अति आवश्यक कार्य का शुभारम्भ हुआ। प्रसिद्धि के साथ साथ इसकी निरन्तर प्रगति भी होने लगी। यहाँ धीरे-धीरे जैन सिद्धान्त के प्रमुख सभी ग्रंथो के सुचारु अध्ययन की व्यवस्था होती गई। वट-बीज के रूप में प्रारम्भ इस छोटे से पाठशाला ने तब से निरन्तर प्रगति करते हुए अब सौ वर्ष पूरे कर लिए। और यह गौरव का विषय है कि दि. जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय के रूप में आज यह राजस्थान का प्रथम श्रेणी का आदर्श महाविद्यालय है। यहाँ से अध्ययन किए हुए उच्च कोटि के विद्वानों की लम्बी परम्परा है। यह सब पं. सदासुखदासजी की प्रेरणा व उनके शिष्यों के प्रयत्नों का ही सफल परिणाम है।

पूनमचंद लुहाड़िया
(संस्थापक - अध्यक्ष)
वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
अजमेर

दि. 1 मार्च 96



प्रस्तावना

चरणानुयोग में धर्म का वर्गीकरण श्रावकधर्म और मुनिधर्म के रूप में किया गया है । श्रावक धर्म का निरूपण करनेवाले अनेक ग्रंथों में प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वमान्य ग्रंथराज है ।

श्रावक धर्म का निरूपण करनेवाले ग्रंथों के नाम प्रायः श्रावकाचार नाम से ही पाये जाते हैं जैसे - रत्नकरण्डश्रावकाचार, अमितगतिश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार आदि । इसके अपवाद भी हैं, जैसे - पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, सागारधर्मामृत आदि।

श्रावकाचार में 'आचार' शब्द का प्रयोग यद्यपि धर्म के अर्थ में ही होता है, तथापि जगतजन उसके व्यापक अर्थ को न समझ पाने के कारण मात्र क्रियाकाण्डरूप बाह्यचार ही ग्रहण करते हैं।

श्रावकधर्म का कथन करनेवाले प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य समन्तभद्र धर्म की परिभाषा इस प्रकार देते हैं -

''सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।[१]

धर्म के ईश्वर तीर्थंकर भगवन्तों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है ।''

धर्म की उपर्युक्त परिभाषा में मात्र आचरण को ही नहीं, अपितु श्रद्धा, ज्ञान चारित्र की निर्मल परिणति को धर्म कहा गया है । अतः श्रावक का बाह्याचार मात्र ही श्रावकधर्म नहीं है, अपितु श्रावकोचित रत्नत्रयरूप निर्मल परिणति ही वस्तुतः श्रावकधर्म है ।

यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का विस्तार से सांगोपांग विवेचन किया गया है ।

आज के श्रावक या तो श्रावकधर्म से अपरिचित ही हैं या फिर बाह्य क्रियाकाण्ड में ही उलझे रहते हैं । 'सम्यग्दर्शन श्रावकधर्म का मूल है ' - इस बात की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता । सम्यग्दर्शन के विषयभूत शुद्धात्मा की चर्चा तक उन्हें नहीं सुहाती । उन्हें आचार्य समन्तभद्र के निम्न कथन पर ध्यान देना चाहिये -

''दर्शनंज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥
विद्यावृत्तस्य सम्भूतिः स्थितिः वृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥[२]

जिस प्रकार नाव में नाविक (खेवटिया) का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसीप्रकार मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३   २. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३१, ३२

का महत्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि वह मोक्षमार्ग का कर्णधार है । यही कारण है कि - **मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की उपासना प्रधानता से की जाती है ।**

"जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फलागम असम्भव है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फलागम सम्भव नहीं है ।"

धर्म का आरम्भ ही सम्यग्दर्शन से होता है । यह बात सम्पूर्ण जिनागम में स्थान-स्थान पर अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है । कविवर पंडित दौलतरामजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी स्पष्ट घोषणा करती हैं कि -

"तीनलोक तिहुँकाल माँहि नहिं दर्शन सो सुखकारी ।
सकल धर्म को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी ॥१६॥
मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञानचरित्रा ।
सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥
"दौल" समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवे ।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवे ॥१७॥[१]

तीनलोक और तीनकाल में सम्यग्दर्शन के समान सुखकारी और कोई नहीं है । यह सम्यग्दर्शन सब धर्मों का मूल है । इसके बिना सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड दुःख का कारण ही है ।

यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है । इसके बिना ज्ञान और चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं बन सकते । अतः हे भव्यजीवो ! सर्वप्रथम इस पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो ।

कविवर दौलतरामजी प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि यदि तुम सयाने (चतुर) हो तो समय व्यर्थ मत गमाओ, हमारी यह बात ध्यान से सुनो, समझो और चेतो । यदि इस मनुष्यभव में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो पाई तो फिर यह मनुष्यभव मिलना अत्यन्त कठिन है ।"

सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द तो यहाँ तक कहते हैं कि -

"दंसणभट्ठा भट्ठा दंसण भट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।"[२]

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे वस्तुतः भ्रष्ट ही हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट लोगों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती । प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन की परिभाषा भी चरणानुयोग (आचरण) की दृष्टि से की गई है, जो कि इस प्रकार है -

१. छहढाला, तृतीय ढाल, छन्द १६, १७ २. अष्टपाहुड़, दंसणपाहुड़

"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥[1]

तीनमूढ़ता रहित सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है । वह सम्यग्दर्शन आठ मदों से रहित और आठ अंगों से सहित होता है ।"

उक्त परिभाषाओं में देव-शास्त्र-गुरु के तीन मूढ़ता रहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। अत: सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और तीन मूढ़ताओं का स्वरूप जानना आवश्यक है, अन्यथा सम्यग्दर्शन का स्वरूप भी स्पष्ट न होगा । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन को आठ मद रहित एवं आठ अंग सहित कहा गया है, इस कारण आठ अंगों और आठ मदों के स्वरूप का स्पष्टीकरण भी आवश्यक था। अत: इसके प्रथम अध्याय में इनका स्वरूप बताया गया है ।

यद्यपि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में तत्त्वार्थों की श्रद्धा एवं आत्मानुभव समाहित ही है; तथापि यहाँ आचरण की प्रधानता होने से, उन्हें मुख्य नहीं बनाया गया है ।

देवादिक के स्वरूप के सम्यक् परिज्ञान के अभाव में कुदेवादिक की आराधना द्वारा गृहीत मिथ्यात्व का पोषण होना स्वाभाविक है । सामान्यजनों को कुदेवादिक के चक्कर से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला जाये । अत: इसके हिन्दी वचनिकाकार पण्डित सदासुखदासजी ने इनके स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है, जो कि मूलत: पठनीय है।

दिगम्बर जिनधर्म जैसे वीतरागी धर्म में भी रागी-द्वेषी देवी-देवताओं की पूजा-प्रतिष्ठा आरम्भ हो गई है, उसे देवमूढ़ता बताते हुए वे लिखते हैं -

"तथा व्यन्तर क्षेत्रपालादिकनिकूं अपना सहायी माने हैं, सो मिथ्यात्व का उदय का प्रभाव है। बहुरि केतेक कहैं हैं - जो चक्रेश्वरी, पद्मावती देवी - ये शस्त्र धारण किये जिन शासन की रक्षक हैं तथा सेवकनि की रक्षा करने वाली एक-एक तीर्थंकरनि की एक-एक देवी हैं, एक-एक यक्ष हैं - इनका आराधन करने, पूजनेतैं धर्म की रक्षा होय है; ये धर्मात्मा की रक्षा करैं हैं, तातैं इन देवीनि का और यक्षनि का स्तवन करना, पूजन करना योग्य है । देवी समस्त कार्य के साधनेवाली तीर्थंकरनि की भक्त हैं, इस बिना धर्म की रक्षा कौन करे ? याहीतैं मन्दिरनि के मध्य पद्मावती का रूप, जाके चार भुजा तथा बत्तीस भुजा अर नाना आयुधनिकरि युक्त, अर तिनके मस्तक ऊपर पार्श्वनाथ स्वामी का प्रतिबिम्ब, अर ऊपर अनेक फणनि का धारक सर्प का रूपकरि बहुत अनुरागकरि पूजैं है; सो सब परमागमतैं जानि निर्णय करो । मूढ़लोकनि का बहाया बहिबो (बहकावे में आना) योग्य नाहीं ।"[2]

"प्रथम तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी - इन तीन प्रकार के देवनि में मिथ्यादृष्टि ही उपजैं हैं । सम्यग्दृष्टि का भवनत्रिकदेवनि में उत्पाद ही नाहीं । अर स्त्रीपना पावै ही नाहीं । सो पद्मावती, चक्रेश्वरी तो भवनवासिनी अर स्त्रीपर्याय में अर क्षेत्रपालादिक यक्ष - ये व्यन्तर, इनमें सम्यग्दृष्टि का उत्पाद कैसे होय ? इनमे तो नियमतैं मिथ्यादृष्टि ही उपजैं हैं - ऐसा हजारोंबार परमागम कहै है ।

१. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४ २. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर जैन शासन में हू ऐसी केई कथा हैं, जो शीलवान तथा ध्यानी तपस्वीनि के धर्म के प्रसादतैं देवनि के आसन कम्पायमान भये, अर देव जाय उपसर्ग टाले । अर नाना रत्ननि करि पूजा करी- ऐसी कथा तो शासन में बहुत हैं । अर ऐसी तो कहूं कथा भी नाहीं, जो धर्मात्मा पुरुष देवनिकूं पूजै। अर पद्मावती, चक्रेश्वरी की भी केई कथा हैं, जो शीलवन्ती व्रतवंतिनि की देव-देवियों ने पूजा करी; अर शीलवन्ती, व्रतवन्ती तो जाय कोऊ देव-देवी की पूजाकरी नाहीं लिखी है ।"१

तथा कार्तिकेय स्वामी कहैं हैं -

णय कोवि देदि लच्छी ण कोवि जीवस्स कुणई उवयारं ।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥३१९॥
भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि देदि जदि लच्छी ।
तो किं धम्मं कीरदि एवं चिन्तेहि सद्दिट्ठी ॥३२०॥

अर्थ :- "इस जीवकूं कोऊ लक्ष्मी नाहीं देवै है, अर जीव का कोऊ उपकार-अपकार हू नाहीं करै है । जो जगत में उपकार-अपकार करता देखिये है, सो अपना किया शुभ-अशुभ कर्म करि करै है । बहुरि जो भक्ति करि पूजैं व्यंतरदेव ही लक्ष्मी देवैं तो दान, पूजा, शील, संयम, ध्यान, अध्ययन, तपरूप समस्त धर्म काहेकूँ करिये ? बहुरि जो भक्ति करि पूजे-वन्दे कुदेव ही संसार के कार्य सिद्ध करेंगे तो कर्म कछु बात ही नाहीं ठहरैं ? व्यंतर ही समस्त सुख का दायक रहै, धर्म का आचरण निष्फल रहा ।"[१]

"बहुरि जो मन्त्रसाधन, विद्या-आराधन, देव-आराधन हैं ते समस्त पाप-पुण्य के अनुकूल फलैं हैं । तातैं जो सुखका अर्थी हैं, ते दया, क्षमा, संतोष, निर्वांछकता, मन्दकषायता, वीतरागताकरि एक धर्म ही का आराधन करो, अन्यप्रकार वांछाकरि पापबन्ध मत करो ।

अर जो देवनि का समागम में ही प्रीति करो हो तो उत्तम सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र तथा शची इन्द्राणी तथा लौकान्तिक देवनि का ही संगम में बुद्धि करो । अन्य अधम देवनि का सेवन करि कहा साध्य है ?

बहुरि मिथ्याबुद्धि करि मन्दिरनि में क्षेत्रपाल स्थापन करैं हैं और नित्य पूजन करैं हैं । तदि प्रथम तो क्षेत्रपाल का पूजन करैं हैं अर क्षेत्रपाल का पूजन किया पाछैं जिनेन्द्र का पूजन करैं हैं । अर ऐसा कहैं हैं - जैसै पहली द्वारपाल का सन्मान करिके पीछैं राजा का सन्मान करना । द्वारपाल बिना राजा सौं कौन मिलावै ? तैसैं क्षेत्रपाल बिना भगवान का मिलाप कौन करावै ?

तिन मूढ़नि के ऐसा विचार नाहीं, जो भगवान तो मोक्ष में हैं, भगवान परमात्मा का स्वरूपकूँ यो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कैसे जानेगा अर कैसे मिलावैगा ? अर विघ्नकूं कैसे विनाशैगा ? आपका विघ्न ही नाश करने कूं समर्थ नाहीं । सो विचाररहित मिथ्यादृष्टि लोक क्षेत्रपाल का महाविपरीतरूप बनाय वीतराग के मन्दिर में प्रथम स्थापन करैं हैं, जाका हस्त में मनुष्य का कटया मूंड अर गदा,

१. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

खड्ग अर कूकरा वाहनकरि सहित स्थापन करि तैल गुड़का भक्षणतैं क्षेत्रपाल प्रसन्न होय हैं - ऐसे लोकनिकूँ बहकाय पूजैं हैं। अर इनका पहिली दर्शन, पूजन, स्तवन करैं है; सो सब मिथ्यादर्शन अर कुज्ञान का प्रभाव जानहु।"[1]

"बहुरि पार्श्व जिनेन्द्र की प्रतिमा के मस्तक ऊपरि फण बिना बनावैं ही नाहीं, अर भगवान पार्श्व अरिहन्त के समोशरण में धरणेन्द्र का फण मस्तक ऊपर कैसे संभवै है ? धरणेन्द्र ने तो भगवान के तप के अवसर में फणामण्डप किया था, सो फेर फणामण्डप का प्रयोजन नाहीं। अर पार्श्व जिनेन्द्र अरिहन्त भये, अर इन्द्र की आज्ञातै कुबेर समोशरण रच्यो, तहाँ भगवान फणसहित नाहीं विराजे हुते। चार निकाय के देव, मनुष्य, तिर्यञ्च धर्मश्रवण-स्तवन-वन्दना करते ही तिष्ठैं, यातैं स्थापना विषैं अर्हन्त की प्रतिबिम्बनि के फण कैसे संभवै ? वीतरागमुद्रा तो ऐसी सम्भवै नाहीं, परन्तु काल के प्रभावतैं धरणेन्द्र की प्रभावना प्रकट करने कूं लोक विपरीत कल्पना करने लगि गये, सो कौन दूर करि सकै? जैसे पाषाणमय भगवान का प्रतिबिम्बमहा अंगोपांग सुन्दरता के अर्थि कर्णनिकूं मस्तक की रक्षा के अर्थि लम्बा करि स्कन्धसौं जोड़ देहैं, सो देखादेखी चल गई। तैसैं ही अर्हन्त प्रतिबिम्बनि के ऊपरि फण का आकार करते, लोकनिकूं देखि, तत्त्व कूं समझे बिना फण करने की प्रवृत्ति चल गई। सो फण के कर देने तैं प्रतिमा तो अपूज्य होय नाहीं, क्योंकि चार प्रकार के समस्त ही देव सर्व तरफतैं सदैव ही भगवान का सेवन करैं हैं। अर जो फणामण्डप करने तैं ही धरणेन्द्रकूं पूज्य मानै, सो देवमूढ़ता है।"[2]

इसी प्रकार गुरुमूढ़ता के सन्दर्भ में भी वे सचेत करते हुए लिखते हैं -

"जिनेन्द्र धर्म का श्रद्धान-ज्ञानकरि रहित होय जो नाना प्रकार का भेष धारण करिकै आपकूं ऊँचा मानि जगत के जीवनितैं पूजा, वन्दना, सत्कार चाहता जो परिग्रह राखैं हैं अर अनेक आरम्भ करैं हैं, हिंसा के कार्यनि में प्रवर्तन करैं हैं, इन्द्रियनि के विषयनि का रागी संसारी असंयमी अज्ञानीनितैं गोष्ठी करता अभिमानी होय, आपकूं आचार्य, पूज्य, धर्मात्मा कहावता, रागी-द्वेषी हुआ प्रवर्तै हैं। अर युद्धशास्त्र, शृंगार के शास्त्र, हिंसा के कारण आरम्भ के शास्त्र, राग के वधावनेवाले शास्त्रनिकूँ आप महन्त भये उपदेश करैं हैं, ते पाखण्डी हैं।

जिनके नानाप्रकार के रसनि करि सहित भोजन में तत्परता, याही तैं कामादिक की कथा में लीन होय रहे अर परिग्रह के बधावने के अर्थि दुर्ध्यानी हो रहे हैं, बहुरि जे मुनि, साधु, आचार्य, महन्त पूज्यनाम कहावैं, अर लोकनि तैं नमस्कार कराया चाहैं, अर विकथा करने में, विषयनि में, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, जप, होम, मारण, उच्चाटन, वशीकरणादिक निंद्य आचरण करैं हैं, ते पाखण्डी हैं। तिन पाखण्डीनि का वचनकूं प्रमाण करना, अर सत्कार करना, धर्म कार्य में प्रधान मानना, सो पाखण्ड मूढ़ता है।[3]

प्रथम व दूसरे अधिकार में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का निरूपण करने के पश्चात् तीसरे, चौथे

१. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार २. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

व पाँचवें अधिकार में चारित्र का वर्णन किया गया है । उसमें आचार्य समन्तभद्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान एवं अंतरंगचारित्र पूर्वक धारण किये गये व्रतों को ही चारित्र कहते हैं । वे लिखते हैं -

''रागद्वेषनिवृत्ते: हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्ति: क: पुरुष: सेवते नृपतीन् ।।[१]

राग-द्वेष का अभाव हो जाने पर हिंसादि पापों की निवृत्ति हो ही जाती है; क्योंकि जिसे धनादिक की अपेक्षा नहीं है, वह पुरुष राजा की सेवा क्यों करेगा ?

पंडित सदासुखदासजी की यह वचनिका मात्र सामान्यार्थ नहीं है । इसमें यथास्थान आवश्यक विषयों का विस्तार भी किया गया है, सम्बन्धित विषय अन्य ग्रन्थों से भी उद्धृत किये गये हैं, जैसे हिंसा के प्रकरण में बहुत से छन्द आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय से उद्धृत किये गये हैं क्योंकि अहिंसा-हिंसा का जैसा उत्कृष्ट विवेचन पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में प्राप्त होता है, वैसा अन्य श्रावकाचारों में नहीं ।

पण्डित श्री सदासुखदासजी की भाषा वचनिका की सबसे बड़ी विशेषता षष्ठ '**भावना महाधिकार**' की स्वतंत्र रचना है । पंचाणुव्रतों की पाँच-पाँच भावनाएँ, ग्रन्थान्तरों में पायी जाती हैं। विस्तृत वचनिका होने से उनका विवेचन तो इसमें स्वाभाविक ही होता; किन्तु इस अधिकार में अन्य भावनाओं का भी समावेश किया गया है, जिनकी जानकारी वे मुमुक्षु समाज को कराना चाहते थे। जैसे - सोलहकारण भावना, बारह भावना, मैत्री आदि चार भावना, दशलक्षण धर्म, चार ध्यान, बारह तप, बहिरात्मा आदि आत्मा के तीन भेद आदि का विस्तृत विवेचन उल्लेखनीय विशेषता है ।

इस विवेचन में उनकी मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं । इसमें उनका सदाचारी व उपदेशक विद्वान् का व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है । लगता है जैसे कि वे स्वयं विशाल सभा को सम्बोधित कर रहे हों । वे प्रतिपादित विषय को स्पष्ट करने के साथ-साथ हृदय को हिला देनेवाली प्रेरणा भी देते जाते हैं, जो अल्पशिक्षित व्यापारी पुरुषवर्ग एवं भावुक भद्र महिलावर्ग के हृदय तक पहुँचकर उन्हें उद्वेलित कर देती है; जीवन को सार्थक कर लेने के लिये प्रेरित करती है । यही कारण है कि उनकी यह सरल-सरस कृति आज जन-जन की वस्तु बनी हुई है ।

यद्यपि यह महाधिकार पण्डित सदासुखदासजी की मौलिक रचना है, तथापि इसे उन्होंने अपनी कल्पना से नहीं, अपितु परमागम के आधार पर बनाया है । अधिकार का आरम्भ करते हुये वे स्वयं इस बात का उल्लेख करते हैं -

''अब श्री परमगुरुनि का प्रसाद करि परमागम की आज्ञाप्रमाण भावना नामा महाधिकार लिखिये हैं । समस्त धर्म का मूल भावना है । भावनातैं ही परिणामनि की उज्ज्वलता होय है ! भावनातैं मिथ्यादर्शन का अभाव होय है । भावनातैं व्रतनि में दृढ़ परिणाम होय हैं । भावनातैं वीतरागता की वृद्धि होय है। भावनातैं अशुभ ध्यान का अभाव होय शुभ ध्यान की वृद्धि होय है। भावनातैं आत्मा का अनुभव

१. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार   २. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

होय है। इत्यादिक हजारां गुणनिकूं उपजावनेवाली भावना जानि भावनाकूं एक क्षण हू मति छांडो।''[१]

२२५ पृष्ठों में इस अधिकार का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त भी उनका मन भरा नहीं। यद्यपि और बहुत कुछ लिखने की भावना उनके हृदय में थी, तथापि स्वास्थ्य की शिथिलता के कारण उन्हें अपनी भावना को बलात् संयमित करना पड़ा। जैसा कि इसी अधिकार के अन्त में वे स्वयं लिखते हैं -

''अब इहां अनेकान्त भावना अर समयसारादि भावना वर्णन करी चाहिए, परन्तु आयु-काय का अब शिथिलपनातैं ठिकाना नाहीं। तातैं सूत्रकार का कह्या कथन कूं समेटना उचित विचारि मूलग्रन्थ का कथन लिखिये हैं।''[१]

उक्त कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे ग्रन्थरचना के समय में ही स्वास्थ्य की शिथिलता अनुभव करने लगे थे। समताभाव के धनी पंडित श्री सदासुखदासजी की यह वैराग्यरस से सराबोर वचनिका जीवन-शोधन के लिये परमामृत है।

उनके हृदय में समयसार की कितनी महिमा थी - यह बात उनके निम्नलिखित प्रशस्ति वाक्य में प्रकट है :-

''समयसार गुन कहनकूं, शक्त न सुरगुरु होय।
ताको शरण सदा रहो, रागादिक मल धोय ॥१९॥[२]''

यदि समयसारभावना भी लिखी जाती तो उसमें मुमुक्षु समाज को नया प्रमेय मिल सकता था, परन्तु हमारे दुर्भाग्य से उनकी यह भावना अपूर्ण ही रह गई है।

यह उनके जीवन की अन्तिम रचना है। ६८ वर्ष की उम्र में यह कृति पूर्ण हुई है। इसमें उनके जीवन का सार आया है। अत्यन्त विगलित हृदय से उन्होंने इस ग्रन्थ की टीका की है। यह टीका वि.सं. १८२० में पूर्ण हुई, उसके बाद वे अधिक से अधिक दो वर्ष तक ही जीवित रहे।

अन्तिम प्रशस्ति के कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण छन्द दृष्टव्य हैं -

हे जिनवानी भगवती, भुक्ति-मुक्ति दातार।
तेरे सेवनतैं रहै, सुखमय नित अविकार ॥२०॥

दुख दरिद्र जाण्यो नहीं, चाह न रही लगार।
उज्वल यशमय विसतरयो, यो तेरो उपकार ॥२१॥

अड़सठि वरस जु आयु के, बीते तुझ आधार।
शेष आयु तव शरणतैं, जाहु यही मम सार ॥२२॥

जितनैं भव तितनैं रहों, जैन धर्म अमलान।

१. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार
२. श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

जिनवर धर्म बिना जु मम, अन्य नहीं कल्यान ॥२३॥

जिनवाणी सूं वीनती, मरण वेदना रोक ।
आराधन के शरणतैं, देहु मुझे परलोक ॥२४॥

बाल मरण अज्ञानतैं, करे जु अपरंपार ।
अब आराधन शरणतैं, मरण होहु अविकार ॥२५॥

हरि अनीति कुमरण हरो, करो जु ज्ञान अखण्ड ।
मोकूं नित भूषित करो, शास्त्र जु रत्नकरण्ड ॥२६॥

उनके जीवन में कोई लौकिक अभाव नहीं रहा और उनका सम्पूर्ण जीवन साहित्य आराधन, चिन्तन, मनन में ही बीता । अन्त तक भी वे इसी में लीन रहे ।

उनकी इस मंगलकृति से मुमुक्षु समाज को लाभ उठाना चाहिये । ऐसी भावना के साथ विराम लेता हूँ ।

१५ मार्च १९९४

टोडरमल स्मारक भवन, जयुपर

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

पद स्वभाव, पूरव उदय, निहचै उद्यम काल ।
पक्षपात मिथ्यात पथ, सरवंगी शिव चाल ॥



卐 ॐ नमः सिद्धेभ्यः 卐

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

प्रथम – सम्यग्दर्शन अधिकार

यहाँ इस ग्रन्थ के प्रारंभ में स्याद्वादविद्या के परमेश्वर परम निर्ग्रन्थ वीतरागी श्री समन्तभद्र स्वामी जगत के भव्यों के परम उपकार के लिये रत्नत्रय की रक्षा के उपायरूप श्री रत्नकरण्ड नाम के श्रावकाचार को कहने की इच्छा से तथा विघ्नरहित शास्त्र की समाप्तिरूप फल की इच्छा से विशिष्ट इष्टदेव को नमस्कार करते हुए श्लोक कहते हैं :-

मंगलाचरण

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

अर्थ :– श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के लिये हमारा नमस्कार हो । श्री अर्थात् अंतरंग स्वाधीन जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य व अनंतसुख स्वरूप अविनाशी लक्ष्मी और बहिरंग इन्द्रादिक देवों द्वारा वंदनीय जो समोशरणादिक लक्ष्मी सहित वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं, वे श्री वर्द्धमान हैं । अथवा अव समंतात् अर्थात् समस्त प्रकार से, ऋद्ध अर्थात् परम अतिशय को प्राप्त हुआ है केवलज्ञानादि मान अर्थात् प्रमाण जिनका वे श्रीवर्धमान हैं ।

यहाँ "**अवाप्योरल्लोपः**" इस व्याकरण शास्त्र के सूत्र द्वारा अकार (अ) का लोप (अभाव) हो गया है । कैसे हैं श्री वर्द्धमान ? निर्धूत कलिल है आत्मा जिनका । निर्धूत अर्थात् नष्ट किया है आत्मा का, कलिल अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मरूप पापमल जिसने, ऐसे हैं; और जिनका केवलज्ञान अलोकाकाश सहित सम्पूर्ण तीनों लोकों को दर्पण के समान आचरण (प्रकाशित) कर रहा है ।

भावार्थ – जिनके केवलज्ञानरूप दर्पण में अलोकाकाश सहित षट्द्रव्यों के समूहरूप सम्पूर्ण लोक अपनी भूत, भविष्यत्, वर्तमान की समस्त अनंतानंत पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित हो रहा है; और जिनका आत्मा समस्त कर्ममल रहित हो गया है, ऐसे श्री वर्द्धमान देवाधिदेव अंतिम तीर्थंकर को मैं अपने आवरण, कषायादि मल रहित सम्यग्ज्ञान प्रकाश के प्रगट होने के लिये नमस्कार करता हूँ ।

अब आगे **धर्म का स्वरूप** कहने की प्रतिज्ञारूप श्लोक कहते हैं :-

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

अर्थ :– मैं ग्रन्थकर्त्ता (आचार्य समन्तभद्र) इस ग्रन्थ में उस **धर्म** का उपदेश देने जा रहा हूँ– जो प्राणियों को पंचपरिवर्तनरूप संसार के दुखों से निकालकर स्वर्ग के और मोक्ष के बाधारहित उत्तम

सुखों को प्राप्त करा देता हैं; **और कैसे धर्म को कहूँगा ?** जो समीचीन अर्थात् जिसमें वादी-प्रतिवादी द्वारा व प्रत्यक्ष-अनुमानादि द्वारा बाधा नहीं आती है तथा जो कर्म बंधन को नष्ट करने वाला है, ऐसे धर्म को कहूँगा ।

भावार्थ – संसार में 'धर्म' ऐसा नाम तो समस्त लोक कहता है, परन्तु 'धर्म' शब्द का अर्थ तो इस प्रकार है - जो नरक-तिर्यंचादि गतियों में परिभ्रमणरूप दुःखों से आत्मा को छुड़ाकर उत्तम, आत्मीक, अविनाशी, अतीन्द्रिय, मोक्ष सुख में धर दे, वह धर्म है । ऐसा धर्म मोल (पैसा के बदले में) नहीं आता है, जो धन खर्च करके दान-सन्मानादि द्वारा ग्रहण कर लें; किसी का दिया नहीं मिलता है, जो सेवा-उपासना द्वारा प्रसन्न करके ले लिया जाय; मंदिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति, तीर्थक्षेत्रादि में नहीं रखा है, जो वहाँ जाकर ले आयें; उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तप से भी नहीं मिलता तथा शरीरादि कृश करने से भी नहीं मिलता है । देवाधिदेव के मंदिर में उपकरणदान, मण्डल पूजन आदि करके; घर छोड़कर वन-श्मशान आदि में निवास करने से तथा परमेश्वर के नाम-जाप आदि करके भी धर्म नहीं मिलता है ।

'धर्म' तो आत्मा का स्वभाव है । पर-द्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर अपने ज्ञाता दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव (ज्ञान) और ज्ञायक स्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण है, वह धर्म है । जब उत्तमक्षमादि **दशलक्षणरूप** अपने आत्मा का परिणमन तथा **रत्नत्रयरूप** और जीवों की **दयारूप** अपने आत्मा की परिणति होगी, तब अपना आत्मा आप ही धर्मरूप हो जायगा । परद्रव्य, क्षेत्र, कालादिक तो निमित्तमात्र हैं । जिस समय यह आत्मा रागादिरूप परिणत्ति छोड़कर वीतरागरूप हुआ दिखाई देता है तभी मंदिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप, जप समस्त ही धर्मरूप हैं; और यदि अपना आत्मा उत्तम क्षमादिरूप, वीतरागतारूप, सम्यग्ज्ञानरूप नहीं होता है; तो बाहर कहीं भी धर्म नहीं होगा। **यदि शुभ राग होगा तो पुण्यबंध होगा; और यदि अशुभ राग, द्वेष, मोह होगा तो पापबन्ध होगा।** जहाँ शुद्ध श्रद्धान-ज्ञान-आचरण स्वरूप धर्म है वहाँ बंध का अभाव है । बंध का अभाव होने पर ही उत्तम सुख होता है ।

अब ऐसे उत्तम सुख का कारण जो आत्मा का स्वभावरूप धर्म है उसे प्रगट करने के लिए श्लोक कहते हैं :-

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

अर्थ :– धर्म के ईश्वर भगवान तीर्थंकर परमदेव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र इन तीनों को धर्म कहते हैं; और इन तीनों से प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं वे संसार परिभ्रमण की परिपाटी होते हैं ।

भावार्थ :– जो अपना और अन्य द्रव्यों का सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण है वह तो संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर उत्तमसुख में धरनेवाला धर्म है; और अपना व अन्य द्रव्यों का असत्यार्थ श्रद्धान,

ज्ञान, आचरण हैं वे संसार के घोर अनंतदुखों में डुबोनेवाले हैं – ऐसा वीतराग भगवान कहते हैं; हम अपनी रूचि से कल्पित नहीं कह रहे हैं ।

अब प्रथम ही सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने के लिए श्लोक कहते हैं :-

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अर्थ :– जो सत्यार्थ आप्त, आगम और तपोभृत् हैं उनके श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है । आप्त तो समस्त पदार्थों को जानकर उनका सत्यार्थ स्वरूप प्रगट करनेवाले हैं; आगम–आप्त के द्वारा रचित रचनारूप शास्त्र हैं; आप्त द्वारा प्ररूपित शास्त्र के अनुसार आचरण को आचरने वाले तपोधन अर्थात् गुरु हैं ।

यहां सच्चे आप्त, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का श्रद्धान वह सम्यग्दर्शन कहा है; किन्तु असत्य आप्त, आगम और गुरु का श्रद्धान वह सम्यग्दर्शन नहीं है । **वह सम्यग्दर्शन तीन मूढ़ताओं से रहित, अपने अष्ट अंगों सहित और अष्टमद रहित होता है ।**

भावार्थ :– सत्यार्थ आप्त, आगम व गुरु का तीन मूढ़ता रहित, निःशंकित आदि अष्ट अंग सहित और अष्टमद रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

यहां कोई प्रश्न करता है :– आगम में तो सप्त तत्व–नव पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, यहां पर वह क्यों नहीं कहा ? **उसका समाधान –** निर्दोष बाधा रहित आगम के उपदेश बिना सप्त तत्त्वों का श्रद्धान कैसे होगा ? निर्दोष आप्त के बिना सत्यार्थ आगम कैसे प्रगट होगा ? इसलिए **तत्त्वों के भी श्रद्धान का मूलकारण सत्यार्थ आप्त ही हैं ।**

अब सत्यार्थ **आप्त का लक्षण** प्रकट करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अर्थ :– धर्म का मूल भगवान आप्त हैं, उनके तीन गुण हैं – निर्दोषपना, सर्वज्ञपना, परम हितोपदेशकपना। जिसके क्षुधा, तृषादिक दोष नष्ट हो गये इसलिए निर्दोष; त्रिकालवर्ती समस्त गुण–पर्यायों सहित समस्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल की अनन्त पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ; और परम हितोपदेशकपने द्वारा द्वादशांगरूप जो आगम उसके मूलकर्त्ता इसलिये आगम के हितोपदेशक स्वामी। इस प्रकार ये तीन गुण कहे हैं, उन सहित जो होता है वह निश्चय से आप्त ही होता है, उसी को देव कहते हैं ।

इन तीन गुणों के बिना अन्य प्रकार से आप्तपना नहीं होता है ।

भावार्थ :– जो स्वयं ही दोषों सहित हो वह अन्य जीवों को निराकुल, सुखी, निर्दोष कैसे करेगा? जो क्षुधा की बाधा, तृषा की बाधा, काम, क्रोधादिक दोषों सहित हो वह तो महादुःखी है,

उसके ईश्वरपना कैसे होगा ? जो निरन्तर भयवान होकर शस्त्र आदि ग्रहण किये रहे उसके शत्रु विद्यमान हैं, वह निराकुल कैसे होगा ? जिसके द्वेष, चिन्ता, खेदादि निरंतर रहें वह सुखी नहीं होता । जो कामी, रागी हो वह तो निरंतर अन्य के वश रहता है; उसे स्वाधीनता नहीं है; **पराधीनता से सच्चा वक्तापना बनता नहीं है** । जो मद के वशीभूत हो, निन्दा के वशीभूत हो उसके सच्चा ज्ञातापना नहीं हो सकता है । **जो जन्म–मरण सहित है उसके संसार परिभ्रमण का अभाव नहीं हुआ, संसारी ही है; उसके भी सच्चा आप्तपना नहीं बनता** । इसलिये जो निर्दोष हो उसी को सत्यार्थपने द्वारा आप्तपना बनता है । रागी-द्वेषी तो अपना और पर का राग-द्वेष पुष्ट करनेरूप वचन ही कहता है। **यथार्थ वक्तापना तो वीतरागी को ही सम्भव है।**

यदि सर्वज्ञ नहीं होते तो इंद्रियों के आधीन ज्ञानवाला पहले हो गये जो राम, रावण आदि उन्हें कैसे जानेगा ? दूरवर्ती जो मेरु पर्वत, स्वर्ग, नरक, परलोकादि को कैसे जानेगा ? और सूक्ष्म परमाणु इत्यादि को कैसे जानेगा ?

इन्द्रियजनित ज्ञान तो स्थूल, विद्यमान, अपने सन्मुख पदार्थों ही को स्पष्ट नहीं जानता है। इस संसार में पदार्थ तो जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि अनन्त हैं और एक ही समय में सभी अपनी भिन्न-भिन्न परिणतिरूप परिणमते हैं । इसलिये एक समयवर्ती अनन्त पदार्थों की भिन्न-भिन्न अनंत ही पर्यायें होती हैं । **इंद्रियजनित ज्ञान तो क्रमवर्ती स्थूल पुद्‌गल की अनेक समयों में हुई जो एक स्थूल पर्याय है उसे जाननेवाला है** । अनेक पदार्थों की अनेक पर्यायें प्रति समय हो रही हैं । जो एक समयवर्ती सभी पर्यायों को ही जानने में समर्थ नहीं है तो जो अनंतकाल बीत गया और अनंतकाल आयेगा, उसकी अनंतानंत पर्यायों को वह इंद्रियजनित ज्ञान कैसे जान सकेगा? इसलिये सर्व त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् (एक साथ) जानने में समर्थ ऐसे सर्वज्ञ ही के आप्तपना संभव है; और जो परम हितोपदेशक हो वही आप्त है । ये तीन गुण जिसमें हों वही देव है ।

यद्यपि अर्हन्तदेव मनुष्य पर्याय को धारण किये मनुष्य हैं तो भी ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नाश से प्रगट हुआ जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुखरूप निज स्वभाव उसमें रमण करने से, कर्मों को जीतने से, अप्रमाण (अतुल) शरीर की कांति प्रगट होने से, अनंत आनंद और सुख में मग्न होने से तथा इंद्रादि समस्त देवों द्वारा स्तुति योग्य होने से, अनंत ज्ञानदर्शन स्वभाव द्वारा समस्त लोकालोक में व्याप्त होने से, अनंत शक्ति प्रगट होने से अन्य देवों और मनुष्यों से भिन्न असाधारण आत्मा के रूप द्वारा शोभायमान हैं । इसलिये मनुष्य पर्याय में ही अपने अनंतज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदि गुणों के प्रगट होने के कारण इन्हें **देवाधिदेव** कहते हैं ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है – आप्त के तीन लक्षण (गुण) क्यों कहे ? एक निर्दोष कहने से ही उसमें समस्त गुण (लक्षण) आ जाते ?

उससे कहते हैं – निर्दोषपना तो पुद्‌गल (परमाणु), धर्म, अधर्म, आकाश और कालादि में भी है। इनके अचेतनपना होने से क्षुधा, तृषा, राग-द्वेषादि भी नहीं हैं । अतः निर्दोषपना कहने से इनके

आप्तपना का प्रसंग आ जाता । आप्त निर्दोष तो होता ही है, सर्वज्ञ भी होता है । यदि निर्दोष और सर्वज्ञ - ये दो ही आप्त के गुण कहें तो भगवान सिद्धों के भी आप्तपना का प्रसंग आ जाता, **तब सच्चे उपदेश का अभाव आ जाता** । इसलिये निर्दोष, सर्वज्ञ और परम हितोपदेशकता इन तीन गुणों सहित देवाधिदेव परम औदारिक शरीर में स्थित भगवान सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त को ही आप्तपना है, ऐसा निश्चय करना योग्य है ।

अब अरहन्तदेव जिन अठारह दोषों को नष्ट करके आप्त हुए उन दोषों के नाम कहने के लिए श्लोक कहते हैं :-

क्षुत्पिपासाजरातंक जन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

अर्थ :- क्षुत् अर्थात् क्षुधा १, पिपासा अर्थात् तृषा २, जरा अर्थात् वृद्धपना ३, आतंक अर्थात् शरीर संबधी व्याधि ४, जन्म अर्थात् कर्म के वश से चतुर्गति में उत्पत्ति ५, अन्तक अर्थात् मृत्यु ६, भय अर्थात् इसलोक का भय, परलोक का भय, मरणभय, वेदनाभय, अनरक्षा भय, अगुप्ति भय, अकस्मात् भय - ऐसे सात प्रकार के भय ७, स्मय अर्थात् गर्व (मद) ८, राग ९, द्वेष १०, मोह ११, और च शब्द से चिन्ता १२, रति १३, निद्रा १४, विस्मय अर्थात् आश्चर्य १५, विषाद अर्थात् शोक १६, स्वेद अर्थात् पसीना १७, खेद अर्थात् व्याकुलता १८ जानना । ये १८ दोष जिसके नहीं होते हैं उसे आप्त कहते हैं ।

श्वेताम्बरमत समालोचना

अब यहां कोई श्वेताम्बरमतवाला प्रश्न करता है (१) - हे ! दिगम्बर धर्मधारक ! यदि केवली भगवान के क्षुधा-तृषा का अभाव है तो आहारादि में प्रवृत्ति का अभाव होने से केवली के देह की स्थिति नहीं रहना चाहिए, और केवली के देह की स्थिति तुम्हारे लिए स्वीकार ही है; इसलिए केवली के आहार करने की सिद्धि हुई ! जिस प्रकार आहार किये बिना अपने देह की स्थिति नहीं रहती, उसी प्रकार केवली के भी आहार किये बिना देह की स्थिति नहीं रहती और केवली के देह की स्थिति है, तो अवश्य आहार करते ही होंगे ?

उन्हें उत्तर देते हैं – केवली के मात्र आहार की सिद्धि करना है या कवलाहार की सिद्धि करना है ? यदि मात्र आहार की सिद्धि करने का अभिप्राय है तब तो सयोग केवली (१३वें गुण स्थान) पर्यंत समस्त जीव आहारक ही हैं, ऐसा परमागम का वचन है । एक इन्द्रिय से लगाकर सयोगी पर्यंत समस्त ही जीव समय-समय में सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनंतगुणे कर्म परमाणु और नोकर्म परमाणुओं को निरतंर ग्रहण करते रहते हैं ।

यदि तुम यह कहोगे (२) - हम तो केवली के कवलाहार अर्थात् ग्रास-ग्रास अन्न-जलादि अपने समान भोजन करने की तरह मुख में लेकर आहार करना कहते हैं । कवलाहार अर्थात् ग्रासरूप

आहार, उसके बिना केवली के देह की स्थिति नहीं रहेगी, जैसे अपनी देह कवलाहार बिना नहीं रहती ?

उन्हें उत्तर देते हैं – देवों का शरीर कवलाहार बिना सागरों पर्यन्त कैसे बना रहता है ? समस्त देवों के कवलाहार कभी नहीं होता है और देह की स्थिति रहती ही है, इसलिए तुम्हारा तर्क व्यभिचारी हुआ ।

यदि तुम यह कहोगे (३) – देवों के देह की स्थिति तो मानसिक आहार से रहती है । मन में आहार की इच्छा उत्पन्न होते ही कण्ठ में से अमृत झर जाता है, उससे तृप्ति हो जाती है, वह मानसिक आहार है । जिस प्रकार भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पवासी–चतुर्निकाय के देवों के कवलाहार बिना मानसिक आहार से ही देह की स्थिति रहती है; उसी प्रकार केवली भगवान के भी कर्म-नोकर्म वर्गणा के आहार से ही देह की स्थिति रहती है ।

यदि तुम यह कहोगे (४) – केवली की तो मनुष्यगति के शरीर में स्थिति है इसलिये अपनी देह के समान कवलाहार से ही उनकी देह की स्थिति मानते हैं ?

उससे कहते हैं – तो अपने शरीर के समान पसेव, खेद, उपसर्ग, परीषह आदि भी केवली के मानना होंगे ।

यदि तुम यह कहोगे (५) – केवली के अतिशय के प्रभाव से पसेव, खेद, उपसर्ग, परीषह आदि नहीं होते हैं ?

उससे कहते हैं – तो भोजन का अभावरूप अतिशय भी केवली के क्यों नहीं मानते हो ?

यदि तुम यह कहोगे (६) – जैसे अपने शरीर में पसेव आदि होते दिखाई देते हैं उसी प्रकार केवली के भी मानो ?

उससे कहते हैं – तो जैसे अपने को इन्द्रियजनित ज्ञान है वैसे ही केवली के भी इंद्रियजनित ज्ञान मानो । देखना, सुनना, स्वाद लेना, चिन्तवन करना केवली के इन्द्रियों द्वारा होना ही ठहरा, तब केवलज्ञानरूप अतीन्द्रिय ज्ञान को जलांजलि दे दी, सर्वज्ञपना का अभाव का प्रसंग आयेगा ?

यदि तुम यह कहोगे (७) – ज्ञान की अपेक्षा सभी मनुष्य और केवली समान होने पर भी केवली के अतींद्रिय ज्ञान ही है ?

उससे कहते हैं – तो देह में स्थिति समान होने पर भी कवलाहार का अभाव क्यों नहीं मानते हो ?

यदि तुम यह कहोगे (८) – केवली के वेदनीयकर्म का सद्भाव है इसलिये भोजन की इच्छा उत्पन्न होती है, अतएव कवलाहार में प्रवृति होती है ।

उससे कहते हैं – सो इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि मोहनीय कर्म की सहायता सहित ही वेदनीय कर्म भोजन करने की इच्छा उत्पन्न कराने में समर्थ है । भोजन की इच्छा वह

बुभुक्षा है । **इच्छा है सो वह मोहनीयकर्म का कार्य है ।** जिनका मोहनीयकर्म नष्ट हो चुका है ऐसे केवली भगवान के भोजन करने की इच्छा किस कारण से उत्पन्न होगी ?

यदि तुम ऐसा मानते हो (९) - मोहनीय कर्म के बिना भी इच्छा उत्पन्न होती है ? **तो तुमसे कहते हैं** – केवली के मनोहर स्त्री को भोगने की इच्छा भी उत्पन्न होने का प्रसंग आ जायेगा, तथा सुन्दर शय्या में शयन, आभरण, वस्त्र आदि भोगोपभोग की इच्छा का भी प्रसंग आ जायेगा । तब वीतरागता का अभाव हो जायेगा, क्योंकि **जहां इच्छा हो वहां वीतरागता नहीं होती है ।**

तुम्हारे मत में केवली आहार करते हैं ? सो पूछते हैं - एक दिन में एक बार करते हैं या अनेकबार करते हैं, या एक दिन के अंतर से या दो दिन, पांच दिन, पक्ष, मास, आदि कितने अंतर से भोजन करते हैं ? जितना अंतर तुम कहोगे उतने प्रमाण ही शक्ति कहलाई, शक्ति घटने पर भोजन करते हैं । भोजन के आश्रय बल रहा, तो भगवान केवली के अनंतवीर्य कहना असत्य हुआ । केवली का बल आहार के आधीन ही रहा ?

यदि तुम यह कहोगे (१०)- केवली भूख को शांत करने के लिये भोजन का आस्वादन करते हैं ? **तो हम पूछते हैं** – वह केवलज्ञान द्वारा भोजन का स्वाद लेते हैं या रसना इंद्रिय द्वारा स्वाद लेते हैं ?

यदि केवलज्ञान द्वारा स्वाद लेते हैं तो दूर क्षेत्र में रखे हुए भोजन का स्वाद ले लें, तब कवलाहार करने का क्या प्रयोजन रहा ? यदि रसना इंद्रिय से स्वाद लेते हैं तो मतिज्ञान होने का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि इंद्रियों द्वारा देखना, स्वाद लेना, श्रवण करना, स्पर्श करना, चिंतवन करना, यह तो मतिज्ञान के कार्य हैं ।

यदि तुम यह कहोगे (११) - सर्वज्ञपना के और कवलाहार के विरोध नहीं है । जैसे- यहां आहार करते हुए मनुष्यों में ज्ञान की हीनता नहीं दिखाई देती है वैसे ही भोजन करते हुए भी केवलज्ञान की हीनता नहीं होती है ।

उससे हम पूछते हैं – फिर तो द्रव्य, आभरण, वस्त्र, वाहन, काम, विषय आदि भोगने में भी सर्वज्ञपना का विरोध नहीं रहेगा ?

यदि तुम यह कहोगे (१२) - सर्वज्ञ के मोह के उदय का अभाव है अतः द्रव्य, आभरण, काम, विषय, भोगादि ग्रहण करने की इच्छा नहीं है । असातावेदनीय का उदय विद्यमान है इसलिये आहार ग्रहण करते हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न कर्मों की शक्ति भिन्न-भिन्न है । कर्मों की शक्ति यदि एक समान हो तो कर्मों में भिन्न-भिन्न होने का भेद नहीं रहेगा । केवली के मोह के उदय का अभाव हुआ है इसलिये द्रव्यादिक ग्रहण नहीं करते हैं ?

उससे कहते हैं – यदि मोह का अभाव हो गया है तो ग्रास उठाकर मुख में रखना, चबाना, निगलना आदि की इच्छा किस कारण हुई ?

यदि तुम यह कहोगे (१३) - अंतराय कर्म का अभाव हुआ है इसलिये इच्छा बिना ही मुख में ग्रास रख लेते हैं। **तो हम पूछते हैं** – अंतरायकर्म का अभाव भोगोपभोग, कामसेवन, विषय आदि का भी ग्रहण क्यों नहीं करा देता ?

यदि तुम कहोगे (१४) - द्रव्य, आभरण, काम, विषयादि का ग्रहण कर लेने से व्रत भंग हो जायेगा, दीक्षा भंग हो जायेगी, साधुपना नष्ट हो जाता है, किन्तु आहार करने से व्रत तथा दीक्षाभंग नहीं होती है। कवलाहार करने से तो साधु के धर्म का कारण देह की स्थिति बनी रहती है ।

उसे उत्तर देते हैं – तुम्हारे श्वेताम्बरमत में व्रत धारण करने से और दीक्षा ग्रहण करने से ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा नियम नहीं है । तुम मल्लिकुमारी के गृहस्थ अवस्था में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होना कहते हो; भरत चक्रवर्ती के समस्त छह खंड का राज्य भोगनेवाले के कांच के महल में केवलज्ञान का उपजना कहते हो; हाथी पर बैठी पुत्र के लिए रूदन करती हुई मरूदेवी के केवलज्ञान का होना कहते हो; बांस के ऊपर चढ़ा नट के केवलज्ञान का होना कहते हो; उपासरा (साधुओं का निवास गृह) में बुहारी देती नौकरानी के केवलज्ञान का होना कहते हो?

गृहस्थ के, स्त्री के, अन्य धर्मी के, कोई भी भेषधारी के, दण्डी, त्रिदण्डी, संन्यासी, कपाली, फकीर, जटाधारी, मुंड करने वाला, मृगछाला, बाघाम्बर ओढ़नेवाला समस्त कुलिंगधारियों के मोक्ष होना कहते हो ? समस्त नाई, धोबी, खटीक, चाण्डाल आदि के मोक्ष होना कहते हो ? हृषिकेश चाण्डाल के केवलज्ञान और मोक्ष होना कहते हो ?

तुम्हारे मत में तो व्रतों से, दीक्षा से भी प्रयोजन नहीं है ? तुम्हारे यहां तो केवलज्ञान गृहस्थ को पहले ही उत्पन्न हो जाता है, पश्चात् दीक्षा होती है और फिर पश्चात् यतिपना होता है - ऐसा कहते हो ? पहले सर्वज्ञपना हो जाये और बाद में दीक्षा लें, तब दीक्षा लेने से तुम्हारा कौन प्रयोजन सिद्ध हुआ ? यदि गृहस्थ को भी मोक्ष हो जाये तथा अन्य कुलिंगधारियों को भी मोक्ष हो जाये, तो दीक्षा ग्रहण, मुख पट्टी बांधना, दण्ड ग्रहण, बोधापात्रों का ग्रहण निरर्थक रहेगा ? ऐसे तुम्हारे मत में हजारों दोष आते हैं।

यदि तुम यह कहोगे (१५) - असातावेदनीय कर्म के उदय से केवली को क्षुधा, तृषा, रोग, मल, मूत्र आदि होते हैं ।

इसका उत्तर सुनो – सो ऐसा नहीं है । क्षुधा तो असातावेदनीय कर्म की उदीरणा से होती है । असाता की उदीरणा की छठवें गुणस्थान में व्युच्छित्ति हो जाती है, अतः सप्तम आदि गुणस्थानों में क्षुधादि वेदना का अभाव है ।

और आगे सुनो – जिस काल मुनि श्रेणी चढते हैं उस समय सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में अधःकरण के प्रारम्भ में चार आवश्यक होते हैं - प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि १, स्थितिबंध का अपसरण अर्थात् घट जाना २, सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों में अनन्तगुणा रस का बढ़ जाना ३, असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का रस अनंतवें भाग घटकर निंब, कांजीर रूप दो प्रकार रह

जाना; विष, हालाहलरूप शक्ति घट जाती है ४ । इसके पश्चात् अपूर्वकरण गुणस्थान में गुण श्रेणी निर्जरा १, गुणसंक्रमण २, स्थितिखण्डन ३, अनुभाग खण्डन ४-ये चार आवश्यक होते हैं । इसलिए उन करण-परिणामों के प्रभाव से असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियों के रस को असंख्यातबार अनन्त का भाग देने के बराबर तक घट जाने से उसमें इतनी मंद शक्ति रह गई कि वह असातावेदनीय सर्वज्ञ को परीषह उत्पन्न करने में समर्थ ही नहीं है । घातिया कर्मों की सहायता भी नहीं रही, इसलिये परीषह देने में समर्थ नहीं है ।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी कहा है –

णट्ठा य राय दोसा इंदियणाणं च केवलम्हि जदो ।
तेण दु सादासादज सुह दुक्खं णत्थि इन्दियजं ॥२७३॥

समयट्ठिदिगो बन्धो सादस्सुदयप्पगो जदो तस्स ।
तेणा सदास्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४॥

एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरन्तरो उदओ ।
तेणा साद णिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥२७५॥

अर्थ :– पहले जो असातावेदनीय बांधी थी उसका असंख्यातबार अनंत का भाग देने के बराबर तक रस घटकर अतिमंद रह गया, और नया असाता का बन्ध होता नहीं है, क्योंकि सप्तम गुणस्थान से आगे एक अकेला सातावेदनीय का ही नया बन्ध होता है, असाता का बन्ध नहीं होता है । केवली के साताकर्म बंधता है, वह भी एक समय की स्थितिरूप ही बंधता है, सो उदय होता हुआ ही बंधता है । इसलिए उनके असाता का उदय भी सातारूप ही परिणमित हो जाता है ।

भावार्थ :– साता का उदय तो सर्वज्ञ को नवीन निरन्तर अनन्तगुणा रसरूप उदय में आता है, और असातावेदनीय का रस अनन्तवें भाग (घटता हुआ) । जिस प्रकार अमृत से भरे समुद्र को एक विष की कणिका विषरूप करने को समर्थ नहीं होती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ के अतितीव्र अनंतगुणा (बढ़ता हुआ) साताकर्म के रस के उदय में अनन्तवें भागरूप अतिमन्द असाता का उदय कैसे क्षुधा की वेदना उत्पन्न करा सकता है ? इसी कारण से भगवान सर्वज्ञ के निरन्तर साताकर्म का ही उदय है, उसमें किंचित् असाता का उदय भी सातारूप ही परिणम जाता है । इसलिए जिनेन्द्र के असाता का उदयजनित परीषह नहीं है। भगवान केवली के रागद्वेष नष्ट हो गया है तथा इंद्रियजनित ज्ञान का अभाव हो गया है, इसलिये साता-असाता दोनों से उत्पन्न इंद्रियजनित सुख-दुख भी केवली के नहीं है ।

और भी कहते हैं – अतिमंद उदयरूप असाता अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता है । जैसे मन्द उदयरूप संज्वलन कषाय अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्रमाद उत्पन्न नहीं करा सकती है; जैसे अति तीव्र वेद के उदय से उत्पन्न मैथुन संज्ञा मन्द वेद के उदयरूप नवमें गुणस्थान में नहीं है; निद्रा-प्रचला का उदय तो बारहवें गुणस्थान में द्विचरम समय पर्यन्त है; परन्तु उदीरणा बिना निद्रा को नहीं

करा सकती है; तथा जैसे जागृत अवस्था बिना आत्मानुभवनरूप ध्यान नहीं बन सकता है उसी प्रकार असाता की उदीरणा बिना असाता कर्म क्षुधा, तृषादिक नहीं उत्पन्न करा सकता है।

और भी समझो – अप्रमत्त साधु भी आहार की इच्छा मात्र करने से प्रमत्तपने को प्राप्त हो जाता है, तो भोजन करता हुआ भी केवली प्रमत्त क्यों नहीं होता है ? यह बड़ा आश्चर्य है ! केवली भगवान तीनों लोकों के बीच में मारण, ताड़न, छेदन, ज्वालन, मद्य, मांस आदि अपवित्र पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते हुए कैसे भोजन कर लेते हैं ? अल्पशक्ति के धारी गृहस्थ को भी अयोग्य वस्तु, निंद्यकर्म का देखना अंतराय कर देता है, और केवली को अंतराय नहीं करता; तो केवली के गृहस्थों से भी अधिक भोजन में लम्पटता रही, और शक्ति की हीनता रही ? फिर उसकी अनंतशक्ति कहाँ रही? और जिसको क्षुधा वेदना हो उसको अनंतसुख कहाँ रहा ?

क्षुधा समान वेदना जगत में अन्य नहीं है। इसलिये सर्वज्ञ के क्षुधा वेदना होने से अनंतवीर्य, अनंतसुख नहीं रहे। ऋद्धिजनित अतिशयवान मुनि में भी ऐसे कार्य करने की सामर्थ्य पाई जाती है जो सामान्य अन्य मनुष्यों में नहीं पाई जाती है, तो अनंतवीर्य के धारी केवली भगवान के आहार बिना देह की स्थिति रहना क्या सम्भव नहीं है ? यदि सर्वज्ञ के भी अन्य मनुष्यों के समान आहार, नीहार, निद्रा, रोग, स्वेद, खेद, मल, मूत्र होता रहे तो सामान्य आत्मा में और परमात्मा में क्या अन्तर रहा ?

आहार के विषय में विचार

जीवन कवलाहार से ही नहीं होता है, आयुकर्म के उदय से होता है। गाथा में भी कहा है-

णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेपमाहारो।
उज्जमणोविय कमसो आहारो छव्विहो भणिओ ॥
णो कम्मं तित्थयरे कम्मं णिरयेय माणसो अमरे।
कवलाहारो णरपसु उज्जो पक्खी य इगि लेपो ॥

अर्थ :– आहार के ६ भेद हैं – कर्म आहार १, नोकर्म आहार २, कवल आहार ३, लेप आहार ४, ओज आहार ५, मानसिक आहार ६।

भगवान अरहंत के तो अन्य जीवों को असंभव ऐसे शुभ सूक्ष्म नोकर्म वर्गणा का ग्रहण होना ही आहार है। नारकियों के कर्म का भोगना ही आहार है। चार प्रकार के देवों के मानसिक आहार है। मन में इच्छा होते ही कण्ठ में से अमृत झर जाता है, उससे तृप्ति हो जाती है। मनुष्य और पशुओं के कवलाहार है। पक्षियों के अण्डे में रहने वाले जीवों के माता के उदर की ऊष्मारूप ओज आहार है और एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि जीवों के लेप आहार है। अर्थात् पृथ्वी आदि का स्पर्श ही आहार है।

भोगभूमि के औदारिक देह के धारी मनुष्यों का शरीर तो तीन कोस प्रमाण तथा भोजन आँवला प्रमाण, तीन दिन के अंतर से लेते हैं। इसलिये कहते हैं कि-**कवलाहार ही देह की स्थिति का**

कारण नहीं है। यदि आहारकपना होने से ही केवली के कवलाहार की कल्पना करते हो तो सयोगीपना मानने से मन का, प्राण मानने से पांच इंद्रियों का, और शुक्ल लेश्या मानने से कषाय का भी प्रसंग आ जायेगा।

जिनेन्द्र के एकादश परीषह कहे हैं। ऐसा कहना तो उपचार मात्र है। वह तो वेदनीय कर्म विद्यमान है इसलिये कहा है। जैसे - मंत्र, औषधि आदि के प्रभाव से जिसकी विषशक्ति नष्ट हो गई है ऐसा विष प्राण हरण करने में समर्थ नहीं है, वैसे ही शक्तिरहित असातावेदनीय कर्म क्षुधा उत्पन्न कराने में समर्थ नहीं है मणि, मंत्र, औषधि, विद्या, ऋद्धि आदि का अचिन्त्य प्रभाव है।

श्वेताम्बरों के कल्पित सूत्र (शास्त्र हैं, उनमें अनेक कल्पित असंभव रचना लिखी है। जैसे–कोई एक गोशाला नाम के गडरिया ने महावीर स्वामी से दीक्षा ली, विद्या के अभिमान से महावीर स्वामी से विवाद करने को समोशरण में गया, विवाद किया और विवाद में हार गया। तब क्रोध कर भगवान के ऊपर कोई ऋद्धि से अग्निमय प्रज्वलित तेजोलेश्या चलाई। उससे समोशरण में दो मुनि सिंहासन के नीचे जल गये; और उस तैजसऋद्धि से उत्पन्न अग्निमय ज्वाला भगवान के ऊपर भी जा पहुँची, भगवान को भारी उपसर्ग हुआ। उस अग्नि की ऊष्मा से भगवान को खूनी ऑव वाला पेचिस रोग (अतिसार) हो गया जो छः महीना तक रहा। बाद में केवलज्ञान से जानकर शिष्य को कहकर सेठ के घर से किसी पक्षी के जीव का पका मांस मंगाकर खाया तब रोग मिटा। फिर बोले-मैंने ऐसे कुपात्र को बिना समझे दीक्षा दे दी। इस प्रकार अवर्णवाद लिखे हैं।

तीन ज्ञान सहित उत्पन्न वीर जिनेन्द्र का चटशाला में पढ़ना कहते हैं ? तीर्थंकर पहले तो नग्न होकर दीक्षित होते हैं, पश्चात् इन्द्र स्कंध ऊपर वस्त्र रख देता है तब वे वस्त्र को ग्रहण कर लेते हैं ? वीरजिन की वाणी गणधर बिना निष्फल खिरी, किसी ने भी नहीं मानी ?

आदिनाथ को जुगलिया कहते हैं ? कोई एक अन्य जुगलिया मर गया, उसकी स्त्री विधवा हो गई ? उस विधवा स्त्री को ऋषभदेव ने अंगीकार कर लिया ? दूसरी सुनन्दा नाम की रानी भी किसी रिस्ते की ही थी ? इन ढूंढिया आदि श्वेताम्बरों को ऐसे अनर्थरूप वचन कहने का भय ही नहीं है।

ऐसा विरुद्ध कहते हैं – वीरजिन पहले देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए, ८० दिन तक वहाँ रहे। उसके पश्चात् इन्द्र ने विचार किया कि-ऐसे नीच घर में इनका जन्म होना योग्य नहीं है। अतः हरिण्यगवेषी देव को आज्ञा दी, तब उस देव ने जाकर देवनंन्दा नाम की ब्राह्मणी के गर्भ में से निकालकर, राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ में रख दिया। विचार करो कि–जीव अपने द्वारा बांधे हुए कर्मों के कारण कुलादि में उत्पन्न होते हैं, देवों के द्वारा उत्पत्ति स्थान कैसे बदला जा सकता है ? परन्तु मिथ्यादर्शन के प्रभाव से इनके कहने का कोई ठिकाना नहीं है।

तीर्थंकर केवली को सामान्य केवली द्वारा नमस्कार करना करते हैं ? बाहुबलि मुनि ने ऋषभदेव तीर्थंकर मुनि को नमस्कार किया था, ऐसा कहते हैं ? सातवें गुणस्थान से ही वंद्य-वंदक भाव नहीं रहता है । **जहाँ आत्म स्वभाव का अनुभव है वहाँ विभावभाव कैसे रह सकते हैं ?** कृतकृत्य भगवान सर्वज्ञ देव द्वारा अन्य को नमस्कार करके क्या साध्य होनेवाला है ? वंदन योग्य परमेष्ठी और मैं वंदना करनेवाला - ऐसा भाव तो प्रमत्त नामक छटवें गुणस्थान पर्यंत ही है।

ऐसा भी कहते हैं – एक स्कंधक नामक त्रिदंडी कुलिंग भेषी को अपने निकट आता देखकर वीरजिन ने गौतम गणधर से कहा कि - यह स्कंधक सन्यासी आ रहा है, मुझसे अधिक बलवान है, और तुम्हारी इससे मित्रता है, सामने से जाकर उसे लिवा लाओ ? तब गौतम गणधर बड़ी भक्ति से उसे सामने जाकर लिवा लाये ? **विचार करो – बड़ा अनर्थ है ! अव्रती–सम्यग्दृष्टि भी कुलिंगी का सम्मान नहीं करता है,** तो महाव्रती गणधर कैसे भक्तिपूर्वक सम्मान करेंगे ?

स्त्री के पंचम गुणस्थान से अधिक गुणस्थान ही नहीं होते, प्रथम तीन संहनन नहीं होते, अहमिंद्र लोक प्राप्त नहीं हो सकता, और सप्तम नरक में गमन नहीं हो सकता, तो स्त्री के मुक्ति कैसे कहते हैं ? मल्लिनाथ जिनेन्द्र को स्त्री कहते हैं, उसकी प्रतिमा पुरुषरूप में बनाकर पूजते हैं? ऐसे महाअसत्यवादी हैं ।

कोई एक हरिक्षेत्र का निवासी मनुष्य जिसका दो कोस ऊँचा शरीर था, उसको कोई पूर्व जन्म का शत्रु देव उठा लाया, और दो कोस के शरीर को छोटा करके भरतक्षेत्र में लाकर मथुरा नगरी का राज्य देकर और मांस भक्षण कराकर पापी बनाकर नरक पहुँचा दिया ? और कहते हैं - उससे हरिवंश की उत्पत्ति हुई है ? ऐसी मिथ्या कल्पनाओं का कुछ ठिकाना नहीं है । दो कोस का शरीर उसे कैसे छोटा किया होगा ? ऊपर से काटा होगा कि नीचे से काटा होगा, कि बीच में से ? इसका कुछ भी उत्तर नहीं देते । हरिक्षेत्र में तो भोगभूमि है । भोगभूमि के तो सभी मनुष्य व तिर्यंच देवगतिगामी हैं । भोगभूमि में तो स्त्री-पुरुषों की संख्या बराबर निश्चित है । माता-पिता के मरने के पहिले ही उनके स्थान पर आनेवालों का जन्म हो जाता है । यदि अनन्तकाल बीतने पर एक-एक कम होने लगे तो सम्पूर्ण भोगभूमि खाली हो जायेगी ?

द्रव्य छह कहते हैं और मुख्य काल द्रव्य का अभाव मानते हैं, व्यतीत–नाश होनेवाला समय आदि को ही काल कहते हैं ? इस प्रकार इनके असत्य कथनों का अन्त नहीं है ।

कहते हैं कि – साधु की निन्दा करनेवाले को मार डालने में पाप नहीं होता है ? यदि देव, गुरु, धर्म का द्रोही चक्रवर्ती भी हो तो सेना सहित चक्रवर्ती का भी विध्वंस करनेवाले साधु को पाप नहीं लगता है ? यदि वह साधु ऋद्धि आदि से उत्पन्न शक्ति होने पर भी निन्दक को नहीं मारता है तो वह साधु अनंत संसारी है ? **विचार करो** – ऐसे पापी साधु के समताभाव कहाँ रहा ? वितरागता कहाँ रही ?

ये पापी महान् शीलवंतों को भी दोष लगाकर उन्हें निर्दोष ही कहते हैं । कहते हैं कि- भरत चक्रवर्ती ने अपनी ब्राह्मी नामक बहिन के साथ विवाह किया था ? द्रोपदी को पंचभर्त्तारी कहते

हैं और उसी पंचभर्त्तारी को सती भी कहते हैं ? **यदि कोई इनसे पूछता है कि** – तुम सती कहते हो तो पंचभर्त्तारी नहीं कहो, और पंचभर्त्तारी कहते हो तो सती नहीं कहो। उसको ये उत्तर देते हैं- जैसे कोई राजा यदि १०० स्त्री ग्रहण करने का नियम ले लेवे तो उसके शीलवानपना ही है; उसी प्रकार यदि कोई स्त्री भी पुरुषों को ग्रहण करने की संख्या का नियम ले लेवे, उस नियम से अधिक पुरुषों को ग्रहण नहीं करे तो उसके शीलवानपना ही है ?

देवों के और मनुष्यनी के आपस में कामभोग का सेवन करना कहते हैं ? विचारक देखो- वैक्रियिक देहधारी के और सप्त धातुमय मलिन देहधारी के संगम कभी हो ही नहीं सकता है।

किसी साधु का उपवास व्रत होवे तथा दूसरे साधु के पास आहार अधिक एकत्र हो जाये तो **यदि गुरु की आज्ञा से उपवासी साधु आहार भक्षण कर लेता है तो भी व्रतभंग नहीं होता है? उपवास में औषधि भक्षण कर ले तो भी दोष नहीं लगता है ?**

समोशरण में भगवान नग्न बैठे रहते हैं किन्तु वस्त्र सहित दिखाई देते हैं ? कहते हैं-साधु-यति को लाठी, पात्र, वस्त्र आदि १४ उपकरण रखना ही धर्म है ? चांडालादि को भी मुक्ति होना कहते हैं ?

महावीर जिनेन्द्र के समोशरण में चन्द्रमा, सूर्य विमान सहित आये कहते हैं ? इसमें तो शाश्वती गति की मर्यादा का भंग होना कहलाया। यदि साधु का मन विचलित हो जाय तो श्रावक अपनी स्त्री को साधु को देकर उसकी कामवेदना मिटाकर उसका मन स्थिर कर देवे ?

गंगादेवी से भरतचक्रवर्ती ने पचपन हजार वर्ष तक कामभोग किया कहते हैं ? कहते हैं कि- भोगभूमि के युगलों को मल-मूत्र होता है ? यदि कोई युगल मर जाता है तो तीन कोस के मुरदे के शरीर को देवता उठाकर भैरुण्ड आदि पक्षियों को खिला देते हैं ? यादव आदि सभी क्षत्रियों को मांसभक्षी कहते हैं ?

गौतम गणधर आनंद नामक श्रावक के घर उसके शरीर की कुशल पूछने गये और वहाँ झूठ बोला ? क्या गणधर भी चूककर झूठ बोलते हैं ?

जन्म के समय वीरजिन ने मेरू पर्वत को कम्पायमान कर दिया कहते हैं ? चमड़े में रखा जल, घी आदि निर्दोष कहते हैं। इत्यादि हजारों अनर्थरूप कथन करके कल्पितसूत्र बनाये हैं, उनका विशेष कथन कहाँ तक लिखें ?

मूर्ति पूजा के विषय में विचार

इन्हीं श्वेताम्बरों में एक महाभ्रष्ट ढूंढियामती भी हुए हैं, वे प्रतिमा के वंदन करने का निषेध करते हैं और **भोले लोगों से कहते हैं** – ये प्रतिमा तो एकेन्द्रिय पाषाण की है, तुम पंचेन्द्रिय होकर उसके सामने क्यों नाचते हो ? क्यों वंदन करते हो ? वह प्रतिमा तुम्हें किस प्रकार शुभगति दे देगी? अत- ढूंढिया साधुओं की वंदना दर्शन करो ?

उनसे हम कहते हैं – तुम्हारा मांसमय, मलिन चमड़े से ढका, मल-मूत्रादि से भरा, कफ, लार आदि से लिप्त शरीर का दर्शन करने से क्या लाभ है ? **आत्मज्ञान रहित समस्त जगत के अभक्ष्य पदार्थों को खानेवाले तुम्हारे शरीर का देखना तो कर्मबंध का ही कारण है ।** तुम्हारा कल्पित सूत्र का श्रवण हमारे सम्यक्त्व का नाश करनेवाला तथा नवीन कर्मबंध ही का कारण है । जिनेन्द्र के धातु पाषाण के प्रतिबिम्ब के दर्शन मात्र से परम वीतराग सर्वज्ञ का ध्यान स्पष्ट प्रगट हो जाता है, परमशान्ति और शुभोपयोग हो जाता है । तुम्हारे पापमय शरीर को देखने से पाप का बंध होता है ।

और कैसे हो तुम ? अत्यंत अभद्र (विट्) रूप, विकारी, रागद्वेष कषायादि पापमल सहित, अयोग्य-अभक्ष्य आहार के लम्पटी, हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करने वाले, अन्य जीवों को मिथ्या मार्ग पर चलानेवाले, तुम्हें देखने से ही घोर पाप का बंध होता है । **तुम्हारी प्रशंसा करनेवाले को सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थितिवाला मोहनीयकर्म का बंध होता है ।**

इस कलिकाल में जैनधर्म का सच्चामार्ग श्वेताम्बरों ने बिगाड़ दिया है । इसलिये इनका स्वरूप बताने के लिये यहाँ प्रकरण पाकर उन श्वेताम्बरों के मत का स्वरूप का वर्णन किया है । इनके मत में सच्चा आप्तपना कैसे होगा ? अन्यमतवालों के जो देव प्रत्यक्ष भयभीत, तथा असमर्थ होकर चक्र, त्रिशूल, तलवार आदि धारण किये हुए हैं; कामी होकर स्त्रियों के वशीभूत हो रहे हैं; भूख, प्यास, काम, राग, द्वेष, निद्रा, नीहार, बैर, विरोध आदि जिनका प्रगट ही दिखाई दे रहा है उनमें निर्दोषपना कैसे हो सकता है ? जो इंद्रियज्ञान सहित ज्ञानी उनमें सर्वज्ञपना, आप्तपना कहाँ से होगा? **आप्तपना तो सर्वज्ञ, वीतरागी परम हितोपदेशी के ही बनता है ।**

अब पूर्वा-पर विरोध आदि दोषों से रहित **पदार्थों का सच्चा उपदेश देनेवाला जो शास्ता उसके नाम** की सार्थकता बतानेवाला श्लोक कहते हैं -

परमेष्ठी परंज्योतिः विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादि मध्यान्तः सार्वः शास्तो पलाल्यते ॥७॥

अर्थ :– जो अर्थ सहित इन आठ नामों को सार्थक करता है उसे शास्ता कहते हैं - परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त और सार्व-ये आठ जिसके सार्थक नाम हैं वह शास्ता है, उसी को आप्त कहते हैं ।

भावार्थ :– परमेष्ठी अर्थात् परमइष्ट । इन्द्रादिकों के द्वारा वंदनीय जो परमात्मस्वरूप में ठहरा है वह परमेष्ठी है । **परमेष्ठी और कैसा होता है ?** अंतरंग तो घातिया कर्मों के नाश से प्रगट हुआ है अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप अपना जो निर्विकार, अविनाशी, परमात्म स्वरूप उसमें स्थित है; और बाह्य में इंद्रादिक असंख्यात देवों द्वारा वंद्यमान, समोशरण सभा के बीच में तीन पीठिकाओं के ऊपर, दिव्य सिंहासन में चार अंगुल अधर, चौंसठ चमरों सहित विराजमान, तीन छत्र आदि दिव्य संपत्ति से विभूषित, इंद्रादिक देव और मनुष्यों आदि निकटभव्यों को धर्मोपदेशरूप अमृत का पान

कराता हुआ, जन्म-जरा-मरण के दुखों का निराकरण करता हुआ विराजमान है; **ऐसे भगवान आप्त को परमेष्ठी कहते हैं ।**

जो कर्मों की आधीनता से इंद्रियों के काम-भोग आदि विषयों में तथा विनाशीक संपदारूप राज्य-संपदा में मग्न होकर स्त्रियों के आधीन होकर विषयों की तपन सहित रह रहे हैं उनको परमेष्ठीपना संभव ही नहीं है ।

जो **परंज्योति** है; जिसके परं अर्थात् आवरण रहित, ज्योति अर्थात् अतीन्द्रिय अनंतज्ञान में लोक-अलोकवर्ती समस्त पदार्थ अपने त्रिकालवर्ती अनन्तगुण पर्यायों के साथ युगपत् प्रतिबिम्बित हो रहे हैं; ऐसे भगवान परम ज्योतिस्वरूप आप्त हैं । अन्य जो इन्द्रियजनित ज्ञान से अल्पक्षेत्रवर्ती वर्तमान स्थूल पदार्थों को क्रम-क्रम से जानता है उसे परंज्योति कैसे कहा जा सकता है ?

जिसे मोहनीय कर्म का नाश होने से समस्त पर-द्रव्यों में राग-द्वेष का अभाव होने से वांछारहित परम वीतरागता प्रगट हुई है, वह वस्तु का सच्चा स्वरूप जान लेने पर किसमें राग करेगा और किसमें द्वेष करेगा ? जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा राग-द्वेष रहित जानता है; ऐसा **विराग** नाम सहित अरहन्त ही आप्त है । जो कामी-विषयों में आसक्त, गीत-नृत्य-वाद्यों में आसक्त, जगत की स्त्रियों को लुभाने में, बैरियों को मारकर लोगों में अपना शूरपना प्रगट करने की इच्छा सहित है उसको विरागपना संभव नहीं है ।

जिनका काम, क्रोध, मान, माया, लोभादि भावमल नष्ट हो गया है; ज्ञानावरणादि कर्ममल नष्ट हो गया है; मूत्र, पुरीष, पसेव, वात, पित्तादि शरीरमल नष्ट हो गया है; निगोदिया जीवों से रहित, छाया रहित, कांति युक्त, क्षुधा, तृषा, रोग, निद्रा, भय, विस्मय आदि रहित परम औदारिक शरीर में विराजमान वे भगवान आप्त अरहन्त ही **विमल** हैं । अन्य जो काम-क्रोध आदि मलों सहित हैं वे विमल नहीं है ।

जिन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, जो शुद्ध अनन्त ज्ञानादिमय अपने स्वरूप को प्राप्त होकर व्याधि-उपाधि रहित कृतकृत्य हुए वे भगवान आप्त ही **कृती** हैं; अन्य जो जन्म-मरण आदि सहित; चक्र, आयुध, त्रिशूल, गदा आदि सहित; कनक-कामिनी में आसक्त; भोजन-पान, काम-भोगादिक की लालसा सहित; शत्रुओं को मारने की आकुलता सहित हैं वे कृती नहीं हैं ।

जो इंद्रियादि परद्रव्यों की सहायता रहित, युगपत्, समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को, क्रमरहित, प्रत्यक्ष जानते हैं वे भगवान आप्त ही **सर्वज्ञ** हैं; अन्य जो इंद्रियाधीन-ज्ञान सहित हैं वे सर्वज्ञ नहीं हैं ।

जिनका जीव द्रव्य की अपेक्षा तथा ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य गुणों की अपेक्षा आदि, मध्य, अन्त नहीं है इसलिये अनादिमध्यान्त हैं । दूसरे अर्थ में - भगवान आप्त अनादिकाल से हैं और कभी अन्त को प्राप्त नहीं होंगे इसलिये **अनादिमध्यान्त** हैं । जिनके मत में आप्त का जन्म-मरण, जीव का नवीन उत्पन्न होना तथा जीव के ज्ञानादि गुण नवीन उत्पन्न होना मानते हैं उनमें अनादिमध्यान्तपना नहीं बनता है ।

जिनके वचन व काय की प्रवृत्ति समस्त जीवों के हित के लिये ही होती है, वे भगवान आप्त **सार्व** कहलाते हैं। अन्य जो काम, क्रोध, संग्राम आदि हिंसा प्रधान समस्त पापों द्वारा स्वपर के अहित में प्रवर्तन करते हैं, कराते हैं उनको सार्व ऐसा नाम ही संभव नहीं है ।

इस प्रकार आठ विशेषण सहित सार्थक नामों द्वारा **शास्ता** जो आप्त उसका असाधारण स्वरूप कहा है। 'शास्तीति शास्ता' इसका निरूक्ति अर्थ ऐसा है - **जो निकट भव्य शिष्य हैं उन्हें जो हित की शिक्षा देवे वह शास्ता कहलाता है** ।

अब जो शास्ता अर्थात् आप्त है वह सत्पुरुषों को स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करानेवाली शिक्षा प्रदान करके अपनी प्रशंसा, लाभ, पूजादिक फल को नहीं चाहता है, ऐसा कथन करनेवाला श्लोक कहते हैं -

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥८॥

अर्थ :– शास्ता जो धर्मोपदेशरूप शिक्षा देनेवाले अरहन्त आप्त हैं वे अनात्मार्थं अर्थात् अपनी ख्याति, लाभ, पूजादि प्रयोजन के बिना ही तथा शिष्यों में रागभाव के बिना ही सत्पुरुष जो निकट भव्य हैं उन्हें हितरूप शिक्षा देते हैं; जैसे वाद्य बजानेवाले शिल्पि के हाथ का स्पर्श मात्र पाकर मृदंग अनेक प्रकार से ध्वनि करने लगता है, किन्तु बदले में वह मृदंग कुछ भी नहीं चाहता है ।

भावार्थ :– संसारी जन लोक में जितना भी कार्य करते हैं वह सब अपना अभिमान, लोभ, यश, प्रशंसा आदि के लिये करते है; और भगवान अरहंत आप्त अपना कुछ भी प्रयोजन बिना, चाह बिना ही, जगत के जीवों को हित की शिक्षा देते हैं । जैसे-मेघ प्रयोजन के बिना ही लोगों के पुण्य के उदय के निमित्त से उत्तम देशों में जाते हैं, गर्जना करते हैं और प्रचुर जल की वर्षा करते हैं; उसी प्रकार भगवान आप्त भी लोगों के पुण्य के उदय के निमित्त से उत्तम देशों में विहार करते हैं और धर्मरूप अमृत की वर्षा करते हुए उपदेश देते हैं; क्योंकि **सत्पुरुषों की प्रवृत्ति अर्थात् जो आचरण होता है वह दूसरों के उपकार के लिये ही होता है** ।

जैसे कल्पवृक्षादिक वृक्ष, आम्रादि **वृक्ष**, धान्यादि **अनाज** अन्य जीवों के उपकार के लिये ही फलते हैं; **पर्वत** स्वर्ण रत्नादि को, प्रचुर जल को, अनेक वृक्षों आदि को बिना किसी इच्छा के जगत के उपकार के लिये ही धारण करते हैं; **समुद्र** रत्नादि को तथा **गायें** दूध को अन्य के उपकार के लिये ही धारण करते हैं; **दातार** दूसरों के उपकार के लिये ही धन का संग्रह करते हैं; उसी प्रकार **सत्पुरुष उत्तम वचनों को परोपकार के लिये ही बिना कुछ चाह भाव के बोलते हैं** । बहुत कहने से क्या ? **जितने भी उपकारक पदार्थ हैं वे सभी बिना कुछ चाह भाव के ही लोगों के पुण्य के प्रभाव से प्रगट होते हैं,** उसी प्रकार भगवान आप्त भी बिना इच्छा के ही लोगों के परम उपकार के लिये धर्मरूप हितोपदेश देते हैं ।

इस प्रकार आप्त का स्वरूप चार श्लोकों में कहा है । अब सच्चे आगम का लक्षण कहने वाला श्लोक कहते हैं -

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

अर्थ :- शास्त्र उसे कहते हैं जो सर्वज्ञ वीतराग का कहा हुआ हो, किसी वादी-प्रतिवादी द्वारा उल्लंघन नहीं किया जा सके, दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात् अनुमान द्वारा जिसमें विरोध नहीं आवे, तत्त्व अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा कथन-उपदेश करनेवाला हो, सर्व जीवों को हितरूप हो, तथा कुमार्ग अर्थात् **मिथ्यामार्ग का निषेध करनेवाला हो** । इस प्रकार छह विशेषणों सहित शास्त्र का स्वरूप कहा ।

यहाँ ऐसा अभिप्राय जानना कि – वर्तमान में काल-दोष के निमित्त से मिथ्यामार्गी बहुत उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपना अभिमान और विषय-कषायों का पोषण करने के लिये अनेक खोटे उपदेश देनेवाले शास्त्र रचकर जगत को सच्चे धर्ममार्ग से भ्रष्ट कर दिया है । **संसार में जितने मत चल रहे हैं वे सभी शास्त्रों द्वारा ही चल रहे हैं** । शास्त्र बिना कोई मत है ही नहीं ।

ब्राह्मणादि के तो वेद, स्मृति, पुराण ही शास्त्र हैं; उनमें हिंसा की प्रधानता करके अश्वमेध, नरमेध आदि यज्ञ तथा जीवों का शिकार, समस्त जलचारी-स्थलचारी जीवों की हिंसा करने में धर्म कहते हैं; देवताओं के लिये, पितरों तथा व्यंतरों की तृप्ति के लिये मांसपिंड के दान को भी धर्म कहते हैं; भवानी, भैरव आदि देव भैंसा-बकरा इत्यादि को मारकर चढ़ाने से और भक्षण करने से ही प्रसन्न होते हैं; देवताओं को मांसाहारी ही कहते हैं; राजाओं का धर्म शिकार ही है; इत्यादि कार्यों की प्रवृत्ति शास्त्रों के वचनों से ही चल रही है ।

हरि, हर, ब्रह्मा आदि भगवान हैं, परमेश्वर हैं - ऐसा कह करके हरि को तो निरन्तर ग्वालों की स्त्रियों में आसक्त होकर बांसुरी बजाना, नाचना, तथा गोवर्धन अहीर को मारकर उसकी स्त्री हरण करना, अनेक न्याय-अन्याय की लीला करनेवाला कहते हैं ? यह सब शास्त्रों में लिखा ही जगत मान रहा है ।

हर जो शिव, उसके आधे शरीर में स्त्री के आकार की कल्पना, भस्म लगाना, अनेक हत्यायें करना, शाप को प्राप्त करना, त्रिशूल आदि आयुध रखना, लोक का संहार करना - ये सभी बातें शास्त्रों में लिखी होने से ही जगत के लोग मानते हैं ।

शिव के लिंग को पार्वती की योनि में रखे हुए को लगातार जल द्वारा सींचना, आकधतूरा चढ़ाना इत्यादि समस्त बातें शास्त्रों में लिखी होने से ही जगत में अनेक मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति को ही धर्म जानकर सेवन करते हैं ।

ब्रह्मा को समस्त सृष्टि का कर्त्ता और पितामह कहते हैं; इसी ब्रह्मा को अतिकामी होकर अपनी ही पुत्री से भोग करके भ्रष्ट हुआ भी कहते हैं । वही ब्रह्मा उर्वशी नाम की अप्सरा पर मोहित होकर

अपने चार हजार वर्ष की तपस्या के फल से चार मुख बनाकर उर्वशी को देखकर तप से भ्रष्ट हुआ और उर्वशी के शाप को प्राप्त किया। ये सब बातें उन्हीं के शास्त्रों में ही लिखी हैं।

जगत की रचना करनेवाला और पालन करनेवाला भगवान नारायण को कच्छ, मच्छ, सूकर, सिंह आदि अनेक अवतार धारण करनेवाला; राक्षसों का नाश करनेवाला; उन्हीं के शास्त्रों में ही लिखा है। हनुमान को बंदर; गणेश को हाथी के मुंह वाला, चूहे पर सवारी करना तथा लड्डू खाने में अतिरागी होना आदि भी उन्हीं के शास्त्रों में ही लिखा है। जीवों को मारना, जीवों को मारकर देवताओं को प्रसन्न करना; तालाब, कुआ, बावड़ी खुदवाने में बड़ा धर्म होता है - ऐसा उनके शास्त्रों में ही लिखा है।

श्वेताम्बरों ने अनेक कल्पित शास्त्र बनाये हैं, उनका समस्त धर्म विरूद्ध आचरण शास्त्रों से ही प्रवर्त रहा है।

इस कलिकाल में भेषधारियों की पूजा, कुलदेवता की पूजा, क्षेत्रपाल आदि व्यंतरों की पूजा, पद्मावती-चक्रेश्वरी इत्यादि देवियों की पूजा तथा अनेक मिथ्या प्ररूपणायें, तर्पण आदि शास्त्रों में लिखे हैं इसीलिये चल रहे हैं। अन्य भील, म्लेच्छ, मुसलमान आदि सभी के अपने-अपने मत के शास्त्र हैं। शास्त्र के बिना मिथ्या कल्पनायें कैसे प्रचलित होंगी ? इसी कारण जगत में शास्त्र बहुत प्रकार के हैं। शास्त्रों के आधार से ही अनेक पाखण्ड, खोटे भेष, मिथ्या धर्म चल रहे हैं। **अतः परीक्षा प्रधानी होकर अच्छी तरह परीक्षा करके शास्त्रों को स्वीकार करना**। पहले कहे छह विशेषणों सहित को ही आगम मानना।

प्रथम तो सर्वज्ञ वीतरागी का कहा होना चाहिये। सर्वज्ञ के सिवाय दूसरा कोई अपने इंद्रियजनित ज्ञान से जीव, अजीव, अतीन्द्रिय, अमूर्तिक पदार्थों का कथन नहीं कर सकेगा; पाप-पुण्य आदि अदृष्ट पदार्थों का व परमाणु वगैरह सूक्ष्म पदार्थों का कथन कहाँ से करेगा ? स्वर्ग-नरक की पर्यायों को, और स्वर्ग-नरक में उत्पन्न हुए सुख-दुःख के कारण अनेक संबंधों को कैसे जानेगा ? मेरू कुलाचल आदि का कथन कैसे करेगा ? जीवादि द्रव्यों की अनन्त पर्यायें हो गई हैं, आगे भी अनन्त पर्यायें होंगी, तथा अनन्त द्रव्यों के गुण और उनकी अनन्त पर्यायों का एक समय में एक साथ होनेवाले परिणमन का क्रमवर्ती इंद्रियज्ञान का धारी कैसे कथन कर सकेगा ?

अतः सर्वज्ञ के बिना इंद्रियजनित ज्ञानवाले के द्वारा आगम का कहना यर्थाथ नहीं बन सकता है। सच्चे आगम का कथन सर्वज्ञ से ही बन सकता है। यदि रागद्वेषवाला, अपने अभिमान को पुष्ट करने की इच्छावाला, अपनी विख्याततता फैलाने का इच्छुक तथा विषयों का लोभी वक्ता होगा तो सत्य स्वरूप नहीं कह सकेगा। अतः **सर्वज्ञ वीतरागी के द्वारा कहे गये आगम ही प्रामाणिक हैं।**

जिस आगम में वादी-प्रतिवादी द्वारा दिखाये दोष हों वह आगम प्रामाणिक नहीं है। इसलिये वादी-प्रतिवादी जिसका उल्लंघन नहीं कर सकें, बाधा नहीं दे सकें ऐसा अनुलंघ्य ही आगम कहलाता है।

जिस आगम में प्रत्यक्ष तथा अनुमान से बाधा नहीं आवे वही आगम प्रामाणिक है। जिसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण तथा अनुमान-प्रमाण से बाधा आ जाये वह आगम प्रामाणिक नहीं है।

जिस आगम से स्व और पर का निर्णय नहीं हो सके, जिस आगम में हेय-उपादेय, कृत्य-अकृत्य, देव-कुदेव, धर्म-अधर्म, हित-अहित, ग्राह्य-अग्राह्य, भक्ष्य-अभक्ष्य का निर्णय करानेवाला सच्चा वस्तुस्वरूप नहीं कहा हो वह मिथ्या आगम है।

जिसमें व्यर्थ के शब्दों के आडम्बररूप लोकरंजन की असत्य कथायें, देशकथा, राजकथा, स्त्रीकथा, काम-कथा आदि द्वारा अनेक संसार में ही उलझानेवाली विकथाओं रूप वर्णन किया हो; किन्तु आत्मा का संसार से उद्धार करने के उपायरूप कथन नहीं किया हो वह भी मिथ्या आगम ही है।

जिसमें तत्त्वभूत जीव के हित का उपदेशरूप कथन किया हो ऐसा **तत्त्वोपदेशकृत** ही आगम है। जो सर्वप्राणियों का हितरूप उपदेश करनेवाला हो सो ही **सार्व** विशेषण युक्त आगम है।

जिसमें प्राणियों की हिंसा करने का कथन हो; मांस भक्षण और जल-थल-आकाशगामी जीवों को मारने के उपाय बताये हों; महाआरम्भ का, मारण-उच्चाटन करने का; दूसरों का धन छीनने का, युद्ध करने का, सेना को नष्ट करने का, नगर-ग्राम विध्वंस करने का; परिग्रह में, परधन में, परस्त्री में आसक्त होने के उपायों का वर्णन किया हो वह आगम सार्व अर्थात् सर्वप्राणियों के हितरूप नहीं है।

जो कुमार्ग का निषेध करके स्वर्ग व मोक्ष के मार्ग के उपदेश करनेवाला हो का **कापथघट्टन** विशेषण सहित आगम है। जो शृंगार, वीररस आदि का वर्णन कर कुमार्ग में प्रवृत्ति करानेवाला हो; जुआ-मांसभक्षण आदि खोटे व्यसनोंरूप मार्ग में चलानेवाला हो; संसार समुद्र में डुबोने के निमित्त जो रागी-द्वेषी विषयी, कषायी देवों की सेवा तथा पाखण्डी भेषधारी गुरुओं की उपासना में लगानेवाला हो, तथा मिथ्याधर्मरूप जो कुमार्ग उसमें प्रवर्तन कराने का कथन जिसमें हो वह खोटा आगम है।

जो अधिक नहीं समझते हों उन्हें भी इतना तो अवश्य ही समझ लेना चाहिये कि **जो वितरागी का कहा आगम होगा उसमें रागादि विषय-कषायों का अभाव करने का तथा समस्त जीवों की दया पालने का – ये दो कथन तो मुख्य होंगे ही**। इस प्रकार एक श्लोक में आगम का लक्षण कहा।

अब जो तपस्वी अर्थात्-सच्चा गुरु है उसका स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं :

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

अर्थ – जो पांच इंद्रियों के विषयों की आशा अर्थात् वांछा से रहित हो, छह काय के जीवों का जिसमें घात होता है ऐसे आरम्भ से रहित हो, अंतरंग-बहिरंग समस्त परिग्रहों से रहित हो, ज्ञान-ध्यान तप में आसक्त हो-जो इन चार विशेषणों सहित तपस्वी अर्थात् गुरु है, वही प्रशंसनीय है।

भावार्थ – जो रसना इंद्रिय का लम्पटी हो, अनेक प्रकार के रसों के स्वाद की इच्छा के वशीभूत हो रहा हो, कर्णइंद्रिय के वशीभूत हो, अपना यश-प्रशंसा सुनने का इच्छुक हो, अभिमानी हो; नेत्रों द्वारा सुन्दर रूप, महल, मंदिर, बाग, वन, ग्राम, आभूषण वस्त्रादि देखने का इच्छुक हो; कोमलशय्या-कोमल **उच्चआसन** के ऊपर सोने-बैठने का इच्छुक हो, सुगंध आदि ग्रहण करने का इच्छुक हो, विषयों का लम्पटी हो सो ऐसा गुरु दूसरों को विषयों से छुड़ाकर वीतराग मार्ग में नहीं लगा सकता; वह तो सराग मार्ग में ही लगाकर संसार समुद्र में डुबो देगा ।

इसलिये **जो विषयों की आशा के वशीभूत नहीं हो ऐसा गुरु ही आराधन, वंदन योग्य है** । जिसे विषयों में अनुराग हो वह तो आत्मज्ञान रहित बहिरात्मा है, गुरु कैसे होगा ? जिसके त्रस-स्थावर जीवों के घात का आरंभ होता हो, उसे पाप का भय नहीं है, पापी के गुरुपना कैसे संभव है ?

जो चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह तथा दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह सहित हो, वह गुरु कैसे हो सकता है ? परिग्रही तो स्वयं ही संसार में फंस रहा है, वह अन्य जीवों का उद्धार करनेवाला गुरु कैसे होगा ?

परिग्रह के विषय में विचार

यहाँ मिथ्यात्व १, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद २, राग ३, द्वेष ४, हास्य ५, रति ६, अरति ७, शोक ८, भय ९, जुगुप्सा १०, क्रोध ११, मान १२, माया १३, लोभ १४- इस प्रकार चौदह अंतरंग परिग्रह हैं । इनका स्वरूप कहते हैं ।

यद्यपि मनुष्यादि पर्याय, शरीर, शरीर का नाम, शरीर का रूप तथा शरीर के आधार से जाति, कुल, पदवी, राज्य, धन, कुटुम्ब, यश-अपयश, ऊँच-नीचपना, निर्धनपना-धनवानपना, मान्यता-अमान्यता, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि वर्ण, स्वामी-सेवक, यति-गृहस्थपना इत्यादि बहुत प्रकार हैं, वे सब पुद्गलों की रचनामय कर्मों के किये हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; तथा सुनते हैं, अनुभव करते हैं कि ये विनाशीक हैं, पुद्गलमय हैं, मेरा स्वरूप नहीं हैं । ऐसा अच्छी तरह बारम्बार निर्णय कर लिया है, तो भी अनादिकाल से **मिथ्यात्वकर्म के उदय से ऐसा दृढ़ संस्कार जमा है कि इनके नाश होने से अपना नाश मानता है**; इनके घट जाने से अपना घट जाना, बढ़ जाने से अपना बढ़ जाना, ऊँचापना, नीचापना मानकर सभी जीव देहादिमय हो रहे हैं । यद्यपि अपने वचनों द्वारा इन सभी को कहता है कि ये पररूप हैं, हमारे नहीं है, पराधीन हैं, विनाशीक हैं तथापि अंतरंग में **इनके संयोग-वियोग में आत्मा राग-द्वेष सुख-दुःख रूप होता है, वही मिथ्यात्व नाम का परिग्रह है** । १ ।

स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि में कामसेवनरूप राग अंतरंग में होता है, वही वेद नाम का परिग्रह है । २ । परद्रव्य जो देह, धन, स्त्री, पुत्रादि में प्रसन्न होना, वह **राग** परिग्रह है । ३ । पर का ऐश्वर्य, यौवन, धन, संपदा, यश, राज्य, वैभव आदि से बैर रखना सो **द्वेष** परिग्रह है । ४ । हास्य के परिणाम होना वह **हास्य** परिग्रह है । ५ । अपना मरण होना जानने से वियोग, वेदना आदि होने से डरपना

वह **भय** परिग्रह है । ६ । अपने को अच्छा लगनेवाले पदार्थों में आसक्ति से लीन होना, वह **रति** परिग्रह है । ७ । अपने को अनिष्ट लगनेवाले पदार्थों में विरक्तता होना-परिणाम नहीं लगना वह **अरति** परिग्रह है । ८ । इष्ट सामग्री का वियोग होने से क्लेशरूप परिणाम होना वह **शोक** परिग्रह है।९। घृणावान वस्तु को देखकर, सुनकर, छूकर, विचारकर परिणामों में ग्लानि का उत्पन्न होना वह जुगुप्सा परिग्रह है । अथवा **दूसरों का उदय देखकर नहीं सुहाना, वह जुगप्सा परिग्रह है** । १० । रोष के परिणाम होना वह **क्रोध** परिग्रह है । ११ । उच्च जाति, कुल, तप, रूप, ज्ञान, विज्ञान (ऋद्धि), ऐश्वर्य (पूजा), बल आदि का मद करके अपने को ऊँचा तथा औरों को नीचा समझकर कठोर परिणाम होना वह **मान** परिग्रह है । १२ । कपट सहित वक्र परिणाम होना वह **माया** परिग्रह है । १३ । परद्रव्यों की चाहरूप परिणाम होना वह **लोभ** परिग्रह है । १४ ।

इस प्रकार संसार का मूल, आत्मा का घातक, तीव्र बंधन का कारण चौदह प्रकार का अंतरंग परिग्रह और क्षेत्र १, वास्तु २, हिरण्य ३, स्वर्ण ४, धन ५, धान्य ६, दासी ७, दास ८, कुप्य ९, भांड १० - ये दश भेदरूप बाह्य परिग्रह हैं । **ऐसे अंतरंग-बहिरंग चौबीस प्रकार के परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि के ही गुरुपना निश्चय करना ।**

संयम धारण करके भी अंतरंग-बहिरंग परिग्रह से जिनका मन मलिन है, उनके गुरुपना नहीं बन सकता है । जो निरन्तर दिन-रात चलते बैठते भोजन करते हुए भी ज्ञानाभ्यास में, धर्मध्यान में, इच्छा निरोध नामक तप में आसक्त हैं, वे गुरु ही प्रशंसा योग्य हैं, मान्य हैं, पूज्य हैं, वंदनीय हैं ।

इन गुणों के बिना किसी को सम्यग्दृष्टि वंदनादि नहीं करता है । अथवा "ज्ञान ध्यान तपो रत्नः" ऐसा भी श्लोक का पाठ है जिसका अर्थ है - ज्ञान, ध्यान तप ही हैं रत्न जिसके, ऐसा गुरु होता है । इस प्रकार गुरु का स्वरूप कहा ।

अब देव, गुरु, आगम का श्रद्धान है लक्षण जिसका ऐसे सम्यग्दर्शन के निःशंकित नामक अंग को कहनेवाला श्लोक कहते हैं :

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्नचान्यथा ।
इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रूचिः ॥११॥

अर्थ :— यहां तत्त्वभूत आप्त, आगम और गुरु का जो लक्षण बताया है, वह ही सत्यार्थ स्वरूप है । ईदृशं चैव अर्थात् इसी प्रकार है, अन्य प्रकार नहीं है; ऐसा तलवार की धार के पानी की तरह सन्मार्ग में संशय रहित अकम्प रुचि अर्थात् श्रद्धान होना, वह निःशंकित अंग नाम का गुण है ।

भावार्थ :— संसार में अनेक प्रकार के गदा, चक्र, त्रिशूलादि आयुध के धारी, स्त्रियों में अति आसक्त, क्रोधी, मानी, मायाचारी, लोभी, अपना शौर्य आदि कर्त्तव्य दिखाने के इच्छुक को देव कहा जाता है; हिंसा, काम, क्रोधादि में धर्म बताने वाले शास्त्र को आगम कहा जाता है; और अनेक पाखण्डी, लोभी, कामी, अभिमानी आदि को गुरु कहा जाता है; किन्तु वे कोई भी सच्चे नहीं हैं, ऐसा दृढ़ श्रद्धान जिसे है, उसके निःशंकित गुण है । मूढ़ों की खोटी युक्तियों द्वारा जिसका चित्त चलायमान

नहीं होता, तथा खोटे देवताओं के विकार द्वारा, मन्त्र-तन्त्र आदि द्वारा परिणाम विकारी नहीं होते हैं, उसके निःशंकित गुण है । जैसे तलवार की धार का पानी हवा द्वारा चलायमान नहीं होता है, वैसे ही जिसके सच्चे देव-गुरु-धर्म के स्वरूप संबंधी परिणाम मिथ्यादृष्टियों के वचनरूप हवा के द्वारा संशय को प्राप्त नहीं होते, उसके निःशंकित गुण होता है ।

यहां कुछ और भी विशेष कहते हैं – आत्मतत्त्व का जैसा स्वरूप निर्दोष आगम में कहा है वैसा **स्वानुभव करके जिसने अपने को आपरूप जाना है और पर पुद्गलों के संबंध को पररूप जाना है, ऐसा सम्यग्दृष्टि** सप्तभय रहित होकर निःशंकित गुण को प्राप्त करता है ।

सप्तभयों के नाम व स्वरूप कहते हैं – इसलोक का भय १, परलोक का भय २, मरण का भय ३, वेदना का भय ४, अनरक्षा भय ५, अगुप्ति भय ६, अकस्मात् भय ७ ।

अपने परिग्रह, कुटुम्ब, आजीविका आदि के बिगड़ जाने का भय वह **इसलोक का भय** है। यह सभी संसारी जीवों को होता है । १ । मरणकर परलोक में जाकर नहीं मालूम किस गति व क्षेत्र में जाऊँगा, ऐसा भय वह **परलोक का भय है** । २ । मरण होने का बड़ा भय लगना कि मेरा नाश हो जायेगा, नहीं मालूम कितना दुःख होगा, मेरा अभाव हो जायेगा ऐसा भय वह **मरणभय** है । ३ । रोगादि का कष्ट आने का भय वह **वेदना भय** है । ४ । अपना कोई रक्षक नहीं है, ऐसा जानकर डरना वह **अनरक्षा भय** है । ५ । अपनी वस्तु के चोरी चले जाने का भय, अपने छिपने के स्थान का दूसरों को पता लग जाने का भय, वह **अगुप्ति भय** है । ६ । अचानक दुःख उत्पन्न न हो जाये, ऐसा भय वह **अकस्मात् भय** है । ७ ।

अपना और पर का स्वरूप सही-सही जाननेवाले सम्यग्दृष्टि को ये सप्तभय नहीं होते हैं ।

इस देह में पैर के नाखून से लगाकर मस्तक तक जो ज्ञान है, चैतन्य है, वह हमारा धन है । इस ज्ञानभाव से भिन्न एक परमाणु मात्र भी हमारा नहीं है । देह और देह के संबंधी, जो स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, राज्य, वैभव आदि हैं, वे सभी मुझसे भिन्न पर-द्रव्य हैं, संयोग से उत्पन्न हुए हैं, मेरा इनका क्या संबंध है ? संसार में ऐसे संबंध तो अनंतानंतबार होकर छूट गये हैं । **जिनका संयोग हुआ है, उनका वियोग निश्चय से होगा ही** । जो उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य विनाश को प्राप्त होगा । "मैं ज्ञान स्वरूप आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ, अतः विनाश को भी प्राप्त नहीं होऊंगा" ऐसा जिसे दृढ़ निश्चय है, उसको देह छूटने का और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह के वियोग होने का भय नहीं रहता है; इसलिये **इसलोक के भय** से रहित सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक है ।

सम्यग्दृष्टि को परलोक का भय भी नहीं होता है । जिसमें सभी वस्तुएँ दिखाई देती हैं, वह लोक है । हमारा लोक तो **हमारा ज्ञानदर्शन स्वभाव है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं** । ये जो समस्त पदार्थ झलक रहे हैं, उनको अपने ज्ञान स्वभाव में मैं अवलोकन करता हूँ, अपने ज्ञान के बाहर किसी वस्तु को मैं नहीं देखता हूँ, नहीं जानता हूँ । जब कभी हमारा ज्ञान निद्रा द्वारा ढक दिया जाता है तथा रोगादि द्वारा मूर्च्छा से ढक दिया जाता है, तब यद्यपि सम्पूर्ण लोक विद्यमान

रहता है तथापि अभावरूप सा ही हो जाता है; अतः हमारा लोक तो हमारा ज्ञान ही है । हमारे ज्ञान के बाहर की कोई भी वस्तु देखने में-जानने में नहीं आती है । हमारे ज्ञान से बाहर जो लोक है, जिसमें अनेक नरक-स्वर्ग हैं - जो सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, वे सब मेरे स्वभाव से भिन्न अन्य पदार्थ हैं । पुण्य का उदय देवादि शुभगति का देनेवाला है, और पाप का उदय नरकादि अशुभ गति का देनेवाला है । पाप-पुण्य दोनों ही विनाशीक हैं तथा पुण्य-पाप का फल स्वर्ग-नरकादि भी विनाशीक हैं ।

मैं आत्मा ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य का अविनाशी रूप से धारण करनेवाला अखण्ड हूँ, मोक्ष का नायक हूँ । मेरा लोक मुझमें ही हैं, मैं उसी अपने लोक में समस्त पदार्थों का अवलोकन करता हुआ रहता हूँ । इस प्रकार **परलोक का भय** नहीं करता हुआ सम्यग्दृष्टि निःशंक है ।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण- ये पांच इंद्रियां, मन-वचन-काय ये तीन बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास - ये कर्मों द्वारा रचे गये **बाह्य दश प्राण** हैं, जो पुद्गलमय हैं । इन दश प्राणों का नाश होने को जगत में मरण कहते हैं । **आत्मा के ज्ञान-दर्शन-सुख-सत्ता रूप भावप्राण हैं, जिनका किसी भी काल में नाश नहीं होता है । जो उत्पन्न होगा वह मरेगा ।** पुद्गल परमाणु एकत्र होकर इंद्रियादि प्राण स्वरूप से उत्पन्न होते हैं, वे ही नष्ट होते हैं । जो मेरे स्वभावरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-सत्ता प्राण हैं, उनका तीनकाल में कभी भी विनाश नहीं होता है । इंद्रियादि प्राण तो पर्याय (शरीर) के साथ उत्पन्न और नष्ट होते हैं । मैं तो चैतन्य अविनाशी हूँ । ऐसा दृढ़ निश्चय करनेवाले सम्यग्दृष्टि को **मरण के भय** की शंका नहीं होती है ।

वेदना भय को जीतकर निःशंकित हुआ जाता है । वेदना का अर्थ है – जानना । मैं जाननेवाला जीव हूँ और अपने एक अचल ज्ञान का ही अनुभव करता हूँ । मैं वेदनस्वरूप अविनाशी हूँ । ज्ञान का अनुभवरूप वेदन शरीर में नहीं होता है । वेदनीय कर्मजनित सुख-दुःखरूप वेदन शरीर में है, परन्तु वह मेरा रूप नहीं है, मोह की महिमा से अपने स्वरूप में दिखाई देता है । मैं तो इससे भिन्न ज्ञाता ही हूँ । इस प्रकार **ज्ञानवेदना से देह की वेदना को भिन्न जानता हुआ सम्यग्दृष्टि निःशंक है ।**

अनरक्षा भय भी सम्यग्दृष्टि को नहीं होता है । जगत में भी सत्तारूप वस्तु है, उसका त्रिकाल में भी नाश नहीं होता है, ऐसा मुझे दृढ़ निश्चय है । **मेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा किसी की सहायता के बिना ही स्वयं सत् है । इसका न तो कोई रक्षा करनेवाला ही है और न ही कोई नाश करनेवाला है ।** जिसका कोई नाश करनेवाला हो तो कोई उसका रक्षक भी होना चाहिये । अतः सम्यग्दृष्टि अपने अविनाशी स्वरूप का अनुभव करता हुआ **अनरक्षा भय** रहित निःशंक है ।

अगुप्ति भय अर्थात् कपाट आदि सुरक्षा किये बिना हमारा धन नष्ट हो जायेगा, ऐसा चोर का भय भी नहीं है । **वस्तु का जो निजरूप है, वह अपने स्वरूप के भीतर ही है;** अपना स्वरूप अपने से बाहर नहीं है । इसलिये मैं जो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, उसका चैतन्यस्वरूप हमारे भीतर ही है।

इस आत्मा के स्वरूप में पर का प्रवेश ही संभव नहीं है । यह अनन्त ज्ञान-दर्शनमय हमारा रूप ही हमारा असीम अविनाशी धन है; इसमें चोर का प्रवेश नहीं हो सकता, इसे चोर नहीं चुरा सकता है । अत: सम्यग्दृष्टि **अगुप्ति भय** रहित नि:शंक है ।

सम्यग्दृष्टि को **अकस्मात् भय** भी नहीं है । वह तो जानता है कि - **मेरा आत्मा तो सदाकाल शुद्ध है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, अचल है, अनादि है, अनन्त है, स्वभाव से सिद्ध है, अलक्ष-अरूपी है, चैतन्य प्रकाशरूप है, सुख का स्थान है, इसमें अचानक कुछ भी होता नहीं है ।** ऐसे दृढ़भाव सहित सम्यग्दृष्टि नि:शंक है ।

जिसे सम्यग्दर्शन है, उसे परिणामों में सातों ही भय नहीं होते हैं । अपना सच्चा स्वरूप जाने बिना यह आत्मा सप्तभय रहित नहीं होता है ।

सम्यग्दृष्टि अहिंसा को ही निश्चयरूप धर्म जानता है । जिसको ऐसी शंका ही नहीं उत्पन्न होती है कि यज्ञ-होमादि जीवघात के आरम्भ में कुछ थोड़ा-सा तो धर्म होगा । ऐसी शंका का अभाव वह नि:शंकित अंग है ।

अब दूसरे **नि:कांक्षित गुण** को कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

कर्मपरवशे सान्ते दु:खैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

अर्थ :- इन्द्रियजनित सुख में सुखपने की आस्था रहित जो श्रद्धान भाव वह अनाकांक्षा नाम का सम्यक्त्व का गुण भगवान ने कहा है ।

भावार्थ :- कैसा है इन्द्रियजनित सुख ? कर्मों के परवश है, स्वाधीन नहीं है, पुण्य कर्म के उदय के आधीन है । पुण्य कर्म के उदय की सहायता के बिना करोड़ों उपाय तथा महान पुरुषार्थ करने पर भी इस सुख की प्राप्ति नहीं होती है, इष्ट का लाभ नहीं होता है, बहुत प्रकार से अनिष्ट ही प्राप्त होते हैं ।

कदाचित् पुण्य के उदय से वह सुख प्राप्त भी हो जाय तो वह सुख अन्त सहित है, पराधीन है, कितने समय तक भोगा जायेगा ? क्योंकि जो इन्द्रियजनित सुख है, वह अपने इष्ट विषय के आधीन है, और इष्ट का समागम विनाशीक है - इंद्रधनुष के समान, बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर तथा पराधीन है । वह सुख शरीर की नीरोगता के आधीन, धन के आधीन, स्त्री के आधीन, पुत्र के आधीन, आयु के आधीन, जीविका के आधीन, क्षेत्र के आधीन, काल के आधीन, इन्द्रियों के आधीन, इन्द्रियों के विषयों के आधीन, इत्यादि हजारों पराधीनताओं सहित है; तथा विनाश के सम्मुख है, कितने समय तक भोगा जावेगा ? इसलिये जो इंद्रियजनित सुख है वह अवश्य ही अन्त सहित हैं ।

अंत सहित है तो भी अखण्ड धाराप्रवाहरूप नहीं है । बीच-बीच में अनेक दु:खों के उदय सहित है । कभी तो रोग का आ जाना, कभी स्त्री-पुत्र-मित्र का वियोग हो जाना, कभी अपमान

होना, कभी धन की हानि होना, कभी अनिष्ट का संयोग होना - इस प्रकार अन्तर सहित और अनेक दु:खों सहित है ।

यह सुख पाप का बीज है । इन्द्रियजनित सुखों में लीन होते ही यह जीव अपना स्वरूप भूलता ही है, महाघोर आरम्भ में प्रवर्तता ही है, अन्याय और विषयसेवन करता ही है, इससे पापबन्ध ही होता है । अत: **इन्द्रियजनित सुख नरक–तिर्यंचादि गतियों में परिभ्रमण करानेवाला पापबंध का बीज है ।**

ऐसे पराधीन, अन्तसहित, दु:खों से भरे जितने भी इन्द्रियजनित सुख हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि को सुख दिखते ही नहीं हैं, तब उस सुख में उसे आस्थारूप श्रद्धान कैसें होगा ? जब श्रद्धान ही नहीं होगा तब वह वांछा कैसे करेगा ? यहां ऐसा भाव समझना-**जो सम्यग्दृष्टि है, उसे आत्मा का अनुभव तो होता ही है ।** जब आत्मा का अनुभव हुआ है तब आत्मा का स्वभाव जो अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान और निराकुलता लक्षणरूप अविनाशी सुख है, उसका अनुभव होता ही है ।

संसारी जीवों को जो इंद्रियों के आधीन सुख है, वह तो सुखाभास है, सुख नहीं है, वेदना का इलाज है । जिसे क्षुधा की तीव्र वेदना उत्पन्न होगी, वह भोजन करके सुख मानेगा, प्यास लगेगी वह ठंडा पानी पीना चाहेगा, शीत की वेदना होगी तो रुई का वस्त्र तथा ऊनी वस्त्र ओढ़ना चाहेगा, गर्मी की वेदना होगी तो ठंडी हवा चाहेगा, क्योंकि रोग का कष्ट के बिना इलाज कौन चाहता है? नेत्र में रोग हुए बिना आंखों में अंजन कौन लगाता है ? कर्ण में रोग हुए बिना बकरा का मूत्र तथा तेल आदि कान में कौन डालता है ? ठंड के बुखार के बिना अग्नि की ताप तथा सूर्य की धूप आदर से कौन सेवन करता है ? **वातरोग के बिना दुर्गंधित तेल आदि की मालिश कौन कराना चाहेगा?**

इसलिये संसारी जीव को इन पांचों इन्द्रियों के विषयों की तीव्र चाहरूप दु:ख उत्पन्न होने पर इन विषयों के भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है । विषयों के भोग तो उस दु:ख को थोड़े समय के लिये शान्त कर देते हैं, किन्तु बाद में और अधिक दु:ख उत्पन्न करते हैं । इसलिये इन्द्रियों के विषयों को भोगने से उत्पन्न होने वाला सुख तो वास्तव में दु:ख ही है ।

बाह्य शरीर–इंद्रियादि को ही आत्मा जाननेवाला बहिरात्मा है; वह विषयों की वेदना के इलाज को ही सुख मानता है । ऐसा मानना तो मोहकर्मजनित भ्रम है । सुख तो ऐसा है –जहाँ दु:ख उत्पन्न ही न हो, उसका लक्षण निराकुलता है । विषयों के आधीन सुख मानना तो मिथ्याश्रद्धान है। सम्यग्दृष्टि को अहमिन्द्रलोक का सुख भी पराधीन, आकुलतारूप, विनाशीक, केवल दु:खरूप ही दिखाई देता है । अत: सम्यग्दृष्टि को इन्द्रियजनित सुख में कभी भी वांछा नहीं होती है ।

सम्यग्दृष्टि इस जन्म में तो धन, सम्पत्ति, वैभव आदि नहीं चाहता है और परलोक में भी इन्द्रपना, चक्रीपना इत्यादि कभी नहीं चाहता है । ये इन्द्रियों के विषय तो थोड़े समय के लिये हैं, किन्तु इनका फल असंख्यातकाल तक नरक के दु:ख, तथा अनन्तकाल तक तिर्यंच आदि गतियों में महादरिद्री, महारोगी, नीचकुल के मनुष्यों में अनेक जन्म धारण कर भोगना होता है ।

इस जगत में जीवों को मोह के उदय से आशा और शंका निरन्तर बनी रहती है । आशा-चाह करने से कुछ प्राप्त तो होता नहीं है । सभी जीव अपने लिये नित्य ही धन की प्राप्ति, नीरोगता, कुटुम्ब की वृद्धि, इन्द्रियों का बल, अपनी उच्चता चाहते हैं परन्तु चाह करने से कुछ होता नहीं है। सभी जीव चाह कर-करके निरन्तर पापबन्ध और अंतरायकर्म का तीव्र बंध कर रहे हैं ।

कितने ही जीव भोग के अभिलाषी होकर दान, तप, व्रत, शील, संयम धारण करते हैं, किन्तु **वांछा करने से तो पुण्य का घात ही होता है** । पुण्य का बन्ध तो निर्वांछक को होता है । जो शुभ-अशुभ कर्म के उदय से प्राप्त विषयों में संतोषी होकर, निराकुल होकर, विषयों की वांछा नहीं करता है, उसे पुण्य का बन्ध होता है ।

जगत के सभी जीव नित्य प्रातःकाल उठ करके यह चाहते हैं कि मुझे वियोग, मरण, हानि, अपमान, धन का नाश, रोग, वेदना न हो । निरन्तर इनकी ही होने की शंका करते रहते हैं, बहुत भयभीत रहते हैं तो भी वियोग होता ही है, मरण होता ही है । धन हानि, बल हानि, अपमान, रोग, वेदना आदि पूर्व में बांधे गये जो कर्म हैं, उनके उदय के अनुसार होते ही हैं । इनको टालने में इन्द्र, जिनेन्द्र मन्त्र, तन्त्रादि कोई भी समर्थ नहीं है; क्योंकि मरण तो आयुकर्म के नाश से होता है, अलाभादि अन्तराय कर्म के उदय से होते हैं, रोग-वेदनादि असातावेदनीय कर्म के उदय से होते हैं; और कर्म को हटा देने में, जुटा देने में, पलट देने में कोई देव, दानव, इन्द्र, जिनेन्द्रादि समर्थ नहीं है । जीव अपने भावों द्वारा बांधे गये कर्मों से अपने को छुड़ाने के लिये अपने संतोष, क्षमा, तपश्चरणादि भावों के द्वारा आप ही समर्थ है, अन्य कोई नहीं । ऐसे दृढ़-निश्चयश्रद्धान का धारी निःशंक-निर्वांछक सम्यग्दृष्टि ही होता है ।

अव्रती–गृहस्थ के सम्यक्त्व के विषय में विचार

यहाँ कोई प्रश्न करता है – समस्त परिग्रह के त्यागी मुनीश्वर साधु हैं उनको तथा त्यागी गृहस्थों को तो शंका रहितपना तथा वांछा का अभावपना हो सकता है, किन्तु व्रत रहित गृहस्थों को निःशंकितपना, निःकांक्षितपना कैसे हो सकता है ? अव्रत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को तो भोगों की इच्छा होती दिखाई देती है; वणिज-व्यवहार में, सेवा-नौकरी करने में लाभ चाहता ही है; अपने कुटुम्ब की वृद्धि, धन की वृद्धि चाहता ही है; तथा रोग की शंका, कुटुम्ब के वियोग की शंका, जीविका के बिगड़ जाने की शंका, धन के नाश होने की शंका उसे तो निरन्तर बनी ही रहती है, तब उसे निःशंकपना-निर्वांछकपना कैसे होगा ? और निःशंकित-निःकांक्षित भाव हुए बिना सम्यक्त्व कैसे होगा? इसलिये अव्रती-गृहस्थ को सम्यक्त्व होना कैसे सम्भव है ?

उसका उत्तर ऐसा जानना – जो सम्यक्त्व होता है, वह मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का अभाव होने पर होता है । **अव्रत–सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के मिथ्यात्व का अभाव हुआ है और अनन्तानुबंधी कषाय का भी अभाव हुआ है** । मिथ्यात्व के अभाव से तो सच्चा आत्म-तत्त्व और पर-तत्त्व का श्रद्धान प्रगट हुआ है । अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से विपरीत रागभाव का अभाव

हुआ है; और ज्ञानश्रद्धान की विपरीतता के अभाव से इसलोक भय, परलोक भय, मरणभय, आदि सातों भय अव्रत-सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं । इसी कारण से वह अपने आत्मा का अखण्ड, अविनाशी, टंकोत्कीर्ण ज्ञान-दर्शन स्वभाव का श्रद्धान करता है । परवस्तु की वांछारूप जो विपरीतता उसका अभाव होने से समस्त इंद्रियों के विषयों में वांछा रहित है । **स्वर्गलोक में उत्पन्न हुए इन्द्र और अहमिन्द्रों के भी विषयभोगों को विष के समान दाहदुःख उत्पन्न करनेवाले जानकर कभी स्वप्न में भी उनकी वांछा नहीं करता है** । अपना आत्माधीन निराकुलता लक्षणरूप अविनाशी ज्ञानानंद ही को सुख मानता है । अपने शरीर को तथा धन सम्पदादि को कर्म-उदयजनित, पराधीन, विनाशीक, दुःखरूप जानकर '**ये हमारा है**' ऐसा विपरीत संकल्प भी नहीं करता है ।

अनंतानुबंधी कषाय के उदयजनित विपरीत झूठा भय, शंका, परवस्तु में वांछा अव्रत-सम्यग्दृष्टि के कभी नहीं होती है । परन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय ४, प्रत्याख्यानावरण कषाय ४, संज्वलन कषाय ४, तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद - इन इक्कीस कषायों के तीव्र उदय से उत्पन्न हुए रागभाव के प्रभाव से इन्द्रियों के दुःख का मारा है; अतः त्याग करने से परिणाम कांपते हैं, यद्यपि विषयों को दुःखरूप जानता है तथापि वर्तमानकाल का दुःख सहने को समर्थ नहीं है ।

जैसे रोगी कडुवी औषधि को पीना कभी भी अच्छा नहीं मानता है, फिर भी दुःख का सताया कडुवी औषधि को बड़े प्रेम से पीता है; किन्तु अन्तरंग में औषधि पीने को बहुत बुरा जानता है और विचारता है कि - कब वह दिन आवेगा जब मैं औषधि का नाम भी नहीं लूंगा । उसी तरह **अव्रत-सम्यग्दृष्टि भी भोगों को कभी भला नहीं मानता है**; परन्तु उनके बिना निर्वाह होता नहीं दिखाई देता, परिणाम की दृढ़ता नहीं दिखाई देती, कषायों का प्रबल धक्का लग रहा है, इन्द्रियों का दुःख नहीं सहा जाता है, इसलिये दुःख का सताया भोगों को चाहता है ।

संहनन कमजोर है, कोई सहायता करनेवाला दिखता नहीं है, कषायों के उदय से शक्ति नष्ट हो रही है, परवश में पड़ा है । जैसे जैलखाने में बंद पुरुष जैल से अत्यंत विरक्त है, फिर भी पराधीन होकर महादुःख देनेवाले उस जैलखाने को भी लीपता है, धोता है, झाड़ता है; उसी तरह अव्रत-सम्यग्दृष्टि भी शरीर को जैलखाने के समान जानता है, भूख-प्यास के कष्ट सहने में असमर्थ होकर शरीर का पोषण करता है, किन्तु देह को अपनी नहीं मानता-जानता है । वर्तमान काल के दुःख का ही उसे डर है और उस दुःख को दूर करने मात्र की ही अव्रत सम्यग्दृष्टि के वांछा है । कर्म के उदय के जाल में फंसा है, निकलना चाहता है तथापि राग, द्वेष, अभिमान, अप्रत्याख्यान के उदय का प्रभाव ही ऐसा है कि वह त्याग-व्रतादि चाहता तो है किन्तु वे त्यागी होने नहीं देते हैं ।

उदय की दशा बड़ी बलवान है । संसारी जीव अनादिकाल से कर्म के उदय के जाल में से निकल नहीं सका है । जब तक शरीर का संयोग है तब तक शरीर के निर्वाह के लिये जीविका, भोजन, वस्त्र चाहता ही है । अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से लोक में अपनी नीची प्रवृत्ति के अभावरूप

उच्च प्रवृत्ति चाहता है । धन, संपदा, जीविका बिगड़ जाने का भय होता ही है, अपयश तिरस्कार होने का भय होता ही है । इन्द्रियों का कष्ट सहने की असमर्थता से विषयों को चाहता ही है । अभी कषाय घटी नहीं है, राग घटा नहीं है, इसलिये आगे अधिक दु:ख होना दिखाई देता है, उसे टालना ही चाहता है; फिर भी राज्य भोग संपदादि को दु:खरूप जानकर उनकी चाह नहीं करता है । इस प्रकार नि:कांक्षित अंग का स्वरूप कहा ।

अब **निर्विचिकित्सा** नामक तीसरे अंग का लक्षण कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिः मता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥

अर्थ :– यह मनुष्य पर्याय का जो शरीर है वह स्वभाव से ही अपवित्र है । यहाँ किसी उत्तम मनुष्य के यदि रत्नत्रय प्रगट हो जाय तो उसकी अशुचि देह भी पवित्र है । इसलिये व्रतियों का शरीर रोगादि से मलिन देखकर भी उसमें ग्लानि का अभाव तथा रत्नत्रय में प्रीति होना उसका नाम निर्विचिकित्सा अंग है ।

भावार्थ :– यह शरीर तो सप्त धातुमय तथा मल-मूत्रादिमय है, स्वभाव ही से अशुचि है । **यह शरीर तो रत्नत्रय का स्वरूप प्रगट होने से पवित्र हो जाता है ।** इसलिये रोग सहित, वृद्धावस्था तथा तपश्चरण क्षीणता, मलिनता देखकर, जिसे ग्लानि नहीं होती है, किन्तु गुणों में प्रीति होती है, उसके निर्विचिकित्सा नाम का अंग है ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना – जो सम्यग्दृष्टि है, वह वस्तु का सच्चा स्वरूप जानता ही है इसलिये पुद्गल के अनेक स्वभाव जानकर मल, मूत्र, रक्त, मांस, पीव सहित तथा दरिद्रता, रोगादि सहित मनुष्य व तिर्यंचों के शरीरादि की मलिनता, दुर्गन्धादि देखकर-सुनकर ग्लानि नहीं करता है।

कर्मों के उदय से क्षुधा, तृषा, रोग, दरिद्रतादि से दु:खी होना; पराधीन बंदीगृह आदि में पड़ जाना, नीच कुलादि में उत्पन्न होना, नीच कर्म से मलिन भोजन करना, मैले गंदे वस्त्र पहिनना, खोटा रूप-अंग उपांग की प्राप्ति होती है । सम्यग्दृष्टि इनमें ग्लानि करके अपने मन को खराब नहीं करता है; तथा कषायों के आधीन हुए निंद्य आचरण करनेवालों को देखकर अपने परिणाम नहीं बिगाड़ता है, उसके निर्विचिकित्सा अंग होता है ।

मलिन क्षेत्र, मलिन ग्राम, गृहादि में मलिनता और दरिद्रता देखकर ग्लानि नहीं करता है । अंधकार, वर्षा, ग्रीष्म, शीतादि के कष्ट के समय को देखकर ग्लानि नहीं करता है । अपने को गरीबी तथा रोग का आना देखकर, इष्ट का वियोग होना व अशुभ कर्म के उदय को आता देखकर उस समय अपने परिणाम मलिन नहीं करता है । मैंने जो कर्मबन्ध किये उनके फल को मैं ही भोगूंगा, अशुभ कर्म का फल तो ऐसा ही होता है - जो इस प्रकार जानकर अपने परिणामों को मलिन नहीं करता है, उस पुरुष के निर्विचिकित्सा अंग होता है ।

जिसके निर्विचिकित्सा अंग है, उसके ही दया है, उसीके वैयावृत्य होती है, उसी के वात्सल्य, स्थितिकरणादि गुण प्रकट होते हैं । इस प्रकार यह सम्यक्त्व का निर्विचिकित्सा नाम का अंग कहा है ।

अब अमूढ़दृष्टि नाम का सम्यक्त्व का चौथा अंग कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसंमतिः ।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढ़ा दृष्टिरुच्यते ॥१४॥

अर्थ :- नरक-तिर्यंच-कुमनुष्यादि गतियों का घोर दुखों का मार्ग ऐसा जो मिथ्यामार्ग उसकी, तथा कुमार्गी अर्थात् मिथ्यामार्ग पर चलनेवाले पुरुषों की जो मन से प्रशंसा नहीं करता, वचनों से स्तवन नहीं करता तथा काय से हाथ की अंगुलियां नखादि मिलाकर सराहना नहीं करता वह अमूढ़दृष्टि है ।

भावार्थ :- **यहाँ संसारी जीव मिथ्यात्व के प्रभाव से रागी-द्वेषी देवों की पूजन-प्रभावना देखकर प्रशंसा करते हैं;** देवियों के पास जीवों का घात-विराधना देखकर उसकी प्रशंसा करते हैं; दश प्रकार के कुदान को अच्छा समझते हैं; यज्ञ होमादि की तथा खोटे मंत्र-तंत्र-मारण-उच्चाटन आदि कार्यों की प्रशंसा करते हैं; कुआ, बावड़ी, तालाब खुदवाने की प्रशंसा करते हैं; कंदमूल, शाक, पत्रादि खानेवालों को उच्च जानकर प्रशंसा करते हैं; पंचाग्नि तपनेवाले, बाघाम्बर ओढ़नेवाले, भस्म लगानेवाले, ऊपर की ओर हाथ करके रहनेवालों को महान उच्च जानकर प्रशंसा करते हैं; गेरु से रंगे वस्त्र, लाल वस्त्र, श्वेत वस्त्र पहिननेवाले कुलिंगियों के मार्ग की प्रशंसा करते हैं; खोटे तीर्थों को और खोटे रागी-द्वेषी, मोही, वक्र परिणामी, शस्त्रधारी देवों को पूज्य मानते हैं; जोगिनी, यक्षणी, क्षेत्रपालादि को धन को देनेवाला व रोगादि को दूर करनेवाला मानते हैं; **यक्ष, क्षेत्रपाल, पद्मावती, चक्रेश्वरी इत्यादि को जिनशासन के रक्षक मानकर पूजते हैं ।**

देवताओं के कवलाहार मानकर तेल, लपसी, पुआ, बड़ा तथा इत्र, फूलमाला इत्यादि से देवता प्रसन्न होना मानते हैं; देवताओं को रिश्वत-सोंक देने का वचन कहते हैं कि - यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाय तो तुम्हारे लिये छत्र चढ़ाऊंगा, मंदिर बनवाऊंगा, रुपया दूंगा, जीवों को मारकर चढ़ाऊंगा, सवामणी करूंगा; तथा बच्चे जी जावें इसलिये उनकी चोटी, जडूला उतराऊंगा इत्यादि अनेक बोली बोलते हैं - **वह सब तीव्र मिथ्यात्व के उदय का प्रभाव है ।**

जहाँ जीवों की हिंसा है वहाँ महाघोर पाप है । देवताओं के निमित्त से और गुरुओं के निमित्त से की जानेवाली हिंसा संसार समुद्र में डुबोनेवाली ही है । कोई भी देवताओं के भय से, लोभ से, लज्जा से हिंसा के आरंभ में कभी मत प्रवर्तो । दयावान की तो देव रक्षा ही करते हैं । **जो किसी का अपराध नहीं करता, वैर नहीं करता, उसकी विराधना देव भी नहीं कर सकते हैं ।**

रागी, द्वेषी, शस्त्रधारी जो देव हैं वे तो स्वयं ही दुःखी हैं, भयभीत हैं, असमर्थ हैं । यदि वे स्वयं समर्थ हों, भय रहित हों तो शस्त्र धारण क्यों - कैसे करते हैं ? जिसे भूख लगती है वह ही

भोजनादि सामग्री द्वारा अपनी पूजन कराना चाहता है । इसलिये खोटे मार्ग जो संसार में पतन के कारण हैं ऐसे मिथ्यादृष्टियों के त्याग, व्रत, तप, उपवास, भक्ति, दानादि की तथा इनके धारण करनेवालों की मन-वचन-काय से प्रशंसा नहीं करना, वह अमूढ़दृष्टि नाम का सम्यक्त्व का चौथा अंग है ।

इसलिये देव-कुदेव का, धर्म-कुधर्म का, गुरु-कुगुरु का, पाप-पुण्य का, भक्ष्य-अभक्ष्य का, त्याज्य-अत्याज्य का, आराध्य-अनाराध्य का, कार्य-अकार्य का, शास्त्र-कुशास्त्र का, दान-कुदान का, पात्र-अपात्र का, देने योग्य- नहीं देने योग्य का, युक्ति-कुयुक्ति का, कहने योग्य-नहीं कहने योग्य का, ग्राह्य-अग्राह्य का अनेकान्तरूप सर्वज्ञ वीतराग के परमागम से अच्छी तरह जानकर निर्णयकर मूढ़ता रहित होना, पक्षपात छोड़कर व्यवहार-निश्चय (परमार्थ) में विरोध रहित होकर यथावत् श्रद्धान करना वह अमूढ़दृष्टि नाम का चौथा अंग है ।

अब **उपगूहन** नाम के सम्यक्त्व के पाँचवें अंग की प्ररूपणा करनेवाला श्लोक कहते हैं -

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

अर्थ :- यह जो जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ रत्नत्रयरूप मार्ग है वह स्वयमेव शुद्ध है, निर्दोष है । इस रत्नत्रय मार्ग की किसी अज्ञानी तथा असक्त मनुष्य द्वारा आश्रय किये जाने से जो निंद्यता प्रकट हुई हो उसे दूर कर देना, शुद्ध निर्दोष कर देने को उपगूहन कहते हैं ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना – जो यह जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशित दश लक्षणरूप धर्म तथा रत्नत्रयरूप धर्म है वह अनादिनिधन है, जगत के जीवों का उपकार करनेवाला है, सभी प्रकार से निर्दोष है, इससे किसी का भी अकल्याण नहीं होता है और किसी के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता है। ऐसे धर्म में किसी अज्ञानी की भूल के कारण अथवा किसी की शक्ति की हीनता के कारण यदि धर्म की निन्दा होती हो तो उसे दूर कर देना, आच्छादन कर देना उपगूहन नाम का अंग है ।

भावार्थ :- एक अज्ञानी की भूल-चूक को यदि अन्य मिथ्यादृष्टि सुनेंगे तो जैनधर्म की निन्दा करेंगे तथा समस्त धर्मात्माओं को दूषण लगावेंगे और कहेंगे कि इस जैनधर्म में तो जितने भी ज्ञानी, तपस्वी, त्यागी, व्रती हैं वे सभी पाखण्डी हैं, मिथ्यामार्गी हैं । इस प्रकार एक अज्ञानी का दोष देखे जाने से सम्पूर्ण धर्म और सभी धर्मात्माओं को दोष लग जायेगा । इसलिये जो धर्मात्मा पुरुष होते हैं वे किसी अन्य धर्मात्मा में यदि कोई दोष भी लग जाय तो धर्म से प्रीति के कारण धर्म में पर के निमित्त से आये दोष को ढांक देते हैं ।

जैसे माता की पुत्र से ऐसी प्रीति होती है कि - यदि कदाचित् पुत्र कोई अन्याय या खोटा कार्य भी कर दे तो माता उसके उस खोटे कार्य को छिपा ही देती है, ढांक ही देती है; उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष की धर्म से तथा साधर्मी से ऐसी प्रीति होती है कि यदि किसी साधर्मी को कर्म के प्रबल उदय से अज्ञानता से अशक्ति से व्रत में, संयम में, शील में दोष आ जाय, या बिगड़ जाय तो अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह आच्छादन करता ही है ।

यहाँ विशेष और भी जानना :– सम्यग्दृष्टि जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह किसी भी जीव का दोष प्रगट नहीं करता है, अपना उच्चकार्य प्रकाशित नहीं करता है । सम्यग्दृष्टि को दूसरे जीवों के दोष भी दिख जाने पर ऐसा विचार उत्पन्न होता है – इस संसार में अनादिकाल से जीव कर्मों के वशीभूत हैं, इसलिये **जब तक मोहनीयकर्म तथा ज्ञानावरण – दर्शनावरण कर्म का उदय चल रहा है तब तक दोष लगने का तथा भूल–चूक होने का क्या आश्चर्य है ?** जीवों को काम-क्रोध-लोभादि निरन्तर मार रहे हैं, भ्रष्ट कर देते हैं । हमने भी राग-द्वेष-मोह के वश में होकर संसार में कौन-कौन से अनर्थ नहीं किये हैं ?

मुझे जिनेन्द्र के परमागम की शरण की कृपा से अब कुछ दोष और गुण की पहिचान हुई है, तो भी अनादिकाल की कषायों के संस्कार से अभी भी अनेक दोषों को कर रहा हूँ, इसलिये अन्यजीवों के कर्मों के उदय की पराधीनता से हुए दोषों को देखकर मुझे करुणा ही करना चाहिये। संसारी जीव विषयों और कषायों के वशीभूत हुए पराधीन हैं । ये कषाय और विषय जीव के ज्ञान को बिगाड़कर अनेक प्रकार का नाच नचाते हैं और अपना स्वरूप भुला देते हैं । अत: अज्ञानी जनों द्वारा किया गया दोष देखकर आप संक्लेश परिणाम नहीं करता है । **क्षेत्र कालादि के निमित्त से जो भावी होनहार है उसे टालने में कोई भी समर्थ नहीं है** । इस प्रकार उपगूहन नाम का सम्यक्त्व का पांचवां अंग कहा ।

अब **स्थितिकरण** नाम का सम्यक्त्व का छठवां अंग कहनेवाला श्लोक कहते हैं –

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलितां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥१६॥

अर्थ :– कोई पुरुष पहले सम्यग्दर्शन सहित श्रद्धानी था तथा व्रत-संयम सहित चारित्र धारक था । पश्चात् किसी प्रबल कषाय के उदय से, खोटी संगति से, रोग की तीव्र वेदना से, दरिद्रता से, मिथ्या उपदेश से, तथा मिथ्यादृष्टियों के मंत्र-तंत्रादि चमत्कार देखकर सत्य श्रद्धान व आचरण से चलायमान होता हो तो उसे विचलित जानकर जिनका धर्म में वात्सल्य है ऐसे धर्मात्मा प्रवीण पुरुष उसे उपदेशादि देकर पुन: सच्चे श्रद्धान व आचरण में स्थापित कर दें, उसे स्थितिकरण कहते हैं ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना :– किसी धर्मात्मा अव्रत-सम्यग्दृष्टि तथा व्रती–पुरुष के परिणाम यदि रोग की वेदना, दरिद्रता, वियोग से धर्म से चिग जांय तो धर्म से प्रीति करनेवाला समझदार पुरुष उसे धर्म से छूटता जानकर उपदेश आदि देकर धर्म में स्थिर कर दे, उसके स्थितिकरण अंग है ।

हे धर्म के इच्छुक धर्मानुरागी ! सुनो !! यह मनुष्यभव, उसमें उत्तम कुल, इंद्रियों की शक्ति, धर्म का लाभ - ये सब बहुत दुर्लभ चीजें मिली हैं । इनका वियोग हो जाने के बाद पुन: इनका मिलना अनंतकाल में भी कठिन है । इसलिये कर्म के उदय से प्राप्त हुए रोग, वियोग, दारिद्रादि के **दुखों से कायर होकर आर्त परिणामी होना योग्य नहीं है** । दु:खी होने पर कर्म का अधिक बंध होगा। **कायर होकर भोगोगे तो भी कर्म नहीं छोड़ेगा, और धीरवीरपने से भोगोगे तो भी कर्म नहीं छोड़ेगा। दुर्गति की कारण यह कायरता है उसे धिक्कार हो** । आप तो अब साहस धारण करो ।

मनुष्य जन्म का फल तो धीरता तथा संतोष-व्रत सहित धर्म का सेवन करके आत्मा का उद्धार करना है। यह मनुष्य शरीर तो रोगों का घर है, इसमें रोग उत्पन्न होने का क्या आश्चर्य है ? यहाँ तो धर्म ही शरण है। रोग तो उत्पन्न ही होगा, **संयोग है वह वियोग सहित ही होता है**। किन-किन पुरुषों पर दुःख नहीं आये ? अतः अपना साहस धारण करके एक धर्म का ही अवलम्बन ग्रहण करो। जो-जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं वे सभी विनाश सहित हैं। इस शरीर का ही वियोग होना है तो जो अन्य सभी अपने-अपने कर्म के उदय के आधीन उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, वे उत्पन्न होंगे और मरेंगे, उनका हर्ष-विषाद करना वृथा बंध का कारण है।

इस दुःखमकाल के जो मनुष्य हैं वे अल्पायु और अल्पबुद्धि लिये ही उत्पन्न होते हैं। इस काल में कषायों की आधीनता, विषयों की गृद्धता, बुद्धि की मंदता, रोग की अधिकता, ईर्ष्या की बहुलता, दरिद्रता आदि लिये ही अधिक उत्पन्न होते हैं। अतः **सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके कर्म को जीतने का उद्यम करना योग्य है। कायर होना योग्य नहीं है**। ऐसा उपदेश देकर परिणामों को स्थिर करे। रोगी हो तो औषधि, भोजन, पथ्यादि द्वारा उपचार करे। बारह भावनाओं का स्मरण करावे। शरीर की सेवा, मल-मूत्रादि की विकृति को दूर करके जिस-तिस प्रकार से परिणामों को धर्म में दृढ़ करना वह स्थितिकरण अंग है।

कोई रोग की अधिकता के कारण ज्ञान से चलायमान हो जाय, व्रत भंग करने लगे, अकाल में भोजन, पानी आदि मांगने लगे, त्याग की हुई वस्तु को चाहने लगे तो उसकी अवज्ञा नहीं करे किन्तु उस पर दया करके ऐसा मधुर उपदेश आदि करे जिससे वह फिर सचेत सावधान हो जावे।

कर्म बलवान है। वात-पित्तादि द्वारा ज्ञान बिगड़ जाने का क्या भरोसा है ? यहाँ बहुत उपदेश लिखने से ग्रन्थ बढ़ जायेगा, इसलिये थोड़े से ही बहुत समझ लेना।

दारिद्र आदि से दुःखी को अपनी शक्ति अनुसार उपदेश, आहार, पानी, वस्त्र, जीविका, रहने का मकान, बर्तन तथा जैसे स्थिरता हो उस प्रकार दान, सम्मान, उपाय करके स्थिर करना वह स्थितिकरण नाम का सम्यक्त्व का छठवाँ अंग है।

यदि अपना आत्मा भी नीतिमार्ग छोड़कर, काम-मद-लोभ के वश होकर, अन्याय के विषय तथा धन की इच्छा करने लगे, अयोग्य वचनों में प्रवृत्ति करने लगे, अभक्ष्य-भक्षण में प्रवृत्ति हो जाय, अभिमान के वश हो जाय, संतोष से चिग जाय, अनेक प्रकार के परिग्रह में लालसा बढ़ जाय, कुटुम्ब में राग अधिक बढ़ जाय, रोग सहने में कायर हो जाय, आर्तध्यानी हो जाय, वियोग में शोक सहित हो जाय, निर्धनता से दीन हो जाय, उत्साह रहित हो जाय, **आकुलतारूप हो जाय तो उसे भी अध्यात्मशास्त्रों का स्वाध्याय करावे**, बारह भावना की शरण ग्रहण करावे, आत्मा के अजर-अमर-अविनाशी-एकाकी, पर-द्रव्य के भाव रहित स्वभाव का चिन्तन करावे, धर्म से नहीं छूटने दे तथा असातादि कर्म, अन्तरायकर्म तथा और भी अन्य कर्मों के उदय को आत्मा से भिन्न मानकर कर्मों के उदय के कारण अपने स्वभाव को चलित नहीं होने देना वह स्थितिकरण नाम का छठवां अंग है।

अब सम्यक्त्व का वात्सल्य नाम का सप्तम अंग कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव- सनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

अर्थ :– सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म धारण करनेवालों का जो यूथ अर्थात् समूह वह धर्मात्मा का अपना समूह है । रत्नत्रय के धारकों के यूथ में रहनेवाले मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, तथा अव्रत-सम्यग्दृष्टियों के प्रति सच्चे भाव सहित, कपट रहित यथायोग्य प्रतिपत्ति अर्थात् उठकर खड़ा हो जाना, सामने आ जाना, वन्दना करना, गुणों का स्तवन करना, हाथ जोड़ना, आज्ञा मानना, पूजा-प्रशंसा करना, ऊंचे स्थान पर बैठाकर स्वयं नीचे बैठ जाना, उनके आने से इतना हर्ष मानना जितना किसी दरिद्री को महानिधान के प्राप्त हो जाने से होता है, महान प्रीति का भाव आना, और अवसर अनुसार आहार-पानी, निवास, सामग्री आदि द्वारा वैयावृत्य करके आनंद मानना उसे वात्सल्य अंग कहते हैं ।

यहाँ और भी विशेष यह जानना :– जिसको अहिंसा धर्म में प्रीति हो, हिंसा रहित कार्यों को प्रीति सहित करता हो, हिंसा के निमित्तों को दूर से ही टालना चाहता हो; सत्यवचन में, सत्यवचन के धारी में, सत्यधर्म की प्ररूपणा में प्रीति हो; अन्य का धन व अन्य की स्त्री के त्याग में रूचि हो; परधन व परस्त्री के त्यागियों में प्रीति हो; उस ही को वात्सल्य अंग होता है । दश लक्षण धर्म व धर्म के धारकों-साधर्मियों में जिसे अनुराग हो और धर्म में अनुराग होने से त्यागी-संयमियों में महान् आदर पूर्वक प्रियवचनों द्वारा प्रवर्तता हो उसके वात्सल्य अंग होता है ।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि के अंतरंग में तो अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन में अनुराग है, और बाह्य में उत्तम क्षमादि धर्म में तथा धर्म के आयतन में अनुराग है तथापि अन्य मिथ्याधर्मियों से द्वेष नहीं करता है; क्योंकि **प्रवचनसार सिद्धान्त ग्रन्थ में ऐसा कहा है :– राग, द्वेष, मोह ये बंध के ही कारण हैं। इनमें मोह अर्थात् मिथ्यात्व और द्वेष ये दोनों तो अशुभभाव ही हैं, एकान्त करके संसार परिभ्रमण का कारण पाप कर्म का ही बंध करते हैं ।**

राग भाव है वह शुभ और अशुभ दो प्रकार का है । उनमें से अरहंतादि पंचपरमेष्ठियों में, दशलक्षण धर्म में, स्याद्वादरूप जिनेन्द्र के आगम में, वीतराग के प्रतिबिम्ब में, वीतराग के प्रतिबिम्ब के आयतन में अनुरागरूप जो शुभ भाव है वह स्वर्गादि का साधक पुण्य बंध करनेवाला है तथा परम्परा से मोक्ष का कारण है । विषयों में अनुराग, कषायों में अनुराग, मिथ्याधर्म में - मिथ्यादृष्टियों में- परिग्रहादि पांच पापों में अनुरागरूप रागभाव है वह तथा मोहभाव व द्वेषभाव ये सब भाव नरक-निगोदादि में अनंतकाल परिभ्रमण कराने के कारण हैं ।

जो सम्यग्दृष्टि है वह अन्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि पापियों से भी द्वेषभाव नहीं करता है, क्योंकि सभी जीव मित्यात्वकर्म के व ज्ञानावरणादि कर्मों के वशीभूत होकर अपना स्वरूप भूले हुए हैं, अज्ञानी हैं । इनसे बैर करने में क्या साध्य है ? इनको तो इनकी विपरीत बुद्धि ही मारे डाल रही है । अतः

सम्यग्दृष्टि दयाभाव ही रखता है, रागद्वेष रहित मध्यस्थ रहता है; क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि है वह तो वस्तु के स्वभाव को सच्चा जानकर एकेन्द्रियादि जीवों में करुणाभावरूप प्रीति ही करता है। सभी मनुष्यों में बैर रहित होकर किसी भी जीव की विराधना, अपमान, हानि नहीं चाहता है। **मिथ्यादृष्टियों के बनाये जो देवताओं के मंदिर, स्थान, मठ हैं उनसे बैर करके उन्हें नष्ट नहीं करना चाहता है।** सरागी देवों की मूर्ति, देवताओं की क्रूररूप मूर्ति, तथा योगिनी, यक्ष, भैरवादि व्यन्तरों की स्थापना के स्थान हैं इनसे कभी बैर नहीं करता है; क्योंकि ये देवताओं की मूर्तिया तथा इनके स्थान तो अनेक जीवों के अभिप्राय के आधीन पूजने-आराधने को ही बनाये गये हैं। **अन्य के अभिप्राय को अन्य प्रकार का करने में कौन समर्थ है ?** सभी मनुष्य अपना-अपना धर्म मानकर देवताओं की स्थापना करते हैं। जिसको जैसा सम्यक् या मिथ्या उपदेश मिला उसी प्रकार प्रवर्तन करते हैं।

इसलिये वस्तु के स्वरूप को जाननेवाला, सभी में साम्यभाव रखनेवाला सम्यग्दृष्टि जब किसी मनुष्य को ही रे, तूं आदि कहकर नहीं बोलता है तो अन्य के धर्म, देव, मंदिर आदि को गाली व अवज्ञा के वचन कैसे कहेगा ? नहीं ही कहेगा। जो सभी जीवों में मैत्रीभाव रखनेवाला सम्यग्दृष्टि है वह अचेतन स्थान, पाषाण, गृहादि व अन्य के विश्राम स्थानों में स्वप्न में भी बैर नहीं करता है।

अन्य जो दुष्ट बलवान होकर हमारा धन-धरती-आजीविका व कुटुम्ब का घात और हमारा भी मरण करना चाहे उनमें भी बैर नहीं करता है। **वह तो इस प्रकार विचार करता है**- हमारे ही पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से मुझसे बैर रखनेवाला बलवान शत्रु पैदा हुआ है। अतः अब मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार **साम** जो प्रियवचन, **दाम** जो धन देना, अपने बल प्रमाण **दण्ड** देना तथा इनमें परस्पर **भेद** करना आदि उपायों से शत्रु को रोककर अपनी रक्षा करनी चाहिये। यदि शत्रु नहीं रूके, तो **आप ही विचार करता है** - मेरे पूर्व उपार्जित कर्मों का उदय आया है इसलिये शत्रु को बलवान बनाया और मुझे कमजोर बनाकर कर्मों ने दण्ड दिया है, अब मैं किससे बैर करूँ ? मेरा बैरी कर्म निर्जरित जैसे हो जाय वैसे साम्यभाव को धारण कर कर्म को जीतूं। अन्य से बैर करके व्यर्थ का कर्मबंध नहीं करूँगा। सम्यग्दृष्टि को सभी में वात्सल्य है, किसी से बैर नहीं रखता है।

यदि कोई दुष्ट जीव धर्म से बैर करके मंदिर-प्रतिमा का विघ्न करना चाहे तो उसे अपने सामर्थ्य से रोका जा सके तो रोके। अपने से प्रबल हो तो विचार करे कि - काल के निमित्त से धर्म का घातक होकर प्रगट अपना बैर साध रहा है, प्रबल है, कैसे रुकेगा ? हमारे उत्तमक्षमादि तथा सम्यग्ज्ञान-श्रद्धानादि धर्म को घातने में कोई समर्थ नहीं है। मंदिर आदि तो दुष्ट बिगाड़ते ही हैं और धर्मात्मा पुनः बनवाते ही हैं। काल के निमित्त से (पंचमकाल के दोष से) अनेक दुष्ट उत्पन्न होते हैं, उन्हें रोकने में कौन समर्थ है ? **भावी बलवान है।** यदि अच्छी होनहार होती तो दुष्ट मिथ्यादृष्टि प्रबल बल के धारक नहीं उत्पन्न होते। इसलिये वीतरागता ही हमारे लिये परमशरण है। इस प्रकार वात्सल्य नाम का सप्तम अंग का वर्णन किया।

अब प्रभावना नाम का सम्यक्त्व का अष्टम अंग को कहनेवाला श्लोक कहते हैं –

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

अर्थ :– संसारी जीवों के हृदय में अज्ञानरूपी अंधेरा फैला हुआ है, उसे सच्चे स्वरूप के प्रकाश से दूर करके जिनेन्द्र के शासन का माहात्म्य बतलाना – प्रकाश करना वही प्रभावना नाम का सम्यक्त्व का आठवां अंग है ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना :– अनादिकाल का संसारी जीव सर्वज्ञ, वीतराग द्वारा प्रकाशित धर्म को नहीं जानता है । इसी कारण से इसे यह भी ज्ञान नहीं है कि मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप कैसा है ? मेरा जब यहाँ जन्म नहीं हुआ था तब मैं कहाँ था, कैसा था ? यहाँ मुझे किसने उत्पन्न किया? रात-दिन आयु बीतकर नष्ट हो रही है, मुझे करने योग्य क्या है ? मेरा हित क्या है ? आराधने योग्य कौन है ? जीवों को अनेक प्रकार के सुख-दुःख क्यों होते हैं ? देव-गुरु-धर्म का स्वरूप कैसा है? मृत्यु का, जीवन का क्या स्वरूप है ? भक्ष्य-अभक्ष्य का स्वरूप क्या है ? इस पर्याय में मुझे करने योग्य कार्य क्या है ? मेरा कौन है, मैं किसका हूँ ? इत्यादि विचार रहित मोहनीय कर्मकृत अंधकार से आच्छादित हो रहे हैं । उनके **अज्ञानरूप अंधकार को स्याद्वादरूप परमागम के प्रकाश से दूरकर, स्व–रूप और पर–रूप का प्रकाश–ज्ञान करना वह प्रभावना नाम का अंग है** । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र द्वारा आत्मा का प्रभाव-माहात्म्य प्रकट करना वह प्रभावना है; दान, तप, शील, संयम, निर्लोभता, विनय, प्रियवचन, जिनेन्द्रपूजन, गुण प्रकाशन द्वारा जिनधर्म का माहात्म्य-प्रभाव प्रकट करना वह प्रभावना है ।

जिनके उत्तम परिणामों से होनेवाले उत्तमदान, घोरतप, निर्वांछकता आदि को देखकर मिथ्यामती भी प्रशंसा करते हैं । कहते हैं – देखो, अहो ! जैनियों के यह वात्सल्यता सहित बड़ा दान है; यह निर्वांछक ऐसा तप जैनियों से ही बन सकता है । अहो ! जैनियों का बड़ा व्रत है कि प्राण जाने पर भी जिनका व्रतभंग नहीं होता । अहो ! जैनियों का बड़ा अहिंसाव्रत है जो प्राण जाने का अवसर आने पर भी अपने संकल्प से जीव हिंसा नहीं करते हैं । जिनके असत्य का त्याग, चोरी का त्याग, पर-स्त्री का त्याग तथा परिग्रह के परिमाण पूर्वक समस्त अनीति से रहित हैं; अभक्ष्य नहीं खाना, मर्यादा सहित दिन में देख-शोध कर भोजन करना, इन जिनधर्मियों का धर्म श्रेष्ठ है, बड़ा है ।

ये बहुत विनयवन्त होते हैं, तथा प्रिय-हित-मधुर वचन बोलकर सभी को आनंदित करते हैं। इनकी क्षमा बड़ी अतिशयकारी है । अपने इष्टदेव में भक्ति बड़ी अतिशयकारी है । आगम की आज्ञा के जैनी बड़े दृढ़ श्रद्धानी हैं । इनकी बड़ी प्रबल विद्या, महान उज्ज्वल आचरण हैं, वैरभाव रहित होकर सभी जीवों में मैत्री भाव रखते हैं । ऐसा आश्चर्यजनक धर्म इनसे ही पल सकता है । जिनधर्म की ऐसी प्रशंसा जिनके निमित्त से मिथ्याधर्मियों में भी प्रकट होती है उनसे प्रभावना होती है ।

जो अनीति का धन कभी नहीं चाहते हैं, अन्याय के विषय भोग स्वप्न में भी ग्रहण नहीं करते हैं, यदि हमारे निमित्त से जिनधर्म की निन्दा हो गई तो हमारा जन्म दोनों लोकों को नष्ट करने वाला हुआ । अतः सम्यग्दृष्टि जिस प्रकार अपना, कुल का, धर्म का, साधर्मियों का तथा दान-शील-तप-व्रत का अपवाद-निंदा नहीं हो उस प्रकार से प्रवर्तन करता है । धर्म को दूषण लगने का बहुत भय रहता है । धर्म की प्रशंसा, उच्चता, उज्ज्वलता ही प्रकट हो ऐसा आचरण करता है, उसी के प्रभावना नाम का आठवाँ अंग है ।

ऐसे सम्यक्त्व के आठ अंगों का समूह ही सम्यग्दर्शन है । जैसे अंगों से अंगी भिन्न नहीं है, **अंगों के समूह की एकता सो ही अंगी है,** वैसे ही निःशंकितादि गुणों का समूह वही सम्यग्दर्शन है । इन आठ अंगों के प्रतिपक्षी शंका, कांक्षा, ग्लानि, मूढ़ता, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना आदि द्वारा वह धर्म को दूषित नहीं होने देता है ।

अब निःशंकितादि अंगों के पालन में जो आगम में प्रसिद्ध हुए हैं उनके नाम दो श्लोकों द्वारा कहते हैं :

तावदञ्जन चौराऽङ्गे ततोऽनन्तमतीः स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥१९॥

ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥२०॥

अर्थ :- प्रथम अंग में राजपुत्र अंजनचोर, द्वितीय अंग में अनन्तमती नाम की सेठ की पुत्री, तृतीय अंग में उद्दायन राजा, चतुर्थ अंग में रेवती रानी, पंचम अंग में जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठा अंग में राजपुत्र वारिषेण मुनि, सप्तम अंग में राजपुत्र विष्णुकुमार मुनि, और अष्टम अंग में राजपुत्र वज्रकुमार मुनि-ये आठ नाम आगम में सम्यक्त्व के आठ अंगों में प्रसिद्ध होनेवालों के क्रम से दृष्टांतरूप में आये हैं । इनकी विस्तृत कथायें प्रथमानुयोग के शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, वहां से जान लेना ।

अब अंगहीन सम्यक्त्व में संसार की परिपाटी छेदने की असमर्थता दिखानेवाला श्लोक कहते हैं -

नाङ्गहीनं मलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१॥

अर्थ :- अंगों से हीन सम्यग्दर्शन संसार की परिपाटी - जन्मपरम्परा छेदने में समर्थ नहीं होता है; जैसे हीनाक्षर-मन्त्र विष की वेदना को नष्ट नहीं कर सकता है । **जिसके भावों में निःशंकितादि अंग प्रकट होते हैं वही सम्यग्दृष्टि संसार परिभ्रमण का नाश करता है** । जिसका आठ अंगों में से यदि एक अंग भी कम है - प्रकट नहीं हो पाया है, उसके संसार का अभाव उसी प्रकार नहीं होता है, जिस प्रकार अक्षरहीन-मंत्र सर्पादि का विष दूर नहीं कर सकता है ।

मूढ़ताओं के तीन भेद हैं, वे तीनों ही सम्यक्त्व की घातक हैं । अतः तीनों प्रकार की मूढ़ताओं का स्वरूप जानकर सम्यग्दर्शन को शुद्ध करना उचित है । अब लोकमूढ़ता का स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

आपगा सागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

अर्थ :– जो लौकिक - मिथ्याधर्मी लोग हैं उनका आचरण देखकर जो नदी में स्नान करने में धर्म मानते हैं, समुद्र में स्नान करने में धर्म मानते हैं, रेत का ढेर-पाषाण का ढेर करने में धर्म मानते हैं, पर्वत से गिर पड़ने में धर्म मानते हैं, अग्नि में गिर पड़ने में धर्म मानते हैं उसे लोकमूढ़ता कहते हैं । सम्यग्दर्शन लोकमूढ़ता रहित ही होता है ।

यहाँ मिथ्यात्व के उदय से देशकाल के भेद से लौकिक, अज्ञानी, परमार्थ रहित लोग अनेक प्रकार की प्रवृत्ति करके अपने को धर्म होना, पवित्र होना, लाभ होना, वियोग नहीं होना, दीर्घ जीवन मिलना आदि मानते हैं । उस लोकमूढ़ता को प्रकट अज्ञान जान करके उसका त्याग करके सम्यक्त्वभाव की विशुद्धता करनी चाहिये ।

यहाँ कितने ही एकान्ती लोग हैं, वे स्नान करके अपने को पवित्र मानते हैं । अतः ज्ञानियों को आगम–ज्ञान पूर्वक विचार करना चाहिये कि – जो आत्मा है वह तो अमूर्तिक है, उस तक तो स्नान पहुँचता ही नहीं है; और जो यह शरीर है वह महाअपवित्र है, इसके स्पर्श से पवित्र चंदन-गंगाजल-पुष्पादि भी स्पर्श करने योग्य नहीं रहते हैं । यह शरीर हड्डी, मांस, खून, चमड़ा इत्यादि अपवित्र सामग्री से बना है तथा दुर्गन्ध, विष्टा, मूत्र, आदि अपवित्र द्रव्यों से भरा है; तथा जिसके मुख के रास्ते से तो महाअपवित्र कफ, लार, दांतों का मैल, जिह्वा का मैल निरन्तर ही बहता रहता है; नेत्रों द्वारा चिकना दुर्गन्धित कीचड़ बहता रहता है; अधो द्वार से मल-मूत्र दुर्गन्धित आँव-कृमि आदि को निरन्तर बहाता रहता है; कानों में से कर्णमल बहता है; नासिका में से निरन्तर दुर्गन्धित घृणा योग्य नाक बहती है; और सम्पूर्ण शरीर के रोमों से महा दुर्गन्धित मलिन पसीना बहता रहता है ।

जिसके नव द्वारों से निरन्तर मल बहता रहता है ऐसा शरीर जल द्वारा स्नान करने से कैसे शुद्ध माना जाये ? जैसे मल से बनाया हुआ घड़ा, मल से ही भरा और सभी तरफ से जिसमें से मल बह रहा हो, वह जल द्वारा धोने से कैसे शुद्ध हो सकता है ?

इस लोक में जो भी वस्तु, भूमि, क्षेत्र, अशुचि या अपवित्र कहलाते हैं वे सभी इस शरीर के स्पर्श से - संगम से ही अपवित्र हुए हैं । कोई चमड़ा पड़ने से, कोई बाल गिरने से, कोई जूठन फेंकने से अपवित्र क्षेत्र कहलाते हैं । रक्त, मांस, हड्डी, वसा, पीव, मल, मूत्र, थूक, लार, कफ, नाक का मैल आदि के स्पर्श हो जाने से ही, स्नान के जल के छींटे लगने से ही, कुल्ला के छींटों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाना देखते-सुनते ही हैं । इसलिये अच्छी तरह विचार करो - शरीर के स्पर्श-संगम बिना कहीं कोई अपवित्रता है ही नहीं । ऐसा अपवित्रता का स्थान शरीर, जल के स्नान

से कैसे शुद्ध होगा ? और यह शरीर जल के स्नान आदि से शुद्ध हो गया तो फिर किसी दूसरे के स्नान का छींटा लग जाने से पुनः अपवित्र हुआ ही माना जायेगा ।

गंगा, पुष्कर आदि में हजारोंबार स्नान-कुल्ला करके यदि फिर किसी अन्य वस्तु के ऊपर कुल्ला कर देगा तो वह वस्तु महाअपवित्र ही मानी जावेगी । जल से तो शरीर के ऊपर लगा हुआ मैल साफ हो जाता है तथा वस्त्रों की मलिनता धोने से साफ हो जाती है, किन्तु जल देह को उज्जवल पवित्र नहीं कर सकता है । जैसे - कोयला को ज्यों-ज्यों धोवो त्यों-त्यों महामलिनता ही प्रकट होती है । इसलिये **स्नान करने से पवित्र होना मानना वह तो तीव्र मिथ्यात्व है ।**

और भी विचार करो :- जगत में जल बराबर अपवित्र कोई भी नहीं है । जिसमें निरंतर मेंढक, कछुआ, सर्प, ऊंदरा, बिसमरा, मक्खी, मच्छर आदि अनेक जीव नित्य ही मरते हैं । जिसमें चमड़ा, हड्डी आदि सभी गल जाते हैं और अनेक त्रस जीवों का जिसमें घात होता है ऐसा महानिंद्य अपवित्र जल, उसके स्पर्श-स्नान होने से कैसे पवित्रता होगी ? गंगादि नदियों में करोड़ों मनुष्यों के मल, मूत्र, रक्त, मांस, कीचड़ तथा मृतक मनुष्य-तिर्यंचों के कलेवर घुलते रहते हैं उस गंगा का जल कैसे पवित्र करेगा ? **जल का सूतक तो कभी मिटता ही नहीं है ।**

जल से तो शरीर के बाहर लगा हुआ मैल धुलकर दूर हो जाता है जिससे मन की ग्लानि मिट जाती है । **जल से पवित्र होना मानना तथा स्नान में धर्म मानना तो मिथ्यादर्शन है ।** यदि गंगा के जल से ही पवित्रता हो जाय व स्नान करके ही मुक्ति हो जावे तो कीर-धीवरों के पवित्रता ठहरे व उनकी ही मुक्ति भी हो । अन्य दान-पूजादि सभी निष्फल हो गये । **मिथ्यात्व के प्रभाव से सब लोग विपरीत श्रद्धानी हो रहे हैं ।**

जो आठ प्रकार की लौकिक शुचि कही है वह तो व्यवहार आचार-कुलाचार को ही उज्ज्वल करने में समर्थ है, परन्तु शरीर को पवित्र नहीं कर सकती है । **श्रीराजवार्तिकजी में अशुचि भावना** में कहा भी है कि - ये तो मन में आप स्वयं ने ग्लानि मान रखी है जो इस संकल्प से दूर कर लेता है कि मैंने तो स्नान कर लिया है ।

पवित्रता (शौच का वर्णन)

शुचिपना दो प्रकार का है - एक लौकिक, दूसरा लोकोत्तर जिसे अलौकिक भी कहते हैं । वहाँ जिसका कर्ममल-कलंक दूर हुआ ऐसे आत्मा का अपने स्वभाव में स्थित रहना वह लोकोत्तर शुचिपना है । उस लोकोत्तर शुचिता की प्राप्ति के साधन सम्यग्दर्शनादि हैं और सम्यग्दर्शनादि के धारक साधु हैं; और उनका आधार निर्वाणभूमि आदि हैं; वे भी सम्यग्दर्शनादि के उपाय हैं, इसलिये वे भी शुचि नाम से कहे जाने योग्य हैं ।

लौकिक शुचिपना आठ प्रकार का है - काल शौच १, भस्म शौच २, अग्नि शौच ३, मृत्तिका शौच ४, गोमय शौच ५, जल शौच ६, पवन शौच ७, ज्ञान शौच ८ - ये आठ शौच-शुद्धियाँ शरीर को पवित्र करने में समर्थ नहीं है । **लौकिक जनों द्वारा व्यवहार की इस शौच के छोड़ देने से बड़ा अनर्थ हो जायेगा,** हीन आचरण की ग्लानि नहीं रह जायेगी, सभी एक जैसे हो जायेंगे तब

परमार्थ भी नष्ट हो जायेगा । इसलिये लोग अनादिकाल से ही बाह्य शुचिता को अपनाकर मन की ग्लानि मिटा लेते हैं ।

जगत में कितनी ही वस्तुएँ तो समय व्यतीत होने से ही शुद्ध मान लेते हैं । जैसे रजस्वला स्त्री को तीन रातें बीत जाने पर शुद्ध होना मानते हैं, किन्तु शरीर तो किसी काल भी शुद्ध नहीं मानते हैं । १ । कितने ही जूठे धातु के बर्तन राख से मांजने से शुद्ध मानते हैं, परन्तु शरीर तो राख–भस्म लगाने से शुद्ध नहीं होता है । २ । कितने ही धातु के बर्तन जो शूद्रादि द्वारा प्रयोग में लिये गये हों उन्हें तो अग्नि में डालने से शुद्ध मानते हैं, परन्तु शरीर तो अग्नि के संसर्ग से शुद्ध नहीं होता है । ३ ।

मल–मूत्रादि का स्पर्श मिट्टी से धोने से शुद्ध मानते हैं, परन्तु शरीर तो मिट्टी से धोने से - लगाने से शुद्ध नहीं होता है । ४ । भूमि आदि को गोबर से लीपने से शुद्ध होना मानते हैं, परन्तु गोबर लगाने से शरीर तो शुद्ध नहीं होता है । ५ । कीचड़ आदि लगने पर तथा शूद्रादि का स्पर्श हो जाने पर जल से धोने से तथा स्नान करने से शुद्धता मानते हैं, परन्तु शरीर तो स्नान करने से शुद्ध नहीं होता है । स्नान करने के बाद भी चंदन, पुष्प आदि पवित्र वस्तु भी शरीर के स्पर्शमात्र से मलिन हो जाती है । ६ । कितने ही भूमि, पाषाण, किवाड़, लकड़ी आदि हवा से शुद्ध होना मानते हैं, परन्तु शरीर तो हवा लगने से शुद्ध नहीं होता है । ७ । कितने ही पदार्थ जिन्हें अपने ज्ञान में अशुद्ध माना ही नहीं है इसीलिये ज्ञान में शुद्ध मानते हैं, परन्तु शरीर में तो शुद्धपने का ज्ञान में कोई संकल्प ही नहीं कर सकते हैं । ८ ।

इसलिये शरीर तो आठों प्रकार की लौकिक शुचियों द्वारा शुद्ध नहीं होता है । लौकिक शौच से परिणामों की ग्लानि मिट जाती है । व्यवहार की उज्ज्वलता देखकर कुल की उच्चता ख्याल में आ जाती है, परन्तु वह शरीर को पवित्र नहीं कर सकती है । शरीर तो सब प्रकार से अपवित्र ही है । इस शरीर में रहकर जो आत्मा पराया-धन और पराई–स्त्री के प्रति चाह रहित और जीवमात्र की विराधना रहित हो जाय तो हाड़मांस का यह मलिन शरीर भी देवों द्वारा पूज्य महापवित्र हो जाय। इस शरीर को पवित्र करने का अन्य कोई कारण ही नहीं है । यह कथन दिगम्बर वीतराग मुनि श्री पद्मनंदि ने किया है - ऐसा जानना ।

जिसकी निकटता से सुगंधित पुष्पों की माला, चंदन आदि पवित्र पदार्थ भी न छूने योग्य हो जाते हैं; विष्टा, मूत्र आदि से भरा, रस, रक्त, चाम, हाड़ आदि से बना और बहुत ही गंदा, दुर्गंधित, मलिन, समस्त अपवित्रताओं का एक साथ रहने का स्थान ऐसा यह मनुष्य का शरीर जल से स्नान करने से कैसे शुद्ध होगा ?

आत्मा तो अपने स्वभाव से ही अत्यन्त पवित्र है । आत्मा तो अमूर्तिक है, उस तक जल की पहुँच ही नहीं है । ऐसे पवित्र आत्मा का स्नान करना व्यर्थ है । यह शरीर अपवित्र ही है, वह स्नान करने से कभी पवित्र नहीं होता है । इसलिये दोनों प्रकार से स्नान की व्यर्थता सिद्ध हुई । फिर भी जो स्नान करते हैं उनके द्वारा पृथ्वीकाय, जलकाय आदि व अनेक प्रकार के त्रसकाय जीवों का घात होने से वह स्नान पापबंध का कारण और रागभाव की वृद्धि का ही हेतु हुआ ।

गृहस्थ का स्नान किये बिना निर्वाह नहीं है; परन्तु अज्ञानी गृहस्थ स्नान करने से धर्म होना मानता है, पवित्र होना मानता है। ऐसी मिथ्याबुद्धि अनादिकाल से हो रही है। यदि यह स्नान का स्वरूप समझ ले तो स्नान को धर्म नहीं मानेगा और स्नान से पवित्रपना नहीं मानेगा। यद्यपि स्नान के बिना गृहस्थ का समस्त व्यवहार-आचार दूषित हो जायेगा, और व्यवहार दूषित हो जाने से परमार्थ शुद्धि भी प्रकट नहीं कर सकेगा; परन्तु यह राग बढ़ानेवाला है, इसमें हिंसा होती है इसलिये पापरूप है, ऐसा श्रद्धान तो करना चाहिये।

और भी शिक्षा ग्रहण करना :– पिछले करोड़ों भवों में बाँधा हुआ जो कर्म उसके उदय से मन में उत्पन्न हुआ जो मिथ्यात्व आदि रूप मल उसका नाश करनेवाला जो आप-पर का भेद जानने रूप विवेक है वह ही सत्पुरुषों का मुख्य स्नान है। **सत्पुरुषों के तो मिथ्यात्वमल का नाश करनेवाला एक विवेक ही स्नान है।** दूसरा जो जल से स्नान है वह तो जीवों के समूह का घात करनेवाला होने से पापबंध करानेवाला ही है, इससे धर्म नहीं होता है। यही कारण है जिससे स्वभाव से ही अपवित्र शरीर में पवित्रता नहीं होती है।

और भी कहते हैं – हे समझदार बन्धुओ ! आत्मा की शुद्धता के प्रयोजन से परमात्मा नाम के तीर्थ में सदाकाल स्नान करो। व्यर्थ ही खेद करके दुःखी होकर गंगादि तीर्थों की ओर क्यों दौड़ते हो ? कैसा है परमात्मा नाम का तीर्थ ? जिसमें सम्यग्ज्ञानरूप निर्मल जल भरा है, जिसमें सम्यग्दर्शनरूप दैदीप्यमान लहर है, अविनाशी-अनन्त सुख से शीतल है, और समस्त पापों को धोकर नष्ट कर देनेवाला है, ऐसे परमात्म स्वरूप तीर्थ में डुबकी लगाकर लीन हो जाओ।

जगत के पापी मिथ्यादृष्टि लोगों ने निश्चयरूप निर्मल तत्त्वों का सरोवर देखा ही नहीं है; और कभी ज्ञानरूप रत्नाकर समुद्र भी नहीं देखा है। समता नाम की अत्यन्त शुद्ध नदी भी नहीं देखी है। इसी कारण से पाप को दूर करनेवाले सत्य तीर्थों को छोड़कर मूर्ख लोग जिन्हें तीर्थ कहते हैं वे संसार से तारनेवाले नहीं है, ऐसे गंगादि नदियों में डूबकर वे हर्षित होते हैं।

जिन मूर्खों ने तत्त्वों का निश्चयरूप सरोवर नहीं देखा है, ज्ञानरूप समुद्र नहीं देखा और समता नाम की नदी नहीं देखी है वे गंगादि तीर्थाभासों में दौड़ते फिरते हैं। यदि वे तत्त्वों के निश्चयरूप सरोवर को देखते, ज्ञानरूप समुद्र को देखते और समता नाम की नदी को देखते तो इनमें डुबकी लगाकर, मिथ्यात्व व कषायरूप मल से रहित होकर अपने को उज्ज्वल पवित्र कर लेते।

इस लोक में ऐसा कोई तीर्थ नहीं है और ऐसा कोई पदार्थ भी नहीं है जिससे यह सम्पूर्ण अपवित्र मनुष्य का शरीर साक्षात् शुद्ध हो जाय। **यह शरीर कैसा है ?** आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि से निरंतर व्याप्त है और निरंतर ही दुःखी करनेवाला है। सत्पुरुषों द्वारा तो इसका नाम भी लेने योग्य नहीं है।

समस्त तीर्थों के जल से नित्य स्नान करें और चन्दन कपूर आदि का लेप लगावें तो भी यह शरीर शुद्ध नहीं होगा, सुगंधित नहीं होगा; रक्षा करते-करते भी यह विनाश के मार्ग पर ही चला

जाता है। यदि नदी के जल में स्नान करने से ही शरीर शुद्ध हो जाता तो करोड़ों मछली, मगर, कछुआ, कीर, धीवरादि शुद्ध हो जाते। अतः **यह लोकमूढ़ता त्यागने योग्य ही है।**

स्नान की आवश्यकता

अब यहाँ इतना विशेष और जानना :– स्नान करने से शरीर पवित्र नहीं होता और धर्म भी नहीं होता है, परन्तु गृहस्थ दशा में मुनिराज के समान स्नान का त्याग कर देना उचित नहीं है। यदि पापी-म्लेच्छादि जीवों का स्पर्श हो जाय और स्नान नहीं करें तो अपने मन में पाप के प्रति ग्लानि नहीं रहेगी तथा उनकी संगति, स्पर्श, खान-पान चाहे-जैसा करने लग जायेगा तो व्यवहार धर्म का लोप हो जायेगा। **इसलिए जैनियों का जो आचरण है वह व्यवहार का विरोधी नहीं है।** अत्यन्त पाप से आजीविका करने वाले चांडाल, कसाई, चमार, शिकारी, भील, धीवरादि अति पापिष्ठ तथा म्लेच्छ-मुसलमानों की अपने शरीर के ऊपर छाया पड़ने से ही जब अति मलिनता मानते हैं तो इनका स्पर्श होने से स्नान कैसे नहीं करें ? स्नान तो करें ही करें, परमात्मा का स्मरण भी करते हैं।

इनके पास बैठने से बुद्धि मलिन हो जाती है। ये मुसलमान वगैरह वेश्यादि से कान लगाकर, मुंह के सामने मुंह करके बातचीत करते हैं, उनकी बुद्धि उत्तम धर्मादि के कार्यों से विमुख होकर उल्टी ही चलती है। **जीवों के घातक कुत्ता, बिल्ली आदि पशु, कौआ आदि पक्षी, दुष्ट तिर्यंच भोजन के स्थान में आ जायें या भोजन को स्पर्श कर लें तो वह भोजन त्याग देना ही उचित है। इनका स्पर्श हो जाने पर बिना स्नान किये भोजन, स्वाध्यायादि करने में हीनाचारीपना होता है, पाप से डर नहीं रहता है, कुल का भेद नहीं रहता है।** स्त्री संगम में अनेक जीवों की हिंसा, अपवित्र अंगों का मिलना, रक्त वीर्यादि का स्पर्श तथा महानिंद्य राग की उत्पत्ति होती है। इसका त्याग नहीं बन सके तो इस पाप की ग्लानि करके अपने को अशुद्ध मानकर स्नान करना चाहिये क्योंकि निंद्यकर्म करने के पश्चात् बाह्य शुद्धि के लिये स्नान है। स्नान किये बिना पुस्तक, जिनमंदिर के उपकरण, आदि उत्तम वस्तु का स्पर्श कैसे करें ?

यद्यपि शरीर में रक्त, मांस, हाड़, चाम, केश, मल, मूत्र भरा है; परन्तु रक्त, पीव, चाम, हाड़, मांस, मल, मूत्र आदि का बाह्य स्पर्श हो जाने पर अवश्य धो डालना ही उचित है; क्योंकि केश, चाम आदि शरीर से अलग होने के पश्चात स्पर्श करने योग्य नहीं हैं। इनका हाथ आदि से स्पर्श हो जाने पर शीघ्र ही हाथ धोना उचित है। इनकी ग्लानि नहीं करे तो नीच, चमार, चाण्डाल, कसाई आदि से एकता होने से आचरण का भेद नहीं रहेगा, तब समस्त जाति संबंधी व्यवहार का लोप हो जाने से उत्तम कुल का और नीच कुल का आचार समान हो जायेगा तथा व्यवहार-आचार के बिगड़ जाने से महापाप का बंध होता है।

परमार्थ शौच तो व्यवहार शौच से ही होती है। जिसके भोजन में, पानी में, स्पर्श में, प्रवृत्ति में मलिनता हो जाती है तो उसका परमार्थ धर्म भी मलिन हो जाता है। जिनधर्मी तो चांडाल, भील, म्लेच्छ, मुसलमानादि के शरीर की छाया पड़ने से भी मलिनता मानते हैं। धोबी, कलाल, लुहार, खाती, सुनार, भड़भूंजा आदि हिंसा कार्य करनेवाले हैं इसलिये इनका स्पर्श दूर से ही छोड़ना चाहिये।

मुनिराज तो नीच जाति के मनुष्य का स्पर्श हो जाने पर दण्ड स्नान करते हैं, उस दिन उपवास करते हैं। यदि बिना जाने ही किसी नीच कुलवाले के घर में प्रवेश हो जाये तो भोजन का अंतराय मानते हैं। मदिरा, मांस, शरीर से चार अंगुल की दूरी पर रक्त, पीव, पंचेन्द्रिय जीव का मृतक कलेवर भोजन करते समय दिख जाये तो अंतराय मानते हैं; तब जिनधर्मी गृहस्थ हाड़, कौड़ी, चाम, केश, ऊन इनका स्पर्श हो जाने पर भोजन कैसे नहीं छोड़ें ? इसीलिये गृहस्थ तो हाथ-पैर धोकर, शुद्ध स्थान में शुद्ध भोजन करते हैं। नीच अधम जाति का छुआ हुआ भोजन नहीं करते हैं।

जिनेन्द्र का पूजन करने के लिये स्नान करना उचित ही है; क्योंकि स्नान करके देव की पूजन-स्पर्श करना यह बड़ी विनय है। यद्यपि स्नान से शुद्धता नहीं होती तो भी देव के उपकरणों को स्नान करके ही स्पर्श करना चाहिये, धोया हुआ द्रव्य ही चढ़ाना चाहिये वह देव विनय ही है; विनय है वही आराधना है। जब जिनेन्द्र के मंदिर के उपकरण की भी विनय करते हैं तो जिनेन्द्र के आगम की, वाणी की, पूजन के द्रव्य को भी स्नान करके छूना, हाथ धोकर स्पर्श करना, मंदिर में हाथ-पैर धोकर प्रवेश करना वह भी विनय ही है। यद्यपि पाप मल की शुद्धता करना मुख्य है तो भी भगवान जिनेन्द्र के आगम में आठ प्रकार की लौकिक शुद्धियां कहीं हैं। लौकिक शौच के बिना परमार्थ धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

मुनिराज का शरीर तो रत्नत्रय के प्रभाव से महापवित्र है तो भी बाह्यशुद्धि के लिये कमण्डलु रखते हैं, हाथ-पैर धोकर स्वाध्याय करते हैं, थोड़ा गर्म जल से पैर धुलवाकर भोजन करते हैं, व्यवहार-आचार को नहीं छोड़ते हैं। यह भगवान जिनेन्द्र का धर्म अनेकान्तरूप है। निश्चय-व्यवहार का विरोध रहित ही धर्म है, सर्वथा एकान्तरूप जिनेन्द्र का धर्म नहीं है।

जो लौकिक शुद्धि रहित होगा तो धर्म की निन्दा, कुल की निन्दा ही करावेगा, तब अपना आत्मा मलिन ही होगा। मैथुन सेवन किया हो, मुर्दा जलाकर आया हो, क्षौरकर्म कराकर आया हो, चांडाल-म्लेच्छादि का स्पर्श हो गया हो, पंचेन्द्रिय मृतक का स्पर्श हो गया हो, रजस्वला आदि अशुचि का स्पर्श हो गया हो, इत्यादि और भी अनेक कारण हों तब अवश्य ही स्नान करना चाहिये। अन्य कारणों में जहां मल, मूत्र, हाड़, चामादि का जिस अंग से स्पर्श हुआ हो उसे शीघ्र ही धोना उचित है।

लोक में आठ प्रकार की शुद्धि अनादि से चली आ रही है। अतः आगम की आज्ञा मानने में ही हित है। जगत में प्रकट देखते हैं कि कान के मैल से आंख के मैल को, आंख के मैल से नाक के मैल को, नाक के मैल से कफ-लार आदि मुख के मैल, उससे मूत्र को, उससे विष्टा को अधिक-अधिक अपवित्र मानते हैं। यदि सभी प्रकार के मैल-मल को समान माना जायेगा तो समस्त आचार उपद्रवित हो जायेगा, विपरीत हो जायेगा। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय से समस्त ही मल की एक पुद्गल जाति है तथापि उनमें परस्पर बहुत भेद है। यद्यपि हाड़, मांस, रक्त, मल, मूत्रादि समस्त

मिट्टीरूप जलरूप हो जाते हैं, और मिट्टी-जलादि मांस, रक्त, मलादि रूप हो जाते हैं तथापि पर्याय-पर्याय में बहुत अंतर है । **द्रव्य और पर्याय के सर्वथा एकता मानने से समस्त व्यवहार-परमार्थ का लोप हो जायेगा, इसलिये द्रव्य-पर्याय के कथंचित-एकपना कथंचित-अनेकपना मानना ही श्रेष्ठ है ।**

बालू का पिण्ड बनाने में, पर्वत से गिरने में, अग्नि में जलने में, शीत में गलने में, पंचाग्नि तप तपने में धर्म मानना लोकमूढ़ता है । सूर्य-चन्द्र ग्रहणादि में सूतक मानना, स्नान करना, चांडाल आदि को दान देना, संक्राति मानकर दान देना; कुआ पूजना, पीपल पूजना, गाय को पूजना, रुपया-सिक्का-मोहर को पूजना, लक्ष्मी को पूजना, मृत पितरों को पूजना, छींक पूजना; मृतकों को तृप्त करने के लिये तर्पण करना, श्राद्ध करना, देवताओं के लिये रतजगा करना; गंगाजल को पवित्र मानना, तिर्यंचों के रूप को देव मानना; कुआ, बावड़ी, वापिका, तालाब खुदवानें में धर्म मानना, बगीचा लगाने में धर्म मानना; मृत्युंजय आदि के जप कराने से अपनी मृत्यु का टल जाना मानना, ग्रहों का दान देने से अपने दुःख दूर होना मानना; यह सब लोक मूढ़ता है ।

बहुत कहने से क्या ? जो योग्य-अयोग्य, सत्य-असत्य, हित-अहित, आराध्य-अनाराध्य का विचार रहित लौकिक जीवों की प्रवृत्ति देखकर जैसे अज्ञानी अनादि के मिथ्यादृष्टि प्रवर्तते हैं उसी प्रकार की प्रवृति को सत्य मान कर विचार रहित होकर प्रवर्तन करना वही लोकमूढ़ता है ।

कितने ही जिनधर्मी कहलाते हुए भी आत्मज्ञान रहित होकर परमागम की आज्ञा को नहीं जानते हुए भेषधारियों द्वारा कल्पित अनेक क्रियाकाण्ड तथा तीर्थंकरादि का तर्पण कराना, अपने पिता व पितामह का तर्पण कराना, यक्षादि के लिये होम, यज्ञादि करने में अपना कल्याण होना मानते हैं; शकलीकरणादि विधान कराना यह सब लोकमूढ़ता ही है ।

कितने ही स्नान करके रसोई करने में, स्नान करके जीमने में, आला (बिना किसी दूसरे के स्पर्श किये) वस्त्र पहिनकर जीमने में अपनी पवित्रता, शुद्धता, परमधर्म ही मानते हैं; परन्तु अभक्ष्य भक्षण तथा हिंसादि के होने का विचार ही नहीं करते हैं; **यह सब मिथ्यात्व के उदय से लोकमूढ़ता ही है ।**

अब देवमूढ़ता कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥२३॥

अर्थ :- जो अपने को अच्छा लगता है उसे वर कहते हैं । वर की इच्छा करके आशावान होकर के जो रागद्वेष से मलिन देवताओं का सेवन करता है - पूजन करता है, उसे देवतामूढ़ कहते हैं और उसका कार्य देवमूढ़ता कहलाती है ।

संसारी जीव इस लोक में राज्य, संपत्ति, स्त्री, पुत्र, आभूषण, वस्त्र, वाहन, धन, ऐश्वर्य आदि की इच्छा सहित निरन्तर रहते हैं । इनकी प्राप्ति के लिये रागी, द्वेषी, मोही, देवों की सेवा-पूजा करना

वही देवमूढ़ता है । राज्य, सुख, संपत्ति आदि तो सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होती है, वह सातावेदनीय कर्म कोई हमें देने में समर्थ नहीं है । लाभ तो लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से होता है । भोग-उपभोग सामग्री की प्राप्ति भोग-उपभोग नाम के अंतराय कर्म के क्षयोपशम से होती है। अपने भावों द्वारा बांधे गये कर्मों को कोई भी देवी-देवता देने में तथा लेने में समर्थ नहीं हैं ।

कुल की वृद्धि के लिये कुलदेवी को पूजते हैं, किन्तु पूजते-पूजते भी किसी का कुल का विध्वंस होते देखा जाता है । लक्ष्मी के लिये लक्ष्मीदेवी को, रुपयों को-मुहरों को पूजते हैं, किन्तु इन्हें पूजते-पूजते भी अनेक दरिद्री होते दिखाई देते हैं । शीतला की पूजा करते-करते भी संतान का मरण होते देखा जाता है । पितरों को मानते हुए भी रोगादि बढ़ते देखे जाते हैं । **व्यन्तर-क्षेत्रपालादि को अपनी सहायता करनेवाला मानते हैं, सो यह मिथ्यात्व के उदय का ही प्रभाव है ।**

क्षेत्रपाल-पद्मावती पूजन के संबंध में विचार

कितने ही कहते हैं – चक्रेश्वरी, पद्मावतीदेवी जो शस्त्र धारण किये हैं, जिनशासन की रक्षक हैं तथा सेवकों की रक्षा करनेवाली हैं; प्रत्येक तीर्थंकर की एक-एक देवी हैं, एक-एक यक्ष हैं, इनकी आराधना करने से पूजन करने से जिनधर्म की रक्षा होती है । ये धर्मात्माओं की भी रक्षा करती हैं इसलिये इन देवियों की और यक्षों का पूजन-स्तवन करना उचित है । देवियाँ समस्त कार्य को साधनेवाली हैं, तीर्थंकरों की भक्त हैं, इनके बिना धर्म की रक्षा कौन करेगा ? इसी कारण से मंदिरों के भीतर पद्मावती का रूप जिसकी चार भुजा व बत्तीस भुजा और अनेक शस्त्रों सहित बनाकर, उसके मस्तक के ऊपर भगवान पार्श्वनाथ स्वामी का प्रतिबिम्ब और उसके ऊपर अनेक फणों वाला सर्प का रूप बनाते हैं और बहुत अनुराग से पूजते हैं । इस सब का परमागम से अच्छी तरह जानकर निर्णय करना चाहिये । मूर्ख लोगों के कहने में आकर चाहे-जैसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ।

प्रथम तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी – इन तीन प्रकार के देवों में मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं । सम्यग्दृष्टि भवनत्रिक देवों में उत्पन्न ही नहीं होता है, स्त्री पर्याय में भी नहीं जाता है; पद्मावती-चक्रेश्वरी तो भवनवासिनी तथा स्त्री पर्याय में हैं, क्षेत्रपालादि व्यन्तर हैं । उनमें सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होगा ? उनमें तो नियम से मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं । ऐसा हजारों बार परमागम में कहा है।

यदि इनको जैन धर्म से प्रीति है तो जिनधर्म के धारकों से अपनी पूजा वंदना नहीं चाहेंगे । **जो जैनी है और अपने को अव्रती जानता है, वह सम्यग्दृष्टि से अपनी वंदना पूजा कैसे करायेगा?** साधर्मियों का उपकार तो वह बिना कहे ही करेगा ।

भगवान का प्रतिबिम्ब तो अपने मस्तक ऊपर रखे है तथा भगवान के भक्तों से अपनी पूजा करावे, ऐसी अविनय कोई धर्मात्मा होकर कैसे करेगा ? वह तो अनेक शस्त्र धारण करके अपनी वीतराग धर्म में प्रवृत्ति को बिगाड़ता है तथा अपनी बलहीनता प्रकट दिखाता है ।

जिनशासन के रक्षक एक-एक यक्ष-यक्षिणी ही कैसे कहते हो ? भगवान के शासन के तो सौधर्म इन्द्र से लगाकर असंख्यात देव-देवियाँ सभी सेवक हैं । जिनके हृदय में सच्चे धर्म से प्रीति

होने से पूर्वकृत अशुभकर्म निर्जर गया हो उनका समस्त अचेतन पुद्गल राशि भी देवतारूप होकर उपकार करती है; देवता, मनुष्य उपकार करते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ?

जैनशास्त्रों में भी ऐसी कई कहानियां हैं कि शीलवान तथा ध्यानी तपस्वियों के धर्म के प्रसाद से देवों के आसन कंपित हुए, फिर देवों ने जाकर उपसर्ग दूर किया और अनेक प्रकार के रत्नों से धर्मात्माओं की पूजा की । ऐसी कथायें शास्त्रों में बहुत हैं, किन्तु **ऐसी कोई भी कथा नहीं है जहां धर्मात्मा पुरुषों ने देवों की पूजा की हो** । पद्मावती, चक्रेश्वरी की भी कई कथायें हैं जहां शीलवन्ती, व्रतवंतियों की देव-देवियों ने पूजा की; किन्तु ऐसा कहीं नहीं लिखा है जहां शीलवन्ती, व्रतवन्ती ने जाकर किसी देव-देवी की पूजा की हो ।

स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है :

णय को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मंपि सुहासुहं कुणदि ॥३१९॥

भत्तीए पुज्जमाणो विंतर देवो वि देदि जदि लच्छी ।
तो किं धम्मं कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥३२०॥

अर्थ :– इस जीव को कोई लक्ष्मी नहीं देता है, और जीव का कोई उपकार-अपकार भी नहीं करता है । जगत में जो उपकार-अपकार करता हुआ दिखाई देता है वह अपने किये हुये शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा होता है । भक्ति पूर्वक पूजा करने से यदि व्यंतरदेव ही लक्ष्मी देवें तो दान, पूजा, शील, संयम, ध्यान, अध्ययन, तपरूप समस्त धर्म (शुभ भावरूप पुण्य) क्यों किये जायें ? **यदि भक्ति पूर्वक पूजा वंदना करने से कुदेव ही संसार के कार्य सिद्ध करने लगेंगे तो कर्म कुछ वस्तु ही नहीं रहेगी ? व्यंतर ही समस्त सुख को देनेवाला रहा, धर्म का आचरण निष्फल रहा ।**

भावार्थ :– जगत में इस जीव का जो देव, दानव, देवी, मनुष्य, स्वामी, माता, पिता, भाई, मित्र, स्त्री, पुत्र, तिर्यंच, औषधि आदि जो उपकार या अपकार करते हैं सो सभी अपने द्वारा किये गये पुण्यकर्म-पापकर्म हैं उनके उदय के आधीन करते हैं । ये सभी तो बाह्य निमित्त मात्र हैं । ऐसा भी देखा जाता है कि कोई भला करना चाहता है, उपकार करना चाहता है किन्तु अपकार-बुरा हो जाता है; कोई बुरा करना चाहता है किन्तु उपकार-भला हो जाता है । इसलिये प्रधान कारण पुण्य-पाप कर्म हैं ।

शास्त्रों में लिखा है :– चांडाल के अहिंसाव्रत के प्रभाव से देवों ने सिंहासन आदि बना दिये; नीली के शील के प्रभाव से देवता सहायी हुए; सीता के शील के प्रभाव से अग्निकुण्ड जलरूप हो गया; सुदर्शन सेठ का उपसर्ग देव ने आकर टाला; और भी कितनों ही की देवों ने सहायता की, उपसर्ग दूर किये, देवों के आसन कंपायमान हुए, और देवों ने आकर सहायता की – ऐसी हजारों कथायें प्रसिद्ध हैं ।

भगवान आदिनाथ के छह महीने भोजन का अंतराय रहा, तब किसी देव ने आकर किसी को आहार देने की विधि क्यों नहीं बताई ? पहले तो गर्भ में आने के 6 माह पहले ही इन्द्रादि अनेक देव भगवान की सेवा में रहते थे तथा **स्वर्ग लोक से आहार, वस्त्र, वाहनादि लाने को सावधान होकर उपस्थित रहते थे;** वे सब देव कैसे भूल गये ? भरतादि 100 पुत्रों को तथा ब्राह्मी-सुन्दरी पुत्रियों को मुनि-श्रावक का सब धर्म पढ़ाया था, उन्होंने भी विचार नहीं किया कि-भगवान भी अब मुनि होकर आहार के लिये चर्या कर रहे हैं । **वास्तव में अंतराय कर्म का उदय मंद हुए बिना कौन सहायता करता है ?**

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव - ये महावीतरागी मुनि होकर वन में ध्यान करते थे, उनको दुष्ट बैरी ने आकर अग्नि में लाल करके लोहे के आभूषण पहिनाये और उनका चाम, मांसादि भस्म हो गया तो भी किसी देव ने सहायता नहीं की ।

सुकुमाल महामुनि को तीन दिन तक स्यालिनी अपने दो बच्चों सहित भक्षण करती रही, वहां कोई देव सहायता करने नहीं आया । उनकी माता जिसको बहुत स्नेह था वह शोक में रोने-धोने में ही लगी रही, पुत्र कहां चला गया है, कोई खोज-खबर ही नहीं मंगाई ?

पांच सौ मुनियों को घानी में पेल दिया गया वहां किसी देव ने सहायता नहीं की । पद्म (राम) बलभद्र और कृष्ण नारायण जिनकी पहले हजारों देव सेवा करते थे, जब हीन कर्म का उदय आया और पुण्य क्षीण हुआ तो कोई पानी पिलानेवाला एक मनुष्य या देव भी पास में नहीं रहा । जो सुदर्शनचक्र से नहीं मरा वह एक भील के बाण से प्राण रहित हो गया । ऐसे अनेक ध्यानी, तपस्वी, व्रती, संयमी आदि ने घोर उपसर्ग भोगे; उनमें से बहुतों के देव सहायी नहीं हुए और बहुतों के देव सहायी हुए हैं ।

इसलिये यह निश्चित है कि - **अशुभ कर्म का उपशम हुए बिना तथा शुभ कर्म का उदय आये बिना कोई देवादि सहायी नहीं होते हैं ।** स्वयं का शरीर ही शत्रु हो जाता है । खरदूषण का पुत्र शंबुकुमार जिसने बारह वर्ष तक बांस के झुरमुट में कठिन तपस्या करके सूर्यहास नाम की तलवार प्राप्त की थी, सहज ही लक्ष्मण के हाथ आ गई और उसी तलवार से शंबुकुमार का मस्तक कट गया । लक्ष्मण ने तो बिना जाने ही तलवार की धार का प्रयोग अभ्यासरूप में किया था, किन्तु भीतर बीहड़ में बैठे शंबुकुमार का सिर कट गया । अपने हित के लिये सिद्ध की गई विद्या ने अपना ही घात करा दिया । **पूर्व कर्म के उदय के निमित्त से ही अनेक उपकार-अपकार होते हैं । कोई देवादि पूजा करने से धन, आजीविका, स्त्री, पुत्रादि देने में समर्थ नहीं है ।**

यहाँ प्रत्यक्ष ही देखते हैं – नगर का राजा सभी देव-देवी, पीर-पैगम्बर, स्वामी, फकीर, सभी मतों के साधु, सभी वेद-पुराणों के पाठ करनेवाले, नित्य ही होम-यज्ञ का पाठ करनेवाले ब्राह्मणों को बहुत आजीविका देता है, बड़ा सत्कार करता है, लाखों रुपयों का दान देता है जिसका बड़ा फल सब तक पहुँचता है; तो भी संयोग-वियोग, हानि-वृद्धि, जीत-हार टालने में कोई भी समर्थ

नहीं है । इसलिए ऐसा निश्चित जानो कि बिना श्रद्धान किये भी अनेक देव-देवियों की पूजा आराधना देवमूढ़ता ही है ।

जो मंत्र-साधना, विद्या-आराधना, देव-आराधना आदि हैं वे सभी पुण्य-पाप के अनुसार ही फल देते हैं । इसलिए जो सुख के इच्छुक हैं वे दया, क्षमा, संतोष, निर्वांछकता, मंदकषायता, वीतरागता के द्वारा अकेले धर्म का ही आराधन करो, अन्य प्रकार से वांछा करके पाप बंध नहीं करो ।

यदि देवों की संगति करने की ही इच्छा है तो उत्तम सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र, शची इन्द्राणी, लौकान्तिक देवों की संगति करने की भावना करो । अन्य अधम देवों की सेवा करने से क्या सिद्ध होगा?

क्षेत्रपाल आदि का पूजन निषेध

बहुत से लोग मिथ्याबुद्धि के कारण मंदिरों में क्षेत्रपाल की स्थापना करते हैं और प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं । वे लोग पहिले तो क्षेत्रपाल की पूजा करते हैं और क्षेत्रपाल की पूजा करने के बाद में जिनेन्द्रदेव का पूजन करते हैं । वे ऐसा कहते हैं कि – जैसे पहले द्वारपाल का सन्मान करना, उसके पश्चात् राजा का सन्मान करना चाहिये । द्वारपाल बिना राजा से भेंट कौन करावेगा? वैसे ही क्षेत्रपाल-बिना भगवान से भेंट-मिलाप कौन करा सकता है ?

उन मूर्खों को यह विवेक ही नहीं है कि भगवान तो मोक्ष में हैं । यह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी क्षेत्रपाल जो भगवान परमात्मा के स्वरूप को जानता ही नहीं है, उनसे कैसे मिलवा देगा और कैसे विघ्नों का नाश करेगा ? वह तो स्वयं के ही विघ्नों का नाश करने में समर्थ नहीं है । इस प्रकार विवेक रहित मिथ्यादृष्टि लोग क्षेत्रपाल का अत्यंत विपरीत रूप बनाकर वीतराग के मंदिर में पहले स्थान पर ही स्थापना करते हैं- जिसके हाथ में मनुष्य का कटा हुआ सिर तथा गदा, तलवार है, कुत्ते पर बैठा हुआ है, तेल-गुड़ खाने से क्षेत्रपाल प्रसन्न होते हैं - ऐसा लोगों को बहकाकर क्षेत्रपाल को पुजवाते हैं तथा इनका दर्शन-पूजन पहले करते हैं । सो यह सब मिथ्यादर्शन और कुज्ञान का ही प्रभाव जानना ।

भगवान पार्श्व जिनेन्द्र की प्रतिमा, मस्तक के ऊपर फण बिना बनाते ही नहीं हैं । भगवान पार्श्व अरहन्त के समोशरण में मस्तक के ऊपर धरणेन्द्र द्वारा फण बनाना कैसे सम्भव है ? धरणेन्द्र ने तो भगवान के तपस्या करते समय मुनि अवस्था में फण मण्डप बनाया था; उसके पश्चात् अर्हन्त अवस्था में फण बनाने का कोई प्रयोजन नहीं है । जब भगवान पार्श्व जिनेन्द्र अर्हन्त बन गये, और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समोशरण की रचना की थी तब वहाँ भगवान पार्श्व फण सहित विराजमान नहीं थे । वहाँ चार निकाय के देव, मनुष्य और तिर्यंच धर्म श्रवण-स्तवन-वंदन करते हुये ही बैठते हैं; इसलिये स्थापित प्रतिमा में अर्हन्त के प्रतिबिम्बों के फण कैसे सम्भव होगा ? वीतराग मुद्रा तो इस प्रकार की नहीं होती ।

काल के प्रभाव से धरणेन्द्र की पूजा-प्रभावना दिखलाने को लोग विपरीत कल्पना करने लगे हैं सो उन्हें कौन दूर कर सकता है ? जैसे पाषाण की भगवान की प्रतिमा में अंगों की सुन्दरता

व मस्तक की रक्षा के लिये कर्णों को लम्बा करके कन्धों से जोड़ देते हैं; उन्हें देखकर सभी धातु की प्रतिमाओं के भी कर्ण कंधों से जोड़ने लगे, सो यह तो देखा-देखी चल गई। उसी प्रकार अर्हन्त की प्रतिमा के ऊपर फण का आकार बनाते हुए लोगों को देखकर **तत्त्व को समझे बिना फण बनाने की प्रवृत्ति चल गई।** फण बना देने से प्रतिमा तो अपूज्य हो नहीं जाती क्योंकि चार प्रकार के सभी देव चारों तरफ से सदा ही भगवान की सेवा करते ही हैं। फण मण्डप करने से ही धरणेन्द्र को पूज्य मानना वह तो देवमूढ़ता है।

इस प्रकार देवमूढ़ता के अनेक भेद हैं। गणेश, हनुमान, लिंग, योनि, चतुर्मुख-षट्मुख का रूप, देवत्व रहित प्रकट असंभव तिर्यंचरूप को देव मानना, बड़-पीपलादि वृक्षों को, नदी को, जल को, वायु को, अग्नि को, अनाज को देव मानना सो सब देवमूढ़ता है, अधिक क्या लिखें ?

अब आगे **गुरुमूढ़ता** का वर्णन करनेवाला श्लोक कहते हैं -

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥२४॥

अर्थ :- परिग्रह, आरंभ और हिंसा सहित संसाररूप भंवरों में प्रवर्तन करनेवाले पाखण्डियों को प्रधान मानकर उनके वचनों में आदरपूर्वक प्रवर्तन करना पाखण्डमूढ़ता है।

भावार्थ :- जिनेन्द्र के धर्म का श्रद्धान-ज्ञान रहित होकर, अनेक प्रकार का भेष धारण करके, अपने को ऊँचा मानकर, जगत के जीवों से पूजा-वंदना-सत्कार चाहते हुए परिग्रह रखते हैं, अनेक प्रकार के आरम्भ करते हैं, हिंसा के कार्यों में प्रवर्तते हैं, इंद्रियों के विषयों के रागी-संसारी-असंयमी-अज्ञानियों से गोष्ठी वार्ता करके अभिमानी होकर, अपने को आचार्य, पूज्य, धर्मात्मा कहलाते हुए रागी-द्वेषी होकर प्रवर्तते हैं; युद्धशास्त्र, शृंगार के शास्त्र, हिंसा के कारण आरंभ के शास्त्र, राग के बढ़ानेवाले शास्त्रों का आप महन्त होकर उपदेश देते हैं वे सब पाखण्डी हैं।

जिनके अनेक प्रकार से रसों सहित भोजन में आसक्ति है; इसी कारण काम-भोग-बंध की कथा में लीन हो रहे हैं, परिग्रह को बढ़ाने के लिये दुर्ध्यानी हो रहे हैं; जो मुनि, साधु, आचार्य, महन्त, पूज्य नाम से कहलाते हैं, लोगों से नमस्कार कराना चाहते हैं; विकथा करते हैं, विषयों में लीन हैं; मंत्र-तंत्र-यंत्र-जप-मारण-उच्चाटन-वशीकरणादि निंद्य आचरण करते हैं वे सभी पाखण्डी हैं। **उन पाखण्डियों के वचनों को प्रमाण मानना, उनका सत्कार करना, उन्हें धर्म कार्य में प्रधान मानना वह पाखण्डमूढ़ता है।**

अब सम्यक्त्व को नष्ट करनेवाले आठ मदों का नाम कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥

अर्थ :– जिनका मद नष्ट हो गया है ऐसे गणधर देव हैं उन्होंने मद आठ प्रकार का कहा है । ज्ञान १, पूजा २, कुल ३, जाति ४, बल ५, ऋद्धि ६, तप ७, शरीर ८-इन आठ का आश्रयकर के जो मानीपना होता है उसे स्मय (मद) कहते हैं ।

भावार्थ :– ज्ञान का मद १, पूजा का मद २, कुल का मद ३, जाति का मद ४, बल का मद ५, ऋद्धि का मद ६, तप का मद ७, शरीर का मद ८ । ये आठ मद सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं ।

ज्ञानमद :– **जिसके एक भी मद हो वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?** सम्यग्दृष्टि का सच्चा चिंतवन है । **वह विचार करता है** – हे आत्मा ! तूने तो इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान पाया है, इसका गर्व क्यों करता है ? यह ज्ञान तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के आधीन है, विनाशीक है, इन्द्रियों के आधीन है, वात पित्त कफादि के आधीन है । इसके नष्ट होने में अधिक देर नहीं लगती है । क्यों इसका गर्व करते हो ? इन्द्रियों के नष्ट होते ही ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, वातपित्त-कफादि के घटने-बढ़ने पर क्षण मात्र में ही ज्ञान विपरीत हो जाता है, बावला हो जाता है ।

यह इन्द्रियजनित ज्ञान तो शरीर के साथ ही विनश जायेगा । कई बार एकेन्द्रिय हुआ, शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त ही नहीं हुई । एकेंद्रियों में जड़रूप पाषाण, धूल, पृथ्वीरूप होकर असंख्यात काल तक अज्ञानी रहा । कई बार विकलत्रय में हित-अहित की शिक्षा रहित हुआ । कई बार कूकर, शूकर, व्याघ्र, सर्प आदि में विपरीत ज्ञानी होकर भ्रमण किया । निगोद में अक्षर के अनंतवें भाग मात्र ज्ञान सहित हुआ । व्यंतर आदि अधम देवों में भी **मिथ्यात्व के प्रभाव से आप–पर नहीं जानता हुआ मरण करके, एकेंद्रिय में उत्पन्न होकर अनंतकाल तक परिभ्रमण किया है** ।

मनुष्यों में भी किन्हीं विरले मनुष्यों को ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अधिकता से तीक्ष्ण ज्ञान हो जाता है तो उनमें से कितने ही मनुष्य तो नीच कार्यों में प्रवीण होकर अनेक जल के जीव, थल के जीव, आकाश में विचरण करनेवाले जीवों के मारने में, पकड़ने में, बांधने में, अनेक यंत्र-पींजरा-जाल-फांसी बनवाने में चतुराई का उपयोग करते हैं । कितने ही मनुष्य अनेक प्रकार की तलवार, बन्दूक, तोप, बाण, जहर, विष आदि बनाने की विद्या में प्रवीण होकर अपनी चतुराई के मद में उन्मत्त होकर गांव-देश आदि के विध्वंस करने में होशयार बन जाते हैं । कितने ही मनुष्य सिंह, व्याघ्र, वराह आदि जीवों की शिकार करने में चतुर होते हैं ।

कितने ही मनुष्य ज्ञान का अधिक क्षयोपशम पाकर दूसरे अनेक मनुष्यों का धन छीनने में, लूटने में, रास्ता चलते लोगों का धन चुराने में, हत्या करने में प्रवीण हो जाते हैं । कितने ही मनुष्य ज्ञान की तीक्ष्णता पाकर भोले जीवों का तिरस्कार करने में, झूठों को सच्चा सिद्ध कर देने में, सच्चे को झूठा सिद्ध कर देने में, धन और प्राण दोनों हरण करने में प्रवीण हो जाते हैं । कितने ही मनुष्य अपने ज्ञान की तीक्ष्णता द्वारा मनुष्यों की चुगली करने में, लुटवा देने में, धन-धरती-आजीविका आदि नष्ट करा देने में, राजा आदि द्वारा दण्ड करा देने में, मरण करा देने में प्रवीण होते हैं ।

कितने ही मनुष्य लकड़ी, पत्थर, धातु, रत्न आदि की अनेक वस्तुएँ बनवाने में, चित्र, आभरण, वस्त्र, महल आदि अनेक प्रकार की रचना बना देने में प्रवीणता पाकर अभिमान के वश होकर नष्ट हो जाते हैं। कितने ही मनुष्य ज्ञान की प्रबलता पाकर अनेक शृंगार शास्त्र, युद्ध शास्त्र, वैद्यक शास्त्र आदि बनाकर राजाओं को प्रसन्न करते हैं। वे अनेक छन्द, अलंकार, व्याकरण विद्या, एकान्तरूप न्याय विद्या, वेद-पुराण, क्रिया-काण्ड आदि की प्ररूपणा करके, गर्विष्ट होकर आत्मज्ञान रहित होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं

कितने ही मनुष्य वीतराग धर्म को प्राप्त करके भी मिथ्यात्व के तीव्र उदय से सत्य ज्ञान-श्रद्धान को नहीं पाकर अपना अभिमान, वचन, पक्ष पुष्ट करने के लिये शास्त्र विरुद्ध मार्ग में प्रवर्तन कराकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। **इस प्रकार ज्ञान की अधिकता प्राप्त करके भी मिथ्यात्व के प्रभाव से और अधिक-अधिक बंध करके संसार में ही नष्ट होते हैं।** इसलिये अब वीतरागी सम्यग्ज्ञानी गुरुओं का उपदेश पाकर ज्ञान का गर्व नहीं करो।

हे आत्मन्! तेरा स्वभाव तो सकल लोकालोक को जाननेवाला केवलज्ञानरूप है। अब कर्म के क्षयोपशम से जो इंद्रियों के आधीन शास्त्रों का कुछ ज्ञान प्रकट हुआ है उसका क्यों गर्व करते हो? जैसे कोई अपने प्रबल शत्रु मंडलेश्वर राजा को बांधकर जैल में डालकर घटिया थोड़ा-सा भोजन देकर अनेक प्रकार से कष्ट देकर रखे; कभी किसी समय थोड़ा-सा कोई मीठा भोजन भी दे देवे; तो क्या मंडलेश्वर राजा जैल में पड़ा हुआ उस थोड़े से मिष्ठ भोजन को पाकर गर्व करेगा? उसी प्रकार तुम्हारे अनंतज्ञान स्वरूप केवलज्ञान को इन कर्मों ने लूटकर शरीररूप बंदीगृह में पराधीन कर रखा है। अब इंद्रियों द्वारा कुछ ज्ञान दिया उसे पाकर क्यों गर्व करते हो?

यह इंद्रियज्ञान तो विनाशीक पराधीन है, शरीर के साथ ही अवश्य नष्ट हो जायेगा। इस शरीर में भी रोग से, बुढ़ापे से, इंद्रियों की विकलता से, दुष्टों की संगति से, विषय-कषायों की अधिकता से क्षण मात्र में ही इस इंद्रियज्ञान के विनाश होने में देर नहीं लगती। **इस विनाशीक ज्ञान को पाकर यदि मद करोगे तो तुम्हारे सभी गुण नष्ट हो जावेंगे और तुम ज्ञान रहित होकर एकेंद्रिय आदि में जाकर पैदा हो जाओगे।**

इस काल में तुम कोई कविता, छन्द, चर्चा समझकर; नवीन काव्य, श्लोक, शास्त्र, छन्द, युक्ति बनाकर, तथा जिनमत के सिद्धांतों का कुछ ज्ञान पाकर मद को प्राप्त हो रहे हो सो मद करना उचित नहीं है।

पूर्वकाल में हुए ज्ञानी वीतरागियों के लिये ग्रन्थों के वाक्यों को देखो। अकलंकदेव द्वारा रचित **लघुत्रयी, बृहत्त्रयी, चूलिका** ऐसे सात ग्रन्थ हैं। उन्हें समझने के लिये माणिक्यनन्दि मुनिराज ने '**परीक्षामुख**' बनाया। उसकी बड़ी टीका **प्रमेयकमलमार्तण्ड** बारह हजार श्लोकों में प्रभाचन्द्र जी ने बनाई। लघुत्रयी के ऊपर **न्यायकुमुद चंद्रोदय** सोलह हजार श्लोकों में प्रभाचंद्रजी ने लिखा। तत्त्वार्थ सूत्र का **गंधहस्ति महाभाष्य** तो चौरासी हजार श्लोकों में लिखा गया है, जो इस समय मिलता

ही नहीं है। उसके मंगलाचरण पर आचार्य समन्तभद्र ने **आप्तमीमांसा** लिखी जो **देवागमस्तोत्र** के नाम से भी प्रसिद्ध है। उस पर **अष्टशती** एवं आचार्य विद्यानन्दि ने **अष्टसहस्री** टीका लिखी। अकलंकदेव ने **राजवार्तिक** रचा है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने अठारह हजार श्लोकों में **श्लोकवार्तिक** लिखी हैं तथा **आप्तपरीक्षा** भी लिखी है।

उनके निर्बाध वचनों के प्रभाव को देखकर बड़े-बड़े वादियों-तर्क करनेवालों के गर्व गल जाते हैं। नाटकत्रय, सारत्रय इत्यादि अनेकांतरूप निर्बाध युक्तियुक्त वचनों को जानकर कैसे ज्ञान का मद करते हो ? किसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, तो इसे बड़ी दुर्लभ वस्तु समझकर आत्मा को विषयों से तथा अभिमान आदि कषायों से छुड़ाकर परम समता धारणकर संसार परिभ्रमण के अभाव का प्रयत्न करो। **ज्ञान का मद करके आत्मा को अनन्त संसार नहीं बनाओ।** इस प्रकार ज्ञान के मद का अभाव करने का उपदेश दिया है। १।

पूजामद :– यह दूसरा पूज्यता का मद-ऐश्वर्य का मद सम्यग्दृष्टि नहीं करता है। ये राज्य ऐश्वर्य आत्मा का स्वभाव नहीं है, कर्मों का किया है, विनाशीक है, पराधीन है, दुर्गति का कारण है। मेरा ऐश्वर्य तो अनंत चतुष्टयमय अक्षय-अविनाशी-अखण्ड-सुखमय है, अनंत ज्ञान-दर्शनमय है, अनन्त शक्तिरूप है। यह कर्मकृत, महाउपाधिरूप, आत्मा को क्लेशित करके दुर्गति में पहुँचानेवाला, स्वरूप को भुलानेवाला ऐश्वर्य आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह कलह का मूल, बैर का कारण, क्षण भंगुर, परमात्म स्वरूप को भुलानेवाला, महादाह को उत्पन्न करनेवाला, दुःखस्वरूप है, अनेक जीवों का घातक है। **महाआरंभ महापरिग्रह में अंधा करके नरक में पहुँचानेवाला है।** इस ऐश्वर्य से मैं कितने दिन पूज्य रहूँगा? क्षण भर में नष्ट होने से रंक हो जाऊँगा।

जगत में धन के लोभी तथा अज्ञानी लोग मुझे ऊँचा मानते हैं, सत्कार करते हैं किन्तु उस राज्य, संपदा आदि का मेरा कितने दिनों का स्वामीपना है ? मृत्यु का दिन निकट आ रहा है। मुझ सरीखे अनंतानंत जीव संपदा को अपनी माननेवाले नष्ट हो गये हैं। **परमाणु मात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कैसे हो सकता है ?**

इस पर्याय में कर्मकृत पर का संयोगरूप ऐश्वर्य है सो दान, सन्मान, शील, संयम, दूसरे जीवों के उपकार में लगाने से ही प्रशंसा योग्य है। ऐश्वर्य पाकर गर्वरहित, वांछारहित, समतासहित, विनयवंत होना शुभगति का कारण है। **मिथ्यादर्शन जनित मिथ्याभाव जीव को अपना स्वरूप भुलाकर ऐश्वर्य में उलझाकर नरक में पहुँचा देता है।** ऐसा दृढ़ श्रद्धान करता हुआ सम्यग्दृष्टि पूज्यपने का-ऐश्वर्य का मद नहीं करता है। अन्य जीवों को अशुभ कर्म के उदय के वश निर्धनता से दुखी देखकर अशुभ सामग्री सहित देखकर अवज्ञा-तिरस्कार नहीं करता है, करुणा ही करता है। २।

कुलमद :– अब यह सिद्ध करते हैं कि सम्यग्दृष्टि को कुल का मद नहीं होता है। जगत में पिता के वंश को कुल कहते हैं। **सम्यग्दृष्टि विचारता है –** मेरा आत्मा किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया गया है। **मैं तो ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ,** उसका कुल होता ही नहीं है। ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव

ही मेरा कुल है । मैं अनादिकाल का कर्मों से पराधीन हूँ । इस मनुष्य पर्याय में यदि उत्तमकुल मिला है तो इसका गर्व करना महाअनर्थ है ।

पूर्व भवों में मैं अनंतबार नारकी हुआ, अनंतबार सिंह-व्याघ्र-सर्पों के कुलों में पैदा हुआ; अनंतबार सूकर, कूकर, गीदड़, गधा, ऊंट, भेड़, भैंसा, स्याल इत्यादि के कुलों में पैदा हुआ; अनंतबार म्लेच्छों के, भीलों के, चांडालों के, चमारों के, धीवरों के, कसाईयों के कुलों में पैदा हुआ; अनेकबार नाई, धोबी, तेली, खाती, लुहार, भड़भूंजा, चारण, भाट, डोम, भांडों के कुलों में पैदा हुआ; अनेकबार निर्धनों के कुल में पैदा हुआ हूँ । कभी किसी शुभ कर्म के उदय से ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यों के कुलों में आकर पैदा हो गया, तो अब कर्म के किये कुल में आकर गर्व करना बड़ा अज्ञान है । इस कुल में मुझे कितने दिनों तक रहना है ? अनादि से इस कुल में मेरा निवास तो था नहीं, नया पैदा हुआ हूँ, मरकर फिर पुण्य-पाप के अनुसार किसी अन्य कुल में पैदा होना होगा ।

उत्तम कुल प्राप्त करने का फल तो ये है कि मोक्षमार्ग का साधक रत्नत्रय में प्रवर्तन करना तथा अधम आचरण का त्याग करना । ऐसा भी विचार करना-मुझे पुण्य के प्रभाव से उत्तम कुल मिला है इसलिये नीचकुल के मनुष्यों के समान अभक्ष्य नहीं खाना चाहिये; कलह, विसंवाद, मारपीट, गाली, भण्ड वचन नहीं बोलना चाहिये; जुआ खेलना, वेश्या सेवन, चोरी करना आदि उचित नहीं है; निंद्य कर्म, **शारीरिक परिश्रम वाली जीविका करना अयोग्य है;** हास्य, असत्य वचन, छलकपट करना उचित नहीं है । यदि मैं अब उत्तम कुल को पाकर भी निंद्य कर्म करूंगा तो इसलोक में निन्दा योग्य होकर आगे दुर्गति का पात्र होऊँगा । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि कुल का मद नहीं करता है । ३ ।

जातिमद :- माता के वंश को जाति कहते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव जाति का गर्व नहीं करता है । **सम्यग्दृष्टि विचार करता है** - पूर्व भवों में मैं अनंतबार नीचजाति में पैदा हुआ तब एकबार उच्चजाति में पैदा हुआ, इस प्रकार अनंतबार नीचजाति पाई और अनंतबार उच्चजाति भी पाई है । अब उच्च जाति पाने का क्या गर्व करते हो ? अनेकबार निगोद में पैदा हुआ, कूकरी, सूकरी, चांडाली, भीलनी, चमारी, दासी, वेश्याओं के गर्भ में भी अनेकबार जन्म धारण किया है ।

यह जाति तो पुण्यपाप कर्म का फल है जो रस देकर खिर जायेगा । जाति-कुल में रूकना कितने दिन का है ? इसलिये जाति-कुल को विनाशीक कर्म के आधीन जानकर उत्तम शील पालने में, क्षमा धारण करने में, स्वाध्याय में, परोपकार में, दान में, विनय में प्रवर्तन करके जाति का उच्चपना सफल करो । जाति का मद करके संसार में नष्ट मत होओ । ४ ।

बलमद :- सम्यग्दृष्टि के बल का मद भी नहीं होता है । **सम्यग्दृष्टि विचार करता है** - मैं आत्मा अनन्तबल का धारी हूँ; किन्तु कर्मरूपी मेरे प्रबल बैरी ने मेरा बल नष्ट करके बलरहित एकेन्द्रिय विकलत्रय आदि में मेरा सम्पूर्ण बल आच्छादित करके मेरी ऐसी बलरहित दशा की है जहाँ मैं जगत की ठोकरों से कुचला गया, चींथा गया हूँ । अब किसी वीर्यान्तराय कर्म का कुछ क्षयोपशम पाकर के इस मनुष्य शरीर में युवा अवस्था में आहार के आश्रय से कुछ बल का उघाड़ हुआ है।

अब इस देह के आधार से पराधीन बल से यदि मैं तपस्या करके कर्मों का नाश करूँ तो बल पाना सफल है । इस बल के प्राप्त होने से मैं व्रत, उपवास, शील, संयम, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग करूँ तथा कर्म का प्रबल उदय होने पर भी आये हुए उपसर्ग परीषह आदि से विचलित नहीं होऊँ; रोग-दारिद्र आदि कर्मों के प्रहार से कायर नहीं होऊँ, दीनता को नहीं प्राप्त होऊँ तो मेरा बल पाना सफल है ।

मैं दीन, दरिद्री, असमर्थों के दुर्वचन सुनकर भी यदि क्षमा धारण करूँगा तो मेरी आत्मा की विशुद्धता के प्रभाव से दुर्जेय कर्मों को जीतकर क्रम-क्रम से अनन्तवीर्य को प्राप्त करके अविनाशी पद प्राप्त कर लूंगा; और यदि मैं बलवान होकर निर्बलों का घात करूँ, असमर्थों का धन, धरती, स्त्रियों का हरण करूँ, अपमान-तिरस्कार करूँ, तो सिंह-व्याघ्र-सर्प आदि दुष्ट तिर्यंचों के समान दूसरे जीवों की हिंसा करने के लिये ही मेरा बल पाना रहा; जिसका फल दीर्घकाल तक नरकों के दु:ख, तिर्यंचों के दु:ख भोग करके अनंतकाल तक निगोद में परिभ्रमण करना होगा । इस प्रकार बल के मद के समान मेरी आत्मा का घातक अन्य कोई नहीं है । ५ ।

ऋद्धिमद :- ज्ञानी को ऋद्धि अर्थात् धनसंपत्ति पाने का गर्व नहीं होता है । सम्यग्दृष्टि तो धन आदि के परिग्रह को महाभार मानता है । **वह विचारता है कि**-ऐसा दिन कब आयेगा जब मैं समस्त परिग्रह के भार को छोड़कर अपने आत्मीक धन की सम्हाल करूँगा ? यह धन परिग्रह का भार महाबन्धन है; राग, द्वेष, भय, संताप, शोक, क्लेश, बैर, हानि, महाआरंभ का कारण है; मद उत्पन्न करनेवाला है, दुखरूप दुर्गति का बीज है ।

परन्तु करें क्या ? जैसे कफ में पड़ी मक्खी अपने को निकालने में समर्थ नहीं है, कीचड़ में फंसा वृद्ध अशक्त बैल निकलने में समर्थ नहीं है, दलदल में पड़ा हाथी अपने को निकालने में समर्थ नहीं है; उसी प्रकार मैं भी इस धन-कुटुम्ब आदि के फंदे में से निकलना चाहता हूँ, किन्तु आसक्ति, रागादि का प्रबल उदय, निर्वाह होने की कठिनता दिखाई देने से हृदय कांपता है । ऐसे अपमान, भयादि करानेवाले परिग्रह के बंधन से बाहर निकलने का इच्छुक सम्यग्दृष्टि पराधीन, विनाशीक, दुखरूप संपत्ति का गर्व नहीं करता है । इसका संयोग होने से बड़ी शर्म लगती है कि - मैं अपनी, स्वाधीन, अविनाशी, आत्मीक लक्ष्मी को छोड़कर ज्ञानी होकर भी इस धूल समान लक्ष्मी को नहीं छोड़ रहा हूँ, इसके समान मेरी और क्या निर्लज्जता होगी, और क्या हीनता होगी ? ६ ।

तपमद :- सम्यग्दृष्टि को तप का मद नहीं होता है । मद तो तप का नाश करने वाला है। तप के प्रभाव से अष्ट कर्म रूपी शत्रुओं को जीतकर जो परमात्मपने को प्राप्त हुए हैं वे धन्य हैं। मैं संसारी आसक्त होकर इंद्रियों को विषयों में लगने से रोकने में असमर्थ हूँ, काम भाव को जीता नहीं है, निद्रा-आलस्य-प्रमाद को भी जीता नहीं है; इच्छाओं को रोकने में समर्थ नहीं हूँ, शरीर में लालसा घटी नहीं है, जीवित रहने की इच्छा मिटी नहीं है, मरने का भय दूर हुआ नहीं है, स्तवन-निन्दा में, लाभ-अलाभ में समभाव हुआ नहीं है तब तक हमारा तप कैसा, किस काम का ? तप

तो वह है जिससे कर्म शत्रुओं के उदय को जीतकर शुद्धात्मदशा में लीन हो जाये। धन्य हैं वे जिनके वीतरागता प्रगट हुई है। ऐसे विचारों सहित सम्यग्दृष्टि को तप का मद कैसे होगा ? ७।

रूप मद :– सम्यग्दृष्टि को शरीर के रूप का गर्व नहीं होता है, क्योंकि वह अपना रूप तो ज्ञानमय जानता देखता है जिसमें सभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप दिखाई देता है। ये चमड़ामय शरीर का रूप मेरा रूप नहीं है। इस देह का रूप क्षण-क्षण में विनाशीक है। एक दिन आहार-पान नहीं करे तो महा विरूप दिखने लगता है। इस देह का रूप समय-समय विनशता रहता है। यदि बुढ़ापा आ जाये तो महासूगला-अभद्र भयकारी दिखने लग जाता है। यदि रोग दारिद्र आ जाये तो किसी के देखने लायक छूने लायक ही नहीं रह जाता है। इस रूप का गर्व कौन ज्ञानी करता है ? यह तो एक ही क्षण में अंधा हो जाये, काना हो जाये, कुबड़ा, लूला, डूंठा, वक्रमुख, वक्रग्रीव, लम्बोदर, विड्रूप हो जाये। इसका कौन ठिकाना ? यहाँ रूप का गर्व करना बड़ा अनर्थ है।

सुन्दर रूप पाकर शील को मलिन नहीं करो। दरिद्री, दुखी, रोगी, अंगहीन, कूरूप, मलिन देखकर उनका तिरस्कार नहीं करो, ग्लानि नहीं करो, दया ही करो। संसार में महा कुरूप मनुष्य तिर्यंचों का महाअभद्र, भयंकर, सूगला रूप अनेकोंबार पाया है। इसलिये रूप का गर्व नहीं करो। ८।

ये आठों मद सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाले हैं, इनका संसर्ग स्वप्न में भी जैसे नहीं हो वैसे निरन्तर प्रवर्तन करना योग्य है।

अब जो पुरुष मदोन्मत्त होकर अन्य धर्मात्माजनों का तिरस्कार करते हैं उनके दोषों की उत्पत्ति दिखानेवाला श्लोक कहते हैं -

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थानगर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकै बिना ॥२६॥

अर्थ :– जो कोई पुरुष गर्व करके धर्म के धारक अन्य धर्मात्मा पुरुषों का तिरस्कार करता है वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है, क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों के बिना धर्म नहीं पाया जाता है। इसलिये जो ज्ञान, पूजा, धन, तप, ऐश्वर्य, रूप आदि का मद करके धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है वह अपने ही धर्म का तिरस्कार करता है, क्योंकि धर्म तो किसी पुरुष के आधार से ही रहता है, बिना पुरुष के धर्म तो रहता नहीं है।

भावार्थ :– संसार में धन, ऐश्वर्य, आज्ञा-आदेश का बड़ा मद होता है, जो मद से गर्वीला हो जाता है वह देव-गुरु-धर्म की विनय भी भूल जाता है। **गर्विष्ट व्यक्ति ऐसा विचार करता है–** ये मंदिर क्या वस्तु है ? मैं दूसरा नया बनवा दूँगा, ये भी तो हमारा ही बनाया है। ये जो तपस्वी त्यागी हैं, वे भी हमारे ही आधीन भोजन-वस्त्र पाकर जीवित रहते हैं; ये धर्म भी धन खर्च करने से ही होता है, धन खर्च करने से ही भगवान की पूजन प्रभावना होती है - इस प्रकार अवज्ञा करता है; अनेक पापाचरण करता हुआ भी कोई अभिमान के वश होकर दान-पूजा-प्रभावना में पांच रूपैया लगाकर अपने को धन्य व धर्मात्मा मानता है।

धन, आज्ञा, ऐश्वर्य के मद में अंधा होकर ऐसा मानता है – इस जगत में धन ही सबसे बड़ा है। धनवान के घर बड़े-बड़े ज्ञानी, शास्त्रों के पारगामी, काव्य श्लोक बनानेवाले नित्य ही आते हैं, बड़े-बड़े ज्ञानी धनवानों के घर में स्वयं ही आकर शास्त्रों को सुनाते फिरते हैं। अनेक कला चतुराई जाननेवाले धनवान के घर नित्य ही आते हैं। पूजन करनेवाले, प्रभावना करनेवाले, भजन कहनेवाले अनेक लोग धनवान का आश्रय लेकर धनवानों को सुनाते फिरते हैं। उपवास, व्रत, बेला, तेला करनेवाले त्यागी तपस्वी धनवानों के ही घर पर भोजन करने आते हैं। मंत्र, जाप आदि भी धनवंत पुरुषों के भले होने को ही करते हैं। समस्त धर्म और समस्त गुण हमारे धन के ही आधीन हैं। इस प्रकार धन-ऐश्वर्य से अपनी आत्मा को ऊँचा मानकर कृतकृत्य समझकर धर्मात्माओं की अवज्ञा करते हैं।

आत्मज्ञानी, परमार्थी, परमसंतोषी लोगों को तो ये गर्विष्ट पुरुष देखते ही नहीं है। जिनको चक्री की सम्पदा व इन्द्रलोक की सम्पदा भी दुखरूप दिखाई देती है, वे पुरुष धनवंतों का साथ स्वप्न में भी नहीं चाहते हैं।

जगत के अल्प पुण्यवाले-निर्धन लोग, गृह कुटुम्ब के पालने की चिन्ता से दुखी होकर अपना सम्मान छोड़कर धनवान के घर आते हैं; दयावान-उपकारी जानकर तथा धर्म से प्रीति और धन प्राप्त करने का फल लेनेवाला जानकर धनवान के दरवाजे पर आते हैं; परन्तु यह धनवंत धन के मद में अंधा हो जाता है जिस कारण उससे दान तो नहीं होता है, उपकार नहीं करता है, दया रहित निर्दयी हो जाता है। कोई केवल हमारा धन मत छीनो, धन मत बिगाड़ो ऐसा मानता हुआ मर करके बहुत ममता कृपणता के प्रभाव से नरक-तिर्यंचगति में बहुत काल तक परिभ्रमण करता है।

धन के संबंध में ज्ञानी का विचार – जो धन-संपत्ति पाकर के मद रहित हैं उनके ऐसा विचार है कि – यह धन संपत्ति हमारा रूप नहीं है, हमारी नहीं है, कोई पूर्वकृत पुण्य फला है, परन्तु यह विनाशीक है। अब इस संपत्ति से किसी का उपकार करूँगा, दरिद्री लोगों का दुख मिटाऊँगा, दया करके दुखी जीवों का उपकार करूँगा, जो जिनधर्म के श्रद्धानी-ज्ञानी हैं उनकी निर्धनता का दुख मिटाकर निराकुल करूँगा। सभी लोग धनवान से आशा रखते हैं, मैं यदि निर्धन होता तो मुझसे कौन उपकार चाहता ?

इसलिये जब मेरे शुभकर्म फला है तो मुझे अपने आश्रितों का भरण-पोषण करना चाहिये, बालक-वृद्ध-रोगी-अनाथ-विधवा-अशक्तों का उपकार करने से ही मेरा धन प्राप्त करना सफल है। मैं ऐसे कार्य में धन लगाऊँ जिससे जिनधर्म की परिपाटी बहुत काल तक चलती रहे, ज्ञानाभ्यास की परम्परा चलती जाये। नित्यपूजन, ध्यान, अध्ययन, तप, शील से संसार का उद्धार करने वाले कार्यों का प्रवर्तन बना रहे – यह धन पाने का फल है, लाभ है। यदि यह धन परोपकार में नहीं लगेगा तो अवश्य ही नष्ट हो जायेगा। यह सम्पदा किसी के साथ कभी भी परलोक में गई नहीं है। बिना दान किये यह सम्पदा केवल पाप-दुर्ध्यान कराकर संसार-समुद्र में डुबो देगी।

इस संपदा पाने का फल तो दान करना ही है । करोड़ों मनुष्यों ने पहले भवों में दान नहीं दिया इसलिये आज वे घर-घर दरवाजे-दरवाजे अन्न मांगते फिरते हैं फिर भी पेट भर भोजन नहीं मिलता है, शरीर ढकने को कपड़ा नहीं मिलता है, दीन-दरिद्री होकर दूसरों की जूठन की आशा करते फिरते हैं - यह सब दान रहितता तथा कृपणता का फल है । मनुष्यों व पशुओं की सेवा करना-दासपना करता है तो भी पेट नहीं भर पाता है । दान किये बिना मुझे आगामी काल में सम्पत्ति नहीं प्राप्त होगी । दान में, धर्म के स्थानों में धन लगाऊँगा तो ही धन पाना सफल है । मरने के बाद सम्पदा परलोक में साथ नहीं जायेगी, जहाँ रखी है वहीं रखी रह जायेगी । इसलिये किन्हीं जीवों के उपकार में खर्च हो तो सफल है, उतनी ही और वह ही सम्पत्ति हमारी है ।

ऐसे विचारों सहित सम्यग्दृष्टि सदा ही परोपकार के कार्यों में धन लगाने को तत्पर रहता है, उद्यमी रहता है । **धर्मात्मा पुरुषों के तो यह संपदा ग्रहण करने योग्य ही नहीं है, मोह से अंधा कर देनेवाली है, आत्मा को भुला देनेवाली है । सम्यग्दृष्टि इसमें अपनापन ही नहीं करता है,** किन्तु अभि चारित्रमोह का उदय होने से राग तो मिटा नहीं है इसलिये अन्य जीवों के उपकार में अवश्य लगाना, बहुत कष्ट से कमाई है उसे उत्तम कार्य में लगाना, छोड़कर मर जाने में अपना क्या भला होगा ? ऐसा विचार करके जो पापरहित जन हैं वे निर्धन, रोगी, दु:खी जनों को देखकर अवज्ञा नहीं करते हैं, धन देकर उनका दु:ख मिटाते हैं । **धर्म में प्रवर्तने वाले शुभ कार्यों में खर्च करवाने वाले लोगों को देखकर बड़ा आनंद मानते हैं, धर्म साधन करनेवालों के साथ शामिल होकर धन के भोगने में आनंद मानते हैं ।** ऐसे लोगों ने संपदा प्राप्त होने का फल लिया है, आगे परलोक में देवों की संपदा, चक्रवर्ती की संपदा भी दानी को ही प्राप्त होती है ।

अब जो संपत्ति में रागी हैं उन्हें संपत्ति का स्वरूप दिखानेवाला श्लोक कहते हैं :-

यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि विचार करता है – यदि मेरे ज्ञानावरणादि अशुभ पाप प्रकृतियों का आस्रव होना रुक गया है तो अब मेरे पास जितनी संपत्ति है उससे अधिक संपत्ति प्राप्त हो जाने से मुझे क्या प्रयोजन है ? यदि मेरे उन अशुभ पाप प्रकृतियों का आस्रव होना चालू ही है तथा संपत्ति भी आ रही है, तो इस नई आनेवाली संपत्ति से मुझे क्या प्रयोजन है, कितना लाभ है ?

भावार्थ :– इस जीव की त्यागरूप, संयमरूप प्रवृत्ति द्वारा पाप का आस्रव होना यदि रूक गया है तो अन्य जो इंद्रियों के विषयों की संपदा-राज्य ऐश्वर्य रूप संपदा हो गई, तो उस संपदा से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? **आस्रव रुकने से तो निर्वाण संपदा–अहमिन्द्रलोक की संपदा प्राप्त होती है ।** इस खाक-धूल समान, क्लेश से भरी, क्षणभंगुर सम्पदा से क्या प्रयोजन है ? यदि इस जीव के त्यागरूप, संयमरूप प्रवृत्ति से पाप का आस्रव नहीं है तो निर्बन्ध नाम की संपदा बड़ी विभूति महालक्ष्मी है ।

यदि अन्याय, अनीति, कपट, छल, चोरी आदि करके मेरे पाप का आस्रव निरन्तर हो रहा है तथा कुछ और अधिक धन संपदा प्राप्त हो गई तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? शीघ्र ही मरकर अंतर्मुहूर्त में नरक का नारकी होकर पैदा हो जाऊँगा। **सम्यग्दृष्टि को तो पापकर्म के आस्रव होने का बड़ा भय है।** वह तो पाप का आस्रव रूक जाने को ही महासंपदा का लाभ मानता है। इस संसार की संपदा को तो पराधीन दुख देनेवाली जानकर इसमें लालसा नहीं करता है। कभी लाभांतराय-भोगांतराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है तब उसे पराधीन, विनाशीक, बंध करानेवाली जानकर उस संपदा में लिप्त नहीं होता है। वर्तमान की कुछ वेदना को शांत करने वाली मानकर उदासीनभाव से कडुवी दवा के समान ग्रहण करता है, संपदा को अपने हितरूप जानकर उसकी वांछा नहीं करता है।

छह अनायतन का स्वरूप ऐसा जानना

कुदेव, कुगुद्धद्द, कुशास्त्र का श्रद्धान व कुदेव की सेवा करनेवाला, कुगुरु की सेवा करनेवाला और कुशास्त्र को पढ़नेवाला- इस तरह ये छह धर्म के आयतन अर्थात् स्थान नहीं है। इनसे अपना कुछ भी भला नहीं होता, इसलिये ये छह ही अनायतन हैं।

संक्षेप में इनका स्वरूप कहते हैं :- जिसमें सर्वज्ञपना नहीं है, वीतरागपना नहीं है, जो कामी-क्रोधी, चोरों और जारों का प्रधान है, जो भोजन का इच्छुक है, मांस का भक्षक है, लोभी है, अपनी पूजा कराने का इच्छुक है, जीवों का संहार करनेवाला है, अपने भक्तों का उपकारक तथा अभक्तों का विनाशक है, जिन्हें बहुत से मूर्ख लोग देव मानकर पूजते हैं किन्तु उनमें देवपना नहीं है, उनमें देवपने की बुद्धि करना-देव मानना मिथ्या है। वे देवत्व के आयतन नहीं है।

जो व्रत-संयम रहित, अनेक पाखण्ड भेष के धारी हैं उनमें व्रत-त्याग-विद्या-अध्ययन, परिग्रह का त्यागं आदि देखकर; मंत्र-यन्त्र-तन्त्र विद्या, ज्योतिष, वैद्यक, शकुन विद्या, तथा इन्द्रजाल आदि विद्याओं को देखकर; अनेक मूर्ख लोगों द्वारा मानता-पूजता देखकर पाखण्डी जिनाज्ञा-बाह्य भेषियों में पूज्यपना-गुरुपना नहीं जानना।

खोटे-मिथ्या शास्त्र हिंसा के पोषक जिनमें आत्महित नहीं ऐसे शास्त्र सम्यग्ज्ञान के आयतन नहीं हैं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रों का सेवन करने वाले, इनकी सेवा-उपासना करने से अपना कल्याण होना माननेवालों की सम्यग्दृष्टि प्रशंसा नहीं करता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का घात करनेवाले तीन मूढ़ता, आठ मद, आठ शंकादि दोष, छह अनायतन- इन पच्चीस दोषों का त्यागकर व्यवहार सम्यग्दर्शन के धारण करने पर निश्चय सम्यग्दर्शन को प्राप्त करो। **जिसके पच्चीस दोष रहित आत्मा का श्रद्धान भाव है, उसी के निश्चय सम्यग्दर्शन होने का नियम है। जिसके बाह्यदोष ही दूर नहीं हुए हों उसके अंतरंग शुद्ध सम्यग्दर्शन भी नहीं होता है।**

अब सम्यक्त्व के भेद और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, वह कहते हैं -

सम्यक्त्व के भेद : सम्यक्त्व तीन प्रकार का है - उपशम सम्यक्त्व 1, क्षयोपशम सम्यक्त्व 2, क्षायिक सम्यक्त्व 3। संसारी जीव को अनादिकाल से आठ कर्मों का बंधन है। उनमें महोनीयकर्म के दो भेद हैं - दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं - मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व; तथा चारित्र मोहनीय की चार - अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया, अनंतानुबंधी लोभ। इस प्रकार ये सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का घात करनेवाली हैं। इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है, इन ही सातों प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व; और इन ही सातों प्रकृतियों के क्षयोपशम होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, इसका दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व भी है। (इनके और भी भंग-भेद करणानुयोग के अनुसार बनते हैं।

अनादिमिथ्यादृष्टि जीव को पहले उपशम सम्यक्त्व ही होता है। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व छूटकर जो सम्यक्त्व होता है। उसे **प्रथमोपशम सम्यक्त्व** कहते हैं। उपशमश्रेणी के प्रारंभ में क्षयोपशम सम्यक्त्व के पश्चात् जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे **द्वितीयोपशम सम्यक्त्व** कहते हैं।

अब मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व गुणस्थान से उपशम सम्यक्त्व कैसे होता है उसे श्री लब्धिसारजी शास्त्र के अनुसार कुछ लिखते हैं।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति

सम्यग्दर्शन चारों ही गतियों में अनादि मिथ्यादृष्टि व सादि मिथ्यादृष्टि के उत्पन्न होता है; परन्तु **संज्ञी** के ही उत्पन्न होता है असंज्ञी के नहीं; **पर्याप्त** के ही उत्पन्न होता है अपर्याप्त के नहीं; **मंदकषायी** के ही उत्पन्न होता है तीव्रकषायी के नहीं; **भव्य** के ही उत्पन्न होता है अभव्य के नहीं; गुणदोषों का विचार सहित **साकारोपयोग** जो ज्ञानोपयोग युक्त के ही उत्पन्न होता है दर्शनोपयोगी के नहीं; **जागृत** अवस्था में ही उत्पन्न होता है निद्रा से अचेत हुए के नहीं होता है। पांचवीं करणलब्धि के उत्कृष्ट जो अनिवृत्तिकरण परिणाम उसके अंतिम समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

पाँच लब्धियाँ : पाँच लब्धियों के नाण इस प्रकार हैं - क्षयोपशम लब्धि 1, विशुद्धि लब्धि 2, देशना लब्धि 3, प्रायोग्य लब्धि 4, करण लब्धि 5। इन पाँच लब्धियों के हुए बिना सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। इनमें से चार लब्धियाँ तो किसी भी संसारी भव्य तथा अभव्य को भी हो जाती हैं, परन्तु करणलब्धि तो जिसे सम्यक्त्व तथा चारित्र अवश्य प्राप्त होना है उसी को होती है।

क्षयोपशम लब्धि : क्षयोपशमलब्धि के विषय में आगम में ऐसा कहा है - जिस काल में ऐसा योग आ मिले जब आठों कर्मों में से ज्ञानावरण आदि कर्मों की समस्त अप्रशस्त प्रकृतियों की अनुभागशक्ति प्रतिसमय अनन्तगुणी घटती हुई आगे क्रम से उदय में आने लगे, उस काल में क्षयोपशम लब्धि हुई कही जाती है। उत्कृष्ट अनुभाग के अनंतवें भाग के बराबर (प्रमाण) जो देशघाति स्पर्द्धक उनका उदय होते हुए भी, उत्कृष्ट अनुभाग का (जो शेष) अनन्त बहुभाग के बराबर (प्रमाण) जो

सर्वघाति स्पर्द्धक उनके उदय का अभाव उसे ही क्षय कहा; और जो सर्वघाति स्पर्द्धक उदय अवस्था को प्राप्त तो नहीं हुए परन्तु जिनकी सत्ता विद्यमान है उसे कहा उपशम-ऐसे संयोग की प्राप्ति जिस समय होती है, उसे क्षयोपशम लब्धि जानना ।

विशुद्धि लब्धि : पहले जो क्षयोपशम लब्धि हुई है उसके प्रभाव से उत्पन्न होनेवाले, जीव को सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों के बंध को कारण **धर्मानुरागरूप शुभ भावों की प्राप्ति होना वह विशुद्धि लब्धि है** । यह ठीक ही है क्योंकि जब अशुभ कर्मों का रस देना कम हो जाता है तब जीव के संक्लेश परिणाम भी घट कर थोड़े रह जाते हैं, उस अवस्था में विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होना उचित ही है । इस प्रकार दूसरी विशुद्धि लब्धि कही ।

देशना लब्धि : देशना लब्धि का स्वरूप इस प्रकार जानना - छह द्रव्य तथा नौं पदार्थों का उपदेश देनेवाले आचार्य आदि का मिलना, उनसे उपदेश की प्राप्ति होना तथा उस उपदेशित पदार्थों के स्वरूप को धारणा में ले लेना वह देशना लब्धि है । नरक आदि में जहाँ पर उपदेश देनेवाले नहीं है वहाँ पर पूर्व जन्म में जो तत्त्वों का अर्थ धारणा में लिया था उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन हो जाता है ।

प्रायोग्य लब्धि : अब चौथी प्रायोग्य लब्धि का स्वरूप जैसा आगम में कहा है, वह कहते हैं - ऊपर कही तीन लब्धियों सहित जीव जब समय-समय **विशुद्धता को बढ़ाते हुए,** आयुकर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थिति अंत- कोड़ाकोड़ि सागर शेष रह जाये, तब पूर्व में जो कर्मों की स्थिति बची थी, उसे एक कांडक घात द्वारा छेदे; फिर कांडक से प्राप्त द्रव्य (कर्मों के) को शेष रही स्थिति के बराबर करता है । इस अवस्था में घातिया कर्मों का अनुभाग-रस दारू और लतारूप शेष बचता है, शैल-अस्थि रूप नहीं रहता है; और अघातिया कर्मों का अनुभाग निंब-कांजीर रूप शेष बचता है, विष-हालाहलरूप नहीं रहता है । पहले जो अनुभाग था उसमें अनन्त का भाग देने पर बहु भाग प्रमाण अनुभाग को नष्ट करके बाकी बचा अनुभाग (अनंतवाँ भाग) शेष रह जाता है। **ऐसा कार्य करने की योग्यता की प्राप्ति वह प्रायोग्य लब्धि है । यह भव्य व अभव्य दोनों के हो सकती है ।**

संक्लेश परिणामी संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त के जैसा संभव हो सके वैसा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध वाला, और उत्कृष्ट प्रदेश-स्थिति-अनुभाव की सत्ता वाला जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण नहीं कर सकता है । तथा क्षपकश्रेणी में जो बंध संभव है उतनी परिणामों की विशुद्धि व जघन्य प्रदेश-स्थिति-अनुभाग की सत्ता रह जाने पर भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है ।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुआ मिथ्यादृष्टि जीव **विशुद्धता की वृद्धि कर आगे बढ़ता हुआ** प्रायोग्य लब्धि के प्रथम समय से लगाकर पूर्व स्थिति के संख्यातवें भाग मात्र (बराबर) अंतः कोड़ाकोड़ि सागर प्रमाण (बराबर) आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थितिबंध करता है । उस अंतः कोड़ाकोड़ि सागर (बराबर) स्थितिबंध से पल्य के संख्यातवें भाग मात्र घटता (बराबर कम) स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त तक समानता लिये (एक सी गति से) करता है ।

फिर अंतर्मुहूर्त तक पल्य के संख्यातवें भाग मात्र घटता (बराबर कम) स्थितिबंध समानता लिये करता है। इसी प्रकार क्रम-क्रम से संख्यात स्थितिबंध अपसरण करके पृथक्त्व (७-८) सौ सागर घट जाने पर पहला प्रकृतिबंध अपसरणस्थान होता है। इसी क्रम से पिछले वाले बंध से भी पृथक्त्व सौ सागर घट जाने पर दूसरा प्रकृतिबंध अपसरणस्थान होता है। इस तरह इसी क्रम से इतनी ही स्थितिबंध घटते जाने पर एक-एक प्रकृतिबंध अपसरणस्थान होता जाता है। **इस प्रकार प्रकृति बंध अपसरण के चौंतीस स्थान होते हैं**। यहाँ पृथक्त्व का अर्थ ७-८ है, अत: यहाँ पृथक्त्व सौ सागर कहने से ७ सौ व ८ सौ सागर जानना।

अब यहाँ किन-किन प्रकृतियों को बंधना (व्युच्छेद) रुक जाता है, यहाँ से लगाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व के होने तक बंध नहीं होता - ऐसे चौंतीस बंधापसरण हैं, उन चौंतीस बंधापसरणों का वर्णन करने से कथन बहुत बढ़ जायेगा। जिन्हें विशेष जानने की इच्छा हो वे श्री लब्धिसारजी ग्रन्थ से जान लें। प्रायोग्यलब्धि के विषय में और भी विशेष उसी ग्रन्थ से जानना।

करणलब्धि : पांचवीं करण लब्धि भव्यों के ही होती है, अभव्यों के नहीं होती है। अध: करण १, अपूर्वकरण २, अनिवृत्तिकरण ३, ऐसे तीन करण हैं। **यहाँ करण का अर्थ कषायों की मंदता से होने वाले विशुद्धिरूप आत्म परिणामों से है**। उनमें लघु अंतर्मुहूर्त प्रमाण काल तो अनिवृत्तिकरण का है; उससे संख्यातगुणा काल अपूर्वकरण का है, और उससे संख्यातगुणा काल अध: प्रवृत्तकरण का है; यह सब काल भी अंतर्मुहूर्त प्रमाण ही है क्योंकि इस अंतर्मुहूर्त के भी असंख्यात भेद हैं।

इस अध: प्रवृत्तकरण के काल में अतीत-अनागत-वर्तमान त्रिकालवर्ती अनेक जीवों संबंधी इसी करण के विशुद्धतारूप परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं, वे परिणाम अध:प्रवृत्तकरण के जितने समय हैं उतने में समान वृद्धि लिये प्रति समय बढ़ते रहते हैं। इस करण के नीचे के समय के परिणामों की संख्या और विशुद्धता ऊपर के समयवर्ती किसी दूसरे जीव के परिणामों से समानता लिये होती है (मिलती है) इसीलिये इसका नाम अध: प्रवृत्त करण है। इसके परिणामों की संख्या और विशुद्धता के लिये लौकिक दृष्टांत अलौकिक संदृष्टि गोम्मटसार तथा लब्धिसार में हैं; वहाँ से विशेष जानना। यहाँ इतना बड़ा विस्तार कैसे लिखें, लिखने से ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जायेगा।

अध:प्रवृत्तकरण के परिणामों के प्रभाव से चार आवश्यक होते हैं - एक-तो प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धता की वृद्धि होती है; दूसरा-स्थितिबंध अपसरण होता है; पहले जितनी स्थिति लिये कर्मों का स्थितिबंध होता था उससे घटता-घटता स्थितिबंध करता है; तीसरा-सातावेदनीय से लगाकर प्रशस्त कर्म प्रकृतियों का प्रतिसमय अनंतगुणा बढ़ता हुआ गुड़, खाण्ड, शर्करा, अमृत के समान चार प्रकार का अनुभाग बंध होता है; और चौथा - असातावेदनीय आदि अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों का प्रतिसमय अनंतगुणा घटता हुआ निंब, कांजीर के समान दो प्रकार का अनुभाग बंध होता है; विष, हालाहलरूप नहीं होता है।

इस प्रकार अध:प्रवृत्तकरण के परिणामों से चार आवश्यक होते हैं । अध:प्रवृत्तकरण का काल अंतर्मुहूर्त बीत जाने पर अपूर्वकरण होता है । अध:प्रवृत्तकरण के परिणामों से अपूर्वकरण के परिणाम संख्यातलोक गुणे हैं, सो वे अनेक (नाना) जीवों की अपेक्षा कहे हैं । एक जीव की अपेक्षा एक समय में एक ही परिणाम होता है । एक जीव की अपेक्षा तो जितने समय अपूर्वकरण के अंतर्मुहूर्त के काल के हैं उतने परिणाम हैं । इसी प्रकार अध:प्रवृत्तकरण के भी एक जीव के एक समय में एक परिणाम होता है । नाना (अनेक) जीवों की अपेक्षा एक समय के योग्य असंख्यात परिणाम हैं ।

वे अपूर्वकरण के परिणाम भी प्रति समय समान वृद्धि सहित बढ़ते रहते हैं । इस अपूर्वकरण के परिणाम नीचे के समयवर्ती परिणामों के समान नहीं होते हैं । प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धता से द्वितीय समय की जघन्य विशुद्धता भी अनंत गुणी होती है । यह इस प्रकार का परिणामों का अपूर्वपना है । इसीलिये इस दूसरे करण का नाम अपूर्वकरण है ।

अपूर्वकरण के प्रथम समय से लगाकर अंतिम समय तक अपने जघन्य से अपना उत्कृष्ट तथा पिछले समय के उत्कृष्ट से अगले समय का जघन्य परिणाम क्रम-क्रम से अनंतगुणी विशुद्धता लिये सर्प की चाल के समान जानना । यहाँ अनुकृष्टि नहीं होती है । अपूर्वकरण के पहले समय से लगाकर जब तक समयक्त्वमोहनीय-मिश्रमोहनीय का पूर्णकाल जिसमें गुण संक्रमण करके मिथ्यात्व को सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीयरूप परिणमा लेती है उस काल के अंतिम समय तक गुणश्रेणी निर्जरा १, गुणसंक्रमण २, स्थितिखण्डन ३, अनुभागखण्डन ४, ये चार आवश्यक होते हैं ।

अध:करण के प्रथम समय से लगाकर उस गुणसंक्रमण के पूर्ण होने के काल तक स्थितिबंध-अपसरण होता है । यद्यपि प्रायोग्यलब्धि से ही स्थितिबंध-अपसरण प्रारंभ हो जाता है तथापि प्रायोग्य लब्धि वाले जीव को सम्यक्त्व होने का अनवस्थितिपना है, नियम नहीं है । इसलिये उस स्थितिबंध-अपसरण को गिनती में नहीं लिया (महत्त्व नहीं दिया) है । स्थितिबंध-अपसरण का काल और स्थिति काण्डकोत्करण का काल, ये दोनों समान ही अन्तर्मुहूर्त मात्र के हैं ।

पहले जो बांधा था वह सत्ता में कर्म परमाणुओंरूप द्रव्य, उसमें से निकालकर जो द्रव्य गुणश्रेणी में दिया उससे गुणश्रेणी के काल में प्रतिसमय असंख्यातगुणी क्रम से पंक्तिबद्ध जो निर्जरा होती है, उसे गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं । १ ।

प्रति समय गुणाकार का अनुक्रम से विवक्षित प्रकृति के परमाणुओं का पलट कर अन्य प्रकृति रूप हो जाना, वह गुणसंक्रमण है । २ ।

पहले बांधी हुई उन सत्ता मे रहने वाली कर्म प्रकृतियों की स्थिती का घटाना वह स्थिति खण्डन है । ३ ।

पहले बांधी हुई उन सत्ता मे रहने वाली अशुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभाग का घटाना वह अनुभाग खण्डन है । ४ ।

इस प्रकार ये चार कार्य अपूर्वकरण में अवश्य होते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय संबंधी प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियों का जो अनुभाग सत्व है उससे अपूर्वकरण के अंतिम समय में उसके प्रशस्त प्रकृतियों का अनन्तगुणा बढ़ता व अप्रशस्त प्रकृतियों का अनन्तगुणा घटता अनुभाग सत्व होता है। यहाँ प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता होने से प्रशस्त प्रकृतियों का अनंतगुणा तथा अनुभाग काण्डक के माहात्म्य के कारण अप्रशस्त प्रकृतियों का अनन्तवांभाग अनुभाग अंत के समय में होना संभव है।

इन स्थितिखण्डन आदि होने का विधान का कथन बहुत विस्तार से लब्धिसार ग्रन्थ से जानना। यहाँ तो प्रकरणवश संक्षेप में ही लिखा है। अपूर्वकरण में कहे गये स्थिति खण्डन आदि विशेषकार्य यहाँ अनिवृत्तिकरण में भी होते हैं।

विशेष इतना जानना – यहाँ समान समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम समान ही होते हैं, क्योंकि जितने अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त के समय हैं उतने ही अनिवृत्तिकरण के परिणाम हैं। इसलिये प्रति समय एक ही परिणाम होता है। यहाँ जो स्थितिखण्डन व अनुभागखण्डन आदि का प्रारंभ है वह किसी दूसरे अनुपात (प्रमाण) अनुसार ही होता है। अपूर्वकरण संबंधी स्थितिखण्डन आदि तो अपूर्वकरण के अंतिम समय में ही समाप्त हो गये थे। यहाँ पर अंतरकरण विधि भी कही है जो श्री लब्धिसार जी ग्रन्थ से जानना। २।

उपशम सम्यक्त्व : यहाँ यह कहना चाहते हैं कि अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में दर्शन मोहनीय तथा अनंतानुबंधीचतुष्क प्रकृतियों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग का सब प्रकार से उदय होने की अयोग्यतारूप उपशम होने से तत्वार्थों के श्रद्धानरूप (निश्चय) सम्यग्दर्शन को पाकर औपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है। वहाँ प्रथम समय में ही द्वितीय अवस्था में रहता हुआ मिथ्यात्व के द्रव्य को स्थितिकाण्डक अनुभागकाण्डक घात बिना ही गुणसंक्रमण का भाग मिलाकर मिथ्यात्व के द्रव्य के तीन भाग-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय कर देता है।

भावार्थ :– अनादिकाल का दर्शनमोहनीय कर्म एकरूप था उसका द्रव्य करणों के प्रभाव से तीन प्रकार शक्ति रूप अलग-अलग हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व होने का कारण पाँच लब्धियों का स्वरूप संक्षेप में कहा है।

क्षयोपशम (वेदक) सम्यक्त्व : इस उपशम सम्यक्त्व के रहने का जघन्य (कम से कम) काल तथा उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) काल अंतर्मुहूर्त तक ही है। अंतर्मुहूर्त पूरा होने के बाद नियम से दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में से किसी भी एक का उदय हो जाता है।

यदि सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति का उदय आ गया तो उपशम सम्यक्त्व से छूटकर (पलटकर) वेदक सम्यक्त्व हो जाता है। तब सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वों का चल-मल-अगाढ़ दोषों सहित श्रद्धान करता है। यहाँ श्रद्धान में चलपना का अर्थ है श्रद्धान में शिथिलता आ जाना, तथा मल दोष का अर्थ है अतिचार सहित होना। इस वेदक सम्यक्त्व को ही क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

दर्शनमोहनीय के सर्वघाति स्पर्द्धकों के निषेकों के उदय का अभाव वह है क्षय, तथा देशघाति स्पर्द्धकरूप सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर भी उसी सम्यक्त्वमोहनीय ही के वर्तमान समय संबंधी निषेकों के सिवाय अन्य जो ऊपर के निषेक अभी उदय को प्राप्त नहीं हुए, वे मात्र सत्ता में अवस्थित हैं उसे कहा है उपशम, ऐसी कर्मों की क्षय और उपशमरूप अवस्था होने से क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। इसी को सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का वेदन-अनुभवन होने से **वेदक सम्यक्त्व** कहते हैं।

यदि उपशम सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त समय पूरा होने के बाद सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ गया तो मिश्र गुणस्थान में आ जाता है, उस जीव को तत्त्व-अतत्त्व दोनों का मिला हुआ (मिश्र) श्रद्धान होता है।

यदि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ गया तो मिथ्यादृष्टि -विपरीत श्रद्धानी हो जाता है। जैसे-ज्वर से पीड़ित पुरुष को मिष्ट भोजन नहीं रुचता है उसी प्रकार इसको अनेकान्तरूप वस्तु का सच्चा स्वरूप, तत्त्वों का सच्चा स्वरूप, रत्नत्रयरूप मोक्ष का मार्ग नहीं रूचता है, दशलक्षण रूप धर्म, स्वपर की दयारूप धर्म नहीं रुचता है।

यदि उपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त के काल में से कम से कम एक समय तथा अधिक से अधिक छह आवली अवशेष रहने पर अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी भी एक का उदय हो जाये तो सम्यक्त्व से छूटकर वह जीव सासादन गुणस्थान में आ जाता है; यहाँ पर वह एक समय से लगाकर छह आवली तक रहकर नियम से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस प्रकार उपशम सम्यक्त्व का अंतर्मुहूर्तकाल पूर्ण होने के पश्चात् चार मार्ग हैं। यदि सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो जाये तो क्षयोपशम सम्यक्त्वी हो जाता है; यदि मिश्र प्रकृति का उदय हो जाये तो मिश्रगुणस्थानी हो जाता है; यदि मिथ्यात्व का उदय हो जाये तो नियम से मिथ्यादृष्टि हो जाता है; और यदि चार अनंतानुबंधी कषायों में से किसी भी एक का उदय हो जाये तो सासादन गुणस्थान में आकर फिर मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्व : अब क्षायिक सम्यक्त्व होने का संक्षेप में कथन करते हैं- दर्शनमोह के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। दर्शनमोहनीय का क्षय कराने का प्रारंभ कर्मभूमि का मनुष्य ही करता है, भोगभूमि का मनुष्य नहीं कर सकता है; सभी देव-नारकी-तिर्यंचों के भी क्षायिक सम्यक्त्व का आरंभ नहीं होता है। कर्मभूमि का मनुष्य ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारंभ करता है; वह भी केवली, श्रुतकेवली व तीर्थंकर केवली के पादमूल के निकट बैठकर ही करता है। दर्शनमोह के क्षय करनेयोग्य विशुद्धता केवली के निकट बैठे बिना नहीं होती है।

यहाँ अधःकरण के प्रथम समय से लगाकर जब तक मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय के द्रव्य को सम्यक्त्व प्रकृतिरूप परिणमित कराता है तब तक अंतर्मुहूर्त काल पर्यन्त दर्शनमोहनीय की क्षपणा का आरंभ काल कहा है। उस आरंभ काल के अनंतरवर्ती समय से लगाकर क्षायिक सम्यक्त्व के ग्रहण के प्रथम समय में पहले निष्ठापक होता है। जहाँ क्षपणा प्रारंभ की थी कर्मभूमि का मनुष्य

वहीं निष्ठापक होता है; तथा सौधर्म आदि स्वर्गों में कल्पातीत अहमिन्द्रों में, भोगभूमि के मनुष्य तिर्यंचों में, धम्मा नामक प्रथम नरक में भी निष्ठापक हो जाता है; क्योंकि जिसे पहले आयुबंध हो चुकी है ऐसा कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि है; मरकर चारों गतियों में उत्पन्न होकर कहीं भी क्षपणा पूरी कर लेता है ।

अब अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व इन सात की **क्षपणा कैसे करता है, वह कहते हैं** – कोई मनुष्य वेदक सम्यग्दृष्टि होकर असंयत, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त इन चार गुणस्थानों में से किसी में भी रहता हुआ पहले कहे तीन करण की विधि करके अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया लोभ के उदयावलि में रहनेवाले निषेकों को छोड़कर और उदयावलि के बाहर के रहे हुए समस्त निषेकों की विसंयोजना करके अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में अनंतानुबंधी के समस्य द्रव्य को बारह कषाय और नौ नोकषारूप परिणमित कराता है - **यह अनन्तानुबंधी की विसंयोजना है ।**

इस विसंयोजना में भी गुणश्रेणी निर्जरा और स्थितिकांडकघात आदि बहुत विधि हैं । अनंतानुबंधी की विसंयोजना करने के बाद अंतर्मुहूर्त काल विश्राम करके कोई क्रिया नहीं की, उसके पश्चात् पुनः तीनों करण करके अनिवृत्तिकरण के काल में मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय को क्रम से नष्ट करता है । इन करणों की सामर्थ्य से जिस-जिस कर्म की स्थिति अनुभाग का घात होने का विधान है वह श्री लब्धिसारजी से जानना । इस प्रकार सात प्रकृतियों का नाश करके क्षायिक सम्यक्त्वी होता है । यहाँ तीनों प्रकार का सम्यक्त्व होने का यह संक्षेप में वर्णन किया है ।

सम्यग्दृष्टि के अष्टगुण : सम्यग्दृष्टि के आठ अन्य गुण भी प्रकट होते हैं जिनसे उसका स्वयं का तथा दूसरे का सम्यक्त्व जान लिया जाता है । संवेग १, निर्वेद २, आत्म निन्दा ३, गर्हा ४, उपशम ५, भक्ति ६, वात्सल्य ७, अनुकम्पा ८ - ये आठ गुण जिसमें होते हैं उसे सम्यग्दर्शन (होता) है, ऐसा जानना ।

सम्यग्दृष्टि को **संवेग** अर्थात् धर्म से अनुराग होता ही है । संसारी मिथ्यादृष्टि का अनुराग तो शरीर ही से हो रहा है क्योंकि वह चाहता है कि शरीर उज्ज्वल रहे, बलवान रहे, पुष्ट रहे । शरीर से ममत्व होने के कारण ही वह अभक्ष्य भक्षण करके सुख मानता है, अन्याय सहित शृंगार आदि द्वारा शरीर को भूषित करके प्रसन्न होता है, पापियों से संबंध रखने में आनंद मानता है, विकथा में अच्छा मन लगता है । स्त्री, पुत्र, धन, सम्पदा में, नगर, देश, राज्य, ऐश्वर्य से अनुराग करता है । सम्यग्दृष्टि की शरीर आदि में आत्मबुद्धि नहीं होती है अतः दशलक्षणधर्म ही में अनुराग करता है। सम्यग्दृष्टि का अनुराग तो धर्मात्मा पुरुषों में, धर्म की कथा में, धर्म के आयतन में होता है । ऐसा संवेग गुण सम्यग्दृष्टि में होता ही है । १ ।

सम्यग्दृष्टि के पंचपरावर्तनरूप संसार से, कृतघ्न शरीर से, दुर्गति में ले जानेवाले भोगों से विरक्तता नियम से होती ही है । यह दूसरा **निर्वेद** गुण सम्यग्दृष्टि के प्रकट होता ही है । २ ।

अपने प्रमाद से, असंयमभाव से, सांसारिक पापमय प्रवृत्ति से परिणामों में निरन्तर अपनी निन्दा विचारता रहता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्य भव का एक क्षण भी धर्म के आश्रय बिना जाता है वह बड़ा अनर्थ है। इस प्रकार अपने परिणामों में अपने दोषोंसहित प्रवर्तने को विचारकर अपने मन में अपनी निंदा करना वह तीसरा **आत्मनिन्दा** नाम का गुण है। ३।

जो अपना गुरू हो, विशेष बहुज्ञानी हो, साधर्मी हो उसके पास जाकर विनय सहित अपने निंद्य दोष आदि प्रकट करना, यह सम्यग्दृष्टि का चौथा **गर्हा** नाम का गुण है। ४।

सम्यग्दृष्टि के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की मंदता ही होती है। राग, द्वेष, काम, उन्माद, बैर आदि को सम्यग्दृष्टि अपना घातक जानता है अतः ये सब मंद ही करता है, यही पांचवाँ **उपशम** गुण है। ५।

सम्यग्दृष्टि को पंचपरमेष्ठी में, जिनवाणी में, जिनेन्द्र प्रतिबिंब में, दशलक्षण धर्म में, धर्म के धारी धर्मात्माओं में, तपस्वियों में उनके अनेक गुण स्मरण करके गुणों के अनुराग करना वह सम्यग्दृष्टि में **भक्ति** नाम का छटवाँ गुण होता ही है। ६।

सम्यग्दृष्टि को धर्मात्माओं में प्रेम होता ही है। जैसे दरिद्री को धन का निधान देखकर आनंद होता है उसी प्रकार धर्मात्मा, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी को देखकर, धर्म के व्याख्यान को सुनकर सम्यग्दृष्टि के अत्यन्त आनन्द प्रकट होना वह **वात्सल्य** नाम का सातवाँ गुण है। ७।

सम्यग्दृष्टि को छह काय के जीवों के प्रति दया प्रकट होती ही है। दूसरे जीवों का दुख देखकर अपने परिणाम कंपित हो जाने से स्वयं ही दुःखी हो जाना, तथा दूसरे जीवों का दुःख दूर करने का परिणाम होना वह सम्यग्दृष्टि के आठवाँ **अनुकम्पा** नाम का गुण है। ८।

इसी प्रकार और भी अनेक गुण सम्यग्दृष्टि के स्वयमेव प्रकट होते हैं क्योंकि जिसे सच्चा श्रद्धानज्ञान प्रकट हो गया उसका सम्पूर्ण बाह्य-आभ्यन्तर गुणरूप होकर ही परिणमता है।

अब जो जीव सम्यग्दर्शन सहित हैं उन्हीं के महानपना है, ऐसा कहने वाला श्लोक कहते हैं-

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवादेवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

अर्थ :– सम्यग्दर्शन सहित, चांडाली के शरीर से उत्पन्न हुआ जो चांडाल है उसे भी गणधरदेव देव कहते हैं, जैसे भस्म से दबे हुए अंगार को अग्नि ही कहते हैं।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन सहित चांडाल को भी भगवान गणधरदेव ने देव कहा है। यह हाड़मांस मय शरीर चांडाल से उत्पन्न हुआ है इसलिये शरीर चांडाल है; परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है ऐसा आत्मा तो दिव्य गुणों से शोभित होता है और उसके शरीर को भी उत्तम गुणों के प्रभाव से देव कहा है। जैसे राख से ढका अंगारा है, उसके भीतर उष्मता लिये अग्नि ही होती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी मलिन देह के भीतर आत्मीक गुणों से शोभित रहता है। इसी कारण श्री स्वामी समन्तभद्र

आचार्य जी कहते हैं - सम्यग्दृष्टि की महिमा हम अपनी तरफ से नहीं कह रहे हैं, जिनेन्द्र भगवान के द्वादशांगरूप आगम में गणधरदेव ने सम्यग्दृष्टि चांडाल को भी देव कहा है ।

यह शरीर तो महामलिन मलमूत्र का भरा, हाड़-मांस-चाममय, जिसके नव द्वारों से निरंतर दुर्गन्धित मल झरता रहता है; ऐसा अपवित्र मलिन भी साधुओं का शरीर रत्नत्रय के प्रभाव से इन्द्रादि देवों के दर्शन करने योग्य, स्तवन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य हो जाता है । गुणों के बिना चमड़े के, कफ-मल-मूत्र से भरे मलिन शरीर की कौन वंदना करे, पूजे, अवलोकन करे ? यह शरीर तो सम्यग्दर्शन ही से वन्दन-पूजन योग्य होता है ।

अब धर्म-अधर्म (पुण्य और पाप) का फल प्रकट करनेवाला श्लोक कहते हैं -

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणाम् ।।२९।।

अर्थ :- धर्म (पुण्य) के प्रभाव से कुत्ता भी स्वर्ग में जाकर देवों में उत्पन्न हो जाता है, और पाप के प्रभाव से स्वर्गलोक का महान ऋद्धिधारी देव भी यहाँ आकर कुत्ते के रूप में उत्पन्न हो जाता है । प्राणियों को, वचनों से जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है ऐसी अहमिंद्रों की सम्पदा तथा अविनाशी मुक्ति संपदा धर्म के प्रभाव से प्राप्त हो जाती है ।

भावार्थः- मिथ्यात्व के प्रभाव से दूसरे स्वर्ग तक का देव एकइंद्रियों में आकर उत्पन्न हो जाता है, तथा अनन्तानन्त काल तक त्रस-स्थावरों में ही परिभ्रमण करता फिरता है । बारहवें स्वर्ग तक का देव मिथ्यात्व के प्रभाव से पंचेंद्रिय तिर्यंच में आकर उत्पन्न हो जाता है । इसलिये **मिथ्यात्व भाव महा अनर्थकारी जानकर सम्यक्त्व का ही प्रयत्न करना योग्य है ।**

अब कुदेवादि सम्यग्दृष्टि के वंदन योग्य नहीं हैं ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रमाणं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ।।३०।।

अर्थ :- जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं वे भय से, आशा से, स्नेह से, लोभ से, कुदेव, कुआगम और कुलिंगधारी को प्रणाम नहीं करते हैं, विनय नहीं करते हैं । जो काम, क्रोध, भय, इच्छा, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मद, मोह, निद्रा, हर्ष, विषाद, जन्म, मरण आदि दोषों सहित हैं वे सब कुदेव हैं। उनका फैलाव इस जगत में पंचमकाल के प्रभाव से बहुत है । अकेले एक सर्वज्ञ अन्तराग के सिवाय शेष सब कुदेव हैं ।

हिंसा के पोषक, रागी-द्वेषी-मोही जीवों द्वारा प्रकाशित, पूर्वा-पर दोष सहित, विषय-कषाय-आरम्भ के पुष्ट करनेवाले, प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण से दूषित ऐसे शास्त्र कुआगम हैं ।

हिंसादि पांच पापों के त्यागी, आरंभ परिग्रह रहित, देह के संबंध में निर्मम, उत्तमक्षमादि दशधर्म के धारी, दोष टालकर अयाचक वृत्ति सहित दीनता रहित निर्जन स्थान में बसनेवाले, ध्यान-अध्ययन

में निरंतर प्रवर्तनेवाले, पांच इंद्रियों के विषयों के त्यागी, छह काय के जीवों की विराधना के त्यागी; एक बार मौन से पर का दिया रस-नीरस आपके निमित्त नहीं बनाया गया भोजन, रत्नत्रय का सहायक, काय की रक्षा के निमित्त ग्रहण करनेवाले ऐसे नग्न मुनिराज का भेष, एक वस्त्र के धारक ऐलक व कौपीन के धारक क्षुल्लक का भेष, तथा एक वस्त्र की धारी अर्जिका का भेष इन तीन के सिवाय जो अन्य अनेक भेष धारण करते हैं वे सभी कुलिंगी हैं ।

एक मुनि का भेष तथा लंगोटी धारी ऐलक-कौपीन धारी क्षुल्लक तथा एक वस्त्र की धारण करनेवाली अर्जिका - इन तीन भेषों के सिवाय समस्त भेषधारियों को सम्यग्दृष्टि विनय नमस्कार नहीं करता है । ऐसे कुदेव, कुशास्त्र और कुलिंगधारियों को भय, आशा, स्नेह, लोभ से सम्यग्दृष्टि नमस्कार नहीं करता, विनय नहीं करता है ।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि कुदेवों को भय से नमस्कार नहीं करता है । ये देव है, राजादि हजारों मनुष्य इसे पूजते हैं, यदि मैं इसे नमस्कार नहीं करूँगा तो यह देव क्रोध करके मेरा बिगाड़ कर देगा, सम्पत्ति हरण कर लेगा, स्त्री-पुत्रादि का नाश कर देगा, इसी के द्वेष के कारण मुझे रोग हुआ है, दुखी कर रखा है, द्वेष करके अब मेरा और नुकसान करेगा, रोगी बना देगा । इस क्षेत्र में सभी लोग इसे पूजते हैं, हमारे कुल में बड़े पिता, पिता के पिता, माता, भाई, बन्धु पूजते आये हैं; अब यदि मैं इसकी पूजा-वंदना छोड़ दूंगा तो मेरा घरवार तो अनेक पुत्र-पौत्रादि लक्ष्मी से भरा है कहीं किसी का मरण, धन-हानि, रोगादि हो जायेगा तो मुझ पर आरोप आवेगा और मुझ पर बड़ा भारी दुःख आ पड़ेगा जो बड़ा अनर्थ होगा ।

सारा जगत भी ऐसा कहता है – पहले इस देवता को नहीं माननेवालों को इस देवता ने अंधा कर दिया था, इसकी पूजा करनेवालों के, वोलारी बोलनेवालों के, सत्कार करनेवाले अनेक लोगों के रोग इस देवता ने दूर कर दिये थे । ये जगन्नाथ स्वामी हैं, इनकी नगरी में (पुरी में) नाई, धोबी, मीना, खटीक, चमार परस्पर शामिल-इकट्ठे होकर जूठा भोजन करते हैं; जो इसकी अवज्ञा करता है उसे कोढ़ निकाल देते हैं - ऐसा भय दिखाते हैं ।

इसने अपने पूजनेवाले अंधों को आंखें दी हैं, सम्पत्ति दी है । जो इसकी निन्दा करता था उसकी संपत्ति नष्ट हो गई है । पहले इस, शनीचर देव ने क्रोध करके राजा विक्रमादित्य को चोर बना दिया था । इसी प्रकार अनेक भेषधारी देव, देवी, भैरव, क्षेत्रपाल, हनुमान, दुर्गा, गनेश, चंडी, सूर्य, ग्रह, योगिनी, यक्ष इत्यादि का भय देखकर सम्यग्दृष्टि इन्हें नमस्कार विनय आदि नहीं करता है ।

ये देवता कुछ संपत्ति, पुत्र, आजीविका, धन, राज्य आदि दे देगा ऐसी आशा करके भी वंदना नहीं करता है ।

हमसे इस देवता का स्नेह है, हम पर यदि दुख आ जाय तो हमारा रक्षक तो यही देवता है- ऐसे स्नेह से भी वंदना नहीं करता है; लोभ से भी सत्कार-वंदना नहीं करता है । मैंने तो जिस दिन से इस देवता की आराधना प्रारंभ की है उसी दिन से लाभ हो रहा है, उच्चता है - ऐसा लाभ का कारण मानकर कुदेवों की आराधना नहीं करता है ।

राजा के भय से, माता-पिता के भय से, कुटुम्ब के भय से तथा लोकलाज के भय से कुदेवों की वंदना नहीं करता है ।

इसी प्रकार जो शास्त्र राग, द्वेष, हिंसा का पोषण करनेवाले हैं, शृंगार कथा, युद्ध कथा, स्त्री कथा आदि विकथा कहनेवाले; वस्तु का एकांतरूप कथन करनेवाले; यज्ञ, होम, मंत्र, तंत्र, यंत्र, वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि महाहिंसा के आरंभ के कहने वाले; कुदेव कुधर्म की आराधना करनेवाले-करानेवाले, संसार में उलझानेवाले शास्त्रों को सम्यग्दृष्टि वंदना-सत्कार नहीं करता है । उनके कथन की, रचना की प्रशंसा नहीं करता है; संसार में उलझानेवाले शास्त्र का व्याख्यान आदि कर विख्यात नहीं करता; भय, आशा, स्नेह, लोभ से खोटे आगम की प्रसिद्धि नहीं करता है ।

मैं, मेरे, पिता, दादा आदि ने इन शास्त्रों से बहुत द्रव्य कमाया है, आगे भी मैं इन शास्त्रों से बहुत धन कमाऊँगा, मैं अपनी प्रतिष्टा बढ़ाऊँगा, जगत के मान्य हो जाऊँगा, राजादि को अपना सेवक बना लूँगा - ऐसे लोभ से सम्यग्दृष्टि कुशास्त्रों का सेवन नहीं करता है ।

यदि मैं इन शास्त्रों का सेवन नहीं करूँगा तो मेरी आजीविका नष्ट हो जायेगी, लोक में मेरी मान्यता घट जायेगी, पूज्यता घट जायेगी ऐसे भय से कुशास्त्रों का सेवन नहीं करता है ।

इस शास्त्र के पढ़ने में बड़ा रस है, मन प्रसन्न हो जाता है, बड़ी रसीली कथा है तथा लोगों को प्रसन्न करनेवाला है ऐसे स्नेह से भी सम्यग्दृष्टि कुशास्त्रों की आराधना नहीं करता है ।

किसी प्रकार की आशा से भी सम्यग्दृष्टि कुशास्त्रों का सेवन नहीं करता है । इस शास्त्र को पढ़ने से देवता वश में हो जायेगा, विद्या सिद्ध हो जायेगी, इत्यादि इसलोक सम्बन्धी आशा से भी कुशास्त्रों की प्रशंसा-वंदना नहीं करता है ।

सम्यग्दृष्टि भय, आशा, स्नेह, लोभ से कुलिंगी साधुओं की भी वन्दना, प्रणाम, प्रशंसा नहीं करता है । यह ऊँचा तपस्वी है, बहुत ज्ञानी है, राज्य मान्यता है, लोक में बड़ा आदर है, इसमें दृष्टि-मुष्टि-मारण-उच्चाटन आदि अनेक शक्तियाँ हैं, कभी मेरा कुछ बिगाड़ न कर दे ऐसे भय से प्रणाम आदि नहीं करता है ।

यह बड़ा करामाती है, विद्यावान है, इससे कोई विद्या सीखनी है, ये राजमान्य है, इससे अभी अपना काम निकालना है ऐसे लोभ से भी सम्यग्दृष्टि पाखंडी साधुओं को वंदना, नमस्कार नहीं करता है । इस वेषधारी ने मुझे रसायन देने को कह रखा है, इससे मुझे अभी एक औषधि बनाना सीखना है, व्याकरण-न्याय-ज्योतिष विद्या अभी इससे सीखना है इसलिये अभी इसकी सेवा करना है; इत्यादि आशा, लोभ से पाखण्डी, विषयी, आरम्भी, परिग्रहधारी को सम्यग्दृष्टि नमस्कार नहीं करता है, प्रशंसा नहीं करता है, उसे सत्यवादी नहीं कहता है, उसे धर्मरूप नहीं मानता है ।

अब यहां कोई प्रश्न करता है – यदि कोई बलवान व्यक्ति जबरदस्ती नमस्कार करावे, और यदि नहीं करे तो बड़ा उपद्रव हो जावे, तब क्या करना चाहिये ?

इसका उत्तर कहते हैं – दूसरे के द्वारा बलजोरी से जबरदस्ती से नमस्कार करा लेने से श्रद्धान नहीं बिगड़ जाता है, क्योंकि देवता आदि के भय से, आशा, से, स्नेह से, लोभ से नमस्कार करता है तो श्रद्धान बिगड़ जाता है। जबरदस्ती से तो यदि दुष्ट-म्लेच्छ आदि व्रती के मुख में अभक्ष्य रख दें तो भी व्रत नहीं बिगड़ता है। अन्यमतों के ग्रन्थों में-शब्दों में-वाक्यों में कुदेवों को नमस्कार लिखा है, कुदेवों की स्तुति लिखी है तो उन ग्रन्थों के पढ़नेमात्र से कुदेवों को नमस्कार स्तुति नहीं हो जायेगी।

सम्यग्दर्शन तो आत्मा का भाव है। यदि अपने भावों में उन कुदेवादि को वंदन योग्य मानकर तथा अपने को उनका वंदन करनेवाला मानकर नमस्कार-स्तवन-वंदना करता है; तथा उनसे अपने भला होना जानता है तो उसके सम्यक्त्व का अभाव है।

इस काल में म्लेच्छ-मुसलमान ही राजा हैं; जब वे कुछ पूंछते हैं और आप उनसे कुछ कहना चाहते हैं तो हाथ जोड़कर ही कुछ कहा जाता है। इसमें अपना श्रद्धान-ज्ञान नष्ट नहीं होता है। चारित्रधारी त्यागी-साधुजन हैं वे कभी हाथ भी नहीं जोड़ते तथा उनके शरीर के खण्ड-खण्ड भी कर दें तो भी धर्म कार्य के बिना कुछ भी नहीं बोलते। त्यागियों से दुष्ट मनुष्य-म्लेच्छ राजादि महापापी भी प्रणाम नहीं कराना चाहते हैं। इसलिये संयमी तो राजा को, चक्रवर्ती को, माता को, पिता को, विद्यागुरू को भी नमस्कार नहीं करते हैं, ये द्विजन्मा हैं।

अव्रत-सम्यग्दृष्टि भी अपने वश से कुदेव, कुगुरु, कुधर्म को नमस्कार नहीं करता है; अन्य व्यवहारीजनों की यथायोग्य विनय-सत्कार आदि करता है। दूसरे की जबरदस्ती किये जाने पर देश छोड़ देता है, आजीविका छोड़ देता है, धन का त्याग कर देता है परन्तु कुधर्म का सेवन, कुदेव आदि की आराधना नहीं करता है।

अब रत्नत्रय में भी **सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता** दिखानेवाला श्लोक कहते हैं -

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३१॥

अर्थ :– ज्ञान और चारित्र से सम्यग्दर्शन अधिक उच्च अर्थात् साधिमान-सर्वोत्कृष्ट है, ऐसा जानकर उसे प्राप्त करने का पुरूषार्थ करना चाहिये। इसी कारण से मोक्ष के मार्ग में सम्यग्दर्शन को कर्णधार कहा है। जैसे समुद्र में जहाज को खेवटिया पार करता है उसी प्रकार अपार संसारसमुद्र में रत्नत्रयरूप जहाज को पार करने में सम्यग्दर्शन खेवटिया है।

भावार्थ :– रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही अति उत्कृष्ट है।

अब सम्यदर्शन के उत्कृष्टपने का हेतु कहने को श्लोक कहते हैं -

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदया: ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

अर्थ :– जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय सम्यक्त्व के अभाव में नहीं होता है।

भावार्थ :– यदि बीज ही नहीं हो तो वृक्ष कैसे उत्पन्न होगा ? और यदि वृक्ष ही नहीं पैदा हुआ तो स्थिति किसकी होगी ? वृद्धि किसकी होगी ? फल कहाँ लगेंगे ? यदि सम्यक्त्व नहीं हो तो ज्ञान-चारित्र भी नहीं होंगे । **सम्यक्त्व के बिना ज्ञान कुज्ञान है और चारित्र कुचारित्र है ।** सम्यक्त्व के बिना जब ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं होगी तो स्थिति कहाँ से होगी, और ज्ञान-चारित्र की वृद्धि कैसे होगी, तथा ज्ञान-चारित्र का फल जो सर्वज्ञ परमात्मारूप होना है, वह कैसे हो सकेगा? इसलिये सम्यक्त्व के बिना सच्चे श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र कभी भी नहीं हो सकेंगे, यही कथन भगवान गुणभद्र आचार्य महाराज ने आत्मानुशासन में किया है -

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

अर्थ :– शम अर्थात् कषायों की मंदता होना, बोध अर्थात् अनेक शास्त्रों का प्रबल ज्ञान होना, व्रत अर्थात् तेरह प्रकार दुर्द्धर चारित्र का पालना, कायरों से नहीं बन सके ऐसा बारह प्रकार का घोर तप - ये चारों ही पुरुष को बड़े भारी हैं, पुरुष को इनका बड़ा भारीपना पत्थर के भारीपने के समान है । ये चारों ही शमभाव-ज्ञान-चारित्र-तप यदि सम्यक्त्व सहित हों तो महान मणि जो चिन्तामणि है, उसके समान पूज्य हो जाते हैं ।

भावार्थ :– जगत में अनेक प्रकार का पत्थर भी है, और मणि भी हैं । मणि भी पत्थर ही है, और सामान्य रेतीला-झाझड़ा पत्थर भी पत्थर ही है । परन्तु कांति-चमक से उनमें बड़ा भेद है; दोनों पत्थर होने पर भी पत्थर-पत्थर समान नहीं हैं । झाझड़ा-रेतीला पत्थर तीन मन भी बेच दो तो एक पैसा प्राप्त हो; और यदि मणि-पद्मरागमणि - वज्रमणि (माणिक और हीरा) रत्ती-मासा भी हाथ में आ जाये तो लाखों रुपया प्राप्ता हो जाये; अपने पुत्र-पौत्रों तक (तीन पीढ़ी) का दारिद्र दूर हो जाये । उसी प्रकार **सम्यक्त्व सहित अल्प भी शमभाव, अल्प भी ज्ञान, अल्प भी चारित्र, अल्प भी तप भाव इस जीव को कल्पवासी इन्द्र आदि में उत्पन्न कराके फिर जन्म-मरण के दुःखों से रहित परमात्मा बना देता है ।**

सम्यक्त्व बिना बहुत अधिक भी शमभाव, ग्यारह अंग तक का बहुत ज्ञानाभ्यास भी, बहुत उज्ज्वल चारित्र भी, घोररूप किया हुआ तप भी यदि कषायों की मंदता सहित हो तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में तथा अल्पऋद्धिधारी कल्पवासी देवों में उत्पन्न कराकर पुनः चतुर्गतिरूप संसार में भी भ्रमण कराते हैं । इसलिये सम्यक्त्व सहित ही शम, बोध, चारित्र व तप धारण करने से जीव का कल्याण होता है ।

मोही मुनि से निर्मोही श्रावक की श्रेष्ठता – अब यहाँ कोई शंका करता है - जिसे सम्यक्त्व नहीं है किन्तु चारित्र, तप आदि ग्रहण किये हैं ऐसा मुनि, उस गृहस्थ से जो आरंभ आदि में लीन है, तो उत्तम होगा ? उसे उत्तर देनेवाला श्लोक कहते हैं :-

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुनेः ॥३३॥

अर्थ :– जिसे दर्शनमोह नहीं ऐसा गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है; तथा मोही अनगार अर्थात् मोह सहित गृहरहित मुनि मोक्षमार्गी नहीं है । इसी कारण से मोहवान मुनि से निर्मोही–दर्शनमोह रहित गृहस्थ श्रेयान् अर्थात् उत्कृष्ट है ।

भावार्थ :– **जिसके मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं है ऐसा अव्रत–सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है; वह सात–आठ भव देव–मनुष्यों के ग्रहण करके नियम से मोक्ष ही जायेगा ।** जिसके मिथ्यात्व है, वह मुनि के व्रत धारण करके साधु भी हो गया हो तो भी मरण करके भवनत्रिक आदि में उत्पन्न होकर संसार में ही परिभ्रमण करेगा ।

दर्शनपाहुड़ में श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने भी यही कहा है :–

दंसण भट्टा भट्टा दंसण भट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरिय भट्टा दंसण भट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

सम्मत्त रयण भट्टा जाणंता बहु विहाइं सत्थाइं ।
आराहणा विरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

सम्मत विरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वास सहस्स कोडीहिं ॥ ५ ॥

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्त भट्टा य ।
एदे भट्ट वि भट्टा सेसंपि जणं विणासंति ॥८॥

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी ।
तह जिण दंसण भट्टा मूल विणट्ठा ण सिज्झंति ॥१०॥

जे दंसणेसु भट्टा पाए पाडंति दंसण धराणं ।
ते होंति लल्ल मूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥१२॥

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जा गारव भयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणु मोय माणाणं ॥१३॥

जिण वयण मोसहमिणं विसय सुह विरेयणं अमिदभूदं ।
जर मरण वाहि हरणं खय करणं सव्व दुक्खाणं ॥१७॥

एगं जिणस्स रूवं विदियं उक्किट्ठ सावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थपुण लिंग दंसणं णत्थि ॥१८॥

जंसक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं ।
केवलि जिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइ संजुत्तो ।
को वंदमि गुण हीणो ण हु सवणो णेय सावणो होइ ॥२७॥

अर्थ :– जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं, उनका अनंतकाल में भी निर्वाण नहीं होगा। जिनका सम्यग्दर्शन तो नहीं छूटा किन्तु चारित्र से भ्रष्ट हो गये हैं, वे तीसरे भव में निर्वाण को प्राप्त करेंगे। सम्यक्त्व छूट जाने पर अनंतभव में भी संसार भ्रमण से नहीं छूटते हैं । ३ ।

जो सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट हैं, वे बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी, चारों आराधना से रहित होने के कारण संसार ही में भ्रमण करते हैं । ४ ।

जो सम्यक्त्व से रहित हैं, वे हजार करोड़ वर्ष तक अच्छी तरह उग्र तप का आचरण करते हुए भी रत्नत्रय के लाभ को नहीं प्राप्त कर सकते हैं । ५ ।

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ज्ञान के संबंध में भी विपरीत ज्ञानी होकर भ्रष्ट ही हैं । जिनका आचरण भी भ्रष्ट है वे तो भ्रष्टों से भी भ्रष्ट हैं, जो इनकी संगति करते हैं, ये उन्हें भी धर्म रहित करके नष्ट कर देते हैं । ८ ।

जैसे वृक्ष की मूल अर्थात् जड़ का नाश हो जाने पर उसकी डाली, पत्ते, फूल, फल आदि परिवार की वृद्धि नहीं होती है, वैसे ही जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे मूल से ही भ्रष्ट हैं; उन्हें ज्ञान, चारित्र, निर्वाण की सिद्धि कैसे होगी ? १० ।

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं और सम्यग्दर्शन के धारकों को अपने पैरों में पड़वाना चाहते हैं, वे परलोक में (अगले भव में) चरण रहित लूले तथा वचन रहित गूंगे होते हैं । जो स्वयं तो सम्यग्दर्शन से रहित हैं किन्तु अन्य सम्यग्दृष्टियों से अपनी वंदना नमस्कार कराते हैं तथा कराना चाहते हैं वे बहुत काल तक एकेन्द्रिय होते हैं । १२ ।

जो मिथ्यादृष्टि को जान करके भी उनके चरणों में लज्जा से, गारव अर्थात् अभिमान-बड़प्पन से, भय से वन्दना करते हैं उन्हें भी मिथ्यात्व पाप की अनुमोदना करने से रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है । १३ ।

सम्यग्दृष्टि को यह जिनेन्द्र का वचन ही अमृतरूप औषधि है जो विषय सुखरूप आमाशय का विरेचन करानेवाला है, जरा-मरणरूप व्याधि को दूर करने का कारण है, तथा संसार के समस्त दुःखों के क्षय का कारण है । सम्यग्दृष्टि के ऐसा निश्चय है कि जन्म-जरा-मरण आदि समस्त दुःखोंरूप रोगों को दूर करनेवाली अमृतरूप औषधि तो जिनेन्द्र का वचन ही है । इस औषधि के बिना अनादिकाल के विषयों की चाहरूप दाह को नाश करनेवाला, आमाशय को धोकर ज्ञान सुख आदि अंगों को पुष्ट करनेवाला अमृत के समान अन्य कोई दूसरा उपाय है ही नहीं । १७ ।

एक रूप तो जिनेन्द्र का धारण किया हुआ समस्त वस्त्र-शस्त्रादि रहित नग्न रूप है; दूसरा रूप उत्कृष्ट श्रावक का एक कोपीन तथा खण्ड वस्त्र सहित है; तीसरा आर्यिका का भेष है । चौथा रूप-भेष-लिंग जिनमत में नहीं है । अन्य जो भेष हैं वे जिनधर्म बाह्य हैं, वन्दन योग्य नहीं हैं । १८ ।

जिनेन्द्र की जो आज्ञा है, उसको पालने की यदि सामर्थ्य हो तो आप उसका आचरण करे-पाले; और यादि उस आज्ञा को पालने की सामर्थ्य नहीं हो तो उसका सत्य श्रद्धान ही करे । केवली जिनेन्द्र ने, उस श्रद्धान करनेवाले के सम्यक्त्व है, ऐसा कहा है । २२ ।

रत्नत्रय रहित देह-जाति-कुल भी सम्यग्दृष्टि के द्वारा वन्दने योग्य नहीं हैं । सम्यग्दर्शन आदि गुण रहित श्रावक और मुनि भी वन्दन योग्य नहीं हैं । रत्नत्रय के प्रभाव से देह-कुल-जाति भी वन्दनीय हो जाते हैं । २७ ।

अब इस जीव का सर्वोत्कृष्ट उपकार करनेवाला और अपकार करनेवाला कौन है ? यह कहने के लिये श्लोक कहते हैं :-

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

अर्थ :– जीवों का सम्यग्दर्शन के समान तीनों काल और तीनों लोकों में अन्य कोई कल्याण करनेवाला नहीं है; तथा मिथ्यात्व के समान तीनों कालों और तीनों लोकों में अन्य कोई अकल्याण करनेवाला नहीं है ।

भावार्थ :– अनन्तकाल तो व्यतीत हो गया, वर्तमानकाल एक समय और अनन्तकाल आगे आवेगा-ऐसे तीन काल में; अधोभुवन-लोक, असंख्यात द्वीप सागर पर्यन्त मध्यलोक, और स्वर्गादि ऊर्ध्वलोक-ऐसे तीन लोक में; सम्यक्त्व समान जीवों का सर्वोत्कृष्ट उपकार करनेवाला अन्य कोई है नहीं, हुआ नहीं और होगा नहीं । जो उपकार इस जीव का सम्यक्त्व करता है वैसा उपकार तीन लोक में हुए इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, तीर्थंकर आदि समस्त चेतन और मणि, मंत्र, औषधि आदि समस्त अचेतन द्रव्य कोई नहीं करता है । **इस जीव का निकृष्टतम अपकार जैसा मिथ्यात्व करता है वैसा अपकार करनेवाला तीन लोक में तीन काल में कोई चेतन द्रव्य व अचेतन द्रव्य है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं ।** इसलिये मिथ्यात्व के त्याग में ही परम यत्न करो। समस्त संसार के दु:ख को दूर करनेवाला, आत्मकल्याण की परमहद्द एक सम्यक्त्व ही है, अत: इसी के प्राप्त करने में पुरुषार्थ करो ।

अब सम्यग्दर्शन के प्रभाव का वर्णन करनेवाला श्लोक कहते हैं -

सम्यग्दर्शनशुद्धाः नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुः दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

अर्थ :– जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं, वे व्रत रहित होने पर भी नारकी, तिर्यंच, नपुंसक व स्त्रीपने को प्राप्त नहीं होते हैं; नीचकुल में जन्म, विकृत अर्थात् अंधा, काना, बहरा, टूंटा, लूला, लंगड़ा, गूंगा, कुबड़ा, बौना-ठिगना, हीन अंग, अधिक अंग, मांजरा-कंजा, विड्रूप-अभद्र नहीं होते हैं; तथा अल्प ? आयु के धारक व दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होते हैं ।

व्रतरहित अव्रत-सम्यग्दृष्टि को नीचे लिखी इकतालीस कर्म प्रकृतियों का तो बंध ही नहीं होता है, ऐसा नियम है - मिथ्यात्व १, हुंडक संस्थान २, नपुंसक वेद ३, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ४, एकेंद्रिय ५, स्थावर ६, आतप ७, सूक्ष्मपना ८, अपर्याप्तक ९, दो इंद्रिय १०, तीन इंद्रिय ११, चतुरिंद्रिय १२, साधारण १३, नरकगति १४, नरक गत्यानुपूर्वी १५, नरक आयु १६ - **ये सोलह प्रकृतियाँ तो मिथ्यात्व भाव से ही बंधती हैं -**

अनन्तानुबंधी के प्रभाव से बंधनेवाली पच्चीस प्रकृतियाँ और हैं - अनन्तानुबंधी क्रोध १, मान २, माया ३, लोभ ४, स्त्यान गृद्धि ५, निद्रानिद्रा ६, प्रचलाप्रचला ६, दुर्भग ८, दुस्वर ९, अनादेय १०, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान ११, स्वाति संस्थान १२, कुब्जक संस्थान १३, वामन संस्थान १४, वज्रवृषभ नाराच संहनन १५, नाराच संहनन १६, अर्द्ध नाराच संहनन १८, कीलित संहनन १८, अप्रशस्त विहायोगति १९, स्त्रीपना २०, नीच गोत्र २१, तिर्यंच गति २२, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी २३, तिर्यंच आयु २४, उद्योत २५ ।

इन इकतालीस कर्म प्रकृतियों का बंध मिथ्यादृष्टि ही करता है - सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी का अभाव हुआ है, इसलिये अव्रत - सम्यग्दृष्टि इन इकतालीस कर्म प्रकृतियों का नया बंध नहीं होता है -

जब सम्यक्त्व नहीं हुआ था, उस समय मिथ्यात्व अवस्था में इन इकतालीस प्रकृतियों का जो बंध हुआ था, सम्यक्त्व के प्रभाव से वह बंध नष्ट हो जाता है, परन्तु आयु संबंधी बंध नष्ट नहीं होता (छूटता) है तो भी **सम्यक्त्व का ऐसा प्रभाव है -**

१. यदि पहले सातवें नरक की आयु का बंध किया हो, पश्चात् सम्यग्दर्शन हो जाय तो पहले नरक ही जाता है, दूसरे या अन्य नरकों में नहीं जाता है ।

२. यदि पहले तिर्यंच में निगोद की एकेन्द्रिय की आयु का बंध किया हो, पश्चात् सम्यग्दर्शन हो जाय तो सम्यक्त्व के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि का पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होता है, एकेन्द्रिय आदि कर्मभूमि का तिर्यंच नहीं होता है ।

३. यदि पहले लब्धि अपर्याप्त मनुष्य की आयु का बंध किया हो, पश्चात् सम्यग्दर्शन हो जाय तो सम्यक्त्व के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि का मनुष्य ही होता है ।

४. यदि पहले व्यन्तर आदि में नीचदेव की आयु का बंध किया हो, पश्चात् सम्यग्दर्शन हो जाय तो कल्पवासी महान ऋद्धिवाला देव ही होता है, अन्य भवनत्रिक देवों में, चारों प्रकार के देवों की स्त्रियों में, मनुष्याणी स्त्री में तथा मादा तिर्यंचणी में उत्पन्न नहीं होता है ।

५. सम्यक्त्व का ऐसा प्रभाव है कि नीच कुल में, दरिद्रियों में व अल्प आयु का धारक भी नहीं होता है ।

अब सम्यग्दर्शन के प्रभाव से कैसा मनुष्य होता है ? यह कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

ओजस्तेजो-विद्या-वीर्य-वृद्धि-विजय-सनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

अर्थ :– जो पुरुष सम्यग्दर्शन से पवित्र हैं, वे मनुष्यों के तिलक अर्थात् समस्त मनुष्यों को शोभित करनेवाले, समस्त मनुष्यों के मस्तक के ऊपर धारण किये जाने योग्य, ऐसे मनुष्यों के तिलक होते हैं । **और कैसे होते हैं ?** ओज अर्थात् पराक्रम, तेज अर्थात् प्रताप, विद्या अर्थात् समस्त लोक में अतिशय रूप ज्ञान, वीर्य अर्थात् अतिशयरूप शक्ति, उज्ज्वल यश, वृद्धि अर्थात् दिन प्रतिदिन गुणों की और सुख की वृद्धि, विजय अर्थात् सब प्रकार से जीत, अतिशयरूप वैभव-इस प्रकार ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय, वैभव इन सभी गुणों के स्वामी होते हैं । महान कुल के स्वामी होते हैं, महान धर्म, महान अर्थ, महाकाम, महामोक्षरूप चार पुरुषार्थों के स्वामी होते हैं । सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने से ऐसे असीम अप्रमाण प्रभाव के धारी मनुष्य होते हैं ।

अब सम्यक्त्व के प्रभाव से देवों का वैभव प्राप्त होता है यह कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

अष्टगुणपुष्टितुष्टाः दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥

अर्थ :– जिनेन्द्र के भक्त सम्यग्दृष्टि देवों में जन्म लेकर अप्सराओं के समूह के बीच में चिरकाल तक रमते हैं - सुख भोगते हैं । **कैसे होकर रमते हैं ?** अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व - जो ये आठ गुण हैं, उनकी पुष्टता अर्थात् जो अन्य असंख्यात देवों में नहीं पाई जावे ऐसी अधिकता से संतुष्ट होकर रमते हैं; तथा सब देवों से उत्कृष्ट ऐसी कांति, तेज, यश से शोभायमान होकर स्वर्गलोक में आनंदपूर्वक निवास करते हैं ।

भावार्थ :– अव्रत - सम्यग्दृष्टि स्वर्ग में देव होता है किन्तु हीन पुण्यवाला नहीं होता है । इन्द्र के समान वैभव, कांति, ज्ञान, सुख, ऐश्वर्य का धारक, महर्द्धिक देव होता है । इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपालादि देवों में उत्पन्न होता है । अन्य असंख्यात देवों के ऐसी अणिमा आदि ऋद्धि, देह की कांति, आभरण, विमान, विक्रिया नहीं होती है - ऐसा उत्कृष्ट वैभव पाकर असंख्यात काल-वर्षों तक करोड़ों अप्सराओं की सभा में केलि करता है ।

अब सम्यग्दृष्टि सागरों पर्यन्त स्वर्ग के इंद्रियजनित सुख भोगकर मनुष्यलोक में आकर कैसा होता है ? यह कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशाः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अर्थ :– जिनके उज्ज्वल सम्यग्दर्शन है वे जीव स्वर्गलोक में आयु पूर्ण व्यतीत करके, यहाँ मनुष्यलोक में आकर, नवनिधि चौदह रत्नों के स्वामी, समस्त भरतक्षेत्र के बत्तीस हजार देशों के मालिक, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के मस्तक के ऊपर मुकुटरूप हैं चरण जिनके, ऐसे चक्र को प्रवर्तन करने की सामर्थ्य वाले चक्रवर्ती होते हैं ।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि स्वर्ग से मनुष्यभव में आकर नवनिधि चौदह रत्नों का स्वामी, छः खण्ड पृथ्वी का पति तथा समस्त राजाओं के ऊपर जिसकी आज्ञा चलती है, ऐसा चक्रवर्ती होता है ।

अब सम्यक्त्व के प्रभाव से तीर्थंकर होते हैं, ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूत पादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्थाः वृषचक्रधराः भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

अर्थ :– जिन पुरुषों ने सम्यग्दर्शन पूर्वक पदार्थों का सच्चा निर्णय किया है, वे अमरपति, असुरपति, नरपति, संयमियों के पति गणधरादि के द्वारा वन्दनीक हैं चरणकमल जिनके तथा लोगों को उत्कृष्ट शरणभूत हैं, ऐसे धर्मचक्र के धारक तीर्थंकररूप से उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर होकर अनेक जीवों के संसार के दुःख का छेदन करने वाले धर्मचक्र को प्रवर्तित कराते हैं, जिनके चरणों की इन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र, गणधर आदि नित्य वन्दना करते हैं, जीवों को परमशरण हैं !

अब सम्यग्दृष्टि को ही निर्वाण प्राप्त होता है, ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

शिवमजरमरूजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥ ४० ॥

अर्थ :– जिनको सम्यग्दर्शन ही शरण है, वे पुरुष शिव अर्थात् निराकुलता लक्षण रूप जो मोक्ष है उसका अनुभव करते हैं । **कैसा है शिव ?** जिसमें जरा अर्थात् बुढ़ापा नहीं है, अनंतकाल में भी जहाँ पर आत्मा पुराना-कमजोर नहीं होता है, जीर्ण नहीं होता है; अरुज अर्थात् जहाँ पर कोई रोग, पीड़ा, व्याधि नहीं है; अक्षय अर्थात् जहाँ पर अनन्त चतुष्टयरूप स्वरूप का अभाव-नाश नहीं होता है; जहाँ पर किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं है; जहाँ पर शंका, भय, शोक आदि दूर हो गये हैं अर्थात् शोक-भय-शंका रहित है; सुख और ज्ञान के वैभव की पराकाष्ठा परमहद् को जहाँ पर प्राप्त कर लिया है; द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म ऐसे ज्ञानावरणादि-रागद्वेषादि-शरीरादि कर्ममल के अभाव से विमल हैं, ऐसे अद्वितीयस्वरूप मोक्ष को सम्यग्दृष्टि ही अनुभव करता है - भोगता है प्राप्त करता है । इस प्रकार सम्यक्त्व के प्रभाव का वर्णन किया ।

अब सम्यग्दर्शन अधिकार पूर्ण करते हुए सम्यग्दर्शन की महिमा का उपसंहार श्लोक द्वारा कहते हैं :-

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्याः ॥४१॥

अर्थ :– जिनेन्द्र परमात्मा के स्वरूप में भक्तिरूप अनुराग जिसे होता है, वह भव्य सम्यग्दृष्टि है । वह सम्यग्दृष्टि इस मनुष्यभव से जाकर स्वर्गलोक में अप्रमाण-अमाप ऋद्धि सुख वैभव के प्रभाव वाले देवेन्द्रों के समूह की महिमा प्राप्त करके, पश्चात् इसी पृथ्वी पर आकर बत्तीस हजार राजाओं के मस्तक द्वारा पूज्य राजेन्द्र चक्रवर्ती के चक्र को प्राप्त करके, फिर अहमिन्द्रलोक की महिमा को भी पाकर समस्त लोक को अपने आधीन किया जिसने, ऐसे भगवान् तीर्थंकर का धर्मचक्र प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त होता है । सम्यग्दर्शन का धारी जीव इसी क्रम से निर्वाण प्राप्त करता है ।

सम्यग्दृष्टि की विचारधारा : इस प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म के अभाव से सच्चा श्रद्धान व सच्चा ज्ञान प्रकट होता है तथा अनंतानुबंधी कर्म के अभाव से सम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट होता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण के उदय से देशचारित्र नहीं हुआ है, तथा प्रत्याख्यानावरण के उदय से सकलचारित्र नहीं प्रकट हुआ है; तथापि सम्यग्दृष्टि के ऐसा दृढ़ भेद-विज्ञान होता है कि शरीर आदि परद्रव्य हैं तथा रागद्वेष आदि कर्मजनित परभाव हैं। अपने ज्ञानदर्शनरूप ज्ञानस्वभाव में ही आत्मबुद्धि करता है, पर्याय में आत्मबुद्धि तो वह स्वप्न में भी नहीं करता है।

वह ऐसा विचार करता है – हे आत्मन् ! तू भगवान् के परमागम की शरण ग्रहण करके ज्ञान दृष्टि से अवलोकन कर। आठ प्रकार का स्पर्श, पांच प्रकार का रस, दो प्रकार का गंध, पांच प्रकार का वर्ण - ये तुम्हारा रूप नहीं है, ये पुद्‌गल का रूप है। क्रोध, मान, माया, लोभ - ये तुम्हारा रूप नहीं हैं, ज्ञानदृष्टि से देखने पर ये कर्म के उदयजनित विकार दिखाई पड़ते हैं। हर्ष, विषाद, मद, मोह, शोक, भय, ग्लानि, काम आदि कर्मजनित विकार हैं, वे तुम्हारे स्वरूप से भिन्न हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव-ये चार गति आत्मा का रूप नहीं हैं, कर्म के उदयजनित हैं, विनाशीक हैं। देव, मनुष्य आदि तुम्हारा रूप नहीं हैं।

सम्यग्ज्ञानी ऐसा विचार करता है – मैं गोरा नहीं, मैं श्याम नहीं, मैं राजा नहीं, मैं रंक नहीं, मैं बलवान नहीं, मैं निर्बल नहीं, मैं स्वामी नहीं, मैं सेवक नहीं, मैं रूपवान नहीं, मैं कुरूप नहीं, मैं पुण्यवान नहीं, मैं पापी नहीं, मैं धनवान नहीं, मैं निर्धन नहीं, मैं ब्राह्मण नहीं, मैं क्षत्रिय नहीं, मैं वैश्य नहीं, मैं शूद्र नहीं, मैं स्त्री नहीं, मैं पुरुष नहीं, मैं नुंपसक नहीं, मैं मोटा नहीं, मैं दुबला नहीं, मैं नीच जाति का नहीं, मैं उच्च जाति का नहीं, मैं कुलवान नहीं, मैं कुलहीन नहीं, मैं पंडित नहीं, मैं मूर्ख नहीं, मैं दाता नहीं, मैं याचक नहीं, मैं गुरु नहीं, मैं शिष्य नहीं, मैं इंद्रिय नहीं, मैं देह नहीं, मैं मन नहीं - ये सभी कर्म के उदय जनित पुद्‌गल के विकार हैं। **मेरा स्वरूप तो ज्ञाता दृष्टा है।** ये रूप आत्मा का नहीं, पुद्‌गल का है। **मुनिपना-क्षुल्लकपना भी पुद्‌गल का भेष है।** ये लोक हमारा नहीं, ये देश, ये ग्राम, ये नगर सभी परद्रव्य हैं। कर्म ने मुझे यहाँ उत्पन्न करा दिया है - मैं किस-किस क्षेत्र को अपना मानूं, अपनेपन का संकल्प करूं ? सम्यग्दृष्टि के ऐसा दृढ़ विचार होता है।

मिथ्यादृष्टि की विचारधारा – मिथ्यादृष्टि परकृत पर्याय (शरीर) में अपनापन मानता है। मिथ्यादृष्टि का अपनत्व जाति में, कुल में, देह, में, धन में, राज्य में, ऐश्वर्य में, महल में, मकान में, कुटुम्ब में है। इनके साथ ही हमारी घटी, हमारी बढ़ी हमारा सर्वस्व समाप्त हुआ, मैं नीचा हुआ, मैं ऊँचा हुआ, मैं मरा, मैं जिया, मेरा तिरस्कार हुआ, मेरा सब कुछ गया इत्यादि पर - वस्तु में अपनेपने का संकल्प करके महा आर्तध्यान रौद्रध्यान करके दुर्गति को पाकर संसार परिभ्रमण हीं करता है।

मिथ्यादृष्टि जीव जिनधर्म का कुछ अधिकार पाकर-कुछ ज्ञान प्राप्त करके अपने नये-नये परिणामों से काल्पनिक युक्तियाँ बनाकर, लोगों में भ्रम उत्पन्न करके, पांच आदमियों में अपने को महान ज्ञानी

बतलाकर, मिथ्या लोगों में भ्रम उत्पन्न करके, पांच आदमियों में अपने को महान ज्ञानी बतलाकर, मिथ्या अभिमान कर आगम विरुद्ध अनेक कथन करता है; कृतघ्नी होकर जैनशास्त्रों की निन्दा करता है, विशिष्ट ज्ञानियों-बहु-ज्ञानियों की भी निन्दा करता है। खोटे अभिप्राय पूर्वक, पांच आदमियों में मान्यता पाने के लिये, पक्षपात ग्रहण करके, यथार्थ निर्णय किये बिना, हठग्राही, अपनी कल्पना से बनाये हुए, एकांती, भगवान की स्याद्वाद रूप वाणी से विरुद्ध होकर, कलह-विसंवाद-परनिन्दा ही को धर्म मानता रहता है।

कितने ही मिथ्यादृष्टि कुछ बाह्य त्याग मात्र करके, स्नान कर भोजन करके, अन्य देव आदि की वंदना का त्याग करके, अपने को कृतकृत्य मानते हुए संसार के जीवों की निन्दा करके अपने को प्रशंसा योग्य मानते हैं। अन्याय से आजीविका करते हुए, हिंसा आदि के आरम्भ में निपुण होकर दूसरे धर्मात्माओं के दोष ढूंढते फिरते हैं। निर्दोष लोगों के दोष विख्यात करके मद में छके हुए घूमते हैं, अपने को ऊँचा मानते हैं, दूसरों को अज्ञानी तथा भ्रष्ट मानते हैं। **पापी अपनी प्रशंसा कराकर फूले फिरते हैं,** अपने स्वरूप की शुद्धता को नहीं देखते हुए अनेक निंद्य चेष्टायें करते हैं, **भोले जीवों को मिथ्या उपदेश देकर एकान्त के हठ को ग्रहण कराते हैं।**

कुगुरू-कुदेवों को नमस्कार का त्याग करने से, अन्य देवों की निन्दा करके, सभा में बैठकर मिथ्या भेषधारियों की निन्दा करके, अपने को ही सम्यग्दृष्टि मानते हैं। लोग हमको दृढ़ श्रद्धानी धर्मात्मा मानेंगे, ऐसे अनंतानुबंधी मान के उदय से पर की निन्दा करने से ही अपने को ऊँचा जानते हैं तथा जगत को अधर्मी मानते हैं।

हितोपदेश : कुदेव-कुगुरु को नमस्कार तो सभी तिर्यंच नहीं करते हैं, नारकी नहीं करते हैं, भोगभूमि और कुभोगभूमि के जीव भी नहीं करते हैं, तथा सभी देवता भी नहीं पूजते हैं। यदि उन्हें नमस्कार पूजा नहीं करने से ही सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं तो सभी नारकी, मनुष्य, तिर्यंच आदि सम्यग्दृष्टि हो जायें, किन्तु ऐसा नहीं है। जगत के समस्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य, देव आदि की निन्दा करने से भी सम्यक्त्व नहीं होता है। **जगत की निन्दा करनेवाला और पापियों से वैर करनेवाला तो कुगति ही का पात्र होगा।** मिथ्यात्व तो जीवों के अनादि से है। सम्यग्दृष्टि तो इन पर भी दया ही करते हैं तथा सभी जीवों के प्रति साम्यभाव ही रखते हैं।

सम्यग्दर्शन तो आपा-पर का सत्यश्रद्धान करने से ही होगा और वह सत्यश्रद्धान-ज्ञान तो विनय सहित स्याद्वादरूप परमागम के सेवन से ही होगा।

प्रथम – सम्यग्दर्शन अधिकार

समाप्त

परिशिष्ट–1

दया दान पूजा शील पूंजी सों अजानपने, जितनों हंस तू अनादिकाल में कमायगो ।
तेरे बिन विवेक की कमाई न रहे हाथ, भेदज्ञान बिना एक समय में गमायगो ॥
अमल अखंडित स्वरूप शुद्ध चिदानंद, याके वणिज मांहि एक समय तो तू रमायगो ।
मेरी समझ मान जीव अपने प्रताप आप, एक समय की कमाई तू अनंतकाल खायगो ॥

– पं. बनारसीदासजी

सम्यक्त्व की आराधना

ज्ञान–चरित्र और तप इन तीन गुणों को उज्ज्वल करनेवाली यह श्रद्धा ही प्रधान आराधना है । इसकी विद्यमानता में ही तीनों आराधनायें आराधक भाव से वर्तती हैं । अत: सम्यक्त्व की अकथ्य और अपूर्व महिमा जानकर इस पवित्र कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को अनन्तानन्त दु:खरूप अनादि संसार की अशेष निवृत्ति के लिये भक्ति पूर्वक अंगीकार करो, प्रति समय आराधो । – आत्मानुशासन

हे भव्य जीवों ! तुम इस सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो । यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है, सर्वकल्याण का बीज है और संसार समुद्र से पार उतरने के लिये जहाज है । इसे एक मात्र भव्यजीव ही प्राप्त कर सकते हैं । पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये यह कुल्हाड़ी के समान है । पवित्र तीर्थों में यही एक पवित्र तीर्थ है और मिथ्यात्व का आत्यंतिक नाशक है । – ज्ञानार्णव

भव्यो ! किंचित् मात्र लोभ से व भय से कुदेवादिक का सेवन करके जिससे अनन्तकाल पर्यन्त महादु:ख सहना होता है ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नहीं है । जैनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है, इसलिये इस मिथ्यात्व को सप्त व्यवसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है । – मोक्षमार्गप्रकाशक

प्रारम्भ में सर्वप्रकार के प्रयत्न से सम्यग्दर्शन उत्तम रीति से अंगीकार करना चाहिये, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त होते हैं । – पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति संभव नहीं है उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र की भी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती है । सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का खेवटिया है । सम्यग्दर्शन के समान तीनकाल और तीनलोक में प्राणियों की कल्याण कारक अन्य कोई वस्तु नहीं है । – रत्नकरण्ड श्रावकाचार

एक और सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त हो और दूसरी ओर तीन लोक का राज्य प्राप्त हो तो तीन लोक के राज्य की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है, क्योंकि तीन लोक का राज्य तो मिलने पर भी सीमित काल में छूट जाता है, परन्तु सम्यग्दर्शन तो जीव को अक्षय सुख प्राप्त कराता है । – भगवती आराधना

सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है । अधिक क्या? सम्यक्त्व ही सब ऋद्धियों को करनेवाला है । – स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा

सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्व के दोषों को जानकर, सम्यक्त्वरूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर । यह सम्यग्दर्शन गुणरूपी रत्नों में सार है और मोक्षरूपी मन्दिर का प्रथम सोपान है । – भाव पाहुड

सम्यग्दर्शन से रहित पुरुष के अणुव्रत और महाव्रत का नाम तक भी नहीं होता है। यह सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत-युक्त हो तो स्वर्ग का कारण है और यदि महाव्रत-युक्त हो तो मोक्ष का कारण है। - चारित्रसार

सम्यग्दर्शनरूप पवित्र भूमि में गिरा हुआ दुःखरूप बीज कदाचित् भी अंकुरित नहीं होता, और बिना बोया गया भी सुखरूप बीज सदा ही अंकुरित होता है। - अमितगतिश्रावकाचार

सम्यक्त्व के समान तीन लोकों में इस जीव का कोई बन्धु नहीं है और मिथ्यात्व के समान शत्रु नहीं है। पशु होकर भी यदि सम्यक्त्व है तो वह मनुष्य ही है, और मनुष्य होकर यदि मिथ्यात्व से युक्त है तो उसे पशु कहना चाहिये। जो पुरुष एक मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त करके फिर उसे छोड़ देते हैं, उन्हें बहुत काल संसार में परिभ्रमण के बाद भी सम्यग्दर्शन मुक्ति में पहुँचा देता है। - धर्मसंग्रह श्रावकाचार

सम्यग्दर्शन के बिना दान देने व व्रत पालन करने आदि से न तो पुण्य ही होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। - प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

जो मनुष्य गुणों से युक्त सम्यक्त्व को पालता है वह तीनलोक की लक्ष्मी को प्राप्त करता है।
- गुणभूषण श्रावकाचार

इस संसार में सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान व चरित्र का बीज है। सम्यग्दर्शन ही उत्तम पद है, उत्कृष्ट ज्योति है, श्रेष्ठ तप है, इष्ट पदार्थों की सिद्धि है, परम् मनोरथ है, अतीन्द्रिय सुख है, कल्याणों की परम्परा है। सम्यग्दर्शन के बिना सर्व ज्ञान मिथ्याज्ञान, चारित्र मिथ्याचारित्र और तप बालतप कहलाता है। शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना, वही यथार्थ सम्यग्दर्शन है। - लाटी संहिता

मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है, और संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यादर्शन है, ऐसा जिनदेवों ने कहा है। - पद्मनंदि पंचविंशति

जैसे भवन का मूल आधार नींव है उसी प्रकार सर्व व्रतों का मूल आधार सम्यक्त्व है।
- पूज्यपाद श्रावकाचार

जिन गुरुओं के निर्मल वचनरूपी किरणों से, जिसको सूर्य-चन्द्रादि भी नाश नहीं कर सके, ऐसा प्रबल मोहरूपी अंधकार बात की बात में नष्ट हो जाता है ऐसे वे उत्तम गुरु सदा इस लोक में जयवंत हों, मैं ऐसे गुरुओं की वंदना करता हूँ। - पद्मनंदि पंचविंशति

जो पुरुष स्याद्वाद में प्रवीणता और निश्चल संयम के द्वारा आत्मा में उपयोग लगाता हुआ उसे निरंतर भाता है वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय की पारस्परिक तीव्र मैत्री का पात्र होकर इस निज भावमयी भूमिका को पाता है। - समयसार आत्मख्याति - अचार्य अमृतचंद्र देव

जिन पुरुष के आशारूपी पिशाचिनी नष्ट हो गई है उसका शास्त्रअध्ययन, चारित्रपालन, विवेक, तत्त्वों का निश्चय और निर्भयता आदि सत्यार्थ है।

इस भव तरु का मूल इक, जानो मिथ्याभाव।
ताको करि निर्मूल अब, करिये मोक्ष उपाव॥ - पंडित टोडरमलजी

गृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप

कोई कहता है कि :– हमतो सच्चे देव को जानकर कुल के आश्रय से व पंचायत के आश्रय से पूजा दर्शनादि धर्मबुद्धि पूर्वक करते हैं।

उससे कहते हैं कि :– वे देव तो सच्चे ही हैं, परन्तु तुम्हारे ज्ञान में उनका सच्चा रूप प्रतिभासित नहीं हुआ। जिस प्रकार तुम पंचायत व कुलादिक के आश्रय से धर्मबुद्धि से पूजादिक के कार्यों में वर्तते हो उसी प्रकार अन्य मतावलम्बी भी धर्मबुद्धि से व अपनी पंचायत या कुलादिक के आश्रय से अपने देवादिक की पूजादि करते हैं। तो तुममें और उनमें विशेष अन्तर कहाँ रहा ? उस मान्यता के आश्रय से सच्चे देवादिक का ही पक्षपातीपने से सेवक होकर प्रवर्तता है उसके भी गृहीत मिथ्यात्व है।

गृहीत मिथ्यात्व का त्याग तो यह है अन्य देवादि के बाह्यगुणों के तथा प्रबन्ध के आश्रय स्वरूप पहले जानकर स्वरूप विपर्यय, कारण विपर्यय और भेदाभेद विपर्यय रहित ज्ञान में निश्चय करके, फिर जिनदेवादिक का बाह्यगुणों के आश्रय से व व्यवहार रूप निश्चय करके, पश्चात् अपना मुख्य प्रयोजन सिद्ध न होने से हेय-उपादेयपना मानने पर अन्य की वासना मूल से छूटती है और जिनदेवादिक में ही सच्ची प्रतीति उत्पन्न होती है।

– सत्ता स्वरूप ८

सच्चा जैन

जिनको सच्चा जैन बनना हो उनको शास्त्र के आश्रय से तत्त्वनिर्णय करना योग्य है; परन्तु जो तत्त्वनिर्णय नहीं करते और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सर्वकार्य करते हैं सो उनके सर्व कार्य असत्य हैं। इसलिये आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा, गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है।

देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आदर से धर्म है। इनमें शिथिलता रखने से अन्य धर्म किस प्रकार होगा ? इसलिये बहुत कहने से क्या ? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।

– मो. मा. प्र. १९२

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि जानने में क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा। ऐसा विचारकर व्रत-तप आदि क्रिया से उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते। सो तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होने पर कुछ भी व्रतादिक नहीं हैं तथापि असंयत सम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिये पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करना, पश्चात् कषाय घटाने के लिये बाह्य साधन करना।

– मो. मा. प्र. २३८

कितने ही जीव अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं; और आचरण के अनुसार ही परिणाम हैं, कोई माया-लोभादिक का अभिप्राय नहीं है; उन्हें धर्म जानकर मोक्ष के अर्थ उनका साधन करते हैं, किन्हीं स्वर्गादिक के भोगों की इच्छा भी नहीं रखते; परन्तु जो मोक्ष का साधन है उसे जानते भी नहीं, केवल स्वर्गादिक ही का साधन करते हैं। – मो. मा. प्र. २४१

कितने ही जीव तो ऐसे हैं तो तत्त्वादिक के भलीभांति नाम भी नहीं जानते, केवल व्रतादिक में ही प्रवर्तते हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्वोक्त-प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान (अन्यथा सम्यग्दर्शन और अन्यथा ज्ञान) का यथार्थ साधन करके व्रतादि के प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे व्रतादिक का यथार्थ आचरण करते हैं तथापि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान के बिना सर्व आचरण मिथ्या चारित्र ही है। – मो. मा. प्र. २४२

यह उदासीन होकर शास्त्र में जो अणुव्रत-महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र कहा है उसे अंगीकार करता है, एकदेश अथवा सर्वदेश हिंसादि पापों को छोड़ता है उनके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप कार्यों में प्रवर्तता है। तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पाप कार्यों में अपना कर्त्तापना मानता था; उसी प्रकार अब पर्यायाश्रित पुण्य कार्यों में अपना कर्त्तापना मानने लगा। इस प्रकार पर्यायाश्रित कार्यों में अहंबुद्धि वही मिथ्यादृष्टि है। - मो. मा. प्र. २४४

इस प्रकार आप कर्त्ता होकर श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म की क्रियाओं में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति निरन्तर रखता है, जैसे उन क्रियाओं में भंग न हो वैसे प्रवर्तता है; परन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं; चारित्र है वह वीतराग भाग रूप है। इसलिये ऐसे साधन को मोक्षमार्ग मानना मिथ्याबुद्धि है। - मो. मा. प्र. २४४

भव भव में जिनपूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो ।
भव भव में मैं समोशरण में, देख्यो जिनगुण भीनो ।
एती वस्तु मिली भव भव में, सम्यग् गुण नहिं पायो ।
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो ।



फुटनोट -

१. इस करणलब्धि वाले के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्त्व विचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। मो. मा. प्र. २६२ (पृ. ६०)

२. इस प्रकार अपूर्वकरण होने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है। उसका काल अपूर्वकरण के भी संख्यातवें भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल जाने के बाद अंतरकरण करता है, जो अनिवृत्तिकरण के काल पश्चात् उदय आने योग्य ऐसे मिथ्यात्व कर्म के मुहूर्तमात्र निषेक उनका अभाव करता है; उन परमाणुओं को अन्यस्थितिरूप परिणमित करता है। तथा अन्तरकरण करने के पश्चात् उपशमकरण करता है। अन्तरकरण द्वारा अभावरूप किये निषेकों के ऊपर वाले जो मिथ्यात्व के निषेक हैं, उनको उदय आने के अयोग्य बनाता है। इत्यादिक क्रिया द्वारा अनिवृत्तिकरण के अंतसमय के अनंतर जिन निषेकों का अभाव किया था, उनका काल आये, तब निषेकों के बिना उदय किसका आयेगा ? इसलिये मिथ्यात्व का उदय न होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मो. मा. प्र. पृ. २६४ (पृ. ६२)

द्वितीय - सम्यग्ज्ञान अधिकार

अब सम्यग्ज्ञानरूप धर्म को प्रकट करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनाः ॥४२॥

अर्थ :- आगम के जाननेवाले जो श्री गणधरदेव तथा श्रुतकेवली हैं वे उस ज्ञान को ज्ञान कहते हैं जो वस्तुस्वरूप को परिपूर्ण जानता है, कम नहीं जानता है, अधिक नहीं जानता है, जैसा वस्तु का यथार्थ सत्य स्वरूप है वैसा ही जानता है, विपरीतता रहित जानता है, संशय रहित जानता है।

भावार्थ :- यहाँ भगवान गणधरदेव ने सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताया है । जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यून जानता है वह मिथ्याज्ञान है । जैसे आत्मा का स्वभाव तो अनन्तज्ञान - क्षायिकज्ञान स्वरूप है, किन्तु कोई ज्ञान आत्मा को इन्द्रियजनित मतिज्ञान मात्र ही जानता है, तो वह ज्ञान न्यूनस्वरूप जानने से मिथ्याज्ञान कहलाया ।

जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को अधिक जानता है वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान है । जैसे आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्ता अमूर्तिक है उसे ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्ता, अमूर्तिक भी जानना तथा पुद्‌गल के गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, मूर्तिक भी जानना । यह ज्ञान अधिक जानने से मिथ्याज्ञान कहलाया ।

सीप को सफेद तथा चमकता हुआ देखकर उसे चाँदी जानना, वह विपरीत ज्ञान होने से मिथ्याज्ञान है ।

यह सीप है कि चाँदी है ? इस प्रकार दोनों में संशयरूप एक के निश्चय से रहित जानना, वह संशयज्ञान होने से मिथ्याज्ञान है ।

जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है उसे वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है । जैसे सोलह में पाँच का गुणा करने से अस्सी होते हैं, उसे अठहत्तर जाने तो न्यून जानना हुआ, बियासी जाने तो अधिक जानना हुआ, सोलह या पाँच जानना वह विपरीत जानना हुआ, तथा सोलह में पाँच का गुणा करने पर अस्सी होते हैं या अठहत्तर ऐसा संदेहरूप जानना संशयज्ञान है ।

इस प्रकार न्यून जानना, अधिक जानना, विपरीत जानना, संशयरूप जानना - यह चारों प्रकार का जानना मिथ्याज्ञान है । जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यून नहीं जाने, अधिक नहीं जाने, विपरीत नहीं जाने, संशयरूप नहीं जाने, जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा संशयरहित जाने उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

अब सम्यग्ज्ञान प्रथमानुयोग को जानता है, ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

अर्थ :– सम्यग्ज्ञान प्रथमानुयोग को जानता है । **कैसा है प्रथमानुयोग ?** जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चारों पुरुषार्थ का कथन है । एक पुरुष की मुख्यता से जो वर्णन होता है वह **चरित्र** कहलाता है, वह तथा जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों के सम्बन्ध में वर्णन होता है उसे **पुराण** कहते हैं, वह भी प्रथमानुयोग कहा जाता है । सम्यग्दर्शन आदि जिन्हें नहीं था, उन्हें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होना **बोधि** कहलाता है; जिन्हें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र था उसकी परिपूर्णता **समाधि** कहलाती है । प्रथमानुयोग रत्नत्रय की प्राप्ति और परिपूर्णता का निधान है, उत्पत्ति का स्थान है, पुण्य होने का कारण है अतः **पुण्य** है । ऐसे प्रथमानुयोग को सम्यग्ज्ञान ही जानता है ।

भावार्थ :– प्रथमानुयोग में **धर्म** (पुण्य) का कथन, उस धर्म का फलरूप कहा जो धन-सम्पत्तिरूप **अर्थ** उसका कथन, पाँच इंद्रियों के विषयरूप जो **काम** उसका कथन, तथा संसार से छूटनेरूप जो **मोक्ष** उसका कथन होता है । उस प्रथमानुयोग को एक पुरुष के आचरण की कथा कहने से **चरित्र**, त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन होने से **पुराण**, वक्ता-श्रोताओं को पुण्य की उत्पत्ति का कारण होने से **पुण्य**, तथा चार आराधना की प्राप्ति एवं पूर्णता का वर्णन होने से **निधान** कहा जाता है । ऐसे प्रथमानुयोग को सम्यग्ज्ञान ही जानता है ।

अब **करणानुयोग** को जाननेवाला भी सम्यग्ज्ञान है ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥

अर्थ :– सम्यग्ज्ञान करणानुयोग को जानता है । **करणानुयोग कैसा है ?** लोक और अलोक के विभाग को, उत्सर्पिणी के छह काल व अपसर्पिणी के छह काल के परिवर्तन को, तथा चार गतियों के परिभ्रमण को दर्पण के समान दिखाने वाला है ।

भावार्थ :– जिसमें छह द्रव्यों का समूहरूप लोक एवं केवल आकाश द्रव्यरूप अलोक अपने गुण पर्यायों सहित प्रतिबिम्बत हो रहे हैं; छहों कालों के निमित्त से जीव पुद्गलों की जैसी पर्यायें हैं, वे सब प्रतिबिंबित होकर झलक रही हैं; तथा चारों गतियों का स्वरूप जिसमें प्रकट झलकता है वह दर्पण के समान करणानुयोग है । उसे यथावत् सम्यग्ज्ञान ही जानता है ।

अब **चरणानुयोग** का स्वरूप सम्यग्ज्ञान जानता है, ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥

अर्थ :– गृह में आसक्त है बुद्धि जिनकी ऐसे गृहस्थ, गृह से विरक्त होकर गृह के त्यागी ऐसे अनगार अर्थात् यति, उनका चारित्ररूप जो सम्यक् आचरण उसकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का अंग अर्थात् कारण ऐसे चरणानुयोग सिद्धान्त को सम्यग्ज्ञान ही जानता है ।

भावार्थ :– मुनि और गृहस्थ का जो निर्दोष आचरण, उसकी उत्पत्ति का, दिन प्रतिदिन वृद्धि का, धारण किये आचरण की रक्षा का कारण चरणानुयोगरूप सम्यग्ज्ञान ही है ।

अब द्रव्यानुयोग को जाननेवाला भी सम्यग्ज्ञान ही है, ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्या लोकमातनुते ॥४६॥

अर्थ :– जो द्रव्यानुयोगरूप दीपक है, वह जीव और अजीव इन दोनों निर्बाध तत्त्वों को, पुण्य-पाप को, तथा बन्ध-मोक्ष को भावश्रुतज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान प्रकाश के द्वारा "जैसा इनका स्वरूप है वैसा" प्रकाशित करता है ।

भावार्थ :– द्रव्यानुयोग दीपक बाधा रहित जीव-अजीव के स्वरूप को, पुण्य-पाप के स्वरूप को, कर्म के बन्ध के स्वरूप को तथा कर्मों से छूटजानेरूप मोक्ष के स्वरूप को "जिस प्रकार से आत्मा में उद्योत हो जाये उस प्रकार" विस्तार से दिखलाता है ।

इस प्रकार चार अनुयोगरूप सम्यक् श्रुतज्ञान के स्वरूप का वर्णन किया । ज्ञान के बीस भेद, अंगों तथा पूर्वों का वर्णन करने से ग्रन्थ बहुत बढ़ जायेगा, इसलिये उनका यहाँ वर्णन नहीं किया।

द्वितीय – सम्यग्ज्ञान अधिकार

समाप्त

परिशिष्ट-२

ज्ञान की आराधना

ज्ञान को उजागर सहज सुख सागर, सुगुन रत्नाकार विराग रस भरयो है ।
सरन की रीति हरै मरन को न भय करै, करन सौं पीठि दे चरन अनुसरयो है ॥
धरम को मण्डन भरम को विहण्डन है, परम नरम हो के करम सौं लरयो है ।
ऐसौ मुनिराज भुविलोक में विराजमान, निरखि बनारसी नमस्कार करयो है ॥१॥

जाकै घट प्रगट विवेक गणधर कौ सौ, हिरदै हरखि महामोह को हरतु है ।
सांचो सुख मानै निज महिमा अडोल जानै, आपुही में आपुनो स्वभाव ले धरतु है ॥
जैसे जल कर्दम कतकफल भिन्न करै, तैसें जीव अजीव बिलछनु करतु है ।
आतम शकति साधै ज्ञान को उदौ आराधै, सोई समकिती भव सागर तरतु है ॥२॥

भेष में न ज्ञान नहिं ज्ञान गुरुवर्तन में, मंत्र जंत्र तंत्र में न ज्ञान की कहानी है ।
ग्रन्थ में न ज्ञान नहिं ज्ञान कवि चातुरी में, बातन में ज्ञान नहिं ज्ञान कहा वानी है ॥
तातैं भेष गुरुता कवित्त ग्रन्थ मंत्र बात, इनतैं अतीत ज्ञान चेतना निसानी है ।
ज्ञान ही में ज्ञान नहिं ज्ञान और ठौर कहूँ, जाके घट ज्ञान सो ही ज्ञान का निदानी है ॥३॥

- नाटक समयसार

प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निश्चय करके, फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारण जो इंद्रियों के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं, उन्हें मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा नाना प्रकार के पक्षों के आलंबन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता को उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मान-मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान - तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल ...... परमात्म स्वरूप आत्मा को जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है और ज्ञात होता है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ।

- समयसार गाथा १४४ टीका.

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके ।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्म मोक्षेच्छा तुझे ॥२०५॥

- समयसार

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा ।
अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥२॥

- समयसार कलश



तृतीय – अणुव्रत अधिकार

अब सम्यक्‌चारित्र नाम के तीसरे अधिकार का वर्णन करते हुए चारित्र स्वरूप जो धर्म है, उसे कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

अर्थ :– दर्शनमोहरूप अंधकार के दूर होने पर, सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर, जिसे सम्यग्ज्ञान की भी प्राप्ति हो गई है, ऐसा साधु (सत्पुरुष) जो निकटभव्य है, वह रागद्वेष के पूर्ण अभाव के लिये चारित्र अंगीकार करता है ।

भावार्थ :– अनादिकाल से दर्शनमोहनीयकर्म के उदयरूप अंधकार से इस संसारी जीव का ज्ञान नेत्र ढका हुआ है, जिससे यह स्व-पर के भेदज्ञान से रहित होकर चारों गतियों में पर्याय (शरीर) को ही आत्मा जानता हुआ अनंतकाल से परिभ्रमण कर रहा है । **किसी जीव को करणलब्ध्यादि कारण मिलने पर दर्शनमोह के उपशम–क्षयोपशम–क्षय होने पर सम्यग्दर्शन होता है, तब मिथ्यात्व का अभाव होने से ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है, उस समय कोई सम्यग्ज्ञानी सज्जन पुरुष रागद्वेष के पूर्ण अभाव के लिये चारित्र अंगीकार करता है ।**

अब रागद्वेष का अभाव होने पर ही हिंसादि का अभाव होने का नियम है, ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

रागद्वेषनिवृत्तेः हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥

अर्थ :– रागद्वेष का अभाव होने पर हिंसादि पाँचों पापों की पूर्ण निवृत्ति अर्थात् अभाव हो जाता है । **पाँच पापों का अभाव होना ही चारित्र है ।** जिसे अपने किसी प्रयोजन के लिये कोई भी पदार्थ की अभिलाषा नहीं रह गई है, ऐसा पुरुष क्यों किसी राजा आदि की सेवा करेगा ? नहीं करेगा । राजादि की महाकष्टरूप सेवा तो जिसे भोगों की चाह हो, धन तथा अभिमान आदि की अभिलाषा होती है, वही करता है । जिसे कुछ अपेक्षा (चाहना) नहीं है, वह राजा की सेवा नहीं करता है । उसी प्रकार जिसके रागद्वेष का अभाव हो गया, वह पुरुष हिंसादि पाँच पापों में प्रवृत्ति नहीं करता है ।

अब चरित्र का लक्षण रागद्वेष का अभाव कहा है इसी को श्लोक द्वारा कहते हैं :-

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥

अर्थ :– हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनसेवन, परिग्रह - ये पाप आने के बड़े रास्ते (परनाला) हैं, इनसे विरक्त हो जाना ही सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है।

भावार्थ :– निश्चय चारित्र तो बाह्य समस्त प्रवृत्तियों से छूटकर परम वीतरागता के प्रभाव से परम साम्यभाव को प्राप्त होकर, **अपने ज्ञायकभावरूप स्वभाव में चर्या है, उसी का नाम स्वरूपाचरण चारित्र है।** तो भी पाँच पापों से विरक्त होकर अन्तर-बाह्य प्रवृत्ति की उज्ज्वलतारूप व्यवहार चारित्र के बिना निश्चय चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये हिंसादि पाँच पापों का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। **पाँच पापों का त्याग करना ही चारित्र है।**

अब चारित्र के दो भेद हैं ऐसा कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम् ॥५०॥

अर्थ :– समस्त अंतर-बाह्य परिग्रह से विरक्त जो अनगार अर्थात् गृह मठादि नियत स्थान रहित वनखण्डादि में परम् दयालु होकर निरालम्बी विचरण करते हैं ऐसे **ज्ञानी मुनीश्वरों के जो चारित्र होता है वह सकल चारित्र है।** जो स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि परिग्रह सहित घर में ही निवास करते हैं, जिनवचनों के श्रद्धानी हैं, न्यायमार्ग का उलंघन नहीं करते हैं, पापों से भयभीत हैं ऐसे **ज्ञानी गृहस्थों के विकल चारित्र है।**

भावार्थ :– गृह-कुटुम्ब आदि के त्यागी, अपने शरीर से निर्ममत्व रहनेवाले साधुओं के सकल चारित्र होता है। गृह-कुटुम्ब-धनादि सहित गृहस्थों के विकल चारित्र होता है।

अब गृहस्थों के विकल चारित्र कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
पञ्च-त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥५१॥

अर्थ :– गृहस्थों के अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतरूप तीन प्रकार का चारित्र होता है। उस तीन प्रकार के चारित्र के क्रमशः पाँच, तीन और चार भेद परमागम में कहे हैं।

भावार्थ :– जो गृहवास छोड़ने में समर्थ नहीं है, ऐसा सम्यग्दृष्टि घर में रहता हुआ ही पाँच प्रकार के अणुव्रत, तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत धारण करके चारित्र को पालता है।

अब पाँच प्रकार के अणुव्रत कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्छाभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥५२॥

अर्थ :– प्राणों का अतिपात अर्थात् वियोग करना उसे प्राणातिपात अर्थात् **हिंसा** कहते हैं; वितथ अर्थात् असत्य, व्याहार अर्थात् वचन बोलना उसे वितथ व्याहार अर्थात् असत्य वचन कहते हैं; स्तेय

अर्थात् चोरी, काम अर्थात् मैथुन, मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह, ये पाँच स्थूल पाप हैं । इन स्थूल पापों से विरक्त होना अणुव्रत है ।

भावार्थ :– मारने के संकल्प से जो त्रस जीवों की हिंसा का त्याग है, वह स्थूल **हिंसा** का त्याग है । जिस वचन से अन्य प्राणी का घात हो जाये, धर्म बिगड़ जाये, अपवाद-निन्दा हो जाये, कलह-संक्लेश, भय आदि प्रकट हो जाये - ऐसा वचन क्रोध, अभिमान, लोभ के वश होकर कहने का त्याग करना, वह स्थूल **असत्य** का त्याग है । बिना दिया अन्य के धन का लोभ के वश होकर व छल करके ग्रहण करने का त्याग करना, वह स्थूल **चोरी** का त्याग है । अपनी विवाही स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों में कामभाव की अभिलाषा का त्याग करना, वह स्थूल **काम** त्याग है। दश प्रकार के परिग्रह का प्रमाण करके अधिक परिग्रह के ग्रहण करने का त्याग करना, वह स्थूल **परिग्रह** त्याग है । इस प्रकार पाप आने के परनाले ये पाँच पाप हिंसादि हैं, उनका त्याग ही पाँच अणुव्रत हैं ।

अब अहिंसा अणुव्रत का स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ।।५३।।

अर्थ :– जो गृहस्थ मन-वचन-काय पूर्वक कृत-कारित-अनुमोदनारूप संकल्प से चर प्राणी दो इंद्रियादि त्रस जीवों का घात नहीं करता है, उसे निपुण पुरुष अर्थात् गणधर देव स्थूल हिंसा से विरक्त कहते हैं ।

यहाँ ऐसा जानना – जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन सहित है, दयावान है, हिंसा से भयभीत है, त्याग करने की भावना है - त्याग के सम्मुख है, तो भी उससे एकेन्द्रिय जो पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीव हैं, उनकी हिंसा का त्याग तो बन नहीं सकता है । त्रस और स्थावर दोनों की हिंसा का त्याग तो गृहत्यागी, जो मुनीश्वर हैं, उनसे ही बन सकता है । गृहस्थ के प्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के उदय से गृह से ममता छूटी नहीं है, फिर भी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा के त्याग से भगवान् ने उसके अहिंसा अणुव्रत कहा है ।

संकल्पी हिंसा का त्याग इस प्रकार जानना – दयावान गृहस्थ अपने परिणामों द्वारा मारने के भावरूप संकल्प से तो त्रसजीवों का घात कभी करता नहीं है, कराता नहीं है, घात करने की मन-वचन-काय से कभी प्रशंसा करता नहीं है, ऐसे परिणाम रखता है । यदि कोई दुष्टजीव बैर या ईर्ष्या आदि से मारना चाहे, आजीविका धन आदि छीनना चाहे तो वह उसका भी घात नहीं करना चाहता है । उसे बहुत धन देकर भी यदि कोई किसी का घात कराना चाहे तो वह संकल्प पूर्वक चींटी मात्र को भी कभी नहीं मारता है । **यदि एक जीव को मारने से उसका रोग आपत्ति आदि दूर हो सकती हो तो भी जीने के लोभ से वह त्रस जीवों का घात नहीं करता है ।** हिंसा से अत्यन्त भयभीत रहता है, तो भी गृहस्थी के आरम्भ में त्रस जीवों का घात हुए बिना नहीं रहता है; इसी कारण से गृहस्थ मारने के संकल्प से की जाने वाली त्रस हिंसा का त्याग करता है ।

आरम्भी हिंसा का त्याग करने में गृहस्थ समर्थ नहीं है। वह तो आरम्भ में यत्नाचार सहित प्रवर्तता हुआ केवल दया धर्म को नहीं भूलता है। आरम्भ किये बिना गृहस्थी का निर्वाह नहीं हो सकता है। कितने ही प्रकार का आरम्भ तो नित्य ही करना पड़ता है - चूल्हा जलाना १, चक्की पीसना २, ओखली में कूटना ३, बुहारी से झाड़ना ४, पानी भरना ५, धन कमाना ६, ये छह पाप के कर्म तो नित्य ही होते हैं।

कितने ही अनेक प्रकार के अन्य आरम्भ दूसरे कारणों से भी हमेशा करना पड़ते हैं; जैसे अपने पुत्र-पुत्री का विवाह करना; मकान बनाना, लीपना, धोना, झाड़ना, रात्रि गमन करना, धातु-पाषाण-काष्ठ आदि का सामान बनवाना; शैय्या-आसन बिछाना-उठाना, पांव पसारना-समेटना; समाज को जिमनवार कराना, दीपक जलाना; गाड़ी, रथ, हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल इत्यादि पर बैठकर चलना; **गाय-भैंस रखना इत्यादि सब पाप के ही कार्य हैं; इनमें त्रस जीवों का घात होता ही है**। जिन मंदिर बनवाना, उसमें दान देना, पूजन करना इनमें भी आरम्भ होता है।

तब त्रस हिंसा का त्याग कैसे होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं - अपना परिणाम तो जीव मारने का है नहीं, जीव मारने के लिये आरम्भ करता नहीं है, ऐसा राग भाव भी नहीं है कि इस कार्य के करने से कोई जीव मर जाये तो अच्छा है। वह तो जीव विराधना से भयभीत होकर गृहस्थी चलाने के लिये आरम्भ करता है, जीव मारने के लिये नहीं करता है। अपने परिणामों में तो उठाते-धरते हुए, उठते-बैठते हुए, लेते-देते हुए जीवों की रक्षा करने ही का संकल्प करता रहता है, मारने का संकल्प नहीं करता है; उसे पाप बंध कैसे होगा ? जीव अपने-अपने आयुकर्म के आधीन स्वयं ही उत्पन्न होते और मरते हैं, इसके हाथ में कुछ नहीं है। यह तो जितना आरम्भ करता है, वह सब यत्नाचार पूर्वक दयाभाव रूप होकर करता है। **भगवान् के परमागम में हिंसा होते हुए भी यत्नाचारी को बंध होना नहीं कहा है।**

समस्त लोक जीवों से भरा है। हिंसा-अहिंसा अपने उपयोग बिना मात्र जीवों के मरने जीने के आधार पर नहीं कही जाती है। अपने परिणामों के आधीन हिंसा और अहिंसा है। **सिद्धान्त ग्रन्थ में इस प्रकार कहा है** - यदि कोई मुनिराज चार हाथ प्रमाण आगे की जमीन को सोधते-देखते हुए गमन कर रहे हों तथा जब पैर को उठाकर रख रहे हों, उसी समय कोई जीव उछलकर पैर के नीचे आकर गिर पड़े और मर जाये, तो मुनिराज को कुछ भी पाप बंध नहीं होता है; क्योंकि साधु के चित्त में ईर्या समिति को पालन करने का भाव था, इसलिये पाप बंध नहीं होता है।

वे मुनिराज तो प्रासुक आहार जानकर देखकर सोधकर लेते हैं, कोई अति सूक्ष्म जीव आकर गिर पड़े तो कौन जानता है ? यह तो केवलज्ञानी भगवान ही जानते हैं। आप स्वयं यदि प्रमादी होकर यत्न से सोधे देखे बिना ही भोजन करता है तो दोषों से लिप्त होता है। इसी प्रकार यदि श्रावक भी प्रमाद छोड़कर बड़ी सावधानी से प्रवर्तन करता है तो कैसे दोष लगेगा ? वह तो चूल्हे को दिन में सोधकर झाड़कर, ईंधन झटकार कर, यत्नपूर्वक अग्नि जलाता है। इसी तरह चक्की,

ओखली भी सोधकर झाड़कर, अनाज को सोधकर पीसने-कूटने का आरम्भ करता है; घुना-बींधा अनाज प्रयोग में नहीं लेता है, दिन में देखकर कोमल कूची-मूंज आदि के द्वारा जीवों की विराधना के भय सहित बुहारी देता है, पानी रखने के स्थान को झाड़ता है, तथा जल को दुहरे मोटे वस्त्र से छानकर यत्नाचार पूर्वक वर्तता है ।

उद्योगी हिंसा का त्याग : श्रावक द्रव्य का उपार्जन भी अपने कुल के योग्य सामर्थ्य सहायता के योग्य जैसे यश और धर्म नीति नहीं बिगड़े उस प्रकार यत्नाचार पूर्वक असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प - इन छह कर्मों द्वारा करता है । श्रावक के व्रत तो चारों वर्णों में होते हैं । **यदि उज्ज्वल हिंसा रहित कर्म से अपनी आजीविका होती हो तो निंद्यकर्म द्वारा, संक्लेश भाव द्वारा, लोभादि के वशीभूत होकर पापरूप आजीविका नहीं करना चाहिये ।** यदि अपने लिये अन्य उत्तम आजीविका का उपाय नहीं दीखता है तो घटाकर (कम करके) पाप से भयभीत होता हुआ न्यायपूर्वक ही करे ।

विरोधी हिंसा का त्याग : क्षत्रिय कुल का शस्त्रधारी श्रावक हो तो दीन-अनाथ की रक्षा करता हुआ दीन-दुःखी-निर्बल का घात नहीं करे, शस्त्र रहित को नहीं मारे, गिरे पड़े हुए का घात नहीं करे, पीठ दिखाकर भागने वालों-दीनता के बचन बोलने वालों का घात तो करना ही नहीं चाहिये। धन को लूटने के लिये घात नहीं करे; अभिमान से, बैर से घात नहीं करे । जो अपने ऊपर घात-बार करता हुआ आ रहा हो उसको तथा दीनों को मारने को आ रहे हों उनको शस्त्र से रोके । यदि शस्त्र से आजीविका कर रहा हो तो केवल स्वामी धर्म से तथा अनाथों की रक्षा का भार आप पर हो तो शस्त्र धारण करे । जो शस्त्र सम्बन्धी नौकरी नहीं करता हो और जिस पर प्रजा की रक्षा का भार (स्वामीपना) भी नहीं हो, उसे व्यर्थ ही शस्त्र धारण नहीं करना चाहिये ।

स्याही से न्याय-नीति पूर्वक ही आजीविका करना चाहिये । आमद-खर्च लिखने की जीविका हो तो मायाचार आदि दोष रहित होकर स्वामी के कार्य को यथावत् सही लिखकर जीविका करना चाहिये ।

खेती का त्याग : माली, जाट इत्यादि कुल में यदि अन्य जीविका नहीं हो तो कृषि द्वारा आजीविका करते हुए भी दया धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये । जो खेत पहले बोता आया हो उसी का प्रमाण करके अधिक का त्यागी होकर खेती करे । अधिक तृष्णा नहीं करे । उसमें से भी बहुत घटाता हुआ अपनी निन्दा करता हुआ खेती करे । बहुत जल सींचता है तो भी स्वयं तो एक चुल्लुभर भी अनछना जल नहीं पीता है ।

कोई आकर बहुत धन भी देवे और कहे कि तुम यहाँ धान्य के बहुत वृक्ष पौधे काटते हो, हमसे एक स्वर्ण की मोहर लेकर हमारे वृक्ष की एक डाल ही काट आओ; तो भी वह लोभ के वश होकर कभी नहीं काटता है । खेती में बहुत जीव मरते हैं, तो भी यहाँ इसका जीवों को मारने का अभिप्राय नहीं है, केवल आजीविका का अभिप्राय है । कोई सौ मोहर देवे तो भी

लोभ के वश होकर अपने संकल्प से एक चींटी भी नहीं मारता है, ऐसी व्रत में दृढ़ता है । **उत्तम कुलवाला तो खेती करता ही नहीं है ।**

विद्या द्वारा आजीविका करनेवाले ब्राह्मण आदि श्रावक मिथ्यात्वभाव के पुष्ट करनेवाले तथा हिंसा की प्रधानता लिये राग द्वेष को बढ़ानेवाले शास्त्रों को त्यागकर उज्ज्वल विद्या पढ़ाते हैं, वही दया है ।

श्रावक तो बहुत हिंसा के खोटे वाणिज्य-व्यापार त्यागकर, न्याय पूर्वक, तीव्र लोभ को छोड़कर, अपनी अंतरंग में निन्दा करते हुए, संतोष सहित, प्रामाणिक, सत्य सहित व्यवहार करता है; दया धर्म को नहीं भूलता है । सब जीवों को अपने समान जानता हुआ व्यापार करता है ।

शिल्पकर्म करने वाला शूद्र भी जो श्रावक के व्रत ग्रहण करता है, वह बहुत निंद्य कर्मों को तो छोड़ ही देता है । यदि छोड़ने में समर्थ नहीं हुआ तो उसमें बहुत हिंसा को टालकर दया रूप प्रवर्तता है । संकल्प पूर्वक किसी को मारना ही है - ऐसा जानबूझकर घात नहीं करता है ।

मंदिर बनवाना, पूजन करना, दान देना आदि कार्यों में निरन्तर बड़े यत्नाचार से केवल दया धर्म के निमित्त ही प्रवर्तन करता है ।

हिंसा का भाव क्यों होता है ? इसके विषय में पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने इस प्रकार कहा है -

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥ पु.सि.

अर्थ :- कषाय पूर्वक इंद्रिय कायादि द्रव्य प्राणों का तथा ज्ञानदर्शन आदि भाव प्राणों का वियोग करने से निश्चित ही हिंसा होती है ।

भावार्थ :- कषाय के वश होकर पर के द्रव्यप्राणों और भावप्राणों का वियोग करने से निश्चित ही हिंसा होती है । कषाय रहित के द्वारा प्राणी का मरण मात्र हो जाने से हिंसा नहीं होती है । जो स्वयं कषाय सहित होकर अन्य जीव को मारने का भाव करता है उसे हिंसा होती है, वह हिंसक है ।

जैन धर्म का सार : हिंसा-अहिंसा का स्वरूप -

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥ पु.सि.

अर्थ :- आत्मा के परिणामों में राग-द्वेष आदि का उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है, तथा आत्मा के परिणामों में राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति हो जाना ही हिंसा है । जिनेन्द्र भगवान के आगम का संक्षेप तो इस प्रकार है ।

बाह्य में प्राणियों की हिंसा होओ या नहीं होओ, यदि परिणाम राग-द्वेष आदि कषाय सहित हो गदे तो अपने ज्ञान-दर्शन आदि भावप्राणों का घात हो गया, वही आत्म हिंसा है । जो आत्म हिंसा करता है वह अन्य की हिंसा भी करता ही है, जिसके आत्म हिंसा है उसके पर की हिंसा भी होती ही है ।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥ पु.सि.

अर्थ :- योग्य आचरण करने वाले सत्पुरुष के रागद्वेषादि कषाय के बिना प्राणों के घात मात्र से ही कभी हिंसा नहीं होती है ।

भावार्थ :- यत्नाचार पूर्वक दया सहित प्रवर्तन करनेवाले पुरुष के द्वारा जीव घात होने पर भी हिंसाकृत बंध नहीं होता है ।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥ पु.सि.

अर्थ :- रागद्वेष आदि पूर्वक जो प्रवृत्ति, गमन, आगमन, उठना, बैठना, धरना, उठाना, ऐसे आरंभ जिनमें जीवों का मरण हो या नहीं हो, हिंसा तो निश्चय से आगे दौड़ती है अर्थात् अवश्य होती ही है । जो यत्नाचार रहित होकर आरम्भ करता है उसके द्वारा, जीव अपने आयु के आधीन मरे या ना मरे, वह तो अपने परिणामों में निर्दयी हो गया, उसे तो हिंसाकृत बंध आगे-आगे दौड़ता है ।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥ पु.सि.

अर्थ :- कषाय सहित होता हुआ आत्मा प्रथम तो अपने ही द्वारा अपना ही घात करता है, पश्चात् अन्य प्राणी की हिंसा हो या नहीं हो । **जिस समय आत्मा कषाय सहित हुआ उसी समय में अपने ज्ञानानंद वीतराग स्वरूप का घात तो अवश्य ही कर चुकता है ।**

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥ पु.सि.

अर्थ :- हिंसा के विषय में विरक्त होकर उसका त्याग नहीं करना वह भी हिंसा है तथा हिंसा की प्रवृत्ति करना वह तो हिंसा है ही । प्रमत्तयोग होने से प्राणों का घात नित्य ही लगातार होता रहता है ।

भावार्थ :- अपना और दूसरे का घात हो जाने की सावधानी से रहित जो मन-वचन-कायरूप योगों का प्रवर्तन है उसका नाम प्रमत्तयोग है । जहाँ प्रमत्तयोग है वहाँ शाश्वती-लगातार होनेवाली-हिंसा है । यदि कोई हिंसा तो नहीं करता है किन्तु हिंसा से विरक्त होकर हिंसा का त्याग नहीं करता

है, तो वह सोते हुए बिलाव के समान सदाकाल हिंसक ही है। जो हिंसा में प्रवर्तन करता है वह तो हिंसक है ही। बाह्य हिंसा का निमित्त मिले या ना मिले भावों से तो दोनों ही हिंसक हैं।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥ पु.सि.

अर्थ :– पुरुष के जो भी हिंसा होती है वह तो अपने परिणामों में हिंसा करने का भाव हो जाने से होती है; अन्य वस्तु तो सूक्ष्म हिंसा के लिये भी कारण नहीं होती है। **यहाँ कोई प्रश्न करता है** – यदि पर द्रव्य के निमित्त से सूक्ष्म भी हिंसा नहीं होती है तो बाह्य वस्तु का त्याग, व्रत, संयम किसलिये करते हैं ?

इसका उत्तर कहते हैं :– हिंसा तो जीव के हिंसक परिणाम होने पर ही होती है, परन्तु जो हिंसा के स्थानों में प्रवर्तन करेगा उसके हिंसा के परिणाम कैसे नहीं होंगे ? इसलिये अपने परिणामों की विशुद्धता के लिये जहाँ हिंसा होती हो ऐसे खान-पान, ग्रहण, आसन, वचन, चिंतवन आदि का त्याग करना उचित ही है।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ॥५०॥ पु.सि.

अर्थ :– जिस जीव ने निश्चयनय का विषय रागादि कषाय रहित शुद्ध आत्मा के स्वरूप को तो जाना नहीं है, और ऐसा मानकर कि मेरे भाव तो कषाय रहित हैं, मेरी समस्त प्रवृत्ति में हिंसा होती ही नहीं है, व्यर्थ की कल्पना करके निरर्गल यथेच्छ प्रवर्तता है, वह अज्ञानी बाह्य आचरण की अहिंसक प्रवृत्ति छोड़कर प्रमादी हुआ करण-चरण रूप (भावरूप तथा क्रियारूप) सम्पूर्ण चारित्र का नाश करनेवाला है।

भावार्थ :– जिसके परिणाम राग-द्वेष रहित हुए हैं वह अयोग्य भोजन, पान, धन, परिग्रह, आरम्भ आदि में कैसे प्रवर्तन करेगा ? जो हिंसा से विरक्त है वह हिंसा के कारण दूर ही से छोड़ देगा।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में हिंसा के विषय में आगे और भी कहा है –

१. कोई तो हिंसा किये बिना ही हिंसा के फल को भोगने वाले हो जाते हैं। जैसे - शस्त्र बनाने वाले लुहार, सिकलीगर हिंसा किये बिना ही तन्दुलमच्छ के समान हिंसा के फल को (तीव्र अशुभ बंध) प्राप्त हो जाते हैं।

२. कोई दयावान होकर यत्नाचार पूर्वक जिनमंदिर बनवाने वाला बाह्य में हिंसा होने पर भी हिंसा के फल को प्राप्त नहीं करता है।

३. कोई पुरुष ने हिंसा तो अल्प की थी, परन्तु तीव्र राग-द्वेषरूप भावों से की थी, इसलिये उदयकाल में बहुत अधिक खोटा फल प्राप्त करता है।

४. कहीं अनेक पुरुषों ने मिलकर एक जीव की हिंसा की; वहां उस हिंसा को करने में जो तीव्र कष:यवाला था उसे तीव्र फल प्राप्त होता है, तथा जो मध्यम कषायवाला था उसे मध्यम फल प्राप्त होता है ।

५. किसी पुरुष से हिंसा तो बाद में समय पाकर होगी, किन्तु हिंसा करने के परिणाम पहले कर लिये, जिससे हिंसा का फल (कर्मबंध) हिंसा करने के पहले ही उदय में आकर रस देने लगता है ।

६. किसी को हिंसा करते समय ही हिंसा का फल मिलने लगता है । जैसे - कोई पुरुष किसी दूसरे को मारने लगा, उसी समय में ही वही पुरुष दूसरे पुरुष द्वारा किये गये प्रहार से स्वयं मार दिया जाता है ।

७. किसी को पहिले की गई हिंसा का फल बहुत समय के बाद में मिलता है । जैसे - किसी ने दूसरे जीव को मारने का उपाय तो किया किन्तु उपाय बना नहीं; उसके कुछ समय बाद दूसरे को इसके द्वारा मारने को किये गये उपाय का पता लग गया तो उसने इसी का घात कर दिया ।

८. कहीं हिंसा तो एक जीव करता है किन्तु उस हिंसा का फल अनेक जीव भोगते हैं । जैसे - चोर तथा हत्यारे को सूली पर चढ़ाकर मारता तो एक अकेला चाण्डाल है, किन्तु देखनेवाले, अनेक तमाशगीर उसकी अनुमोदना करके पापबंध करके फल भोगते हैं ।

९. कहीं हिंसा करते तो अनेक जीव हैं, किन्तु उस हिंसा का फल एक जीव भोगता है । जैसे - युद्ध में हिंसा करनेवाले तो अनेक योद्धा होते हैं, किन्तु उस युद्ध में हुई हिंसा का फल एक अकेला राजा ही भोगता है ।

१०. किसी को उसके द्वारा की हुई हिंसा तो हिंसा ही का फल देती है, तथा किसी को उसके द्वारा की हुई हिंसा उसे ही अहिंसा का फल देती है । जैसे - कोई पुरुष किसी जीव की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु यत्न करते-करते भी यह जीव मर गया; तो इसे रक्षा करने के अभिप्राय से अहिंसा का ही फल मिलेगा ।

११. एक जीव का परिणाम तो दूसरे जीव को मारने का था या विपत्ति में डालने का था; किन्तु दूसरे जीव के पुण्य का उदय होने से उस पर न तो कोई आपत्ति ही आई, और न ही उसका मरण हुआ; किन्तु अनेक प्रकार का लाभ ही हुआ । यहाँ पर मारने का अभिप्राय रखनेवाले जीव को तो पाप ही का बंध होगा ।

१२. एक जीव का परिणाम दूसरे जीव को दुःख देने या मारने का नहीं था, सुख देने व रक्षा करने ही का था; किन्तु दूसरे जीव को दुःख हो गया या वह मर गया, तो इस जीव को सुख देने का परिणाम होने से पुण्य बंध ही होगा ।

इस प्रकार अनेक गूढ़-गहन भेदों वाला यह जिनेन्द्र का मार्ग है, इसमें एकांती मिथ्यादृष्टियों का पार होना अत्यंत कष्ट सहकर भी संभव नहीं है । अनेकान्त के प्रभाव से नय समूह को जानने वाले गुरु ही शरण हैं । यह जिनेन्द्र भगवान का नयचक्र अत्यन्त पैनी धारवाला होने से एकांत दुष्टआग्रह वाले मिथ्यादृष्टियों की मिथ्यायुक्तियों के हजारों खण्ड करनेवाला है ।

इसलिये हे ज्ञानीजनों ! भगवान वीतराग की आज्ञा से सर्व प्रथम ही हिंसा होने योग्य जो जीवों के स्थान, इंद्रिय, काय, जीवों के कुल आदि हैं उन्हें जानो; पश्चात् हिंसा करने वाले भाव को जानो; उसके पश्चात् हिंसा का जो स्वरूप कहा है उसे जानो; और फिर हिंसा के फल को जानो ।

इस प्रकार **हिंस्य, हिंसक, हिंसा, हिंसा का फल** – इन चार को अच्छी तरह प्रयत्नपूर्वक जानने के बाद देश, काल, सहायक, अपने परिणाम, और निर्वाह होना जानकर, अपनी शक्ति को बिना छिपाये गृहस्थ अवस्था में भी अपने पद के अनुसार हिंसा का त्याग ही करो । त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का तो त्याग ही करो और समस्त आरंभ में दयावान होकर यत्नाचार पूर्वक प्रवर्तन करो; पाँच स्थावरों के आरम्भ में क्रमशः घटाते हुए दयावान होकर प्रवर्तो । इस प्रकार अहिंसाणुव्रत का स्वरूप कहा ।

अब अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार बतलानेवाला श्लोक कहते हैं :-

छेदनबंधनपीडन　　मतिभारारोपणं　　व्यतीचाराः ।
आहारवारणापि　　च　स्थूलबधाद्व्युपरतेः　पञ्च ॥५४॥

अर्थ :- ये स्थूल हिंसा का त्याग नामक अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार हैं, जो गृहस्थ को त्यागने योग्य हैं ।

छेदन अर्थात् अन्य मनुष्य-तिर्यंचों के कान, नाक, ओष्ठ आदि अंगों को छेदना वह **छेदन** नाम का अतिचार है । १ । मनुष्यों को बंधन आदि द्वारा बांधना, बंदीगृह में डाल देना; तिर्यंचों को मजबूत बंधन से बांधना, पक्षियों को पिंजरे में बंद करना इत्यादि **बंधन** नाम का अतिचार है । २ । मनुष्य-तिर्यंचों को लात, घमूका, लाठी, चाबुक, आदि के प्रहार से कष्ट देना वह **पीड़न** नाम का अतिचार है । ३ ।

मनुष्य-तिर्यंचों तथा उनकी गाड़ी पर बहुत बोझ लादना वह **अतिभारारोपण** नाम का अतिचार है । ४ ।

मनुष्य-तिर्यंचों को खाने-पीने से रोकना वह **अन्नपान निरोध** नाम का अतिचार है । ५ । ये पाँच अचितार स्थूल हिंसा के त्यागी को त्यागने योग्य ही हैं ।

अब सत्याणुव्रत का स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति　सन्तः　　स्थूलमृषावाद　　वैरमणम् ॥५५॥

अर्थ :– जो स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता, न दूसरे से कहलाता है, तथा जिस वचन से अपने पर या दूसरे पर आपत्ति आ जावे ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है; उसे संत पुरुष स्थूल झूठ का त्याग कहते हैं ।

भावार्थ :– सत्य अणुव्रत का धारी क्रोध-मान-माया-लोभ के वशीभूत होकर ऐसा वचन नहीं बोलता जिससे अन्य का घात हो जाये, अपवाद हो जाये, कलंक लग जाये क्योंकि वही तो निंद्य वचन है ।

जिस वचन से मिथ्याश्रद्धान हो जाये, धर्म से छूट जाये, व्रत-संयम-त्याग में शिथिल हो जाये, श्रद्धान बिगड़ जाये, ऐसे वचन नहीं कहता है । जिस वचन से कलह-विसंवाद पैदा हो जाये, विषयों में अनुराग बढ़ जाये, बहुत आरम्भ में प्रवृत्ति हो जाये, दूसरे को आर्तध्यान हो जाये, काम वेदना, प्रकट हो जाये, दूसरे के लाभ में अंतराय हो जाये, दूसरे की जीविका बिगड़ जाये, अपना तथा दूसरे का अपयश हो जाये - ऐसे निंद्य वचन सत्याणुव्रती को कहना योग्य नहीं है ।

ऐसा सत्य वचन भी नहीं कहे जिससे अपना व दूसरे का बिगाड़ हो जाये, आपत्ति आ जाये, अनर्थ पैदा हो जाये, दुःख पैदा हो जाये, मर्म छिद जाये, राजा से दण्ड हो जाये, धन की हानि हो जाये । ऐसा सत्य वचन भी झूठ ही है । गाली के वचन, भण्ड वचन, नीच कुलवालों के बोलने के वचन, मर्मच्छेदी वचन, पर के अपमान के वचन, तिरस्कार के वचन, अहंकार के वचनों को कभी नहीं कहना चाहिये ।

जिनसूत्र के अनुकूल, अपने पद के हितरूप, बहुत प्रलाप रहित, प्रामाणिक, संतोष उत्पन्न करनेवाले, धर्म का प्रकाश फैलानेवाले वचन कहना चाहिये; जिनसे न्यायरूप आजीविका सधे, अनीति रहित होय, ऐसे वचनों को कहनेवाले गृहस्थ के स्थूल असत्य का त्यागरूप दूसरा अणुव्रत होता है।

अब सत्याणुव्रत के पांच अतिचार कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च ।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ।।५६।।

अर्थ :– यहाँ परिवाद का अर्थ मिथ्या उपदेश देना है । जो चारित्र स्वर्ग व मोक्ष का कारण है, उस चारित्र के संबंध में अन्यथा उपदेश देना वह **परिवाद** नाम का अतिचार है । १ ।

किसी ने अपनी कोई गुप्त बात बताई हो, वह बात किसी तीसरे से कह देना-विख्यात कर देना, तथा किसी स्त्री या पुरुष की एकांत की गुप्त चेष्टा देखकर या गुप्त वचन सुनकर किसी अन्य से कह देना-प्रकट कर देना वह **रहोभ्याख्यान** नाम का अतिचार है । २ ।

किसी की कोई कमजोरी जानकर उसका बिगाड़ कराने के अभिप्राय से किसी को छिपकर कह देना, चुगली करदेना, वह **पैशून्य** नाम का अतिचार है । ३ ।

किसी को बिना स्पष्ट कहे तथा बिना आचरण किये, बिना समझाये ही झूठा लिख देना कि इसने ऐसा कहा है, ऐसा आचरण किया है - वह **कूटलेखकरण** नाम का अतिचार है । ४ ।

कोई आपको धन सौंप गया हो, वस्त्र-आभरण रख गया हो, जब वह वापिस लेने आया तो सही संख्या भूलकर कुछ कम मांगने लगा; उससे ऐसा कहना कि-तुम्हारा जितना है उतना ही ले जाओ, वह न्यासापहारिता नाम का अतिचार है । ५ ।

इस प्रकार कहे गये स्थूल असत्य का त्याग नामक अणुव्रत के पाँच अतिचार त्यागने योग्य ही हैं ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना :– अनादिकाल से बहुत काल (अश्रुतकाल) तो इस जीव का निगोदवास में ही बीता है । फिर कदाचित् निगोद से निकलकर पाँच स्थावरों में असंख्यातकाल तक परिभ्रमण करके पुनः निगोद में चला गया । वहाँ अनन्तकाल में बारम्बार अनन्तानंत परिवर्तन एक इंद्रिय में ही किये जहाँ न तो वाणी ही मिली, न जिह्वा इंद्रिय ही मिली । जब दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, असैनी पंचेंद्रिय, सैनी तिर्यंच पंचेंद्रिय में उत्पन्न हुआ, वहाँ जिह्वा तो मिली किन्तु अक्षरात्मक कहने-सुननेरूप वाणी नहीं मिली । बड़ी कठिनाई से अनन्तानंत काल में मनुष्य जन्म मिला; जहाँ बोलने की शक्ति मिली तो नीच कुलों के अयोग्य वचन, हिंसा के वचन, अपने को तथा दूसरे को दुःखी करनेवाले वचन बोलकर महापाप बन्ध करके दुर्गति का पात्र हुआ; अपने वचनों द्वारा ही अपना घातक आप हो गया । **कठिनाई से किसी पूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म पाया है तो इसमें वचन बोलने में बहुत सावधानी रखो ।**

भोजन-पान करना, कामसेवन करना, नेत्रों से देखना, कानों से सुनना, घ्राण से गंध लेना तो शूकर, कूकर, गधा, कौए के भी होता है क्योंकि आंख, नाक, कान, जीभ, स्पर्शन और कामेन्द्रिय – ये तो सभी ढोरों के भी होते हैं । इस मनुष्य जन्म में तो एक वाणी बोलना ही सार है, आश्चर्यकारी है ! जिसने इस वाणी को बिगाड़ा उसने अपना समस्त जन्म बिगाड़ लिया ।

वाणी से ही जाना जाता है कि यह पण्डित है, यह मूर्ख है, यह धर्मात्मा है, यह पापी है, यह राजा है, यह मंत्री है, यह कोतवाल है, यह रंक है, यह कुलीन है, यह अकुलीन है, यह हीनाचारी है, यह उत्तम आचारी है, यह संतोषी है, यह तीव्र लोभी है, यह धर्मवासना सहित है, यह धर्म वासना रहित है, यह मिथ्यादृष्टि है, यह सम्यग्दृष्टि है ।

यह संस्कारवान है; यह संस्कार रहित है, यह उत्तम संगतिवाला राज्य सभा में रहा हुआ है, यह ग्राम्यजन-गंवारों में रहा हुआ है; यह लौकिक चतुर है, यह लौकिक मूढ़ है; यह हस्त कला सहित है, यह कला विज्ञान रहित है; यह उद्यमी-पुरुषार्थी है, यह आलसी-प्रमादी है; यह शूर है, यह कायर है; यह दातार है, यह कृपण है; यह दयावान है, यह निर्दय है; यह दीन याचक है, यह महन्त है; यह क्रोधी है, यह क्षमावान है; यह अभिमानी है, यह विनयवान है; यह कपटी है, यह निष्कपट है, यह सरल है, यह वक्र है; इत्यादि आत्मा के समस्त गुण-दोष वचनों द्वारा ही प्रकट होते हैं । इसलिये यदि मनुष्य जन्म सफल करना चाहते हो तो एक वचन की ही उज्ज्वलता करो।

इस वाणी से ही सच्चा उपदेश देकर भगवान अरहन्त ने तीनों लोकों में वंदनीय होकर जगत को मोक्षमार्ग में प्रवर्तित कराया है; वचन ही ने अनेक जीवों का मिथ्यात्व व रागादि मल दूर करके

उन्हें अजर, अमर, अविनाशी पद प्राप्त कराया है । **पंच परमेष्ठी में भी वचनकृत उपकार के प्रभाव से प्रथम अरहन्तों को ही नमस्कार किया है** । ज्ञानी वीतरागी के वचनों से स्वर्ग, नरक आदि तीन लोक प्रत्यक्ष के समान दिखाई देते हैं । वचन ही की सत्यता के प्रभाव से पंचमकाल में धर्म चल रहा है ।

उज्ज्वल वचन, विनय के वचन, प्रिय वचन रूप पुद्गलों से समस्त लोक भरा है; कोई कीमत नहीं देना पड़ती है । किसी से जी कह देने में अपने किसी अंग में कोई कष्ट नहीं होता है; जीभ, तालु, कण्ठ में छेद नहीं हो जाता है । इसलिये जिस वचन से सभी प्राणियों को सुख उत्पन्न हो ऐसा प्रिय वचन ही बोलना चाहिये ।

असत्य वचन के प्रभाव से ही मिथ्यादेवों की आराधना की प्रवृत्ति चली है । यज्ञ आदि हिंसा के प्ररूपक वेदादि ग्रन्थों में मांस भक्षण आदि कुकर्मों में प्रवृत्ति भी असत्य वचन से ही चली है । खोटे शास्त्रों की रचना, अनेक प्रकार के मिथ्यात्वरूप मत, नरक-तिर्यंच गतियों में परिभ्रमण करानेवाला समस्त दुष्ट आचरण इस असत्य वचन के प्रभाव से ही चल रहा है ।

अयोग्य वचनों से ही घर-घर में कलह, विसंवाद, परस्पर में वैर, पीटना, मारना, प्राण ले लेना, क्रोधमय, संतापमय, अपमान आदि दिखाई देते हैं । **अप्रतीति, अविश्वास, खेद का कारण एक असत्य वचन को ही जानना** । असत्य वचन के प्रभाव से परलोक में नरक तिर्यंच गति मिलती है। कुमनुष्यों में, नीच, चांडाल, चमार, भील, कसाई इत्यादि कुलों में भी असत्य वचन ही उत्पन्न कराता है । अनेक भवों में दरिद्री, रोगी, गूंगा, बहरा, हीन, दीन असत्य वचन के प्रभाव से ही होता है ।

समस्त दुःख का मूल एक असत्यवचन ही है । अतः शीघ्र ही असत्यवचन त्याग कर एक सत्य वचन प्रिय वचन ही में प्रवृत्ति करना चाहिये । तुम्हारा वचन सभी के आदरने योग्य, अनेक देव मनुष्यों के मान्य करने योग्य होना चाहिये । समस्त श्रुत का पारगामी श्रुतकेवलीपना, गणधरपना सत्य वचन ही के प्रभाव से प्राप्त होता है । इसलिये असत्य के त्याग से ही जीव का कल्याण है, वही श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ जी में कहा है -

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥ पु.सि.

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥ पु.सि.

अर्थ :- भगवान ने समस्त असत्यवचन का मूल कारण प्रमत्तयोग को कहा है । **कषाय के आधीन होकर जो वचन कहा जाता है वह असत्य वचन है** । बिना कषाय के देना, लेना, धरना, त्यागना, ग्रहण करना, इत्यादि कहना वह असत्य वचन नहीं है । यदि गृहस्थ अपने भोगोपभोग के साधन मात्र के संबंध में सदोषवचन त्यागने में समर्थ नहीं है तो अन्य निरर्थक पाप बन्ध करनेवाले समस्त असत्यवचन का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ :– यदि अपने भोगोपभोग के साधन मात्र के संबध में सदोषवचन का त्याग नहीं हो सकता है तो असत्यवचन के त्याग करने में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है । वृथा बहुआरम्भ, बहुपरिग्रह का कारण, दुर्ध्यान का कारण, स्वयं को तथा दूसरों को संताप का कारण ऐसा निंद्यवचन-सदोषवचन का तो अवश्य ही त्याग करना श्रेष्ठ है । इस प्रकार स्थूल असत्य का त्याग नाम का दूसरा अणुव्रत कहा है ।

अब स्थूल चोरी का त्याग नाम का तीसरा अणुव्रत कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ।।५७।।

अर्थ :– किसी पुरुष का जमीन में गड़ा हुआ धन हो; किसी भी स्थान में, महल में, मंदिर में, गृह आदि में, छिपाया हुआ धन हो; आपको अमानत सौंप गया हो; अपने मकान में या दूसरे के मकान में आप को बिना बताये-जताये ही रख गया हो, गांव में नगर में रास्ते में वन में बाग में पटक गया हो, आप को सौंप कर भूल गया हो; हिसाब में, लेखे में चूक गया हो; आप के स्थान में भूल से रख गया हो, पटक गया हो; अथवा लेन-देन में, गिनती में, भूला हुआ पैसा, रुपया, मुहर, आभरण, वस्तु आदि मंहगी या थोड़े मोल की हो बिना दी हुई ग्रहण नहीं करना चाहिये । दूसरे की वस्तु उठाकर किसी अन्य को देना भी नहीं चाहिये, यह स्थूल चोरी का त्यागरूप अणुव्रत है ।

श्री कार्तिकेय स्वामी ने तो ऐसा कहा है -

जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पमुल्लेण णेय गिण्हेदि ।
वीसरियंपि ण गिण्हदि लाहे थोयेवि तूसेदि ।।३३५।। का. अनु.

अर्थ :– जिसके स्थूल चोरी का त्याग होता है वह बहुत मूल्य की वस्तु अल्प मूल्य में ग्रहण नहीं करता है । जैसे यदि कोई पुरुष अपनी वस्तु ठीक हिसाब लगाकर आपको बेचे तो सवा रुपये में बिक जायेगी, किन्तु उसने वह वस्तु सीधे ही आकर आप को सौंप दी और कहा - इसकी जो कीमत ठीक होती हो वह आप मुझे दे दो । वहाँ वह सवा-रुपये की वस्तु को प्रकट जानता हुआ लोभ के वश होकर एक रुपये (कम) में भी नहीं लेता है, जो ठीक कीमत है वही देता है । दूसरे की भूली हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करता है । ऐसा भी परिणाम नहीं करता है कि किसी निर्धन या अज्ञानी की वस्तु हमारे पास थोड़े मूल्य में आ जाये तो भला है । वह तो थोड़े लाभ में ही बहुत संतोष रखता है ।

भावार्थ :– जो वणिज के व्यवहार में तथा नौकरी में थोड़ा ही लाभ हो तो भी संतोष ही रखता है, अधिक ही लालसा नहीं करता है-उसके स्थूल चोरी का त्याग जानना ।

अब अचौर्य नाम के अणुव्रत के पांच अतिचार कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

चौरप्रयोग–चौरार्थादान–विलोप–सदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ।।५८।।

अर्थ :– अचौर्य नाम के अणुव्रत के ये पांच अतिचार हैं ।

आप स्वयं तो चौरी नहीं करता है किन्तु दूसरों को चोरी करने की प्रेरणा देता है तथा चोरी करने के उपाय बतलाता है । वह **चोरप्रयोग** नाम का अतिचार है । १ ।

चोर से चोरी करके लाये धन को लेना वह **चोरार्थादान** नाम का अतिचार है । २ ।

उचित न्याय की रीति छोड़कर अन्य रीति से धनग्रहण करना, तथा राजा की आज्ञा से जिस कार्य को करने का निषेध हो उस कार्य को करके धन ग्रहण करना वह **विलोप** नाम का अतिचार है । ३ ।

बहुत मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिला कर चला देना वह सदृशसन्मिश्र नाम का अतिचार है । जैसे घी में तेल मिला देना, शुद्ध सोने में कृत्रिम सोना मिला देना वह **सदृशसन्मिश्र** है । ४ ।

देने का बांट, तराजू आदि कम परिमाण के रखना, तथा लेने के अधिक परिमाण के रखना वह **हीनाधिक मानोन्मान** नाम का अतिचार है । ५ ।

इस प्रकार स्थूल चोरी का त्याग नाम के अणुव्रत के ये पांच अतिचार त्यागने योग्य हैं ।

इस चोरी के समान जगत में दूसरा अपराध नहीं है । समस्त उच्चता कुल, कर्म, धर्म विनाश करने वाली तथा समस्त प्रतीति, बड़प्पन का विध्वंस करने वाली चोरी है । चोरी का धन भी वेश्यासेवन में, पर स्त्री में, व्यसनों में, अभक्ष्य भक्षण में खर्च होता है; व अन्य किसी के पास में ही रखा रह जाता है, संतोष नहीं होता है, क्लेश बना ही रहता है । यदि चोरी का धन प्रकट हो जाता है तो चोर को राजा तीव्र दण्ड देता है; सभी लोग मारते हैं, हाथ नाक का छेदना, सर्वस्व हरण आदि दण्ड यहीं प्राप्त होते हैं; परलोक में नरक आदि कुयोनियों में परिभ्रमण करना होता है ।

अब स्थूल ब्रह्मचर्य नाम के अणुव्रत का स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ।।५९।।

अर्थ :– जो पाप के भय से पर-स्त्री के यहां स्वयं नहीं जाता है; तथा न पर-स्त्री के यहां अन्य को गमन कराता है, वह स्वदार-संतोष नाम का या पर-स्त्री का त्याग नाम का अणुव्रत है ।

भावार्थ :– जो अपनी जाति की, कुलीन घर की, साक्षीपूर्वक विवाही स्त्री में ही संतोष धारण करके; उससे भिन्न अन्य समस्त स्त्री मात्र में राग भाव का त्याग करके; पर-स्त्री, वेश्या, दासी, कुलटा, कुंवारी इत्यादि स्त्रियों में विरागता को प्राप्त होकर स्त्रियों से रागभाव पूर्वक मिलना, वचनालाप करना, अवलोकन करना, स्पर्श करना आदि का त्याग करता है वह पर-स्त्री का त्यागी तथा स्वदार-सन्तोषी भी कहलाता है ।

अब स्वदार संतोषव्रत के पाँच अतिचार कहने वाला श्लोक कहते हैं :-

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडा विटत्वविपुलतृषः ।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥६०॥

अर्थ :- अस्मर अर्थात् स्थूल ब्रह्मचर्यव्रत के पाँच अतिचार हैं, वे त्यागने योग्य हैं ।

अपने पुत्र-पुत्री के सिवाय दूसरों के पुत्र-पुत्रियों के विवाह को रागी होकर कराना, वह **अन्यविवाहकरण** नाम का अतिचार है । १ ।

काम के निश्चित अंग छोड़कर अन्य अंगों से क्रीड़ा करना वह **अनंगक्रीड़ा** नाम का अतिचार है । २ ।

भण्डिमारूप पुरुष को स्त्री का रूप-स्वांग आदि बनाकर मन-वचन-काय से कुशील की प्रवृत्ति करना तथा दूसरों से कराना वह **विटत्व** नाम का अतिचार है । ३ ।

कामसेवन की अतितृष्णा, तीव्रता, लालसा रखना वह **विपुलतृषा** नाम का अतिचार है । ४ ।

पतिरहित वेश्या आदि तथा अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों को इत्वरिका कहते हैं ; उन व्यभिचारिणी स्त्रियों के घर आना-जाना, उन्हें अपने घर बुलाना, उनसे लेन-देन रखना, परस्पर वार्ता करना, उनका रूप, शृंगार देखना वह **इत्वरिकागमन** नाम का अतिचार है । ५ ।

ये - पाँच स्थूल ब्रह्मचर्यव्रत के अतिचार दूर से ही त्यागने योग्य हैं । देवों द्वारा पूज्य ऐसा जो ब्रह्मचर्यव्रत उसकी यदि कोई रक्षा करना चाहता है तो उसे **अपनी विवाही स्त्री के सिवाय अन्य माता, बहिन, पुत्री, पुत्रवधु आदि के निकट तथा एकान्त स्थान में भी नहीं रहना चाहिये** । अन्य स्त्री का मुख नेत्रादि को अपने नेत्रादि जोड़कर-गड़ाकर स्थिर रखकर-नहीं देखना चाहिये । **शीलवन्त पुरुषों के नेत्र तो अन्य स्त्री को देखते प्रमाण तुरन्त ही मुद्रित (बंद) हो जाते हैं ।**

अब परिग्रह परिमाण अणुव्रत को कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता ।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामापि ॥६१॥

अर्थ :- अपने परिणामों में परिग्रह से संतोष आ जाय उतना धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, वास्तु, आभरण (यान, आसन, वस्त्र, पात्र) आदि परिग्रह का परिमाण करके अधिक परिग्रह में निर्वांछकपने का भाव रखना वह परिमित परिग्रह नाम का अणुव्रत है । इसी को इच्छा परिमाण नाम से भी कहते हैं ।

यदि किसी के पास वर्तमान में तो थोड़ा परिग्रह है किन्तु वांछा अधिक की होने से अधिक धन में परिमाण करके मर्यादा बांधता है तो वह भी धर्मबुद्धि वाला ही है । व्रती है, परन्तु **अन्याय से लेने का त्याग दृढ़ता से करता है** । जैसे किसी के पास वर्तमान में परिग्रह सौ रुपया का है किन्तु परिमाण एक हजार रुपये का करता है - कि हजार रुपये से अधिक नहीं ग्रहण करूँगा, तो यह

भी व्रत है; परन्तु हजार रुपये अन्याय से नहीं ग्रहण (एकत्र) करूँगा ऐसा दृढ़ नियम करता है। परिग्रह का परिमाण किये बिना परिणाम निरन्तर अनेक वस्तुओं को प्राप्त करने में परिभ्रमण करते रहते हैं।

समस्त पापों का मूल कारण परिग्रह है, समस्त खोटे ध्यान परिग्रह से ही होते हैं, इसीलिये भगवान ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। बाह्य परिग्रह तो अन्न-वस्त्र मात्र तथा रहने को कुटी मात्र नहीं होने पर भी यदि पर वस्तु में ममता (वांछा) सहित है तो वह परिग्रही ही है।

परमागम में अंतरंग परिग्रह चौदह प्रकार का कहा है - मिथ्यात्व १, वेद २, राग ३, द्वेष ४, क्रोध ५, मान ६, माया ७, लोभ ८, हास्य ९, रति १०, अरति ११, शोक १२, भय १३ और जुगुप्सा १४।

मिथ्यात्व तो अनादिकाल से देहादि परद्रव्यों में ममत्वबुद्धि, एकत्वबुद्धिरूप परिणाम है। यह देह है वही मैं हूँ, जाति मैं हूँ, कुल मैं हूँ इत्यादि **पर पुद्गलों में आत्मबुद्धि अनादि से ही लग रही है, वही बुद्धि मिथ्याबुद्धि है।** रागद्वेषभाव, क्रोधादि भाव, मोहकर्म द्वारा किये गये भाव हैं। **उन भावों में आत्मपने का संकल्प वही मिथ्यात्व परिग्रह है।** काम से उत्पन्न विकार में लीन हो जाना, राग, द्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य आदि छह नोकषायों में आत्मपने का भाव रखना वह अंतरंग परिग्रह है। **जिसके अंतरंग परिग्रह का अभाव हुआ है। उसके बाह्य परिग्रह में ममता नहीं होती है।**

परिग्रह से ममता होने के ही कारण समस्त प्रकार की अनीति करता है। परिग्रह की इच्छा से हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील भी सेवन करता है। परिग्रह के लिये मर जाता है, अन्य को मार देता है, महा क्रोध करता है। परिग्रह के प्रभाव से महान अभिमान करता है। परिग्रह के लिये अनेक मायाचार करता है। परिग्रह की ममता से महालोभ करता है। बहुत आरम्भ तथा बहुत कषाय का मूल परिग्रह ही है। **जो सभी पापों से छूटना चाहता है, वह परिग्रह से विरक्त होता है।**

यही कार्तिकेय स्वामी कहते हैं :-

को ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिं ण जियो को ण कसाएहिं संततो ॥२८१॥

सो ण वसो इत्थिजणे सो ण जियो इंदिएहिं मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं अब्भंतर बाहिरं सव्वं ॥२८२॥

जो लोहं णिहणित्ता सन्तोस रसायणेण सन्तुट्ठो।
णिहणदि तिण्णा दुट्ठा मण्णण्तो विणस्सरं सव्वं ॥३३९॥

जो परिमाणं कुव्वदि धणधाण सुवण्ण खित्तमाईणं।
उवओगं जाणत्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स ॥३४०॥ का. अ.

अर्थ :– इस जगत में स्त्रियों के वश में कौन नहीं है ? **काम** विकार ने किसका मान खण्डन नहीं किया है ? **इंद्रियों** द्वारा कौन नहीं जीता गया है ? **कषायों** से संतप्त कौन नहीं है ?

सभी संसारी जीव स्त्रियों के वश में हो रहे हैं। कामविकार ने सभी संसारी जीवों का मान खण्डन किया है। सभी संसारी जीव इंद्रियों द्वारा वशीभूत होकर पराधीन हो रहे हैं। सभी प्राणी चारों कषायों से जल रहे हैं।

जो पुरुष अतंरग और बाह्य समस्त ही परिग्रह को ग्रहण नहीं करता है, वही स्त्रियों के वश नहीं है, वही इंद्रियों के अधीन नहीं है, उसी को मोह ने नहीं जीत पाया है, उसी का काम विकार द्वारा मान खण्डन नहीं हुआ है, वही कषायों में नहीं जल रहा है।

जो पुरुष लोभ को नष्ट करके, संतोषरूप रसायन (दवा) के द्वारा आनंदित होकर, समस्त धन सम्पत्ति को विनाशीक मानकर दुष्टा तृष्णा को- आगामी वांछा को छोड़कर, धन, धान्य, स्वर्ण, क्षेत्र, स्थान आदि को अपनी सामर्थ्य जानकर परिमाण करता है - कि इतने परिग्रह से मुझे निर्वाह करना है, अधिक परिग्रह में प्रवृत्ति करने का मेरा त्याग है - इस प्रकार परिग्रह को पापरूप जानकर उसकी वांछा छोड़ता है, उसके परिग्रह परिमाण नाम का पाँचवाँ अणुव्रत होता है।

परमागम में परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा कहा है। जीव को जो पर पदार्थों में ममता बुद्धि है, वही मूर्च्छा है। पर वस्तु को अपना माननेरूप जो राग (मिथ्यात्व) है, उसके कारण आत्मा जीवन-मरण, हित-अहित, योग्य-अयोग्य के विचार में अचेत हो रहा है। **मोह की उदीरणा से पर द्रव्य में जो यह मेरा-मेरा ऐसा परिणाम है, वही मूर्च्छा है,** भगवान ने मूर्च्छा ही को परिग्रह कहा है। इसलिऐ जो मूर्च्छावान है, वह परिग्रही है, चाहे उसके पास बाह्य परिग्रह थोड़ा हो या समस्त परिग्रह से रहित ही हो। वही कहते हैं :-

बाहिर गंथ विहीणा दलिद्द मणुआ सहावदो हुंति ।
अब्भंतरगंथ पुण ण सक्कदे कोवि छंडेदुं ॥३८७॥ का.अनु.

अर्थ :– बाह्य परिग्रह रहित तो दरिद्री मनुष्य स्वभाव से ही होते हैं परंतु अंतरंग ममता छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं है, अतः मूर्च्छा ही परिग्रह है। ऐसा ही देखते भी हैं। हजारों लाखों मनुष्य ऐसे हैं, जिन्हें जन्म लेने के बाद पीतल, तांबा, कांसा का बर्तन मिला ही नहीं है; जिन्होंने जन्म से लेकर आज तक घी खाया ही नहीं; लड्डू आदि खाये ही नहीं; पाग, अंगरखी, जामा कभी पहिना ही नहीं, स्त्री से विवाह हुआ ही नहीं; कभी पेटभर भोजन मिला ही नहीं, स्वर्ण आदि देखा ही नहीं, समस्त जीवन में दो चार दिन के खाने योग्य अन्न भी संग्रह हुआ नहीं; सोने चांदी के तो दर्शन भी हुए नहीं, पैसा रुपया एक भी जिनको कभी प्राप्त हुआ नहीं; रहने को कुटी मात्र भी जिनकी अपनी हुई नहीं, ऐसे अनेक मनुष्य हैं। इसलिए मूर्च्छा ही वास्तव में परिग्रह है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है – यदि मूर्च्छा ही परिग्रह है तो बाह्य धन, धान्य, वस्त्र आदि बाह्य वस्तु के संयोग-संग्रह को परिग्रहपना नहीं रहा ?

उसे उत्तर देते हैं – ये बाह्य परिग्रह अंतरंग परिग्रह के निमित्त हैं। इन बाह्य परिग्रहों का देखना, सुनना, विचार करना शीघ्र ही परिग्रह में लालसा उत्पन्न करा देता है, ममता उत्पन्न करा देता है, अचेत कर देता है। इसलिये बहिरंग परिग्रह भी मूर्च्छा का कारण होने से त्यागने योग्य है।

अंतरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह को ग्रहण करने में भगवान ने हिंसा कही है। दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग ही अहिंसा है - ऐसा परमागम के जाननेवाले कहते हैं। **मिथ्यात्व-कषाय आदि अंतरंग परिग्रह तो हिंसा के ही दूसरे पर्यायवाची नाम हैं।** बाह्य परिग्रह में मूर्च्छा होना वह भी हिंसा ही है। ये कृष्ण, आदि लेश्या के अशुभ परिणाम भी परिग्रह में राग करने से ही होते हैं, क्योंकि परिणामों में शुद्धता मंद कषाय द्वारा होती है, तथा वह कषाय की मंदता परिग्रह के अभाव से होती है।

बहुत बड़ा आरंभ भी परिग्रह की अधिकता से ही होता है। ऐसा जानकर यदि समस्त परिग्रह छोड़ने का राग नहीं घटा है तो परिग्रह में अपनी आवश्यकता अनुसार परिमाण करके तो अवश्य रहना चाहिये।

यदि अपने पास आज परिग्रह तो थोड़ा है तथा वांछा अधिक परिग्रह की हो रही है, तो इस वांछा करने से परिग्रह प्राप्त नहीं हो जायगा। **वांछा करने से तो और अधिक पाप कर्म का बंध ही होगा।** परिग्रह का लाभ तो अंतराय कर्म का क्षयोपशम होने पर होगा। इसलिये पाप बंध का कारण परिग्रह की ममता छोड़कर, जितना प्राप्त हुआ उतने में ही सन्तोष धारण करके रहना चाहिये।

न्याय-नीति पूर्वक ही आजीविका करना

यहाँ ऐसा विशेष जानना – यद्यपि परिग्रह तो सभी त्यागने योग्य है, परन्तु जो गृहस्थपने में रहकर धर्म सेवन करना चाहता है उसे तो अपने पुण्य के उदय के अनुकूल परिग्रह रखना ही चाहिये। यदि गृहस्थ के आवश्यक परिग्रह नहीं होगा तो काल-दु:काल में, रोग-वियोग में, ब्याह में, मरण में, परिणाम ठिकाने-स्थिर नहीं रहेंगे, परिणाम बिगड़ जायेंगे। इसलिये धर्म-परिणामों की रक्षा के लिये गृहस्थ परिग्रह का संचय करता ही है।

आजीविका का उपाय न्यायमार्ग से ही करना चाहिये। साधु तो परिग्रह थोड़ा सा भी रखे तो दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जाता है, गृहस्थ परिग्रह नहीं रखे तो भ्रष्ट हो जाता है। गृहस्थाचार में रहते हुए तो थोड़ा व अधिक आवश्यकता अनुसार परिग्रह के बिना परिणामों में समता नहीं रहती है। यदि आजीविका नहीं हो तो निराधार के परिणाम धर्मसेवन में ठहर नहीं सकेंगे, परिणामों की तीव्र आर्ति-संक्लेशता नहीं मिटेगी।

भोजन-पान मिलने योग्य आजीविका की स्थिरता के बिना स्वाध्याय में, पूजन में, शुभ कार्यों में परिणाम स्थिर नहीं हो सकते; आकुलता होने से संक्लेश बढ़ता जायगा, संतोष नहीं हो पायेगा। रोग आने पर, वृद्धावस्था आने पर, इष्ट का वियोग होने पर, अन्न-वस्त्र के आधार बिना अपने परिणाम

किसी भी देश में किसी भी काल में स्थिर नहीं रहेंगे । देह की रक्षा भी आजीविका के बिना नहीं होती है । देह बिना अणुव्रत, शील, संयम किससे होगा ? इसलिये अपने पुण्य की अनुकूलता, उद्यम, सामर्थ्य, सहायक, साधन आदि देश काल के योग्य विचार करके न्यायमार्ग से आजीविका करते हुए धर्मसेवन करना चाहिये । अहिंसापूर्वक, सत्यमार्ग पर चलते हुए, दूसरे का बिना दिया हुआ धन लेने का त्याग करके, अपने को जगत के लोगों के विश्वास आने योग्य पात्र बनाना चाहिये ।

विद्या, कला, चातुर्य द्वारा अपने द्वारा होने योग्य आजीविका करना चाहिये । पश्चात् लाभान्तराय के क्षयोपशम के अनुसार लाभ-अलाभ-अल्पलाभ जितना जो हो उतने में ही सन्तोष करना चाहिये । कुटुम्ब का पोषण, देह का पोषण पुण्य के उदय से जो प्राप्ति हुई हो, उसी के अनुसार करो । कर्जदार नहीं होना, क्योंकि ऋण लेने के पश्चात् समस्त धीरज, प्रतीति का अभाव हो जाता है, दीनता प्रकट होने लगती है; तथा एक बार अपनी प्रतीति बिगड़ जाने के बाद पुनः उत्तम आजीविका बनाना कठिन होता है ।

आजीविका के अनुकूल खर्च करना चाहिये । पुण्यवानों को देखकर अधिक खर्च करोगे तो यश, धर्म, नीति-तीनों ही नष्ट हो जायेंगे । अन्य पुण्यवानों का खर्च देखकर बराबरी करोगे तो दरिद्री होकर दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जाओगे । यदि यह जानते हो कि हमारी बड़ी इज्जत है, हमारे पूर्वजों ने बड़े-बड़े कार्य किये हैं, अब खर्च कम कैसे कर दें ? यदि हम खर्च कम करेंगे तो हमारा समस्त बड़ाप्पन बिगड़ जायेगा ? ऐसी बुद्धि मत करो । यदि पुण्य अस्त हो गया, तब बड़ाप्पन कहां रह जायेगा ? बड़ाप्पन तो सत्य से, संतोष से, शील से, विनय से, दीनता रहित होने से, इंद्रियों के विषयों की चाह घटाने से है; इनसे ही दोनों लोकों में उज्ज्वलता होती है ।

पुण्य का उदय आ जाय तो जीव को स्वर्ग का महर्द्धिक देव बना दे, चक्रवर्ती बना दे । यदि पाप का उदय आ जाय तो नरक का नारकी बना दे, एक इंद्रिय बना दे, भार ढोने वाला बना दे, रोगी बना दे, दरिद्री मनुष्य बना दे, तिर्यंच बना दे, इसी भव में राजा से रंक हो जाता है । कौन से बड़ाप्पन को देखते हो ? यदि अपने पास थोड़ा धन है, किन्तु अभिमानी होकर अधिक धन खर्च करोगे तो दरिद्री और ऋणवान-दीन होकर सभीजनों से नीचे हो जाओगे, निंद्यता को प्राप्त होकर आर्तध्यान करके दुर्गति के पात्र हो जाओगे ।

अतः आजीविका से जितनी आमदनी होती हो उससे कम ही खर्च करना चाहिये, यही चतुराई है, यही पंडितपना है । जो आमदनी से कम खर्च करना है, वही कुलवानपना है, वही उत्तम धर्म है । यदि आमदनी से खर्च बढ़ाओगे तो अपनी ही बुद्धि से दरिद्री होकर मूर्खता दिखाओगे, फिर ऋणवान हो जाओगे तब उत्तम कुल योग्य आदर, सत्कार, आचरण, सभी नष्ट हो जायगा और मलिनता प्रकट हो जायगी । निर्धन तथा ऋणवान होने के पश्चात् पूजन, स्वाध्याय, ध्यान, शुभ भावनाओं में बुद्धि नहीं लगेगी ।

इसलिये आजीविका से कम खर्च करना ही गृहस्थ की परम योग्य नीति है । जो अभिमानी होकर अधिक खर्च करता है उसका चित्त दूसरे के बिना दिये धन पर चला जाता है, चोरी करने लगता है, अनेक असत्य-कपट आदि पापों में प्रवृत्ति हो जाती है, संतोष धर्म नष्ट हो जाता है ।

यहां कोई प्रश्न करता है – यह आजीविका तो पूर्व पुण्य के आधीन है, धर्म सेवन करना अपने अधीन है ?

उसे उत्तर देते हैं – यहां आजीविका पूर्व पुण्य कर्म के ही आधीन है, परन्तु धर्म ग्रहण हो जाना भी पुण्य कर्म की सहायता के बिना नहीं हो सकता है । धर्म ग्रहण करने की योग्यता के लिये भी इतनी सामग्री तो आवश्यक ही है – उत्तम कुल में जन्म प्राप्त होना, क्योंकि चाण्डाल, चमार, भील, शूद्र आदि के कुल में धर्म का लाभ कैसे होगा ? तथा उत्तम देश में उत्पन्न होना, इंद्रियों की पूर्णता पाना, निरोग शरीर मिलना, शुभ संगति मिलना, आजीविका की स्थिरता पाना, सम्यग् धर्म का उपदेश मिलना इत्यादि **पुण्यकर्म के उदय जनित बाह्य सामग्री पाये बिना धर्मग्रहण तथा धर्मसेवन नहीं हो सकता है । इसलिये जिसको पूर्व पुण्य के उदय से आजीविका की स्थिरता होती है, उसी को धर्म सेवन की योग्यता होती है ।**

जिसे इंद्रियों की पूर्णता हो, निरोगता हो, न्याय-अन्याय का विवेक हो, धर्म-अधर्म योग्य-अयोग्य का विवेक हो, प्रिय वचन बोलता हो, विनय हो, दूसरों के धन तथा दूसरों की स्त्रियों से पराङ्मुखता हो, आलस्य प्रमाद रहित हो, धीर हो, देशकाल के योग्य वचन बोलता हो, उसे आजीविका का लाभ और धर्म का लाभ हो ही जाता है ।

गुणवान को, निर्लोभी को, आलस्य रहित उद्यमी को, विनयवान को जीविका की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है । स्वयं जीविका के योग्य पात्र बन जाओ तो जीविका कभी दूर नहीं रह सकती है । लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार आजीविका थोड़ी या बहुत नियम से बन ही जाती है । उसमें संतोष धारण करके अधिक में वांछा का त्याग करके परिग्रह परिमाणव्रत धारण करना चाहिये ।

पुण्य के उदय के आधीन आजीविका प्राप्त हो जाय तो अनीति में प्रवृत्ति करके अजीविका को नष्ट नहीं करना चाहिये । यदि आजीविका नष्ट हो जायेगी तो धर्म और यश नष्ट हो जायगा। अपने भावों में से यदि नीति-धर्म नहीं छोड़ोगे, न्यायमार्ग पर चलोगे फिर भी असाताकर्म के उदय से अग्नि से, जल से, चोरों से, राजा के उपद्रव से आजीविका बिगड़ जाय तथा धन बिगड़ जाय तो धर्म नहीं बिगड़ेगा, यश नहीं बिगड़ेगा, जगत में अप्रतीति के पात्र नहीं होओगे । यदि प्रबल लाभान्तराय के उदय से न्यायरूप उद्यम करने पर भी लाभ नहीं होवे तो समता ही ग्रहण करना चाहिये । **यदि आयुकर्म बाकी है तो भोजन आदि की विधि कर्म मिला देगा, कर्म बलवान है । वन में, पहाड़ में, जल में, नगर में अपने अंतराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार भोजन सबको मिलता है ।**

किसी का पुण्य का उदय तो ऐसा होता है कि वह बहुत लोगों को भोजन आदि देकर स्वयं भोजन करता है; किसी का अंतराय का उदय ऐसा होता है कि वह अपना पेट भी नहीं भर सकता है । किसी को आधा पेट भरने लायक मिलता है; किसी को एक दिन मिलता है किसी को एक दिन नहीं मिलता है; किसी को दो दिन के अंतर से, किसी को तीन दिन के अंतर से नीरस भोजन

मिलता है तो भी धर्मात्मा समता को नहीं छोड़ते हैं। पूर्व में तिर्यंचों के भव में कभी पेटभर भोजन मिला ही नहीं, तथा भूख प्यास के मारे अनेक बार मरे हैं। अत: अब धैर्य धारण करके जिस तरह हमारा धर्म नहीं छूटे, उस प्रकार यत्न करना चाहिये। जिनके परिणामों में इतनी दृढ़ता प्रकट होती है वे स्वर्ग लोक में महान ऋद्धिधारी देव होते हैं।

कोई यह कहता है – यदि आप अकेला हो तो ऐसी दृढ़ता पकड़ कर समता रख ले, परन्तु जिसके ऊपर कुटुम्ब का भार हो तो वह क्या करे ?

वह कुटुम्ब से इस प्रकार कहे – हे कुटुम्ब के लोगो ! आपने पूर्व जन्म में दान नहीं दिया, व्रत पालन नहीं किया, अभक्ष्य भक्षण किया, अन्याय से दूसरों का धन ग्रहण किया, उस पाप के उदय से ऐसे दरिद्री हुए कि पेटभर भोजन तथा वस्त्र भी नहीं मिला यह सब अपने-अपने किये पाप का फल है। यदि अब भी अन्य पुण्यवानों के आभरण, वस्त्र, भोजन आदि देखकर दु:खी होओगे तो आगे भी केवल तिर्यंच गति के घोर दुखों का कारण पाप कर्मबन्ध करोगे तथा करोड़ों भवों तक दारिद्र के दुख का कारण पापबंध करोगे। पर की सम्पदा आप के पास नहीं आ जायगी। क्लेश, दुर्ध्यान, तृष्णा आदि करने से दुख नहीं मिटेगा किन्तु दु:ख अधिक बढ़ेगा।

यदि थोड़े प्राप्त धन में ही संतोष करके निर्वांछक होओगे तो वर्तमान में तो दुख ही नहीं व्यापेगा व समस्त पाप कर्म की ऐसी निर्जरा होगी जो घोर तपश्चरण से भी नहीं होती है। थोड़ा वस्त्र-भोजन आदि मिलने पर परिणामों में आकुलता रहित समता से रहने में बड़ा तप है। कर्म ने मुझे आपके साथ में कुटुम्ब में शामिल उत्पन्न किया है। इसलिये मैं अब दैव (भाग्य) तथा पुरुषार्थ दोनों के अनुकूल द्रव्य उपार्जन करने में उद्यम कर रहा हूँ; लाभान्तराय के क्षयोपशम के अनुसार न्यायमार्ग से जो प्राप्त होता है, वह तुम्हारे पास लाता हूँ। इसमें से जो हमारे हक का हिस्सा हो, वह हमें दे दो, तुम्हारा जो हो वह तुम मिल-बांट कर भोजन आदि करो।

हमने तो अब भगवान का कहा हुआ दुर्लभ धर्म ग्रहण किया है, अत: तुम्हारे लिये अब अनीति, कपट आदि घोर पाप करके धनग्रहण नहीं करेंगे; न्याय नीति से जिस प्रकार धर्म नहीं बिगड़े, उस प्रकार उद्यम करके उपार्जन करेंगे। तुम भी हमारा धर्म जिससे बिगड़ता हो, वैसा प्रवर्तन नहीं करो। अपने-अपने पुण्यपाप का फल भोगो। आकुलता छोड़कर जितना मिले उतने में संतोष रखकर सुखपूर्वक रहो। इस प्रकार का जिसे निश्चय है, उसके परिग्रह परिमाण नाम का स्थूल व्रत होता है।

जो कुटुम्ब के पोषण के लिये पाप क्रिया में प्रवर्तता है; हिंसा, असत्य, चोरी, कपट इत्यादि पापों में प्रवर्तता है उसे, घोर पाप का बन्ध होता है; पाप से दुर्गति का पात्र होता है। इसलिये इस अल्प जीवन में व्रत, शील, संयम में ही दृढ़ता रखनी चाहिये।

कितने ही लोग कहते हैं – धन तो पाप से ही आता है, पाप किये बिना धन आता ही नहीं है; त्यागी–व्रती हो जाने से धन कैसे आयेगा ?

उनसे कहते हैं :- यह तो तुम्हारा भ्रम है । पाप किये बिना धन नहीं आता है - ऐसा कहना अनुचित है । यदि पाप करने से ही धन आता हो तो इस दुनियाँ में लाखों भील, चाण्डाल, चोर, चुगुल, मनुष्यों की हत्या करनेवाले, गांव जलानेवाले, रास्ते में लूटनेवाले, सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी कुल पापियों से भरे हैं, सभी पुरुष, स्त्री, बालक आदि हिंसा करने को तैयार हैं, असत्य बोलने को चोरी करने को तैयार हैं । वे क्यों निर्धन हैं ?

जिन्होंने पूर्व जन्म में कुपात्र दान दिया है, कुतप करके खोटा पुण्य बांधा है, उनके पास कुमार्ग से धन आता है । पुण्यहीन तो मारा जाता है । **पूर्व पुण्य बिना पाप से ही तो धन नहीं आता है** । जिन्होंने पहिले पुण्य बांधा है वे यहां चोरी चुगली किये बिना ही सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, राजा के घर जन्म लेते हैं । करोड़ों के धन वाले धनवानों के घर जन्म लेते हैं । इसलिये अधिक क्या कहना, सभी पुण्य का ही फल है । खोटे पुण्य की लक्ष्मी को भोगकर तो जीव नरक-तिर्यंच गति में जाकर डूब जाते हैं ।

अब परिग्रह परिमाणव्रत के पांच अतिचार वर्णन करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ।।६२।।

अर्थ :- परिमित परिग्रह नाम के व्रत के ये पांच अतिचार जानना । घोड़ा, ऊंट, बैल इत्यादि तिर्यंचों को तथा दासी, दास, सेवक आदि को अतिलोभ के वश से मर्यादारहित अतिदूर की मंजिल तक ले जाना, बहुत चलाना वह **अतिवाहन** नाम का अतिचार है । १ ।

अपने घर में बिना प्रयोजन ही बहुत पदार्थों का संग्रह करना; भोजन, पात्र, वस्त्र इत्यादि थोड़े की आवश्यकता हो, किन्तु संग्रह बहुत का करना; धान्य, वस्त्र, औषधि, काष्ठ, पाषाण, धातु इत्यादि का बहुत संग्रह करने में ही परिणामों का रहना वह **अतिसंग्रह** नाम का अतिचार है । २ ।

दूसरों के यहां बहुत संपत्ति, बहुत परिग्रह, अनेक देशों की वस्तुएँ तथा जो कभी नहीं देखी ऐसी वस्तुओं को देखकर-सुनकर आश्चर्य करना वह **विस्मय** नाम का अतिचार है । ३ ।

किसी व्यापार में, सेवा में, कला से, हुनर से आप को अंतराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार बहुत लाभ हो गया हो तो भी तृप्त नहीं होना, संतोष नहीं आना वह **अतिलोभ** नाम का अतिचार है । ४ ।

लोभ के वश से तिर्यंचों के ऊपर सीमा से अधिक भार लादकर चलाना वह **अतिभारवहन** नाम का अतिचार है । ५ ।

जो गृहस्थ परिग्रह का परिमाण करता है वह इन पाँच अतिचारों का भी परित्याग करता है। इस प्रकार गृहस्थों के धारण करने योग्य पाँच अणुव्रतों को कहकर अब पाँच **अणुव्रतों का फल** कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम् ।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥६३॥

अर्थ :– अतिचार रहित ये ऊपर कहे पाँच अणुव्रत निधिरूप वृक्ष में देवलोकरूप फल लगते हैं । जिस देवलोक में अवधिज्ञान तथा अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व - ये आठ महागुण व धातु-उपधातु रहित दिव्यशरीर प्राप्त होता है ।

भावार्थ :– अणुव्रतों को निरतिचार धारण करनेवाला मरकर के स्वर्गलोक में महान अणिमा आदि ऋद्धियों का धारी देव ही होता है; अन्य पर्याय नहीं पाता, ऐसा नियम है । स्वर्ग में धातु-उपधातु रहित, रोग-वृद्धत्व रहित, दिव्य शरीर को प्राप्त होकर असंख्यात वर्षों तक सुख सम्पदा में लीन होकर रहता है ।

अब जो इन पांच अणुव्रतों को धारणकर इस लोक में प्रसिद्ध हुए हैं, उनके नाम कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः ।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥६४॥

अर्थ :– अहिंसा अणुव्रत में मातंग चांडाल, सत्य अणुव्रत में धनदेव, अचौर्य अणुव्रत में वारिषेण, ब्रह्मचर्यव्रत में नीली तथा परिग्रह परिमाणव्रत में जयकुमार व्रतों के माहात्म्य से उत्तम कीर्तिरूप अतिशय को प्राप्त होकर उसी भव में देवों द्वारा पूज्य हुए हैं । यद्यपि इन व्रतों के प्रभाव से अनेक भव्यजीव इसलोक में महिमा पाकर देवलोक को गये हैं तथापि आगम में इनकी ही कथा प्रसिद्ध है ।

अब जो पांच पापों के प्रभाव से इस लोक में घोर क्लेश प्राप्तकर दुर्गति में गये, उनके नाम कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसी रक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथाश्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥६५॥

अर्थ :– हिंसा से धनश्री, असत्य से सत्यघोष, चोरी से तापसी, कुशील से कोतवाल, परिग्रह से श्मश्रुनवनीत-ये इसलोक में राजा द्वारा तीव्र दण्ड पाकर दुर्गति को प्राप्त हुये हैं । श्लोक में ये नाम क्रम से जानकर समझ लेना ।

अब आठ मूलगुणों को कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

अर्थ :– श्रमणोत्तम अर्थात् जो गणधरदेव तथा श्रुतकेवली हैं वे गृहस्थ के मद्य, मांस, मधु के त्याग सहित पाँच अणुव्रतों को अष्ट मूलगुण कहते हैं ।

भावार्थ :– जीव मारने के संकल्प से त्रस जीवों को मारने का त्याग १; अन्य को तथा स्वयं को क्लेश उत्पन्न करनेवाले एवं सच्चे श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का घात करनेवाले वचन का त्याग २; बिना दिया, धरा, गड़ा, पड़ा, भूला अन्य के धन का ग्रहण करने का त्याग ३; अपने कुल के योग्य विवाही स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों में राग का त्याग ४; न्याय से कमाये परिग्रह में परिमाण करके अधिक परिग्रह का त्याग ५; ये पांच तो अणुव्रत तथा जिससे अपने परिणाम मोही होकर अपने हित-अहित की सावधानी-विवेक नहीं रह जाता है ऐसे मद्यपान का त्याग ६; दो इंद्रिय आदि जीवों के शरीर से उत्पन्न मांस का त्याग ७; तथा मधुमक्खियों द्वारा छत्ते में एकत्र किया मधु भक्षण का त्याग ८; इन अष्ट का त्याग सो अष्ट मूलगुण हैं ।

यदि गृहस्थ के पांच पाप और तीन मकार के त्याग में दृढ़ता आ जाये तो समस्त गुणरूप महल की नींव लग गई । अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण का कारण मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य थे । उनका जब अभाव हो जाये तब यह जीव अनेक गुणग्रहण का पात्र होता है । इसलिये ये आठ त्याग हैं वे ही मूलगुण हैं ।

अन्य ग्रन्थों में पांच उदम्बर फल व तीन मकार का त्याग - ये आठ मूलगुण कहे हैं । वहाँ ऊमर १, कठूमर २, गूलर ३, पीपल का गोल फल ४, तथा बड़ का फल बड़बाला ५, ये पांच उदम्बर फल कहे हैं; इनमें बहुत अधिक त्रस जीव प्रकट दिखाई देते हैं; अतः इन फलों का खाना मांस भक्षण के समान है । अन्य और भी कितने ही फल, फूल, पत्ता, रेशे, रोम हैं जिनको सुखा लेने से कुछ समय में त्रस जीव जो उनमें रहते हैं, वे मर जाते हैं; उन सूखे सुखाये फल इत्यादि को खाने में भी रागभाव की अधिकता से महाहिंसा ही होती है । जिसे ऐसे परिणाम होते हैं कि मैं इन्हें सुखाकर खाऊँगा, उसे अभक्ष्य में तीव्र अनुराग होने से बहुत अधिक पाप का ही बंध होता है ।

मद्य त्याग :– मदिरा मन को मोहित करती है, अचेत कर देती है । मन के मोहित हो जाने पर धर्म को भूल जाता है, **धर्म भूल जाने पर पुरुष निःशंक होकर हिंसापूर्वक आचरण करने लगता है ।**

यहां ऐसा विशेष जानना :– जो वस्तु मन को उन्मत्त करे, स्वरूप की सावधानी भुला दे, विषयों में आसक्ति बढ़ावे, रसना इन्द्रिय तथा उपस्थ (काम) इन्द्रिय के विषय में अतिराग बढ़ावे वह मद्य है । इसलिये भांग पीना, अमलपोस्त (अफीम), छोंतरा (छिलका) आदि नशाकारक वस्तुएं, तथा इनके संयोग से बने पाक, माजूम - इन सभी मदकारी वस्तुओं के भक्षण करने से धर्मबुद्धि का नाश हो जाता है, अभक्ष्यभक्षण में मस्त हो जाता है, बुद्धि की उज्ज्वलता नष्ट हो जाती है, परमार्थ का विचार नष्ट हो जाता है ।

भांग त्याग : इसलिये जो जिनेन्द्र की आज्ञा को मानना चाहता है वह अवश्य नशाकारक वस्तु को खाने-पीने का त्याग कर देता है । भांग में त्रस जीव बहुत उत्पन्न होते हैं । भांग पीनेवाले की देखने-सोधने की प्रवृत्ति नहीं होती है । अन्य पदार्थ में जीव पड़ जावें तो उसे खाता नहीं है, किन्तु

भांग को पीने वाला भांग छानकर नहीं पीता है जबकि उसमें असंख्यात त्रसजीव उत्पन्न होते हैं जिन्हें रोका नहीं जा सकता है। अतः धर्म का इच्छुक भांग का अवश्य त्याग ही करता है क्योंकि भांग अंतरंग बिगाड़ करता है तथा बाह्य में भी बहुत त्रस जीवों की विराधना होती है।

मदिरा त्याग : मदिरा में तो असीम-अपरिमाण त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है, अत्यंत दुर्गंधित है। उत्तम कुल के पुरुष यदि मदिरा की धारा को दूर से ही भोजन करते हुये देख लें तो उसी समय भोजन का त्याग कर देते हैं तथा मदिरा से छू जाने पर वस्त्र सहित स्नान करते हैं। मदिरा से उन्मत्त होने वाला माता को, पुत्री को स्त्री रूप से आचरण करता है - देखता है, तथा अपनी स्त्री को माता-पुत्री रूप आचरण करता है, देखने लगता है। भय, ग्लानि, कोध, काम, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक - ये सभी दोष जो हिंसा के कारण होने से हिंसा ही हैं, वे सभी मद्य पीने वाले के होते हैं। अतः धर्म का अर्थी मद्यपान का दूर ही से त्याग कर देता है।

मांस त्याग : दो इंद्रिय आदि जीवों का घात करने से मांस उत्पन्न होता है, जिसका आकार देखने से ही बहुत घृणा उत्पन्न होती है। मांस का स्पर्श, दुर्गंध, नाम ही परिणामों में महाग्लानि उत्पन्न कर देता है। जो धर्म रहित, नरकादि में जाने वाले हैं, महा निर्दय परिणामी होते हैं वे ही मांस भक्षण करते हैं।

स्वयमेव मरे हुए बैल, भैंसा, बकरा, हिरण आदि के मांस में अनन्त तो बादर निगोदिया जीव और असंख्यात त्रस जीवों का घात होता है। कच्चे मांस में, अग्नि से पकाये हुये मांस में, अग्नि पर रखे हुए बर्तन में पकते हुए मांस में भी अनन्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। उसी की जाति का जीव हर समय उत्पन्न होता रहता है। इसलिये कच्चा मांस पका हुआ मांस, पकता हुआ मांस, सूखे मांस को जो खाते हैं वे तथा मांस की डली को जो छूते भी हैं वे मनुष्य निरंतर एकत्र हुए बहुत से जीवों का घात करते हैं।

चांडालों की जूठन, कसाइयों की, म्लेच्छों की, कुत्तों की जूठन तो मांस ही होती है। **मांस-भक्षियों के दया, आचार आदि नहीं होता है; जाति, कुल, धर्म, दया, क्षमा आदि समस्त गुणों से भ्रष्ट-रहित होते हैं।** दुर्गतिगामी, महापापी, महानिर्दयी लोगों ने मांसभक्षण को उन्हीं के बनाये शास्त्रों में धर्म कहा है। मांस से देवता तथा पितरों को तृप्त होना कहते हैं, देवताओं को मांसभक्षी कहते हैं। श्राध्दों में ब्राह्मणों को मांस पिंड का भक्षण कराकर देवों को-पितरों को तृप्त होना कहते हैं। यह सब मिथ्यादर्शन का प्रभाव है।

मधु त्याग : मधु जैसी कोई अधम वस्तु नहीं है। मक्खियों का वमन, भील, चांडालों का जूठन, अनंतजीवों की उत्पत्ति का स्थान मधु है। बहुत अधिक मक्खियों को मारकर भील चांडालादि मधु निकालकर लाते हैं। जो अपने आप मरते हैं ऐसे भी असंख्यात त्रसजीवों की उत्पत्ति मधु में होती है। **मधु को पवित्र मानना, पंचामृतों में कहना, शुद्ध कहना – इस जैसा विपरीत (असत्य) और दूसरा कोई नहीं है।** शहद का एक कण मात्र भी जो दवा के रूप में लेते हैं, रोग दूर करने

के लिये खाते हैं वे घोर नरकों के दुःख भोगकर असंख्यात तथा अनंत जन्मों तक अनेक रोग के पात्र होते हैं ।

मधु, मद्य, मांस, नवनीत (माखन) ये चार महा विकृति – खोटी चीजें भगवान ने परमागम में कही हैं । जो जिनधर्म ग्रहण करता है वह मद्य, मांस, मधु, माखन, इन चार विकृतियों का सबसे पहले परित्याग करता है । इन चार को भगवान ने महा विकृति कहा है । **इन चारों का त्याग किये बिना जीव धर्म का उपदेश ग्रहण करने का पात्र ही नहीं होता है** ।

हिंसा त्याग : धर्म है सो अहिंसारूप है, ऐसी जिनेन्द्र की आज्ञा बारम्बार सुनने पर भी जो हिंसा को छोड़ने में असमर्थ हैं, वे त्रसजीवों की हिंसा को तो शीघ्र ही छोड़ दें । **हिंसा का त्याग नौ प्रकार से किया जाता है –**

मन से स्वयं हिंसा नहीं करता है १, मन से दूसरे के द्वारा हिंसा नहीं कराता है २, मन से अन्य हिंसा करनेवाले की सराहना नहीं करता है ३, वचन से स्वयं हिंसा नहीं करता है ४, वचन से दूसरे के द्वारा हिंसा नहीं कराता है ५, वचन से अन्य हिंसा करनेवाले की प्रशंसा नहीं करता है ६, काय से स्वयं हिंसा नहीं करता है ७, काय से दूसरे के द्वारा हिंसा नहीं कराता है ८, काय से अन्य हिंसा करनेवाले की अनुमोदना नहीं करता है ९ ।

इस प्रकार मन-वचन-काय द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना से हिंसा को छोड़नेवाले के औत्सर्गिक त्याग अर्थात् उत्कृष्ट त्याग होता है । इन नौ प्रकार के बिना जो हिंसा का त्याग होता है उसे आपवादिक त्याग कहते हैं, उसके अनेक भेद हैं ।

यह अहिंसा धर्म मोक्ष का कारण तथा संसार के समस्त परिभ्रमण के दुःखरूप रोग को मिटाने के लिये अमृत के समान है । इसे प्राप्त करके, अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के अयोग्य आचरण व्यवहार देखकर अपने परिणामों में आकुल नहीं होना चाहिये; क्योंकि संसार में कर्म के प्रेरे सताये अनेक जीव हैं । कोई हिंसक है, तो कोई अभक्ष्यभक्षण करनेवाले हैं, कोई क्रोधी, लोभी, मानी, मायावी, महान आरम्भी, महापरिग्रही, अन्यायमार्गी हैं । उनकी अनीति देखकर अपने परिणाम नहीं बिगाड़ना चाहिये। कर्म के सताये हुए जीव अपना स्वरूप भूल रहे हैं, हमें तो उन पर साम्यभाव ही रखना चाहिये ।

यदि कोई यह कहता है – भगवान का कहा हुआ धर्म तो सूक्ष्म है, धर्म के लिये हिंसा होने में दोष नहीं है ?

उससे कहते हैं – इस प्रकार **धर्ममूढ़** होकर के प्राणियों की हिंसा नहीं करना चाहिये । देव के निमित्त, गुरु का कार्य करने के निमित्त की हुई हिंसा भी शुभ नहीं है; **हिंसा तो हर दशा में पाप ही है** । धर्म तो दयारूप है । यदि देव-गुरु के कार्य करने के निमित्त हिंसा का आरम्भ ही धर्म हो तो – **धर्म हिंसा रहित है** – ऐसा जिनेन्द्र का वाक्य असत्य हो जायगा । इसलिये हिंसा को धर्म कभी नहीं श्रद्धान करना-नहीं मानना ।

कोई कहता है – धर्म तो देवताओं को मानने से होता है, देवताओं को सभी कुछ देना उचित है ? किन्तु ऐसी विपरीत मान्यता करके प्राणियों की हिंसा करना उचित नहीं हैं ।

कितने ही कहते हैं – देवी अर्थात् कात्यायनी, चंडिका, भवानी, दुर्गा पार्वती इत्यादि नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्हें बकरा या भैंसा मारकर चढ़ाने से देवी प्रसन्न होती है ? **ऐसे मिथ्यादृष्टियों के वाक्यों से विचलित नहीं होना ।**

एक तो यह विचार करना चाहिये – जो देवी स्वयं ही अनेक भुजाओं में शस्त्र धारण किये टेढ़ी भौंहें करके खड़ी है; वह देवी जीवों का मांस खाना चाहती है, तो स्वयं ही जीवों को भयभीत कर मारकर क्यों नहीं खा लेती है ? अपने भक्तों से दीन, अनाथ जीवों को क्यों मरवाती है ? स्वयं ही सिंह, व्याघ्र आदि के समान है तो सिंह, व्याघ्र आदि को मारकर क्यों नहीं खाती है ? जो स्वयं देवी होकर भी कौवा, कुत्ता, भील, चाण्डाल के समान मांस भक्षण में रत है, भूख से दु:खी है, **उसका कैसा देवीपना ?** जो स्वयं ही दु:खी है, कुछ चाहता है, आसक्त है - वह भक्तों को कैसे सुखी करेगा ? महादुर्गंधित तिर्यंचों के दुर्गंधमय घृणा उत्पन्न कराने वाले मांस के इच्छुक **महापापियों के देवपना नहीं होता है ।**

पापी पुरुषों ने झूठे शास्त्र बनाकर अपने मांस भक्षण के लिये तथा मूढ़ लोगों को **देवी का प्रसाद** के संकल्प से मांस भक्षण में प्रवृत्ति कराकर अपनी इंद्रियों को पुष्ट करने के लिये जगत के जीवों को नरक में डुबो दिया है ।

जिनेन्द्र के परमागम में तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी–चारों के प्रकार के देवों के कवलाहार नहीं कहा है, मानसिक आहार ही कहा है । किसी भी समय में भूख लगने पर उसी समय उनके कण्ठ में ही अमृत झर जाता है, उससे भूख मिट जाती है । उनका दिव्य वैक्रियिक शरीर सात धातु-उपधातु रहित महादिव्यरूप सुगंधमय शरीर होता है । **देवों को मांस भक्षण करने वाला कहने महाविपरीत बुद्धि है ।** यदि देवता मांसभक्षी हैं तो वह कौवा, कुत्ता, गीध, स्यार से भी नीच देव हुआ; इसलिये देवता के लिये हिंसा करना उचित नहीं है ।

कोई मांसभक्षी गुरु के लिये मांस का दान नहीं करना चाहिये । जो पापी मांसादि अभक्ष्य का भक्षण करता है, मदिरा पीता है, **वह पापी कैसा गुरु ?** वह तो मांसादि भक्षण कराकर नरक पहुंचाने का गुरु है । उसे छूने से, देखने से घोर पाप बंध होता है ।

कोई कहता है – अन्नादि के खाने में तो बहुत जीवों का घात होता है, इसलिये एक जीव को मारकर खा लेना ठीक है ?

उसे उत्तर देते हैं – ऐसा विचार करके बड़े प्राणी को मारकर खा लेना उचित नहीं है । एकेन्द्रिय प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सभी तीन लोक में भरे हुए, सभी विकलत्रय, सभी देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी - इन सब को एकत्र करके गिनो तो समस्य असंख्यात होते हैं । इन सब से अनन्तगुणे जीव भगवान सर्वज्ञदेव ने मनुष्य व तिर्यंच के मांस की एक कणी में बादर निगोदिया

जीव देखे हैं और परमागम में कहे हैं । इसलिये अन्न-जल आदि का असंख्यात वर्ष तक भक्षण करने पर उसमें जो एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है उससे अनंतगुणे जीवों की हिंसा एक सुई की अणिमात्र मांस के खाने में होती है ।

एक इंद्रिय जीव की हिंसा व त्रस जीव की हिंसा बराबर की नहीं है, दुःख में भी बड़ा अंतर है, ज्ञान में भी बड़ा अंतर है । एक इंद्रिय का शरीर रस, रुधिर, हाड़, मांस, चाम आदि धातु-उपधातुओं से रहित होता है । मांस भक्षण में जैसा तीव्र परिणाम तीव्र निर्दयपना है वैसा अन्न के भक्षण में नहीं है । जैसे अपनी स्त्री के स्पर्श करने में तथा अपनी पुत्री व माता के स्पर्श करने में परिणाम समान नहीं होते हैं, बड़ा अंतर है । इसलिये बहुत कहने से क्या त्रस जीवों के घात करने में घोर पाप जानना।

ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये कि – यह सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि बहुत प्राणियों का घातक है, इसको मार डालने से बहुत जीवों की रक्षा हो जायेगी ? ऐसी मिथ्याबुद्धि से हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करना चाहिये । आप किस-किस हिंसक को मारोगे ? चिड़िया, कौवा, सुअर, मैंना, तीतर, बाज, गिद्ध आदि सभी पक्षी हिंसक हैं ? तथा कीड़ा, लट, मकड़ी, माखी, सर्प, बिच्छू, ऊंदरा, कूकरा, बिलाव, सिंह, स्यार आदि अनेक तिर्यंच, मनुष्य आदि सभी जीव हिंसा पाप कर्म करने के कारण हिंसक ही हैं । तुम कौन-कौन की हिंसा करोगे ? तुम्हारे मन में दूसरे सभी हिंसक जीवों को मारने का विचार हुआ तब तुम तो सभी हिंसकों को मारनेवाले महाहिंसक हो गये । तुम्हारे समान पापी कौन रहा ? इसलिये हिंसक जीवों, की हिंसा करने के भी परिणाम कभी नहीं करना चाहिये।

हिंसक किसने बनाया है ? सभी जीव अपने पूर्व में बंध किये कर्मों के उदय आने पर उत्पन्न होते हैं । पाप का-हिंसा का संतानक्रम अनन्तकाल से चला आ रहा है । इसे कौन मिटा सकता है? पापी जीव किसने बनाये ? पुण्यवान जीव किसने बनाये ? सभी कर्म की विचित्रता है । काल के प्रभाव से पापी जीवों को पाप का फल देने के लिये अनेक पापी जीव उत्पन्न होते हैं । इसे मिटाने में कौन समर्थ है ? इसलिये दयावान होकर सभी जीवों पर दया ही करना चाहिये ।

ऐसा विचार ही नहीं करना चाहिये कि – यह जीव हिंसक है, यदि बहुत जीवेगा तो बहुत पाप का बंध करेगा, यदि इस पापरूप पर्याय से छूट जाये तो इसे बहुत पाप का बंध नहीं होगा ? ऐसी करुणा करके भी पापी जीवों को नहीं मारना, सभी जीवों पर तुम तो दया ही करना ।

ऐसा मिथ्याविचार भी नहीं करना कि – यह जीव बहुत दुःख से दुःखी है, यदि मर जाय तो शीघ्र ही दुःख से छुट जायेगा, क्योंकि यदि मर जायगा तो यह शरीर-वर्तमान की पर्याय ही छूटेगी, इसे बंधा हुआ असाता कर्म तो नहीं छूटेगा ? यदि अभी यहाँ से छूट गया तो अन्य पर्याय तिर्यंच, नरक, मनुष्यादि की पावेगा वहां कई गुणा अधिक रोग, दारिद्र आदि प्राप्त होगा, तथा बहुत काल तक दुःख भोगेगा । तुम कहां-कहां दुःख से छुड़ाने जाओगे ?

बहुत कहने से क्या लाभ ? यदि कदाचित् सूर्य का उदय पश्चिम दिशा में होने लगे, अग्नि शीतल होने लगे, चंद्रमा की किरण उष्ण निकलने लगे, सूर्य की आताप शीतल हो जाये, सम्पूर्ण पृथ्वी

तीन लोक के ऊपर हो जाये, पत्थर का भारी गोला जल में तैरने लग जाये, अग्नि में कमल उत्पन्न होने लगे, सूर्य के अस्त होने पर प्रातः काल होने लगे, सर्प के मुख में अमृत पैदा होने लगे, कलह करने से यश होने लगे, अजीर्ण से रोग मिटने लगे, कालकूट जहर खाने से जिंदगी लम्बी होकर बढ़ने लगे, वाद-विवाद करने से प्रेम बढ़ने लगे, तो भी हिंसा से धर्म नहीं होगा। जगत में ये (१३) नहीं होने योग्य कार्य भी होने लग जाये तो भी **हिंसा के परिणाम से तो किसी देश में किसी काल में किसी को भी धर्म न हुआ है, न हो रहा है, न होगा।**

जिनमंदिर बनाने की प्रेरणा : अब यहां कोई आंशका करता है कि – यदि गृहस्थ जिनमंदिर बनवाता है, उपकरण बनवाता है, जिनेन्द्र पूजा करता है तो इनमें भी आरम्भ ही होता है; जहाँ आरंभ है, वहाँ हिंसा होती ही है। इसलिये जिनमंदिरादि बनवाने में धर्म होना कैसे सम्भव है ?

उसे उत्तर देते हैं – यदि गृहस्थ ने आरम्भ करने का त्याग कर दिया है तथा जिसके परिणाम वीतरागतारूप होकर धन उपार्जन आदि करने से विरक्त हो गये हैं, उसे मंदिर आदि का बनवाना योग्य नहीं है। परन्तु जिनका राग धन से परिग्रह से आरंभ से घटा नहीं है, अभिमान घटा नहीं है, अपनी जाति कुल आदि में ऊँचा होने के लिये अभिमानपूर्वक प्रशंसा पाने के लिये अपने भोगों के निमित्त हवेली, महल, चित्रशाला आदि बनवाता है, बाग बनवाता है; अपने विहार करने के लिये अनेक स्थान बनवाता है; संतान आदि के विवाह आदि में बहुत धन खर्च करता है; जाति कुल, नगर निवासी आदि को भोजन जिमाता है; **उन्हें कोई धर्मात्मा शिक्षा देता है** : यदि तुम्हारा आरम्भ आदि से राग नहीं घटा है तो ये केवल पापबन्ध के कारण, अभिमान आदि के पुष्ट करने वाले पाप के आरम्भों को त्याग कर जिनमंदिर बनवाने का आरंभ करो, उसके प्रभाव से तुम्हारा अशुभ राग घट जायगा; भविष्य में तुम्हारे परिणाम वीतरागता के सम्मुख हो जायगें; अहिंसा धर्म का प्रवर्तन बढ़ जायेगा; अनेक जीव स्वाध्याय करके, शास्त्र श्रवण करके, वीतराग जिनेन्द्र देव के दर्शन करके, भावना बढ़ाकर, पापाचार रोकने लगेंगे; शील, संयम, ध्यान की वृद्धि इत्यादि उत्तम कार्यों को करके धर्म की वृद्धि करेंगे।

जिनमंदिर अहिंसाधर्म का आयतन है। जिनमंदिर के निमित्त से अनेक जीव पापाचार छोड़कर जिन मंदिर में आते हैं, वहाँ जिनधर्म के शास्त्र श्रवण करते हैं, उससे अपना तथा परद्रव्यों का भेदविज्ञान उत्पन्न होता है; मिथ्यादेव, मिथ्यागुरु, मिथ्याधर्म की उपासना छोड़कर सर्वज्ञ वीतराग के बताये धर्म में प्रवर्तन करते हैं; तब हिंसादि पापों से, सप्त व्यसनों से, अन्याय से, अभक्ष्य से विरक्त होकर, वीतराग जिनेन्द्रदेव के ध्यान में, पूजन में, कायोत्सर्ग में, सामायिक में, उपवास, शील, संयम, दान, व्रत प्रभावना में लीन होकर मोक्ष में प्रवर्तन करने लग जाते हैं।

अतः ऐसा निश्चित जानना कि जिनमंदिर के निमित्त बिना मोक्षमार्ग ही नहीं प्रवर्तता है। जिस पुरुष ने जिनमंदिर बनवाया उसने बहुत जीवों का उपकार किया तथा स्वयं का भी बहुत उपकार होता है। जिनमंदिर बनवानेवाले के स्वयं के परिणाम भी सीधे सही मार्ग में लग जाते हैं। **वह विचार करता है** – मैंने वीतराग जिनेन्द्र का मंदिर बनवाया है और अब यदि मैं अन्याय के मार्ग पर चलूँगा

तो जगत में मेरी निंदा होगी । मैं अभक्ष्य भक्षण कैसे करूँ ? झूँठ कैसे बोलूँ ? व्यसनों में प्रवृत्ति कैसे करूँ ? कलह करना, गाली देना, लोक निंद्य कर्म करना - ये अयोग्य दुराचार तो लोक लाज के कारण ही अत्यन्त दूर चला जाता है । परिणाम ऐसे हो जाते हैं कि - यदि मैं मंदिर बनवानेवाला ही न्याय और सदाचार रूप से प्रवर्तन नहीं करूँगा तो और कौन प्रवर्तन करेगा ? ऐसा विचार करके वह अभिषेक में, जिन पूजन में, शास्त्र-श्रवण में, जाप में, व्रत में, जागरण में, भजन में प्रवर्तन करने लग जाता है । उसे धर्म में प्रीति अधिक बढ़ जाती है, शास्त्र के वांचनेवालों से, शास्त्र सुननेवालों से, धर्म में प्रीति करनेवाले साधर्मियों से, सिद्धान्त की चर्चा करनेवालों से अनुराग बढ़ता चला जाता है । पढ़नेवालों को देखकर बहुत हर्ष होता है ।

आज मंदिर में पूजन किस-किसने की, दर्शन करने कौन-कौन आया है, यहाँ व्याख्यान में कौन-कौन सुनने बैठता है, आज उपवास करनेवाले कितने हैं, इस बार बेला-तेला किस-किसने किया है, प्रोषधोपवास वाले कितने हैं, जागरण में कितने स्त्री-पुरुष आते हैं, भजन-गान बहुत सुंदर हुये- ऐसी धर्म की प्रवृत्ति देखकर उसे बहुत आनंद बढ़ता है । सभी साधर्मियों में वात्सल्यता दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है, हजारों स्त्री-पुरुषों में धर्म का प्रभाव जैसे-जैसे प्रकट बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसका धर्मानुराग भी बढ़ता चला जाता है ।

गृहाचार के नुकता, व्योहार, विवाह करना, वस्त्र बनवाना, आभरण बनवाना, अपने रहने की जगह में मकान बनवाना, चित्राम करवाना, सोना लगवाना, इत्यादि राग के बढ़ाने वाले पाप कार्यों में तो प्रीति घटती जाती है । अब इन्हें करने से क्या प्रयोजन है, कौन को दिखाना है ? ये सभी कार्य पाप के कारण हैं, निंद्य है, ऐसा वैराग्य आ जाता है । शर्म लगती है कि इन पाप के कार्यों को कहाँ-किसे दिखाऊँ ? यदि इतना धन मंदिर में लगा दूं तो बहुत जीवों का बहुत समय तक धर्म में अनुराग बढ़ जायेगा - ऐसा विचार करके जो भी धन खर्च करता है वह मंदिर के उपकरणों में, सिंहासन, छत्र, चमर, भामण्डल, घंटा, ठोना, कलश, थाल, रकाबी, झारी, समोशरण आदि अनेक उपकरण स्वर्ण, चांदी, कांसा, पीतल के उपकरणों में धन लगाकर अपना तथा धर्मात्मा लोगों का धर्म में अनुराग बढ़ाता है । गदेला, चांदनी, पर्दा, सायवान, बिछावन इत्यादि द्वारा साधर्मी धर्म सेवन करनेवालों की बड़ी वैयावृत्य होती है ।

विवाह आदि में खर्च किये धन से ऐसी कीर्ति उच्चपना प्रकट नहीं होता जैसा मंदिर बनवानेवाले का बहुत समय तक यश प्रकट होता है । अपने देश व अन्य देशों के बहुत लोग पूजन, प्रभावना, दर्शन, धर्म-श्रवण करके महान पुण्य उपार्जन करते हैं ।

यहाँ कोई कहता है - मंदिर बनवाना, उपकरण, बनवाकर जिनमंदिर में रख देना - यह कार्य अपना तथा अन्य का उपकार तो करते हैं, परन्तु मंदिर बनवाने में छहकाय के जीवों की हिंसा तो धर्म का घात करनेवाली ही होती है ?

ऐसा कहनेवाले को उत्तर देते हैं - इसमें हिंसा नहीं होती है । हिंसा तो जब अपने जीवघात करने के परिणाम होंगे तब होगी । मंदिर बनवाने वाले के हिंसा करने के परिणाम नहीं हैं, अहिंसा

धर्म में ही प्रवृत्ति करने का परिणाम है । जैसे मुनीश्वरों को यत्नाचारपूर्वक आहार देते हुये गृहस्थ के हिंसा नहीं होती है, जैसे नित्य विहार करते हुये ईर्यापथ शोधकर गमन करते हुये मुनीश्वरों के हिंसा नहीं होती है । मुनीश्वर नित्य उपदेश करते हैं, गमन करते हैं, शयन करते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, आहार करते हैं, नीहार करते हैं, वंदना करते हैं, कायोत्सर्ग करते हैं, तीर्थ वंदना-गुरु वंदना को जाते हैं - **उन कार्यों में हिंसा के परिणाम बिना जीव की विराधना होने पर भी हिंसा नहीं होती है– हिंसाकृत बंध नहीं होता है ।**

जीवों से तो धरती, आकाश, सभी पदार्थ भरे हैं, परन्तु जो कषाय के वश होकर सम्पूर्ण दयाभाव से रहित होकर प्रवर्तन करेगा उसके परिणामों में दया नहीं है । **हिंसाभाव और अहिंसाभाव तो जीव के परिणाम हैं, वे परिणाम बाहर के जीव के घात या अघात के अधीन नहीं है** । इसका वर्णन पहले किया जा चुका है ।

अब यहाँ मंदिर बनवाने वालों के परिणामों के संबंध में विचार करो । जिसको हवेली बनवाने में, बाग बनवाने में, कुआ-बावड़ी बनवाने में महाहिंसा दिखाई देती है, तथा जिसका लोभ घटा है, धन से ममता टूटी है, जो पाप से भयभीत हुआ है, वह मंदिर बनवाता है । पहले जब वह गृहस्थी के व्यापारों में प्रवर्तन करता था, तब दया धर्म को याद भी नहीं करता था ।

अब सभी कार्यों में धर्मपूर्वक ही परिणाम करता है – वैसे ही सभी कार्यों में यत्नाचार पूर्वक वर्तता है । यह मंदिर का काम है सो पानी दुहरे मोटे कपड़े से छान-छान कर लगाता है, कलई-चूना तगार दो दिन से अधिक नहीं रखता है, दो दिनों में ही उठाकर समाप्त कर देने का प्रयत्न करता है । उठाना, रखना, धरना, इनमें अपने परिणाम तो यही रखता है कि यत्न से करो, जीवों की विराधना न होवे; इत्यादि कार्यों में हिंसा का परिणाम तो नहीं करता है । उसका अपना परिणाम तो धर्म का आयतन बनवाने का है, यदि यह धर्म का स्थान मंदिर बन जायगा तो इसमें अखण्ड अहिंसा धर्म प्रवर्तेगा ।

यह मंदिर है, सो महान धर्म का आयतन है । जिसने गृह संबंधी बहुत हिंसा के आरम्भ घटाकर परिणामों में दयारूप प्रवर्तन करने में यत्न किया है, वह मंदिर में पग धरते ही ईर्यापथ सोधकर चलता है - यह मंदिर है यहाँ किसी की विराधना नहीं हो जाये । मंदिर में प्रवेश करने के पश्चात् जैनियों के इतनी बातों का त्याग तो बिना कहे ही होता है: भोजन का त्याग, पानी पीने का त्याग, विकथा का त्याग, गाली का त्याग, पंखे की हवा लेने का त्याग, व्यापार की वार्ता करने का त्याग इत्यादि पापबन्ध के कारण सभी दुराचारों का त्याग हो जाता है । (८४ आसादना दोषों का त्याग होता है)

इसलिये जिन मंदिर तो सभी प्रकार से अहिंसा धर्म का ही प्रवर्तक जानना, जिसमें आरम्भ, विषय, कषायों के त्याग करने की ही महिमा है ।

तृतीय – अणुव्रत अधिकार

समाप्त

परिशिष्ट-३

जिनवाणी परसाद तै, लहिये आतम ज्ञान ।
दहिये गत्यागति सवै, गहिये पद निर्वाण ॥

- पंडित दौलतरामजी कासलीवाल

चाम चक्षुसों सब मती, चितवत करत निवेर ।
ज्ञान नैनसों जैन ही, जोवत इतनो फेर ॥

- ब्रम्हविलास

शुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना संसार के दु:खों से पार उतरने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

- श्रावक धर्म प्रदीप

हे जिनेन्द्रदेव ! दर्शन, ज्ञान और चारित्रमय-निश्चलवृत्तिमय - जो आपकी शक्तियों का समूह है, वह संसार के बीज-मिथ्यात्व को हरण करनेवाला है । भेदज्ञानी पुरुष के प्रारम्भिक भूमिका में कुमार्ग से निवृत्ति के हेतु क्रिया होती है, किन्तु वह उस क्रिया में लीन - भला मानना - नहीं होता है । - लघुतत्त्व स्फोट : ।४-२।

सम्यक्त्वी सदा चित्स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है । वहां प्रथम भेदविज्ञान स्वरूप का करे, नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित केवल चैतन्य चमत्कार मात्र अपना स्वरूप जाने । पश्चात् पर का भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्म विचार ही रहता है, वहां अनेक प्रकार निज़ स्वरूप में अहंबुद्धि धरता है, चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द तरंग उठती है, रोमांच हो जाता है । तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लगे । वहां सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं । दर्शन-ज्ञानादिक का व नय-प्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है । चैतन्यस्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकरूप होकर इस प्रकार प्रवर्तता है जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया । सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है । - पंडित टोडरमलजी - रहस्यपूर्ण चिट्ठी

नय ज्ञान

(१) द्रव्य नय (२) पर्याय नय (३) अस्तित्व नय (४) नास्तित्व नय (५) अस्तित्व - नास्तित्व नय (६) अवक्तव्य नय (७) अस्तित्व - अवक्तव्य नय (८) नास्तित्व - अवक्तव्य नय (९) अस्तित्व - नास्तित्व अवक्तव्य नय (१०) विकल्प नय (११) अविकल्प नय (१२) नाम नय (१३) स्थापना नय (१४) द्रव्य नय (१५) भाव नय (१६) सामान्य नय (१७) विशेष नय (१८) नित्य नय (१९) अनित्य नय (२०) सर्वगत नय (२१) असर्वगत नय (२२) शून्य नय (२३) अशून्य नय (२४) ज्ञान ज्ञेय - अद्वैत नय (२५) ज्ञान ज्ञेय - द्वैत नय (२६) नियति नय (२७) अनियति नय (२८) स्वभाव नय (२९) अस्वभाव नय (३०) काल नय (३१) अकाल नय (३२) पुरुषकार नय (३३) दैव नय (३४) ईश्वर नय (३५) अनीश्वर नय (३६) गुणी नय (३७) अगुणी नय (३८) कर्तृ नय (३९) अकर्तृ नय (४०) भोक्तृ नय (४१) अभोक्तृ नय (४२) क्रिया नय (४३) ज्ञान नय (४४) व्यवहार नय (४५) निश्चय नय (४६) अशुद्ध नय (४७) शुद्ध नय । - प्रवचनसार से

बारह भावना

मोर की स्वर्णिम छटा सम क्षणिक सब संयोग हैं । पद्मपत्रों पर पड़े जलबिन्दु सम सब भोग हैं ॥
सान्ध्य दिनकर लालिमा सम लालिमा है भाल की । सब पर पड़ी मनहूस छाया विकट काल कराल की ॥
अंजुली-जल सम जवानी क्षीण होती जा रही । प्रत्येक पल जर्जर जरा नजदीक आती जा रही ॥
काल की काली घटा प्रत्येक क्षण मंडरा रही । किन्तु पल-पल विषय-तृष्णा तरुण होती जा रही ॥१॥
जिन्दगी इक पल कभी कोई बढ़ा नहीं पायगा । रस रसायन सुत सुभट कोई बचा नहीं पायगा ॥
सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में । जीवन-मरण अशरण शरण कोई नहीं संसार में ॥२॥
मंथन करे दिन-रात जल घृत हाथ में आवे नहीं । रज-रेत पेले रात-दिन पर तेल ज्यों पावे नहीं ॥
सद्भाग्य बिन ज्यों संपदा मिलती नहीं व्यापार में । निज आतमा के भान बिन त्यों सुख नहीं संसार में ॥३॥
आनन्द का रसकन्द सागर शान्ति का निज आतमा । सब द्रव्य जड़ पर ज्ञान का घनपिण्ड केवल आतमा ॥
जीवन-मरण सुख-दुःख सभी भोगे अकेला आतमा । शिव-स्वर्ग नर्क-निगोद में जावे अकेला आतमा ॥४॥
जिस देह में आतम रहे वह देह भी जब भिन्न है । तब क्या करें उनकी कथा जो क्षेत्र से भी अन्य हैं ॥
हैं भिन्न परिजन भिन्न पुरजन भिन्न ही धन-धाम हैं । हैं भिन्न भगिनी भिन्न जननी भिन्न ही प्रिय वाम है ॥५॥
जिस देह को निज जानकर नित रमरहा जिस देह में । जिस देह को निज मानकर रच-पच रहा जिस देह में ॥
जिस देह में अनुराग है एकत्व है जिस देह में । क्षण एक भी सोचा कभी क्या-क्या भरा उस देह में ॥६॥
संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भ्रमकूप आस्रवरूप हैं । दुःखरूप हैं दुःखकरण हैं अशरण मलिन जड़रूप हैं ॥
संयोग विरहित आतमा पावन शरण चिद्रूप है । भ्रमरोगहर संतोषकर सुखकरण है सुखरूप है ॥
इस भेद से अनभिज्ञता मद मोह मदिरा पान है । इस भेद को पहिचानना ही आत्मा का भान है ॥
इस भेद की अनभिज्ञता संसार का आधार है । इस भेद की नित भावना ही भवजलधि का पार है ॥७॥
देह देवल में रहे पर देह से जो भिन्न है । है राग जिसमें किन्तु जो उस राग से भी अन्य है ॥
गुणभेद से भी भिन्न है पर्याय से भी पार है । जो साधकों की साधना का एक ही आधार है ॥
मैं हूँ वही शुद्धात्मा चैतन्य का मार्तण्ड हूँ । आनन्द का रसकन्द हूँ मैं ज्ञान का घनपिण्ड हूँ ॥
मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ । बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं, मैं स्वयं भगवान हूँ ॥८॥
वैराग्यजननी राग की विध्वंसनी है निर्जरा । है साधकों की संगिनी आनन्दजननी निर्जरा ॥
तप-त्याग की सुख-शान्ति की विस्तारनी है निर्जरा । संसार पारावार पार उतारनी है निर्जरा ॥९॥
निज आतमा के भान बिन षट्द्रव्यमय इस लोक में । भ्रमरोगवश भव-भव भ्रमण करता रहा त्रैलोक्य में ॥
कराता रहा नित संसरण जगजालमय गति चार में । समभाव बिन सुख रंच भी पाया नहीं संसार में ॥१०॥
इन्द्रियों के भोग एवं भोगने की भावना । हैं सुलभ सब दुर्लभ नहीं है इन सभी का पावना ॥
है महादुर्लभ आत्मा को जानना पहिचानना । है महादुर्लभ आत्मा की साधना आराधना ॥११॥
निज आतमा को जानना पहिचानना ही धर्म है । निज आतमा की साधना आराधना ही धर्म है ॥
शुद्धातमा की साधना आराधना का मर्म है । निज आतमा की ओर बढ़ती भावना ही धर्म है ॥१२॥

- डॉ. भारिल्ल

अनेकान्तस्वरूप आत्मा की शक्तियाँ

(१) जीवत्व शक्ति (२) चिति शक्ति (३) दृशि शक्ति (४) ज्ञान शक्ति (५) सुख शक्ति (६) वीर्य शक्ति (७) प्रभुत्व शक्ति (८) विभुत्व शक्ति (९) सर्वदर्शित्व शक्ति (१०) सर्वज्ञत्व शक्ति (११) स्वच्छत्व शक्ति (१२)

प्रकाश शक्ति (१३) असंकुचित विकासत्व शक्ति (१४) अकार्यकारणत्व शक्ति (१५) परिणम्य - परिणामकत्व शक्ति (१६) त्यागोपादन शून्यत्व शक्ति (१७) अगुरु लघुत्व शक्ति (१८) उत्पाद व्यय ध्रुवत्व शक्ति (१९) परिणाम शक्ति (२०) अमूर्तत्व शक्ति (२१) अकर्तृत्व शक्ति (२२) अभोक्तृत्व शक्ति (२३) निष्क्रियत्व शक्ति (२४) नियत प्रदेशत्व शक्ति (२५) स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति (२६) साधारण असाधारण साधारणासाधारण धर्मत्व शक्ति (२७) अनन्त धर्मत्व शक्ति (२८) विरुद्ध धर्मत्व शक्ति (२९) तत्त्व शक्ति (३०) अतत्त्व शक्ति (३१) एकत्व शक्ति (३२) अनेकत्व शक्ति (३३) भाव शक्ति (३४) अभाव शक्ति (३५) भाव-अभाव शक्ति (३६) अभावभाव शक्ति (३७) भाव-भाव शक्ति (३८) अभाव-अभाव शक्ति (३९) भाव शक्ति (४०) क्रिया शक्ति (४१) कर्म शक्ति (४२) कर्तृत्व शक्ति (४३) करण शक्ति (४४) सम्प्रदान शक्ति (४५) अपादान शक्ति (४६) अधिकरण शक्ति (४७) संबंध शक्ति।

- समयसार से

समयसार

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्व-परहित । यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित ।१।
सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्व-समय । जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे पर-समय ।२।
एकत्व निश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में । विसंवीदनी पर बंध की यह कथा ही एकत्व में ।३।
सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा । पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना ।४।
निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन । नहीं करना छलग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन ।५।
न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है । इस भांति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है ।६।
दृग ज्ञान चारित जीव के हैं - यह कहा व्यवहार से । ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ।७।
अनार्य भाषा के बिना समझा सकें न अनार्य को । बस त्यौंहि समझा सकें ना व्यवहार बिन परमार्थ को ।८।
श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा । श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ।९।
जो सर्वश्रुत को जानते उनको कहें श्रुतकेवली । सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिये श्रुतकेवली ।१०।
शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय । भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे ।११।
परमभाव को जो प्राप्त है वे शुद्ध नय ज्ञातव्य हैं । जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट हैं ।१२।
चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा । तत्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ।१३।
अबद्धपुट्ठ अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को । संयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें ।१४।
अबद्धपुट्ठ अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को । द्रव्य एवं भावश्रुतमय सकल जिनशासन लहे ।१५।
चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा । ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा ।१६।

उपासना

केवल-रवि किरणों से जिसका, सम्पूर्ण प्रकाशित है अन्तर । उस श्री जिन-वाणी में होता, तत्त्वों का सुन्दरतम दर्शन ॥
सद्दर्शन-बोध-चरण-पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण । उन देव, परम-आगम, गुरु को, शत-शत वन्दन, शत-शत वन्दन॥
स्याद्वादमयी तेरी वाणी, शुभनय के झरने झरते हैं । उस पावन नौका पर लाखों, प्राणी भव-वारिधि तिरते हैं ॥
करते तप शैल-नदी-तट पर, तरू-तल वर्षा की झड़ियों में । समता-रस-पान किया करते, सुख-दुख दोनों की घड़ियों में ॥
निज वज्र पौरुष से प्रभो ! अन्तर-कलुष सब हर लिये, प्रांजल प्रदेश-प्रदेश में, पीयूष निर्झर झर गये ।
सर्वोच्च हो अतएव बसते लोक के उस शिखर रे ! तुम को हृदय में स्थाप, मणि-मुक्ता चरण को चूमते ।
विज्ञान नगर के वैज्ञानिक, तेरी प्रयोगशाला विस्मय, कैवल्य-कला में उमड़ पड़ा, सम्पूर्ण विश्व का ही वैभव ।
पर तुम तो उससे अति विरक्त, नित निरखा करते निज निधियां, अतएव प्रतीक प्रदीप लिये, मैं मना रहा दीपावलियाँ ।
निज लीन परम स्वाधीन बसो, प्रभु ! तुम सुरम्य शिव-नगरी में, प्रति पल बरसात गगन से हो, रसपान करो शिव गगरी में ।
ये सुर तरुओं के फल साक्षी , यह भव-संतति का अंतिम क्षण, प्रभु ! मेरे मंडप में आओ, है आज मुक्ति का उद्घाटन ।

घोर तम छाया चारों ओर, नहीं निज सत्ता की पहिचान, निखिल जड़ता दिखती सप्राण, चेतना अपने से अनजान।
नहीं देखा निज शाश्वत देव, रही क्षणिका पर्यय की प्रीति, क्षम्य कैसे हों ये अपराध ? प्रकृति की यही सनातन रीति।
करें क्या स्वर्ग सुखों की बात, वहाँ की कैसी अद्भुत टेव, अंत में बिलखें छह-छह मास, कहें हम कैसे उनको देव।
तुम्हारा चित्-प्रकाश कैवल्य, कहें तुम ज्ञायक लोकालोक, अहो ! बस ज्ञान जहाँ हो लीन, वही है ज्ञेय, वही है भोग।

– श्री युगलजी

शुद्धब्रह्म परमात्मा शब्दब्रह्म जिनवाणि। शुद्धातम साधकदशा नमों जोड़ जुगपाणि॥
बहुमूल्य जगत का वैभव यह, क्या हमको सुखी बना सकता। अरे पूर्णता पाने में, क्या है इसकी आवश्यकता॥
मैं स्वयं पूर्ण हूँ अपने में, प्रभु है अनर्घ मेरी माया। बहुमूल्य द्रव्यमय अर्घ लिये, अर्पण के हेतु चला आया॥
हे वीतराग सर्वज्ञ प्रभो, तुमको न अब तक पहिचाना। अतएव पड़ रहे हैं प्रभुवर चौरासी के चक्कर खाना॥
पर आज समझ में आया है, कि वीतरागता धर्म अहा। राग-भाव में धर्म मानना, जिनमत में मिथ्यात्व कहा॥
वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है। यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर, हमको जो दिखलाती है॥
चलते फिरते सिद्धों से गुरु, चरणों में शीश झुकाते हैं। हम चलें आपके कदमों पर, नित यही भावना भाते हैं॥

– डा. भारिल्ल

मैं कौन हूँ आया कहाँ से ? और मेरा रूप क्या ? सम्बन्ध दुःखमय कौन हैं ? स्वीकृत करूँ परिहार क्या ?
इसका विचार विवेक पूर्वक, शान्त होकर कीजिये। तो सर्व आत्मिक ज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिये॥

– श्रीमद् राजचन्द्र



चतुर्थ – गुणव्रत अधिकार

इस प्रकार मांस आदि के त्याग रूप मूलगुण कहकर अब तीन प्रकार के गुणव्रत कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुवृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६७॥

अर्थ :– आर्य अर्थात् जो भगवान गणधरदेव हैं वे दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाणव्रत- ये तीन व्रत हैं, उन्हें अणुव्रतों को गुणाकाररूप बढ़ानेवाले होने से गुणव्रत कहते हैं ।

दश दिशाओं में गमन करने की मर्यादा करना वह **दिग्व्रत** है । १ ।

जिससे कुछ कार्य तो सधता नहीं है, किन्तु हमेशा पाप ही होता है, बिना प्रयोजन ही दण्ड भुगतना पड़े वह अनर्थदण्ड है । ऐसे अनर्थदण्डों का त्याग करना वह **अनर्थदण्डव्रत** है । २ ।

जो एक बार भोगने में आवे वह भोग, तथा जो बारम्बार भोगने में आवे, वह उपभोग कहलाता है । ऐसे भोग और उपभोग का परिमाण करना वह **भोगोपभोग परिमाणव्रत** है । ३ ।

अब दिग्व्रत का स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै ॥६८॥

अर्थ :– दश दिशाओं के समूह में परिमाण करके, परिमाण की हुई सीमा से बाहर गमन नहीं करूँगा, अणुमात्र पाप की निवृत्ति के लिये भी मरण पर्यन्त संकल्प करना, वह दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है ।

भावार्थ :– गृहस्थ अपना प्रयोजन जानकर कि अमुक दिशा में अमुक क्षेत्र से बाहर मेरा व्यापार व्यवहार का प्रयोजन नहीं है, तथा अमुक दिशा में उतने क्षेत्र के बाहर मुझे व्यवहार नहीं करना; इस प्रकार लोभ को घटाने के लिये तथा अहिंसा धर्म की वृद्धि के लिये विचार करके मरण पर्यन्त के लिये दशों दिशाओं में मर्यादा लेकर बाहर जाने का किसी को बुलाने का, भेजने का, वस्तु मंगाने का त्याग करके लोभ को जीतना वह दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है ।

अब दश दिशाओं की मर्यादा किस प्रकार करना - यह बतानेवाला श्लोक कहते हैं :-

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥

अर्थ :– आगम में दश दिशाओं की मर्यादारूप सीमा बांधने के लिये प्रसिद्ध तथा विख्यात समुद्र, नदी, पर्वत, वन, देश, योजन कहे हैं । समुद्र आदि लोक में विख्यात चिह्न से दिशा की मर्यादा

की जाती है। मर्यादा लेनेवाला मरण पर्यन्त ली हुई मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में गमनागमन नहीं करता है।

अब दश दिशाओं की मर्यादा धारण करनेवाले के क्या होता है ? यह बतलानेवाला श्लोक कहते हैं :-

अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पंच महाव्रत परिणति मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥

अर्थ :– दिग्व्रतों को धारण करनेवाले गृहस्थों के मर्यादा के बाहर अणुमात्र भी पापप्रवृत्ति से विरक्तता होने से वे अणुव्रत ही महाव्रतों की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ :– जो अणुव्रती गृहस्थ दश दिशाओं की मर्यादा लेकर रहते हैं, उनकी मर्यादा के भीतर तो अणुव्रत ही रहे, किन्तु मर्यादा के बाहर समस्त त्रस-स्थावर जीवों की हिंसादि पांचों पापों का त्याग होने से अणुव्रत ही महाव्रतपने की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं।

अब कहते हैं कि जिसने क्षेत्र की मर्यादा ली है उसके अणुव्रत को सीमा के बाहर के क्षेत्र में महाव्रतपने की परिणति को प्राप्त होना क्यों कहते हो ? मर्यादा के बाहर साक्षात् महाव्रत ही कहो? उसे उत्तर देने वाला श्लोक कहते हैं :-

प्रत्याख्यानतनुत्वान् मंदतराश्चरणमोहपरिणामाः ।
सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥७१॥

अर्थ :– अणुव्रती गृहस्थ के सकल संयम की विरोधी प्रत्याख्यानावरण कषाय के मंद उदय के कारण, चारित्रमोह के मंदतर (संज्वलन कषाय के) उदय में होने वाला महाव्रत का परिणाम जीवों के द्वारा महाकष्ट करके भी धारण नहीं किया जा सकता है, इसलिये महाव्रतों की कल्पना करते हैं।

भावार्थ :– जिसके चारित्रमोहकर्म के मन्दतर उदय का परिणाम संज्वलन कषायरूप होता है उसके उस काल में महाव्रत होते हैं। गृहस्थ देशव्रती के प्रत्याख्यानावरण का उदय विद्यमान है, इसलिये संज्वलन कषाय के मंद उदयरूप परिणाम बहुत कष्ट से भी होना दुर्लभ हैं और इसी कारण से समस्त पापों का त्याग होने पर भी महाव्रत नहीं होते हैं, सिर्फ महाव्रतों की कल्पना ही करते हैं। महाव्रत तो प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव होने पर होते हैं।

अब महाव्रत कैसे होते हैं ? यह श्लोक द्वारा कहते हैं :-

पंचानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः ।
कृतकारितानुमोदैः त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥७२॥

अर्थ :– जो हिंसादि पांच पापों का मन-वचन-काय पूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा त्याग करते हैं, उन महापुरुषों के महाव्रत होते हैं।

अब दिग्व्रत के पांच अतिचार कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥७३॥

अर्थ :– दिशाओं की मर्यादा की थी, उसका अज्ञान से या प्रमाद से उल्लंघन कर देना वह अतिचार है । जैसे ऊँचाई की मर्यादा का पर्वत पर चढ़कर भंग कर देना वह **ऊर्ध्वातिपात** अतिचार है । कुआ–बावड़ी, तालाब आदि में नीचे उतरने की ली हुई मर्यादा भंग कर देना वह **अधःस्तातिक्रम** अतिचार है । देशों, गुफाओं आदि में प्रवेश कर मर्यादा को भंग कर देना वह **तिर्यग्व्यतिक्रम** नाम का अतिचार है । मर्यादा का क्षेत्र किसी विशेष प्रयोजन हेतु बढ़ा लेना वह **क्षेत्रवृद्धि** अतिचार है। जो मर्यादा ली थी उसका विस्मरण हो जाना वह **विस्मरण** नाम का अतिचार है । ये दिग्व्रत के पांच अतिचार हैं ।

अब अनर्थदण्ड त्यागव्रत का वर्णन करनेवाले आठ श्लोक कहते हैं :-

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥

अर्थ :– जो दिशाओं की मर्यादा ली है उसमें मन–वचन–काय के योगों की व्यर्थ की प्रवृत्ति से विरक्त होना उसे व्रतधारियों में अग्रणी जो भगवान हैं; वे अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं ।

भावार्थ :– मर्यादा के भीतर के क्षेत्र में भी ऐसे कार्य करना जिनसे अपना कोई प्रयोजन ही नहीं सधता है तथा व्यर्थ ही पाप का बन्ध करके दण्ड भुगतना पड़े वह अनर्थदण्ड है । वे सभी अनर्थदण्ड त्यागने योग्य हैं जिन्हें करने से अपने विषय भोग भी नहीं सधते, कुछ लाभ भी नहीं होता, यश भी नहीं होता, धर्म भी नहीं होता, किन्तु निरन्तर पाप का ही बन्ध होता है । जिस का फल खोटा दुर्गतियों में भोगना पड़े ऐसे सभी अनर्थदण्ड त्यागने ही योग्य हैं ।

अब अनर्थदण्ड के पांच भेद कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५॥

अर्थ :– पाप का उपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति, प्रमादचर्या– ये पांच अनर्थदण्ड हैं, उन्हें जो अदण्डधर गणधर देव हैं उन्होंने कहा है ।

भावार्थ :– मन–वचन–काय के अशुभ योगों को दण्ड कहते हैं । सभी जीवों को अपने–अपने मन, वचन, काय के अशुभ योग ही दुर्गतियों में अनेक प्रकार का दण्ड देते हैं । मन–वचन–काय के अशुभ योगरूप दण्ड को जो नहीं धारण करते हैं ऐसे अदण्डधर जो गणधर देव हैं उन्होंने अनर्थदण्ड पांच प्रकार का कहा है - पाप का उपदेश देना वह पापोपदेश है १, हिंसा के उपकरणों का देना वह हिंसादान है २, खोटा विचार करना वह अपध्यान है ३, खोटा सुनना वह दुःश्रुति है ४, प्रमादरूप आचरण करना वह प्रमादचर्या है ५ इस प्रकार अनर्थदण्ड के पांच भेद हैं ।

अब **पापोपदेश** नाम का अनर्थदण्ड कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
प्रसवः कथाप्रसंगः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥७६॥

अर्थ :– तिर्यंचों को क्लेश उत्पन्न कराने का, उन्हें खरीदने-बेचने का, उनकी हिंसा का, आरम्भ का, ठगने का इत्यादि पाप उत्पन्न करानेवाली प्रवृत्तिरूप कथा का बारम्बार कहना-उपदेश देना वह पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है ।

भावार्थ :– तिर्यंचों को मारने का, डाहने-दागने का, दृढ़ बांधने का, मर्म स्थान में पीड़ा पहुँचाने का, बहुत बोझा लादने का, बाधी करने (नपुंसक बनाना) का, नाक छेदने का, पकड़ने का, पिंजरा में रोक रखने का उपदेश देना वह **तिर्यक्क्लेश** नाम का **पापोपदेश** है । अनेक वस्तुओं में पाप उत्पन्न करानेवाले **व्यवसाय** का उपदेश देना तथा जिसमें छह काय के जीवों की हिंसा होती है वह हिंसापोदेश है । बाग-बगीचा लगवाना, मकानादि बनवाना, विवाह करना आदि पाप के आरम्भ का उपदेश वह **आरम्भोपदेश** है । छल-कपटरूप प्रवृत्ति कराने का उपदेश वह **प्रलंभनोपदेश** है । इसी तरह अनेक प्रकार के पापों में प्रवृत्ति करानेरूप उपदेश की कथा करना, पापों में प्रेरित करना वह सब पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है ।

अब **हिंसादान** नाम का अनर्थदण्ड कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधश्रृंगिश्रृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥७७॥

अर्थ :– हिंसा के कारण जो फरसा, तलवार, कुदाली, गेंती, अग्नि, आयुध, आग्नेयास्त्र, विष, बेड़ी, साकंल इत्यादि के दान को सभी ज्ञानी हिंसादान अनर्थदण्ड कहते हैं । **जिनसे हिंसा ही उत्पन्न होती है ऐसी वस्तु अन्य को देना,** फावड़ा, कुदाल, खुरपा, कुशि, हथौड़ा, तलवार, छुरी, कटारी, तमंचा, भाला, बाण, धनुष, बन्दूक, तोप, बारूद, गोला, गोली, चाबुक, दांतला, दंतीला, बेड़ी, सांकल, जहर, अग्नि इत्यादि वस्तुओं का दान करना, मांगनेपर उधार देना, बेचना, किराये से देना वह सब हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है ।

अब **अपध्यान** नाम का अनर्थदण्ड कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥७८॥

अर्थ :– जो द्वेष से, बैर से, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के रागरूप अभिप्राय से दूसरे की स्त्री-पुरुष आदि के वध, बंधन, मारण, छेदन, आदि का चिंतवन करता है उसे जो जिनशासन में प्रवीण हैं वे अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं ।

भावार्थ :– जिसके रागद्वेषपूर्वक परिणामों में ऐसा विचार होता है कि - अमुक का पुत्र मर जाये, स्त्री मर जाये, दण्ड हो जाये, हाथ-नाक-कान छेद दिये जांय, धन लुट जाये, आजीविका नष्ट

हो जाये, इंद्रियाँ नष्ट हो जायें, लोक में अपवाद फैल जाये, स्थान से हटा दिया जाये, बुद्धि भ्रष्ट हो जाये - ऐसा बार-बार चिंतवन करना वह सब **अपध्यान** है । इस प्रकार दूसरे पर दु:ख आपत्ति चाहने से स्वयं को कुछ भी लाभादि नहीं होता है, अपने विचार करने से दूसरे का कुछ भी नहीं बिगड़ता है, किन्तु यह व्यर्थ ही अपने को महापाप का बंध करता है । दूसरे का बुरा-भला उसी के स्वयं के पाप-पुण्य के उदय के अनुसार होता है । जो व्यर्थ दुर्ध्यान करता है उसके अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड कहा है ।

अब **दु:श्रुति** नाम का अनर्थदण्ड कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

आरम्भसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ।।७९।।

अर्थ :– **आरम्भ** अर्थात् असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प; **संग** अर्थात् धन, धान्यादि परिग्रह; **साहस** अर्थात् आश्चर्यकारी बहादुरी आदि; **मिथ्यात्व** अर्थात् ब्रह्म अद्वैत, ज्ञान अद्वैत, क्षणिक याज्ञकादि विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र; **राग** अर्थात् आसक्ति; **द्वेष** अर्थात् वैर; **मद** अर्थात् अभिमान रूप आठ मद; **मदन** अर्थात् कामवेदना कृत विकार इनसे चित्त को कलुषित करनेवाले **अवधि** अर्थात् शास्त्र, उनका श्रवणकरना वह दु:श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है ।

भावार्थ :– मिथ्यात्व तथा रागद्वेष उत्पन्न करानेवाले पदार्थों का विपरीत स्वरूप ग्रहण करानेवाले शास्त्रों को सुनना; विकथा, शृंगार, वीर, हास्यरस के प्ररूपक तथा मारण, उच्चाटन, वशीकरण, कामोत्पादक शास्त्रों को सुनना; जांगलिक सर्पों के, भूतों के, रसकर्म, इन्द्रजाल, रसायण, मायाचार आदि के प्ररूपक शास्त्र तथा दुष्ट शास्त्र, दुष्टकथा, दुष्टराग, दुष्टचेष्टा, दुष्टक्रिया, दुष्ट कर्मों का वर्णन करनेवाले शास्त्रों को सुनना है वह दु:श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है ।

अब **प्रमादचर्या** नाम का अनर्थदण्ड कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ।।८०।।

अर्थ :– बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदने का, पत्थर फोड़ने का आरम्भ; जल पटकने का, सींचने का, छिड़कने का, अवगाहन करने का आरम्भ; बिना प्रयोजन अग्नि भड़काने का, जलाने का, बुझाने का, दाबने का आरम्भ; पवन चलाने का, फूंकने का, पवन के यन्त्र रोकने का, अग्नि में धमने का वृथा आरम्भ; प्रयोजन बिना वनस्पति का छेदना, बिना प्रयोजन गमन करना, गमन कराना - ये समस्त कार्य करने को प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं ।

खोटा उपदेश देने का त्याग – यहाँ ऐसा विशेष जानना – गृहस्थ के गृहाचार में अनेक पाप ही के आचरण हैं । यदि गृहाचारी पापों का त्याग नहीं कर पा रहा है तो जिनसे अपना कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ऐसे बिना प्रयोजन ही, केवल पापबंध के कारण, जिनका फल दुर्गतियों में असंख्यातकाल अनंतकाल तक दु:ख ही भोगना पड़ता है, ऐसे निंद्यकर्म छोड़ ही देने चाहिये ।

यहाँ उत्तम कुल में जिनेन्द्र का उपदेश, अतिदुर्लभ उत्तम जिनधर्म प्राप्त हो गया है, तो अब बिना प्रयोजन के पाप बंध से भयभीत होकर दूर रहना ही उचित है । पशुओं के समान वृथा जन्म व्यतीत मत करो ।

यदि आप स्वयं पाप से नहीं छूट पा रहे हो तो दूसरे को ऐसे पाप का उपदेश तो नहीं दो । गृह सम्पत्ति बनवाने में महाहिंसा होती है, अतः मकान बनवाने का, मकान की पुताई कराने का, मकान की मरम्मत कराने का, बाग-बगीचा बनवाने का, रोड़ी खुदवाने का, सड़क-गली रास्ता खुदवाने का, कुआ-बावड़ी बनवाने का, तालाब खुदवाने का, जल का निकास बनाने का, तालाब की पाल बन्धवाने का, तालाब की पाल फुड़वाने का, नदी की पाल बन्धवाने का, बने हुए मकान को गिराने का, बाग-बगीचा मिटाने का, वृक्ष कटवाने का, जंगल कटवाने का, कोयला बनवाने का, घास खुदवाने का, आग लगाने का, मिथ्यादेवों के मकान बनाने का, मिथ्यादेवों के मंदिर तथा मूर्ति को बिगाड़ने का, खेती करने का सुन्दर मकान को मलिन करने का उपदेश कभी नहीं देना चाहिये।

तिर्यंचों के दुःख होने का, मारने का, दृढ़ बांधने का, बाधी करने का, डाह देने का, नासिका फोड़ने का उपदेश मत दो । मनुष्य तिर्यंचों के भोजन पानी रोकने का, बंदीगृह में धरने का, संतानों से अलग कर देने का, पक्षियों को पिंजरे में धरने का; सर्प, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र, चूहा, नेवला, कुत्ता आदि हिंसक जीवों के मारने का, जुंआं-लीखें मारने का, उटकण-खटमल मारने का, खाट को धूप में रखने का, छिड़काव कराने का, जीवों को पकड़ने-मारने के यन्त्र-जाल आदि बनवाने का उपदेश मत दो ।

खोटे पापरूप शास्त्र पढ़ने का, जिन शास्त्रों में शृंगार, मायाचार आदि की अधिकता हो उनका; मिथ्याश्रद्धान करानेवाले, जिनग्रंथों में मारणक्रिया, विष बनाने की क्रिया, मारण-उच्चाटन, वशीकरण मन्त्र, तन्त्रादि तथा इन्द्रजाल आदि अनेक कपट करने का उपदेश दिया हो; तथा रसों को गर्म करना, जलाना, रसायन बनाने इत्यादि पाप के शास्त्र, वीर रस के शास्त्र, हिंसा प्रधान क्रिया के शास्त्र मत पढ़ो, और न दूसरों को उपदेश दो ।

अभक्ष्य भक्षण करने का, रात्रि में भोजन करने का, झूठ बोलने का, चुगली करने का, चोरी करने का, खोटी गवाही देने का, व्यभिचार कराने का, व्यवहार आदि बड़े-बड़े आरम्भ करने का, रोशनी प्रज्वलित करने का, बारूद छुड़वाने का, तथा बाग-बगीचा देखने की प्रेरणा करने का उपदेश मत दो ।

हिंसा के उपदेश का त्याग : इस देश से दूसरे देश में व्यापार अधिक हैं, वहाँ जाकर व्यापार करो-ऐसा उपदेश नहीं दो । परिणामों में दुर्ध्यान को बढ़ाने के कारण जो मेला-प्रदर्शनी, ख्याल, कौतुक, व्यभिचार आदि कार्य (सिनेमा, टी.वी.) मनुष्य-तिर्यंचों की लड़ाई, कलह आदि देखने का उपदेश नहीं दो । युद्ध आदि करने का, गाली देने का, दूसरे की आजीविका बिगाड़ देने का उपदेश नहीं दो, खोटे गीत, गान, नृत्य, वादित्र, कलह, विसंवाद सुनने का उपदेश नहीं दो ।

इस देश में दासी-दास सुलभ हैं, इनको अमुक देश में ले जाकर बेचने पर बहुत लाभ होगा- ऐसा उपदेश नहीं दो । ऐसा उपदेश **क्लेश वणिज्या** उपदेश है । गाय, भैंस, घोड़ा आदि अमुक देश से लाकर दूसरे देश में बेचने से बहुत धन का लाभ होगा - ऐसा उपदेश नहीं दो । ऐसा उपदेश **तिर्यक् वाणिज्या** उपदेश है । चिड़ीमार शिकारियों से ऐसा कहना कि - अमुक देश में मृग, सूकर, पक्षी इत्यादि जीव बहुत होते हैं - ऐसा उपदेश नहीं दो । ऐसा कहना **वधकोपदेश** है । खेती करनेवालों को पृथ्वी के आरम्भ, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति छेदन आदि का उपदेश देना वह **आरम्भोपदेश** है, वह उपदेश नहीं दो । ये सभी पापोपदेश त्याग करने योग्य ही हैं ।

हुक्का, जरदा, तम्बाखू, भांग, अमल, छोंतरादि पीने का, सूंघने का, खाने का उपदेश महापाप का कारण है, वह उपदेश नहीं दो । हुक्का, जर्दा तो उत्तम कुल के मनुष्यों के योग्य ही नहीं है, इनसे जाति तथा कुल का आचार भ्रष्ट हो जाता है । हुक्के के पानी में धुवाँ तथा पानी के संयोग से बहुत जीव उत्पन्न हो जाते हैं, तथा जल बहुत दुर्गन्धयुक्त हो जाता है । वह पानी जहाँ गिरे वहीं पर छह काय के जीवों की विराधना ही करता है । चूना, ईंट पकवाने का उपदेश नहीं दो ।

इस प्रकार **बहुत पाप के व्यापार करने का उपदेश नहीं दो** । गाय, भैंस, बैल, ऊंट, गाड़ा-गाड़ी को रखने का उपदेश नहीं दो । कोई दातार मनुष्य तिर्यंचों को भोजन, वस्त्र, धनादि देता हो तो उसे अंतराय नहीं करो । कुपात्र दान का उपदेश नहीं दो, देने में अंतराय-विघ्न नहीं करो । व्रत भंग करने का उपदेश नहीं दो ।

बहुत क्या कहें ? जिससे अपना धर्म, अर्थ, काम कुछ भी सिद्ध नहीं होता है, केवल पाप ही का बंध होता है, अतः ऐसा पापरूप उपदेश नहीं दो ।

जिनसे बहुत हिंसा होती है ऐसे उपकरण किसी को नहीं दो । मांगने पर नहीं दो, किराये पर नहीं दो, मुफ्त में ही प्रीति के कारण नहीं दो, मूल्य में भी नहीं दो, जिन्हें दे देने से कुछ लाभ भी होता दिखाई दे तो भी नहीं दो, महापाप का कारण जानकर देना उचित नहीं है । जिन्हें हाथ में लेते ही परिणाम दुष्ट हो जाते हैं, किसी का घात करने ही का विचार आता है ऐसे तलवार, छुरी, भाला, बाण, धनुष, बन्दूक, तमंचा, कटारी इत्यादि आयुध देने योग्य नहीं है ।

भूमि खोदने के कारण जिनसे गलियों में, सड़कों में, खेतों में बड़े-बड़े त्रस जीव सर्प, बिच्छू, गिंडोला, लट, कीड़ा, मूसा आदि जीव कटजाते हैं, छिदजाते हैं; करोड़ों जीवों की हिंसा हो जाती है ऐसे फावड़ा, कुदाल, कुश, खुरपा, हल, मुद्गर, हथौड़ा किसी को नहीं दो । अनेक त्रस जीवों को, स्थावर जीवों को चीरनेवाला फरसा, कुल्हाड़ा, वसूला, करोंत, दांतला, दतीला, किसी को नहीं दो । अग्नि, विष, बेड़ी, सांकल, पिंजरा, जाल, जीव पकड़ने का यन्त्र किसी को नहीं दो । तिर्यंच व मनुष्यों को मारने के कारण लाठी, घोंटा, चाबुक, चामड़ा, लोढ़ा किसी को नहीं दो ।

बिल्ली, कुत्ता इत्यादि हिंसक जीवों को अपना बनाकर नहीं पालो । सुअर, तीतर, बुलबुल, मुर्गा, मैना, कबूतर, बाज इत्यादि पक्षियों को पिंजरे में रखना, पालना नहीं करो । कितने ही बहुत

पाप के उपकरण घर में ही नहीं रखो। **घर में रखा देखते ही ये हिंसा के उपकरण परिणाम बिगाड़ देते हैं।**

निंद्य व्यापार भी महापाप के कारण हैं, उनमें कितना ही लाभ होता हो तो भी पाप से डरकर त्याग कर देना चाहिये। लोहा, नील, मैंन, नमक, क्षार, लकड़ी, साजी, सन, साबुन, लाख, चमड़ा, ऊन, केश, कसूंभा, गुड़, खांड, अन्न, चावल, सिंघाड़ा, शस्त्र, दारू, बारूद, गोला, शीसा, आयुध, लहसुन, कांदा, अदरख, जमीकंद तथा घी, तेल, आम, नीबू, इत्यादि वनस्पतिकाय, भांग, तमाखू, जर्दा, बीड़ी, तिली, खली, काकड़ा, पिंजरा, फांसी, गांजा, चरस, शराब, दासी, दास, घोड़ा, ऊँट, बैल, भैंसा, गाड़ा, गाड़ी (बस, मोटर, ट्रक), ईंट इनके बेचने खरीदने में संग्रह करने में महाहिंसा होती है इसलिये इनका व्यापार छोड़ ही देना चाहिये। सभी का त्याग नहीं बन सके तो इनमें महापाप जानकर किसी अनाज आदि में थोड़ा संग्रह थोड़ी मात्रा में करना विचारकर, अन्य सभी का तो त्याग ही कर देना चाहिये।

कितनी ही खोटी आजीविकाएं महापाप का बंध कराके दुर्गति में ले जाने वाली हैं, उन्हें तो छोड़ ही देना चाहिये- जैसे कोटवार बनना, कोतवाल का सहायक बनना, वनकटी कराना, गड़ा-गाड़ी (ट्रक, मोटर, बस, ट्रेक्टर, ट्राली) किराये पर देना, चलाना, ऊँट, बैल, घोड़ा किराये पर देना, ऊँट, बैल, गाड़ा-गाड़ी भाड़े पर देने की दलाली की जीविकाएं। दलाल यह नहीं देखता है कि इसका कंधा छिल गया है, नाक फट-गल गई है, पीठ छिल गई है, पैर दुख रहे हैं, किसी अंग में कीड़े पड़ गये हैं, वृद्ध है, रोगी हैं; भाड़ा की दलालीवालों के ऐसा विचार नहीं होता है। चातुर्मास बरसात में भी बहुत बोझ लदवा देते हैं। इनकी भाड़ा की आजीविका तथा भाड़ा की दलाली दोनों कार्य ही महापाप रूप हैं।

लोभ के वश होकर वृद्ध पुरुष का ब्याह-सगाई मत कराओ। **राजा का हासिल (टेक्स) मत चुराओ।** अन्य अपराधी की चुगली खाने की (शिकायत), झूठी गवाही देने की, गवाह बन जाने की, **वैद्यपना की आजीविका नहीं करो।** तंत्र,मंत्र, भूत, भूतणी, डाकिनी के इलाज करने की, रसायनादि धूर्तता दिखाकर ठग लेने की आजीविका नहीं करो। ये सब दुर्गति को ले जाने वाली हैं।

लकड़ी बेचने वाला, मदिरा बेचने वाला, दलाल, कसाई, धोबी, चमार, ईंट-चूना पकाने वाला, नीलगर, जुआरी, घसियारा, घास खोदनेवाला इनको ब्याज पर धन मत दो। **मांसभक्षियों को, वेश्याओं को, निंद्य पाप की आजीविका करनेवालों को ब्याज पर रुपया मत दो।** इनको अपना मकान किराये पर मत दो।

अपध्यान त्याग : अशुभ परिणाम के धारक कुमार्गी, मांसभक्षी, मद्यपायी, वेश्या में आसक्त, परस्त्री-लम्पट, अधर्मी जीवों से मित्रता प्रीति-करने का भी त्याग करो। **दूसरे के धन-लक्ष्मी में वांछा नहीं करो। अन्य की लक्ष्मी को देखकर आश्चर्य मत करो।** अपना दीनपना मत चिन्तवन

करो । अन्य की स्त्री को देखने की अभिलाषा नहीं करो । अन्य मनुष्य तिर्यंचों की कलह मत देखो। अन्य के पुत्र का, स्त्री का वियोग होने की भावना नहीं करो । **पर का अपमान, अपयश, अपवाद सुनकर हर्षित मत होओ** । अन्य का लाभ देखकर विषाद नहीं करो । अन्य के रस सहित भोजन, आभरण आदि देखकर अपने परिणामों में दु:खित मत होओ । अपना दारिद्र, वियोग, रोग होने पर आर्त परिणाम करके दु:खी मत होओ । **धनवानों से ईर्ष्या मत करो** ।

किसी सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि के शिकार के संबंध में चिन्तवन मत करो, संग्राम में किसी की हारजीत, जय-पराजय मत चाहो; पर की स्त्री के साथ वार्तालाप करने की इच्छा नहीं करो; वेश्यादि के हाव-भाव, नृत्य का विलास देखने की अभिलाषा मत करो ।

गाली, भंडवचन वाले गीत नहीं सुनो । खोटे राग, स्वांग, कौतूहल, परिणामों को मलिन करने के कारण होने से इन्हें सुनना, देखना दूर से ही छोड़ो । **दरिद्रता आ जाने पर भी नीची प्रवृत्ति द्वारा आजीविका नहीं करो,** किसी से याचना नहीं करो, दीनता के वचन मत कहो, निर्धनपना होने पर भी प्रवृत्ति को विकाररूप मत करो । नीच कुलवालों के करने योग्य कार्य वस्त्र रंगना, धोना इत्यादि निंद्य कार्य करने का तो त्याग अवश्य ही करो ।

जिनालय आदि धर्म के स्थानों में स्त्रियों की कथा, राजकथा, चोरकथा, देशकथा, भोजनकथा, महापाप का बंध करनेवाली कथा कभी नहीं करो । **लेनदेन, ब्याह-सगाई का झगड़ा, न्याय पंचायती, जाति कुल का विसंवाद जिनमंदिर में बैठकर कभी नहीं करो । यदि मंदिर में बैठकर विकथा करोगे तो धर्मस्थान की मर्यादा तोड़ने के कारण नरक-निगोद का कारण घोर पाप कर्म का बंध होगा** । इसलिये मंदिर व धर्मायतनों में पाप का बंध बढ़ानेवाले कार्यों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये। जिनमंदिर में भोजन, पानी, ताम्बूल, गंध, पुष्प, विषय आदि शयनकरना, उच्च आसन पर बैठना, वणिज, सगाई-ब्याह, झगड़ा, गाली के वचन, हास्य के वचन, अविनय, आरंभ के वचनों में कभी प्रवर्तन नहीं करो ।

दु:श्रुति त्याग : मिथ्याश्रुत का श्रवण नहीं करो । जिनके सुनने से विषयों में राग बढ़े, हास्य, कौतुक उत्पन्न हो, काम जाग्रत हो जाये, भोजन के अनेक स्वादों में चित्त चला जाये , ऐसी कथनी श्रवण मत करो । स्त्री पुरुषों के पापरूप चरित्र की कथा, भूत-प्रेतों की असत्य कथा, हिंसा की प्रधानता के धारक वेद-स्मृति आदि अन्य ग्रंथों की कथा , कपोल-कल्पित अनेक कहानियाँ, फारसी किताबों में लिखे अनेक किस्से-कहानी महापाप, दुर्ध्यान करानेवाले होने से सुनना ही नहीं चाहिये । महाभारत, रामायण आदि हिंसा बढ़ाने वाले ग्रंथों की कल्पित कथायें कभी नहीं सुननी चाहिये ।

इसी प्रकार कषायों को उत्पन्न करनेवाले क्रोधियों के वचन, अभिमानियों के मद भरे वचन, मायाचारियों के कुटिल वचन, लोभियों के लालसा उत्पन्न करानेवाले वचन, मद्य-माँस अभक्ष्य के स्वाद की प्रशंसा करनेवालों के वचन, मद्य-अमल-भांग-तमाखू-हुक्का की प्रशंसा करने वालों के वचन कभी नहीं सुनने चाहिये । धर्म का अभाव करनेवाले, परलोक आदि का अभाव कहनेवाले नास्तिकों के वचन पापबंध के कारण होने से नहीं सुनो ।

अनर्गल प्रवृत्ति त्याग : व्यर्थ का आरंभ-विसंवाद छोड़ देना चाहिये । माटी, कचरा, कीचड़ कांटा, ठीकरा, मल, मूत्र, कफ, उच्छिष्ट, जल, अग्नि, दीपक इत्यादि भूमि को देखे बिना मत पटको। शीघ्रता से पाषाण, काष्ठ, आसन, शैय्या, पलंग, धातु के बर्तन, चरवा, चरी, तबेला, परांत, चौकी, पाटा, वस्त्रादि को जमीन के ऊपर घीसकर, रगड़कर, घसीटकर प्रमाद से नहीं सरकाओ । इसमें यत्नाचार का अभाव है , बहुत जीवों की हिंसा होती है । अतः देखकर यत्न से उठाओ -धरो । बिना प्रयोजन भूमि का कुचरना, वृक्ष की डालियाँ मोड़ना, हरे घास को छेदना, रगड़ना, कुचरना, वृक्षों के पत्ते-फूल आदि को चीरना, तोड़ना, वृथा जल पटकना इत्यादि कार्य पाप से डरकर नहीं करो ।

अधिक क्या कहें ? – गृहाचार में जितनी वस्तु, पात्र, अन्न, जल आदि हैं उनको देखकर उठावो धरो । जिस प्रकार धर्म नहीं बिगड़े, किसी का उजाड़-बिगाड़ नहीं हो उस प्रकार करो । प्रमाद को छोड़कर भोजन, पानी, औषधि, पकवान, आदि नेत्रों से स्वयं देखकर सोधकर खाना चाहिये। शीघ्रता से, प्रमादी होकर, बिना सोधा भोजन मत करो । गमन में, आगमन में, उठने में, बैठने में देखेबिना सोधेबिना प्रवर्तन मत करो, जिससे दया पले तथा अपने शरीर को बाधा नहीं हो, हानि नहीं हो, किसी का अनादर नहीं हो ।

प्रमादी होकर हित–अहित का विचार किये बिना, सुपात्र–कुपात्र का विचार किये बिना किसी से कुछ बात नहीं कहो । कहने में गुण–दोष का विचार करके कहो । यदि कोई आपसे पूछे तो शीघ्रता से उत्तर मत दो, यही कहो - मैं समझकर विचारकर आपको उत्तर दूँगा । पश्चात् समय पाकर धर्म-अर्थ-काम से अविरुद्ध विचारकर विनय सहित उत्तर दो । शीघ्रता से उत्तर देने में उस समय क्रोध, मान, माया, लोभ के वश से वचन निकलने का ठिकाना नहीं रहता है; कषाय के वेग में योग्य-अयोग्य कहने का विचार नहीं रहता है; दूसरे की पूरी बात सुनकर तथा कहने का सम्पूर्ण अभिप्राय जानकर ही उत्तर देना उचित है ।

अतः प्रमाद से असावधानी से वचन मत कहो । एकान्तरूप, हठग्राही, पक्षपाती नहीं होना चाहिये। इससे धर्म बिगड़ जायेगा । इसलिये दोनों लोकों के हित के लिये प्रमादचर्या अनर्थदण्ड छोड़ो । इस तरह पांच प्रकार के अनर्थदण्डों को समझकर जो उनका त्याग करता है , उसके अनर्थदण्ड त्याग नाम का व्रत होता है ।

जुआ त्याग : अनर्थदण्डों में महा अनर्थ करने वाला जुआ है । जुआ समस्त व्यसनों में प्रधान है, समस्त पापों का संकेत स्थान है , महान आपदा का कारण है, समस्त अनीतियों में महाअनीति है । जुआरी के परिणाम ही महादुष्ट होते हैं । वह अपना सब घर, सम्पति जुआ में हारकर भी दूसरे का धन लेना चाहता है । जुआरी के इतना अधिक लोभ होता है कि वह रात-दिन यही विचार करता रहता है - "दूसरों का धन मेरे पास आ जाय, चाहे कैसे भी हो ।" मेरा धन जाता है तो जाये, अपयश होता है तो हो, दरिद्रता होती है तो हो, किसी प्रकार से दूसरे का धन मैं जीत लूँ तभी मेरा जीवित रहना सफल है ।

लोभ कषाय की तीव्रता महाहिंसा है । जुआरी के परिणाम अत्यंत निर्दयी होते हैं । वह हमेशा दूसरे का घात करना ही रिचारता है । यदि जुआ में धन हार जाता है-तो चोरी करता है, धन के लिये लोगों को मार डालता है । जुआरियों में आपस में बहुत झगड़ा होता है, मारपीट होती है, मायाचारी तो रहती ही है । जिनसे बहुत प्रेम होता है उनसे भी बहुत कपट करके अनेक प्रकार से छल करके धन लेना ही चाहता है । **जुआ तो कपट का स्थान ही है,** हजारों छल रचे जाते हैं । जुआरी अपनी स्त्री को भी जुआ में दांव पर लगा देता है, पुत्र-पुत्री को भी दांव पर लगा देता है । यदि स्त्री को हार जाता है , पुत्री को हार जाता है तो उन्हें जुआरियों को दे देता है ।

जुआरी दरिद्री–व्यसनी को भी अपनी पुत्री ब्याह देता है । जुआ में अपने रहने का मकान भी बेच देता है, दांव पर लगा देता है, पुत्र को भी बेच देता है । लाखों के धन का धनी एक क्षणभर में अपना समस्त धन हारकर दरिद्री हो जाता है तथा महान् आर्तध्यान रौद्रध्यान से मरकर दुर्गति में भ्रमण करता है । यदि जुए में धन जीतकर लाता है तो अभिमान पैदा हो जाता है, उसका धन कुमार्ग में ही खर्च होता है । महारौद्रध्यान के प्रभाव से मरकर महाकुयोनि पाकर संसार में भटकता रहता है ।

जुआरी मद्यपान - भंगपान आदि भी करता है, वेश्याओं में आसक्त हो जाता है । उसका धन सुमार्ग में नहीं लगता है । उससे न्यायरूप कोई भी आजीविका नहीं की जा सकती है । जुआरी का कोई विश्वास ही नहीं करता है, उसे कोई धन उधार नहीं देता है । जुआरी कभी सत्यवचन नहीं बोलता है, जुआरी के शुभभाव नहीं होते हैं । अपने पूर्वोपार्जित कर्म के द्वारा दिये हुए न्याय के धन में कभी संतोष नहीं करता है । एकांत में किसी को भी अकेला पाकर उसे मारकर धन छीनकर ले जाता है; अपना बहुत ही खास निकट का रिश्तेदार-भाई हो, उसे भी एकांत में मारकर जेवर वगैरह ले जाता है ।

जुआरी का विश्वास तो कोई मूर्ख भी नहीं करता है । वह दूसरे के धन की अति तीव्र तृष्णा के वश होकर कुदेवों की बोली भी बोलता है, मिथ्या धर्म का सेवन भी करता है; संतोष, शील, निराकुलता को जलांजलि दे देता है । अतिलोभ के परिणाम से बुद्धि विपरीत हो जाती है । उसमें परमार्थ का ज्ञान नहीं होता है । धर्म का विश्वास उसे स्वप्न में भी नहीं होता है ।

समस्त पापों का मूल कारण जुआ है – ऐसा जानकर उसका दूर से ही त्याग कर दो । जुआरी की बुद्धि करोड़ों उपाय करने पर भी विपरीतता नहीं छोड़ती है । वह परलोक में दुर्गति ही पाता है । जुआरी तो तीव्र लोभ से अपने आत्मा का ही घात करता है ।

कितने ही अज्ञानी जुआ में हारजीत धन की तो नहीं करते हैं, परन्तु मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही व्यतीत करने की इच्छा से धन से तो जुआ नहीं खेलते, खेल के लिये चौपड़, शतरंज, गंजफा इत्यादि अनेक मूर्खता के कार्य करते हैं । इन खेलों में हारजीत में भी राग-द्वेष की बड़ी तीव्रता है, हर्ष-विषाद बहुत होता है, कपट बहुत करते हैं, **पिता–पुत्र भी आपस में विसंवाद, कलह करने लग जाते हैं** । हारजीत से परिणामों में बड़ी तीव्रता आ जाती है ।

यह ऐसी अविद्या है कि जो इस खेल में आसक्त हो जाता है उसका इस लोक संबंधी नौकरी, व्यापार, लिखना-पढ़ना इत्यादि सभी कार्य बिगड़ जाने पर भी वह इसे छोड़ नहीं सकता है । जो जुआ खेलता है वह कोई धंधा-व्यापार नहीं कर सकता है । इससे दरिद्रता निकट आती जाती है।

हीन, नीच, मलिन जाति के लोगों की बराबरी पर बैठकर जुआ खेलता है । जुआरी यह नहीं देखता है कि ये म्लेच्छ हैं; नाई, कलाल, धोबी सभी जुआ में साथ ही खेलते प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । जिनके शरीर से दुर्गन्ध आ रही है, वस्त्रों आदि में जुआं आदि कीड़े निकल रहे हैं उनकी बराबरी पर बैठकर जुआ खेलता है ।

अन्य अधर्म के स्थानों में आप जुआ खेलने जाकर बैठ जाता है, दूसरों को खेलता देखकर रास्ते में ही खड़ा हो जाता है, बैठने को जगह न हो तो भी आप खड़े-खड़े ही देखता रहता है, यह ऐसा व्यसन है । खाना, पीना, देना, लेना सब छोड़कर खड़े रहकर देखता रहता है । मनिहार, रंगरेज, कमनीगर, बिसायती आदि माँसभक्षी तथा नीच जाति के लोगों के साथ में जुआ, ख्याल आदि खेल खेलता है, देखता है ।

बहुत क्या कहें ? – अपना सब कार्य बिगड़ जाय, तथा माता-पिता आदि का मरण हो जाय तो भी इस खेल में से उठा नहीं जाता है, ऐसे तीव्र परिणामों से नरक तिर्यंच का बंध ही होता है। जिसमें कुछ भी धन नहीं आता है, किन्तु विसंवाद ही होता है ऐसे जुआ आदि में आसक्त होने से धन की हारजीत होने वाले जुआ से भी अधिक पाप का बंध करता है । जिसमें धन की हारजीत होती है उसमें तो थोड़ी ही देर खेलता है, किन्तु इन बिना धन की हारजीत वाले खेलों में तो इसका परिणाम हमेशा ही फंसा रहता है । जो इस खेल में व्यसन में लग जाता है उसे धर्म का नाम भी अच्छा नहीं लगता है, उसकी बुद्धि विपरीत होकर पापक्रिया में, अन्याय में, असत्य में, विकथा में ही लगती है ।

देखो ! यह मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, निरोग शरीर, उत्तम धर्म ये अनंतकाल में नहीं पाया था सो अब इन सबका संयोग एक साथ यहां तुम्हें मिल गया है, **इसकी एक घड़ी भी करोड़ों के धन में नहीं मिलती है** । ऐसा अवसर सिद्धान्तों का स्वाध्याय, जीवादि द्रव्यों की चर्चा, अनित्यादि बारह भावनाओं, सोलह कारण भावनाओं, पंच परमेष्ठी की वंदना, जाप, स्मरण आदि करके सफल करने को मिला था; तूने चौपड़, गंजफा, शतरंज, ताश आदि महान् अविद्या में फंसकर समस्त धर्म से, धर्म के मार्ग से पराङ्मुख होकर महापाप कमाकर मर जाने में ही व्यतीत किया । इसके फल में नरक, तिर्यंच आदि में जाकर उत्पन्न होगा ।

सप्त व्यसन त्याग : भगवान के परमागम में तो कहा है कि जिसके सप्त व्यसन का त्याग होगा वही जिनधर्म के ग्रहण करने का पात्र होगा । जिसके ये सप्त व्यसन ग्रहण हो जाते हैं उसकी बुद्धि ही विपरीत हो जाती है; पाप कार्यों में प्रवीण हो जाता है, अनीति में तत्पर रहता है ।

इसलोक का कार्य तो न्यायमार्ग से अपने कुल के योग्य षट्कर्मों द्वारा आजीविका करना, तथा खान-पान आदि एवं शरीर को संस्कारित करना-कपड़े व आभूषण आदि पहिनना; न्याय रूप लेना-



देना; धरना, जाना, आना, प्रयोजनरूप करना; तथा परलोक के लिये धर्मकार्यों में प्रवर्तन करना - ये दो ही गृहस्थ के करने योग्य कार्य हैं । **इन दो कार्यों – न्यायरूप आजीविका तथा धर्म रूप प्रवर्तन – के सिवाय अन्य जो प्रवृत्ति है वह व्यसन है ।** वे व्यसन सात है-जुआ खेलना १, मांसभक्षण २, मद्यपान ३, वेश्या सेवन ४, शिकार करना ५, चोरी करना ६, पर-स्त्री सेवन करना ७ । ये सातों ही व्यसन महाघोर पाप का बंध कराने के कारण हैं ।

इन व्यसनों में उलझना सहज है, छूट कर सुलझना बड़ा कठिन है । इन व्यसनों से पापबंध ही ऐसा होता है कि बुद्धि उल्टे कार्यों में ही लगती है, उनसे बाहर निकल नहीं पाता है । यहां जुआ का वर्णन किया है, होड़ लगाने को भी जुआ में ही समझना । अभी कुछ वर्षों (७०-८०) से अफीम आदि के फाटका - सट्टा का व्यापार चल पड़ा है । यह व्यापार तीव्र तृष्णा से युक्त पुरुषों के संतोष को बिगाड़नेवाला चल पड़ा है, उसे भी जुआ में ही शामिल जानना ।

मांस, मद्य, शिकार – जैनियों के कुल में होता ही नहीं है । ये महाव्यसन हैं, लगने के बाद इनका छूटना महाकठिन है । इसका विशेष वर्णन अभक्ष्य के वर्णन में करेंगे । धुने हुए अन्न का बनाया समस्त भोजन; चमड़ें में रखा हुआ समस्त जल, घी, तेल, रस आदि; रात्रि भोजन आदि सभी अभक्ष्यों को मांस के दोष समान जानकर छोड़ ही देना चाहिये ।

भांग, तमाखू, जर्दा, बीड़ी, अफीम, हुक्का ये समस्त ही पराधीन करनेवाले एवं ज्ञान को नष्ट करनेवाले होने के कारण तथा परमार्थ रूप बुद्धि को भी नष्ट करनेवाले होने से मदिरा के समान ही हैं, इसलिये इन्हें त्याग ही देना चाहिये ।

अन्य जीवों की दया नहीं करके उनकी आजीविका को बिगाड़ देना, धन लुटवा देना, बहुत दण्ड करा देना वह सभी शिकार ही है । दूसरे की बेइज्जती करा देना, निवास स्थान छुड़ा देना वह सभी शिकार करने से भी अधिक-अधिक पाप है, अतः उसका त्याग ही कर देना चाहिये ।

जिसने वेश्या–सेवन किया उसका सभी आचार, भोजन, पानी भ्रष्ट हो गया । वेश्या को चण्डाल, भील म्लेच्छ, मुसलमान इत्यादि सभी सेवन करते हैं । जो वेश्या मांस, मद्य का खान-पान नित्य ही करती है, धन ही से जिसे प्रीति है ऐसी वेश्या के मुख की लार जो पीता है, उसका जाति, कुल, आचार सभी भ्रष्ट हो जाता है । अतः वेश्या का सेवन त्याग कर देना ही उत्तम है । **जिसने वेश्या का संगम किया उसके चोरी, जुआ, मद्यपान आदि सभी व्यसन होते हैं ।** उसके धन की हानि होती है, धर्म से पराङ्मुखता हो जाती है, बुद्धि विपरीत हो जाती है, मायाचार में, झूठ में, छल में तत्परता हो जाती है । निंद्यकार्य करने की ग्लानि नहीं रहती है, लज्जा नष्ट हो जाती है । वेश्या का हावभाव, विलास, विभ्रम आदि देखने से याद करने से, अतिरागी हो जाने से सभी कुल मर्यादा भंग कर देता है । **वेश्या में आसक्त हुआ पुरुष कफ में पड़ी हुई मक्खी के समान अपने को छुड़ा नहीं पाता है । वेश्या सेवन महान्** अनीति का कार्य है ।




चोरपना भी महाव्यसन है । चोर स्वयं भी निरन्तर भयभीत रहता है तथा चोर से दूसरे जीवों को भी बहुत भय रहता है । माता को भी अपने चोर पुत्र से भय रहता है । चोर इस लोक में अपनी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा बिगाड़कर महाकलंकित हो जाता है । वह राजा से बहुत दण्ड प्राप्त करता है, हाथ का काट देना, नाक का छेदा जाना आदि दण्ड प्राप्त होता है । चोर के भाव संतोषरूप कभी नहीं होते हैं । चोर को योग्य-अयोग्य कार्य करने का विचार ही नहीं रह जाता है, इसी कारण वह धर्मध्यान, स्वाध्याय, धर्मकथा से पराङ्मुख ही रहता है ।

जैनशास्त्रों को सुनता पढ़ता हुआ भी जो दूसरों के धन पर अपनी नियत चलाता है वह ठग है । जिसने जगत के ठगने को शास्त्ररूप ग्रहण कर लिया है उसको किंचित् भी धर्म की श्रद्धा नहीं है, ऐसा समझना । जिसको जिनधर्म की महिमा की श्रद्धा होती है उसे चारित्रमोह के उदय से यद्यपि त्याग, व्रत, संयम आदि नहीं होते हैं तो भी अन्यायपूर्वक धन प्राप्त करने में उसकी वांछा नहीं होती है । चोरी से दोनों लोकों का भ्रष्ट होना जानकर, किसी के बिना दिये धन में वांछा नहीं करो ।

परस्त्री की वांछा नाम का व्यसन समस्त अनर्थों में प्रधान है । परस्त्री लम्पट को इसलोक में परलोक में जो घोर पाप का बंध, विपत्ति, बदनामी, बेइज्जती, मरण, रोग, अपवाद, धनहानि, राजदण्ड, जगत में बैर, दुर्गति गमन, मारन, ताड़न, बंदीगृह में बंधन आदि होते हैं उन्हें वचनों के द्वारा कहने में कोई समर्थ नहीं है । इस प्रकार सातों ही व्यसन दूर से ही छोड़ देने में कुछ भी हानि नहीं है। **जिसने सप्त व्यसन का त्याग कर दिया है उसने अपनी समस्त दुःख, अकीर्ति, नरकादि कुगति गमनरूप सभी आपत्तियाँ दूर कर ली हैं ।**

अब अनर्थदण्ड त्यागव्रत के पाँच अतिचार कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥८१॥

अर्थ :– चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से रागभाव की अधिकता के कारण हास्य से मिश्रित भण्डवचन बोलना वह **कंदर्प** नाम का अतिचार है । १ । तीव्रराग के उदय से हास्यरूप भण्डवचनों सहित काया की खोटी चेष्टा निंद्य क्रिया करना वह **कौत्कुच्य** नाम का अतिचार है । २ । बिना प्रयोजन साररहित बहुत बकवाद करना वह **मौखर्य** नाम का अतिचार है । ३ ।

प्रयोजन रहित बहुत अधिक मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करना वह असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है । रागद्वेष बढ़ाने वाले काव्य, श्लोक, कवित्त, छंद गीतों का स्मरण करना वह **मन असमीक्ष्याधिकरण** कहलाता है । पाप कथा द्वारा दूसरे के मन-वचन-काय को बिगाड़ने वाली खोटी कथा कहना वह **वचन असमीक्ष्याधिकरण** है । बिना प्रयोजन गमन करना, उठना, बैठना, दौड़ना, पटकना, फेंकना, पत्र, फल, पुष्प आदि का छेदन-भेदन-विदारण आदि करना, तथा अग्नि, विष, क्षार आदि देना वह **काय असमीक्ष्याधिकरण** नाम का अतिचार है । ४ ।

जितने भोग-उपभोग से प्रयोजन सधे उससे अधिक बिना प्रयोजन का अति संग्रह करना वह **अतिप्रसाधन** नाम का अतिचार है । ५ ।

इस प्रकार अनर्थदण्ड व्रत के पांच अतिचार कहे वे त्यागने योग्य हैं ।

अब **भोगोपभोग परिमाणव्रत** कहनेवाले आठ श्लोक कहते हैं :-

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधो रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥

अर्थ :– पांच इंद्रियों के प्रयोजनवान विषयों में जो रागरूप आसक्ति भाव है उसे घटाने के लिये सीमा बांधना, सीमित करना वह भोगोपभोग परिमाण नाम का व्रत है ।

भावार्थ :– संसारी जीवों को इन्द्रियों के विषयों में बहुत राग रहता है । उस राग के कारण व्रत, संयम, दया, क्षमा आदि समस्त गुणों से पराङ्मुख हो रहा है । अतः जो अणुव्रतों का धारी गृहस्थ है वह हिंसा, असत्य, चोरी, परस्त्री सेवन, अपरिमाण परिग्रह से उत्पन्न जो अन्याय के विषयों में प्रीति है उसका त्याग कर देने से व्रती हो गया है; अब न्याय के विषयों को भी तीव्र राग का कारण जानकर उनसे अरुचि हो जाने से राग की आसक्ति घटाने के लिये अपने प्रयोजनवान इंद्रियों के विषयों में भी परिमाण करना वह भोगोपभोग परिमाण नाम का गुणव्रत है । व्रती जीवों को इंद्रियों के विषयों में निरर्गल प्रवृत्ति को रोककर भोगोपभोग परिमाण करना महान् संवर का कारण है ।

अब **भोग क्या है, उपभोग क्या है ?** उनका लक्षण श्लोक द्वारा कहते हैं :-

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः ॥८३॥

अर्थ :– जो एक बार भोग करने के बाद फिर त्यागने योग्य हो जाता है वह भोग है । जो भोगने के बाद फिर भोगने योग्य रहता है वह उपभोग है । भोजन आदि पांच इन्द्रियों के विषय भोग हैं तथा वस्त्र आदि पाँच इन्द्रियों के विषय उपभोग हैं ।

भावार्थ :– जो पदार्थ एकबार ही भोगने में आते हैं और फिर भोगने में नहीं आते हैं वे भोग हैं, तथा जो पदार्थ बार-बार भोगने में आते हैं वे उपभोग हैं । जैसे भोजन अनेक प्रकार का एकबार ही भोगने में आता है, कपूर-चंदन आदि का विलेपन, पुष्पमाला, इत्र, फुलेल, मेला, कौतुक, इन्द्रजालादि, स्तवन के गीत, शब्दादि एकबार ही भोगने में आते हैं वे पाँच इंद्रियों के विषय भोग कहलाते हैं। जैसे वस्त्र, आभरण, स्त्री, सिंहासन, पलंग, महल, बाग, वादित्र, चित्राम इत्यादि बार-बार भोगने में आते हैं वे उपभोग हैं । जो भोग और उपभोग दोनों का परिमाण करता है उसके भोगोपभोग पारिमाणव्रत होता है ।

अब जो परिमाण करने योग्य नहीं, किन्तु **जीवन भर के लिये त्याग करने योग्य हैं,** उन्हें बतलानेवाला श्लोक कहते हैं :-

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृयते ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४॥

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण जिन्हें प्राप्त हो गई है ऐसे जो सम्यग्दृष्टि लोग हैं उन्हें त्रस जीवों की हिंसा के परित्याग के लिये क्षौद्र अर्थात्, मधु तथा पिशित अर्थात् मांस त्यागने योग्य ही हैं । प्रमाद अर्थात् जो हित अहित में असावधानी है उसे छोड़ने के लिये मद्य का त्याग अवश्य करना चाहिये ।

भावार्थ :– जो पुरुष जिनेन्द्र के चरणों की आज्ञा (वचनों) के श्रद्धानी हैं वे त्रस जीवों की हिंसा के त्याग के लिये मधु तथा मांस का त्याग करते ही हैं । प्रमाद जो अचेतपना उसे त्यागने के लिये मदिरा का त्याग करते ही हैं । **जिसके मधु, मांस, मद्य का त्याग नहीं है वह जिन–आज्ञा से पराङ्मुख है, जैनी नहीं है ।**

त्यागने योग्य क्या है, उन्हें कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि श्रृङ्गवेराणि ।
नवनीत निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयत् ॥८५॥

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिः विषयाद् योग्याद् व्रतं भवति ॥८६॥

अर्थ :– जिनके सेवन से अपना प्रयोजनरूप फल तो अल्पसिद्ध होता है किन्तु खाने से अनन्त जीवों का घात होता है ऐसे कन्द, मूल, अदरक, काँटेदार छोटी झाड़ियों के बेर-श्रृंगवेर, कंदमूल, मक्खन, नीम के फूल, केतकी-केवड़ा के फूल जिनमें अनन्त जीवों का घात होता हैं वे अनंतकाय त्यागने योग्य ही हैं । जिनके एक शरीर में अनन्त जीव हैं वे अनंतकाय हैं । जो अपने लिये अनिष्ट है उसका त्याग कर देना, जो सेवन योग्य नहीं ऐसे अनुपसेव्यों का त्याग करना ही उचित है । यद्यपि अनिष्ट अनुपसेव्य के सेवन का कोई प्रयोजन ही नहीं है, तो भी अपने अभिप्राय से योग्य विषय का त्याग करना भी व्रत कहलाता है ।

जिसका सुख तो जिह्वा को थोड़ी देर के लिये स्वादमात्र किन्तु जिसके एक बाल बराबर कण में भी अनंतानंत बादर निगोद जीवों का घात होता है ऐसे समस्त कंद, मूल आदि तथा नीम का फूल, केतकी का फूल, केवड़ा का फूल त्यागने योग्य ही हैं । और भी बहुत से फूल जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव भरे दिखाई देते हैं, जिनधर्मियों के लिये वे सभी त्यागने योग्य हैं ।

जो वस्तु है तो शुद्ध ही , किन्तु खाने से अपने शरीर में वेदना उत्पन्न हो जाती है, पेट दर्द हो जाता है, वात-पित्त-कफ आदि दोष हो जाते हैं, खून में विकार, पेट में विकार करने वाले भोजन आदि तथा दुःख देने वाले इन्द्रियों के विषयों का सेवन भी नहीं करो । जो अतितीव्ररागी, इंद्रियों का लम्पटी होगा वही अनिष्ट पदार्थ का सेवन करेगा । अपनी मृत्यु तथा तीव्र वेदना के भोगने के

दु:ख को नहीं गिनकर जो अनिष्ट वस्तु का भक्षण करता है उसे जिह्वा की तीव्र विकलता से महापाप का बंध होता है । अनेक मनुष्य भोजन के स्वाद में राग करके अनिष्ट भोजन खा कर रोग बढ़ाकर आर्तध्यान करके दुर्गति में चले जाते हैं । अत: अनिष्ट का त्याग करना ही उत्तम कार्य है ।

कितनी ही वस्तुएँ अपने कुल को, व्यवहार को, धर्म को मलिन करने वाली हैं वे सेवन योग्य नहीं हैं, वे अनुपसेव्य हैं । शंख, हाथी का दाँत, केश, मृगमद, कस्तूरी, गोलोचन, इत्यादि से स्पर्शित हुआ भोजन, जल सेवन योग्य नहीं है । ऊँटनी का दूध, गधी का दूध, गाय का मूत्र तथा मल, कफ, लार, जूंठन ये सेवन योग्य ही नहीं हैं । ऊंटनी का दूध, गधी का दूध, गाय का मूत्र तथा मल, कफ, लार, जूँठन से सेवन योग्य ही नहीं हैं । म्लेच्छ, भील, अस्पृश्य शूद्रों का स्पर्श किया हुआ भोजन अनुपसेव्य है । अशुद्ध भूमि पर गिरा हुआ, चमड़े से छुआया हुआ, बिल्ली-कुत्ता आदि से, तथा मांसभक्षी, मद्यपायी द्वारा स्पर्श किया, बनाया हुआ सभी भोजन, तथा लोकनिंद्य भोजन अनुपसेव्य है; जिनधर्मियों के भक्षण करने योग्य नहीं है, बुद्धि को विपरीत करनेवाला है, मार्ग से भ्रष्ट करनेवाला है, धर्म से भ्रष्ट करनेवाला है ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना – श्री राजवार्तिकजी में भी पाँच प्रकार के भोग्य पदार्थ कहे हैं - जिसमें त्रसजीवों का घात होता है १, जो प्रमाद उत्पन्न करने वाला है २, जिसमें अनंत जीवों का घात होता है ३, जो अनिष्ट है ४, जो अनुपसेव्य है ५-ये पाँच प्रकार के पदार्थ सम्पूर्ण जीवनभर के लिये त्यागने योग्य हैं । जिनका त्याग सम्पूर्ण जीवनभर के लिये नहीं किया जा सके तो उसका त्याग काल की मर्यादा लेकर करना चाहिये ।

खाद्य पदार्थों की अवधि : यहाँ कितनी ही वस्तुओं में तो प्रकट त्रसजीवों का घात होता है तथा कितनी ही वस्तुओं में अनंत जीवों के समूह का एक साथ घात होता है । बींधा अन्न में इल्ली, धुन प्रकट हजारों फिरते दिखते हैं । बींधा अन्न खानेवाले के द्वारा अपरिमाण त्रस जीवों का घात होता है । जो गृहस्थ अनाजों का संग्रह करके रखता है उसे नित्य ही बींधा अन्न खाने से महापाप बंध होता है । इसलिये जो पाप से भयभीत जैनी है उसे अबींधा अन्न खरीदना चाहिये तथा दो महीना तक के खर्च के लिये संग्रह करना चाहिये । जब दो महीना में खा चुके तब फिर अबींधा अन्न देखकर लेना चाहिये ।

थोड़ा संग्रह अच्छी तरह सोध लिया जाता है, उसकी सुरक्षा यत्नाचार से हो जाती है, यदि धुन लगता दिखाई दे तो बदलकर दूसरा मंगवा लेवे । पाँच जगह अबींधा देखकर लावे । अधिक धान संग्रह किया हो तो किसी को दे नहीं सकता, फटक नहीं सकता, बदला नहीं जा सकता । यदि बहुत घुन गया हो तथा उसे खाना ही पड़े तब नित्य ही छान-छान कर इल्ली, लट, घुनों को बर्तन में भर-भर कर रास्तें में फेंकता है जहाँ पर मनुष्यों के तथा पशुओं के पैरों के नीचे खुंद जाते हैं, मर जाते हैं, पशु चर जाते हैं ।

जब अनाज में जीव होने लगते हैं तब दिन-प्रतिदिन दूना, चौगुना, सौगुना, हजारगुना छोटे बड़े बढ़ते ही चले जाते हैं । सब जगह घर में, मकान में, रसोई में, दीवार पर, चौकी पर, खान-पान

की वस्तुओं में, जमीन में, छत में, लाखों-करोड़ों जीव फैलकर विचरने लग जाते हैं । अतः लोभ के वश, प्रमाद के वश, अभिमान के वश होकर बहुत संग्रह मत करो । मूँग, मोठ, उड़द तथा और भी अन्य फलादि जिन के ऊपर सफेद फूली प्रकट दिखाई देने लगे उसमें त्रस जीव हो गये हैं, ऐसा जानकर नहीं खाना चाहिये ।

बरसात के समय के चार महीनों में कितनी ही वस्तुओं का तो संग्रह ही नहीं रखो । **नगर शहर में निवास करने का फायदा तो यही है कि जिस समय चाहो** उसी समय दो-चार-पाँच-दस दिन के खर्च के लिये **जितना आवश्यक हो उतना** दस-पाँच जगह **अच्छा निर्दोष सामान देखकर खरीद सकते हैं** । वर्षा ऋतु में गुड़ में, शक्कर में, खाँड में बहुत चीटीं, लट, सुलसुली हो जाती हैं; सोंठ, अजवाइन, इलाइची, काजू, डोंडा, सुपारी बहुत घुन जाते हैं; दाख, पिस्ता, चिरोंजी, छुआरा, खोपरा इत्यादि में परिमाणरहित लट, कीड़ा, इल्ली बहुत हजारों-लाखों उत्पन्न हो जाते हैं ।

पुरवाई हवा के संयोग से ही गुड़ आदि में परिमाण रहित जीव उत्पन्न हो जाते हैं । मर्यादारहित लड्डू, पेड़ा, घेवर, बरफी इत्यादि में लट आदि बहुत जीव उत्पन्न प्रकट होते दिखाई देते हैं । हल्दी, धनिया, जीरा, मिर्च, अमचुर, काथोड़ी में वर्षा ऋतु में बहुत त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । अतः इन पदार्थों का थोड़ा संग्रह करो, नित्य ही देख-शोधकर उनका उपभोग करो । यहाँ यह यत्नाचार ही धर्म है । आटा शीतऋतु में सात दिन का, ग्रीष्म ऋतु में पाँच दिन का, वर्षा ऋतु में तीन दिन से अधिक का नहीं खाना चाहिये । आटा का संग्रह नहीं करना चाहिये । आटे में बहुत लटें पैदा हो जाती हैं । दाल, चावल इत्यादि जब भी पकाओ तो दो-तीन बार शोधबीन कर पकाओ ।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में ऐसा लिखा है – ''सर्वाशनं च न ग्राह्यं दिनद्वययुतं नरैः''। अर्थ- समस्त भोजन दो दिन से अधिक पुराना नहीं खाना चाहिये । अतः एक रात बीत जाने के बाद यदि दूसरी रात बीत जाये तो वह भोजन मनुष्यों के खाने के योग्य नहीं रहता है । इसमें जल के संसर्ग सहित सभी पकवान वगैरह भी आ गये । पुआ, मालपुआ, हलुआ आदि तथा बड़ा, कचोड़ी रात के बासी हो जाने पर चलित रस हो जाते हैं - स्वाद बिगड़ जाता है क्योंकि इनमें पानी का प्रयोग बहुत रहता है । रोटी, खिचड़ी, तरकारी, साग, लोंजी रात की बासी तो कभी खाना ही नहीं चाहिये । यदि स्वाद बिगड़ गया हो तो उसी दिन भी नहीं खाना चाहिये ।

रात्रि में बनाया सभी भोजन भक्षण नहीं करना चाहिये । दहा पहले दिन का जमाया दूसरे दिन तक खा लेना चाहिये, अधिक दिन का नहीं । **दो फाड़वाली दाल के अन्न को दही, छांछ के साथ नहीं खाना चाहिये** । यदि इन्हें मिलाकर खाओगे तो इसमें द्विदल का दोष लगेगा । जीभ के नीचे कण्ठ में पहुँचते ही जिसमें सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होने लगते हैं उसे **द्विदल** कहते हैं । दूध को दुह लेने के बाद छानकर दो घड़ी के पहिले ही गर्म कर लेना चाहिये; बाद में सम्मूर्च्छन त्रस जीव उत्पन्न होने लगते हैं । घी भी छांछ में से निकालने के बाद शीघ्र ही गर्म करके छानकर खाने योग्य होता है । बिना तपाये, बिना छाने नहीं खाना चाहिये ।

घी, तेल, जल इत्यादि रस चमड़े के बर्तन में रखा हुआ खाने योग्य नहीं है, उसमें असंख्यात त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। चमड़े के सींघड़ा - कुम्पा (बर्तन) बनते हैं उनको मांस को जमीन में गाड़कर पश्चात्-कूटकर मिट्टी के सांचे के ऊपर बनाते हैं। इनसे छुआया गया घी, तेल, जल मांस के ही समान है। जब से मुसलमानों का राज्य हुआ तभी से इनकी प्रवृत्ति मुसलमानों ने चलाई है। यदि चमड़ें से बिना छुआ घृत आदि नहीं मिलता हो तो सूखा ही भोजन करो। फागुन के बाद तिल में तथा सिंघाड़ों में बहुत त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये फागुन के बाद तिल अथवा सिंघाड़ा कभी नहीं खाना चाहिये।

पानी को मोटे, दुहरे कपड़े से छानकर पीना चाहिये, दूसरों को भी छानकर ही पिलाना चाहिये। छानकर ही पशुओं को पिलाना चाहिये। अनछने जल से स्नान, भोजन, कपड़े धोना इत्यादि कोई भी क्रिया नहीं करना चाहिये। जल में यत्नाचार क्रिया करने से दयावानपने की सीमा बनी रहती है। बर्तन के मुख से तिगुना लम्बा चौड़ा दोहरा नवीन वस्त्र से पानी छानकर, बिलछानी को दूसरे बर्तन में ले जाकर जल के स्थान में पहुँचा देना चाहिये। जल में यत्नाचार की यही मर्यादा है। छानने के बाद दो घड़ी की मर्यादा है, फिर काम में लेना है तो फिर छानकर काम में लाओ। गर्म किया हुआ जल दो प्रहर तक काम में लाओ। बहुत उबालकर गर्म किया है तो आठ प्रहर तक काम में लाओ, उसके बाद बिना छाने काम का नहीं रहता है।

कन्दमूल त्याग : कितनी ही वस्तुओं के खाने में त्रस जीवों का घात होना जानकर उनको बिलकुल ही नहीं खाना चाहिये। जैसे - बेर लटों के प्रत्यक्ष स्थान हैं, भिंडी में बहुत लटें उत्पन्न होती हैं, बैंगन, तरबूज, कोहला, पेठा, जामुन, आडू, बड़वाला, गोल अंजीर, कठूमर, ऊमरफल, पीलू, आलू, जामफल, टींडू, अज्ञातफल, सूक्ष्मफल, बीजाफल, चलितरसफल, साराफल, पत्रशाक, कन्द, मूल, अदरक, श्रृंगबेर, झाड़ी के बेर, सलगम, प्याज, लहसुन, गाजर, किशोरिया, कचनार, महुआ, क्षीर वृक्ष का फल, खिन्नी, नीम का फल (निबोरी) इत्यादि अनेक फल, केवड़ा-केतकी आदि फूल उनमें तो प्रत्यक्ष प्रकट दोष हैं आगम में भी कहे हैं। परमागम से वनस्पति का ऐसा स्वरूप जानना।

वनस्पति त्याग : वनस्पति के दो भेद हैं - एक प्रत्येक, दूसरी साधारण। प्रत्येक के तो एक शरीर में एक जीव होता है तथा साधारण के एक शरीर में अनंतानंत जीव होते हैं। साधारण वनस्पति खाने से अनंतानंत जीवों का घात होता है, ऐसा जानकर उसका त्याग करना उचित ही है।

साधारण और प्रत्येक को पहिचानने के लक्षण इस प्रकार हैं – जिस वनस्पति के लीक प्रकट नहीं हुई हो, रेखा सी नहीं दिखाई देती हो, कली प्रकट नहीं हुई हो, पेली प्रकट नहीं हुई हो, जिसे तोड़ने से समभंग हो जाय, डंडी नहीं टूटे, जिसमें तांतु, तूतड़ा प्रकट नहीं हुआ हो वह **साधारण वनस्पति** है। इसके एक अणुमात्र में अनंतानंत जीव होते हैं। जिस वनस्पति में धार, कली, रेखा, पेली प्रकट दिखाई देती हो, वह साधारण नहीं प्रत्येक वनस्पति है। जिसे तोड़ने से टेढ़ी तिरछी टूटे, सीधी चाकू से बनायी जैसी साफ बराबर नहीं टूटे, जिसमें तूतड़ा तार प्रकट हो गया हो, वह **प्रत्येक वनस्पति** है।

कोई वनस्पति पहले साधारण होती है, वही एक अंतर्मुहूर्त में प्रत्येक हो जाती है, कोई साधारण ही बनी रहती है। पान, फूल, बीज, फल, डाहली, कोंपल, इत्यादि सभी साधारण प्रत्येक की यही पहिचान जानना। पत्ते में समभाग आदि हो तो साधारण पत्ता है, अन्य सभी वृक्ष साधारण नहीं है। बीज, कोंपल समभंग वाली हो, रेखा आदि प्रकट नहीं हो तो वे सभी बीज-कोंपल साधारण हैं, अन्य साधारण नहीं हैं।

इस प्रकार इस वनस्पति में कोई साधारण मिलती है, कोई प्रत्येक हो जाती है इत्यादि दोषरूप हैं। वनस्पति में संसर्ग से अनेक त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, ऐसा जानकर **जो जिनेन्द्रदेव के धर्म को धारण करके पापों से भयभीत हैं वे सभी हरितकाय का त्याग करें, जिह्वा इंद्रिय को वश में करें।**

जिनकी समस्त हरितकाय को त्याग करने की सामर्थ्य नहीं है वे कंदमूल आदि अनंतकाय का तो जीवन भर के लिये त्याग करें। जो पंच उदम्बर आदि प्रकट त्रस जीवों से भरे हैं ऐसे फल, पुष्प, शाक, पत्ते आदि को खाना छोड़कर त्रसघात रहित दिखाई देने वाले ऐसी तरकारी, फल आदि दस-बीस को अपने परिणामों के योग्य जानकर नियम ले लेना चाहिये। इनके सिवाय अट्ठाईस लाख कोटि कुल वनस्पतिकाय हैं उनका त्याग करके अपना भार उतार देना चाहिये।

प्रामाणिक हरितकाय का नियम करनेवाले के करोड़ों अभक्ष्य टल जाते हैं। उसमें पत्ता जाति तो खाने के योग्य ही नहीं है। त्रस की उत्पत्तिवालों को छोड़कर, अन्य का भी बहुत घटाकर नियम लेना चाहिये। बिना घटाये निरर्गल रहने से असंयमीपना का आस्रव होता है। अतः हरितकाय के खाने में नियम व्रत करना योग्य है।

जिस भोजन के ऊपर फूल न आ जाये, ऊपर फूल सा नीला, हरा, लाल आ जाये तो वह भोजन नहीं खाना चाहिये, उसमें अनंत जीवों का घात है। जिसके ऊपर फूली-फंफूदी आ जाये उसे दूर से ही त्याग देना चाहिये।

मोह के कारण, प्रमाद उत्पन्न करनेवाले, ज्ञान को बिगाड़नेवाले जिह्वा इंद्रिय तथा उपस्थ (काम) इंद्रिय को विकल करनेवाले ऐसे भांग, तमाखू, छोंतरा, अमल, हुक्का, जर्दा इत्यादि अभक्ष्यों का खाना-पीना जिनधर्मियों को त्यागने योग्य है। ये अमल पराधीन कर देते हैं।

अफीम त्याग : अफीम खाने वाले को यदि एक घड़ी अफीम नहीं मिले तो वह जमीन में बेहोश होकर गिर जाता है। वेदना के आर्तपरिणाम से पशु जैसा जमीन में पड़ा पैर रगड़ता है, निर्लज्ज होकर याचना करता है, नेत्रों से पानी बहने लगता है। यदि उसे अफीम मिल जाती है तो नशे में आकर भूला हुआ सा ऊंघता रहता है, जिह्वा इंद्रिय की लोलुपता बढ़ जाती है। स्वाध्याय, धर्मश्रवण, व्रत, संयम, उपवास आदि दूर से ही छोड़ देता है। उसकी बुद्धि धर्म से विपरीत हो जाती है, उत्तम आचरण नष्ट हो जाता है।

हुक्का त्याग : हुक्का की महामलिनता, दुर्गन्ध, तमाखू और धुआं के योग से पानी में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। जहाँ भी हुक्का का पानी गिर जाये वहाँ छहकाय के जीवों का घात होता है। इसकी दुर्गन्ध से उत्तम आचरण के धारक पास में बैठ नहीं सकते हैं। हुक्का पीनेवाला बार-बार घर-घर में अग्नि ढूंढता फिरता है, घर में राख का बर्तन रखा ही रहता है। हुक्का तो नीच कुलवाले नीच लोगों के पीने योग्य है। हुक्का पीनेवाले को गाड़ीवान, घोड़े का नौकर, मीना, गूजर, मुसलमान इत्यादि की संगति ही अच्छी लगती है। वह उत्तम कुलवालों के योग्य नहीं है। यदि हुक्का नहीं मिले तो नाई, धोबी, गूजर, मीना, तेली, तमोली, मुसलमान आदि से चिलम मांगकर पी लेता है। यदि नहीं पीवे तो बड़ा रोग-बीमारी पैदा हो जाती है, पेट में अफरा चढ़ जाता है, नीहार बंद हो जाता है। हुक्का पीनेवाले ने तो बड़ी मुसीबत गले बांध ली है जिसके कारण वह व्रत, संयम, उपवास, स्वाध्याय आदि सभी उत्तम कार्यों को तिलाजंलि दे देता है।

जरदा त्याग : जर्दा महान् अपवित्र वस्तु है। इसे खानेवाले मुख में रखकर मल-मूत्र कर पाते हैं। चलते रास्ते में सड़क पर मल-मूत्र आदि के ऊपर जूते पहने ही जर्दा खा लेता है। मांस भक्षी शराब पीनेवालों के तथा नीच जाति के घर का पानी मिला हुआ कत्था-चूना खा लेता है। नीच जाति के लोग अपने हाथों को बिना धोये ही नीचे के (अधो) अंगों को खुजला कर जरदा मसल कर दे देते हैं तो भी यह खा लेता है। जूँठन की भी ग्लानि नहीं करता है। सभी सोने का स्थान, बैठने का स्थान, कोना, बारी, जाली आदि सब जगह थूंक-थूंक कर गंदगी से लिप्त कर देता है। पशु भी रास्ते में चलते हुए सोते हुए मुख नहीं चलाता है, जर्दा खानेवाले को पशु से भी अधिक विकलता है। इसके मुख में हमेशा महादुर्गन्ध रहती है। जर्दा की पीक जहाँ गिरती है वहाँ मक्खी, मच्छर, डांस, मकड़ी, कीड़ा, कीड़ी, बड़े-बड़े त्रसजीव भी मर जाते हैं, पाँचों स्थावरों का घात तो वहाँ होता ही है। इसके व्रत, संयम, उपवास, स्वाध्याय, जाप, शुद्ध-भावना का भी नाश हो जाता है।

जरदा खानेवालों की बुद्धि आत्मा के हित में नहीं प्रवर्तती है, संयम के योग्य नहीं रहती है। उसमें दया, क्षमा, शील, संतोष, इंद्रिय विजय के परिणाम कभी नहीं होते हैं। अनेक पापाचार, कपट, छल में उसकी बुद्धि प्रवीण हो जाती है। अनेक व्यसनों में लग जाता है। जरदा खानेवाले को मांगने में शर्म नहीं लगती है। सभी नीच जाति के लोगों से भी मांगकर खा लेता है। शराब-मांस खानेवाले जिस समय शराब पीते हैं, हुक्का पीते हैं, यह उनके हाथ का दिया जरदा-बीड़ी मांग-मांग कर खाता-पीता रहता है।

जरदा खानेवाले बहुत मनुष्यों को अच्छी तरह से निकट से देखा है -- एक के भी परमार्थ की बुद्धि, परलोक सुधारने की बुद्धि ही नहीं होती है। इस जरदे के प्रभाव से हीन आचरण बढ़ जाता है तथा उसकी बुद्धि, परमार्थ से भ्रष्ट होकर लैकिक लोगों की तरह छल में, व्यभिचार में, लोभ में प्रबल हो जाती है। **जरदा खानेवाले को सच्चा धर्म नहीं हो सकता है।** इस प्रकार अपने परिणाम में आप स्वयं देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। दूसरे जरदा खानेवालों का स्वरूप भी

 

आप प्रत्यक्ष देखकर जरदा खाने का अवश्य ही त्याग करो । जरदा खानेवाला यदि एक दिन भी जरदा नहीं खावे तो परिणामों में उपाधि, पेट में पीड़ा तथा अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इसलिये जरदा खाना महारोग को, महाव्याधि को, सूगलापना को अंगीकार करना है ।

भांग त्याग : भांग पीने से अपना बड़प्पन, शोभा नष्ट हो जाती है । भंगेड़ी की इज्जत घट जाती है, जिह्वा इंद्रिय की लंपटता बढ़ जाती है, विकलता सताती है। वह तो प्रमादी होकर ऐश करना, बहुत निद्रा लेना, बहुत घी-शक्कर का भोजन करना चाहता है । पाँचों इंद्रियों के विषयों की लम्पटता को प्राप्त हो जाता है, ज्ञान कमजोर हो जाता है, बहमी हो जाता है । भांग पीनेवाले को मीठे भोजन में इतनी लम्पटता हो जाती है कि मीठा मिलने पर कृतकृत्य-सा हो जाता है । उसे आत्मज्ञान, धर्म का ज्ञान कभी नहीं होता है, बाह्य आचरण से भ्रष्ट होता ही है ।

भांग में हजारों त्रसजीव चलते दौड़ते दिखाई देते हैं, उत्पन्न होते रहते हैं । वर्षा ऋतु में भांग में अपरिमाण त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं । भंगेड़ी भांग को शोधता नहीं है, घोंटकर पी जाता है ।

इस प्रकार अफीम खाना, जरदा खाना, हुक्का पीना, भांग पीना, छोंतरा पीना, तमाखू सूंघना ये शरीर के तो महारोग ही हैं । इनका नशा करनेवाले के चेहरे की आकृति बिगड़ जाती है, धर्म तथा आचरण बिगड़ ही जाता है, ऐसा नियम है । ये नशा सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र के भी महाघातक ही हैं । ये अमल अनर्थदण्डों में भी हैं, व्यसनों में भी हैं, तथा अभक्ष्यों में भी हैं । इसलिये यदि अपना मनुष्य जन्म, जिनधर्म, उत्तमकुल आदि जो पाये हैं उन्हें सफल करना चाहते हो तो इन नशा-अमल करने का त्याग ही करो ।

रात्रि भोजन त्याग : रात्रि के समय भोजन करना त्यागने योग्य ही है। जो रात्रि में भोजन करता है उसके यत्नाचार तो रहता ही नहीं है, जीवों की हिंसा होती ही है । रात्रि में कीड़ी, मच्छर, मक्खी, मकड़ी, कसारी आदि अनेक जीव भोजन में आकर गिर पड़ते हैं । यदि दीपक, बिजली आदि जलाकर भोजन करते हैं तो उजाले के संयोग से दूर-दूर के जीव दीपक के पास तेजी से आकर भोजन में गिर पड़ते हैं । **जैनधर्मी होकर यदि रात्रि में भोजन करता है तो आगे मार्ग से भ्रष्ट हो जायेगा।** रात्रि में चूल्हा, चक्की, पानी, बर्तन का आरंभ करना, रखना, उठाना, मांजना, धोना इन घोर पाप कर्मों से तो महान हिंसा दुःख प्रकट हो जाता है, तब घोर आरम्भी के जिनधर्म को लेश भी नहीं रहता है।

कोई कहता है – आरम्भ तो रात्रि में नहीं करना, किन्तु बना बनाया ही भोजन, लड्डू, पेड़ा, पुड़ी, पुआ, बरफी, दूध आदि सीधा खा लेने में तो रात्रि का कोई आरम्भ नहीं हुआ ?

उसे इस प्रकार समझाते हैं – जो दिन में छोड़कर रात्रि में भोजन करता है उसको तीव्र राग-रूप महान हिंसा होती है । जैसे अन्न के ग्रास का अनुराग तथा मांस के ग्रास का अनुराग समान नहीं होता है, उसी प्रकार रात्रि भोजन का अनुराग तथा दिन के भोजन का अनुराग समान नहीं है। दिन में ही भोजन बहुत काफी है । **जो रात्रि तथा दिन – दोनों में भोजन करता है उसके ढोर के समान धर्म रहित प्रवृत्ति रही** । रात्रि भोजन करनेवाले के व्रत तप नहीं होते हैं ।

ऐसा विशेष जानना – अनादिकाल से विदेहक्षेत्र में तथा भरतक्षेत्र के जिनधर्मी के तो दिन में एक बार या दो बार ही भोजन होता है, रात्रि में तो कभी भी भोजन नहीं होता है । जो रात्रि में भोजन करता है तो चूल्हा, चक्की, बुहारी, जल आदि का समस्त आरम्भ रात्रि में ही होगा । भोजन बनाने में, तरकारी बनाने में, पुरुषों के भोजन करने में, स्त्री-कुटुम्ब-सेवक आदि के भोजन करने में, बर्तन धोने में, मांजने में, बुहारने में दो प्रहर रात्रि बीत जाती है । अनेक जीवों का संहार हो जाता है, समस्त यत्नाचार का अभाव हो जाता है । कीड़ा, कीड़ी, इल्ली, कसारी, मकड़ी इत्यादि बड़े-बड़े जीवों का भोजन में गिरना; तथा ईंधन में, चूल्हें में, तरकारी में, जल में, बर्तनों में तो गिरते ही हैं । दीपक व चूल्हा आदि के निमित्त से मक्खी, मच्छर, डांस, पतंगे आदि अनेक जीवों का नित्य प्रति ही होम हो रहा है । दिन में भी आरम्भ तथा रात्रि में भी घोर आरम्भ से सभी परिवार के लोगों को बहुत दु:ख उत्पन्न हो जाता है ।

रात्रि में घोर धन्धा-आरम्भ करने से परिणामों में समता नहीं आ सकती है । रात्रि में भोजन करनेवाले को धर्म-सेवन, शास्त्र का पठन, श्रवण, तत्वार्थ की चर्चा, सामायिक, जाप, शुभध्यान का तो अवसर ही नहीं रहता है । **जिनेन्द्रधर्म के धारक रात्रि भोजन कभी भी नहीं करते हैं – ऐसी सनातन रीति अभी तक चली आ रही है** । करोड़ों मनुष्यों में यह बात प्रसिद्ध है कि जिनधर्मी रात्रि में भोजन नहीं करते । ऐसी यश की उज्ज्वलता, प्रभावना, उच्चता, भोजन की शुद्धता को बिगाड़कर यदि कोई प्रमादी विषयों में अंधा होकर रात्रि में दूध, कलाकंद, पेड़ा खाता है तथा दवाई-पानी आदि पीता है वह अपने उत्तम आचरण को, धर्म को, कुल की मर्यादा को, जैनीपना को जल में डुबोकर सन्मार्ग से भ्रष्ट हुआ उन्मार्गी है । उसका तो बाह्य-आभ्यंतर मार्ग ही भ्रष्ट है और वह आगे अधर्म की परिपाटी चलाने वाला है । इसी प्रकार रात्रि का बनाया हुआ भोजन भी दिन में खाने योग्य नहीं है ।

नीच संगति त्याग : मिथ्या धर्म के धारकों के साथ, मांस "क्षियों के संग बैठकर भोजन नहीं करो । नीच जाति के पुरुषों से मित्रता नहीं करो । देवता को चढ़ाया गया भोजन नहीं खाना चाहिये। हाथी दांत की चूड़ी, रोम का (ऊनी) वस्त्र, कम्बल पहिन कर भोजन बनाया हो तो वह भोजन भी खाने योग्य नहीं है । मांसभक्षी के घर में, नीच जाति के घर में भोजन नहीं करना चाहिये ।

इत्र त्याग : अत्तारों का अर्क, माजूम, शरबत तथा अन्य सभी वस्तुएँ खाना योग्य नहीं है । अत्तार के यहाँ विदेशों का बना हुआ, म्लेच्छों के जल से बनाया हुआ, जूठे अर्क की भरी हुई बोतलें आती हैं तथा वह किस-किस वस्तु से बनाया गया है सभी कुछ अज्ञात है । अर्क में अनेक जलचर, थलचर, नभचर पंचेन्द्रिय आदि जीवों के मांस के कई अर्क हैं । **अनेक प्रकार की शराब बनाकर अर्क नाम रख देते हैं** । बहुत जीवों के अंडों के रस की बोतलें भरी रखी हैं । समस्त शर्बत, मुरब्बा, माजूम जवारस आदि में मधु (शहद) होती है । अनेक जीवों के अनेक अंग, इंद्रियाँ, जिह्वा, कलेजा, सूखा हुआ मांस वगैरह अत्तार बेचता है । भारत के सभी उत्तम कुलवालों की बुद्धि भ्रष्ट करने को मुसलमान लोगों ने अपनी उच्छिष्ट भक्षण कराने के लिये सम्पूर्ण हिन्दुस्तान के लोगों को भ्रष्ट करने के लिये अत्तारों की दुकानें खुलवाई हैं ।

एक करोड़ कसाइयों की हिंसा के बराबर एक अत्तार की दुकान की दवाइयों में हिंसा है। यहाँ अपने भारत देश में राजा लोगों ने हिन्दु धर्म तथा भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये विक्रम संवत् १८२२ तक तो अत्तारों का बसना तथा दुकान करना नहीं होने दिया। फिर काल के निमित्त से पाप की प्रवृत्ति फैल गई। अब उत्तम कुलवाले भी इन अर्क आदि का सेवन करने लगे हैं। मांस भक्षी मुसलमान की जूंठन तथा शराब आदि का खाना-पीना करने पर अब ब्राह्मणपना, महाजनपना, वैश्यपना कहां रह गया है ? सभी कुल आचरण-भ्रष्ट हो गये हैं।

आचरण-भ्रष्ट हो जाने से **अभक्ष्य भक्षण करने से ही लोगों की बुद्धि सत्यार्थ धर्म से रहित हो गई है।** अत्तारों की औषधि से ही रोग मिटते हैं, ऐसा नियम नहीं है। अत्तारों का अर्क पीकर धर्मभ्रष्ट होकर बहुत लोग मरते देखे जाते हैं। **जिनको दुर्गति का बंध हो गया है उन्हें ही इनकी भ्रष्ट औषधि से आराम होता है।** जैसे राजा अरविन्द को दाहज्वर हो गया था, उसने अनेक इलाज किये तो भी रोग शान्त नहीं हुआ।

एक दिन महल की छत पर दो छिपकलियों की लड़ाई होने से उनके शरीर के खून की एक बूंद राजा के शरीर पर आ गिरी जिससे राजा को बहुत शीतलता का अनुभव हुआ। तब उस पापी राजा ने अपने पुत्र से कहा - मुझे खून की बावड़ी भरवा दो, मैं उसमें खूब नहाकर दाह की आताप से रहित हो जाऊँगा। तब पुत्र ने पाप से भयभीत होकर लाख के रंग की बावड़ी भरवा दी। राजा बावड़ी को देखकर बहुत आनंदित होकर बावड़ी में डूबकर नहाने पहुँचा, किन्तु उस बावड़ी को नकली खून की बावड़ी जानकर पुत्र के ऊपर बहुत क्रोधित हुआ। पुत्र को मार डालने के लिये छुरी लेकर दौड़ा किन्तु रास्ते में ही गिर पड़ा तथा अपने हाथ की छुरी से स्वयं ही मर गया और नरक में जा पहुँचा। इसी तरह जिनकी दुर्गति होनी है उनको अत्तार की दवाइयों से आराम हो जाता है, तब पापरूप अत्तार की अन्य वस्तुओं में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। अतः प्राणों के नाश का अवसर आने पर भी, छह महीने के बालक को भी अत्तार की औषधि देना उचित नहीं है।

धर्म बिगड़ जाने के बाद यह जिनधर्म अनंतकाल में भी नहीं मिलेगा। इसलिये जैनधर्म के धारकों को शरीर के हजारों खण्ड हो जायें तो भी अभक्ष्य-भक्षण नहीं करना चाहिये।

होटल (बाजार) का भोजन त्याग : बाजार की दुकानों का आटा कभी नहीं खाना चाहिये। बेचनेवालों के यहाँ सभी चमारिन, खटीकनी, मुसलमानिनी, धोबिन इत्यादि पीसती हैं। मुसलमान, धोबी, बलाई आदि को राजा के तबेला-तोपखाना से आटा मिलता है, उनसे बाजार के दुकानदार खरीद लेते हैं। यह आटा एक महीना या छह महीने पहले का पिसा हुआ है, कोई मर्यादा नहीं है। उसमें हजारों इल्लियाँ हो जाती हैं। बहुत लोग तो घुना आनाज लेकर पिसवाकर बेचते हैं तथा खरीदनेवाले मुसलमान-म्लेच्छ आदि सभी उसी आटे में हाथों को लगाकर तुलाकर ले जाते हैं। मुसलमानों के नुकता (मृत्यु भोज) विवाह में यदि काम में नहीं आता है तो वे आधा आटा तो उसन (गूँथ) लेते हैं, आधा दुकानदार को ही वापिस कर देते हैं।

धर्मशाला-होटल के दुकानदार का पीतल का, कांसे का, लोहे का बर्तन भोजन करने-बनाने के लिये लेना योग्य नहीं है । वह तो सभी मांसभक्षी दुराचारियों को भी वे ही बर्तन दे देता है । इसलिये अपने आचरण की यदि उज्ज्वलता बनाये रखना चाहते हो तो तीन-चार बर्तन अपने पास में रखकर विदेश में बाहर गमन के लिये निकलना चाहिये । वहाँ पर दमड़ी (चौथाई पैसा) अधिक देकर आटा तैयार कराकर खाना चाहिये । यदि विधि अनुसार आटा तैयार हुआ नहीं प्राप्त हो सके तो खिचड़ी-घुंघरी बनाकर खा लेना चाहिये ।

अभक्ष्य त्याग : बाजार की मिठाई, लाडू, बरफी, घेवर आदि नहीं खाना चाहिये । इनका आटे का, घी का, जल का कुछ भी प्रामाणिकपना नहीं है, परिमाण नहीं है, मर्यादा नहीं है । लोभी तथा निंद्यकर्मियों के कोई आचार-विचार का विवेक नहीं होता है । मैदा का खमीरा बनाकर सड़ाते हैं, खट्टा होते ही उसमें अनंतानंत जीव उत्पन्न होने लगते हैं । फिर कढ़ाई के गर्म घी या तेल में पकाते हैं, भूनते हैं, जलेबी बनाते हैं, साबुनी (फैनी) बनाते हैं जो खाने के योग्य ही नहीं हैं । दही में खांड बूरा मिलाकर बहुत समय तक नहीं रखना चाहिये, दो मुहूर्त में ही खाना योग्य है । अपने पुत्र, भाई, मित्रादि के साथ शामिल होकर एक ही बर्तन में भोजन करना उचित नहीं है ।

मनुष्यों का, कुत्ता, बिल्ली इत्यादि का जूठा भोजन त्यागना योग्य है । गधा, गाय, भैंस तिर्यंचों के जूठे जल इत्यादि में स्नान नहीं करो; पीना तो कभी भी नहीं चाहिये । अन्न का, खांड का, लपसी का बनाया हुआ मनुष्य-तिर्यंचों के आकार को नहीं खाओ । देवी, दिहाड़ी, व्यन्तरों की पूजा के लिये संकल्प पूर्वक बनाया गया, चढ़ाया गया भोजन त्यागने योग्य है । मांस भक्षियों के बर्तन में भोजन भक्षण नहीं करना चाहिये । अपने बर्तन मांसभक्षी को मांगने पर भी नहीं दो। नाई के बर्तन के पानी से बाल नहीं बनवाओ । रजस्वला का छुआ बर्तन भोजन के योग्य नहीं है ।

अनुपसेव्य त्याग : अनुपसेव्य जानकर विकाररूप वस्त्र, आभरण आदि नहीं पहिनना चाहिये। जो उत्तम कुल के योग्य नहीं ऐसे नीच कुल के पहिनावे, वेश्या तथा विट् पुरुषों के पहिनावे, सिपाहियों तथा म्लेच्छ मुसलमानों के पहिनावे, स्वामी, योगी, फकीर, भांड़ों के पहिनने के वस्त्र-आभरण परिणाम बिगाड़ते हैं, इसलिये नहीं पहिनना चाहिये । अपने आप में तथा दूसरे में विकार पैदा नहीं करने वाले, अपने पद के योग्य, अवस्था के योग्य, लोक से अविरुद्ध ऐसे आभरण, वस्त्र, भेष धारण करना ही उचित है ।

बहुत कहने से क्या है ? संक्षेप में इतना जान लेना कि समस्त संसार के परिभ्रमण का कारण पांच इंद्रियों के विषयों में लालसा है । **पाँच इंद्रियों में भी जिह्वा इंद्रिय तथा उपस्थ इंद्रिय इन दो इंद्रियों की लालसा इसलोक तथा परलोक दोनों को ही बिगाड़नेवाली है ।** इन दो इंद्रियों के विषयों की लोलुपता जिन्हें अधिक है वे मनुष्य जन्म में भी पशु के समान हैं । पशुयोनि में भी इन्हीं दो इंद्रियों के विषयों की चाह से परस्पर में लड़-लड़कर मर जाते हैं, मार डालते हैं, मारकर खा जाते हैं । मनुष्य जन्म में भी कलह करना, मरना, मारना, निर्लज्ज होना, जूठन खाना, दीनता कहना, पुण्य-

दान लेना, अभक्ष्य-भक्षण करना, इत्यादि सभी नीचकर्मों में प्रवृत्ति रखना इंद्रियों के विषयों की लालसा से ही होती है ।

विचारकर देखो ! भोगभूमि के तथा देवलोक के नाना प्रकार के भोगों से भी जब तृप्ति नहीं हुई, तब ये थोड़ी सा जिह्वा का स्पर्श मात्र का स्वाद तो बहुत थोड़े समय का है; भोजन को निगलने के बाद नहीं है, तथा उसके पहिले भी नहीं है, उससे तृप्ति कैसे होगी ? इस प्रकार तृष्णा को बढ़ानेवाले आहार में लुब्धता छोड़कर, सभी इंद्रियों को जीतकर रस-नीरस भोजन की कर्म ने जैसी विधि मिलाई है उसी में सन्तोष करके, अभक्ष्यों का त्याग करके, देह के धारण मात्र के लिये जो भोजन करता है वह सभी पापों से रहित होकर देवलोक का पात्र होता है ।

परिणामों की सामर्थ्य के अनुसार व्रत लें : यहाँ ऐसा जानना कि - जो मनुष्य भोगोपभोग परिमाण व्रत ले उसे अपने परिणामों की दृढ़ता देख लेना चाहिये कि मेरा राग घटा है, कितना राग अभी नहीं घटा है। यह भी सामर्थ्य देख ले कि जितना मैं त्याग कर रहा हूँ उसके अनुसार मेरा शरीर तथा मेरे परिणामों में उसका निर्वाह करने की सामर्थ्य है या नहीं है ? इस प्रकार विचार करके व्रत धारण करना चाहिये ।

देश की रीति निर्वाह योग्य देखना चाहिये । अपना कोई सहायक है या कि त्याग-व्रत को बिगाड़ने वाला है - ऐसा भी विचार कर लेना चाहिये । अपने शरीर का निरोगपना देखना चाहिये, भोजन आदि मिलने या न मिलने का संयोग देखना चाहिये, भोजन मेरे अधीन है या पराधीन है यह भी देखना चाहिये । मेरे द्वारा इन व्रतों को ले लेने पर हमारे तथा स्त्री-पुरुष, माता-पिता-स्वामी इत्यादि के परिणामों में संक्लेश होगा या नहीं होगा ? अपना स्वाधीनपना-पराधीनपना जानकर जिस प्रकार परिणामों की उज्ज्वलता सहित व्रत का निर्वाह हो उस प्रकार नियमरूप त्याग करना चाहिये ।

यावज्जीवन त्यागने योग्य : यम अर्थात् जब तक जीवन शेष है तब तक के लिये त्याग करना। कितने ही पदार्थ तो यावज्जीवन ही त्यागने योग्य हैं; जिनमें प्रकट त्रसजीवों का घात होता है, अंनत जीवों का घात होता है, अपने कुल में सेवन करने योग्य नहीं है, नशा लाने वाले हैं; तथा मद्य-मांस, मधु, माखन, मदिरा, अचार, महाविकृति, रात्रि में भोजन करना, जुआ आदि सातों व्यसन, बिना दिया पर धन का ग्रहण, त्रसहिंसा, स्थूल असत्य, अन्याय का परिग्रह, बिना छना जल, अनर्थदण्ड ये तो यावज्जीवन ही त्यागने योग्य हैं; इनमें नियम क्या करना ? ये तो महान् अनीति हैं । इनका त्याग करने से शरीर पर कुछ क्लेश, भार, दुःख नहीं आता है, अपयश भी नहीं होता है । इनका त्याग करने में धन खर्च नहीं होता है, बल नहीं चाहिये, स्वामी तथा स्त्री-पुत्र, माता-पिता, कुटुम्ब आदि की सहायता नहीं चाहिये, किसी से पूछने या किसी को बताने का भी कोई काम नहीं है, अपने परिणामों के ही आधीन है । इनका त्याग करने में किसी प्रकार से शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि की बाधा-पीड़ा नहीं भोगना पड़ती है, स्वाधीन है, परिणामों तथा देह में सुख करने वाला है। इसलिये दुर्लभ सामग्री मनुष्यजन्म, जैनकुल, जिनधर्म पाकर भोगोपभोग परिमाण करना श्रेष्ठ है ।

विपदा में दृढ़ता धारण करो – यदि कभी प्रबल कर्म के उदय से यह मनुष्य जिसने व्रत लिया है किसी कुदेश में पराधीनता में जा पड़े, प्रबल बुढ़ापा आ जाने से उठने-बैठने-चलने की सामर्थ्य घट जाये, कोई स्त्री-पुत्र आदि सहायक न रहे, नेत्रों से अंधा हो जाये, बहिरा हो जाये, लम्बा रोग आ जाये, बंदीखाने में म्लेच्छ आदि के अधीन हो जाये, दुष्ट म्लेच्छ आदि अपना भोजन जल आदि बिगाड़ दें, जबरदस्ती सब के साथ शामिल बैठाकर खानपान करावें, ऐसे-ऐसे उपद्रव आ जायें तो वहाँ अपने अंतरंग में तो व्रत संयम नहीं छोड़ना तथा बाहर श्री पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करते रहने पर ही वह शुद्ध है; क्योंकि बाह्य देह आदि पवित्र रहे या अपवित्र हो जाये, मल-मूत्र-रुधिर आदि से लिप्त हो जाये, समस्त कुत्सित ग्लानि योग्य अवस्था को प्राप्त होनेवाला पुरुष भी यदि परमात्मा को स्मरण करता है तो वह बाहर से भी पवित्र है और अंदर से भी पवित्र है ।

देह तो सप्तधातुमय मल-मूत्रादि की भरी हुई है तथा रोगों का स्थान है । एक क्षण में सम्पूर्ण शरीर में कोढ़ झरने लग जाता है, हजारों फोड़ा-फुन्सी, गुमड़ी, खून, पीव बहने लगती है, मल-मूत्र अपने आप बहने लगता है, ऐसी दशा में बाह्य व्यवहार शुद्धता कैसे हो; तथा निर्धन, एकाकी का सहायक कौन होता है ?

धर्मात्मा पुरुष तो अशुभ कर्म के उदय में ग्लानि त्याग करके धीरता धारण करके आर्त परिणामों द्वारा संक्लेश नहीं करते हैं । वे तो अशुभ कर्म के उदय को निर्जरा मानकर, अंतरंग वीतरागता द्वारा संसार, शरीर, भोगों का स्वरूप चिन्तवन करते हुए, बारह भावना भाते हुए, कर्म के उदय से अपने आत्मस्वरूप को भिन्न, ज्ञाता-द्रष्टा-शुद्ध चिन्तवन करते हुए, वीतरागता द्वारा ही राग, द्वेष, हर्ष, विषाद, ग्लानि, भय, लोभ, ममता रूप आत्मा के मैल को धोकर अपने को शुद्ध मानते हैं, उन्हीं की सम्पूर्ण शुद्धता होती है ।

अब **भोगोपभोग परिमाण व्रत** के दो भेद कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥८७॥

अर्थ :– भगवान ने भोगोपभोग घटाने से नियम और यम ऐसा दो प्रकार का भोगोपभोग परिमाणव्रत कहा है । काल की मर्यादा लेकर त्याग करने को नियम कहा है, तथा जब तक इस देह में जीवन है तब तक (जीवन पर्यंत के लिये) त्याग करने को यम कहा जाता है ।

भावार्थ :– जो एक बार भोगने में आवें ऐसे आहार आदि तो भोग हैं, तथा जो बारम्बार भोगने में आवें ऐसे वस्त्र-आभरण आदि उपभोग हैं । इन भोग-उपभोगों का त्याग यम और नियम से दो प्रकार का है । इनमें जिस भोग-उपभोग का एक मुहूर्त, दो मुहूर्त, एक पहर, दो पहर, एक दिन, दो दिन, पाँच दिन, पंद्रह दिन, एक माह, दो माह, चार माह, छह माह, एक वर्ष, दो वर्ष इत्यादि समय की मर्यादा पूर्वक त्याग करना वह नियम नाम का परिमाण है । जो पदार्थ अपने लिये उपयोगी हो, शुद्ध हो उसका त्याग तो काल की मर्यादा लेकर ही नियम रूप त्याग करना चाहिये । जो पदार्थ

अपने लिये प्रयोजन का नहीं हो व परिणामों को बिगाड़ने वाला हो, दोष सहित हो उसका त्याग तो यावज्जीवन यम नाम के परिमाण पूर्वक ही करना चाहिये ।

इस भोगोपभोग परिमाण के द्वारा अनेक पापों का आस्रव रुक जाता है, इंद्रियाँ वश में हो जाती हैं, राग बहुत मंद हो जाता है, व्यवहार शुद्ध हो जाता है, मन वश में हो जाता है, व्यवहार-परमार्थ दोनों ही उज्ज्वल हो जाते हैं । इसलिये **भोगोपभोग परिमाणव्रत ही आत्मा का हित है;** विरुद्ध भोग तो त्यागना ही चाहिये । अविरुद्ध भोगों को भी अपनी शक्ति प्रमाण देश-काल देखकर दिन-रात्रि के काल की मर्यादापूर्वक त्याग करना चाहिये । उसमें भी फिर दो घड़ी, चार घड़ी की मर्यादा लेकर त्याग, चाहिये । इससे कर्मों की बड़ी निर्जरा होती है ।

अब और भी भोगोपभोग के परिमाण कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्रागरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥८८॥

अर्थ :- भोगोपभोग परिमाणव्रत में नित्य ही इस प्रकार नियम करना चाहिये - आज के दिन में एक बार ही भोजन करुँगा या दो बार भोजन करूँगा या तीन बार इत्यादि भोजन करने का परिमाण करना; अथवा मैं आज के दिन इतनी जाति का अन्न तथा इतने रस, इतने प्रकार के व्यंजन खाऊंगा, अधिक प्रकार के नहीं खाऊंगा-ऐसा भोजन का नियम करना चाहिये ।

वाहन, हाथी, घोड़ा, रथ, ऊंट, बैल, पालकी, वहली (मोटर, रेल) नाव, जहाज (हवाईजहाज) इत्यादि वाहन के ऊपर बैठने-चढ़ने का नियम करना चाहिये । पलंग, खाट, बिस्तर इत्यादि में शयन करने का नियम करना चाहिये - मैं आज पलंग आदि पर शयन करूंगा या भूमि पर ही शयन करूंगा।

आज एक बार स्नान करूँगा, या दो बार स्नान करूँगा या स्नान ही नहीं करूँगा इत्यादि नियम करना चाहिये । पवित्र अंगराग अर्थात् चन्दन, केशर, कपूर आदि का विलेपन करना या नहीं करना इसका भी नियम करना चाहिये । फूल तथा फूलों की माला, आभरण आदि धारण करने का भी नियम करना चाहिये । ताम्बूल, इलायची, सुपारी, लौंग आदि खाऊंगा इसका भी नियम करना चाहिये।

वस्त्रों का भी नियम करना चाहिये कि आज इतने वस्त्र पहिनूंगा, अधिक नहीं पहिनूंगा । आज इतने ही आभरण पहिनूंगा, अधिक नहीं पहिनूंगा - ऐसा आभरण पहिनने का भी नियम करना चाहिये।

कामसेवन का भी नियम करना चाहिये; नृत्य देखने का भी नियम करना चाहिये; गीत गाने का तथा कलाकारों से गीत सुनने का भी नियम करना चाहिये ।

हरितकाय के भी खाने का नियम करना, षट् रस के खाने-पीने का नियम करना, पानी पीने का भी नियम करना, सिंहासन, कुर्सी, चौकी इत्यादि आसन पर बैठने का भी नियम करना चाहिये। इस प्रकार अपने योग्य भोग-उपभोग का भी नित्य नियम करनेवाले के भोजन-पानी करते हुए भी निरन्तर संवर होता है ।

अब **नियम** के लिये काल की मर्यादा कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा ।
इति कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥८९॥

अर्थ :– अद्य अर्थात् एक घड़ी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, एक माह, ऋतु अर्थात् दो माह, अयन अर्थात् छह माह इत्यादि काल का परिमाण करके त्याग करना वह नियम कहलाता है । इस प्रकार भोगोपभोग परिमाण व्रत का वर्णन किया ।

अब **भोगोपभोग परिमाण व्रत के पांच अतिचार** कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

विषय विषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥९०॥

अर्थ :– ये भोगोपभोग परिमाणव्रत के पांच अतिचार त्यागने योग्य हैं ।

विषय संताप बढ़ाते हैं तथा विषयों के निमित्त से मरण भी हो जाता है । ये पांच इंद्रियों के विषय विष हैं । इनमें परिमाण का राग नहीं घटना वह **अनुपेक्षा** नाम का अतिचार है १ । जो विषय पूर्वकाल में भोगे थे उन्हें बार-बार याद करते रहना वह **अनुस्मृति** नाम का अतिचार है २ । वर्तमान में जो विषय भोगता है उनमें अति गृद्धता से तथा अति आसक्त होकर भोगना वह **अतिलौल्य** नाम का अतिचार है ३ । भविष्य में विषयों को भोगने की अतितृष्णा बनी रहना वह **अतितृष्णा** नाम का अतिचार है ४ । जिस काल में विषय नहीं भोग रहा है फिर भी ऐसा समझना कि मैं विषय को भोग ही रहा हूं, ऐसा परिणाम वह **अनुभव** नाम का अतिचार है ५ ।

इस प्रकार भोगोपभोग परिमाणव्रत के पांच अतिचार छोड़कर व्रत को शुद्ध पालना चाहिये ।

चौथा – गुणव्रत अधिकार

समाप्त

परिशिष्ट–४

कुन्दकुन्द (शतक) वाणी

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठि गण । सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ॥२॥
सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण । अब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ॥३॥
मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं । ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥६॥
चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है । जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥७॥
जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो । जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो ॥९॥
जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते । वे कर्म ईंधन-दहन निज शुद्धातमा को ध्यावते ॥१४॥
दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो । संयम रहित तप निरर्थक आकाश-कुसुम समान हो ॥१९॥
मुक्ति गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का । यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ॥२६॥
सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा । हे कानवालो सुनो ! दर्शन-हीन वंदन योग्य ना ॥३५॥
डोरा सहित सुइ नहीं खोती गिरे चाहे वन-भवन । संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण ॥६३॥
तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या निजशास्त्र से । दृगमोह-क्षय हो इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये ॥६४॥
व्रत सहित पूजा आदि सब जिनधर्म में सत्कर्म हैं । दृगमोह-क्षोम विहीन निज परिणाम आतमधर्म हैं ॥६८॥
चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है । दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम समताभाव है ॥६९॥
मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से । आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ॥७०॥
वस्त्रादि सब परित्याग कोड़ाकोड़ि वर्षों तप करें । पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ॥७६॥
ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती । इस भाँति शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बांधती ॥८७॥
यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की । छोड़ो न भक्ती वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की ॥९६॥
द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को । वे जानते निज आतमा दृगमोह उनका नाश हो ॥९९॥
है ज्ञान दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है । हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है ॥१०१॥

दर्शन – पाठ

दर्शन श्रीदेवाधिदेव का, दर्शन पाप विनाशन है । दर्शन है सोपान स्वर्ग का, और मोक्ष का साधन है ॥१॥
श्री जिनेन्द्र के दर्शन औ, निर्ग्रन्थ साधु के वन्दन से । अधिक देर अघ नहीं रहें, जल छिद्र सहित कर में जैसे ॥२॥
वीतराग-मुख के दर्शन की, पद्मराग सम शांत-प्रभा । जन्म-जन्म के पातक क्षण में, दर्शन से हों शांत विदा ॥३॥
दर्शन श्री जिनदेव सूर्य, संसार-तिमिर का करता नाश । बोध-प्रदाता चित्त पद्म को, सकल अर्थ का करे प्रकाश ॥४॥
दर्शन श्री जिनेन्द्रचन्द्र, का, सद्धर्मामृत बरसाता । जन्मदाह को करे शांत, औ सुख वारिधि को विकसाता ॥५॥
सकल तत्त्व के प्रतिपादक सम्यक्त्वादि गुण के सागर । शांत दिगम्बर रूप, नमूँ, देवाधिदेव तुमको जिनवर ॥६॥
चिदानन्दमय एकरूप, वंदन जिनेन्द्र परमात्मा को । हो प्रकाश परमात्म नित्य, मम नमस्कार सिद्धात्मा को ॥७॥
अन्य शरण कोई न जगत में, तुम्हीं शरण मुझको स्वामी । करुण भाव से रक्षा करिये, हे जिनेश अन्तर्यामी ॥८॥
रक्षक नहीं शरण कोई नहीं तीन जगत में दुखत्राता । वीतराग प्रभु सा न देव है, हुआ न होगा सुखदाता ॥९॥
दिन-दिन पाऊँ जिनवरभक्ति, जिनवरभक्ति, जिनवरभक्ति । सदा मिले वह सदा मिले, जब तक न मिले मुझको मुक्ति ॥१०॥
नहीं चाहता जिनधर्म बिना, मैं चक्रवर्ती होना । नहीं अखरता जैनधर्म से सहित, दरिद्रों का होना ॥११॥
जन्म-जन्म के किये पाप औ बन्धन कोटि-कोटि भव के । जन्म-मृत्यु औ जरा रोग, सब कट जाते जिनदर्शन से ॥१२॥
आज 'युगल' दृग हुए सफल, तुम चरण-कमल से हे प्रभुवर ! हे त्रिलोक के तिलक ! आज लगता भवसागर चुल्लू भर ॥१३॥

तत्त्वविचार की महिमा

इस जीव को सुख इष्ट है, वह सुख सर्व कर्मों के नाश से होता, कर्मों का नाश चारित्र से होता है, और वह चारित्र प्रथम अतिचार रहित सम्यक्त्व हो तथा चारों अनुयोगों के द्वार मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत वस्तु का संशय विपर्यय और अनध्यवसाय आदि रहित यथार्थ ज्ञान हो तब होता है। तब प्रमाद, मद आदि सब दूर हो जाते हैं और शास्त्रों का श्रवण, विचारणा, आम्नाय, अनुप्रेक्षा, सहित अभ्यास करता है। इसलिये सर्वकल्याण का मूलकारण एक आगम का यथार्थ अभ्यास है। इसलिये जो पुरुष अपने हित के इच्छुक हैं उनको सर्वप्रथम ही तत्त्वनिर्णयरूप कार्य करना योग्य है। – **सत्ता स्वरूप १ : पं. भागचन्दजी छाजेड़**

देखो तत्त्वविचार की महिमा ! तत्त्व विचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादिक करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्त्व विचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। – **मोक्षमार्ग प्रकाशक २६०**

यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गंवाये या तो मन्द-रागादि सहित विषय-कषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते, या व्यवहार धर्म कार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मों की शक्तिहीन होगी, कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है। इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्तव्य कुछ भी नहीं है। – **मो. मा. प्र. ३१२**

इसलिये अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिये श्री गुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना।
– **मो. मा. प्र. ३१३**

जिसे आत्मरुचि हुई हो- वह आत्मरुचि के धारक तीर्थङ्कर आदि के पुराणों को भी जाने तथा आत्मा के विशेष जानने के लिये गुणस्थानादिक को भी जाने। तथा आत्म आचरण में जो व्रतादिक साधन हैं उनको भी हितरूप माने तथा आत्मा के स्वरूप को भी पहिचाने। इसलिये चारों अनुयोग ही कार्यकारी हैं। – **मो. मा. प्र. २०१**

यदि ते सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैन शास्त्र कार्यकारी हैं। वहाँ भी मुख्यत: अध्यात्म-शास्त्रों में तो आत्मस्वरूप का मुख्य कथन है; सो सम्यग्दृष्टि होने पर आत्म स्वरूप का निर्णय तो हो चुका, अब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ व उपयोग को मंद कषायरूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिये। तथा आत्म स्वरूप का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म शास्त्रों का भी अभ्यास चाहिये, परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होना चाहिये। जिसको अन्य शास्त्रों की अरुचि है उसे अध्यात्म की रुचि सच्ची नहीं है।
– **मो. मा. प्र. २००**

मोह के उदय से मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं, सो ये ही संसार के मूल कारण हैं। इन्हीं से वर्तमान काल में जीव दु:खी है, और आगामी कर्म बन्ध के भी कारण ये ही है। – **मो. मा. प्र. ४१**

तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय कदाचित् तत्त्व निश्चय करने का उपाय विचारे, वहाँ अभाग्य से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्त बने तो अतत्त्व श्रद्धान पुष्ट हो जाता है। वह तो जानता है कि इनसे मेरा भला होगा ; परन्तु वे ऐसा उपाय करते हैं जिससे यह अचेत हो जाय। – **मो. मा. प्र. ५१**

तथा कदाचित् सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र का भी निमित्त बन जाये तो वहाँ उनके निश्चय उपदेश का तो श्रद्धान नहीं करता, व्यवहार श्रद्धान से अतत्त्व श्रद्धानी ही रहता है। वहां मन्द कषाय हो तथा विषय की इच्छा घटे तो थोड़ा दुःखी होता है, परन्तु फिर जैसा का तैसा हो जाता है। – मो. मा. प्र. ५२

प्रमादी रहने में तो धर्म है नहीं। प्रमाद से सुखी रहे वहाँ तो पाप ही होता है; इसलिये धर्म के लिये उद्यम करना ही योग्य है। – मो. मा. प्र. २९१

मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत मूल वस्तुएं क्या क्या हैं ? वह बतलाते हैं :- जिनधर्म-जिनमत, देव-कुदेव, गुरु-कुगुरु, शास्त्र-कुशास्त्र, धर्म-कुधर्म-अधर्म, हेय-ज्ञेय-उपादेय, संसार-मोक्ष, जीव-अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध मोक्ष, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, द्रव्य, गुण, पर्याय सामान्यगुण और विशेषगुण।

– सत्ता स्वरूप ४

गगन मंडल में अधबीच कुआ, वहां है अमी का वासा।
सुगुरा होय सो भर-भर पीवै, निगुरा जावे प्यासा ॥१॥
गगन मंडल में गौआ बियानी, बसुधा दूध जमाया।
माखन था सो बिरला रे ! पाया, जगत छांछ भरमाया ॥२॥
आतम अनुभव रस कथा, प्याला, पियो न जाय।
मतवाला तो बहि पड़ै, ज्ञानी पड़े, पचाय ॥३॥

– श्री कानजी स्वामी

विषय सुख विरक्त, शुद्ध तत्वानुरक्त, तप में तल्लीन चित्त, श्रुति समूह मस्त।
गुणमणिगण युक्त, सर्व संकल्प मुक्त, कहो मुक्तिसुंदरी के, क्यों न होंगे वे कन्त।

– मुनिराज पद्मप्रभमलधारी देव

चाम चक्षुसों सब मती, चितवन करत निवेर।
ज्ञान नैन सौं जैन ही, जोवत इतनो फेर ॥१॥
जैनी जाने जैन नय, जिन जिन जानी जैन।
जेजे जैनी जैन जन, जाने निज निज नैन ॥२॥

– ब्रह्म विलास

उपज्यो मोह विकल्प से, समस्त यह संसार,
अतंर्मुख अवलोकते, विलय होत नहिं वार।

– श्रीमद् रायचन्द्र जी

पीतो सुधा स्वभाव की, जी तो कहूं सुनाय।
तू रीत्यो क्यों जात है, वीत्यो नरभव जाय ॥

– भैया भगवतीदास जी



पंचम – शिक्षाव्रत अधिकार

अब चार शिक्षाव्रतों का नाम निरूपण करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्यानि ।।९१।।

अर्थ :– देशावकाशिक १, सामायिक २, प्रोषधोपवास ३, वैयावृत्य ४ – ऐसे ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ।

भावार्थ :– ये चार शिक्षाव्रत गृहस्थपने में मुनिपने की शिक्षा का अभ्यास कराते हैं ।

अब **देशावकाशिक शिक्षाव्रत** कहनेवाला श्लोक कहते हैं -

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ।।९२।।

अर्थ :– अणुव्रतों के धारी पुरुषों द्वारा दिन-प्रतिदिन काल की मर्यादा करके विशाल सीमा को थोड़ा-थोड़ा घटाते जाना उसका नाम देशावकाशिक शिक्षाव्रत है ।

भावार्थ :– पहिले दिग्व्रत में दशों दिशाओं में जाना मंगाना, भेजना, बुलाना इत्यादि की यावज्जीवन की जो मर्यादा की थी वह बहुत थी, उसी में अब प्रतिदिन क्षेत्र की सीमा, काल की मर्यादा करके घटाते हुए व्रत लेना वह देशावकाशिक व्रत है । जैसे पूर्व दिशा में दो सौ कोस तक के आगे नहीं जाने का त्याग यावज्जीवन किया था वह तो दिग्व्रत है । अब इसी में ही प्रतिदिन मर्यादा करके रहना कि आज मैं चार कोस से अधिक नहीं जाऊँगा, या इस शहर के बाहर नहीं जाऊँगा या अपने घर के बाहर ही नहीं जाऊँगा, वह देशावकाशिक व्रत है ।

अब देशावकाशिक व्रत में **क्षेत्र की मर्यादा** कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

गृहद्वारि–ग्रामाणां–क्षेत्र–नदी–दाव–योजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ।।९३।।

अर्थ :– तपोवृद्ध जो गणधरदेव हैं वे देशावकाशिक व्रत करने की सीमा-मर्यादा बतलाते हैं- गृह, मोहल्ला, ग्राम, क्षेत्र, नदी, वन, योजन को देशावकाशिक व्रत में सीमा कहते हैं । इनके बाहर मैं इतने समय तक नहीं जाऊंगा, ऐसा नियम लेना ।

अब देशावकाशिक व्रत में **काल की मर्यादा** कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

संवत्सरमृतुरयनंमासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ।।९४।।

अर्थ :– जो प्रवीण पुरुष हैं वे एक वर्ष, छह माह, चार माह, दो माह, एक पक्ष, एक नक्षत्र इस प्रकार देशावकाशिक व्रत में काल की मर्यादा कहते हैं ।

अब **देशावकाशिक व्रत में महाव्रतपना** कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५॥

अर्थ :– प्रतिदिन जितने क्षेत्र का परिमाण किया हो उसके बाहर स्थूल तथा सूक्ष्म जो पाँच पाप हैं, उनका त्याग करने से देशावकाशिक व्रत करने से ही महाव्रतों की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ :– क्षेत्र की मर्यादा के बाहर सभी पाँचों पापों का पूर्ण त्याग कर देने से अणुव्रत ही महाव्रत के समान हो जाते हैं ।

अब **देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार** कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिः पुद्गलक्षेपो ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥९६॥

अर्थ :– जितने क्षेत्र की मर्यादा की थी उसके बाहर किसी प्रयोजन के लिये अपने नौकर को, मित्र को, पुत्र को या किसी अन्य को कहना कि तुम वहाँ जाकर वह काम कर दो - ऐसा कहना वह **प्रेषण** नाम का अतिचार है । १ ।

मर्यादा के बाहर क्षेत्र में रहनेवाले से बातें करना, तथा शब्दों द्वारा इशारे से समझा देना कि अमुक काम कर दो - वह **शब्द** नाम का अतिचार है । २ ।

मर्यादा के बाहर के क्षेत्र से किसी को बुलाना या वस्त्र आदि आवश्यक इच्छित पदार्थ को शब्दों से कहकर मंगवा लेना, वह **आनयन** नाम का अतिचार है । ३ ।

मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में रहनेवालों को इशारे से समझाने के लिये अपना रूप दिखाना, वह **रूपाभिव्यक्ति** नाम का अतिचार है । ४ ।

मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में वस्त्रादि द्वारा, कंकरी, पत्थर, लकड़ी आदि फेंककर अपनी उपस्थिति जताना, वह **पुद्गलक्षेप** नाम का अतिचार है । ५ ।

इस प्रकार देशावकाशिक व्रत के ये पाँच अतिचार त्यागने योग्य हैं ।

अब **सामायिक शिक्षाव्रत** का स्वरूप कहते हैं :-

आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७॥

अर्थ :– परम साम्यभाव को प्राप्त जो गणधर देव हैं वे सामायिक की प्रगट प्रशंसा करते हैं। मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में तथा मर्यादा के भीतर के क्षेत्र में सर्वत्र ही समस्त मन, वचन, काय तथा

कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा कार्य की मर्यादा करके सभी पाँच पापों का पूर्ण त्याग करना सामायिक कहलाता है ।

भावार्थ :– समस्त पाँच पापों का काल की मर्यादा लेकर सम्पूर्ण रूप से त्याग करना वह सामायिक है । अब सामायिक में पाँच पापों का त्याग करके **किस प्रकार रहना** वह श्लोक द्वारा कहते हैं :-

मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धं पर्यंकबन्धनं चापि ।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥९८॥

अर्थ :– समयज्ञ अर्थात् जो परमागम के जानने वाले हैं वे कहते हैं कि शिर के केशों को अच्छी तरह बांध कर, मुष्टिबंधन, वस्त्रबंधन, आसनबंधन करके किसी एकांत स्थान में खड़े रहकर या बैठकर, राग-द्वेष रहित शुद्ध आत्मा को काल की मर्यादा लेकर केवल जानता ही रहे ।

भावार्थ :– सामायिक करनेवाला काल की मर्यादा लेकर समस्त पापों को त्यागकर खड़े होकर या पर्यंक आसन में बैठे । पर्यंक आसन में बैठकर अपने बांये हाथ की हथेली पर दांये हाथ की हथेली को फैलाकर रखे । अपने मस्तक के केश, पहिने हुए वस्त्र यदि उड़ रहे हों तो उन्हें समेटकर उनमें गांठ लगाकर बांध ले । बैठकर या खड़े होकर सामायिक करना चाहिये ।

अब **सामायिक करने योग्य स्थान** को श्लोक द्वारा कहते हैं -

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया: ॥९९॥

अर्थ :– ऐसा विक्षेप रहित एकान्त स्थान हो, वन हो, बाग हो, मकान हो, चैत्यालय हो वहाँ पर प्रसन्न चित्त से **शुद्धात्मा से परिचय** करना चाहिये ।

भावार्थ :– जिस स्थान में चित्त को विक्षेप करने के कारण नहीं हों; बहुत असंयमी जनों का आना-जाना नहीं हो; अनेक लोगों द्वारा वाद-विवाद करके कोलाहल नहीं किया जा रहा हो; स्त्रियों तथा नपुंसकों का आगमन-प्रचार नहीं हो; नजदीक में गीत, वादित्रों आदि का प्रचार नहीं हो रहा हो; तिर्यंचों का, पक्षियों का संचार नहीं हो; बहुत शीत, उष्णता, प्रचंड पवन, वर्षा की बाधा नहीं हो; डांस, मच्छर, मक्खी, कीड़ा, कीड़ी, जुआं, मधुमक्खी, ततैया, सर्प, बिच्छू, कनसला इत्यादि जीवों द्वारा बाधा नहीं दी जा सके; ऐसे विक्षेप रहित एकांत स्थान में, वह वन हो, जीर्ण बाग का मकान हो, शून्य गृह हो, चैत्यालय हो, धर्मात्माजनों का प्रोषधोपवास करने का स्थान हो - ऐसे एकांत स्थान में प्रसन्नचित्त होकर सामायिक में अपने शुद्ध आत्मा से परिचय करना चाहिये ।

अब सामायिक की और भी सामग्री है उसे कहनेवाले श्लोक कहते हैं :-

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैक भुक्ते वा ॥१००॥

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम् ।
व्रतपञ्चक परिपूरण कारणमवधान युक्तेन ॥१०१॥

अर्थ :– काय की चेष्टारूप कार्यों से विरक्त बाह्य आरंभ से छूटकर तथा अन्तरात्मा रूप मन को भी विकल्प रहित करके, उपवास के दिन या एकासन के दिन सामायिक में बैठना चाहिये । आलस्य रहित पुरुष प्रतिदिन नियम से एकाग्रचित्त होकर सामायिक करता हुआ अपनी आत्मा से परिचय बढ़ाता जाता है । **कैसी है सामायिक ?** अहिंसा आदि पाँच व्रतों की परिपूर्णता का कारण है ।

भावार्थ :– जो सामायिक करने में उद्यमी श्रावक है, वह समस्त आरंभ आदि शरीर की क्रिया का त्याग करके मन के विकल्पों को भी छोड़कर सामायिक करता है । कोई तो पर्व का निमित्त पाकर जिस दिन उपवास करता है उस दिन ही सामायिक करता है, कोई एकासन के दिन सामायिक करता है, कोई प्रतिदिन एक बार सामायिक करता है । कोई प्रतिदिन प्रातः व संध्याकाल - दो बार सामायिक करता है । कोई प्रतिदिन पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न - तीनों कालों में दो-दो घड़ी का नियम लेकर साम्यभाव की आराधना करता है । वह एक स्थान में निश्चल पर्यंक आसन में या कायोत्सर्गरूप निश्चल आसन लगाकर अंग-उपांगों का चलायमानपना छोड़कर, काष्ठ-पाषाण से बने प्रतिबिंब के समान अचल होकर, दशों दिशाओं को नहीं देखता हुआ, अपने अंग-उपांगों को नहीं देखता हुआ, किसी से बातें नहीं करता हुआ, समस्त पाँचों इंद्रियों के विषयों से मन को रोककर, समस्त चेतन, अचेतन द्रव्यों में राग, द्वेष, हर्ष-विषाद, बैर-स्नेह आदि छोड़कर सामायिक में बैठा हुआ समस्त जीवों के प्रति मैत्री धारण करता हुआ परम आराधना करता है ।

बैर त्याग : सामायिक में बैठा हुआ मनुष्य विचार करता है - मैं सर्व जीवों के प्रति क्षमा धारण किये हूँ, **कोई जीव मेरा बैरी नहीं है । मेरा उपार्जन किया हुआ मेरा कर्म ही बैरी है** । मैं अज्ञान भाव से क्रोधी, अभिमानी, लोभी होकर विपरीत परिणामी हुआ । जिसकी प्रवृत्ति से मेरा अभिमान आदि पुष्ट नहीं हुआ तो उस ही को बैरी मान लिया; जिसने मेरी प्रंशसा नहीं की, मेरे कार्यों की प्रंशसा नहीं की उस ही को बैरी समझ लिया; जिसने मेरे आदर-सत्कार, उठकर स्थान देना इत्यादि में शिथिलता दिखाई उस ही को बैरी जान लिया; जिसने मेरा कोई दोष बताया उस ही को बैरी जान लिया; कोई मेरे अधीन नहीं चला, मुझे कुछ भोजन, वस्त्र, धन आदि नहीं दिया, उस ही को बैरी मान लिया । ये सभी मेरी कषाय से उत्पन्न दुर्बुद्धि से अन्य जीवों के प्रति बैर बुद्धि हुई है, उसे छोड़कर क्षमा अंगीकार करता हूँ । अन्य सभी जीव भी मेरे अज्ञान भाव को विषय-कषायों के अधीन हुआ जानकर मेरे ऊपर क्षमा करो, मुझे माफ करो ।

इस प्रकार बैर-विरोध की भावना छोड़कर मैं सभी जीवों के प्रति समता भाव धारण करके सामायिक अंगीकार करता हूँ । इस प्रकार दो घड़ी तक मन से, वचन से, काय से सभी पाँच इंद्रियों के विषयों को, समस्त आरम्भ-परिग्रह हो छोड़कर भगवान पंचपरमेष्ठी का स्मरण करता हुआ बैठता है । इस प्रकार सामायिक के काल में प्रतिज्ञा करके पंच नमस्कार मंत्र के अक्षरों का ध्यान करता

हुआ, पंच परमेष्ठी के गुणों को स्मरण करता हुआ, जिनेन्द्र के प्रतिबिम्ब का विचार करता हुआ सामायिक में बैठता है । **अपने आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव को राग-द्वेष से भिन्न अनुभव करता है ।** चार मंगल पद, चार उत्तम पद, चार शरण पदों का चिंतवन करता है । बारह भावना, सोलह कारण भावनाओं का विचार करता है । २४ तीर्थंकरों की स्तुति में, किसी एक तीर्थंकर की स्तुति में, पंच परमगुरु की स्तुति में, उसके अर्थ को एकाग्रचित्त होकर सामायिक में विचार करते हुए बैठता है।

प्रतिक्रमण : प्रतिक्रमण करने के लिये दिन में किये गये सभी दोषों को दिन के अंत में विचार करता है, रात्रि में किये गये सभी दोषों को प्रातःकाल विचार करता है कि यह मनुष्य जन्म और उसमें सर्वज्ञ वीतराग भगवान द्वारा उपदेशित जैनधर्म जो अनन्त काल में बहुत मुश्किल से प्राप्त हुआ है, इस जन्म की एक घड़ी भी धर्म के बिना व्यतीत नहीं हो ।

इस प्रकार चिंतवन करता है – मैंने आज के दिन में तथा रात्रि में जिनदर्शन-पूजन-स्तवन में कितना समय व्यतीत किया ? स्वाध्याय, संगति, तत्त्व चर्चा, पंचपरमेष्ठी की जाप-ध्यान में, पात्र दान में कितना समय व्यतीत किया ? बहुत आरंभ में, इंद्रियों के विषयों में, व्यवहार की विकथा में, प्रमाद में, निद्रा में, कामसेवन में, भोजन-पान में, आजीविका के आरंभ आदि में कितना समय व्यतीत किया ? मेरी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति व रागादि भाव, संसार के कार्यों में अधिक हुये या परमार्थ में अधिक हुये ?

इस प्रकार दिन में किये कार्यों का दिन के अंत में तथा रात्रि में किये कार्यों का प्रातः काल चिंतवन करना चाहिये । जो पाँच रुपये की पूँजी लेकर व्यापार करता है वह नित्य रोजाना अपना ठगा जाना, कमाना, नुकसान, लाभ की संभाल करता है, तो पूर्व पुण्य के प्रभाव से प्राप्त इस जन्म में उत्तम मनुष्य पर्याय, वीतराग धर्म, सत्संगति, इंद्रियों की परिपूर्णता आदि धन की पूंजी से व्यापार करता हुआ ज्ञानी क्या अपनी आत्मा की हानि-वृद्धि की संभाल नहीं करे ? यदि नुकसान-नफा की संभाल नहीं करेगा तो परलोक से लाये धर्म-धन को नष्ट करके घोर तिर्यंचगति में व नरक-निगोद में जाकर दुखी होगा । इसलिये धर्मरूपी धन को कमाकर वृद्धि करने का इच्छुक एक दिन में कम से कम दो बार तो अवश्य ही संभाल करता ही है ।

कषाय त्याग : कषाया के वश होकर तथा विषयों के वश होकर अज्ञान से जो अपने मन, वचन, काय की दुष्ट प्रवृत्ति हुई हो उसको बारम्बार विचार कर निंदा गर्हा करता है - हाय ! मैंने दुष्ट चिंतवन किया, काय से दुष्ट क्रिया की, वचन से बहुत निंद्य प्रवृत्ति की, इससे महाअशुभ कर्मबन्ध किये, धर्म को दूषित किया, अपयश प्रगट किया ।

अब इस निंद्य कर्म का विचार करके मेरे परिणाम पश्चाताप की अग्नि में जल रहे हैं । अहो! मोहकर्म बड़ा बलवान है । मैं अपने दुष्ट परिणामों को, पाप करनेवाले दुर्गति को ले जानेवाले, अपने निंद्य परिणामों को अच्छी तरह से जानता हूँ कि ये मेरा घात ही करनेवाले हैं; ये परिणाम मेरे प्रयोजनरहित हैं ऐसा जानता हूँ । मैं यह अच्छी तरह बारम्बार अपने परिणामों में निश्चय कर रहा हूँ कि जीवन

अल्प है तथा परलोक में अपने किये हुये कर्मों का फल मैं ही अकेला भोगूँगा। ऐसा विचार करते-करते हुए भी मेरे परिणामों में अन्य जीवों से बैर तथा विषयों से राग नहीं घट रहा है सो यह भी प्रबल मोह की ही महिमा है। इसी कारण मैं जिन्होंने मोहकर्म का नाश कर उस पर विजय प्राप्त की है, ऐसे पंच परमेष्ठियों का स्मरण करता हूँ।

मोहकर्म को जीतने वाले जिनेन्द्र के प्रभाव से मेरे मोहकर्म से उत्पन्न हुए रागभाव, द्वेषभाव, कामादि विकारीभाव, क्रोधभाव, अभिमानभाव, मायाचारभाव, लोभभाव नष्ट हो जायें। जैसी **वीतरागता जिनेन्द्र भगवान ने पाई है वैसी ही मुझे भी प्रकट हो**। इस अभिप्राय से मैं शरीर से ममत्व छोड़कर पंच परमेष्ठी के ध्यान सहित कायोत्सर्ग करता हूँ।

हिंसा त्याग : अज्ञान भाव से जो पूर्वकाल में मैंने पृथ्वीकाय का खोदना, कुचरना, कूटना इत्यादि किया हो; डूबकर, बिलोकर, छिड़ककर, स्नान आदि कर जलकाय के जीवों की विराधना की हो; दाबना, बुझाना, कसेरना, कूटना इत्यादि द्वारा अग्निकाय के जीवों की विराधना की हो; पंखा आदि से पवनकाय के जीवों की विराधना की हो; तथा जड़, कंद, मूल, छाल, कोंपल, पत्ता, फूल, फल, डाली, डाल, सींक, तृण, घास, वेल, गुल्म, वृक्षादि को तोड़ना, छेदना, काटना, उखाड़ना, चबाना, रांधना, मसलना, बांटना इत्यादि द्वारा वनस्पति काय की विराधना की हो तो उनसे उत्पन्न हुए पाप कर्मों का नाश परमेष्ठी के जाप के प्रभाव से हो जाये। अब मेरे परिणाम छह काय के जीवों के घात से पराङ्मुख हों, मुझे संयमभाव की प्राप्ति हो।

प्रमाद त्याग : मेरे चलने में, आने में, जाने में, उठने में, बैठने में, पसरने में, संकोचने में, भोजन में, पानी में, आरम्भ करने में, जाने में, उठाने में, रखने में, तथा चक्की, चूल्हा, ओखली, बुहारी, पानी में, तथा सेवा, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्पकर्म, लिखना आदि जीविका में, तथा गाड़ी-घोड़ा इत्यादि वाहनों में प्रवर्तन द्वारा जो यत्नाचार रहित मेरी प्रवृत्ति हुई, उससे दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पाँच इंद्रिय जीवों की विराधना हुई होगी, वह मिथ्या हो। मैंने बहुत बुरा किया है। **ये आरम्भ आदि भले नहीं हैं, संसार में डुबोनेवाले हैं, नरक देनेवाले हैं**। इन आरम्भ विषय-कषायों द्वारा ही यह जीव एक इंद्रिय आदि तिर्यंचों में अनंतानंतकाल तक क्षुधा, तृषा, मारन, ताड़न, लादन, बंधन, जलाना, छेदन, फाड़न, चीरन, चाबन इत्यादि के घोर दुःख सहता भोगता है। उस हिंसा से उत्पन्न हुए कर्मों के नाश के लिये तथा आगे हिंसारूप परिणामों के अभाव के लिये मैं पंच परमेष्ठी-नमस्कार-मंत्र की शरण ग्रहण करता हूँ।

असत्य त्याग : अज्ञान भाव से व प्रमाद से मैंने कोई असत्य वचन कहा हो, गाली दी हो, भण्ड वचन कहे हों, मर्म छेदनेवाले कर्कश कठोर वचन कहे हों, किसी को चोरी का कलंक लगाया हो, किसी को कुशील का कलंक लगाया हो, तथा धर्मात्मा, ज्ञानी, तपस्वी, शीलवन्तों को दोष लगाया हो, धर्मात्माओं की निंदा की हो, सच्चे देव-गुरु-धर्म की निंदा की हो, हिंसा की प्रवृत्ति का उपदेश दिया हो, मिथ्या धर्म की प्ररूपणा की हो, स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा, देशकथा इत्यादि घोर पापों में मेरे वचन की प्रवृत्ति हुई हो, उस सबका अब पश्चाताप करता हूँ।

मैंने जो घोर पाप का बंध किया है, उसका फल नरकों के दु:ख तथा तिर्यंच गति के घोर दु:ख अनंतकाल भोगना हैं तथा अनंतबार गूंगा, बहरा, अंधा, नीच जाति में, नीच कुल में, महादारिद्र सहित उपजना है । इसलिये अब दुष्टवचनों को बोलकर उत्पन्न किया जो पाप कर्म उसका नाश करने के लिये तथा आगे मेरी दुष्टवचनों में प्रवृत्ति कभी नहीं हो, इसलिये मैं पंच नमस्कार मंत्र की शरण ग्रहण करता हूँ ।

चोरी त्याग : अज्ञानभाव से व प्रमाद से पूर्वकाल में मैने जो दूसरों का बिना दिया हुआ धन, गिरा, पड़ा, भूला हुआ धन ग्रहण करने के परिणाम किये, कपट-छल से ठगा तथा जबर होकर दूसरे का धन रखकर वापिस नहीं दिया जिसके लिये स्वयं बहुत संक्लेश किया तथा दूसरे को संक्लेश उत्पन्न कराया इस प्रकार घोर पाप किया । उस पाप का फल नरक-तिर्यंच आदि गतियों में भ्रमण तथा अनंतकाल पर्यंत दारिद्र आदि घोर दु:ख होना है । इसलिये चोरी करके उत्पन्न किये जो पापकर्म उनके नाश के लिये तथा आगे भी मेरे बिना दिये हुये पराये धन को ग्रहण करने के परिणाम नहीं हो, इसलिये मैं पंच नमस्कार मंत्र की शरण ग्रहण करता हूँ ।

कुशील त्याग : दूसरे की स्त्री को, उसके रूप, आभरण, वस्त्र, हावभाव, विलास को रागभाव से देखने की इच्छा से, तथा राग-भाग से देखकर तथा संगम आदि कर उससे उत्पन्न किये घोर पाप कर्म का फल अनंतकाल तक नरक-तिर्यंच गतियों में परिभ्रमण कर अनेक भवों में हजारों रोग तथा दारिद्र का दु:ख भोगना, तथा बहुत काल पर्यन्त कामरूप अग्नि में जलते हुए असंख्यात भवों में कामवेदना से पीड़ित होकर लड़-लड़कर मर जाने का है । इसलिये पर स्त्री की वांछा से उत्पन्न किये पापकर्मों के नाश के लिये तथा आगे मेरा अन्य की स्त्री में अनुराग कभी न हो इसके लिये मैं पंच परम गुरुओं के पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करता हूँ ।

परिग्रह त्याग : मैं अज्ञानी परिग्रह में बड़ी ममता करके शरीर आदि पुद्‌गल को अपना मानकर इनमें अपनापन करता रहा । **रागादिभाव जो मोहकर्म के उदय से हुए, उन्हें अपने भाव मानकर पर द्रव्यों में बड़ी आसक्ति की;** धन-धान्य-कुटुम्ब आदि की वृद्धि को अपनी ही वृद्धि मानी, इनकी हानि को अपनी हानि मानी । अभी भी जमीन, हाट, आजीविका, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, आभरण, वस्त्रादि हजारों वस्तुरूप परिग्रह में **मेरा-मेरा करता हूँ** । बुद्धि में ऐसी विपरीतता हो रही है कि अपना ज्ञान, पर का ज्ञान, पाप-पुण्य का ज्ञान, परलोक का ज्ञान नष्ट हो गया है । प्राण कण्ठ तक आ जायें तो भी ममता नहीं घट रही है । जगत में प्रत्यक्ष देखते हैं कि परिग्रह किसी के साथ गया नहीं है, मेरे साथ भी नहीं जायेगा, तो भी प्रतिदिन बढ़ाना ही चाहता रहता हूँ । जब तक मेरा मरण हो तब तक इस परिग्रह में से कुछ भी घट नहीं जाये, इसी प्रकार निरंतर चिंतवन रहा करता है । इस परिग्रह रूप दावाग्नि को संतोषरूप जल से नहीं बुझाना चाहता है ।

समस्त पापों का मूल एक परिग्रह में मूर्च्छा है । मुझ अज्ञानी ने इसी के आरंभ में, इसी में ममता धारण करके अनंतकाल में दुर्लभ ऐसा मनुष्यजन्म तथा जिनधर्म पाकर उसे बिगाड़कर अनंत

भवों तक के लिये नरक-तिर्यंच गतियों के दु:खों को अंगीकार कर लिया है, इसका मुझे बहुत पश्चाताप है । अब ऐसे घोर पापकर्म के नाश करने का उपाय भगवान पंच परमेष्ठी की शरण के सिवाय दूसरा कोई नहीं है । भविष्य में भी परिग्रह से विरक्ति करानेवाला भगवान पंच परमेष्टी बिना अन्य कोई नहीं है । इसलिये मूर्च्छा का नाश करने के लिये, परम संतोष उत्पन्न करने के लिये, परिग्रह का त्याग करने के लिये पंच नमस्कार मंत्र के ध्यानपूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ । अब 'सामायिक में स्थित गृहस्थ मुनि के समान है' - कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥

अर्थ :– सामायिक के काल में गृहस्थ समस्त आरम्भ और परिग्रह से रहित है, इसलिये सामयिक करता हुआ गृहस्थ वस्त्र के उपसर्ग सहित मुनि के समान यतिपने के भाव को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ :– सामायिक के समय में गृहस्थ के समस्त आरंभ और समस्त परिग्रह नहीं हैं, परन्तु गृहस्थ है इसलिये वस्त्र पहिने है । **वस्त्र के सिवाय अन्य सब प्रकार से मुनि तुल्य ही है** । मुनि के नग्नपना होता है, किन्तु यह वस्त्र धारण किये है - इतना ही अन्तर है, इसलिये इसे मुनि नहीं कहा जाता है ।

अब सामायिक के समय में उपसर्ग या परीषह आ जाय तो यह मुनीश्वर के समान ही धीरता धारणकर सह लेता है; कायर नहीं होता है, ऐसा कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः ।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१०३॥

अर्थ :– सामायिक में स्थित गृहस्थ मौन धारण करता है, मन-वचन-काय को चलायमान नहीं करता है । शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषह तथा चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग को सहता है ।

भावार्थ :– सामायिक करने के समय में यदि शीत का, उष्णता का, वर्षा का, पवन का, डांस, मच्छरों का, दुष्टों के दुर्वचनों का, रोग की पीड़ा का परीषह आ जाये, दुष्ट वैरी द्वारा किया हुआ, तथा सिंह, व्याघ्र, सर्पादि तथा अग्नि, जलादि जनित उपसर्ग आ जाये तो बड़ा धैर्य धारण करके मन, वचन, काय को साम्यभाव से चलायमान नहीं करता हुआ मौन सहित सहन करता है ।

अब सामायिक में संसार तथा मोक्ष के स्वरूप का चिंतवन करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

अर्थ :– सामायिक करने वाला गृहस्थ संसार का स्वरूप इस प्रकार विचारता है :-

संसार का स्वरूप : यह चतुर्गति में परिभ्रमणरूप संसार अशरण है । इसमें अनंतानन्त जन्म-मरण करते हुये अनंतकाल व्यतीत हो गया । सभी पर्यायों में क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग, मारन, ताड़न,

भोगते हुए कोई शरण नहीं है। किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है, अतः संसार अशरण है।

अशुभ कर्मों के बंधन से बंधा हुआ, दुःख देनेवाले अशुभ देहरूप पिंजरे में फंसा हुआ, अशुभ कषायों रूप अशुभ भावों में लीन होकर निरंतर अशुभ का ही बन्ध करता है, अशुभ को ही भोगता है, अतः यह संसार अशुभ है।

इस संसार में जीव अंनतानंत काल से परिभ्रमण करते-करते कभी उत्तम क्षेत्र में निवास, उत्तम कुल, इंद्रियों की पूर्णता, सुन्दर रूप, प्रबल बुद्धि, जगत में पूज्यता-मान्यता तथा राज्य सम्पदा, धन सम्पदा, सुन्दर मित्रों का मिलना, आज्ञाकारी महाप्रवीण सुपुत्र, मनोहर वल्लभा का मिलना, तथा पंडितपना, शूरपना, बलवानपना, आज्ञा, ऐश्वर्य, मनोवांछित भोग, निरोग शरीर आदि कर्म के उदय से प्राप्त हो जायें तो क्षण मात्र में बिजली के समान, इन्द्रधनुष के समान, इन्द्रजालिया के नगर के समान नियम से बिला जाते हैं। फिर अनंतानन्त काल में भी नहीं प्राप्त होते हैं, अतः संसार अनित्य है।

समस्त काल में ही कर्मबन्धन सहित देह पिंजरे में फंसा अनंतानन्त जन्ममरण आदि सहित है। अनंतकाल में भी दुःख का अभाव नहीं हुआ है, इसलिये संसार दुःख ही है। संसार परिभ्रमणरूप मेरा आत्मा नहीं होता है, इसलिये ये संसार अनात्मा है।

इस प्रकार सामायिक में स्थित गृहस्थ विचार करता है - अहो यह परिभ्रमणरूप संसार अशुभ है, अशरण है, अनित्य है, दुःख रूप है, मुझ स्वरूप नहीं है। इस संसार में मिथ्याज्ञान के प्रभाव से मैं अनंतकाल से इसमें निवास कर रहा हूँ।

मोक्ष का स्वरूप : अब मोक्ष अर्थात् संसार से छूट जाना, वह मेरे आत्मा को शरण है। फिर अनंतानंत काल में भी वापिस संसार में आने से रहित है। शुभ है, अनंत कल्याण रूप है, नित्य है, अविनाशी है, अनंतानंत स्वरूप है, जिसमें अनन्त ज्ञान आदि तथा अनाकुलतारूप सुख है, मेरे आत्मा का स्वरूप है, पर का रूप नहीं है।

इस प्रकार सामायिक में स्थित गृहस्थ संसार और मोक्ष के स्वरूप का विचार करता है। **साम्यभाव सहित सामायिक दो घड़ी मात्र को भी हो जाये तो महान कर्म की निर्जरा हो जाती है।** सामायिक की महिमा कहने को इंद्र भी समर्थ नहीं है। सामायिक के प्रभाव से अभव्य भी ग्रैवेयिक तक उत्पन्न हो जाते हैं। सामायिक के समान धर्म न कोई हुआ है, न होगा। अतः सामायिक को अंगीकार करना ही आत्मा का हित है। जिन्हें सामायिक पाठ का ज्ञान नहीं, याद नहीं है वे एकाग्रता से मन, वचन, काय को निश्चल करके समस्त आरंभ, कषाय, विषयों को त्याग करके पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करते हुए दो घड़ी पूरी करें।

अब सामायिक के पाँच अतिचार कहने वाला श्लोक कहते हैं :-

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१०५॥

अर्थ :– ये पाँच सामाजिक के अतिचार हैं - सामायिक करते समय वचनों के द्वारा संसार सम्बन्धी प्रवृत्ति करना वह **वचन दुःप्रणिधान** नाम का अतिचार है १; शरीर की संयम रहित चलायमानपने की चेष्टा करना वह **काय दुःप्रणिधान** नाम का अतिचार है २; मन में आर्त-रौद्र आदि चिंतवन करना वह मनो **दुःप्रणिधान** नाम का अतिचार है ३; सामायिक को उत्साह रहित निरादर से करना वह **अनादर** नाम का अतिचार है ४; सामायिक करते समय देव वंदन आदि के पाठ भूल जाना व कायोत्सर्ग आदि को भूल जाना वह **अस्मरण** नाम का अतिचार है ५ । इस प्रकार अतिचार सहित सामायिक का वर्णन किया ।

अब **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत** का स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥१०६॥

अर्थ :– पर्व जो अष्टमी और चतुर्दशी को दिन तथा रात्रि में चार प्रकार के भोजन का सम्यक् इच्छापूर्वक त्याग करना उसे प्रोषधोपवास जानना चाहिये । एक माह में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी- ये चार अनादि से ही पर्व कहलाते हैं । इन पर्वों में गृहस्थ व्रत-संयम सहित ही रहता है । जो धर्मात्मा संयमी हैं वे तो सदाकाल सभी दिनों में व्रतों सहित ही रहते हैं । धर्म में अनुराग रखने वाला गृहस्थ एक माह में चार दिन तो सभी पाप के आरंभ और इंद्रियों के विषयों को त्याग करके, कषाय को नष्ट करके, व्रत शील, संयम सहित उपवास धारण करके, चार प्रकार के आहार का त्याग करके, संयम सहित रहता है, उसके प्रोषधोपवास व्रत जानना ।

अब प्रोषधोपवास का विशेष वर्णन करते हैं – सप्तमी के दिन तथा त्रयोदशी के दिन दोपहर में प्रथम तो एक बार भोजन-पानादि करके, समस्त आरंभ, व्यापार, सेवा, लेनदेन का त्याग करके, देह आदि में ममत्व त्याग करके; एकान्त घर में, जिन मंदिर में, एकान्त स्थान में, चैत्यालय, सूने घर, मठ आदि प्रोषधोपवास करने के स्थान में जाकर, समस्त विषयों का - कषायों का त्याग करके, मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को रोककर धर्मध्यान करके व स्वाध्याय करके, सप्तमी व त्रयोदशी के शेष आधे दिन को व्यतीत करे । पश्चात् संध्याकाल संबंधी देव वंदन आदि करके रात्रि की धर्मकथा व जिनेन्द्र भक्ति, स्तवन आदि करके रात्रि व्यतीत करे व धर्म ध्यान करता हुआ शुद्ध समाधि पूर्वक **थोड़ी देर को प्रमाद दूर करके रात्रि व्यतीत करे** । अष्टमी, चतुर्दशी के प्रातःकाल में सामायिक वंदना आदि करके तथा प्रासुक द्रव्यों से पूजन करके, शास्त्रों का अभ्यास करके, भावनाओं का चिंतवन करके, धर्मध्यान सहित अष्टमी चतुर्दशी का दिन और पूरी रात्रि को व्यतीत करके, नवमी व पूर्णिमा के प्रभात संबंधी कर्म-क्रिया करके, वंदना पूजनादि करके, उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्र में से किसी भी पात्र का लाभ हो तो, उसे भोजन कराकर स्वयं पारणा (भोजन) करे । इस प्रकार सोलह प्रहर का समय जो धर्मसहित व्यतीत करता है, उसके उत्कृष्ट प्रोषधोपवास होता है ।

स्वामी कार्तिकेय ने भी कहा है : अष्टमी-चतुर्दशी के दिन स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्री संसर्ग, पुष्प, इत्र, फुलेल, धूप आदि का त्यागकर जो ज्ञानी वीतरागता रूप आभरण से भूषित होकर दोनों पर्वों में सदाकाल उपवास करता है या एक बार भोजन करता है या नीरस आहार करता है उसके प्रोषधोपवास होता है ।

अमितगति श्रावकाचार में कहा है : पर्व के दिन में उपवास, अनुपवास, एक भुक्ति-ऐसा तीन प्रकार कहा है । उनमें चार प्रकार के आहार के त्याग को उपवास कहा है, एक बार जल मात्र ग्रहण करना उसे अनुपवास कहा है, तथा एक बार अन्न-जल ग्रहण करना उसे एक भुक्ति ऐसी संज्ञा है ।

यहाँ ऐसा तात्पर्य जानना कि अपनी शक्ति को नहीं छिपा करके धर्म में लीन होकर यथाशक्ति उपवास करना । आगे चौथी प्रोषधप्रतिमा कहेंगे उसमें सोलह प्रहर का नियम जानना, तथा दूसरी व्रतप्रतिमा में यथाशक्ति, व्रत, तप, संयम धारण करके पर्व के दिनों में धर्मध्यान सहित रहना ।

अब उपवास में नहीं करने योग्य कार्य कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

पञ्चानां पापनामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात् ॥१०७॥

अर्थ :– उपवास के दिन हिंसादि पाँचों पापों का त्याग करना चाहिये, अलंक्रिया अर्थात् आभरण आदि से सजने का त्याग करना, तथा गृहकार्य का आरम्भ, जीविका का आरंभ छोड़ देना चाहिये। सुगंध, केशर, कपूर आदि, इत्र, फुलेल आदि के ग्रहण करने का त्याग करना चाहिये । स्नान करने, आंख में अंजन लगाने का, नास सूंघने का त्याग करना चाहिये । नृत्य, गीत, वादित्र आदि देखना, सुनना, बजाना का त्याग करना चाहिये । पाँच इंद्रियों के भोगों का त्याग करना चाहिये ।

उपवास का प्रयोजन : उपवास इंद्रियों का मद मारने को, इंद्रियों का विषयों में गमन रोकने को, कामभाव को जीतने को, प्रमाद आलस्य आदि रोकने को, निद्रा नष्ट करने को, आरंभ आदि से विरक्त होने को, परीषह सहने की सामर्थ्य बढ़ाने को, धर्म के मार्ग से नहीं चिगने को - दृढ़ता बढ़ाने को, **जिव्हा इंद्रिय व उपस्थ इंद्रिय को दण्ड देने को किया जाता है** । केवल अपनी प्रशंसा, लाभ, परलोक में राज्यसंपदा आदि प्राप्त होने के लिये उपवास नहीं किया जाता है । **अपना विषयानुराग घटाने के लिये, शक्ति बढ़ाने के लिये उपवास किया जाता है** । इंद्रियाँ तो निरन्तर ही खान-पान आदि के अनेक स्वाद लेने में लगी रहती हैं, उपवास करने से रस आदि के भोजन में लालसा नष्ट हो जाती है, निद्रा पर विजय होती है, काम को मार लिया जाता है । इस प्रकार उपवास का बड़ा प्रभाव जानकर उपवास करना चाहिये ।

अब उपवास का दिन कैसे व्यतीत करना, यह कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥

अर्थ :– उपवास करने वाला गृहस्थ निरालसी होता हुआ ज्ञान के अभ्यास में तथा धर्मध्यान में तत्पर रहता है । अतितृष्णावान होकर कर्ण इंद्रिय द्वारा धर्मरूप अमृत का स्वयं पान करता है व अन्य भव्य जीवों को धर्मरूप अमृत का पान कराता है ।

भावार्थ :– उपवास के दिन धर्मकथा स्वयं सुनना तथा अन्य धर्मात्माओं को धर्म श्रवण कराना चाहिये; **ज्ञान के अभ्यास में तथा धर्मध्यान में लीन होकर ही उपवास का समय व्यतीत करना चाहिये;** आलस्य, निद्रा, आरंभ तथा विकथा द्वारा उपवास का काल व्यतीत नहीं करना चाहिये ।

अब उपवास तथा प्रोषधोपवास का स्वरूप श्लोक द्वारा कहते हैं :-

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०९॥

अर्थ :– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य - यह चार प्रकार का आहार (कवलाहार) है । इनका त्याग वह उपवास है । धारणा के दिन (उपवास के पूर्व) में व पारणा के दिन (उपवास के बाद) में एक बार भोजन करना उसे प्रोषध कहते हैं । इस प्रकार सोलह प्रहर तक भोजन आदि आरंभ छोड़कर पश्चात् भोजन आदि आरंभ के कार्य करने को प्रोषधोपवास कहते हैं ।

अब उपवास के पाँच अतिचार कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥११०॥

अर्थ :– प्रोषधोपवास के ये पाँच अतिचार हैं । नेत्रों से देखे बिना तथा कोमल वस्त्र आदि उपकरण से शुद्ध किये बिना पूजा व स्वाध्याय के उपकरण ग्रहण करना १, देखे सोधे बिना ही पूजा तथा स्वाध्याय के उपकरण रख देना व शरीर के अंग हाथ पैरों को पसारना २, देखे सोधे बिना ही सोने के बिस्तर आदि बिछा देना ३, उपवास में अनादर करना, उत्साह रहित होना ४, उपवास के दिन क्रिया, पाठ आदि करना भूल जाना ५ । इस प्रकार ये उपवास के पाँच अतिचार टालने योग्य हैं ।

अब वैयावृत्य नाम का शिक्षाव्रत कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११॥

अर्थ :– यहाँ परमागम में आहार दान ही को वैयावृत्य कहते हैं । जिनके तप ही धन है अर्थात् जो इच्छा निरोध आदि तपों को ही अपना अविनाशी धन जानते हैं वे तपोधन हैं । तप के बिना समस्त कलंक मल रहित आत्मा का शुद्ध स्वभावरूप अविनाशी धन नहीं प्राप्त होता है । जिन्होंने रागादि कषायमल को जला देने वाला तपरूपी धन प्राप्त कर लिया है, तथा संसार में नष्ट करने वाला जड़, अचेतन, बिनाशीक स्वर्ण आदि धन का त्याग कर दिया है, ऐसे तप की निधि, रत्नत्रय रूपी गुणों

के निधान, **परम वीतरागी दिगम्बर यतियों को दातार व पात्र की धर्मप्रवृत्ति चलाने के लिये आहारदान देना वह वीतरागी मुनियों की वैयावृत्य है ।**

दान के पात्र मुनि हैं : कैसे हैं दिगम्बर यति ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र गुणों के निधान हैं । और कैसे हैं ? जिनके अतंरंग-बहिरंग परिग्रह नहीं है । वे मठ, मकान, उपासरा, आश्रम आदि में रहते नहीं, किन्तु एकाकी या गुरुजनों के चरणों के साथ कभी वन में, कभी पर्वत की निर्जन गुफा में, कभी घोर वन में, कभी नदी के किनारे, जिनका नित्य बिहार नियम रहित (निश्चित नहीं) है; **असंयमी गृहस्थों से जिनका मिलना नहीं होता है;** आत्मा की विशुद्धतारूप परम वीतरागता के साधनेवाले; लौकिकजनों द्वारा की गई अपनी पूजा, प्रशंसा, स्तवन को नहीं चाहनेवाले; परलोक में देवगति के भोगों को तथा इन्द्रपना अहमिंद्रपना के ऐश्वर्य को रागरूप अंगारों के समान तप्त महान जलन उत्पन्न करनेवाले व तृष्णा को बढ़ानेवाले जानकर, परम अतींद्रिय आकुलतारहित आत्मीक सुख को सुख जानते हुए; देह आदि में ममत्व रहित होकर, आत्मा का कार्य सिद्ध करते हैं । **ऐसे साधुजन की वैयावृत्य की प्राप्ति अनंतकाल में दुर्लभ है ।**

कैसे हैं दिगम्बर साधु ? यद्यपि इस शरीर से अत्यन्त निर्ममत्व हैं तो भी इस शरीर को रत्नत्रय का सहकारी कारण जानकर, रस-नीरस, कड़ा-नरम आहार लेकर, रत्नत्रय की साधना करते हुए, धर्म के लिये, कर्मों के नाश के लिये इस कृतघ्न देह की रक्षा करते हैं ।

वे विचार करते हैं – यदि यह शरीर असयम में नष्ट हो जायगा तो मरकर देवादि पर्याय में असंयमी होकर उत्पन्न हो जाऊँगा । वहाँ असंख्यात काल तक असंयमी रहते हुए कर्म का बन्ध करूँगा । अत: आहार आदि का त्याग करके इस मनुष्य पर्याय के शरीर को मार दिया तो भी कर्ममय कार्माण शरीर तो नहीं मरेगा । इस देह को मार दिया तो नया अन्य शरीर धारण कर लूँगा । इसलिये इन समस्य शरीरों को उत्पन्न करने का बीज जो कार्माण शरीर है उसे मारने-नष्ट करने का यत्न करता हूँ ।

कषायों को जीतकर, विषयों को निग्रह करके, छियालीस दोष टालते हुए, बत्तीस अंतराय रहित, चौदह मलों का त्याग करके, उनके निमित्त से नहीं बनाये गये ऐसे शुद्ध भोजन की योग्यता मिल जाये तो आधा पेट तो भोजन से भरते हैं, चौथाई पेट जल से भरते हैं, चौथाई भाग ध्यान अध्ययन कायोत्सर्ग आदि में सुखपूर्वक प्रवर्तन करने के लिये खाली रखते हैं; निमत्रणपूर्वक बुलाने पर जाते नहीं हैं, याचना करते नहीं हैं हाथ आदि से इशारा करते नहीं हैं । ऐसे साधुओं को आहार आदि का दान देना वही वैयावृत्य है ।

कैसा है दान ? अनपेक्षित उपचार अर्थात् बदले में ये भी हमारा कुछ उपकार कर देंगे ऐसे प्रत्युपकार की भावना से रहित, उपक्रिय अर्थात् प्रसन्न होकर ये हमें कोई विद्या, मन्त्र, औषधि आदि दे देंगे, मुनीश्वरों को आहार देने से मेरी नगर में दातापने के रूप में प्रसिद्धि हो जायेगी,

राज्य मान्य हो जाऊँगा, मेरे घर में अटूट वैभव-धन हो जायेगा क्योंकि पहले पंचाश्चर्य हुए हैं तो मुझे भी लाभ होगा, ऐसे विकल्प या वांछा रहित होकर, केवल रत्नत्रय के धारकों की भक्ति

से, अपने को कृतार्थ मानकर, अपने मन, वचन, काय को तथा गृहस्थ अवस्था की प्राप्ति को कृतार्थ मानकर आहार दान देता है, आनंद सहित अपने को कृतकृत्य मानता है, वही वैयावृत्य है ।

अब संयमीजनों की वैयावृत्य के और भी कार्य हैं, उन्हें बतलानेवाला श्लोक कहते हैं :-

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२॥

अर्थ :- संयमीजनों पर आई हुई अनेक प्रकार की आपत्तियों को दूर कर देना, उनके चरण मर्दन करना तथा उनके गुणों में अनुराग करके आवश्यकतानुसार कार्य कर देना वह वैयावृत्य है ।

भावार्थ :- साधुओं के ऊपर किसी देव, मनुष्य तिर्यंच या अचतेन द्वारा उपसर्ग किया गया हो तो अपनी शक्ति प्रमाण उसे दूर कर देना चाहिये । चोर, भील, दुष्ट आदि द्वारा रास्ते में कहीं कष्ट पहुँचाया हो जिससे उन मुनिराज के परिणाम क्लेशित हो गये हों तो हो गये हों तो उन्हें धैर्य धारण कराना; रास्ते में चलने से थक गये हों तो उनके पैर मर्दन करना; रोगी हों तो जैसे उनका संयम मलिन न हो वैसे यत्नाचार से आसन, शैया, वस्तिका-निवास ठीक करना; यत्नाचारपूर्वक ही उठाना, बैठाना, शयन कराना, नीहार कराना; यदि अबुद्धिपूर्वक मल-मूत्रादि अयोग्य स्थान पर या वस्तिका में हो गया हो तो यत्नपूर्वक ही उठाकर उचित स्थान पर फेंक देना, कफ नासिका मल आदि को पोंछना, उठाकर अविरूद्ध स्थान में फेंक देना; आहार औषधि आदि यदि संयमी को देने योग्य अपने पास हो तो उन्हें उचित अवसर में देकर वेदना दूर कर देना ।

काल के योग्य, बाधा रहित वस्तु का देना, यदि वेदना से चित्त चलायमान हो गया हो तो उपदेश देकर चित्त को थामना, धर्म कथा करना, अनुकूल प्रर्वतना, गुणों का स्तवन करना, इस प्रकार संयमियों के गुणों में अनुराग करके जितना भी उपकार करना है वह सब वैयावृत्य है ।

अब वैयावृत्य में प्रधान आहारदान है उसे बतलाने वाला श्लोक कहते हैं :-

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥

अर्थ :- जो दातार सप्तगुण सहित, नवधा भक्ति सहित होकर सूना रहित, आरम्भ रहित, सम्यग्दर्शन के धारी मुनियों को नव पुण्य परिणामों सहित अर्थात् आदरपूर्वक गौरव सहित अंगीकार करता है उसे दान कहते हैं ।

भावार्थ :- दान तीन प्रकार के पात्रों को देना चाहिये । उनमें उत्तमपात्र दिगम्बर साधु हैं जो पाँच सूना - चक्की, चूल्हा, ओखली, बुहारी, परींडा-पानी की क्रियाओं से रहित हैं; घर, गृहस्थी, आजीविका आदि से लेकर समस्त आरम्भ से रहित हैं; तथा सम्यग्दर्शन सहित ही होते हैं । मध्यमपात्र सम्यग्दर्शन सहित व्रतों का धारी श्रावक है । जघन्यपात्र व्रतरहित किन्तु सम्यग्दर्शन से युक्त गृहस्थ है ।

दातार के सात गुण : उत्तमपात्रादि को दान देने वाले दातार में ये सात गुण होना चाहिये । दान देकर इस लोक संबंधी विख्यातता, लोक मान्यता, राजमान्यता, धनदान्यादि की वृद्धि, यशकीर्ति आदि इस लोक संबंधी फल नहीं चाहना । १ ।

दातार को क्रोध नहीं आना चाहिये । लेने वाले तो बहुत हैं, मैं किस-किस को दूँ, ऐसा क्रोध किये बिना मुनि-श्रावक आदि को दान देना । २ ।

कपट सहित दान नहीं देना चाहिये । कहना और, दिखाना और, करना और, लोगों को भक्ति दिखाने में संक्लेशित होना, ऐसे कपट से रहित होकर दान देना । ३ ।

अन्य दातार से ईर्ष्या रहित होकर दान देना चाहिये । इसने क्या दिया है । मैं ऐसा दान करूँगा जिससे उसका यश घट जायगा, इस प्रकार के ईर्ष्याभाव से दान नहीं करना चाहिये । ४ ।

दान देकर विषाद नहीं करना चाहिये । मैं क्या करूँ ? सबसे बड़ा कहलाता हूँ, यदि मैं दान नहीं दूँगा तो मेरी उच्चता घट जायगी, ऐसा विषादी होकर दान नहीं देना चाहिये । ५ ।

पात्रों का साथ मिल जाय या निर्विघ्न दान हो जाय तो अपूर्व निधि प्राप्ति के समान आनन्द मानना वह मुदित भाव पूर्वक दान देना है । ६ ।

दान देने का मद या अहंकार नहीं करना वह निरहंकारता नाम का गुण है । ७ ।

इस प्रकार पात्रदान देने वाले दाता को इन सात गुणों सहित होना चाहिये ।

नवधा भक्ति : पात्र को दान देने वालों को मुनि तथा श्रावक का जैसा पद हो उसके अनुसार, नवधा भक्तिपूर्वक दान देना चाहिये ।

नव प्रकार की भक्ति के नाम - संग्रह १, उच्चस्थान २, पादोदक ३, अर्चन ४, प्रणाम ५, मनशुद्धि ६, वचनशुद्धि ७, काय शुद्धि ८, भोजन शुद्धि । ९ ।

मुनिराज को तथा क्षुल्लक को – 'हे स्वामी ! तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ,' इसका अर्थ है - कृपा कर खड़े रहें, रुक जावें - ऐसा तीनबार कहना चाहिये । जिनका अति पूज्यपना देखकर जिसके चित्त में उनके प्रति अति अनुराग होगा, वही तीन बार आदरपूर्वक कहेगा । अन्य श्रावक आदि योग्य पात्र भी घर आवें तो - आईये, पधारिये, विराजिये इत्यादि आदर के वचन कहना, वह संग्रह या प्रतिग्रह है । १ ।

बुलाकर उच्चस्थान पर आसन देना २, प्रासुक प्रामाणिक जल से पैर धोना, धुलाना ३, जैसा समय जैसा पात्र हो उसके योग्य स्तवन पूज्यपना के वचन कहना ४, मुनि-श्रावक की योग्यता अनुसार नमस्कार आदि करना ५, मन की शुद्धिता करना तथा बोलना ६, वचन की शुद्धता करना, कहना, अयोग्य वचन नहीं बोलना ७, काय की शुद्धि करना व कहना, यत्नाचार सहित चलना, उठना, इत्यादि ८, भोजन शुद्धि करना व बोलना, पात्र योग्य शुद्ध भोजन देना । ९ ।

इस प्रकार जिनसूत्र के अनुसार पात्र को, देशकाल के योग्य आहार देना चाहिये तथा मन में हर्ष होना चाहिये । पात्र के गुणों में हर्ष-अनुराग बिना दान देना निष्फल है । जिसे धर्म प्रिय होगा उसे धर्मात्मा में व उसके गुणों में अनुराग होगा ही, ऐसा नियम है ।

मुनिराज तो जिनधर्मी की परीक्षा नवधाभक्ति देखकर ही करते हैं । जिसके हृदय में नवधाभक्ति नहीं है, उसके हृदय में धर्म भी नहीं है । धर्मरहित के यहाँ मुनिराज भोजन भी नहीं करते हैं । अन्य भी धर्मात्मा पात्र गृहस्थ आदि हैं, वे भी आदर बिना, लोभी होकर, धर्म का निरादर कराकर, दानग्रहण करने की वृत्ति से भोजन आदि कभी नहीं करते हैं । जैनीपना ही दीनता रहित परम संतोष धारण करने में है ।

दातार को ऐसा आहार, औषधि, शास्त्र, वस्तिका आदि द्रव्य का दान देना चाहिये जिससे राग द्वेष नहीं बढ़े, मद नहीं बढ़े । जिससे मोह, काम, आलस्य, चिंता, असंयम, भय, दुख, अभिमान हो जाय वह द्रव्य दान में देना योग्य नहीं है । जिस द्रव्य के दान में देने से स्वाध्याय, ध्यान, तप, संतोष की वृद्धि हो वह द्रव्य दान में देने योग्य है । जिससे पात्र का दुःख मिट जाय, रोग नष्ट हो जाय, परिणाम का संक्लेश मिट जाय ऐसा द्रव्य दान में देना योग्य है ।

यहाँ दान में पाँच बातें विशेष जानना - दाता, देय, पात्र, विधि, और फल ।

दातार के विशेष गुण : दातार कैसा होना चाहिये ? सातगुणों का धारी होना चाहिये । धर्म में तत्पर पात्रों के गुणों के सेवन में लीन होकर पात्र को स्वीकार करना, प्रमाद रहित ज्ञान सहित शांत परिणामी होकर पात्र की भक्ति में प्रवर्तना, दातार का वह **भक्ति** गुण है । १ ।

दान देने में अत्यन्त आसक्त होकर पात्र की प्राप्ति को परम निधान के लाभ समान मानना, वह दातार का **तुष्टि** गुण है । २ ।

साधुओं को अपने द्वारा दान हो जाना इसलोक में तथा परलोक में परम कल्याण है, इस प्रकार परिणामों में गाढ़ प्रीति होना, वह दातार का **श्रद्धा** गुण है । ३ ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का भली प्रकार विचार करके योग्य भक्ष्य पदार्थ का दान देना, वह दातार का **विज्ञान** गुण है । ४ ।

दान देकर दान के प्रभाव से संसार सम्बन्धी धन, राज्य, ऐश्वर्य, विद्या मंत्र, यश, कीर्ति आदि फल नहीं चाहना, वह दातार का **अलोलुप** गुण है । ५ ।

जिसके पास धन थोड़ा हो तो भी दान में अधिक उत्साही हो, जिसके दान को देखकर बड़े-बड़े धनी पुरुष भी आश्चर्ययुक्त हो जायें, वह दातार का **सात्विक** गुण है । ६ ।

कलुषता होने का बड़े से बड़ा भी कारण आ जाय तो भी किसी पर रोष नहीं करना, वह दातार का **क्षमा** गुण है । ७ ।

मुनि, श्रावक तथा अव्रत सम्यग्दृष्टि - ये तीन प्रकार के पात्र हैं । उन्हें दान देने वाले उत्तम दातार में और भी अनेक गुण होना चाहिये । दातार को **विनयवान** होना चाहिये, विनय रहित का दिया दान निष्फल है । जिसके पास कुछ देने को नहीं हो तो विनय करना ही महादान है । सत्कार करना, प्रियवचन बोलना, स्थान देना, गुणों का स्तवन करना ये भी बड़ा दान है ।

धर्म में प्रीति हो, दान के अनुक्रम का ज्ञाता हो, दान के काल का ज्ञाता हो, जिनसूत्र का ज्ञाता हो, भोगों की इच्छा रहित हो, सब जीवों पर दयालु हो, रागद्वेष की मंदता हो, सार-असार को जाननेवाला हो, समदर्शी हो, इंद्रियों को जीतनेवाला हो, परीषह आने पर कायरता रहित हो, अदेखसका भाव रहित हो, स्वमत-परमत का ज्ञाता हो, प्रिय वचन सहित हो, व्रतियों के पवित्र गुणों से जिसका चित्त व्याप्त हो, लोक व्यवहार और परमार्थ दोनों को जाननेवाला हो, सम्यक्त्व आदि गुण सहित हो, अहंकार आदि मद रहित हो, वैयावृत्य में उद्यमी हो, ऐसा उत्तम दातार प्रशंसा योग्य है ।

धन की असारता : जिसके हृदय में निरन्तर ऐसा विचार रहता है - जो धन व्रतियों की सेवा में लग जाय, साधर्मी जनों के उपकार में, श्रावकों के आपदा दु:ख निवारने में, धर्म के बढ़ाने में, धर्म मार्ग के चलाने में लगेगा वह धन मेरा है । संसार के अन्य कार्यों में, विषय भोगों में, कुटुम्ब के विषय-कषाय साधने में जो धन खर्च होगा वह केवल बन्ध करनेवाला संसार समुद्र में डुबोनेवाला है ।

ये कुटुम्ब के लोग जो धन खा रहे हैं वे तो हिस्सेदार हैं, धन बांटनेवाले हैं, जबरदस्ती धन लूटनेवाले हैं, राग-द्वेष-क्रोधादि कषायें पैदाकर व्रत-संयम का घात करनेवाले हैं, मुझे पाप में प्रेरित करनेवाले हैं । मुझे भी इनके संयोग से ऐसा अज्ञान अंधकार छाया है जिसके कारण धर्म-अर्धम, न्याय-अन्याय, यश-अपयश कुछ भी दिखाई नहीं देता है ।अपने स्त्री-पुत्रादि के विषय साधने को अन्य निर्बल तथा भोले-अज्ञानी जीवों का धन ठगने में लूट लेने में परिणाम तुरन्त तैयार हो जाते हैं । इस कुटुम्ब को धन, वस्त्र, आभरण, भोजन आदि से तृप्त करने के लिये झूठ में, कपट में, चोरी में परिणाम निरन्तर लगे रहते हैं । इसलिये अब भगवान वीतराग के धर्म को पाकर कुटुम्ब के लिये धन कमाने के लिये अन्याय में - अनीति में प्रवर्तन नहीं करूँगा । न्यायमार्ग से जो धन कमाऊँगा उसी में से अपना, कुटुम्ब का तथा धर्म के लिये दान का विभाग करके जीवन के शेष दिन व्यतीत करूँगा ।

दान की प्रेरणा : ये धन, यौवन, जीवन क्षण भंगुर है, अवश्य जायगा । मरण अचानक आयगा, धन-संपदा, कुटुम्ब अआदि कोई साथ नहीं जायगा । मेरे दान, तप, शील आदि भावों से कमाया पुण्य अकेला परलोक में मेरा सहायी होकर साथ जायगा । यहाँ जो सभी प्रकार की सामग्री मिली है, वह तो पूर्व जन्म में जैसा दान दिया वैसी फली है । अब उसे दान देने में धर्मात्माओं की सेवा करने में, दु:खी-भूखे जीवों का उपकार करने में लगाऊँगा तो परलोक में सबप्रकार के सुख प्राप्त करूँगा, मोक्षमार्ग की सम्यग्ज्ञान आदि की सामग्री प्राप्त करूँगा ।

भोजन करना तो उसी का सफल है जो दानपूर्वक भोजन करता है। अपना पेट तो पशु भी भर लेते हैं। जिसके घर में पात्र दान होता है उसी का गृहस्थपना सफल है। दान बिना पशुओं के भी रहने योग्य बिल होते ही हैं, पक्षियों के घोंसले होते ही हैं। जैसे - समुद्र में जल भी बहुत है तथा रत्न भी बहुत हैं; परन्तु जल तो महा खारा है तथा मगरमच्छों से भरा होने से रत्न निकाल नहीं सकते, इसलिये रत्न व जल उपकार न कर सकने के कारण निष्फल हैं; उसी तरह कृपण धनवान का धन दूसरों का उपकार रहित होने से निष्फल ही है।

जिस गृहस्थ ने धन पाकर के साधर्मियों के उपकार में, दीन, अनाथों के सत्कार में नहीं खर्च किया वह धन उसका नहीं है। वह धन तो किसी अन्य पुण्यवान का है, यह तो उस धन का पुण्यवान की ओर से रखवाला है, चौकसी करता है। धन का असली मालिक तो कोई दूसरा ही पुण्यवान है, जो दान-भोग में लगावेगा। जिसके घर में पात्र आ जाय तथा देने को सामग्री भी हो फिर भी नहीं दिया जाय, तो उसके हाथ में आया हुआ चिन्तामणि रत्न नष्ट हुआ ही जानो।

जो धन को पाकर दान में नहीं लगाता है वह मूढ़ अपने आत्मा को ठगता है। जो धन को दान में लगाता है। वह उस धन का स्वामी है। जिसके परिणाम दान को देने में, पात्र को खोजने में निरन्तर लगे रहते हैं उससे दान नहीं भी हो पाये, तो भी उससे निरन्तर दान ही हो रहा है। ऐसा समझो। धन चाहे थोड़ा हो चाहे अधिक हो, पात्र को पाकर जो अति भक्तिपूर्वक दान देता है वही सच्चा दातार है। भक्ति रहित के दातापना नहीं होता है।

निर्दोष दान : जो अवसर छोड़कर अकाल में दान देते हैं उनका दान अकाल में बोये बीज के समान निष्फल चला जाता है। जो अपात्र को दान देते हैं उनका दान बंजर भूमि में बोये बीज के समान निरर्थक हो जाता है। दुष्ट को दिया दान सर्प को पिलाया दूध-मिश्री के समान दातार को संसार के घोर दुख, मरण, जलन देने को विष के समान फल देता है।

अपने भाग्यप्रमाण जितना धन मिले उतने में दान का हिस्सा निकालने का भाव करना चाहिये। ऐसा नहीं विचारना चाहिये कि - यदि मेरे पास अधिक धन होता तो अधिक दान करता। इस प्रकार दान करने के लिये अभिमानी होकर धन की वांछा नहीं करो। आपके लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जितना धन का लाभ हुआ हो उतने में ही संतोष धारण करके अधिक धन की वांछा नहीं करना वही बड़ा दान है।

अपने को जो न्यायपूर्वक धन प्राप्त हुआ है उसमें जिसका ऐसा परिणाम निरन्तर रहता है कि मेरे धन में से किसी के लिये कुछ काम आ जाय तो मेरा धन कमाना सफल है। अपने घर के खर्च में, लेने-देने में कोई मुझसे कुछ कमा ले तो ये ही मुझे बड़ा लाभ है। ऐसे परिणाम वाला दातार होना चाहिये।

जो भी दान दे वह हर्षित चित्त से दे। यदि दान तो दे किन्तु क्रोध करके, अपमान करके, तिरस्कार के वचन कहकरके, रोष करके, दूषण लगाकरके, दुखी होकरके दे तो उस दातार का इस

लोक में कलह और अपयश होता है, परलोक में अशुभ कर्म के फल से दारिद्र, अपमान आदि अनेक भवों तक प्राप्त होते हैं।

दान में न देने योग्य : अब जो देने योग्य नहीं ऐसा खोटा पदार्थ का दान कुदान ही है। कुदान नहीं देना चाहिये। भूमिदान देना योग्य नहीं है। उसमें हल, फावडे, खुरपा आदि द्वारा भूमि को खोदा जाने से बहुत हिंसा होती है; बहुत आरंभ, पंचेंद्रिय आदि सर्प, चूहा, हिरण, सुअर आदि बड़े-बड़े जीवों को अनाज का नुकसान करनेवाले समझकर मार डालते हैं। भूमि की ममता से भाई-भाई आपस में मार-पीट करके मरजाते हैं, तीव्र राग का कारण है ऐसे भूमिदान से महाघोर पाप का बंध जानो।

महाहिंसा का कारण जिससे अनेक प्रकार की हिंसा होती है ऐसे लोहे का दान महाकुदान जानकर उसे छोड़ना।

स्वर्णदान भी छोड़ना। जिसे प्राप्त करनेवाला नाश को प्राप्त हो जाय, मारा जाय, सदाकाल भयभीत बना रहे, संयम का नाश कर दे। इस धन से राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मद, भय, आरंभ आदि की प्रचुर उत्पत्ति होती है, आत्मा का स्वरूप विस्मरण हो जाता है। इसलिये वीतराग धर्म के इच्छुक को स्वर्णदान देने को पाप समझकर त्याग देना चाहिये।

करोड़ों त्रस जीवों की उत्पत्ति का कारण ऐसा तिल दान भी त्यागने योग्य है।

चक्की, चूल्हा, छाजला, बुहारी, मूसल, फावड़ा, दतीला, अन्न, तेल, दीपक, गुड़, रस इत्यादि महापाप सामग्री से भरे महाआरंभ मोह को उत्पन्न करानेवाले मकान के दान को धर्म मानकर मिथ्याधर्मी देते हैं, वे सब कुदान हैं।

जिस गाय को बांधने में हरी घास आदि चरने में, जिसके शरीर में छोटे-छोटे अनेक प्रकार के कीड़े, जीया, बुग आदि उत्पन्न होने में, मल में, मूत्र में असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, सीगों से मारने से, खुर पूँछ आदि से अनेक जीवों का घात करनेवाली गौ का दान वह कुदान है।

कुदान त्याग : संसार का बढ़ानेवाला महाबंधन करनेवाला जो कन्या का दान है वह कुदान है।

यहाँ कोई कहता है – कन्यादान किये बिना गृहस्थ कैसे रह सकता है ? यह तो ठीक है। गृहस्थ अपनी कन्या को विवाह योग्य कुल में उत्पन्न जिनधर्मी वर को उसका व्यवहार चतुराई आदि गुणों को देखकर कन्या देता है परन्तु, कन्यादान को धर्म तो नहीं श्रद्धान करता है, जिनधर्मी तो कन्यादान को पाप ही श्रद्धान करता है। जैसे गृहस्थी के अनेक आरंभ आदि पापबंध के कारण हैं उसी प्रकार कन्यादान भी पापबंध का कारण है, परन्तु यह तो विषयों का दण्ड है जो अंगीकार करने से ही चुकेगा।

अन्यमतवाले तो कन्यादान देने का बहुत बड़ा फल कहते हैं, लाख यज्ञ करने के बराबर फल कहते हैं, करोड़ ब्राह्मणों को भोजन कराने से अधिक, करोड़ गायें दान करने से अधिक फल कहते हैं; अन्य की कन्या का विवाह करा देने को भी बड़ा धर्म कहते हैं । जिनधर्म में तो इसको संसार परिभ्रमण का कारण कुदान कहा है ।

अन्य भी संसार समुद्र में डुबोनेवाले मिथ्यादृष्टि, लोभी, विषयों के लम्पटी लोगों द्वारा कहे कुदान त्यागने योग्य हैं । स्वर्ण की गाय, घृत की गाय, चांदी की गाय बनाकर दान में देते हैं तथा लेनेवाला भी घी की गाय को, तिल की गाय को, लपसी की गाय को, शक्कर की गाय को खा जाता है । सोने की गाय को, चांदी की गाय को कटाता है, आग में गलाता है (इसमें बहुत भाव हिंसा होती है) । गाय की पूँछ में तेतीस करोड़ देवता व अड़सठ तीरथ कहते हैं । दासी - दास का दान देते हैं, रथ दान देते हैं, संक्रांति-ग्रहण-व्यतीपात आदि मानकर दान देते हैं, **यह सब मिथ्यात्व का प्रभाव है ।**

कहते हैं कि - मृतक को तृप्त करने के लिये ब्राह्मण आदि को भोजन कराओ । विचार कर देखो ! ब्राह्मणों के जीमने से भोजन मृतक तक कैसे पहुँचेगा ? दान तो पुत्र देवे, पिता पाप से छूट जाय ? बहुत समय पहले के मरे हुए मनुष्य की हड्डी गंगा में डालने से मृतक का मोक्ष कैसे हो जाता है ? **गया में जाकर श्राद्ध करने से इक्कीस पीढ़ी का उद्धार होना कहते हैं ?** गया में पिण्डदान करने से दस पीढ़ी पिछली, दस पीढ़ी अगली, एक यह स्वयं - इस प्रकार इक्कीस पीढ़ी संसार में कुगति में पड़ी हुई, वहाँ से निकलकर वैकुण्ठ में जाकर रहने लगती हैं ? भविष्य में बेटा, पोता तथा उनकी संताने चाहि जितने पाप करें, गया में श्राद्ध या पिण्डदान इक्कीस पीढ़ी में से किसी एक ने कर दिया तो सब की मुक्ति हो जायेगी; इसलिये कोई पाप का भय नहीं करो ?

श्राद्ध में ब्राह्मणों को मांस भक्षण कराते हैं, मांस द्वारा देवताओं को तृप्त करते हैं । देवता, दुर्गा, भवानी को जीवों का, राक्षसों का, तिर्यंचों का खून पीने से बहुत तृप्त होना मानते हैं, देवियों को बकरा, भैंसा काटकर बलिदान करते हैं । पापी मनुष्य खोटे शास्त्र बनाकर अपने मांस भक्षण के लिये बहुत पाप कर्म करके स्वयं नरक के मार्ग पर जा रहे हैं तथा दूसरों को भी नरक पहुंचा रहे हैं । **जिव्हा इंद्रिय का लोलुपी–लोभी कौन घोर पाप कर्म नहीं करता है ?** वे पापी मनुष्यपना में स्यालनी, स्याल, कौआ, कुत्ता, व्याघ्र जैसा मांस भक्षण रूप आचरण करते हैं । जिनके ऐसे घोर पाप के शास्त्र उनके धर्म में और म्लेच्छों के धर्म में कोई अंतर नहीं है । ये वाक्य म्लेच्छों के हैं । वेद के वाक्यों का ऐसा अर्थ बतलाकर लोगों में अज्ञान पैदा कर के शिकार में धर्म बता दिया ।

जो जलचर, थलचर, नभचर जीवों के मारने में धर्म बताते हैं उन्होंने सारे जगत को भ्रष्ट किया है और कर रहे हैं । जिनका देवता मुण्ड माला पहिनता है, मांस खाने में तथा खून पीने में लीन है उसके सेवकों के पास की कथा का क्या कहना ? उन कुपात्रों को दान देना तो महादुख देनेवाला कुदान है । इस प्रकार कुदान के बहुत भेद हैं । कुदान के देने से तथा कुदान के लेने से नारक-

तिर्यंचों में बहुत जन्म-मरण करके निगोद में, एक इंद्रिय व विकलत्रय में अनंतकाल तक असंख्यात परिवर्तन करता है । ऐसा जानकर कुदान नहीं करो, कुपात्रदान नहीं करो ।

अब यहाँ सुपात्र दान का फल कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथिनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥११४॥

अर्थ :– गृह रहित अतिथि जो मुनि हैं उनकी प्रतिपूजा अर्थात् दानसम्मान आदि रूप जो उपासना है, वह गृहस्थ के षट्कर्मों द्वारा उपार्जित जो पाप कर्मरूप मल है, उसे दूर करके उसी प्रकार शुद्ध कर देती है, जैसे शरीर पर लगे हुए रुधिर रूप मल को जल धो देता है ।

भावार्थ :– गृहस्थ के नित्य ही आरंभ आदि द्वारा निरन्तर पाप का उपार्जन होता रहता है । उस पाप को धोने में एक मुनीश्वरों को दिया दान ही समर्थ है । जैसे रुधिर लग गया हो तो वह रुधिर से नहीं धुलता है, जल से धुलता है; उसी प्रकार गृहस्थी के आरंभ से उत्पन्न पापमल गृह के त्यागी साधुओं को दिये गये दान से धुलता है ।

अब दान का विशेष फल कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

उच्चैर्गोत्रं प्रणतर्भोगो दानादुपासनात्पूजा
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५॥

अर्थ :– तप के निधान, साम्यभाव के धारक, बाईस परिषहों को सहने वाले, अपनी देह से निर्ममत्व, पाँच इंद्रियों के विषयों से अत्यन्त विरक्त, अभिमान कषाय आदि रहित, आत्म विशुद्धता के इच्छुक ऐसे उत्तमपात्र जो मुनिराज हैं उन्हें प्रणति अर्थात् नमस्कार करने से स्वर्गलोग में जन्म, स्वर्ग से आकर तीर्थंकर रूप में जन्म, चक्रीरूप में जन्म रूप उच्चगोत्र को तथा सिद्धों की सर्वोत्कृष्ट उच्चता को प्राप्त होते हैं ।

उत्तमपात्र को दान देने से भोगभूमि के भोग, देवलोक के भोग, फिर राजा आदि के भोग, फिर अहमिंद्र लोक के भोग पाकर, तीर्थंकर चक्रीपना पाकर, निर्वाण के अनन्त सुख के भोग को प्राप्त करते हैं । उत्तम पात्र जो साधु हैं उनकी उपासना करने से तीन लोक में पूज्य केवली हो जाते हैं । उत्तमपात्र जो साधु हैं उनकी भक्ति करने से सुन्दररूप जो केवलज्ञान का रूप वह प्राप्त हो जाता है ।

उत्तमपात्र जो साधु हैं उनका स्तवन करने से तीन लोक में फैल जानेवाली कीर्ति, इंद्र आदि द्वारा स्तवन कीर्तन को प्राप्त हो जाते हैं ।

अब दान का विशेष प्रभाव कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

क्षितिगतमिववटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम ॥११६॥

अर्थ :– समय पर सत्पात्र को दिया गया दान थोड़ा भी हो तो सुन्दर पृथ्वी में बोये गये वट के बीज के समान प्राणियों को छाया अर्थात् महात्म्य, ऐश्वर्य तथा विभव अर्थात् भोगोपभोग की सम्पदारूप वांछित बहुत फल देता है । अत: पात्रदान का अचिन्त्य फल है । पात्रदान के प्रभाव से सम्यक्त्व ग्रहण हो जाता है सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि भी पात्रदान के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि में जाकर उत्पन्न हो जाता है ।

कैसी है भोगभूमि ? जहाँ तीन पल्य की आयु, तीन कोश ऊँचा शरीर, अद्‌भुत सुन्दर रूप, समचतुरस्र संस्थान, महाबल-पराक्रमयुक्त मनुष्य होते हैं । स्त्री-पुरुषों का युगल उत्पन्न होता है । तीन दिन बीतने पर जब कभी कुछ आहार की इच्छा होती है तब बेर के बराबर आहार करके क्षुधावेदना रहित हो जाते हैं । दश प्रकार के कल्प वृक्षों से प्राप्त इच्छित भोगों को भोगते हैं । जहाँ शीत-उष्णता का कष्ट नहीं है, वर्षा का कष्ट नहीं है, दिन-रात्रि का भेद नहीं है, सदा उद्योतरूप अंधकार रहित समय चलता है । शीतल, मंद, सुगंध पवन निरंतर बहती है, भूमि में धूल, पत्थर, तृण, कांटे, कीचड़ आदि नहीं होते हैं, स्फटिक मणि के समान भूमि है । वहाँ पर जीवन भर रोग नहीं, शोक नहीं, बुढ़ापा नहीं, क्लेश नहीं होता । जहाँ सेवक नहीं, स्वामी नहीं, स्व-पर चक्र का भय नहीं, षट्कर्म रूप आजीविका नहीं करनी पड़ती है ।

कल्प वृक्ष : कल्पवृक्ष दश प्रकार के हैं - तूर्यांग १, पात्रांग, २, भूषणांग ३, पानांग ४, आहारांग ५, पुष्पांग ६, ज्योतिरांग ७, गृहांग ८, वस्त्रांग ९, दीपांग १० ।

तूर्यांग जाति के कल्पवृक्ष तो बांसुरी, मृदंग इत्यादि कर्ण इंद्रिय को तृप्त करनेवाले बाजे देते हैं । १ ।

पात्रांग जाति के कल्पवृक्ष रत्न स्वर्णमय अनेक प्रकार के नेत्रों को आनंदकारी कलश, दर्पण, झारी, आसन, पंलग आदि समस्त प्रकार के पात्र देते हैं । २ ।

भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष अनेक प्रकार के आभूषण क्षण-क्षण में पहिनने योग्य हार, मुकुट, कुण्डल, अंगूठी आदि अंगों को भूषित करनेवाले वा महल को, द्वार को, शैया को, आसन को, भूमि को भूषित करनेवाले अनेक आभूषण देते हैं । ३ ।

पानांग जाति के कल्पवृक्ष नाना प्रकार का पीने के योग्य शीतल सुगंधित जल देते हैं । ४ ।

आहारांग जाति के कल्पवृक्ष अनेक स्वादरूप अनेक प्रकार के आहार देते हैं, परन्तु वहाँ भूख का कष्ट ही नहीं होता है अत: रोग के बिना औषधि को कौन लेवे ? भोगभूमि के जीवों को प्रतिदिन भूख नहीं लगती । तीन दिन बीत जाने के बाद बेर के बराबर थोड़ा सा भोजन कर लेते हैं । ५ ।

पुष्पांग जाति के कल्पवृक्ष अनेक प्रकार के बहुत कोमल सुगंधित फूलों की माला, आभूषण आदि देते हैं । ६ ।

ज्योतिरांग जाति के कल्पवृक्षों के प्रकाश से सूर्य-चंद्रमा दिखाई ही नहीं देते हैं । सूर्य के प्रकाश से कई गुना अधिक प्रकाश इनका होता है । वहाँ इसी कारण रात्रि-दिन का भेद ही नहीं है । ७ ।

गृहांग जाति के कल्पवृक्ष चौरासी खण्ड तक के सुंदर चित्र-विचित्र रत्नों से शोभायमान अनेक प्रकार के महल देते हैं । ८ ।

वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्ष अनेक प्रकार के इच्छानुसार पहिनने योग्य वस्त्र, शैया, आसन, बिछावन आदि देते हैं । ९ ।

दीपांग जाति के कल्पवृक्ष अंधकार नहीं होने पर भी दीप मालिका की शोभा फैलाये रखते हैं । १० ।

भोगभूमि में स्त्री-पुरुषों के युगल के मरण समय में पुरुष को छींक व स्त्री को जिम्हाई आती है, उसी समय में युगल संतान उत्पन्न हो जाते हैं । संतान को माता-पिता नहीं दिखते, और माता-पिता संतान को नहीं देख पाते हैं, अतः उन्हें वियोग का दु:ख नहीं है । मरण होने के बाद शरीर शरद ऋतु के बादलों के समान विला जाता है ।

युगलिया उत्पन्न होने के बाद प्रथम-सात दिन तो अपना अंगूठा चूसते हैं । उसके बाद दूसरे-सात दिन तक औंधे-सीदे पलटते रहते हैं । तीसरे-सात दिन अस्थिर गमन करने लगते हैं । चौथे-सात दिनों में स्थिर गमन करने लगते हैं । पांचवे-सप्ताह में बढ़कर परिपूर्ण युवा हो जाते हैं । छटवें-सप्ताह में सभी दर्शन और विज्ञान समझने लगते हैं । सातवें-सप्ताह में सभी प्रकार की चातुर्यता तथा कलायें सीख जाते हैं । इस तरह से उनंचास दिनों में परिपूर्ण होकर अनेक पृथक-विक्रया अपृथक-विक्रिया सहित अनेक प्रकार के महल, मंदिर, वनों में विहार करते हुए क्षण-क्षण में अनेक प्रकार के नये-नये विषयों की सामग्री भोगते हुए अनेक सुखरूप, क्रीडायें, रागरंग आदि चेष्टायें करते हुए तीन पल्य की आयु पूर्ण करके मरण समय में छींक-जिम्हाई मात्र से प्राण त्याग देते हैं । सम्यग्दृष्टि हों तो सौधर्म ईशान स्वर्ग में जाते हैं; मिथ्यादृष्टि हों तो मरण करके भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं । मंद कषाय के प्रभाव से देवलोक के सिवाय अन्य गति में नहीं जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि हो, श्रावक के व्रत पालता हो तथा पात्रदान देता हो तो सोलहवें स्वर्ग तक महान ऋद्धिधारी देवों में ही उत्पन्न होता है ।

पात्र के भेद : आगम में पात्र तीन प्रकार के कहे हैं - उत्तमपात्र, मध्यमपात्र, तथा जघन्यपात्र। **उत्तमपात्र** तो महाव्रतों के धारक, अट्ठाईस मूलगुण तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों के धारक, देह से निर्ममत्व, वीतरागी साधु हैं । **मध्यमपात्र** ग्यारह प्रतिमाओं के भेदरूप श्रावक सम्यग्दृष्टि व्रत सहित होते हैं । स्त्री पर्यायमें व्रतों की सीमा तक को धारण करनेवाली, एक वस्त्र के सिवा अन्य समस्त परिग्रह रहित, पर के घर एक-बार याचना रहित मौन पूर्वक भिक्षा भोजन करने वाली, आर्यिकाओं के संघ में धर्मध्यान सहित महातपश्चरण करनेवाली आर्यिका मध्यमपात्र हैं । तथा अणुव्रत व सम्यग्दर्शन सहित पुरुष व स्त्री **जघन्यपात्र** हैं ।

इन तीन प्रकार के पात्रों में चार प्रकार का दान देना, सत्कार करना, स्थान दान देना, आदर करना, यथायोग्य स्तवन, पूजा, प्रशंसा आदि के वचन बोलना, उठकर खड़े हो जाना, उच्च मानना वह सब दान है ।

अब चार प्रकार के दान कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥

अर्थ :– चतुरस्र अर्थात् जो प्रवीण ज्ञानी हैं वे आहारदान, औषधिदान, उपकरणदान व आवासदान ये चार प्रकार के दान करके वैयावृत्य को चार प्रकार का कहते हैं ।

इस प्रकार गृहस्थ के चार प्रकार का दान करना कहा है । अभयदान की प्रधानता तो छह काय के जीवों की कृत-कारित-अनुमोदना से विराधना के त्यागी दिगम्बर मुनिराजों के होती है । श्रावकों के भी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा के त्याग से अभयदान ही है । परन्तु अभयदान की मुख्यता तो आरम्भ के त्याग से तथा विषयों की अत्यन्त पराङ्मुखता से होती है । जब तक गृह कार्यों से, सम्पदा से, न्यायरूप विषयों से परिणाम विरक्त नहीं होते तब तक आहार आदि चार प्रकार के दान करके पापों का नाश करो ।

संपत्ति की अस्थिरता : सम्पत्ति, आयु, काय, अत्यन्त अस्थिर है । गृहस्थ दशा तो दान से ही पूज्य है । आहार आदि दान बिना गृहस्थपना तो पाप के आरंभ के भार से पाषाण की नाव के समान केवल संसार समुद्र में डुबोनेवाला है ।

ज्ञानी गृहस्थ विचार करता है – यह धन जो मैंने कमाया है, पिता आदि का रखा हुआ मुझे बिना कष्ट के प्राप्त हो गया है तथा राज्य, ऐश्वर्य, देश, नगर, आभरण, वस्त्र, स्त्री, सेवकों का समूह सब बिना खेद ही मुझे प्राप्त हो गया है, वह सब पूर्व जन्म में दान दिया, दुखी जीवों का पालन पोषण किया था उसके फल है । पर के धन में स्वप्न में भी चित्त नहीं चलाया, परम संतोष धारणकर विषयों से विरक्त होकर निर्वांछकता धारण की उसका फल है । दीन, दुःखी, रोगी, असमर्थ, बालक, वृद्धों की दया धारणकर उपकार किया उसका फल यह सम्पति का मिलना है ।

दो दिन ही इस सम्पत्ति का संयोग है, परलोक साथ में नहीं जायगी, जमीन में गड़ी रहेगी, दूसरे देश में रखी रह जायगी, दूसरे के पास ही रह जायगी, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब के भागीदार मालिक बन जायेंगे, राजा लूट लेगा, तथा मैं अचानक मर कर दुर्गति में चला जाऊँगा । मैंने यह धन सैकड़ों दुर्ध्यान करके, महापाप के आरंभ करके, अनेक देशों में-क्षेत्रों में भ्रमण करके, बड़े कष्ट और कपट से कमाया था, प्राणों से भी अधिक इसकी रक्षा की, अब कैसे इस धन को छोड़कर मर जाऊँ ? ऐसा विचार करना उचित नहीं है ।

जगत में देखो ! यदि लाखों का धन हो, तो भोगने में सभी नहीं आ जाता है, भोगने में तो आधा सेर अन्न आता है । तृष्णा ऐसी बढ़ती जाती है कि अब और धन बढ़ा लूँ ; अहो ! अन्य के पास तो पचास लाख धन हो गया, मेरे पास तो पांच लाख ही है; अब और धन कैसे बढ़ाऊँ? कौन आरंभ करूं, कौन उपाय करूँ, कौन राजादि को प्रसन्न करूँ, कौन व्यापार करूँ, किससे मित्रता

करूँ जिसकी सलाह से मुझे धन की कमाई जो हाय, किस सेवक को अपने यहाँ काम करने को रख लूँ जो मेरा थोड़ा धन खाय तथा बहुत धन कमाकर दे ?

ऐसे हजारों दुर्ध्यान करता हुआ संसारी जीव समस्त, राज्य, ऐश्वर्य छोड़कर महामूर्च्छा से अतिरौद्र परिणामों से मरकर नरक के घोर दु:ख भोगता है । संसार में अनंत दु:खरूप परिभ्रमण करता हुआ क्षुधा, तृषा, रोग, दारिद्र को भोगता हुआ अनंतकाल व्यतीत करता है ।

अब इस घोरकाल में, कोई कुछ मोह निद्रा के उपशम होने से जिनेन्द्र भगवान् के वचन से, कोई अत्यन्त विरले पुरुष सचेत होकर, अपने हित का विचार करते हुए, चार प्रकार के दानों में प्रवर्तन करते हैं ।

आहारदान : दानों में आहारदान प्रधान है । इस जीव का जीवन आहार से है । करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का दान भी आहारदान के समान नहीं है । आहार से ही देह रहती है, देह से रत्नत्रय धर्म पलता है, रत्नत्रय धर्म से निर्वाण होता है । निर्वाण में अनन्त सुख है । त्यागी निर्वांछक साधुओं का उपकार तो एक आहार दान से ही है । वे तो आहार के सिवाय अन्य कुछ तिल-तुष मात्र भी अंगीकार नहीं करते हैं । आहार के बिना शरीर नहीं रहता, अनेक रोग हो जाते हैं । आहार बिना ज्ञानाभ्यास नहीं होता, व्रत, संयम, तप एक भी नहीं पलते । आहार बिना सामायिक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, ध्यान एक भी नहीं होता है । आहार बिना परमागम का उपदेश नहीं होता है, आहार बिना उपदेश ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाता है ।

आहार बिना कांति नष्ट हो जाती है, बुद्धि नष्ट हो जाती है, कीर्ति, क्षांति, शांति, नीति, प्रीति, प्रतीति, गति, रति, उक्ति, शक्ति, द्युति आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं । आहार बिना समभाव, इंद्रिय दमन, जीवदया, मुनिश्रावक के धर्म विनय में प्रवृत्ति, न्याय में प्रवृत्ति, तप में प्रवृत्ति, यश में प्रवृत्ति, सब नष्ट हो जाते हैं ।

आहार बिना वचन की प्रवीणता नष्ट हो जाती है, शरीर का वर्ण बिगड़ जाता है, शरीर में-मुख में दुर्गन्धता हो जाती है, शरीर जीर्ण हो जाता है, सभी क्रियायें नष्ट हो जाती हैं । आहार नहीं मिले तो अपने प्यारे पुत्र-पुत्री-स्त्री को बेच देता है । आहार बिना नेत्रों से देखने को समर्थ नहीं हो पाता, कानों से सुनने को, नासिका से गंध ग्रहण करने को, स्पर्शन इंद्रिय से स्पर्श करने को समर्थ नहीं हो पाता है ।

आहार बिना समस्त चेष्टा रहित मृतक समान हो जाता है । आहार बिना मरण हो जाता है। आहार बिना चिंता, शोक, भय, क्लेश, समस्त संताप प्रकट हो जाते हैं । आहार बिना दीनता हो जाती है, संसारी लोग अपमान करते हैं । ऐसे घोर दु:ख, दुर्ध्यान को दूर करनेवाला जिसने आहारदान दिया उसने समस्त व्रत संयम में प्रवृत्ति कराई, समस्त रोगादि दूर किये । अत: आहारदान समान कोई उपकार नहीं है ।

औषधिदान : रोग का नाश करनेवाली प्रासुक औषधि का दान श्रेष्ठ है । रोग से व्रत-संयम बिगड़ जाता है, स्वाध्याय, ध्यान आदि सभी धर्म कार्यों का लोप हो जोता है । रोगी से सामायिक आदि आवश्यक नहीं बन सकते हैं । रोग से निरन्तर आर्तध्यान होता है, मरण बिगड़ जाता है । रोगी को दिन-प्रतिदिन संक्लेश बढ़ता है । रोगी आपघात करना चाहता है, पराधीन हो जाता है, मन-इंद्रियाँ चलायमान हो जाते हैं, उठन-बैठना सोना-चलना बहुत कठिन हो जाता है । स्वास के साथ कष्ट बढ़ता जाता है, क्षणधर को चैन नहीं पड़ती है । **बहुत क्या कहें ?** रोगी को खाना, पीना, बोलना, चलना, देना, लेना, सोना, उठना, बैठना सभी कार्य जहर पीने के समान कष्ट देनेवाले हो जाते हैं। अतः प्रासुक औषधिदान देकर रोग मिटाने के समान कोई उपकार नहीं है । रोग मिटने पर ही आहार आदि किया जा सकता है, रोग रहित होने पर ही तप, व्रत, संयम, ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि सभी किये जा सकते हैं ।

ज्ञानदान : ज्ञानदान समान जगत में उपकार दूसरा नहीं है । ज्ञान बिना मनुष्य जन्म में भी पशु के समान है । ज्ञानाभ्यास बिना अपना तथा पर का ज्ञान नहीं होता है । ज्ञान बिना इसलोक-परलोक का जानना कैसे हो ? ज्ञान बिना धर्म का स्वरूप, पाप का स्वरूप, करने योग्य, नहीं करने योग्य का विचार नहीं होता है । ज्ञान बिना देव-कुदेव का, गुरु-कुगुरु का, धर्म-कुधर्म का जानना नहीं होता है ।

ज्ञान बिना मोक्ष मार्ग नहीं, ज्ञान बिना मोक्ष नहीं । ज्ञान रहित मनुष्य में और पशु में भेद नहीं रहता है । इंद्रियों को पोषना, कामसेवन करना तो तिर्यंचों के भी होता है । मनुष्य जन्म तो ज्ञान ही से पूज्य है । जिसने ज्ञान दान दिया उस पुरुष ने समस्त दान दिया । परमोपकार तो ज्ञानदान ही है।

वस्तिकादान : वस्तिकादान अर्थात् स्थानदान । शीत, उष्ण, वर्षा, हवा आदि की बाधा से रहित, ध्यान-स्वाध्याय की सिद्धि का कारण ऐसा स्थान का दान श्रेष्ठ है ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना – उत्तम पात्र जो परम दिगम्बर महामुनि उनका समागम तो किसी महाभाग्यवान पुरुष को कभी होता है । जैसे जगत पत्थरों से बहुत भरा है, परन्तु चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है; वैसे ही वीतरागी साधु का मिलना दुर्लभ है । फिर आहारदान होना अति ही दुर्लभ है । **आहार भी साधु के निमित्त नहीं बनाया गया हो; साधु सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष, इस प्रकार वियालीस दोष तथा प्रमाण १, संयोजन २, धूम्र ३, अंगार ४, कुल छियालीस दोष बत्तीस अंतराय, चौदह मल दोष टालकर एक बार भोजन करते हैं** । आधा पेट भोजन से भरते हैं, चौथाई पेट जल से भरते हैं तथा शेष चौथाई भाग खाली रखते हैं । ऐसा आहार भी कभी एक उपवास की पारणा में, कभी दो उपवास की पारणा में, कभी तीन उपवास की पारणा में, कभी पंद्रह दिन के पक्षोपवास की पारणा में, कभी एक माह के उपवास की पारणा में अयाचीक वृत्ति से नवधा भक्ति द्वारा दिया हुआ भोजन किसी बहुत पुण्यवान के घर होता है ।

अयाचीक वृत्ति धारण किये मौन सहित मुनीश्वर को औषधिदान देना भी दुर्लभ है । किसी गृहस्थ ने अपने निमित्त प्रासुक औषधि बनाई हो तथा अचानक मुनिराज का समागम हो जाय, तथा शरीर की चेष्टा से बिना कहे ही रोग को जानकर योग्य औषधि होय तो दे देवे । अतः साधु को औषधि का दान देना भी दुर्लभ है ।

शास्त्रदान भी योग्य पुस्तक, इच्छा होय हो, जब तक पढ़ना हो तब तक के लिये लेते हैं, पश्चात् पढ़कर वन में या वन के चैत्यालय में रखकर चले जाते हैं । मुनीश्वरों को वस्तिका का दान देना भी दुर्लभ है । दिगम्बर मुनि एक स्थान में रहते नहीं है, कभी तो वे पर्वतों की गुफा में, कभी भयंकर वन में, कभी नदियों के पुलों में ध्यान-अध्ययन करते रहते हैं ।

कोई कभी ग्राम के बाहर की वस्तिका में एक दिन, नगर के बाहर की वस्तिका में पांच दिन, वर्षा ऋतु में चार महिना एक ही स्थान में रहते हैं । कभी किसी साधु के समाधिमरण का प्रसंग आ जाय तो माह-दो माह एक स्थान पर रह जाते हैं । **अन्य किसी कारण से जैन का दिगम्बर साधु एक स्थान में नहीं रहता है** । कोई कभी एकरात्रि-दोरात्रि भी निर्दोष प्रासुक वस्तिका में रह जाता है ।

वस्तिका कैसी होना चाहिये ? साधु के निमित्त से नहीं बनवाई गई हो, उनके निमित्त बुहारी नहीं हो, मुनिराज के आ जाने के बाद धोना नहीं चाहिये, उजालदान खोलना नहीं, खिड़की बंद हो तो खोले नहीं, किराये पर लेना नहीं, बदले में अपनी वस्तिका देकर दूसरे की लेना नहीं, मांग कर लेना नहीं, राजा का भय दिखाकर लेना नहीं, इत्यादि छियालीस दोष रहित वस्तिका होना चाहिये। जीर्ण वन में हो, ऊजड़ ग्राम का मकान हो जहाँ असंयमीजनों का आना-जाना नहीं हो, स्त्री-नपुंसक-तिर्यंचों का आना नहीं हो, जीव विराधना रहित हो, अंधेरा नहीं हो, वहाँ साधुजन एक रात्रि, दो रात्रि कभी बस जाते हैं । जो अनेक देशों में विहार करते हैं उनको वस्तिका का दान देना बहुत दुर्लभ है । अतः उत्तमपात्र को दान हो जाना अति दुर्लभ है ।

उत्तमपात्र की दुर्लभता : **इस पंचमकाल में वीतरागी भावलिंगी साधु कोई विरला ही देशान्तर में रहता है**, उनकी प्राप्ति होती नहीं । पात्र का मिल जाना तो चतुर्थकाल में ही बड़े भाग्य से होता था, परन्तु उस समय इस क्षेत्र में पात्र तो बहुत थे । अब इस दुखमकाल में यथावत् धर्म के धारक उत्तमपात्र कहीं देखने में नहीं आते हैं । धर्म रहित, अज्ञानी, लोभी बहुत विचरते हैं, वे अपात्र हैं । **इस काल में धर्म प्राप्त करने वाले गृहस्थ, जिनधर्म के धारक श्रद्धानी भी कोई कहीं-कहीं मिलते हैं** ।

वीतराग धर्म को सुनकर कुधर्म की अराधना दूर से ही छोड़कर, नित्य ही अहिंसा धर्म के धरनेवाले, जिन वचनामृत के पान करनेवाले, शीलवान, संतोषी, तपस्वी हैं वे ही पात्र हैं । अन्य भेषधारी तो बहुत विचर रहे हैं ।

जिनको मुनि-श्रावक के धर्म का, सच्चे सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान ही नहीं है वे कैसे पात्रपना प्राप्त कर सकते हैं ? मिथ्यादर्शन के भावों सहित, आत्मज्ञान रहित, लोभी बनकर जगत में धन आदि के तथा मिष्ट आहार के इच्छुक होकर बहुत घूम रहे हैं, वे सब अपात्र हैं; इसलिये पात्रदान होना अति दुर्लभ ही है ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना : प्रथम तो इस कलिकाल में भावलिंगी मुनीश्वर तथा अर्जिका व क्षुल्लक का समागम है ही नहीं । यदि कदाचित् चिंतामणि रत्न के समान किसी महाभाग्यवान पुरुष को उन्हें दान देने का अवसर मिले तो आधा सेर अन्न का भोजन मात्र उनके लिये देना चाहिये। यदि क्षुल्लक या अर्जिका के वस्त्र कभी जीर्ण हो जांय तो अर्जिका तो एक सफेद वस्त्र ही ग्रहण करके पुराना वस्त्र वहीं छोड़ जाय, तथा क्षुल्लक एक लंगोटी एक सफेद ओछा वस्त्र जिससे सम्पूर्ण शरीर नहीं ढक सके ऐसा थोड़े मोल का लेकर पुराना वस्त्र वहाँ ही छोड़ जाय, अन्य तिल-तुष मात्र भी ग्रहण नहीं करते ।

धन का सदुपयोग करो : ऐसे सुपात्रों को दान देने में कुछ भी धन खर्च नहीं होता है । बिना न्योता बिना बुलाया कभी अचानक आ जाय तो गृहस्थ अपने स्वयं के लिये बनाये रूखे या चिकने भोजन में से दान का हिस्सा निकाल कर दे देता है ।

धनवान लोग अपने धन को किस कार्य में लगाकर सफल करें ? यदि भोगों में लगाते हैं तो भोग तो तृष्णा के बढ़ानेवाले हैं, इंद्रियों को विकल करनेवाले हैं, महापाप में प्रवर्तन कराकर नरक आदि कुगति को प्राप्त कराते हैं, जीव का हित-अहित जानने के ज्ञान को लुप्त कर देते हैं। यदि मोहवश पुत्र आदि को दे देते हैं तो पुत्र आदि तो ममता को बढ़ानेवाले हैं, बिना दिये ही सर्वस्व ले लेंगे । बहुत पापाचार करके, दुर्ध्यान से, सम्पदा में ममता धारण करके, धर्म का विध्वंस करके सम्पदा बढ़ाई है- कमाई है तो उसका आधा हिस्सा तो धर्म के लिये, दया के जो पात्र हों उन्हें देकर अपना हित करो । सम्पदा छोड़कर परलोक जाओगे, वहाँ से पुत्र, पौत्र आदि को देखने को कैसे आओगे ?

कुटुम्ब का सम्बन्ध तो तुम्हारे इस चर्ममय मुख, नासिका, नेत्र आदि रूप शरीर से है । इसको तो जलकर राख हो जायगी तथा मिट्टी में मिल जायगी । कुटुम्ब तुम्हें अन्य पर्याय में देखने आता नहीं है, तुम कुटुम्ब को देखने आते नहीं हो क्योंकि जिन नेत्र, कर्ण आदि के द्वारा तुम कुटुम्ब को जानते हो उन नेत्रादि की तो राख बनकर उड़ जायगी, तब तुम कुटुम्ब को कैसे जानोगे ? पुत्रादि कुटुम्ब का सम्बन्ध तुम्हारे शरीर के चाम से है, तुम्हारे आत्मा से नहीं है, तुम्हारे आत्मा को तो वे जानते ही नहीं हैं । जब तुम्हारे शरीर के चाम की राख उड़ जायगी, तब कुटुम्ब के लोग तुमसे कहाँ सम्बन्ध करेंगे, कैसे मिलेंगे ?

इसलिये हे ज्ञानीजनो ! जीवन थोड़ा है, पुत्र आदि का सम्बन्ध भी थोड़े समय को है, संसार में कोई शरण देनेवाला नहीं है, अकेला एक धर्म ही शरण है । यह धन है, वह भी तुम्हारा नहीं

है । किसी पुण्य के प्रभाव से दो दिन इसका स्वामीपना स्वीकार करके छोड़कर मर जाओगे । यह धन साथ नहीं जायेगा । पुत्र के ममत्व से महादुराचार करके यह धन संग्रह कर रहे हो, उस धन के ममत्व तथा पुत्रादि के ममत्व से संसार में अपने को भूलकर नरक जा पहुँचोगे; तथा अनेक पर्यायों में दीन दरिद्री होकर विचरण करोगे ।

प्रत्यक्ष देखते हैं – हजारों अन्न-अन्न करते मर जाते हैं, दरिद्री-रंक होकर घर-घर के दरवाजे पर फिरते हैं, दीनता दिखाते हैं; फिर भी उनकी ओर कोई देखता ही नहीं है, कोई उनकी सुनता ही नहीं है । यह सभी प्रभाव पूर्व जन्मों में धन से तीव्र ममता बांधकर, कृपण होकर धन संग्रह किया था, उसका फल है ।

तुम्हारे पास वैभव, सम्पदा, रत्न, स्वर्ण, चाँदी आदि है; तथा रसों सहित भोजन, शीलवंती, रूपवंती राग-रसभरी स्त्रियों का मिलन, आज्ञाकारी प्रवीण सुपुत्र, हित में सावधान कार्यसाधक चतुर सेवक, बहुत लम्बे चौड़े ऊँचे महलों में-मकानों में निवास, इत्यादि जो सामग्री पाई है वह पूर्वजन्म में कोई दान दिया था उसका फल है। दान के प्रभाव से भोगभूमि में जन्म तथा स्वर्ग के विमानों का स्वामीपना होता है, जहाँ असंख्यात काल तक सुख भोगने को मिलता है । यहाँ की तुच्छ संपदा, काय क्लेश सहित महा मलिन शरीर आदि उसके सामने क्या चीज हैं ? और ऐसी सम्पदा भी तुम्हारे यहाँ स्थिर नहीं रहेगी ।

तुम्हारा विचार ऐसा है – यह हमारी लक्ष्मी है, हमारे कुल में चली आ रही है, हम बुद्धिहीन नहीं हैं जो हमारी लक्ष्मी नष्ट हो जायगी । जो मूर्ख बुद्धिहीन होकर भूलें करते हुए चलते हैं उनकी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है ? **ऐसा तुम्हारा भ्रम है । वह मिथ्यादर्शन के उदय के जोर से बड़ा भ्रम है तथा अनंतानुबंधी कषाय के उदय से अभिमान है, वह थोड़े दिनों में ही नरक का नारकी बना देगा ।**

अतः हे आत्मन् ! यदि तुम्हें जिनेन्द्रदेव के वचनों का श्रद्धान है, धर्म से प्रीति है तथा दुःखी जीवों को देखकर दया आती है तो हृदय में **ऐसा सही विचार करो** – मैं मूढ़ आत्मा ने, धन से ममता करके पुराने पैत्रिक धन की तो बड़े प्रयत्न से रक्षा की है, तथा नया भी बहुत धन कमाया है । धन कमाने के लिये मैंने बहुत क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि दुःख भोगे हैं, तथा अनेक आरंभ, व्यापार, राजसेवा, विदेश गमन, समुद्र प्रवेश इत्यादि किये हैं । अधर्मी म्लेच्छ आदि को अनुकूल करने में, राजी करने में, बहुत निंदनीय कार्य करना पड़े हैं, जिस-तिस प्रकार से धन पैदा किया है। अब मरण तो अचानक आयेगा, धन बचा नहीं सकेगा ।

इसलिये अब मुझे **अन्याय से, अनीति से तथा पाप के धंधों से, पापियों की सेवा करने से, कपट के अनेक तरीकों से धन पैदा करने का शीघ्र ही त्याग करना चाहिये ।** न्याय से कमाया हुआ जो धन है उसमें मर्यादा बांधकर रहना है, एवं जिनका धन उन्हें भूल में डालकर गलती से अपने पास रख लिया है उस धन को उन्हें वापिस देकर क्षमा मांगना है ।

जो धन अपने पास बचा है, उस में से पुत्रादि के हिस्से का धन तो पुत्रादि को देकर अलग करना, तथा दान के लिये धन अलग रखकर उसे दूसरों के उपकार में, धर्म की प्रवृत्ति के लिये, दान देने में खर्च करना चाहिये। जो नया धन पैदा हो उसमें भी चतुर्थ भाग, छठा भाग, आठवाँ भाग तथा कम से कम दसवाँ भाग तो पुण्य-दान-धर्म के कार्यों में धनवानों को तथा निर्धनों को सभी को ही दान का हिस्सा अलग रखकर खर्च करना चाहिये। जिसका पेट भी पूरा नहीं भरता हो, आधा चौथाई पेट ही भोजन आदि मिलता है, उसे भी दान-पुण्य-धर्म का हिस्सा उत्कृष्ट चौथाई भाग, जघन्य दशवाँ भाग, मध्यम छठाँ या आठवाँ भाग अलग रखकर दुःखी, भूखे लोगों को व जिनपूजन आदि कार्यों में देना-खर्च करना श्रेष्ठ है। **दान बिना गृह श्मशान है, पुरुष मृतक है, कुटुम्बी गृद्ध पक्षी के समान हैं,** जो इसके धन रूपी मांस को निकाल-निकाल कर खाते हैं।

जो धनवान गृहस्थ होते हैं वे जैनियों की अनेक प्रकार से सुरक्षा पालना करते हैं। जो धर्म में शिथिल हो रहे हों उन्हें धनी पुरुष आदर देकर, मीठे वचन बोलकर धर्म में दृढ़ कर देते हैं।

कितने ही अपनी समाज के लोग काम नौकरी करने योग्य होवें तो उन्हें काम देना, उनसे काम भी लेना तथा उनके भरण पोषण की व्यवस्था भी कर देना चाहिये। कितने ही स्वयं कमाकर धन पैदा करने योग्य हों उन्हें पूंजी का सहारा देकर धन भी बनाये रखते हैं, तथा उसे पाँच-पचास रुपया की आमदनी करा देते हैं। कितने ही को अपने व्यापार में शामिल करके उनके निर्वाह योग्य आजीविका बना देना। कितने ही को धीरज, प्रतीति जमाकर धन पैदा करने योग्य कर देना। कितने ही को कहकर रोजगार धंधे में लगा देना। कितने ही को दलाली वगैरह में लगाकर धंधे से लगा देना चाहिये।

पुण्यवाले धनवान की मदद के बिना आश्रय पकड़े बिना निर्धन मनुष्य का व्यापार आदि में अपने पैरों पर खड़ा होना बड़ा कठिन है। यदि आप स्वयं धर्मात्मा हैं तो अपना धन बिगड़ जाने का भय नहीं करना चाहिये। साधर्मी के उपकार आदि कार्यों में जो धन काम आ जाये वही मेरा धन है। जो धन साधर्मी के काम में नहीं आया वह धन मेरा नहीं है।

कितने ही पुरुष पहले बड़े धनवान थे, प्रतिष्ठावान थे उनके कर्म के उदय से धन नष्ट हो गया, आजीविका नष्ट हो गई और खान-पान का भी ठिकाना नहीं रहा। घर में स्त्रियों-बच्चों को भी बड़ा कष्ट है। ऐसे पुरुषों से मेहनत मजदूरी होती नहीं है, ओछा अयोग्य काम नहीं कर सकते, बड़ा आदमी समझकर कोई नौकरी पर नहीं रखता है; धन, आभरण, वस्त्र, पात्र सभी बेचकर खा लिये हैं, अब किससे कहें, क्या उपाय करें ?

ऐसे प्रतिष्ठावान पुरुष को आजीविका से लगा देना, चिगते को हाथ का सहारा देकर दुःख के समुद्र में से निकाल लेना, उसे धर्म में - न्याय में लगाकर थोड़ा बहुत सहारा देकर खड़ा कर देना, जितनी योग्यता हो उसके अनुसार धीरज धराना, अन्य किसी के यहाँ काम पर रख देना, जिस तरह रोटी का बंदोबस्त हो जाय वैसा करना, धर्म से जोड़ देना यही बड़ा उपकार है।

कितने ही स्त्री पुत्रादि रहित हों, उन्हें धर्म के कार्य में लगा देना, खान-पान का दुःख मिटा देना। कितने ही वृद्ध हो गये, उद्यम करने की सामर्थ्य ही नहीं रही, कितने ही जिनधर्मी धर्म में सावधान हैं तो भी इंद्रियाँ थक गई हैं, शरीर रोग सहित है, सहायता बिना समता नहीं रहती, उनका स्थितिकरण धनवान से ही बन सकता है।

कितने ही पुत्रादि रहित हैं, उन्हें धर्म का आश्रय ग्रहण कराना। कितनी ही श्राविकायें विधवा हो गईं, उनके भोजन वस्त्र का ठिकाना नहीं, उनपर करुणाबुद्धि करके भोजन वस्त्रादि का साधन कराकर धर्म में लगा देना चाहिये। धनवान पुरुषों की सहायता पाकर कितने ही पुरुष-स्त्री कुधर्म का त्याग करके दृढ़ श्रद्धानी हो जाते हैं। कितने ही अणुव्रत आदि ग्रहण कर लेते हैं।

कितने ही सचित्त का त्याग श्रद्धान सहित कर देते हैं। कोई पर्व के दिनों में उपवास, ब्रह्मचर्य आदि ग्रहण कर लेते हैं। कोई स्व स्त्री के त्यागी, आरम्भ के त्यागी, परिग्रह के त्यागी, पापों की अनुमोदना के त्यागी, उद्दिष्ट आहार के त्यागी - इस प्रकार श्रावक के ग्यारह स्थानों (प्रतिमाओं) को धारण करके दान के पात्र बन जाते हैं। **धनवान पुरुषों की सहायता से उन्हें धर्म पर चलता देखकर अनेक दूसरे लोग भी धर्म के मार्ग की प्रवृत्ति में लग जाते हैं।**

धनवान पुरुषों को चाहिये कि वे विद्या पढ़ने के स्थान बना दें, पढ़नेवालों को जीविका देकर व्याकरण विद्या, काव्य विद्या, गणित विद्या, तर्क विद्या आदि अनेक विद्या पढ़ाने की पाठशालाओं की स्थापना कर दें, तो जैनियों के सैकड़ों बालक विद्या के पढ़ने में लग जायेंगे। प्रति वर्ष दस-बीस विद्वान् पढ़कर तैयार होने लगेंगे, तो धर्म की परम्परा चलने लगेगी। कितने ही विशेष बुद्धिमान हों उन्हें आजीविका देकर निराकुल कर दें, तो धर्म की प्रवृत्ति चलती जायगी।

अनेक ग्रन्थों को लिखवाना, पढ़नेवालों को पुस्तक देना, ग्रन्थ को शुद्ध करने में शुद्ध करने वालों को निराकुल कर देना, ज्ञान के अभ्यास करनेवालों से प्रीति करना, अपने आत्मा को ज्ञान के अभ्यास में लगाना, अपनी संतान को तथा कुटुम्बियों को ज्ञान के अभ्यास में लगाना, जैसे बने वैसे लोगों की शास्त्र के अभ्यास में रुचि करानी चाहिये। ये शास्त्र धर्म के बीज हैं। यदि लोगों को शास्त्रों का ज्ञान हो जाये तो सैकड़ों दुराचार नष्ट हो जाय, **सम्यग्ज्ञान ही व्यवहार तथा परमार्थ दोनों को उज्ज्वल कर देता है। इसलिये शास्त्र पढ़ाने के समान दान दूसरा नहीं है।**

रोग मिटानेवाली कितनी ही प्रासुक औषधियाँ रोगियों को देना। जो निर्धन मनुष्य हैं उन्हें औषधि तैयार मिल जाय तो यही बड़ा उपकार होता है। कोई निर्धन नहीं हो उनका भी औषधि से बड़ा उपकार होता है। निर्धन तथा दुःखितजनों को औषधिदान देने के समान उपकार दूसरा नहीं है। कितने ही निर्धन लोगों को औषधि मिलती ही नहीं है, करनेवाला नहीं मिलता है, बिना सहायता के औषधि बन नहीं सकती है। औषधि तैयार मिल जाय तो उसको बहुत-करोड़ों के धन के लाभ के बराबर है। रोग मिटाने के बराबर कोई दान नहीं, यह बड़ा अभयदान है।

धर्मात्मा जनों को रहने के लिये, धर्म साधन करने के लिये धर्मशाला, वस्तिका आदि अपनी शक्ति के अनुसार खरीद देना, अपना घर का स्थान हो तो वहाँ बनवा देना; रहने के स्थान के बिना धर्म सेवन आदि में परिणाम स्थिर नहीं रहते हैं ।

कोई जिनधर्मी परदेशी दुःखी आ जाय तो महीना-दो महीना को भोजन आदि की सहायता कर देना । किसी परदेशी के पास अपने घर तक वापिस जाने का मार्ग व्यय नहीं रह गया हो, मार्ग में वह लुट गया हो, चोर लूट ले गये हों, आपको जैनी जानकर आपके पास आया हो, तो उसे अपने घर पहुँचने के लिये जैसे बने वैसे दान देकर पहुँचा देना ।

कोई परदेशी रोगी होकर आया हो उसे ठहरने का स्थान बतलाना, औषधि देकर रोग रहित करना, बारम्बार धर्मोपदेश देकर समता देना, बारम्बार पूँछना, वैयावृत्य करना । निर्धन मनुष्यों से नहीं बन सकती जो ऐसी औषधि का निरन्तर दान करना । परिणाम विचलित हो गये हों, रोग से, वियोग से, दुःख से, दारिद्र से धैर्य छूट गया हो तो उन्हें बारम्बार धर्मोपदेश देकर धीरज धारण कराना ।

अपने आत्मा को निरन्तर ज्ञानदान देना, आप स्वयं ज्ञानवान हो तो नित्य अनेक जीवों को धर्मोपदेश देना । कोई शास्त्र के अर्थ जाननेवाले विद्वान की प्राप्ति हो जाय तो उसे कल्पवृक्ष के लाभ के समान बड़े हर्ष सहित आजीविका आदि की स्थिरता कर देना, बहुत विनय आदर से रखकर आप धर्म ग्रहण करना ।

धर्म की वृद्धि के लिये ज्ञानियों का सन्मान आदि करके धर्म के उपदेश, तत्त्वों के स्वरूप की चर्चा, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि की चर्चा की प्रवृति कराकर धर्म की प्रभावना, सम्यग्ज्ञान की चर्चा की प्रवृत्ति कराना । जहाँ धर्म की प्रवृत्ति मंद हो गई हो उन ग्रामों में शास्त्र लिखवाकर भाषा वचनिका योग्य शास्त्र भेजना । ज्ञानदान तो सभी मंदकषायी भद्र परिमाणी पुरुषों को करना ही चाहिये।

परोपकार की प्रेरणा – सम्पत्ति पाकर दान-सन्मान से, प्रियवचनों से अपने मित्रों, कुटुम्बियों, बैरी को भी प्रसन्न करना । सम्पदा का समागम तथा जीवन क्षण भंगुर है । इस धन से, शरीर से, वाणी से अन्य जीवों का उपकार करना ही श्रेष्ठ है । प्रिय वचन बोलने का बड़ा दान है । बैरियों से अपना बैर छोड़ना, प्रिय वचनों द्वारा अपना अपराध क्षमा कराना भी बड़ा दान है । अपना धन, धरती देकर के भी संतुष्ट कर देना, बैर धो डालना, अभिमान त्याग देना, अपना कुटुम्बी यदि निर्धन हो तो उसे अपनी शक्ति अनुसार दान सम्मान देना, अपनी बहिन-बेटी निर्धन हो तो बारम्बार भोजन-पान-वस्त्र-आभरण आदि द्वारा दान सम्मान करना ।

जो दयावान होते हैं, वे अन्य दुःखित दो दान सम्मान देकर उसका दुःख दूर करते हैं । जिनकी उजर-प्रार्थना आप तक पहुँच जाये ऐसे अपने ही अंग समान भुआ, बहिन, बेटी, जमाई इनको दुःखी कैसे देख सकता है ? किसी के द्वारा अपना उजाड़-बिगाड़ हो गया हो तो उसे भी कटुक वचन नहीं कहना । उसको इस तरह समझाना - भाई, तुम अपने परिणामों में कुछ संताप मत करो। गृहचारे में हानि-वृद्धि, लाभ-अलाभ तो कर्म के उदय के अनुकूल होते हैं । सभी सामग्री विनाशीक

है । तुमने तो हमारे अनेक कार्य सुधारे हैं तथा हमारे भले करने को ही करते हो । हमारे कर्म के उदय के अनुसार कोई काम बिगड़ भी जाता है । इस प्रकार प्रिय वचन बोलकर उसे संतोषित करना।

निरन्तर ऐसे ही परिणाम रखना चाहिये कि – मेरे धन से किसी जीव का उपकार हो जाय तो अच्छा है । दूसरे लोग हमारा हित करें या अहित करें, हमें तो दूसरों का उपकार ही करना चाहिये। कोई बंदीखाने में चला गया हो, किसी झगड़े में फंस गया हो, तो अपने पास से पाँच रुपया देकर उसे छुड़ा लेना । किसी ने भूल से अपना धन चुरा लिया हो तो प्रिय वचन आदि बोलकर समता भाव से निपटा लेना, यदि वह निर्धन हो तो उससे लेने का इरादा व झगड़ा नहीं करना ।

कोई चोरी में सजा पा गया हो तो उसकी बदनामी-बेइज्जती नहीं करना, जो अपने आश्रित हो तो उसका पालन-पोषण करना । विधवा हो, अनाथ हो, रोग-वियोग आदि दुःख से दुःखी हो तो उनका दुःख दूर करने में सावधानी करना ।

बालक हो, बाल विधवा हो उनका बहुत अच्छी तरह सम्हाल कर प्रतिपालन करना । अपने से जो बैर रखता हो, उपकार करने पर भी उपकार नहीं मानता हो, उससे भी गुण ग्रहण करना, दान सम्मान करना । यदि अवसर पारकर भी अपने मित्र, बांधव आदि का सम्मान नहीं किया तो धन ऐश्वर्य पाकर केवल अपयश की कालिमा ही ग्रहण की ।

अपने पुत्र कुटुम्ब आदि का पालन तो सूकरी-कूकरी भी कर लेती है । अवसर पाकर अपना बिगाड़ करनेवाले, धन आजीविका हरनेवाले बैरियों का भी दान सम्मान उपकार करके बैर का अभाव करना दुर्लभ है । मनुष्य जन्म, धन, सम्पदा, यौवन, ऐश्वर्य क्षण भंगुर हैं । अनेकों का धन, जीवन नष्ट हो गया, जिनका नाम और स्थान भी नहीं रहा ।

वही कार्तिकेय स्वामी ने कहा है – बहुत अधिक आभरण, वस्त्र, स्नान, सुगंध, विलेपन, अनेक प्रकार के भोजन पान आदि द्वारा बहुत सावधानी से पालन पोषण किया हुआ शरीर भी एक क्षण भर में जल से भरे कच्चे घड़े के समान नष्ट हो जाता है । **जो लक्ष्मी चक्रवर्ती से लगाकर महापुण्यवानों में नहीं रमी वह लक्ष्मी अन्य पुण्य रहित लोगों में प्रीतिकर कैसे रहेगी ? यह लक्ष्मी कुलवानों में नहीं रमती है ।**

कोई समझ ले कि मेरा कुल ऊँचा है, मेरे यहाँ तो लक्ष्मी रहती आई है, सो यह जानना सत्य नहीं है । लक्ष्मी तो कुलवानों के पास में भी रहती है तथा नहीं भी रहती है; नीच कुलवानों के पास जाकर भी रहती है, धीर के पास में भी रहती है या नहीं भी रहती है, पंडित-प्रवीण के पास भी रहती है व नहीं भी रहती है, मूर्खों के पास भी रहती है । शूरवीरों व कायरों के पास में भी रहती है या नहीं भी रहती है; पूज्य पुरुषों के पास, सुन्दर रूपवानों व सज्जनों के पास, महापराक्रमियों व धर्मात्माओं के पास में यह लक्ष्मी रहती ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

धन के सम्बन्ध में अज्ञानी की विपरीत मान्यता : संसारी-अज्ञानी भ्रम से ऐसा जानता है- मैं तो कुलवान हूँ, मुझे छोड़कर लक्ष्मी कैसे जायेगी ? मैं **धीर हूँ**, धैर्यवान के यहाँ तो लक्ष्मी स्थिर

रहती है, चलायमान चित्तवाले की नष्ट हो जाती है । मैं महापाण्डित-प्रवीण हूँ, मैंने बहुत चतुराई से इसे बढ़ाया है; जो मूर्ख-अज्ञानी भूलें करके चलते हैं उनकी लक्ष्मी नष्ट हो जाती है । मैं शूरवीर हूँ, अन्य की ही लक्ष्मी की भी रक्षा करता हूँ, मेरी लक्ष्मी कैसे नष्ट होगी ? कायर की लक्ष्मी नष्ट हो जाती है । मैं पूज्य हूँ, सभी की लक्ष्मी पूज्य के पास रहना चाहिये, किसी नीच की नष्ट हो जाती है । मैं धर्मात्मा हूँ, नित्य ही दान, पूजा शीलव्रत आदि करता हूँ, मेरी लक्ष्मी कैसे नष्ट होगी? कोई पापी की लक्ष्मी नष्ट होती है । मैं सुन्दर रूपवान हूँ, हमारी सूरत पर ही लक्ष्मी का निवास दिखता है, किसी कुरूप की नष्ट होती है । मैं सुजन हूँ, सबका प्रिय हूँ, मेरी लक्ष्मी कैसे नष्ट होगी? जो दुष्ट हो, सबका अप्रिय हो उसकी लक्ष्मी नष्ट होती है । मैं पराक्रमी हूँ, उद्यमी हूँ, प्रतिदिन नई कमाई करता हूँ, मेरी लक्ष्मी कैसे नष्ट होगी ? आलसी-उद्यमहीन की लक्ष्मी नष्ट हो जाती है, ऐसा समझना मिथ्या भ्रम है ।

धन के सम्बन्ध में ज्ञानी की मान्यता : यह लक्ष्मी तो पहिले भवों में किये पुण्य की दासी है । पुण्य परमाणुओं का उदय समाप्त होते ही यह नष्ट हो जाती है । जैसे पचास हाथ लम्बे महल में दीपक बुझते ही अंधकार हो जाता है, उसे कौन रोक सकता है ? जैसे जीव के निकल जाने पर शरीर की समस्त इंद्रियाँ चेष्टा रहित हो जाती हैं, तेल समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार पुण्य अस्त हो जाने पर समस्त लक्ष्मी, कांति, बुद्धि, प्रीति, प्रतीति एक क्षण मात्र में नष्ट हो जाती है ।

प्रथम तो इस लक्ष्मी को न्याय के भोगों में लगाओ, तथा परिणामों में दयाभाव लाकर दु:खितों, भूखों को दान करो । यह लक्ष्मी तो जैसे जल में लहर क्षण भर में बिला जाती है, उसी प्रकार कोई दो दिन का इस लक्ष्मी का संयोग है, पश्चात् नियम से इसका वियोग होगा । जो पुरुष इस लक्ष्मी को निरन्तर संचय ही करते हैं, न तो स्वयं भोगते हैं, न पात्र को दान ही देते हैं वे अपने आत्मा को ठगते हैं, अचानक ही मरकर अन्तमुहूर्त में जाकर नरक के नारकी के रूप में जन्म ले लेंगे । उनका मनुष्य जन्म निष्फल ही हुआ जानना ।

जो लोग लक्ष्मी को एकत्र करके बहुत दूर गाड़ देते हैं, नष्ट होने के डर से जमीन में बहुत गहराई में गाड़ देते हैं, वे लोग उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देते हैं । जैसे जमीन में अनेक पत्थर रखे हैं, उसी प्रकार धन भी रखा रहेगा । यदि स्वयं ने दान-भोग के लिये काम में नहीं लिया, तो दरिद्री जैसा ही रहा । जो लोग लक्ष्मी का निरन्तर संचय ही करते रहते हैं, न तो दान करते हैं, न भोग भोगने में खर्च करते हैं, उनकी अपनी लक्ष्मी भी पर की लक्ष्मी के समान है; जैसे पड़ोसी की लक्ष्मी व नगर के अन्य निवासियों की लक्ष्मी देखने में तो आती है, किन्तु भोगने में नहीं आती, दान देने में नहीं आती है ।

जो पुरुष लक्ष्मी में अति आसक्त तथा प्रीतिवन्त हो जाता है वह अपने खाने में, पीने में, औषधि आदि में, वस्त्र पहिनने में, अपने रहने के मकान में, अन्य अनेक भोग उपभोग के साधनों के अभाव

में नित्य ही क्लेश भोगता है, परन्तु धन खर्च करने का बड़ा दुःख लगता है, इसलिये कष्टों में ही अपने दिन व्यतीत करता है ऐसा मूर्ख राजा का, अपने दावेदारों का, पुत्र, स्त्री, भाई आदि का ही कार्य सिद्ध करता है। स्वयं तो धन की ममता लिये हुये मरकर दुर्गति में आकर उत्पन्न होगा, तथा धन को राजा ले जायेगा या पुत्र कुटुम्बी आदि ले लेंगे। आप तो स्वयं पापी धन कमाकर के केवल इसलोक तथा परलोक में दुःख का भोगनेवाला ही रहा।

जो मूर्ख बहुत प्रकार से अपनी बुद्धि द्वारा लक्ष्मी को बढ़ाते रहते हैं, तथा बढ़ाते-बढ़ाते तृप्त नहीं होते हैं, लक्ष्मी को बढ़ाने में अनेक प्रकार का आरंभ करते हैं, पाप करने से नहीं डरते हैं, रात-दिन ही धन पैदा करने के विकल्प करते-करते बहुत रात्रि बीत जाने पर सोते हैं। दिन में प्रातः काल से ही धन के कमाने के विकल्प करने लगते हैं, समय पर भोजन भी नहीं करते हैं, अनेक लेन-देन धंधा-व्यवहार की बकवाद करते-करते बहुत तेज भूख लगने पर भोजन करते हैं। रात्रि में कागज, पत्र, लेखा, हिसाब जबाब, सवाल की बड़ी चिन्ता में मग्न होकर तीन प्रहर रात्रि बीत जाने पर सोते हैं। ऐसे मूढ़ केवल लक्ष्मीरूप तरुणी का दासपना करके दुःख भोगकर दुर्गति में गमन करते हैं।

लक्ष्मी प्राप्ति की सफलता : जो इस बढ़ती हुई लक्ष्मी को निरन्तर धर्म कार्य के लिये देते हैं, वे पंडित-प्रवीण पुरुषों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं तथा उनका ही लक्ष्मी पाना सफल है। ऐसा जानकर जो दारिद्र से दुःखी धर्म सहित पुरुषों व स्त्रियों को बिना ख्याति, लाभ, पूजा की चाह के, तथा बिना उनसे कुछ अपना उपकार चाहते हुए निरंतर अपेक्षा रहित, आदर, प्रीति, हर्ष सहित दान देता है, उसका जीवन सफल है। धन, यौवन, जीवन तो प्रत्यक्ष जल में बुदबुदे के समान अस्थिर दिखाई देते हैं। दान का फल स्वर्ग की लक्ष्मी का, भोगभूमि की लक्ष्मी का असंख्यात काल तक भोग, संपदा देनेवाला है, ऐसा जानकर निरंतर दान में ही प्रवर्तन करो।

पंचमकाल में कौन उत्पन्न होता है ? यहाँ ऐसा विशेष और भी जानना कि - जिसने पूर्व जन्म में सुपात्र दान दिया है, सम्यक् तप किया है, वे पुरुष तो इस दुःखमकाल में भरतक्षेत्र में उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि **इस दुःखमकाल में यहाँ सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति होती ही नहीं है।** जो सम्यग्दृष्टि देवगति, नरकगति से आयु पूर्ण करके आते हैं, वे विदेहक्षेत्र में ही पुण्यवान मनुष्य होते हैं। मनुष्य, तिर्यंचगति का सम्यग्दृष्टि मरकर स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है। इसलिये इस भरतक्षेत्र में सम्यग्दृष्टि आकर उत्पन्न नहीं होते हैं।

यहाँ किसी पुण्याधिकारी को काललब्धि आदि सामग्री प्राप्त हो जाने पर नया सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। जिन्होंने पूर्व जन्म में जैनधर्म पालकर पुण्यार्जन किया है वे भी यहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिये जिनधर्म में राजा उत्पन्न नहीं होते, तथा बहुत धनवान पुरुष भी जैनियों के कुल में उत्पन्न नहीं होते हैं; **यदि जैनियों के कुल में बहुत धनवान उत्पन्न होते हैं तो वे जिनधर्म रहित ही होते हैं।**

किसी पुण्याधिकारी को यहाँ यदि सत्संगति मिल जाय तथा जिन सिद्धान्त का श्रवण करना मिल जाय तो नये बीज से जिनधर्म ग्रहण हो जाता है । इसकाल में यदि जैनी धनवान भी हो, धर्म को भी समझने लगे, त्याग आखड़ी भी ग्रहण करले तो भी दान में धन खर्च नहीं कर सकता है। लाखों का धन छोड़कर मर जाता है, परन्तु उसका आधा चौथाई धन भी दान, धर्म में नहीं लगा सकता है (दान देने का ऐसा भाव ही नहीं होता है) ।

इस पंचमकाल में धनाढ्य जीवों के भाव : इस कलिकाल के धनाढ्य पुरुषों की कैसी रीति तथा परिणाम होते हैं वह बतलाते हैं - परिणामों में क्रोध बढ़ता है, अपने पुरुषार्थ का बड़ा अभिमान बढ़ता है, वात्सल्यता तो जड़-मूल से ही नहीं रह जाती है । दूसरे के किये हुए कार्य की सराहना नहीं करता है । सभी की अक्ल बुद्धि थोड़ी दिखती है, दया रही ही नहीं है । अन्य किसी पुरुष का वचनादि द्वारा अपमान तिरस्कार करते हुए भय नहीं लगता । कोई अन्य पुरुष धर्म के नीतिवाले वचन बोलता है, तो उनका खोटी युक्तियों द्वारा खण्डन करता है ।

धर्मात्मा पुरुष विनय सहित भी भाषण करता है, तो भी इसके मन में भय हो जाता है कि कभी मुझसे कुछ मांगेगा । निर्वांछक-साधर्मी से भी भयभीत रहता है कि वह कभी मुझे धन खर्च करने का उपदेश देगा । अभिमान दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है, स्वभाव में तेजी बढ़ती जाती है । यदि अपना कार्य हो तो उसको बहुत शीघ्रता से कराना चाहता है । सेवक आदि के कष्ट-दुःख को नहीं देखता है । अपना प्रयोजन साधना चाहता है, दूसरे के प्रयोजन तथा दुःख-क्लेश को तुच्छ जानता है । सम्पदा बढ़ती है उसके साथ-साथ खर्च बढ़ता है, खर्च के साथ दुःख बढ़ता है, दिन प्रतिदिन खर्च घटाने का ही परिणाम रहा करता है ।

अपने भोगोपभोग की वस्तु खरीदने में ऐसा परिणाम रहता है कि आधी कीमत में आ जाय, कुछ कम ले जाय; मुझे बड़ा आदमी समझकर बहुत कीमत की वस्तु थोड़े मूल्य में दे देवे; किसी निर्धन का तथा लूट का माल बहुत कम मूल्य में मिल जाये; उसका बड़ा हर्ष मानता है, संचय करते-करते तृप्ति नहीं होती है ।

कोई अपने को इसके द्वारा ठगाया जाय उससे प्रीति करता है, कोई धनवान दिखाई दे तो उससे अपने को ठगा लेता है, धनवान पापी भी होय तो उससे प्रीति करता है, धनवान अधर्मी भी होय तो उसकी बुद्धि को बड़ी मानता है । धनवानों के निकट अपनी उदारता दिखाता है, निर्धन के निकट अपने अनेक दुःख रोता है, दुःखी को देखकर उसे अपने बहुत दुःख सुनाता है ।

अन्य की व निर्धन की आबरू (इज्जत) छोटी जानता है, धनरहित को अपनी वस्तु उधार देते समय बड़ा अविश्वास करता है, धन रहित को चोर दगाबाज समझता है । आप दूसरे का सर्वस्व हड़पकर खा जाय तो भी अपने को सच्चा जानता है, अपनी बड़ाई करता है ।

अपने कर्त्तव्य की प्रशंसा करता है, दूसरे के उत्तम कार्यों में भी खोट निकालता है । अपने को निस्पृह-निर्वांछक समझता है, जगत के अन्य जीवों को लोभी समझता है । अपने को अजर-

अमर समझता है, अन्य को अनित्य समझता है, अपने को न्यायमार्गी समझता है, अन्य जीवों को अति लोभी समझता है । अपने को प्रभु समझता है, धन रहित को रंक समझता है । आरंभ परिग्रह बढ़ाते हुए डरता नहीं है, रुकता नहीं है । तृष्णा बहुत बढ़ती जाती है, मरते समय तक भी संतोष धारण नहीं करता है ।

अपयश के कार्य करता हुआ भी अपने को यशस्वी समझता है । कपटी को-छली को अपना धन ठगा देता है । बहुत धूर्त, कपटी, छली को अपना कार्य साधनेवाला, पुरुषार्थी, प्रवीण समझता है । सत्यवादी मर्यादा सहित प्रवृत्तिवाला निरपेक्ष हो उसे मूर्ख समझता है ।

जहाँ अपना अभिमान बढ़ता है, कषाय पुष्ट होती हैं, अपना नाम होता जानता है वहाँ जमीन में मन्दिर में, बाग-बगीचों में, विवाह में, यात्रा में, किराये में बहुत धन खर्च करता है । मंदिर आदि में भी अपनी उच्चता दिखाने के लिये, पंचों में जहाँ अभिमान बढ़ता है वहाँ धन खर्च करता है, जीर्णमंदिर आदि में नहीं देता है ।

निर्धन, भूखों का पालन करने के लिये एक पैसा नहीं देता; दुर्बल, दीन, अनाथ, रोगी, वृद्ध, विधवा इनका पालन करने के लिये धन-पैसा कभी खर्च नहीं करता है । निर्धन दु:खी को दिया धन को नष्ट हुआ समझता है, स्वयं भी अच्छा भोजन नहीं करता है क्योंकि घर में सभी कुटुम्ब को खिलाना पड़ेगा ।

ऐसा अभिमान करता है – देखो हमारे घर पर बहुत धर्मात्मा, तपस्वी, पंडित आते हैं, तथा अनेक आवेंगे क्योंकि सभी देशी विदेशी गुणवान जैनियों का बड़ा ठिकाना हमारा ही घर है, हम ही दातार हैं, और दूसरा ठिकाना है कहाँ ? अन्य कितने ही अपने घर पर कार्य करने वाले तथा धर्म कार्य पर नियुक्त किये हैं उनकी भी धन के मद से बड़ी अवज्ञा करता है – इनकी हम पालना करते हैं, हमसे छूटने पर इनका कहाँ ठिकाना है ?

ऐसे पंचमकाल के धनवानों के ज्ञान के ऊपर मोह का बड़ा अंधेरा छाया हुआ है । पूर्वजन्म में जिनधर्म रहित कुतपस्या की थी, कुपात्र को दान दिया था; इस कारण धन संपदा मिली है ।

अब धनसंपदा को छोड़कर धन की मूर्च्छा से मरकर कषायों की मंदता-तीव्रता के प्रभाव के अनुसार सर्प, तिर्यंच, वृक्ष मधुमक्खी आदि योनियों में उत्पन्न होकर नरक आदि में बहुत समय तक भ्रमण करेंगे । यह धन की मूर्च्छा इस लोक में भी बैर तथा अपयश का कारण है । कृपण की सभी लोग निंदा-अपवाद करते हैं, कृपण के परिणाम निरंतर दु:खी और दुर्ध्यान रूप रहते हैं ।

दान के पात्र तथा दान का फल : दान के मार्ग में लगाया हुआ धन अपना जानो । पात्र दान में गया धन मरण के समय परिणामों में उज्ज्वलता कराकर अंतमूहूर्त में स्वर्ग की संपदा प्राप्त करा देता है । यहाँ **उत्तमपात्र तो निर्ग्रन्थ वीतरागी समस्त मूलगुण–उत्तरगुण के धारक, दशलक्षण धर्म के धारक, बाईस परीषह सहनेवाले साधु हैं** । दर्शन (प्रतिमा) से लगाकर उद्दिष्ट आहार का त्याग तक ग्यारह स्थान (प्रतिमायें) श्रावक के हैं । वे (प्रतिमाधारी) श्रावक **मध्यमपात्र** हैं ।

जिनके व्रत (प्रतिमा) तो नहीं हैं किन्तु जिनेन्द्र के कहे तत्त्वों के श्रद्धानी हैं, जन्म-मरणादिरूप संसार परिभ्रमण से भयभीत हैं, चार प्रकार के संघ में रहकर हित करने की इच्छा सहित हैं, संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति का भाव आया है, जिनशासन का प्रसार करनेवाले, अपनी निंदा-गर्हा करते हुए स्व-पर तत्त्व का स्वरूप विचारने में प्रवीण हैं, जिनदेव द्वारा कहे गये तत्वों में - धर्म में दृढ़ता धारण करते हैं, धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग सहित हैं, सभी जीवों की दया से चित्त भरा है, मंदकषायी, पंच परमेष्ठी के भक्त इत्यादि सभी सम्यक्त्व के गुणों के धारी गृहस्थ **जघन्यपात्र** हैं ।

इस प्रकार तीनों तरह के पात्रों में यथा योग्य आहार, औषधि, शास्त्र, वस्तिका, स्थान, वस्त्र, जीविका, जीने की स्थिरता के कारण, भक्ति एवं विनय सहित दिये हुए दान भावों के अनुसार उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में दातार को उत्पन्न करते हैं । सम्यग्दृष्टि दातार को सौधर्म आदि स्वर्ग में महान ऋद्धिधारी देवों में उत्पन्न करते हैं ।

कुपात्र : कुपात्र के लक्षण इस प्रकार जानना - जिनके हृदय में मिथ्या धर्म की दृढ़ वासना बैठी है ऐसे घोर तप करनेवाले, सभी जीवों की दया करने में उद्यमी, असत्य व कठोर वचन से पराङ्मुख, सबसे प्रियवचन कहनेवाले, धन-स्त्री-कुटुम्ब से निस्पृही, निरंतर मिथ्या धर्म का सेवन करनेवाले, जप-तप-शील-संयम-नियम में दृढ़ प्रीति रखनेवाले, मंद कषायी, परिग्रह रहित, विषय-कषायों के त्यागी, एकान्त बाग-वनादि में रहनेवाले, आरंभ रहित, परीषह सहनेवाले, संक्लेश रहित, संतोष सहित, रस-नीरस भोजन को समभाव से ग्रहण करनेवाले, क्षमा के धारक, **आत्मज्ञान रहित बाह्य क्रिया काण्ड से मोक्ष माननेवाले सभी कुपात्र हैं** ।

कितने ही जिनधर्म का पक्षग्रहण करनेवाले भी एकान्ती, हठग्राही, अपनी बुद्धि ही से अपने आप को धर्मात्मा मानते हैं; उनमें से भी कुछ तो जिनेन्द्र का पूजन, आराधन, गान, भजन से ही अपने को कृतकृत्य मानकर बाह्य पूजन-स्तवन आदि में तत्पर हैं तथा अन्य ज्ञानाभ्यास, व्रतादि में शिथिलता रखते हैं । कितने ही जलादि से धोना, सोधना, अन्नादि को धोना, स्नानकर भोजन करना, अपने हाथ से बनाया भोजन करना; वस्त्रादि को धोना, धोये हुए स्थान में जीमना इत्यादि क्रिया करके ही अपने को धर्म हो गया - ऐसा मानते हैं ।

कितने ही देखकर चलना, सोधकर चलना, सोना, बैठना, जल को बड़े यत्नाचार पूर्वक काम में लेना, इतने से ही अपने को कृतकृत्य मानते हैं, अन्य क्रियारहित को निंद्य जानते हैं । कितने ही उपवासादि तप-व्रत, रस-परित्याग आदि करके अपने को ऊँचा मानते हैं । कितने ही दुःखियों, भूखों को भोजन देने ही को धर्म मानते हैं । कितने ही भद्र परिणामी सभी धर्मों को समान जानते हुए विचार रहितता में ही लीन हैं । कितने ही परमेश्वर के नाममात्र ही को धर्म जानकर विकथा रहित निन्दा रहित रहते हैं ।

कितने ही अन्य जीवों का उपकार करके सभी की विनय करने को ही धर्म मानते हैं । कितने ही अपनी इंद्रियों को दण्ड देते हुए रूखा-सूखा एक बार भोजनकर मौनावलम्बी हुए अपनी आयु

जहाँ चाहे रहकर व्यतीत करते हैं । कितने ही अनेक भेषों के धारक, मंद कषायी, परिग्रह रहित, विषय रहित रहते हैं । कितने ही एक बार कोई हाथों में भोजन रख दे उसे खाकर याचनारहित विचरण करते हैं ।

इस प्रकार अनेक एकांती परमागम की शरण रहित आत्मज्ञान रहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र हैं ।

कुपात्रदान का फल : इनको दान देना अनेक प्रकार से फल देता है । जैसा पात्र, जैसा दातार, जैसा भाव, जैसा द्रव्य, जैसी विधि से दिया हो, वैसा फल प्राप्त होता है ।

कितने ही तो कुपात्रदान के प्रभाव से असंख्यात द्वीपों में पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के युगलों में उत्पन्न होते हैं, जहाँ चार-चार अंगुल बराबर चौड़े बहुत मीठे सुगंधित घास के तिनके खाते हैं, अमृत के समान स्वादिष्ट जल पीते हैं, आपस में बैर विरोध रहित रहते हैं । जहाँ शीत का कष्ट नहीं हैं, गर्मी की जलन नहीं है, हवा-वर्षादि का कष्ट रहित, एक पल्य की आयु भोगते हैं । वहाँ विकलत्रय के कष्टों से रहित अनेक प्रकार के थलचर, जलचर, नभचर तिर्यंच होकर इच्छानुसार विहार करते हुए सुख से भोग भोगते हुए युगल ही साथ में पैदा होते हैं, साथ में ही मरकर, व्यंतर, भवनवासी, ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं ।

कितने ही कुपात्रदान के प्रभाव से उत्तरकुरु-देवकुरु भोगभूमि में तिर्यंच होकर जन्म लेते हैं, तीन पल्य तक सुख भोगकर, मरकर देवों में पैदा होते हैं । कितने ही कुपात्र दान के प्रभाव से हरिक्षेत्र, रम्यकक्षेत्रों में दो पल्य की आयु के धारक; कितने ही हिमवत क्षेत्र, हैरण्यवत क्षेत्रों में एक पल्य की आयु के धारक तिर्यंच युगलों में उत्पन्न होकर आयुपूर्ण कर, मरकर देवलोक में चले जाते हैं।

कितने ही कुपात्र दान के प्रभाव से छियानवै अन्तरद्वीपों में मनुष्य युगल होकर जन्म लेते हैं। इन अन्तरद्वीपों में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उनका स्वरूप ऐसा है - समुद्र की पूर्वादि दिशाओं में चार द्वीप हैं । उनमें पूर्व दिशा के द्वीप में एक पैरवाले मनुष्य पैदा होते हैं, दक्षिण दिशा के द्वीप में पूँछवाले मनुष्य पैदा होते हैं, पश्चिम दिशा के द्वीप में सींगवाले मनुष्य पैदा होते हैं, उत्तर दिशा के द्वीप में वचन रहित गूंगे मनुष्य पैदा होते हैं ।

समुद्र की चार विदिशाओं के चार द्वीपों में क्रम से सांकल जैसे कानवाले मनुष्य, शष्कुली कानवाले मनुष्य, लम्बकर्णवाले एक कान को ओढ़लें - एक कान को विछा लें ऐसे मनुष्य, तथा खरगोश जैसे कानवाले मनुष्य पैदा होते हैं । सोलह दिशा तथा विदिशाओं के बीच में तथा पर्वतों के अन्त की सीध में जो द्वीप हैं, उन द्वीपों में इस प्रकार के मुखवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं - सिंह जैसा मुख १, घोड़े जैसा मुख २, कुत्ते जैसा मुख ३, सूकर जैसा मुख ४, भैंसे जैसा मुख ५, बाघ जैसा मुख ६, उल्लू जैसा मुख ७, बन्दर जैसा मुख ८, मछली जैसा मुख ९, सर्प जैसा मुख १०, मेढ़े जैसा मुख ११, गाय जैसा मुख १२, मेघ जैसा मुख १३, बिजली जैसा मुख १४, दर्पण जैसा मुख १५, हाथी जैसा मुख १६ ।

लवण समुद्र के एक किनारे पर ऐसे चौबीस अंतरद्वीप हैं, दोनों किनारों के अड़तालीस, तथा अड़तालीस ही कालोदधि समुद्र के दोनों किनारों के। इस प्रकार छियानवै अन्तरद्वीपों में कुभोग भूमियाँ हैं, उनमें कुपात्र दान से मनुष्य युगल उत्पन्न होते हैं। उनमें एक टांगवाले मनुष्य गुफाओं में रहते हैं और अत्यंत मीठी मिट्टी खाते हैं। अन्य दूसरे सभी मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते हैं तथा कल्प वृक्षों के दिये अनेक प्रकार के फल खाते हैं।

अब कुभोगभूमि के मनुष्यों में उत्पन्न होने के कारण रूप परिणामों को त्रिलोकसारजी में कही तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं :-

जिणलिंगे मायावी जोइसमंतोब जीविधणकंखा।
अइगउरं सण्ण जुदा करेंति जे परविवाहंपि ॥९२२॥

दंसण विराहिया जे दोसं णालोचयन्ति दु सणगा।
पंचग्गितवा मिच्छा मोणं परिहरिय भजन्ति ॥९२३॥

दुब्भाव असुइसूदग पुप्फ वईजाइ संकरादीहिं।
कयदाणावि कुपत्ते जीवा कुणरेसु जायन्ते ॥९२४॥

अर्थ :– जो जिनेन्द्र का निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके अनेक परीषह सहते हुए भी मायाचार के परिणाम करते हैं; ज्योतिष विद्या, मन्त्र विद्या, वैद्य विद्या द्वारा लोगों को प्रसन्न करके भोजन प्राप्त कर जीते हैं; लोगों को ज्योतिष वैद्यक, मन्त्रशास्त्रों आदि द्वारा अपना भक्त बनाते हैं; तपश्चरण करके धन की बांछा करते हैं; ऋद्धि के गर्व से युक्त हैं; हम जगत में पूज्य हैं तथा अपना यश जगत में विख्यात होने के गर्व से युक्त हैं; अपने साता के उदयजनित सुख के गर्व सहित हैं; आहार की बांछा करते हैं; अशुभ के उदय के भय सहित हैं; मैथुन की इच्छा करते हैं; परिग्रह तथा शिष्यों की बांछा करते हैं, दूसरों के विवाह कराने में प्रवृत्ति करते हैं - वे सब जिनलिंगधारी कुतप के प्रभाव से कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

जो जिनलिंग धारण करके भी सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं; अपने दोषों की गुरु से आलोचना नहीं करते हैं; अन्य के दोष कहते हैं, वे कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि तप के द्वारा कायक्लेश करते हैं; मौन छोड़कर भोजन करते हैं; जो दुष्टभावों द्वारा दान देते हैं; जो अपवित्र होकर दान देते हैं; जो सूतक सहित होकर दान देते हैं; जो रजस्वला स्त्री से संसर्ग करके दान देते हैं; जो जातिसंकर आदि होकर दान देते हैं; जो कुपात्रों को दान देते हैं; वे कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

वे कुमानुष भी सभी कष्ट रहित एक पल्य तक स्त्री-पुरुष युगल होकर साथ ही पैदा होते हैं, साथ ही मरते हैं। कुदान के व कुतप के प्रभाव से आयुपर्यंत सुख में मग्न रहकर काल पूरा करके मंद कषाय के प्रभाव से भवनत्रिक में उत्पन्न हो जाते हैं।

कितने ही कुपात्रों को दान देकर बहुत भोगों सहित रहनेवाले म्लेच्छों में उत्पन्न होते हैं । कितने ही कुपात्र दान के प्रभाव से नीचकुलों में बहुत धन के धनी, मासंभक्षी, शराब पीने वाले, वेश्यागामी, निरोग शरीरवाले होते हैं ।

कितने ही कुपात्र दान के प्रभाव से राजाओं के नौकर, नौकरानी, हाथी, घोड़ा, बन्दर, कुत्ता इत्यादि होकर अच्छा भोजन, वस्त्र, आभरण आदि प्रचुर भोग-उपभोग सामग्री भोगकर मरकर दुर्गति में चले जाते हैं । कुपात्र भी अनेक प्रकार के हैं, दातार के भाव भी अनेक प्रकार के हैं, दान की सामग्री भी अनेक प्रकार की है, इसलिये दान का फल भी अनेक प्रकार का है ।

दयादान ऐसा होता है – कोई भूखा हो, दरिद्री हो, अंधा हो, लूला हो, लंगड़ा हो, रोगी हो, अशक्त हो, वृद्ध हो, बालक हो, विधवा हो, पागल हो, अनाथ हो, विदेशी हो, अपने संघ के साथियों से बिछुड़ा हो, जेल से छूटकर आया हो, बंधन में रहा हो, दुष्टों के डर से भागा हो, लुटकर आया हो, जिसका कुटुम्ब मर गया हो, डरा हुआ हो ऐसा चाहे पुरुष हो, स्त्री हो, बालक हो, कन्या हो, तथा तिर्यंच हो; इनको भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, रोग, वियोग आदि से दुःखित जानकर करुणाभाव से भोजन, वस्त्र आदि देना वह करुणादान है, परन्तु उनकी जाति, कुल, आचरण आदि जानकर यथायोग्य दान करना चाहिये ।

जो अभक्ष्य करनेवाले हैं उन्हें तो भोजन, अन्न, औषधि मात्र ही देना । जो निंद्य आचरण करनेवाले नहीं हैं उनका दुःख दूर करने योग्य रूपया पैसा भी देना तथा भोजन, वस्त्र, औषधि, स्थान, व उपदेश भी देना । जो स्थान देने योग्य नहीं हों उन्हें दुःखी देखकर रोटी, अन्न मात्र देकर चलता कर देना। जो वैयावृत्य करने योग्य हों उनका वैयावृत्य भी करना, ज्ञानदान भी देना ।

पात्र, कुपात्र, अपात्र का विचार किये बिना केवल दयामात्र ही करना करुणादान है, तो भी देश, काल, परिणाम, जाति, कुल आदि का विचार सहित यत्न सहित दान करना चाहिये। मांस-भक्षी, शराब पीनेवाले को रुपया-पैसा नहीं देना । बहुत दुःखी पर करुणा आवे तो अन्न मात्र दान देना । इसके फल में यश, कीर्तन आदि की इच्छा नहीं करना । जो दान देने को योग्य नहीं हैं वे अपात्र हैं ।

अपात्र के लक्षण : अब अपात्र के लक्षण कहते हैं - जो दया रहित हो, हिंसा के आरंभ में आसक्त हो, महालोभी तथा परिग्रह बढ़ाना चाहता हो, धनी होकर के भी मांगता हो, यज्ञादि करनेवाले, वेदों में कही हिंसा धर्म में लीन हो, चंडी भवानी का सेवक होकर बकरा, भैंसा का घात करनेवाला हो, कुदान को लेनेवाला हो, शराबी हो, भंगेड़ी हो, वेश्यागामी हो, जिनधर्म का द्रोही हो, शिकार आदि में धर्म कहनेवाला हो, परधन-परस्त्री का चाहनेवाला हो, अपनी प्रशंसा करनेवाला हो, व्रती नाम धराकर व्रतभंग करके पाँच पापों में आसक्त हो, बहुत आरंभी हो, बहु-परिग्रही हो, तीव्र कषायी हो, असत्य भाषण में लीन हो, खोटेशास्त्रों का उपदेश देनेवाला हो, तथा जिनशास्त्रों में खोटेशास्त्र मिलाकर मिथ्या प्ररूपणा करनेवाला, व्यसनी, पाखण्डी, अभक्ष्यभक्षक, व्रत-शील-संयम-तप से पराङ्मुख, विषयों का लोलुपी, जिह्वा इंद्रिय का वशीभूत, मिष्ट भोजन का लंपटी-ये सभी अपात्र हैं ।

इनमें रत्नत्रयधर्म का अभाव होने से पात्रपना नहीं है । कुधर्मरूप जो मिथ्याधर्म - परोपकार की भावना, दयावानपना, क्षमा, संतोष, शील, सत्य, त्याग आदि पूजा, जाप, नाम स्मरण आदि मिथ्याधर्म भी जिनमें नहीं पाये जाते हैं इसलिये कुपात्र भी नहीं है । गरीब, दीन, दरिद्र, दु:खी, भूखे भी नहीं अत: दयादान के भी पात्र नहीं हैं । ये तो केवल लोभी, मदोन्मत्त, विषयों के लंपटी हैं, धर्म के भी इच्छुक नहीं हैं । कितने ही नाम के जैनी होकर के जैनधर्म का भेष भी केवल जिह्वा इंद्रिय के विषयरूप अनेक प्रकार का भोजन जीमने के लिये धारण किया है; धन पैदा करने के लिये भेष धारण किया है; अभिमानी होकर अपनी पूजा, उच्चता, धन के लाभ के इच्छुक होकर तप, व्रत, पठन, वाचन आदि अंगीकार करते हैं, वे सब अपात्र हैं, दान के योग्य नहीं हैं ।

अपात्र को दान देना कैसा है ? पत्थर पर बीज बो देने के समान है, कड़ुवी तुम्बी में दूध रख देने के समान है, घने जंगल में चोर के हाथ में अपना धन सौंप देने के समान है, अपना जीवन बढ़ाने के लिये विष भक्षण करने के समान है, रोग दूर करने के लिये अपथ्य सेवन करने के समान है, सर्प को दूध पिलाने दु:ख की उत्पत्ति का बीज है ।

अपना धन अंधकूप में पटक देना परन्तु अपात्र को दान नहीं करना चाहिये । अपात्र दान तो अपने घर में विष के वृक्ष को उगाने के समान है । अपात्र का साथ दावाग्नि के समान दूर से ही त्याग देना चाहिये । जैसे विष के वृक्ष की गंध ही मूर्च्छित कर देती है उसी तरह अपात्र की संगति भी आत्मज्ञान से भ्रष्ट कर देती है ।

इस प्रकार दान के वर्णन में पात्र, कुपात्र, अपात्र का वर्णन किया ।

अब चार प्रकार का सुपात्रदान देकर जो प्रसिद्ध हुए हैं आगम के आधार से उनके नाम कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

श्रीषेण वृषभसेने कौण्डेश: शूकरश्च दृष्टांता: ।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्या: ॥११८॥

अर्थ :- चार प्रकार की वैयावृत्य के चार उदाहरण जानने योग्य हैं । आहारदान के फल में श्रीषेण राजा प्रसिद्ध हुए हैं । औषधिदान के फल में सेठ की पुत्री वृषभसेना प्रसिद्ध हुई है । शास्त्रदान के फल में कौण्डेश नाम का ग्वाला, जो आगे चलकर केवली बन गया, प्रसिद्ध हुआ है । वस्तिका दान (अभयदान) के फल में शूकर मरकर स्वर्ग लोक में महर्द्धिक देव होकर प्रसिद्ध हुआ है ।

दान का अचिंत्य प्रभाव है । इस लोक में भी दानी सभी से उच्च हो जाता है ।

अब यहाँ ऐसा और भी विशेष जानना – दान देकर दान के फल में मेरे यहाँ विषय सामग्री अधिक हो जायगी - ऐसी विषयों की चाह कभी नहीं करना चाहिये । जो दान के फल से इंद्रियों के भोग चाहते हैं वे चिन्तामणि रत्न को देकर काँच का टुकड़ा चाहते हैं, अमृत छोड़कर विष पीना चाहते हैं, धागे के लिये मणियों का हार तोड़ना चाहते हैं, ईंधन के लिये कल्पवृक्ष काटना चाहते

हैं, लोहे के लिये नाव को तोड़ना चाहते हैं तथा अपने गले में बड़ा भारी पत्थर बांधकर अगाध गहरे जल में प्रवेश करना चाहते हैं ।

इंद्रियों के विषय कैसे हैं ? अग्नि के समान दाह उत्पन्न करनेवाले हैं, कालकूट जहर के समान बेहोश करनेवाले हैं - मार डालनेवाले हैं, पाँच पापों में प्रवर्तन करानेवाले हैं, तृष्णा उत्पन्न करानेवाले हैं, नरक प्राप्त करानेवाले हैं, महा बैर के कारण हैं; ज्वर रोग के समान संताप, मूर्च्छा, प्रलाप, दु:ख, भय, शोक, भ्रम उत्पन्न करानेवाले हैं । विषयों का चिन्तवन ही जीव को अचेत कर देता है, सेवन करने से तो अनेक भवों में दु:ख भोगना पड़ता है ।

इसलिये निर्वांछक होकर दान-धर्म करना चाहिये । अपने को लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो धन प्राप्त हुआ है उसी में संतोष करके आगामी विषयों की वांछा नहीं करो । पाव भर धान भी मिले तो उसमें भी दान का हिस्सा निकालना चाहिये । दान के निमित्त धन की वांछा नहीं करो। **वांछा का अभाव हो जाना ही परम दान है, वही परम तप है ।**

इसी वैयावृत्य को ही अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं । इस प्रकार दान का वर्णन किया । अब वैयावृत्य में ही जिनेन्द्र पूजन का उपदेश करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥११९॥

अर्थ :- देव जो इंद्रादि उनके अधिदेव अर्थात् स्वामी जो अरहन्तदेव, उनके चरणों के समीप जो परिचरण अर्थात् पूजन वह नित्य ही करना चाहिये । **कैसी है पूजन ?** समस्त दु:खों का नाश करनेवाली, मनोवांछित को पूर्ण करनेवाली और कामभाव का नाश करनेवाली है ।

भावार्थ :- गृहस्थ को नित्य ही प्रथम जिनेन्द्र का पूजन करना चाहिये । जिनेन्द्र के पूजन समान सर्वोत्तम कार्य दूसरा नहीं है ।

यहाँ ऐसा संबंध जानना – जिन्हें किंचित् मात्र भी अशुभ कर्म के क्षयोपशम से मनुष्य-तिर्यंचों के समान सप्त धातुमय शरीर नहीं प्राप्त है, तथा आहार आदि के आधीन क्षुधा-तृषा आदि की वेदना मिटाना नहीं है, स्वयं ही कंठ में से अमृत झर जाता है जिससे क्षुधा-तृषा से होनेवाली वेदना का कष्ट उन्हें नहीं होता है, उन्हें बुढ़ापा आता नहीं है, रोग होता नहीं है, इत्यादि कर्मकृत कुछ भी बाधा नहीं होने से चारों गति के देवों को उत्तम कहते हैं ।

ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय आदि कर्म का अधिक क्षयोपशम होने से अन्य देवों की अपेक्षा जिनकी ज्ञान-वीर्य आदि शक्ति की अधिकता होने से देवों के स्वामी इंद्र सभी असंख्यात देवों द्वारा वंदनीय हैं । जो आत्मा की शक्ति की घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय आदि समस्त कर्मों का नाश करके जिनेन्द्र हुए हैं, वे सभी इंद्रादि द्वारा वंदनीय हैं, अत: वे जिनेन्द्र देवाधिदेव हैं ।

देवाधिदेव के चरणों का पूजन समस्त दु:खों का नाश करने वाला है । इंद्रियों के विषयों की कामना का नाश करके मोक्षरूप सुख की कामना को पूर्ण करने वाला है । अत: अन्य समस्त

की आराधना छोड़कर जिनेन्द्र की आराधना करो । बहुत समय तक संसारी, रागी, द्वेषी, मोही जीवों की आराधना करके घोर पाप कर्म का बंध करके संसार में परिभ्रमण ही किया है । यदि वीतराग सर्वज्ञदेव की आराधना की होती तो कर्म के बंध का नाश करके स्वाधीन मोक्षरूप आत्मा को प्राप्त कर लिया होता । इसलिये संसार के सभी दुःखों का नाश करनेवाला जिनेन्द्र का पूजन ही करो ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है – भगवान अरहन्त तो आयु पूर्ण करके लोक के अग्रभाग में मोक्षस्थान में हैं, धातु-पाषाण के स्थापनारूप प्रतिबिम्बों में तो आते नहीं हैं, अपनी पूजन-स्तवन भी चाहते नहीं हैं, तथा अपने अनंतज्ञान-अनंतसुख में लीन बैठे हैं । अपनी पूजन-स्तवन तो जो अभिमान-कषाय से दुःखी, अपनी बड़ाई का इच्छुक, संसारी-रागद्वेष सहित हो, वह चाहता है और वही स्तवन करने से संतुष्ट होता है । भगवान् परमेष्ठी वीतराग अनंत चतुष्टय स्वरूप में लीन हैं, उन्हें पूजा की चाह नहीं है, वे धातु-पाषाण के प्रतिबिंब में आते नहीं हैं, किसी का उपकार करते नहीं हैं, किसी का अपकार भी करते नहीं हैं, पूजन-स्तवन करनेवालों से प्रसन्न होते नहीं हैं, निंदा करनेवालों से द्वेष करते नहीं हैं । फिर किस प्रयोजन से अरहन्त जिनेन्द्रदेव की पूजन-स्तवन करना चाहिये ?

उसे उत्तर होते हैं – भगवान् वीतराग तो पूजन स्तवन चाहते नहीं हैं, परन्तु गृहस्थ के परिणाम शुद्ध आत्म स्वरूप की भावना में रुकते नहीं हैं, साम्यभाव रूप रहते नहीं हैं, बिना अवलंबन के मन रहता नहीं है; इसलिये परमात्मा की भावना का आलम्बन लेकर, वीतराग स्वरूप के ध्यान के लिये, शुद्धात्मा के अबलंबन के लिये, विषय-कषाय के आरंभ का अवलंबन छोड़कर, साक्षात् परमात्म स्वरूप का धातु-पाषाणमय प्रतिबिंबों में संकल्प करके परमात्मा का ध्यान, स्तवन, पूजन करते हैं ।

पूजन के समय में विषय-कषायों के संकल्पों का अभाव होने से, दुर्ध्यान के छूटने से, अपने परिणामों की विशुद्धता के प्रभाव से, अशुभ कर्मों का रस सूख जाता है, अशुभ कर्मों की स्थिति घट जाती है, अनुभाग घट जाता है, वही पाप कर्मों का रस सूख जाता है, अशुभ कर्मों की स्थिति घट जाती है, अनुभाग घट जाता है, वही पाप कर्मों का अभाव है । परिणामों की विशुद्धता के प्रभाव से शुभ प्रकृतियों में रस बढ़ जाता है, शुभ आयु के सिवाय समस्त कर्मों की प्रकृतियों की स्थिति घट जाती है । इसी कारण से वीतराग के स्तवन, पूजन, ध्यान करने के प्रभाव से पापकर्मों का नाश होता है, सातिशय पुण्य कर्म का उपार्जन होता है ।

यह भी निश्चय करो – पुण्य-पाप का बंध का कारण तो अपना भाव है । बाह्य में जैसा अवलम्बन मिलता है वैसा अपना भाव होता है । यद्यपि भगवान अरहन्त धातु-पाषाण के प्रतिबिंबों में आते नहीं हैं, तथा भगवान वीतराग किसी का उपकार-अपकार करते नहीं हैं, तथापि वीतराग भगवान का ध्यान-पूजन-नाम अपने शुभ परिणाम करने को, रागद्वेष के नाश करने को बाह्य कारण हैं, उन परिणामों से जीव का परम उपकार होता है ।

जैसे काष्ठ, पाषाण, चित्राम के स्त्रियों के रूप जीवों को राग के कारण हैं; अचेतन स्वर्ण, मणि, माणिक, चाँदी, महल, वन, बाग, नगर, ग्राम, पत्थर, कीचड़, श्मशान आदि का देखना, सुनना रागद्वेष

उत्पन्न कराता है; शुभ-अशुभ वचन, राग, रुदन, सुगंध दुर्गंध - वे सभी अचेतन पुद्‌गल द्रव्य हैं; इनका श्रवण, अवलोकन, चिन्तवन, अनुभवन करने से रागद्वेष होते हैं; उसी प्रकार जिनेन्द्र की परम शान्तमुद्रा ज्ञानियों को वीतरागता होने के लिये सहकारी कारण है, प्रेरक कारण नहीं है । भव्य जीवों को वीतरागता के सिवाय कुछ चाहना नहीं है ।

जिनेन्द्र के चरणों में पूजन के समय जो जल, चंदन आदि द्रव्य चढ़ाते हैं, वह भगवान को खाने के लिये नहीं हैं; वे पूजा नहीं करने से अपूज्य रह जायेंगे या उस सामग्री की वे वासना ले लेते हैं, ऐसे अभिप्राय से सामग्री नहीं चढ़ाते हैं । **वह तो भगवान के दर्शन के अत्यधिक आनंद से जल, चंदन आदि रूप अर्घ उतारण करना है ।** जैसे राजादि की भेंट करना, नजर करना, आरती उतारना, निछरावलि करना, अक्षत-पुष्प आदि क्षेपण करना है; मोतियों के थाल भरकर उतारन करते हैं; स्वर्ण की मुहरें, रुपयों का थाल उतारन करके लुटाते हैं; रत्नों के थाल भर के निछरावलि करके क्षेपते हैं; अक्षत-पुष्प आदि द्वारा उतारन करते हैं वह सब राजा की भक्ति तथा आनंद प्रकट करना है । राजाओं को दान नहीं दिया जाता है । जैसे राजाओं के निकट की हुई निछरावलि को याचकजन-अर्थीजन ग्रहण कर लेते हैं; उसी प्रकार भगवान् अरहन्त के आगे के स्थान में अष्ट द्रव्यों का अर्घ चढ़ाना जानना चाहिये ।

अब पूजन के योग्य नवदेव हैं । उनका वर्णन शास्त्रों में है :-

अरहन्त सिद्ध साहू तिदयं जिणधम्म वयण पडिमाहू ।
जिणणिलया इदिराए णव देवा दिंतु मे वोहि ॥

अर्थ :– अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनवचन, जिनप्रतिमा, जिनमंदिर– इस प्रकार ये नव देव हैं, वे मुझे रत्नत्रय की पूर्णता देवें ।

जहाँ अरहन्त का प्रतिबिंब है वहाँ नवरूप देव गर्भित जान लेना चाहिये । आचार्य, उपाध्याय, साधु तो अरहन्त की पूर्व अवस्था हैं । सिद्ध हैं सो पहले अरहन्त होकर ही सिद्ध बने हैं । अरहन्तों की वाणी वह जिनवचन है । वाणी द्वारा जो अर्थ प्रकाशित किया है वह जिनधर्म है । अरहन्त का स्वरूप जहाँ विराजमान रहता है वह जिनालय है । इस प्रकार नव देवता रूप भगवान अरहन्त के प्रतिबिम्ब का पूजन नित्य ही करना योग्य है ।

अधोलोक में अरहन्त के अकृत्रिम प्रतिबिम्ब, भवनवासियों के चमर-वैरोचन आदि इंन्द्रों द्वारा तथा असंख्यात भवनवासी देवों द्वारा पूजे जाते हैं । **मध्यलोक** में चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि अनेक धर्मात्माओं द्वारा पूजे जाते हैं । **व्यंतरलोक** में व्यंतरों के इन्द्रों तथा देवों द्वारा पूजे जाते हैं। **ज्योतिर्लोक** में चन्द्र-सूर्य आदि असंख्यात ज्योतिषी देवों द्वारा पूजे जाते हैं । **स्वर्गलोक** में सौधर्म आदि इन्द्रों द्वारा तथा असंख्यात कल्पवासी देवों द्वारा पूजे जाते हैं ।

इस प्रकार तीनों लोकों के भव्य जीवों द्वारा वंदनीय पूज्य अरहन्त का तदाकार प्रतिबिम्ब है वह सदाकाल भव्य जीवों को पूजना योग्य है ।

पूजा के भेद, विधि और प्रयोजन : पूजा दो प्रकार की है - एक द्रव्यपूजा, दूसरी भावपूजा। अरहन्त के प्रतिबिम्ब का वचनों के द्वारा स्तवन करना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना, दोनों हाथों को जोड़कर अंजुलि को मस्तक तक ले जाना, जल चंदन आदि अष्ट द्रव्य चढ़ाना, वह **द्रव्यपूजा**, है। अरहन्त के गुणों में एकाग्र चित्त होकर, अन्य सभी विकल्प जाल छोड़कर उनके गुणों में अनुरागी होना, तथा अरहन्त के प्रतिबिम्ब का ध्यान करना वह **भावपूजा** है। अथवा अरहन्त के प्रतिबिम्ब के पूजन के लिये शुद्ध भूमि में, प्रामाणिक जल से स्नान करके, उज्ज्वल वस्त्र पहिनकर, महाविनय सहित, दोनों हाथों की अंजुलि जोड़कर, भक्ति सहित, उज्ज्वल निर्दोष जल के द्वारा अरहन्त के प्रतिबिम्ब का अभिषेक करना वह भी पूजन है।

यद्यपि भगवान के अभिषेक का प्रयोजन नहीं है तथापि पूजक को ऐसा भक्तिरूप उत्साह का भाव आता है कि मैं अरहन्त को साक्षात् स्पर्श ही कर रहा हूँ, अभिषेक ही कर रहा हूँ। ऐसी भक्ति की महिमा है।

उत्तम जल को रकाबी (छोटी कटोरी, कलशी आदि) में लेकर अरहन्त के प्रतिबिम्ब के आगे ऐसा ध्यान करता है :-

हे जन्म, जरा, मरण को जीतनेवाले जिनेन्द्र ! मैं अपने जन्म, जरा, मरण के नाश के लिये जल की तीन धारायें आपके चरणारविन्द के आगे क्षेपण करता हूँ। हे जन्म, जरा, मरण रहित जिनेन्द्र! आपके चरणों की शरण ही मुझे जन्म, जरा, मरण रहित होने को कारण है।

हे संसार परिभ्रमण के आताप रहित जिनेन्द्र ! मैं अपने संसार परिभ्रमण रूप आताप का नाश करने के लिये चंदन कपूर आदि द्रव्यों को आपके चरणों के आगे रखता हूँ।

हे अविनाशी पद के धारक जिनेन्द्र ! मैं भी अक्षयपद की प्राप्ति के लिये अक्षतों को आपके चरणों के आगे रखता हूँ।

हे कामबाण के विध्वंसक जिनेन्द्र ! मैं भी अपने कामभाव के विध्वंस के लिये पुष्पों को आपके चरणों के आगे क्षेपण करता हूँ।

हे क्षुधा रोग रहित जिनेन्द्र ! मैं भी अपने क्षुधा रोग का नाश करने के लिये नैवेद्य को आपके चरणों के आगे क्षेपण करता हूँ।

हे मोह-अंधकार रहित जिनेन्द्र ! मैं भी अपने मोहरूपी अंधकार को दूर करने के लिये दीपक को आपके चरणों के आगे रखता हूँ।

हे अष्ट कर्म के दाहक जिनेन्द्र ! मैं भी अपने अष्ट कर्म के नाम के लिये धूप को आपके चरणों के आगे रखता हूँ।

हे मोक्ष स्वरूप जिनेन्द्र ! मैं भी मोक्षरूप फल को पाने के लिये फलों को आपके चरणों के आगे रखता हूँ।

इस प्रकार जो अपने देश-काल की योग्यता प्रमाण एक द्रव्य से भी पूजन, दो द्रव्यों से, तीन द्रव्यों से, चार द्रव्यों से, पाँच द्रव्यों से, छह द्रव्यों से सात द्रव्यों से, अष्ट द्रव्यों से भी पूजन करके अपने भावों को परमेष्ठी के ध्यान में लगाते हैं, स्तवन पढ़ते हैं, वे महापुण्य उपार्जन करते हैं तथा पाप की निर्जरा करते हैं ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना – जो चार प्रकार के देव जिनेन्द्र की पूजा करनेवाले हैं वे सभी तो कल्पवृक्षों से प्राप्त गन्ध, पुष्प, फल आदि सामग्री द्वारा पूजन करते हैं; तथा सौधर्म इन्द्रादि जो सम्यग्दृष्टि देव हैं वे तो जिनेन्द्र की भक्ति, पूजन, स्तवन करके ही अपने देव पर्याय को सफल मानते हैं ।

मनुष्यों में चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि राजेन्द्र हैं वे मोतियों के अक्षत, रत्नों के पुष्प, फल, दीपक आदि तथा अमृतपिंड आदि के द्वारा जिनेन्द्र की पूजन, स्तवन, नृत्य, गान आदि करके महापुण्य उपार्जन करते हैं ।

अन्य मनुष्यों में भी जिनके पुण्य के उदय से सम्यक् उपदेश प्राप्त कर लेने से जिनेन्द्र की आराधना में भक्ति उत्पन्न होती है वे सभी जाति, कुलवाले यथायोग्य पूजन करते हैं । सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपनी-अपनी सामर्थ्य, अपना-अपना ज्ञान, कुल, बुद्धि, सम्पदा, संगति, देश, काल में योग्य अनेक स्त्री, पुरुष, नपुंसक, धनवान, निर्धन, सरोग, निरोग, जिनेन्द्र की आराधना करते हैं।

कोई ग्रामनिवासी हैं, कोई नगर निवासी हैं, कोई वन निवासी हैं, कोई बहुत छोटे ग्राम में रहनेवाले हैं; उनमें से कितने ही तो अति उज्ज्वल अष्ट प्रकार की सामग्री बनाकर पूजन के पाठ पढ़कर पूजन करते हैं; कितने ही कोरा सूखा जवा, गेहूँ, चना, मक्का, बाजरा, उड़द, मूंग, मोंठ इत्यादि अनाज को मुट्ठी में लेकर जिनेन्द्र को अर्पण करते हैं ।

कोई रोटी चढ़ाता है, कोई रावड़ी चढ़ाता है, कोई अपने बाग से फूल लाकर चढ़ाता है । कोई दाल-भात व अनेक पकवान चढ़ाता है । कोई अनेक प्रकार के मेवा चढ़ाते हैं, कोई मोतियों के अक्षत, कोई माणिक के दीपक, कोई चोने-चाँदी तथा पाँच प्रकार के रत्नों से जड़े पुष्प-फल आदि चढ़ाते हैं । कोई दूध, कोई दही, कोई घी चढ़ाते हैं । कोई अनेक प्रकार के घेवर, लाडू, पेड़ा, बरफी, पूड़ी, पुआ, इत्यादि चढ़ाते हैं ।

कोई वंदना मात्र ही करते हैं, कोई स्तवन, कोई गीत, नृत्य, वादित्र ही करते हैं । कितने ही अस्पृश्य शूद्र आदि मंदिर के बाहर से ही रहकर मंदिर के शिखर की तथा शिखरों में जिनेन्द्र के प्रतिबिम्ब का ही दर्शन-वंदना करते हैं ।

इस प्रकार जैसा ज्ञान, जैसी संगति, जैसी सामर्थ्य, जैसी धनसम्पदा, जैसी शक्ति उसी के अनुसार देश-काल के योग्य जिनेन्द्र के आराधक मनुष्य हैं वे वीतराग का दर्शन, स्तवन, पूजन, वंदन करके भावों के अनुकूल उत्तम, मध्यम, जघन्य पुण्य का उपार्जन करते हैं ।

यह जिनेन्द्र का धर्म जाति, कुल के आधीन नहीं है, धन सम्पति के आधीन नहीं है, बाह्य क्रिया के आधीन नहीं है। जीव को अपने परिणामों की विशुद्धता के अनुसार फल देता है। कोई धनवान अभिमानी यश का इच्छुक होकर मोतियों के अक्षत, माणिकों के दीपक, रत्नस्वर्ण के पुष्पों द्वारा पूजन करता है, अनेक बाजे-नृत्यगान करके बड़ी प्रभावना करता है, तो भी थोड़ा सा ही पुण्य उपार्जन करता है, या अल्प पुण्य भी नहीं उपार्जन करता है, केवल पाप कर्म का बन्ध करता है, कषायों के अनुसार बंध होता है।

कोई अपने भावों की विशुद्धता से अति भक्तिरूप होकर किसी एक जल-फलादि द्वारा व अन्न मात्र द्वारा व स्तवन मात्र द्वारा, महापुण्य का उपार्जन करते हैं तथा अनेक भवों के संचित किये पापकर्म की निर्जरा करते हैं।

धन के द्वारा पुण्य मोल नहीं आता है। जो निर्वांछक हैं, मंदकषायी हैं, ख्याति लाभ पूजादि को नहीं चाहते हैं, केवल परमेष्ठी के गुणों में अनुरागी हैं उनको जिनपूजन बहुत अधिक फल देने रूप फलता है।

अब यहाँ जिनपूजन सचित्त द्रव्यों से भी और अचित्त द्रव्यों से भी करना आगम में कहा है। जो सचित्त के दोष से भयभीत हैं, यत्नाचारी हैं वे तो प्रासुक जल, गंध, अक्षत को चंदन, केशर आदि से रंगकर सुगंधित रंगीन अक्षतों में पुष्पों की कल्पना करके पुष्पों से पूजते हैं। आगम में कहे स्वर्ण के पुष्प, चांदी के पुष्प तथा रत्नजड़ित स्वर्ण के पुष्प तथा लवंग आदि अनेक मनोहर पुष्पों द्वारा पूजन करते हैं। प्रासुक, बहुत आरंभ आदि से रहित, प्रामाणिक नैवेद्य द्वारा पूजन करते हैं।

रत्नों के दीपक व स्वर्ण-चाँदी के दीपकों द्वारा पूजन करते हैं; चिटकों (खोपरा के छोटे-छोटे भाग) को केशर के रंग से रंगकर दीपक की कल्पना करके पूजन करते हैं। चन्दन, अगर आदि चढ़ाते हैं। बादाम, जायफल, पूंगीफल आदि अवधि शुद्ध प्रासुक फलों द्वारा पूजन करते हैं। अचित्त द्रव्यों द्वारा तो इस प्रकार पूजन करते हैं।

जो सचित्त द्रव्यों से पूजन करते हैं वे जल, गंध, अक्षतादि उज्ज्वल द्रव्यों द्वारा पूजन करते हैं। चमेली, चंपक, कमल, सोनजाई इत्यादि सचित्त पुष्पों द्वारा पूजन करते हैं। घी का दीपक तथा कपूर आदि के दीपकों द्वारा आरती उतारते हैं। सचित्त आम, केला, दाड़िम आदि फलों द्वारा पूजन करते हैं, धूपायन में धूप जलाते हैं। इस प्रकार सचित्त द्रव्यों द्वारा भी पूजन करते हैं। दोनों प्रकार से पूजन करना आगम की आज्ञा अनुसार प्राचीन मार्ग है। अपने भावों के अनुसार पुण्य बंध का कारण है।

सचित्त पूजन निषेध : यहाँ ऐसा विशेष जानना – इस दुःखमकाल में विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति बहुत है। फूलों में दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पाँच इंद्रिय त्रस जीव प्रगट नेत्रों से दिखनेवाले दौड़ते दिखाई पड़ते हैं। फूल के पत्तों को झड़कार के देखिये तो हजारों जीव फिरते-दौड़ते दिखाई देते हैं। पूलों में त्रस जीव तो बहुत होते ही हैं, तथा बादर निगोदिया जीव अनंत होते हैं। चैत्र माह में तथा वर्षा ऋतु में त्रस जीव बहुत उत्पन्न होते हैं।

इसलिये जो ज्ञानी हैं, धर्म बुद्धि वाले हैं वे तो सभी धर्म के कार्य यत्नाचार से करते हैं, करना चाहिये। जिस प्रकार जीवों की विराधना न होवे उस प्रकार करना चाहिये। फूलों के धोने में दौड़ते हुए त्रस जीवों की बहुत हिंसा होती है। इसमें हिंसा तो बहुत है तथा परिणामों की विशुद्धता थोड़ी है। इसलिये पक्षपात छोड़कर जिनेन्द्र के कहे अहिंसा धर्म को ग्रहण करके जितना कार्य करो उतना यत्नाचार रूप होकर जीवों की विराधना टालकर करो।

इस कलिकाल में लोग भगवान का कहा नय-विभाग तो समझते नहीं है, तथा शास्त्रों में लिखा है, उस कथनी को नय-विभाग से जानते नहीं है, तथा अपनी कल्पना से ही पक्ष ग्रहण करके चाहे जैसे प्रवर्तते हैं।

रात्रि पूजन निषेध : कितने ही पक्षपाती लोग भादों में दिन में तो पूजन नहीं करते हैं, रात्रि में पूजन करते हैं। बहुत दीपक जलाते हैं, नैवेद्य चढ़ाते हैं, फूलों के ढेर चढ़ाते हैं, उनमें लाखों मच्छर, डांस, मक्खी तथा हरे, पीले, काले, लाल रंग के करोड़ों त्रस जीव, अनेक रंग के छोटी अवगाहना वाले जीव सामग्री बनाने में, चढ़ाने के थालों में, वस्त्रों में, दीपकों के निमित्त से दूर से आ-आकर गिर-गिरकर मरते हैं। प्रत्यक्ष ही देखते हैं - अपने मुँह मे, नाक में, आंखों में, कानों में घुस जाते हैं, उड़ते हैं मरते हैं तो भी अपना पक्ष नहीं छोड़ते; दिन छोड़कर रात्रि में पूजन करते हैं। रात्रि में तो आरंभ छोड़कर बड़े यत्नाचार सहित रहने की आज्ञा है।

धर्म का स्वरूप तो बाह्य जीव दया तथा अंतरंग में राग, द्वेष, मोह का विजयरूप है। जहाँ जीव हिंसा है, वहाँ धर्म नहीं है। जहाँ अभिमान के वश होकर एकान्त के पक्ष को पकड़कर अपना पक्ष पोषण करने के लिये हिंसा का भय नहीं करते हैं, वहाँ धर्म नहीं है।

कितने ही एकान्ती मंडल मांडकर आठ दिन, दस दिन तक रखते हैं। उस सामग्री में प्रत्यक्ष आंख से दिखाई देनेवाले लट, कीड़े घूमते हैं; फल आदि गलकर चलित रस को जाते हैं, तथा नैवेद्य आदि की गंध से कीड़ों की लाइन लग जाती है; प्रभावना के लिये वहाँ अनेक मनुष्य आते हैं, उनके पैरों से खुन्दकर मर जाते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष देखते हुए भी अपने पक्ष के अभिमान के अंधकार से अंधे होकर नहीं देखते हैं। **रात्रि की बासी सामग्री रखना महाहिंसा का कारण है।**

अनेक पुराणों में व अनेक श्रावकाचारों में अरहन्त की प्रतिमा की अष्ट द्रव्यों से ही पूजन करने का उपदेश है। कहीं अरहन्त के प्रतिबिम्ब के स्तवन का, वन्दना का, तथा कहीं अभिषेक का वर्णन है; किन्तु प्रतिबिम्ब तदाकार होने से किसी ग्रन्थ में भी स्थापना का वर्णन नहीं है; और अब इस कलिकाल में प्रतिमा विराजमान होने पर भी स्थापना को ही मुख्य कहते हैं।

इस जयपुर में संवत् १८५० (अठारह सौ पचास) के वर्ष में अपने मन की कल्पना से किसी-किसी ने नई स्थापना करने की प्रवृत्ति चलाई है। उनमें अरहन्त १, सिद्ध २, आचार्य ३, उपाध्याय ४, साधु ५, जिनवाणी ६, दशलक्षण धर्म ७, सोलह कारण ८, रत्नत्रय ९, इन नौ की स्थापना करते हैं; तथा ऐसा कहते हैं - जिसके सप्त व्यसन का त्याग, अन्याय का त्याग, अभक्ष्य का त्याग

हो वह स्थापना सहित पूजन करे; जिसके सप्त व्यसन का, अन्याय का, अभक्ष्य का त्याग नहीं हो वह स्थापना नहीं करे। स्थापना सहित पूजन तो सप्त व्यसन का, अन्याय का, अभक्ष्य का त्याग करनेवाला ही करे। जिसके इनका त्याग नहीं हो, वह स्थापना किये बिना ही पूजन कर ले, स्थापना नहीं करे। स्त्रियों को यदि रंगीन वस्त्र पहने हों तो स्थापना किये बिना ही पूजन करना कहते हैं ?

ऐसा कहने वालों के साक्षात् जिनेन्द्र के प्रतिबिम्ब का सम्मान नहीं रहा, अतदाकर चांवलों की स्थापना की ही विनय करना रहा। प्रतिबिम्ब की विनय करना मुख्य नहीं रहा। प्रतिमा का पूजन, वंदन, स्तवन तो जो भी चाहे वह कर सकता है, किन्तु पीले चावलों में स्थापना तो वही कर सकता है जो उत्तम हो, व्यसन, अन्याय अभक्ष्यादि पापरहित हो; किन्तु इस प्रकार तो पीले अक्षतों में स्थापना करना मुख्य विनय योग्य हो गया, तथा प्रतिमा में पूजन आदि विनय करना गौण हो गया।

पक्षपाती और भी कहते हैं – जिस तीर्थंकर की प्रतिमा हो उनके आगे उन्हीं की पूजा, स्तुति, भक्ति करना चाहिये; अन्य तीर्थंकर की स्तुति-भक्ति नहीं करना चाहिये। यदि अन्य तीर्थंकर की पूजा करना हो तो तंदुलों में अन्य तीर्थंकर की स्थापना करके पूजन-स्तवन करना, ऐसा पक्षपात करते हैं।

उन्हें इस प्रकार तो विचार करना चाहिये – समन्तभद्र स्वामी ने शिवकोटि राजा के सामने प्रत्यक्ष देखते हुए स्वयंभू स्तोत्र द्वारा स्तवन किया था, तब चन्द्रप्रभु स्वामी की प्रतिमा प्रगट हुई थी। तो उस समय उन्होंने चंद्रप्रभु के सामने अन्य सोलह तीर्थंकरों का स्तवन कैसे किया ? यदि एक प्रतिमा के पास एक ही का स्तवन पढ़ना उचित है तो **स्वयंभूस्तोत्र** का मंदिर में पढ़ना ही संभव नहीं रहेगा; आदिनाथ जिनेन्द्र की प्रतिमा के बिना **भक्तामर स्तोत्र** का पढ़ना नहीं बन सकेगा; पार्श्वनाथ जिनेन्द्र की प्रतिमा के बिना **कल्याण मंदिर स्तोत्र** का पढ़ना नहीं बन सकेगा; पंच परमेष्ठी की प्रतिमा की स्थापना के बिना **पंचनमस्कार मंत्र** कैसे पढ़ा जायगा ? कायोत्सर्ग, जाप करना आदि भी नहीं बनेगा।

पंच परमेष्ठी की प्रतिमा के बिना उनका नाम लेना, जाप करना, सामायिक करना, संभव नहीं होगा। अन्य देश में अनजाने मंदिर में पहले प्रतिमा का निश्चय किये बिना स्तुति पढ़ना नहीं बनेगा। यदि रात्रि का समय हो, व छोटी अवगाहना की प्रतिमा हो तो वहाँ पहिले चिह्न का निश्चय करे पश्चात् स्तवन में प्रवर्तन हो सकेगा।

जिस मंदिर में अनेक प्रतिमायें हों वहाँ जिसका स्तवन करे उसी के सामने हाथ जोड़कर, नजर एकाग्र करके, विनती करना हो सकेगा, अन्य प्रतिमा के सम्मुख नहीं हो सकेगा। जिस मंदिर में अनेक प्रतिमायें हों वहाँ यदि एक प्रतिमा का स्तवन-वंदन किया तो दूसरी प्रतिमा का निरादर हो जायेगा। दूसरी का वंदन किया तो तीसरी चौथी पाँचवीं आदि का भावों में निरादर हो गया, तब भक्ति नष्ट हुई ही समझो।

यदि आप कहोगे – जहाँ बहुत प्रतिमायें हों वहाँ चौबीसों का स्तवन करेंगे। यदि वहाँ बीस ही प्रतिमायें हों या बाईस-तेईस हों तो पहले एक का चिह्न का अच्छी तरह से निर्णय करके उसी का स्तवन किया जायगा, अन्य तीर्थंकरों का स्तवन रह जायेगा। जहाँ प्रतिमा छोटी हो, दूरी पर विराजमान हो, दर्शन करनेवाले की दृष्टि मंद हो, वहाँ पाँच लोगों से पूँछकर स्तवन-वंदन करना हो सकेगा। इस प्रकार एकान्ती मनोक्त कल्पना करनेवाले के अनेक दोष आते हैं।

जो स्थापना के पक्षपाती स्थापना किये बिना प्रतिमा की पूजन नहीं करते हैं, तो उनकी मान्यता के अनुसार प्रतिमा के स्तवन कराने की भी योग्यता नहीं रही ? यदि पीले चांवलों की अतदाकार स्थापना ही पूज्य है तो उन पक्षपातियों को धातु-पाषाण की तदाकार प्रतिबिम्ब की स्थापना करना निरर्थक है ? अकृत्रिम चैत्यालयों के प्रतिबिम्ब जो अनादि निधन स्थापित हैं उनमें भी पूज्यपना नहीं रहा ?

एक प्रतिमा के आगे एक का ही पूजन करना, अन्य तेईस की पूजन करना हो तो पीले अक्षतों में स्थापना करके कर लेना। **उससे कहते हैं** – तब तेईस प्रतिमाओं का संकल्प पीले अक्षतों में ही हुआ; तथा जयमाल, स्तुति, पूजन आदि करते हुए अपनी दृष्टि पीले अक्षतों में ही रखनी चाहिये। एक प्रतिमा में चौबीस का भाव अयोग्य ठहरेगा ? तेईस की प्रतिमा तो स्थापना के पुष्पों में ही रही?

स्थापना बिना पूजन नहीं करना चाहिये - तो घर में, वन में, विदेश में अरहन्तों का स्तवन-वंदन ही संभव नहीं होगा ? **जो एकान्ती आगमज्ञान रहित पक्षपाती हैं उनके कहने का कुछ ठिकाना (विश्वास) नहीं है, उन्हें पाप का भय नहीं है।** वे पूजन तो चौबीस की करते हैं, शान्तिपाठ में सोलहवें तीर्थंकर का स्तवन करते हैं ? इसलिये अनेकान्त की शरण पाकर आगम की आज्ञा बिना पक्ष का एकान्त करना ठीक नहीं है।

यहाँ ऐसा विशेष समझना – एक तीर्थंकर के नाम के शब्द के ही व्याकरण में निरुक्ति द्वारा अर्थ करने पर चौबीसों तीर्थंकरों के नाम का अर्थ करना संभव है। सौधर्म इन्द्र ने एक हजार आठ नामों द्वारा एक तीर्थंकर का स्तवन किया है। एक तीर्थंकर के गुणों द्वारा असंख्यात नाम वाले अनंत तीर्थंकरों का स्तवन किया जाना संभव है। अनंतकाल में असंख्यात नामवाले अनंत तीर्थंकर हो गये हैं। अतः एक तीर्थंकर के स्तवन द्वारा उन सभी का तथा चौबीस का स्तवन किया जा सकता है। उनके माता-पिता के भी ऐसे ही नाम, शरीर की अवगाहना, वर्ण आदि भी; ऐसे ही अनंतकाल में अनंत हो गये हैं। इसलिये एक ही तीर्थंकर में एक का संकल्प तथा चौबीस का भी संकल्प कर लेना संभव है।

इसकाल में अन्यमतवालों की भी अनेक प्रकार की स्थापना होने लगी है। इसलिये इसकाल में तदाकार स्थापना की ही मुख्यता है। यदि अतदाकार स्थापना की ही प्रधानता हो जायेगी तो चाहे-जो चाहे-जिसमें तथा अन्यमती की प्रतिमा में भी अरहन्त की स्थापना का संकल्प करने लगेंगे तो मार्ग से भ्रष्ट हो जायेंगे।

प्रतिमा के चिह्न – प्रतिमा के जो चिह्न होते हैं, वे इन्द्र जब बालक तीर्थंकर को जन्माभिषेक कराकर मेरु पर्वत से लाया था तब ध्वजा में जो चिह्न बना था वही चिह्न प्रतिमा की चरण चौकी में नाम आदि का व्यवहार चलाने के लिये बना दिया। एक अरहन्त परमात्मा, स्वरूप से एक रूप है, नाम आदि से अनेकरूप है। **सत्यार्थ ज्ञान स्वभाव तथा रत्नत्रयरूप वीतरागभाव से पंच परमेष्ठी रूप सभी प्रतिमायें एक समान ही जाननी चाहिये।** इसलिये परमागम की आज्ञा बिना व्यर्थ विकल्प नहीं करना, शंका उत्पन्न करना ठीक नहीं है। जिनसूत्र की आज्ञा ही प्रमाण है।

पूजन के पाँच अंग – व्यवहार में पूजन के पांच अंगों की प्रवृत्ति दिखाई देती है – आह्वान १, स्थापना २, सन्निधिकरण ३, पूजन, ४, विसर्जन ५। भावों को जोड़ने के लिये आह्वान में पुष्प क्षेपण करते हैं। पुष्पों को प्रतिमा नहीं जानते हैं। यह तो आह्वान आदि के संकल्प से पुष्पांजलि क्षेपण है। पूजन में पाठ लिखा हो तो स्थापना कर लेना चाहिये, नहीं लिखा हो तो नहीं करना चाहिये। **अनेकांती के सर्वथा पक्ष नहीं होता है।**

भगवान् परमात्मा तो सिद्धलोक में हैं, अपने स्थान से एक प्रदेश भी नहीं चलते हैं, परन्तु तदाकार प्रतिबिम्ब से ध्यान जोड़ने के लिये साक्षात् अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, एवं साधु के रूप का प्रतिमा में निश्चय करके प्रतिबिम्ब का ध्यान, पूजन, स्तवन करना चाहिये।

कितने ही पक्षपाती कहते हैं – भगवान के प्रतिबिम्ब के बिना सभी के श्रोताओं के बीच में हजूरी पद, विनय पद, स्तोत्र, पाठ नहीं पढ़ना चाहिये। **उनसे कहते हैं** – भगवान परमेष्ठी का ध्यान-स्तवन तो सदा काल परमेष्ठी को अपने ध्यान गोचर करके पढ़ना-स्तवन करना योग्य है। यदि प्रतिमा के सम्मुख-बिना स्तुति पढ़ने का, विनयपद पढ़ने का निषेध करोगे तो उनका पंचनमस्कार मंत्र पढ़ना, स्तवन करना-पढ़ना, सामायिक वंदना का पढ़ना, प्रतिमा के सम्मुख हुए बिना नहीं संभव होगा। शास्त्र के प्रवचन व्याख्यान में भी नमस्कार के श्लोक पढ़ने का निषेध हो जायगा। इसलिये अज्ञानी के कहने से अध्यात्म से पराङ्मुख होना कभी योग्य नहीं है।

अकृत्रिम जिन चैत्यालय वर्णन

यहाँ प्रकरण पाकर ध्यान की शुद्धि के लिये अकृत्रिम जिन चैत्यालयों का स्वरूप श्री त्रिलोकसारजी ग्रन्थ के अनुसार कुछ लिखते हैं।

अधोलोक में सात करोड़ बहत्तरलाख भवनवासी देवों के भवन हैं। उनमें कितने ही भवन तो असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं, कितने ही संख्यात योजन विस्तारवाले हैं। उनमें से प्रत्येक भवन में एक-एक जिनमंदिर हैं। जिनकी असंख्यात भवनवासी देव वंदना करते हैं। इस प्रकार **सात करोड़ बहत्तर लाख** ही जिनमंदिर हैं।

मध्य लोक में पाँच मेरुओं पर अस्सी जिनमंदिर हैं, गजदंतों पर **बीस** जिनमंदिर हैं, कुलाचलों पर **तीस**, विजयार्द्धों पर **एक सौ सत्तर**, देव कुरु उत्तर कुरु में **दश**, वक्षारगिरि में अस्सी, मानुषोत्तर

पर चार, इष्वाकार के ऊपर चार, कुंडलगिरि के ऊपर चार, रुचकगिरि के ऊपर चार, नन्दीश्वर द्वीप में बावन - इस प्रकार मध्यलोक में **चार सौ अट्ठावन** अकृत्रिम जिनमंदिर हैं ।

उर्ध्वलोक में स्वर्गों में - अहमिन्द्रलोक में चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस जिनमंदिर हैं ।

व्यन्तरों के असंख्यात जिनमंदिर हैं; ज्योतिर्लोक में भी ज्योतिषी देवों के असंख्यात जिनमंदिर हैं । इस प्रकार संख्यात जिनमंदिर तो आठ करोड़ छप्पन लाख सन्तानवे हजार चार सौ इक्यासी हैं। व्यन्तरों व ज्योतिषियों के असंख्यात जिनमंदिर हैं ।

जिनालयों का स्वरूप

जिनालय तीन प्रकार के हैं - उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य । उनमें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य **जिन मंदिर का विस्तार** निम्न प्रकार है :-

मंदिर	उत्कृष्ट	मध्यम	जघन्य
लम्बाई योजन में	१०० यो.	५० यो.	२५ यो.
चौड़ाई योजन में	५० यो.	२५ यो.	१२ १/२ यो.
ऊँचाई योजन में	७५ यो.	३७ १/२ यो.	१८ ३/४ यो.

इन जिनमंदिरों के तीन-तीन दरवाजे हैं । उनमें सामने की ओर से एक-एक बाजू से दो-दो द्वार हैं । कुल तीन-तीन द्वार हैं ।

जिन मंदिरों के दरवाजों का प्रमाण (नाप) इस प्रकार जानना -

सामने का दरवाजा	उत्कृष्ट जिनमंदिर	मध्यम जिनमंदिर	जघन्य जिनमंदिर
ऊँचाई	१६ यो.	८ यो.	४ यो.
चौड़ाई	८ यो.	४ यो.	२ यो.
बाजू के दरवाजे			
ऊँचाई	८ यो.	४ यो.	२ यो.
चौड़ाई	४ यो.	२ यो.	१ यो.

यहाँ भद्रशाल वन में, नंदन वन में, नंदीश्वर द्वीप में तथा स्वर्ग के विमानों में उत्कृष्ट प्रमाण वाले जिनालय हैं । सौमनस वन में, रुचक पर्वत पर, कुण्डलगिरि पर, वक्षारगिरि पर, इष्वाकार पर मानुषोत्तर पर, कुलाचलों पर, मध्यम प्रमाणवाले जिनमंदिर हैं । पांडुकवन के जिनालय जघन्य प्रमाणवाले हैं । विजयार्ध पर्वत के ऊपर, जम्बू-शाल्मलि वृक्षों में जिनमंदिर की लम्बाई एक कोस की है । शेष जो भवनवासी देवों के भवनों में, व्यंतरों के व ज्योतिषी देवों के जिनालय हैं वे यथा-योग्य लम्बाई प्रमाण हैं जितनी जिनेन्द्र भगवान ने देखी उतनी है ।

अब जिनमंदिरों का बाह्य परिकर कहते हैं । सभी जिनभवनों के चारों तरफ चार-चार द्वारों सहित मणिमयी तीन कोट हैं । द्वारों में से होकर जाने के लिये प्रत्येक रास्ते में एक-एक मान स्तम्भ है तथा ९-९ स्तूप हैं । तीनों कोटों के भीतर पहिले-दूसरे कोट की अन्तराल जगह में वन है, दूसरे-

तीसरे कोट के बीच में ध्वजा हैं, तीसरा कोट तथा चैत्यालय के बीच चैत्यभूमि है। उन जिनभवनों में एक सौ आठ गर्भगृह हैं। उन जिनभवनों के बीच रत्नों के खम्भों सहित स्वर्णमय दो योजन चौड़ा, आठ योजन लम्बा, चार योजन ऊँचा देवच्छद अर्थात् गुंबज छत सहित मंडप है, उसमें भी एक सौ आठ गर्भगृह हैं। उन गर्भगृहों में भगवान आदिनाथ के शरीर के बराबर ऊंचाई वाली रत्नों की एक सौ आठ जिन प्रतिमायें हैं।

कैसी हैं जिन प्रतिमायें ? अलग-अलग सिंहासन, तीन छत्र, अष्ट प्रातिहार्य सहित हैं जिनके मस्तक पर नीले केश हैं, वे केश पुद्गल रत्नों के ही बने हुए हैं, बाल नहीं हैं, पुद्गल ही हैं। वज्र अर्थात् हीरामयी दांतों के आकार सहित हैं, विद्रुम अर्थात् मूंगा के समान लाल ओंठ हैं, नई कोंपल के समान शोभायमान लाल हथेली तथा पादतल हैं। श्री राजवार्तिक में लिखा है - प्रतिमा के नयन लोहिताक्ष मणि से व्याप्त अंक स्फटिक मणिमय हैं। नेत्रों का श्याम तारा अरिष्ट मणिमय है, पलक (वाफणी) अंजनमूल मणिमय हैं। भृकुटि (भौंह) की लता नीलमणिमय केशों सहित हैं। ऐसी जिन प्रतिमायें हैं। दश ताल प्रमाण लक्षणों से भरी हैं। यहाँ ताल का प्रमाण बारह अंगुल है। प्रथम देखते ही ऐसा लगता है कि - जिनेन्द्र मानों देख ही रहे हों, मानो बोल ही रहे हों। प्रत्येक गर्भगृह में बराबर पंक्ति में नागकुमारों के व यक्षों के बत्तीस जोड़े (युगल) हाथों में चमर लिये खड़े हैं।

एक-एक गर्भगृह में एक-एक जिन प्रतिमा के दोनों ओर सभी आभरण से सजकर खड़े हुए तथा श्वेत निर्मल रत्नमय चमर हाथों में धारण किये नागकुमार व यक्ष चौंसठ चमर ढार रहे हैं। इस प्रकार एक सौ आठ प्रतिमाओं के अलग-अलग प्रातिहार्य एक-एक जिनालय में हैं। उन जिन प्रतिमाओं के दोनों बाजू में श्रीदेवी और सरस्वती देवी, सर्वाह यक्ष, सनत कुमार यक्ष तथा इनके रूप-आकार बने हैं।

प्रत्येक जिन प्रतिमा के पास आठ प्रकार के मंगल द्रव्य शोभित हैं। झारी १, कलश २, दर्पण ३, बीजना ४, ध्वजा ५, चमर ६, छत्र ७, ठोना ८, ये आठ मंगल द्रव्य हैं। प्रत्येक प्रतिमा के पास प्रत्येक मंगल द्रव्य एक सौ आठ प्रमाण शोभित हैं।

गर्भगृह के बाहर की रचना इस प्रकार की जानना – मणि जड़ित स्वर्णमय पुष्पों से शोभित देवच्छद बना है, उसके आगे बीच के भाग में चाँदी और स्वर्णमयी बत्तीस हजार कलश हैं। महाद्वार के दोनों बाजुओं में चौबीस हजार धूप के घड़े हैं। उसी महाद्वार के बाहर दोनों तरफ आठ हजार मणिमयी मालायें हैं। उन मणिमय मालाओं के बीच में चौबीस हजार स्वर्णमयी मालायें हैं। उस महाद्वार के सामने आगे मुख मंडप है। उस मुख मंडप में सोलह हजार स्वर्ण कलश हैं, सोलह हजार स्वर्णमयी मालायें हैं, सोलह हजार धूप घड़े हैं। उस मुख मंडप के बीच में ही बहुत मीठे झन-झन शब्द करती मोती व मणियों से बनी किंकणी अर्थात् छोटी-छोटी घंटियाँ तथा उन सहित अनेक प्रकार के घंटों के समूह अनेक प्रकार की रचना सहित शोभित हो रहें हैं।

अब जिन मंदिर के छोटे द्वारों का स्वरूप कहते हैं – जिन मंदिर के दक्षिण उत्तर के बाजू के मध्य में जो छोटे-छोटे दरवाजे हैं उनकी रचना यहाँ जो बड़े दरवाजे की कही हैं उससे आधी-

आधी जानना । मणिमाला चार हजार हैं, धूपघड़े बारह हजार हैं, स्वर्णमाला बारह हजार हैं । उन छोटे द्वारों के आगे मुखमंडप हैं, उनमें स्वर्ण घट आठ हजार हैं, स्वर्ण माला आठ हजार है । धूप घड़े आठ हजार हैं तथा छोटी घंटियां मुख मंडप में अनेक प्रकार की हैं । उस मंदिर के पृष्ठ भाग में मणिमाला आठ हजार हैं, स्वर्ण माला चौबीस हजार हैं । मालायें दीवाल के चारों ओर लूम्बती लटकती हुई जाननी, घड़े पृथ्वी पर रखे हुए जानना । घंटा आदि मंडप में लूम्बते लटकते जानना।

संक्षेप में अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की बाह्य रचना का वर्णन इस प्रकार है :-

स्थान	मणिमाला	स्वर्णकलश	स्वर्णमाला	धूपघट
देवच्छद के अग्रभाग में	-	३२,०००	-	-
महाद्वार के दोनों बाजू में	८,०००	-	२४,०००	२४,०००
महाद्वार के आगे मुखमंडप में	-	१६,०००	१६,०००	१६,०००
उत्तर दक्षिण के छोटे द्वारों में	४,०००	-	१२,०००	१२,०००
उत्तर दक्षिण के छोटे द्वारों के मुखमंडप में	-	८,०००	८,०००	८,०००
पृष्ठ भाग में	८,०००	-	२४,०००	-

अब मुखमंडप का विस्तार कहते हैं – इस मंदिर के आगे मुखमंडप है । वह जिनमंदिर के समान ही सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा तथा सोलह योजन ऊँचा है । उस मुखमंडप के आगे चौकोर प्रेक्षणमंडप है । वह प्रेक्षणमंडप सौ योजन चौड़ा, सौ योजन लम्बा, सोलह योजन से अधिक ऊँचा है । उस प्रेक्षणमंडप के आगे अस्सी योजन चौड़ा, अस्सी योजन लम्बा दो योजन ऊँचा स्वर्णमयी पीठ है । पीठ का अर्थ चबूतरा है । उस पीठ के बीच में चौकोर चौंसठ योजन लम्बा, चौसठ योजन चौड़ा, सोलह योजन ऊँचा स्थानमंडप नाम का सभामंडप है ।

इस स्थानमंडप के आगे चालीस योजन ऊँचा स्तूपों का मणिमय पीठ है । वह पीठ चार द्वारों सहित बारह कमल की वेदियों सहित है । उस पीठ के बीच में तीन कटनी सहित चौंसठ योजन लम्बा, चौंसठ योजन चौड़ा, सोलह योजन ऊंचा बहुत रत्नमय जिनबिम्बों सहित स्तूप है । तीन कटनी लिये जो रत्नराशि है उसका नाम स्तूप है ।

उसके ऊपर जिनबिम्ब विराजमान हैं । इस प्रकार के नव (९) स्तूप हैं । उनका स्वरूप क्रम से बतलाते हैं । स्तूप के आगे एक हजार योजन चौड़ा लम्बा, चारों ओर बारह बेदी सहित स्वर्णमय पीठ है । उस पीठ के ऊपर चार योजन लम्बा एक योजन चौड़ा पेड़ (स्कंध) है । उस पेड़ के चारों ओर बहुत मणिमय तीन कोटों सहित बारह योजन लम्बी चार महाशाखायें हैं, अनेक छोटी शाखायें हैं, तथा ऊपर शिखर पर वह पेड़ बारह योजन चौड़ा है, अनेक प्रकार के पत्ते, फूल तथा फलों से युक्त है ।

इस प्रकार के एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस वृक्षों के परिवार सहित सिद्धार्थ और चैत्य नाम के दो वृक्ष हैं । उन वृक्षों के मूल में पीठ है । सिद्धार्थ वृक्ष के मूल की पीठ में उसके

ऊपर चार दिशाओं में चार सिद्धों की प्रतिमा विराजमान हैं; चैत्यवृक्ष के मूल की पीठ में उसके ऊपर चार दिशाओं में चार अर्हन्तों की प्रतिमा विराजमान हैं ।

इन वृक्षों की पीठ के आगे पीठ है उसमें अनेक प्रकार के रंगों सहित रंगबिरंगी महाध्वजा खड़ी हैं । उन ध्वजाओं के स्वर्णमय स्तंभ सोलह योजन ऊँचे एक कोश चौड़े हैं । उन स्तंभों के आगे के भाग में मनुष्यों के नेत्रों तथा मन को रमणीक लगने वाले अनेक प्रकार के ध्वजा वस्त्ररूप रत्नों द्वारा शोभित हो रहे हैं, तीन छत्र भी शोभित हो रहे हैं । इन ध्वजाओं में वस्त्र नहीं हैं । वस्त्र जैसा आकार, कोमलता, अनेक रंग, ललितता लिये रत्नरूप पुद्गल ही उस प्रकार परिणत हुए हैं । वे वस्त्र रत्नमय ही जानना ।

उस ध्वजा पीठ के आगे जिनमंदिर है । उसकी चारों दिशाओं में अनेक प्रकार के फूलों सहित सौ यौजन लम्बे, पचास योजन चौड़े, दश योजन ऊँचे मणि-स्वर्णमय वेदियों सहित चार सरोवर हैं। उसके आगे, जाने के लिये रास्ता है । उस रास्ते के दोनों ओर पचास योजन ऊँचे, पचास योजन चौड़े देवों के मंनोरंजन करने के रत्नमय दो भवन हैं । उसके आगे तोरण हैं, जो मणिमय स्तंभों के अग्रभाग में स्थित हैं । दो स्तंभों के बीच दीवाल रहित ऊपर की ओर गोलाई का आकार लिये जो रचना होती है उसे तोरण कहते हैं । वे तोरण मोतियों की जाली तथा घंटाओं के समूह सहित हैं। मोतियों के जाल और घंटाओं के समूह तोरणों में लूमते हुए हैं ।

प्रत्येक तोरण पचास योजन ऊँचा पच्चीस योजन चौड़ा है । वे तोरण जिनबिम्बों के समूह से शोभनीक हैं । जिनबिम्बों का आकार तोरणों में ही बना हुआ है । तोरण के आगे स्फटिकमणिमय प्रथम कोट है । उसके भीतर कोट के द्वार के दोनों ओर सौ योजन ऊँचे पचास योजन चौड़े रत्नों के बने हुए दो भवन हैं । इस प्रकार यह प्रथम कोट तक का वर्णन किया । पूर्व के द्वार में मंडप आदि का जो प्रमाण कहा है उससे आधा-आधा दक्षिण द्वार तथा उत्तर द्वार में प्रमाण जानना । अन्य वर्णन तीन तरफ समान जानना ।

वे चैत्यालय सामायिक आदि क्रिया करने के स्थान वंदना-मंडप, स्नान करने के स्थान अभिषेक-मंडप, नृत्य करने के स्थान नर्तन-मंडप, संगीत साधन करने के स्थान संगीत-मंडप, अवलोकन करने के स्थान अवलोकन-मंडप सहित हैं; क्रीड़ा करने के स्थान क्रीड़न गृह, शास्त्रादि अभ्यास करने के स्थान गुणनगृह, तथा विस्तीर्ण उत्कृष्ट चित्रामपट्ट आदि दिखाने के स्थान, पट्टशाला आदि सहित हैं।

अब प्रथम कोट और दूसरे कोट के बीच के अंतराल का स्वरूप कहते हैं । वहाँ सिंह, हाथी, बैल, गरुड़, मोर, चंद्रमा, सूर्य, हंस, कमल, तथा चक्र- इन दश आकारों की ध्वजायें हैं, जो अलग-अलग प्रत्येक एक सौ आठ, कुल एक हजार अस्सी एक दिशा में हैं । इस प्रकार चारों दिशाओं की चार हजार तीन सौ बीस मुख्य ध्वजायें हैं । एक-एक मुख्य ध्वजा की एक सौ आठ छोटी ध्वजायें हैं । (समस्त छोटी ध्वजाओं की संख्या चार लाख छियासठ हजार पाँच सौ साठ है ।)

आगे दूसरे कोट तथा तीसरे कोट के बीच के अंतराल में अशोक वन, सप्तच्छद वन, चम्पक वन तथा आम्रवन-ये चार वन हैं । यहाँ पर स्वर्णमयी फूलों से शोभायमान, मरकत मणिमय (हरी

मणि) अनेक प्रकार के पत्तों से भरपूर कल्पवृक्ष हैं, जिनके वैडूर्यमणिमय फल हैं तथा मूंगामयी डालियों से युक्त हैं । वहाँ ऐसे भोजनांग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं ।

उन चारों वनों में चार चैत्यवृक्ष हैं । वे वृक्ष तीन पीठों के ऊपर हैं तथा तीन कोट सहित हैं। उन वृक्षों के शाखा, पत्ते, फूल, फल रत्नमयी हैं तथा ये चारों ही वनों के बीच में स्थित हैं । उन चार चैत्यवृक्षों की मूल में चारों दिशाओं में पल्यंकासन में, सिंहासन पर, छत्र, प्रातिहार्य आदि सहित चार जिनेन्द्र की प्रतिमायें हैं । नन्द आदि सोलह बावड़ी तीन कटनी सहित शोभित हो रही हैं । वन की भूमि में द्वारों से आने के मार्गरूप जो वीथी है उसके बीच में तीन कोट सहित तीन पीठों के ऊपर धर्म के वैभव सहित मस्तक पर चारों दिशाओं में चार जिनप्रतिमाओं को धारण किये मानस्तंभ हैं ।

श्री राजवार्तिक में कहा है – अकृत्रिम जिनालय की महिमा का वर्णन करने को हजार जिह्वा द्वारा भी कोई समर्थ नहीं है; सहस्राक्ष इन्द्र एक हजार नेत्रों को फैलाकर निरंतर देखने पर भी तृप्त नहीं होता है । ऐसी असीम महिमा के धारक अकृत्रिम जिनालय का वर्णन त्रिलोकसार नामक ग्रंथ से यहाँ अपने शुभ ध्यान की सिद्धि के लिये किया है । इस प्रकार जिन पूजन का कथन किया ।

अब जिन पूजन के फल में प्रसिद्ध तो अनेक हुए हैं, तथापि पूर्वाचार्यों द्वारा जो प्रसिद्ध हुए हैं, उनको कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०॥

अर्थ :– राजगृह नाम के नगर में जिनेन्द्र को पूजने के हर्ष में मस्त अपनी सामर्थ्य को नहीं जाननेवाला एक मेंढ़क हुआ है, जिसने अरहन्त के चरणों की पूजा करने का महान प्रभाव जो भव्यजीव महापुरुष हैं उन्हें प्रगट करके दिखलाया है ।

उसकी कथा इस प्रकार है – मगधदेश में राजगृह नगर में राजा श्रेणिक राज्य करते थे । उसी नगर में एक नागदत्त नाम का सेठ तथा उसकी भवदत्ता नाम की सेठानी थी । वह सेठ आर्त्त परिणामों से मरकर अपने ही घर की बावड़ी में मेंढ़क के रूप में उत्पन्न हुआ । एक दिन भवदत्ता सेठानी अपनी बावड़ी पर गई । उसे देखकर मेंढ़क को अपने पूर्वभव का स्मरण हो गया, तथा पिछले जन्म के स्नेह को याद करके जोर से आवाज करता हुआ उछल-उछलकर सेठानी के कपड़ों के ऊपर चढ़ने लगा । तब सेठानी ने उसे बार-बार दूर फेंक दिया, तो भी वह मेंढ़क बार-बार सेठानी के कपडों पर चढ़ने का प्रयास करता रहा । सेठानी मेंढक को दूर फेंककर अपने घर चली गई ।

एक दिन सुव्रत नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज से सेठानी ने पूछा - हे स्वामी ! मैं अपने घर की बावड़ी पर जाती हूँ तो वहाँ पर एक मेंढक जोर-जोर से आवाज करता हुआ बार-बार मेरे शरीर के ऊपर आता है, इसका क्या कारण है ? तब मुनिराज ने कहा – तुम्हारा पति नागदत्त आर्त परिणामों से मरकर मेंढक हुआ है । उसे जातिस्मरण-ज्ञान हुआ है, जिससे वह पूर्व जन्म के स्नेह के कारण तुम्हारे पास आता है । उसके बाद सेठानी ने मेंढ़क को अपने पति का जीव जानकर अपने घर में ले जाकर बहुत सन्मान पूर्वक रखा ।

एक दिन भगवान वीरजिनेन्द्र का समोशरण वैभार पर्वत पर आया जानकर, राजा श्रेणिक ने वन्दना को जाने के लिये नगर में आनंद की भेरी बजवाई। तब नगर के भव्य जीव भगवान की वन्दना को जाने के लिये अनेक प्रकार के उज्ज्वल वस्त्र-आभरण पहिनकर, पूजन की सामग्री को हाथों में लेकर, जय-जय शब्दोच्चार करते हुए हर्ष से नृत्य, गान, वादित्र के शब्द करते हुये चले। सम्पूर्ण नगर में आनंद-हर्ष व्याप्त हो गया। लोगों के पूजनजनित आनंद के शब्दों को सुनकर उस मेंढ़क को भी पूजन करने का बहुत उत्साह हुआ। तब वह मेंढ़क भी एक फूल को अपने मुख में लेकर आनंद सहित उछलता हुआ वीरजिनेन्द्र की पूजा के लिये चल पड़ा।

अतिभक्ति से ऐसा विचार नहीं किया कि-कहाँ तो विपुलाचल पर्वत के ऊपर बीस हजार सीढ़ियों सहित समोशरण और कहाँ मैं असमर्थ मेंढक, वहाँ कैसे पहुँचूगा ? अति भक्ति से ऐसा विचार नहीं हुआ। मैं तो अब जिनेन्द्र की पूजा करूँगा - ऐसे उत्साह सहित मार्ग में गमन करता हुआ राजा के हाथी के पैर के नीचे दब कर मर गया, और सौधर्म स्वर्ग में महानऋद्धि का धारक देव हुआ। वहाँ पर अवधिज्ञान से जाना कि मैंने पूजन के भाव करने से यह देवपना प्राप्त किया है। तत्काल ही मेंढ़क का चिन्ह धारण करके वीरजिनेन्द्र के समोशरण में पूजन के लिये जाकर, समस्त जीवों को पूजन करने के भाव का फल प्रकट दिखा दिया। एक तिर्यंच मेंढ़क जो पूजा के स्थान तक पहुँच ही नहीं पाया, केवल पूजन के भाव करके ही स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव हो गया।

जिनेन्द्र के पूजन का अचिन्त्य प्रभाव है। गृहाचार में समस्त परिणामों की विशुद्धता करनेवाला बड़ा शरण एक नित्य जिनपूजन करना ही है। जिनपूजन निर्धन भी कर सकता है, धनवान भी कर सकता है। जैसी अपनी सामर्थ्य हो उसी प्रकार पूजन सामग्री बना सकता है। पूजन करना, कराना, करनेवाले को भला जानना, वह सभी पूजन ही है। स्तवन-वंदना भी पूजन ही है, एक द्रव्य से भी पूजन होती है। अरहन्त के गुणों में भक्ति की उज्ज्वलता जितनी हो, जैसी हो, उतना ही, वैसा ही फल मिलता है।

जिनमंदिर में छत्र, चमर, सिंहासन, कलश, घण्टा इत्यादि स्वर्ण के, चाँदी के, पीतल के, कांसे के, ताम्बे के उपकरणों द्वारा जितनी अपनी सामर्थ्य हो उतना जिनमंदिर को सजाकर वैयावृत्य करे। जीर्ण मंदिरों की मरम्मत-उद्धार करना तथा धनवानों को जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा कराना, नया मंदिर बनवाना, कलश चढ़ाना - से सभी अरहन्त की वैयावृत्य है।

जिनमंदिर की सम्हाल : जिनमंदिरों की टहल (सेवा) करना, कोमल बुहारी से यत्नाचारपूर्वक बुहारना, अभिषेक पूजन आदि के लिये जल लाना, सामग्री धोकर तैयार करना, पूजन-प्रक्षाल के वर्तन उपकरण मांजना, विछायत विछाना, गान-नृत्य-वादित्र आदि के द्वारा अरहन्त के गुण गाना-वह सब अर्हद् वैयावृत्य है। मन से, वचन से, काय से, धन से, विद्या से, कला से, जैसे अरहन्त के गुणों में अनुराग बढ़े वैसा करो। धन प्राप्त करने का, शरीर प्राप्त करने का, इंद्रियाँ पाने का, बल पाने का, ज्ञान पाने का सफलपना जिनमंदिर की टहल-वैयावृत्य करके ही है।

जिन मंदिर की वैयावृत्य से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, मिथ्याज्ञान मिथ्याश्रद्धान का अभाव होता है। जिनमंदिर की सेवा से ही स्वाध्याय, संयम, तप,

व्रत, शीलादि गुणों की प्राप्ति होती है, नरक-तिर्यंच आदि गतियों में परिभ्रमण का अभाव होता है। जिनमंदिर समान उपकार करनेवाला जगत में कोई दूसरा नहीं है ।

जिनमंदिर के निमित्त से शास्त्र श्रवण-पठन द्वारा अनेक श्रोताओं का उपकार होता है, वक्ता का उपकार होता है । जिनमंदिर के निमित्त से कितने ही लोग कायोत्सर्ग करते हैं, कोई जाप करता है, कोई रात्रि में जागरण करता है, कोई अनेक प्रकार की पूजन करके प्रभावना करते हैं । कितने ही स्तवन करते हैं, कोई तत्त्वार्थों की चर्चा करते हैं, कोई प्रोषधोपवास तथा वेला-तेला पंच उपवासादि करके बड़ी निर्जरा करते हैं । कोई भजन, कोई नृत्य, कोई गान करके पुण्य उपार्जन करते हैं । कोई स्वाध्याय करते हैं, कोई धर्मध्यान करते हैं, कोई वीतराग भावना करते हैं, कोई अनेक प्रकार के उपकरणों द्वारा प्रभावना करते हैं ।

जिनमंदिर के निमित्त से पाप-पुण्य, देव-कुदेव, धर्म-अर्धम, गुरु-कुगुरु का जानना होता है । भक्ष्य-अभक्ष्य, कार्य-अकार्य, हेय-उपादेय का ज्ञान भी जिनमंदिर में जाने से ही होता है । त्याग, व्रत, शील, संयम, भावना का स्वरूप जानना, उत्तम आचरण करना आदि समस्त कार्य जिनमंदिर के प्रभाव से होते हैं । जिनमंदिर बराबर कोई उपकारी नहीं है । जिनमंदिर अशरण को शरण है । ऐसा परोपकार करनेवाला जिनमंदिर को जानकर इसकी वैयावृत्य करना चाहिये । इस प्रकार वैयावृत्य में जिनपूजा, जिनमंदिर की वैयावृत्य करना कहा है ।

अब वैयावृत्य के पाँच अतिचार कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

हरितपिधान निधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि ।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमा: पञ्च कथ्यन्ते ॥ १२१ ॥

अर्थ :- वैयावृत्य अर्थात् दान के पाँच अतिचार त्यागने योग्य हैं - हरितपिधान, हरितनिधान, अनादर, अस्मरण, मत्सरत्व ।

जो व्रतियों को देने योग्य आहार, पानी, औषधि आदि है उसे हरित पत्ते, पत्तल, पान, कमलपत्र इत्यादि सचित्त से ढका हुआ देना, वह हरितपिधान नाम का अतिचार है १ । हरित जो वनस्पति के पत्ते आदि के ऊपर रखा हुआ भोजन आदि देना, वह हरितनिधान नाम का अतिचार है । २ । दान को अनादर से, अविनय से, प्रियवचन आदि रहित देना, वह अनादर नाम का अतिचार है । ३ । पात्र को भोजनादि देने के लिये निश्चितकर अन्यकार्य में लगकर भूल जाना, देने योग्य द्रव्य को तथा विधि को भूल जाना, वह अस्मरण नाम का अतिचार है । ४ । अन्य दातार से ईर्ष्या कर दान देना, वह मत्सर नाम का अतिचार है । ५ ।

इस प्रकार दान जो वैयावृत्य है उसके पाँच अतिचार टाल करके, अत्यन्त विनयपूर्वक, शुद्ध दान करना चाहिए ।

पंचम - शिक्षाव्रत अधिकार

समाप्त

परिशिष्ट-५

श्रावक धर्म

जिस प्रकार पित्तज्वर से पीड़ित मनुष्य को शक्कर संयुक्त मीठा दूध कड़ुवा लगता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को भी वस्तु स्वरूप विपरीत ही प्रतिभासित होता है ।

मिथ्यादृष्टि जीव बहुत प्रकार से चार प्रकार का दान भी दे, अत्यन्त भक्ति से जिनपूजा भी करे, शील को भी धारण करे, उपवास भी करे, दस प्रकार के पवित्र धर्म को भी धारण करे, निर्दोष भिक्षा भोजन भी करे, ध्यान भी करे, विशेषरूप से शास्त्रों का परिज्ञान भी प्राप्त करले, भाव से अनेक प्रकार के तपों का भी आचरण क्यों न करे, तो भी वह तत्त्वश्रद्धान रहित होने से मुक्तिरूप सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता है ।

तत्त्वज्ञ जनों को विचार करना चाहिये कि परिग्रह से रहित, निर्मल, पवित्र एवं यथार्थ जिनेन्द्रकथित धर्म ही मोक्षमार्ग है, अन्य सब संसार परिभ्रमण के ही कारण हैं ।

जो निर्मल बुद्धि मनुष्य संसार की असारता से भयभीत होकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से विभूषित होकर जिनेन्द्रदेव के द्वारा प्ररूपित निर्दोष श्रावक के व्रतों को धारण करते हैं, जिनभक्ति से प्रेरित होकर जिनभवन का निर्माण कराते हैं, जिन प्रतिमा स्थापित कराते हैं, जिन पूजन करते हैं, वे उत्तम मोक्षपद को प्राप्त होते हैं ।

– सुभाषित रत्न संदोह : आचार्य अमितगति

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनिपने की ही होती है । अहो ! कब चैतन्य में लीन होकर सर्वसंग का परित्यागी होकर मुनिमार्ग में विचरण करूँ ? शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप जो उत्कृष्ट मोक्षमार्ग उसरूप कब परिणमित होऊँ ?

तीर्थंकर और अरिहंत मुनि होकर चैतन्यके जिस मार्ग पर विचरे उस मार्ग पर विचरण करूँ, ऐसा धन्य स्वकाल कब आवेगा ? इस प्रकार आत्मा के भान पूर्वक धर्मी जीव भावना भाते हैं । ऐसी भावना होते हुए भी निजशक्ति की मंदता से और निमित्तरूप से चारित्रमोह की तीव्रता से तथा कुटुम्बीजनों आदि के आग्रहवश होकर स्वयं ऐसा मुनिपद ग्रहण नहीं कर सके तो उस धर्मात्मा को गृहस्थपने में रहकर श्रावक के धर्म का, गृहस्थ के योग्य देवपूजा आदि षट्कर्मों तथा व्रतों का पालन करना चाहिये । **– श्रावक धर्म प्रकाश : श्री कानजी स्वामी**

सम्यग्दर्शन तीनों कालों को विषय करनेवाले, तीन लोकरूप गृह को प्रकाशित करने में उत्कृष्ट दीपकरूप सम्यग्ज्ञान का कारण है, तथा कर्मरूप ईंधन को अग्नि के समान भस्म करनेवाले सम्यक्चारित्र का उत्पादक है ।

गृह में निवास करनेवाले श्रावक को अपने शक्ति को न छिपाते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र स्वरूप जो एक मोक्षमार्ग है उसका पूर्णरूप से ही आश्रय करना चाहिये ।

जिस प्रकार वृक्ष का आधार उसकी मूल (जड़) है, भवन का आधार उसकी नींव है और अंकुरों का आधार बीज है, उसी प्रकार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग का आधार-मूल कारण सम्यक्त्व है ।

– धर्मरत्नाकर : श्री जयसेन मुनिराज

विद्वान् मनुष्यों को नियमानुसार सदा भोग और उपभोगरूप वस्तुओं का प्रमाण कर लेना चाहिये । उनका थोड़ा सा भी समय व्रतों से रहित नहीं जाना चाहिये । दान से रहित गृहस्थाश्रम को पत्थर की नाव के समान समझना चाहिए । शास्त्र से रहित घर को स्मशान के समान समझना चाहिए । **– पंचविंशतिका : आचार्य पद्मनंदि**

शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहारपोषक उपदेश है । यदि अपने को व्यवहार का आधिक्य हो तो निश्चयपोषक उपदेश ग्रहण करके यथावत् प्रवर्तें, और यदि अपने को निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहारपोषक उपदेश ग्रहण करके यथावत् प्रवर्तें । **– मो.मा.प्र. : पंडित टोडरमल जी**

व्रतों के द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे छाया और धूप में बैठनेवालों में अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण करनेवालों में अन्तर पाया जाता है ।

– इष्टोपदेश : आचार्य पूज्यपाद

जिनेन्द्र वन्दना

चौबीसों परिग्रह रहित, चौबीसों जिन राज । वीतराग सर्वज्ञ जिन हितकर सर्व समाज ॥
श्री आदिनाथ अनादि मिथ्या मोह का मर्दन किया । आनन्दमय ध्रुवधाम निज भगवान का दर्शन किया ॥
निज आतमा को जानकर निज आतमा अपना लिया । निज आतमा में लीन हो निज आतमा को पा लिया ॥
मानता आनन्द सब जग हास में परिहास में । पर आपने निर्मद किया परिहास को परिहास में ॥
परिहास भी है परिग्रह जग को बताया आपने । हे पद्मप्रभ परमात्मा पावन किया जग आपने ॥
रति अरतिहर श्री चन्द्रजिन तुम ही अपूरव चन्द्र हो । निःशेष हो निर्दोष हो निर्विघ्न हो निष्कंप हो ॥
निकलंक हो अकलंक हो निष्ताप हो निष्पाप हो । यदि है अमावस अज्ञजन तो पूर्णमासी आप हो ॥
निज आतमा के भान बिन सुख मानकर रति-राग में । सारा जगत नित जल रहा है वासना की आग में ॥
तुम वेद-विरहित वेदविद् जिन वासना से दूर हो । वसुपूज्यसुत बस आप ही आनन्द से भरपूर हो ॥
मोहक महल मणिमाल मंडित सम्पदा षट् खण्ड की । हे शान्ति जिन तृण-सम तजी ली शरण एक अखण्ड की ॥
पायो अखण्डानन्द दर्शन ज्ञान वीरज आपने । संसार पार उतारनी दी देशना प्रभु आपने ॥
मनहर मदन तन वरन सुवरन सुमन सुमन समान ही । धनधान्य पूरित सम्पदा अगणित कुबेर समान थी ॥
थी उरवसी सी अंगनाएँ संगनी संसार की । श्री कुन्थुजिन तृण-सम तजी ली राह भवदधि पार की ॥
तुम हो अचेलक पार्श्वप्रभु वस्त्रादि सब परित्याग कर । तुम वीतरागी हो गये रागादिभाव निवार कर ॥
तुमने बताया जगत को प्रत्येक कण स्वाधीन है । कर्त्ता न धर्त्ता कोई है अणु अणु स्वयं में लीन है ॥
हे पाणिपात्री वीर जिन जग को बताया आपने । जगजाल में अबतक फंसाया पुण्य एवं पाप ने ॥
पुण्य एवं पाप से है पार मग सुख-शान्ति का । यह धरम का है मरम यह विस्फोट आतम क्रान्ति का ॥
पुण्य-पाप से पार निज आतम को धरम है । महिमा अपरपार परम अहिंसा है यही॥
जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं । जो विपुल विघ्नों बीच में भी ध्यान धारण धीर हैं ॥
जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव जलधि के तीर हैं । वे वंदनीय जिनेश तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं ॥

आत्मा अलिंगग्रहण है

1. आत्मा इंद्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता, अतः वह अलिंगग्रहण है ।
2. आत्मा इंद्रियों के द्वारा नहीं जानता है; अतः अलिंगग्रहण है ।
3. आत्मा इंद्रिय-प्रत्यक्ष पूर्व अनुमान का विषय नहीं है, अतः अलिंगग्रहण है ।
4. आत्मा मात्र अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य नहीं है, अतः अलिंगग्रहण है ।
5. आत्मा केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है, अतः अलिंगग्रहण है ।
6. आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, अतः अलिंगग्रहण है ।
7. आत्मा को ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं है, अतः अलिंगग्रहण है ।
8. आत्मा का ज्ञान कहीं बाहर से नहीं लाया जा सकता है; अतः अलिंगग्रहण है ।
9. आत्मा का ज्ञान हरण नहीं किया जा सकता है, अतः अलिंगग्रहण हैं ।

10. आत्मा में विकार नहीं है, वह तो शुद्धोपयोग स्वभावी है, अत: अलिंगग्रहण है ।
11. आत्मा कर्मों को ग्रहण नहीं करता है, अत: अलिंगग्रहण है ।
12. आत्मा विषयों को ग्रहण नहीं करता है, अत: अलिंगग्रहण है ।
13. आत्मा के स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, मन, तथा इंद्रियों का अभाव है, अत: अलिंगग्रहण है ।
14. आत्मा लौकिक साधन मात्र नहीं है, अत: अलिंगग्रहण है ।
15. आत्मा लोकव्याप्तिवाला नहीं है, अत: अलिंगग्रहण है ।
16. आत्मा के स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं, अत: अलिंगग्रहण है ।
17. आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है, अत: अलिंगग्रहण है ।
18. आत्मा गुण विशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्ध द्रव्य है, अत: अलिंगग्रहण है ।
19. आत्मा पर्याय विशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्ध द्रव्य है, अत: अलिंगग्रहण है ।
20. आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है, अत: अलिंगग्रहण है ।

– **प्रवचनसार टीका : गाथा 172**



षष्ठ – भावना अधिकार

अब श्री परमगुरुओं की कृपा से परमागम की आज्ञा प्रमाण भावना नाम का महाधिकार लिखते हैं। **समस्त धर्म का मूल भावना है।** भावना से ही परिणामों की उज्ज्वलता होती है, भावना से ही मिथ्यादर्शन का अभाव होता है, भावना से व्रतों में परिणाम दृढ़ होते हैं, भावना से वीतरागता की वृद्धि होती है। भावना से अशुभ ध्यान का अभाव होकर शुभ ध्यान की वृद्धि होती है। भावना से आत्मा का अनुभव होता है, इत्यादि हजारों गुणों को उत्पन्न करनेवाली भावना ही है, ऐसा जान कर भावना को एक क्षण भी नहीं छोड़ो।

अब प्रथम ही पाँच व्रतों की पच्चीस भावना जानना चाहिये।

अहिंसाणुव्रत की पाँच भावना : अहिंसाणुव्रत धारण करनेवाले गृहस्थ के पाँच भावनाओं का विस्मरण नहीं होता है।

मन में अन्याय के विषयों के भोगने की इच्छा का अभाव करके, खोटे संकल्पों को छोड़कर अपनी उच्चता नहीं चाहना; अन्य जीवों के विघ्न, इष्ट वियोग, मान भंग, तिरस्कार, धन की हानि, रोगादि नहीं चाहना, वह **मनोगुप्ति** भावना है। १।

हास्य के वचन, विवाद के वचन, अभिमान के वचन नहीं कहना; हिंसा के, कलह के, अपयश के कारणरूप वचन नहीं करना, वह **वचनगुप्ति** भावना है। २।

त्रसजीवों की विराधना टालकर हरी घास, कीचड़ आदि को छोड़कर, देख-शोधकर गमन करना, चढ़ना, उतरना, लाँघना; बड़े यत्न पूर्वक अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऐसा करना, जिससे अपने हाथ-पैर आदि अंग-उपांगों में कष्ट नहीं पैदा हो जाये, जैसे अन्य जीवों को बाधा नहीं हो, उस प्रकार धीरज से हलन-चलन करना, वह **ईर्यासमिति** भावना है। ३।

सभी वस्तुएँ अन्न, पानी, वस्त्र, आसन, शैया, लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, तथा पीतल, कांसा, लोहा, चाँदी, सोना इत्यादि के वर्तन, तथा घी आदि रस वगैरह गृहस्थ के जितना परिग्रह है; उसे यत्नपूर्वक उठाना, रखना; जिससे अन्य जीवों का घात न हो, अपने शरीर में गिर जाने आदि से कष्ट न हो, किसी का उजाड़-बिगाड़ होने से अपने को व दूसरे को कष्ट नहीं हो, जिस प्रकार हिंसा होती हो उस प्रकार धरना, उठाना, घसीटना आदि नहीं करना, वह **आदान निक्षेपण समिति** भावना है। ४।

गृहस्थ जो भी भोजन पान करे वह अंतरंग तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता-अयोग्यता का विचार करके, योग्य देख करके करे। बाह्य दिन में, प्रकाश में, आँखों से देखकर, बारंबार शोधकर, धीरज से, ग्रासादि को मुख में लेकर खाये। गृद्धता से बिना-विचारे बिना-सोधे भोजन नहीं करना, वह **आलोकितपान भोजन** भावना है। ५।

इस प्रकार अहिंसा अणुव्रत की पाँच भावनायें निरंतर भाना चहिये, भूलना नहीं चाहिये ।

सत्य अणुव्रत की पाँच भावना : अब सत्य अणुव्रत की पाँच भावना कहते हैं - क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भीरुत्व त्याग, हास्य त्याग, अनुवीचि भाषण त्याग ।

जो गृहस्थ सत्य अणुव्रत धारण करता है वह क्रोध करने का त्याग करता है । इस प्रकार विचार करना चाहिये - यदि क्रोधी होकर वचन बोलता है तो उसके सत्य कहना नहीं बन सकता है, अतः क्रोध त्यागने पर ही सत्य रहता है । गृहस्थ को कर्म के उदय से कोई बाह्य विपरीत निमित्त मिल जाने से क्रोध पैदा हो जाता है तो उस समय इस प्रकार विचार करना चाहिये - मेरे परिणामों में क्रोधजनित तेजी पैदा हो गई है, इसलिये अब मुझे मौन ही रहना, वचन नहीं बोलना चाहिये । यदि वचन को रोकूँगा तो कषाय विसंवाद नहीं बढ़ेगा, मेरा क्षमादि गुण भी नहीं बिगड़ेगा । अतः जब तक मेरे ह्रदय में क्रोध जनित अग्नि का उपशम नहीं होता है तब तक वचनों की प्रवृत्ति नहीं करनी, ऐसा दृढ़ विचार करना, वह **क्रोध त्याग** (मौनग्रहण) भावना है । १ ।

लोभ के कारण सत्य वचन नहीं कह पाता है । इसलिये अन्याय का लोभ छोड़ना, वह लोभ त्याग भावना है । २ ।

जो भय के वश होता है, वह सत्यवचन नहीं कह सकता है । भय का त्याग करने पर ही सत्यवचन कहा जा सकता है, अतः भय का त्याग करना, वह **भीरुत्व त्याग** भावना है । ३ ।

हँसी में सत्यवचन नहीं कहा जा सकता है । इसलिये अणुव्रती हंसी करने का दूर से ही त्याग कर देता है, वह **हास्य त्याग** भावना है । ४ ।

जिनसूत्र से विरुद्ध वचन नहीं कहना चाहिये । जिनसूत्र के अनुकूल वचन बोलना, वह **अनुवीचिभाषण त्याग** भावना है । ५ ।

जो अपने सत्य अणुव्रत का पालन करना चाहता है वह क्रोध के कारणों को रोकता है । जिसके लिये अनेक असत्य बोलना पड़ते हैं ऐसे लोभ को छोड़ देता है । जिससे लोक विरुद्ध, धर्म विरुद्ध वचनों में प्रवृत्ति हो जाती है ऐसा धन बिगड़ जाने का भय, शरीर बिगड़ जाने का भय नहीं करता है । जो अपने सत्यव्रत की रक्षा करना चाहता है वह अन्य का हास्य कभी नहीं करता तथा जिनसूत्र से विरुद्ध वचन कभी नहीं कहता ।

अचौर्य अणुव्रत की पाँच भावना : अब अचौर्य अणुव्रत की पाँच भावना कहते हैं - शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्य शुद्धि, सधर्माविसंवाद - ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं; अचौर्य अणुव्रत का धारक गृहस्थ इन पाँच भावनाओं को निरन्तर भाता है ।

व्यसनी, दुष्ट, तीव्रकषायी तथा कलह करनेवाले मनुष्यों से रहित जो मकान हो वहाँ रहने का भाव रखना चाहिये । तीव्रकषायी दुष्टों के निकट रहने से परिणामों की शुद्धता नष्ट हो जाती है, दुर्ध्यान प्रकट हो जाता है । अतः पापियों से शून्य मकान में रहना ही **शून्यागार** भावना है । १ । जिस मकान

में किसी दूसरे का झगड़ा नहीं हो, वहाँ निराकुल रहना, वह विमोचितावास भावना है । २ । किसी के मकान में जबरदस्ती से घुस कर नहीं बैठ जाना, वह परोपरोधाकरण भावना है । ३ । अन्याय-अभक्ष्य को छोड़कर भोगान्तराय के क्षयोपशम के अनुसार जो रस-नीरस भोजन मिले उसी में समता रखकर लालसा रहित होकर भोजन करना, वह भैक्ष्यशुद्धि भावना है । ४ । साधर्मी पुरुष से विसंवाद नहीं करना, वह सधर्माविसंवाद भावना है । ५ ।

इस प्रकार अचौर्य अणुव्रत के धारियों को ये पाँच भावना भाने योग्य हैं ।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत की पांच भावना : ब्रह्मचर्य अणुव्रत की पाँच भावना कहते हैं :- स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंग देखने का त्याग, पूर्वकाल में भोगे भोगों के स्मरण करने का त्याग, पुष्ट रस का भोजन व इंद्रियों में दर्प उपजाने वाले भोजन का त्याग, तथा अपने शरीर के संवारने - संस्कार करने का त्याग, ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें हैं ।

दूसरों की स्त्रियों की राग उत्पन्न करनेवाली कथा-वार्ता के श्रवण का त्याग करने की भावना करना चाहिये १; दूसरों की स्त्रियों के मनोहर अंग, स्तन, जंघा, मुख, नेत्रादि व सौंदर्य को रागभाव से देखने का त्याग करना चाहिये २; अणुव्रत ग्रहण करने के पहले की अवस्था में भोगे हुए भोगों को याद नहीं करना चाहिये ३; हृष्ट-पुष्ट-कामोद्दीपक भोजन का त्याग करना चाहिये ४; अपने शरीर को अंजन, मज्जन, इत्र, तैल, फुलेलादि काम विकार उत्पन्न करनेवाले वस्त्र आभरण आदि का त्याग करने की भावना करना, वह स्वशरीर संस्कार त्याग भावना है । ५ ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रत के धारी गृहस्थ को ये पाँच भावनायें भाना योग्य हैं ।

परिग्रह-परिमाण अणुव्रत की पाँच भावना : अब परिग्रह परिमाण अणुव्रत की पाँच भावना कहते हैं - परिग्रह परिमाण अणुव्रत धारण करनेवाला गृहस्थ बहुत पापबंध के कारण अन्यायरूप अभक्ष्य पदार्थों का तो यावज्जीवन त्याग करता है १; अन्तराय कर्म के क्षयोपशम प्रमाण प्राप्त पाँच इंद्रियों के विषयों में संतोष धारण करके मनोज्ञ विषयों में अतिराग नहीं करना २; उक्त मनोज्ञ विषयों में अति आसक्त नहीं होना ३; अमनोज्ञ असुहावने प्राप्त विषयों में द्वेष नहीं करना ४; अन्य जीवों के सुन्दर विषयभोग देखकर उनके भोगने-चाहने की लालसा नहीं करना ५ ।

ये परिग्रह परिमाण व्रत की पाँच भावनायें हैं । पाँच पाप महानिंद्यरूप हैं । उनके त्याग की भावना भी भाना योग्य है ।

हिंसा त्याग की प्रेरणा : ये हिंसादि पाँच पाप हैं, उनसे महादुःख होने से इस लोक में अपना बिगाड़ है, तथा परलोक में अनेक भवों में घोर दुःख भोगना पड़ते हैं, ऐसा जानकर पापों से भयभीत होकर उन्हें दूर से ही त्याग देना चाहिये ।

हिंसा करनेवाला निरंतर भयवान बना रहता है । जिसे वह मारता है उससे अनेक भवों तक वैर का संस्कार चला जाता है । जिसे मारता है उसके स्त्री, पुत्र, पौत्र, मित्र, कुटुम्बी वैरी हो जाते

हैं तथा बदला लेते हैं । तिर्यंचों के ऊपर भी जो लाठी, पत्थर, शस्त्र, चाबुक आदि चलाता है उसका बैर-बदला तिर्यंच भी नहीं छोड़ते हैं । हाथी, घोड़ा, सर्प, ऊँट बहुत दिन के बाद भी बैर धारणकर बदला लेते हैं, मार डालते हैं । दूसरों को मारनेवाला जगत में निंद्य होता है, पापी कहलाता है, सभी से प्रतीति समाप्त हो जाती है ।

यह जिसे मारता है, वे भी इसको मारते हैं; राजा का तीव्र दण्ड मिलता है; हाथ, पैर, नाक, छेद दिये जाते हैं; राजा सर्वस्व हरण कर लेता है । महा-अपयश, गर्दभ-आरोहण आदि तीव्र दण्ड यहीं पर भोगकर बहुत काल तक नरकादि कुगतियों में अनेक प्रकार से ताड़न, मारन, छेदन, भेदन, शूली, वैतरणी स्नान आदि असंख्यात दुःख भोगकर तिर्यंचों में, मनुष्यों में तीव्र रोग, दारिद्र, अपमान आदि भोगता हुआ असंख्यात अनन्त भवों में दुःखों का पात्र होता है ।

जो अन्य जीवों का घात तो नहीं करते हैं, प्राण तो नहीं लेते हैं, परन्तु अभिमान से क्रोध पूर्वक अपने शरीर के बल से अन्य मनुष्यों, तिर्यंचों को, बालक को, स्त्री को लात, घमूका, चाँटा आदि से मारते हैं, तथा लाठी, चाबुक, वेंतों से मारते हैं, त्रास देते हैं, वे भी इस लोक में राक्षसों के समान भंयकर कष्ट पानेवाले महान अपयश के भागी होकर दुर्गति के पात्र होते हैं ।

जो निर्दय परिणामी होकर कषाय के वश होकर विकलत्रय जीवों का घोर आरम्भ आदि करके घात करते हैं; बिना प्रयोजन ही वनस्पति का छेदन, पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु काय के जीवों की अज्ञान भाव से तथा प्रमाद से विराधना करते हैं वे इस लोक में ही ज्वर, सन्निपात आमवात, पक्षाघात, संग्रहणी, अतिसार, वात, पित्त, कफ, खांसी, कोढ़, खाज, पांव फोड़ा, बालतोड़, विष कण्टक आदि रोगों के घोर दुःख भोगकर अनेक दुर्गतियों में रोग, दरिद्रता, इष्ट वियोग आदि घोर दुःखों के पात्र होते हैं। इसलिये हिंसा से इस लोक व परलोक में घोर दुःखरूप फल का होना जानकर सर्व प्रकार से हिंसा का त्याग करना ही श्रेष्ठ है ।

जो जीवों पर दया करके सभी जीवों को अभयदान देता है, अपने परिणामों में जीवमात्र की विराधना नहीं चाहता है, यत्नाचाररूप प्रवर्तता है, प्रमाद छोड़कर अहिंसा धर्म को नहीं भूलता है उसकी महिमा यहाँ ही देव करते हैं, मनुष्य करते हैं, पूज्य हो जाता है, सभी पापों से रहित होकर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देवपना पाकर मनुष्यलोक में विदेह आदि उत्तम क्षेत्रों में महाप्रभाव का धारक होकर निर्वाण गमन करता है ।

असत्य वचन त्याग की प्रेरणा : अब असत्यवचन का स्वरूप केवल दोषरूप ही है, वह प्रकट विचारकर देखो । असत्यवादी की कोई प्रतीति नहीं करता है । माता, पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री को भी उसकी प्रतीति नहीं होती है, उसपर विश्वास नहीं आता है, तब किसी अन्य को उस पर कैसे विश्वास होगा ? जगत में जितना भी व्यवहार है वह सब वचन के द्वारा ही है । जिसने अपना वचन बिगाड़ा उसने अपना सभी व्यवहार बिगाड़ लिया । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ वचन द्वारा ही चलते हैं । जिस का वचन ही निंद्य हुआ उसके चारों पुरुषार्थ निंद्य हो जाते हैं ।

असत्यवादी सभी को अप्रिय होता है । इसके मायाचार होता ही है । असत्य और कपट में अविनाभावीपना है । कुवचन बोलना, चुगली करना, विकथा, आत्म प्रशंसा, पराई निंदा–ये असत्य का परिवार है । असत्यवादी इसी लोक में जिह्वा छेद, सर्वस्व हरण, जिह्वा के रोग से दुःखी होना इत्यादि घोर दुःख प्राप्त करता है; उसकी बदनामी होती है; परलोक में नरक इत्यादि में परिभ्रमण, तिर्यंचगति में वचन रहितपना तथा गूंगा, बहरा, अंधा, दरिद्री, रोगीपना मिलता है । मूर्खपना, वचनकला रहितपना होता है; जगत में दीनता का विलाप करता फिरता है तो भी उसकी कोई सुनता ही नहीं है । इसलिये असत्यवचन का त्याग करना ही श्रेष्ठ है ।

सत्य के प्रभाव से देवलोक में गमन, स्वर्ग का महर्द्धिक देवपना मिलता है । उसके वचनों का समस्त जगत आदर करता है, समस्त उत्तम शास्त्रों का पारगामी होता है । कविपना, वाग्मीपना, अनेक जीवों का उपकार करनेवाला होता है, उसकी आज्ञा लाखों मनुष्य अंगीकार करते हैं – ऐसा सत्य वचन का फल है । जिसने पूर्वजन्म में वचन की उज्ज्वलता धारण की है उसके वचन सुनने की लाखों मनुष्य अभिलाषा करते हैं, चाहते हैं कि यह हमसे बोले तो हम कृतार्थ हो जावें । यह सब सत्य वचन का प्रभाव है ।

चोरी त्याग की प्रेरणा : अब चोरी के दोषों की भावना कहते हैं । चोर मनुष्य सभी को भय उत्पन्न करनेवाला होता है । माता भी चोरी करनेवाले पुत्र का बड़ा भय करती है । हितु, बांधव आदि कोई भी चोर का साथ नहीं चाहते हैं । चोर के संसर्ग से कलंक लग जाता है, कोई भी राजा की तरफ से आपत्ति आ सकती है, हमारा कुछ ले जायगा ऐसा भय लगा ही रहता है, छूटता नहीं है। चोर सभी से नीचा हो जाता है । चोर को मारने में किसी को दया नहीं रहती है । असत्य, कपट, छल आदि चोरों के अवश्य होते ही हैं ।

चोर पापियों में महापापी है । चोर का कोई सहायी नहीं होता है । माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि सब कुटुम्बी चोर को अपने साथ नहीं रखते हैं । उसकी धीरज-प्रतीति सब चली जाती है । कोई उसे रहने को स्थान नहीं देता है । चोर जानकर सभी उसे मारने लग जाते हैं । राजा द्वारा बहुत मारन, ताड़न, हात-नाक छेदन, मृत्यु आदि दण्ड दिये जाते हैं । बंदीखाने में बहुत समय तक रहकर, बदनाम होकर, मरकर, घोर नरक का कष्ट भोगता हुआ अनंतकाल तिर्यंचों में भूख, प्यास, ताड़न, मारन, लादन, घसीटन आदि के दुःख असंख्यात भवों तक पाता है । यदि मनुष्य होता है तो महानीच, दरिद्री, रोगी, वियोगी, घोर क्षुधा, तृषा मारन, बंधन, चोरी के कलंक आदि सहित निरादर का दुःख भोगता हुआ कदम-कदम पर याचना करनेवाला, घोर दुःखों को भोगने का संतान क्रम चला जाता है । इसलिये चोरी का दूर से ही परित्याग करो ।

अपने पुण्य-पाप के अनुकूल जो विषय सामग्री मिली है उसमें संतोष धारण करके, अन्य के धन की स्वप्न में भी वांछा नहीं करो । पराया धन पुण्य के बिना नहीं आता है । पूर्व जन्म में कुपात्र दान दिया, कुतप किया उसके फल में दूसरे का धन हाथ लग भी जाय तो कितने दिन भोगेगा?

महा संक्लेश भावों से अल्प आयु भोगकर दुर्गति में चला जायेगा। इसलिये चोरी का दूर से ही त्याग करना श्रेष्ठ है।

जिनकी पराये धन में इच्छा नहीं है, अपने पुण्य-पाप के अनुकूल मिले धन में संतोष धारण करके, अन्याय के धन में कभी चित्त नहीं चलाते हैं उनका इस लोक में भी यश होता है, प्रतीति होती है, सभी में आदर होता है। जिसके परिणाम पराये धन में नहीं जाते, अपने कमाये हुये धन में ही मंदरागरूप रहते हैं, उन्हें एक भी कष्ट नहीं आता है, अशुभ कर्म का बंध नहीं होता है, सभी लोग अपना धन जमा करना चाहते हैं। परलोक में देवलोक की अपरिमित विभूति असंख्यात काल तक भोगकर, मनुष्यों में राजाधिराज, मंडलेश्वर, चक्रवर्ती का वैभव भोगकर क्रम से निर्वाण प्राप्त करता है। इसलिये भगवान वीतराग का धर्म धारण करके अन्याय के धन का त्याग करके रहना ही श्रेष्ठ है।

कुशील त्याग की प्रेरणा : अब कुशील के दोषों की भावना भाकर कुशील से विरक्त हो जाना ही योग्य है। कुशीली पुरुष काम के मद से उन्मत्त होकर मदोन्मत्त हाथी के समान घूमता है। वह स्त्रियों के राग से ठगा हुआ दोनों लोकों का विचार नहीं करता हुआ कार्य-अकार्य को नहीं जानता है, भक्ष्य-अभक्ष्य, योग्य-अयोग्य का विचार नहीं रहता है, पाप-पुण्य को नहीं समझता है, नहीं देखता है। प्रत्यक्ष सिर पर विपत्ति-अपयश होता दिखाई देता है, तो भी काम की अंधेरी से उसे नहीं दिखता है। काम सरीखी दूसरी अंधेरी तीनलोक में नहीं है।

काम से पीड़ित मनुष्य पर्याय में भी पशु समान ही है, पशु में और कामान्ध में भेद नहीं है। काम से अंधे हुए तिर्यंच वनादि में कट-कटकर मर जाते हैं; मनुष्य जन्म में भी मर जाते हैं, और अन्य को मार डालते हैं। कामान्ध के धर्म-अधर्म का विचार नहीं रहता है, लोक लाज मूल से ही नष्ट हो जाती है। परस्त्री लंपटी को अनेक ओछे आदमी भी मार देते हैं; राजादि द्वारा लिंग छेदन, सर्वस्व हरणादि दण्ड को प्राप्त होता है; मरकर नरकादि दुर्गति में परिभ्रमण करके तिर्यंच-मनुष्यों में घोर दुःख भोगता हुआ नीच, चांडाल, चमार, धीवर, महादरिद्री, महाकुरूप, कोढ़ी, अंगहीन, अंधा, लूला, पांगला, कुबड़ा इत्यादि नीच मनुष्यों में उत्पन्न होकर, फिर नरक, फिर तिर्यंच, फिर कुमानुष, नंपुसक आदि भवों में दुःख भोगता है। इसलिये कुशील का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

शीलवंत पुरुष स्वर्गलोग में करोड़ों अप्सराओं को भोग कर, असंख्यातकाल तक भोग भोगता हुआ मनुष्यों में प्रधान होकर अनुक्रम से मोक्ष का पात्र हो जाता है।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा : अब परिग्रह की ममता का दोष विचारकर परिग्रह से विरागी होना श्रेष्ठ है। परिग्रह की ममता सभी पाँच पापों में प्रवृत्ति कराती है। **जैसे ईंधन से अग्नि बढ़ती ही है, उसी प्रकार तृष्णारूप अग्नि से निरन्तर परिग्रह की ममता बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती है।** परिग्रह के उपार्जन में, रक्षण में, नाश में बहुत दुःख होता है। परिग्रह की ममतावाला धर्म-अधर्म, जीवन-मरण का विचार रहित होता है। परिग्रह की ममता हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, अभक्ष्य, बहुत आरंभ, कलह बैर, ईर्ष्या, भय, शोक, संताप आदि हजारों दोषों में प्रवृत्ति करा देती है।

संसार में जितने भी बन्धन, पराधीनता, कषाय व दुःख हैं, वे सभी परिग्रह के कारण हैं। परिग्रह का त्याग कर देना सिर पर से बड़े भार को उतार देने जैसा है । परिग्रह का त्यागी निर्बन्ध है । परिग्रह त्याग का फल स्वर्ग और मोक्ष है । परिग्रह का त्याग ही समस्त कल्याण का मूल है। इस प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह में जो दोष हैं उनकी भावना भाकर उन पापों का त्याग कर देना ही श्रेष्ठ है ।

पाँच पापों के त्याग की भावना : ये पाँच पाप दुःख ही हैं । ऐसा विचार करना कि-हिंसादि दुःख के कारण हैं, इसलिये वे हिंसादि पाँच पाप दुःख ही हैं । हिंसादि दुःख के कारण में कार्य का उपचार करके पाँच पापों को दुःख ही कह दिया है । जैसे वध, बन्धन, पीड़न मुझे अप्रिय हैं, वैसे ही समस्त अन्य प्राणियों को भी अप्रिय हैं। जैसे झूठ, कटुक, कठोर वचन मुझे कोई कहे तो उन्हें सुनने से मुझे बहुत अधिक दुःख उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार दूसरे जीवों को भी कटुक वचन-असत्य वचन दुःख उत्पन्न कर देते हैं । जैसे मेरे इष्टद्रव्य को कोई चोर चुराकर ले जाय तो मुझे बहुत दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरे जीवों को भी धन चोरी चले जाने से दुःख होता है । जैसे हमारी स्त्री का कोई तिरस्कार करे तो उससे हमें बहुत मानसिक पीड़ा होती है, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी अपनी माता, बहिन, पुत्री, स्त्री के व्यभिचार को सुनकर-देखकर बहुत दुःख होता है । जैसे धन, धान्यादि, वस्त्रादि नहीं मिलने से तथा प्राप्त हुए के नष्ट हो जाने से वांछा, रक्षा, शोक, भय होने से अपने को दुःख होता है, उसी प्रकार परिग्रह की वांछा से तथा प्राप्त परिग्रह के नष्ट हो जाने से सभी जीवों को दुःख होता है । इसलिये हिंसादि पापों से विरक्त हो जाने में ही जीव का कल्याण है ।

इन्द्रिय सुख दुःखरूप है : यहाँ कोई कहता है - कोमल अंगों की धारक स्त्रियों के अंग के स्पर्श से रतिसुख उत्पन्न होता दिखता है, दुःखरूप कैसे कहा ?

उत्तर : इन्द्रियों के विषयों के भोग से उत्पन्न सुख, सुख नहीं है, भ्रम से सुखरूप दिखता है। पहले तो विषयों की चाहरूप महा वेदना उत्पन्न होती है । जब वेदना उत्पन्न होती है तब उसे दूर करने का इलाज चाहता है । जैसे शरीर में चमड़ी, मांस, खून जब विकार रूप हो जाते हैं, तब उत्कट खाज हो जाती है, फिर नाखून से, ठीकरी से, पत्थर से अपने शरीर को खुजाता है; शरीर को रगड़ने से खून निकलने लगता है, तब और अधिक खुजाकर दुःखी ही होता है , वहाँ दुःख को ही सुख मानता है । उसी प्रकार मैथुनसेवन करनेवाला भी मोह से दुःख ही को सुख मानता है।

मनुष्य, तिर्यंच, असुर, सुरेन्द्र आदि सभी जीव अपने शरीर के साथ ही उत्पन्न हुई इंद्रियों द्वारा उत्पन्न विषयों की चाह रूप जलन का दुःख सहने में असमर्थ होने से महानिंद्य विषयों में अतिलालसा करके झपट कर भोगना चाहते हैं । अग्नि से तपाये हुए लोहे के गोले के समान इंद्रियों के ताप से तपतायमान आत्मा विषयों में अति तृष्णा से उत्पन्न अतिदुःखरूप वेग को सहन करने में असमर्थ होने से, विषयों में दौड़कर छलांग लगाता है ।

जैसे कोई पुरुष चारों ओर से अग्नि की ज्वाला से जलता हुआ अग्नि की तपन को नहीं सह सकने के कारण, पास में ही विष्टा से भरे महादुर्गन्ध युक्त बहुत गहरे गड्ढे में जाकर गिर पड़े और उस विष्टा में सिर तक डूबकर उसे ही ताप रहित सुख मानकर मर जाता है, वैसे ही यह संसारी जीव स्पर्शन इंद्रिय के विषय की चाहरूप दुःख को सहन करने में असमर्थ होने से स्त्रियों के दुर्गन्धयुक्त मलिन शरीर में डूबकर काम की पीड़ा रहित होकर सुख मानता हुआ अतितृष्णा से उत्पन्न तीव्र दुःख को भोगता हुआ मरणकर संसार में दुःखी होता रहता है ।

इन्द्रियाँ दुःख में निमित्त है : इस जीव को ये इन्द्रियाँ तो आताप का दुःख उत्पन्न करनेवाली महाव्याधि हैं; तथा ये जो इंद्रियों के विषय हैं वे किंचित् काल के लिये दाह दुःख की उपशमता के कारण, विपरीत अपथ्य औषधि हैं, जिनसे विषयों की चाहरूप दाहदुःख बढ़ता चला जाता है, घटता नहीं है, भ्रम से इलाज मानता है । जिनकी इंद्रियाँ जीवित हैं, उन्हें स्वाभाविक ही दुःख है, दुःख नहीं होता तो विषयों में उछल-उछल कर कैसे गिरते ? वही देखते भी हैं - कपट की हथिनी के शरीर के स्पर्श के लोभ के लिये जंगल का **हाथी** स्पर्शन इन्द्रिय के दुःख का सताया होने से गड्ढे में गिरकर घोर बंधन के दुःख भोगता है । पानी की चंचल **मछली** रसना इंद्रिय के दुःख के वश में होकर धीवर के द्वारा फैलाये काँटे में फंसकर प्राण गंवा बैठती है । घ्राण इंद्रिय के दुःख का सताया **भंवरा** कमल की गंध के लोभ में कमल को सिकुड़ता हुआ देखकर भी कमल में ही रहकर प्राण रहित हो जाता है । नेत्र इंद्रिय जनित कष्ट को नहीं सह सकनेवाला **पतंगा** रूप का लोभी होकर दीपक की ज्वाला में जलकर भस्म हो जाता है । कर्ण इंद्रिय जनित संगीत सुनने की तृष्णा के दुःख को नहीं सहन कर सकने में समर्थ **हिरण** शिकारी द्वारा गाये जाने वाले मधुर राग में अचेत होकर मार दिया जाता है ।

ऐसी दुर्निवार इंद्रियों की वेदना के वश में पड़े हुए जीव, जिनमें उनका मरण निकट ही है ऐसे विषयों में प्रयत्न पूर्वक लगते हैं । इन्द्रियजनित आतप के समान तीनों लोकों में अन्य आताप नहीं है। **जैसा आतप इंद्रियों के विषयों की चाह का है, वैसा आतप अग्नि में नहीं है,** शस्त्र के आघात में नहीं है, विष में नहीं है । इन्द्रियों का आतप सहन करने में असमर्थ होकर विषयों की प्राप्ति के लिये जीव अग्नि में जल जाते हैं, शस्त्रों के आगे होकर मरते हैं, विष भक्षण कर लेते हैं, धर्म का लोप कर देते हैं, माता-पिता, गुरु-शिक्षक को विषयों का रोकनेवाला जानकर मार डालते हैं ।

इस संसार में इंद्रियों से केवल दुःख ही है । जिनके पास इंद्रियरहित अतीन्द्रिय केवलज्ञान है उनके पास ही निराकुलता स्वरूप ज्ञानानंद सुख है । **जो इन्द्रियों के आधीन है उनके स्वाभाविक दुःख ही है** । यदि स्वाभाविक दुःख नहीं हो तो विषयों में प्रवृत्ति कैसे करते हैं ? जिसका शीत ज्वर मिट गया, वह अग्नि को तापना नहीं चाहता है; जिसका दाह ज्वर मिट गया, वह बर्फ की पट्टी नहीं रखना चाहता है; जिसका नेत्ररोग मिट गया, वह कोई भी अंजन आंखों में नहीं लगाना चाहता है; जिसका कान का दर्द मिट गया, वह बकरे का मूत्रादि कान में डालना नहीं चाहता है; जिसका शरीर का फोड़े

का घाव मिट गया, वह कोई मलहम पट्टी नहीं करता है; उसी प्रकार **जिसे इंद्रिय जनित वेदना नहीं होती उसकी विषयों, में प्रवृत्ति कभी नहीं होती** । क्षुधा वेदना बिना भोजन कौन करता है ? तृषा वेदना बिना जल कौन पीता है ? गर्मी का कष्ट हुये बिना ठंडी हवा कौन चाहता है? ठंड का कष्ट हुए बिना रुई के भरे वस्त्र तथा ऊनी वस्त्र कौन पहिनना-ओढ़ना चाहता है ?

ये सभी विषय तो वेदना मिटाने के उपाय हैं - इलाज हैं । इन विषयों से किंचित् काल के लिये वेदना घट जाती है, अज्ञानी उसे सुख मान लेता है, वह सुख वास्तव में सुख नहीं है । सुख तो वहाँ हैं जहाँ वेदना उत्पन्न ही नहीं होती है । **अनाकुलता जिसका लक्षण है, ऐसा स्वाधीन अनन्त ज्ञान वह ही सुख है, अन्य नहीं** । ऐसा निर्णय कर जानो । इस प्रकार हिंसादि को दु:खरूप ही जानने की भावना भाना योग्य है ।

मैत्री आदि चार भावनायें : अब श्रावक को मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ - ये चार भावनायें भाने योग्य हैं, उन्हें कहते हैं ।

एक इंद्रिय आदि सभी प्राणियों में मैत्री भावना चाहिये कि - किसी भी प्राणी को दु:ख उत्पन्न नहीं हो, ऐसी अभिलाषा रखना वह **मैत्री भावना है** । १ ।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप इत्यादि में अधिकता लिये हों, उनमें प्रमोद भावना करना चाहिये। प्रमोद का अर्थ हर्ष, आनंद है । अत: गुणों में जो अधिकता लिये हों, उन्हें देखकर परिणामों में ऐसा हर्ष उत्पन्न हो जैसा हर्ष जन्म के दरिद्री को निधियाँ प्राप्त हो जाने पर होता है । गुणवन्तों को देखते ही हर्ष से रोमांच होना, मुख की प्रसन्नता से नेत्रों का प्रफुल्लित हो जाना, हृदय में आह्लाद से स्तुति के वचन, नाम-कीर्तन आदि द्वारा अंतरंग भक्ति का प्रकट करना वह **प्रमोदभावना है** । २ ।

असातावेदनीय कर्म के उदय से रोग-दारिद्रादि से पीड़ित जो दु:खी प्राणी है, तथा इंद्रियों से विकल अंधा, बहरा, लूला तथा अनाथ, विदेशी, अत्यन्त वृद्ध, बालक, विधवा इत्यादि दुखित प्राणियों का दु:ख मेटने का उपाय करने का अभिप्राय वह **कारुण्य भावना है** । ३ ।

जो धर्म रहित, तीव्र कषायी, हठग्राही, उपदेश देने के अयोग्य, विपरीत ज्ञानी, धर्मद्रोही, दुष्ट अभिप्रायी, निर्दयी हैं उनमें राग-द्वेष के अभावरूप रहना वह **माध्यस्थ भावना है** । ४ ।

सभी प्राणियों के दु:ख का अभाव चाहना वह मैत्री भावना है । गुणों में जो अधिक हों उन पुरुषों को देखकर सुनकर हर्ष होना वह प्रमोद भावना है । दु:खित जीवों को देखकर उपकार करने की बुद्धि हो जाना वह कारुण्य भावना है । हठग्राही, निर्दयी, अभिमानी आदि में रागद्वेष रहित रहना वह माध्यस्थ भावना है । इस प्रकार धर्म के धारक श्रावकों को मैत्री आदि चार भावना भाने योग्य हैं ।

जगत और काय का स्वरूप : गृहस्थों को जगत का स्वभाव व काय का स्वभाव भी चिंतवन करने योग्य है । **जगत का स्वभाव चिंतवन करने से संसार परिभ्रमण से भय लगने लगता है, तथा शरीर का स्वभाव चिंतवन करने से शरीर से रागभाव का अभाव होता है** ।

संसार का स्वरूप : यह जगत लोक कहलाता है, वह अनादिनिधन है । अर्द्ध मृदंग के ऊपर एक मृदंग रख देने से, डेड़ मृदंग जैसे आकार वाला यह लोक है । चौदह राजू ऊँचा है । दक्षिण-उत्तर सर्वत्र सात राजू चौड़ा है । पूर्व-पश्चिम में सबसे नीचे सात राजू चौड़ा है, फिर ऊपर की ओर क्रम से घटता हुआ सात राजू की ऊँचाई तक जाकर एक राजू चौड़ा रह गया है; फिर ऊपर की ओर क्रम से बढ़ता हुआ साढ़े तीन राजू की ऊँचाई तक गया, वहाँ पाँच राजू चौड़ा हो गया है; फिर आगे क्रम से घटता हुआ साढ़े तीन राजू की ऊँचाई तक गया जहाँ लोक का अंत है, वहाँ पर एक राजू चौड़ा है । इस प्रकार पूर्व-पश्चिम क्रम से घटती-बढ़ती-घटती चौड़ाई जाननी । ऐसे आकारवाले लोक के एक राजू चौड़े, एक राजू लम्बे, एक राजू ऊँचे खण्डों की कल्पना करें तो कुल तीन सौ तैतालीस खण्ड होते हैं ।

इस लोक रूपी क्षेत्र में अनंतानंत काल परिभ्रमण करते हुये बीत गया है । ऐसा कोई पुद्गल शेष नहीं रहा जो शरीररूप से धारण नहीं किया हो; तीन सौ तैतालीस राजू प्रमाण क्षेत्र में ऐसा कोई एक प्रदेश भी बाकी नहीं रहा, जहाँ अनन्तानन्त बार इस जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो । उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के बीस कोड़ा-कोड़ी सागर में ऐसा कोई काल का एक समय बाकी नहीं रहा जिसमें इस जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो । नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव- इन चार गतियों में जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु तक समयोत्तर ऐसी कोई पर्याय बाकी नहीं रही जिसे अनंतबार नहीं पाया हो ।

ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों की मिथ्यादृष्टि के बन्ध होने योग्य जघन्य स्थिति अंतः कोटा-कोटि सागर प्रमाण है; उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय - इन चार कर्मों की तीस कोटा-कोटि सागर प्रमाण की है; मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटा-कोटि सागर प्रमाण है; नामकर्म, गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा-कोटि सागर प्रमाण हैं ; आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है ।

जघन्य स्थिति से प्रारंभ करके एक-एक समय बढ़ाते हुए उत्कृष्ट स्थिति तक जितनी कर्मों की स्थिति होती है, उस समय स्थिति के एक-एक स्थान को असंख्यात लोक प्रमाण कषायों के स्थान कारण हैं; वे कषायों के एक-एक स्थान अनन्तबार इस संसारी जीव के हुए हैं । इसलिये इस प्रकार के परिभ्रमणरूप संसार में जितने जीव हैं वे अनेक भेदरूप चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए निरन्तर दुःख भोगते हैं । कोई जीव निश्चल नहीं है, जल के बुलबुले के समान जीवन अस्थिर है, भोग-सम्पदा बादलों के समान विनाशीक है, राज्य-धन-सम्पदा इन्द्रधनुष के समान क्षण भंगुर है । इस संसार में प्राणी अनन्तानन्त परिवर्तन करता है । इस प्रकार संसार का सत्यार्थ स्वरूप का चिंतवन करने से संसार में परिभ्रमण करने का भय लगने लगता है ।

शरीर का स्वरूप : अब काय के स्वरूप का विचार करते हैं । यह मनुष्य शरीर रोगरूप सर्पों का बिल है, अनित्य है, दुःख का कारण है, अपवित्र है, निःसार है, करोड़ों उपाय करने पर भी

विनष्ट हो जाता है । यह शरीर धोते-धोते हुए भी मैल को ही उगलता है, सुगंध, इत्र, फुलेल लगाते-लगाते हुए भी दुर्गन्ध का वमन करता है; पोषते-पोषते हुए भी बलवान नहीं होता है; संवारते-संवारते हुए भी दिन-दिन भद्दा होता जाता है; सुधारते-सुधारते हुए भी दिन-दिन बदसूरत होता जाता है; सुख देते-देत हुए भी दु:खी हो जाता है; मंत्र जपते-जपते हुए भी निरन्तर भयभीत रहता है; दीक्षारूप रहते-रहते हुए भी साधुओं के मार्ग को दूषित कर देता है; शिक्षा देते-देते हुए भी गुणों में अनुराग नहीं करता है; दु:ख भोगते-भोगते हुए भी कषायों की उपशान्तता को प्राप्त नहीं होता है; रोकते-रोकते हुए भी पापों में ही प्रवर्तन करता है; प्रेरणा करते-करते हुए भी धर्म को धारण नहीं करता है ।

मालिश करते-करते हुए भी दिन-दिन कठोर कर्कश होता जाता है; पोंछते-पोंछते हुए भी गीला बना रहता है; सुगंधित तेल आदि लगाते-लगाते हुए भी दुर्गन्ध देता रहता है; चंदनादि को लेपते-लेपते हुए भी पित्त से जलता रहता है; सुखाते-सुखाते हुए भी कफ से गलता रहता है; साफ करते-करते हुए भी कोढ़ आदि रोगों से मैला हो जाता है; चमड़े से बंधा हुआ है तो भी क्षीण होता चला जाता है; रक्षा करते-करते हुए भी मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है ।

शरीर का ऐसा निंद्य स्वभाव विचारने से शरीर में राग भाव नष्ट हो जाता है । इसलिये जगत का स्वभाव निर्वेग-भयरूप तथा काय का स्वभाव संवेग-वैराग्य के लिये चिंतवन करना श्रेष्ठ है ।

सोलह कारण भावना : सोलह कारण भावना भी श्रावक के भाने योग्य हैं । सोलह कारण भावना भाने का फल तीर्थंकरपना है । इनके द्वारा ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध अव्रती सम्यग्दृष्टि को भी होता है, देशव्रती श्रावक को भी होता है, तथा प्रमत्त-अप्रमत्त संयम मुनि को भी होता है । तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है, इससे ऊँची पुण्य प्रकृति तीन लोक में दूसरी नहीं है ।

गोमट्टसार कर्मकांड में कहा है -

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि ।
तित्थयर बंध पारं भया णरा केवलिदुगंते ॥९३॥

अर्थ :- तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ कर्मभूमि के मनुष्य पुरुषलिंग धारी के ही होता है, अन्य तीन गतियों में आरंभ नहीं होता है । केवली-श्रुतकेवली के चरणारविंद के समीप में ही होता है । केवली-श्रुतकेवली की निकटता के बिना तीर्थंकर प्रकृति के बंध के योग्य परिणामों की विशुद्धि नहीं होती है । तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रथमोपशम सम्यक्त्व में होता है तथा शेषत्रिक जो द्वितीयोपशम, क्षयोपशम, क्षायिक इन चारों ही सम्यक्त्व वालों को होता है । अविरत, देशविरत, प्रमत्त तथा अप्रमत्त इन चारों ही गुणस्थानों में होता है ।

इस तीर्थंकर प्रकृतिबंध का कारण सोलह कारण भावनायें हैं । ये भावनायें समस्त पाप का क्षय करनेवाली, भावों की अशुद्धिरूप मल को विध्वंस करनेवाली, श्रवण-पठन करते-करते संसार के बंध को छेदनेवाली हैं, जो निरन्तर ही भाने योग्य हैं ।

सोलह कारण पूजन की जयमाला का अर्थ – अब यहाँ सोलह कारण पूजन की जयमाला के अर्थ को पढ़ने से महान पुण्य का उपार्जन होता है, इसलिये उस जयमाला के अर्थ को भावों की विशुद्धि व अशुभ भावों के नाश के लिये लिखते हैं। प्रथम समुच्चय जयमाला का अर्थ लिखते हैं।

अर्थ :– हे ! संसार समुद्र से तारनेवाली, कुगति का निवारण करनेवाली, हे तीर्थंकर लब्धि को धारण करनेवाली, हे शिव-निर्वाण की कारण, हे सोलह कारण, मैं तुम्हारे लिये नमस्कार करके तुम्हारा स्तवन करता हूँ और अपनी शक्ति को प्रकट करता हूँ।

भावार्थ :– जिसके सोलह कारण भावनायें हो जाती हैं, वह नियम से तीर्थंकर होकर संसार समुद्र से तिर ही जाता है, ऐसा नियम है। सोलह कारण भावनायें जिसके होती हैं उसका कुगति गमन नहीं होता है। कोई तो विदेह क्षेत्रों में गृहस्थपने में सोलहकारण भावना केवली-श्रुतकेवली के निकट भाकर उसी भव से देवों द्वारा तपकल्याण, ज्ञान कल्याण, निर्वाण कल्याण मनाये जाकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। कोई पूर्व जन्म में केवली-श्रुतकेवली के निकट सोलहकारण भावना भाकर सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के अहमिन्द्रों में उत्पन्न होकर, फिर मनुष्य होकर तीर्थंकर होकर, निर्वाण प्राप्त करते हैं। किसी ने पूर्व जन्म में मिथ्यात्व अवस्था में नरक की आयु का बंध किया, फिर केवली-श्रुतकेवली की शरण पाकर सम्यक्त्व ग्रहण करके सोलहकारण भावना भाते हुए नरक जाकर, वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

जो पूर्वजन्म में सोलहकारण भावना भाकर तीर्थंकर प्रकृति बांधते हैं उनके पाँच कल्याण की महिमा होती है। जो विदेह क्षेत्रों में गृहस्थपना में तीर्थंकर प्रकृति बांधते हैं, वे उसी भव में तप, ज्ञान, निर्वाण इन तीन कल्याणों की इन्द्रादि द्वारा पूजन पाकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

कोई विदेह क्षेत्रों में मुनि के व्रत धारण करने के बाद केवली-श्रुतकेवली के निकट सोलहकारण भावना भाकर उसी भव में तीर्थंकर होकर ज्ञान, निर्वाण दो कल्याण की पूजा को प्राप्त होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। वे दीक्षा पहले ही ले लेते हैं, सोलहकारण भावना बाद में भाकर तीर्थंकर प्रकृति बांधते हैं, इसलिये उनका तप कल्याण नहीं होता है।

जिसको तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है वह भवनत्रिक देवों में, खोटे मनुष्यों में, नीच कुलवाले, विकृत अंगवाले, अल्पायु, दरिद्री, तिर्यंचों में, भोगभूमि में, स्त्री में, नपुंसक में, एकेन्द्रिय से विकल चतुष्कादि पर्यायों में नहीं उत्पन्न होते हैं, तीसरे नरक से नीचे नहीं जाते हैं। इस प्रकार सोलह कारण भावना कुगति का निवारण करनेवाली है। सोलह कारण भावना भाने के बाद तीसरे भव में निर्वाण होता ही है, अतः शिव का कारण है। तीर्थंकरत्व ऋद्धि सोलहकारण भावना भाने से ही उत्पन्न होती है, इसलिये हे सोलह कारण भावना ! मैं तुम्हें नमस्कार करके स्तवन करता हूँ।

हे भव्यजीवो ! इस दुर्लभ मनुष्य जन्म में पच्चीस दोष रहित दर्शनविशुद्ध नाम की भावना भावो। सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाले दोषों का त्याग करने में ही सम्यग्दर्शन की उज्ज्वलता है।

तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष - ये सच्चे श्रद्धान को मलिन करने वाले पच्चीस दोष हैं, इनका दूर से ही त्याग करो । १ ।

पाँच प्रकार की विनय, जैसी भगवान के परमागम में कही है उस प्रकार करना चाहिये । दर्शन विनय ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय, उपचार विनय- ये पाँच प्रकार की विनय भगवान जिनेन्द्र ने जिनशासन का मूल कहा है । जहाँ पाँच प्रकार की विनय नहीं है वहाँ जिनेन्द्र के धर्म की प्रवृत्ति ही नहीं है । इसलिये जिनशासन का मूल विनय रूप ही रहना योग्य है । २ ।

अतिचार रहित शील को पालना चाहिये । शील को मलिन नहीं करना चाहिये । उज्ज्वल शील ही मोक्ष के मार्ग का बड़ा सहायक है । जिसके उज्ज्वलशील है उसको मोक्ष के मार्ग में इन्द्रियाँ, विषय, कषाय, परिग्रह आदि विघ्न नहीं कर सकते हैं । ३ ।

इस दुर्लभ मनुष्य जन्म में प्रतिक्षण ज्ञानोपयोगरूप ही रहना चाहिये । सम्यग्ज्ञान बिना एक क्षण भी व्यतीत नहीं करो । जो अन्य संकल्प-विकल्प संसार में डुबोनेवाले हैं, उनका दूर ही से परित्याग करो । ४ ।

धर्मानुराग पूर्वक संसार, शरीर, भोगों से वैराग्यरूप संवेगभावना का हमेशा मन में चिंतवन होना चाहिये । उससे सभी विषयों में अनुराग का अभाव होता है तथा धर्म में व धर्म के फल में अनुराग रूप दृढ़ प्रवर्तन होता है । ५ ।

अंतरंग में आत्मा के घातक लोभादि चार कषायों का अभाव करके अपनी शक्ति अनुसार सुपात्रों के रत्नत्रयादि गुणों में अनुराग करके चार प्रकार के दान में प्रवृत्ति करनी चाहिये । ६ ।

अंतरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह में आसक्ति छोड़कर समस्त विषयों की इच्छा का अभाव करके अत्यन्त कठिन तप को अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिये । ७ ।

चित्त में रागादि दोषों का निराकरण करके परम वीतरागतारूप साधु के समान समाधि धारण करना चाहिये । ८ ।

संसार के दु:ख आपदाओं का निराकरण करनेवाला दश प्रकार का वैयावृत्य करना चाहिये । ९ ।

अरहन्त के गुणों में अनुराग रूप भक्ति को धारण करते हुये अरहन्त के नामादि का ध्यानकर अरहन्त भक्ति करनी चाहिये । १० ।

पाँच प्रकार के आचार को जो स्वयं आचरण करते हैं, अन्य शिष्य-मुनियों को कराते हैं, दीक्षा शिक्षा देने में निपुण, धर्म के स्तंभ, ऐसे आचार्य परमेष्ठी के गुणों में अनुराग करना वह आचार्य भक्ति है । ११ ।

निरन्तर ज्ञान में प्रवर्तन करनेवाले, करानेवाले, स्वयं सम्यग्ज्ञान का पठन करते हैं, अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, चारों अनुयोगों के ज्ञान के पारगामी अंग-पूर्व-श्रुत के धारी उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना वह बहुश्रुत भक्ति है । १२ ।

जिनशासन को पुष्ट करनेवाला, संशय आदि अंधकार को दूर करने में सूर्य के समान जो भगवान का अनेकान्तरूप आगम है उसके पठन, श्रवण, प्रवर्तन, चिंतवन में भक्ति पूर्वक प्रवर्तन करना वह प्रवचन भक्ति भावना है । १३ ।

अवश्य करने योग्य जो षट् आवश्यक हैं, वे अशुभ कर्मों के आस्रव को रोककर महान निर्जरा करनेवाले हैं, अशरण को शरण हैं ऐसे आवश्यकों को एकाग्रचित्त से धारणकर निरंतर उनकी भावना भाना चाहिये । १४ ।

जिनमार्ग की प्रभावना में नित्य प्रवर्तन करना चाहिये । जिनमार्ग की प्रभावना धन्यपुरुषों द्वारा होती है । अनेक लोगों की वीतराग धर्म में प्रवृत्ति व कुमार्ग का अभाव प्रभावना द्वारा ही होता है । १५ ।

धर्म में, धर्मात्मा पुरुषों में, धर्म के आयतनों में, परमागम के अनेकांतरूप वाक्यों में परम प्रीति करना वात्सल्य भावना है । यह वात्सल्य भावना सभी भावनाओं में प्रधान है, वात्सल्य अंग सभी अंगों में प्रधान है, महामोह तथा मान का नाश करने वाला है १६ ।

इस प्रकार निर्वाण सुख को देनेवाली इन सोलह कारण भावनाओं को जो भव्य स्थिर चित्त से भाता है, चिंतन करता है, बहुत सन्मान करता है, उनमें रच-पच जाता है, वह सभी जीवों के हितरूप तीर्थंकरपना पाकर पंचमगति जो निर्वाण उसे प्राप्त करता है । इस प्रकार षोडशकारण की यह समुच्चय कथनरूप भावना समाप्त हुई ।

दर्शन विशुद्धि भावना

अब दर्शन विशुद्धि नाम की प्रथम भावना का वर्णन करते हैं । हे भव्य जीवों ! यदि इस मनुष्य जन्म को पाकर सफल करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन की विशुद्धता धारण करो । **यह सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है । सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक धर्म भी नहीं होता है, मुनि धर्म भी नहीं होता है । सम्यग्दर्शन के बिना जो ज्ञान है, वह कुज्ञान है, जो चारित्र है, वह कुचारित्र है, जो तप है वह कुतप है ।**

सम्यग्दर्शन के बिना इस जीव ने संसार में अनंतानंत काल परिभ्रमण किया है, अब यदि चतुर्गतिरूप संसार परिभ्रमण से भयभीत होकर जन्म-जरा-मरण के दु:खों से - रोगों से छूटना चाहते हो तथा अनन्त अविनाशी सुखमय आत्मा को चाहते हो तो अन्य समस्त परद्रव्यों की अभिलाषा छोड़कर एक सम्यग्दर्शन की ही उज्ज्वलता करो ।

कैसी है दर्शन विशुद्धता ? निर्वाण के सुख की कारण है, दुर्गति का निराकरण करने वाली है, विनयसंपन्नता आदि पन्द्रह कारण भावनाओं की भी मूल कारण है । यदि दर्शन विशुद्धता नहीं है तो अन्य पन्द्रह भावनायें भी नहीं होती हैं । यह संसार के दु:खरूप मोहांधकार का नाश करने के लिये सूर्य के समान है, भव्यों को परमशरण है. ऐसी दर्शन विशुद्धता नाम की भावना भाना चाहिये। जिस प्रकार से स्व-पर द्रव्यों का भेदज्ञान उत्पन्न हो. उज्ज्वल हो वैसा प्रयत्न करना चाहिये ।

इस जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्व नाम के कर्म के वश में होकर अपने स्वरूप की और पर द्रव्यों के स्वरूप की पहिचान नहीं की । जो पर्याय कर्म के उदय से प्राप्त की उसी पर्याय को अपना स्वरूप जान लिया । अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान करने में अंधा होकर, अपने स्वरूप से भ्रष्ट रहकर, चारों गतियों में भ्रमण करता आ रहा है । यह जीव देव-कुदेव को, धर्म-कुधर्म को, सुगुरु-कुगुरु को जानता नहीं हैं; पुण्य-पाप का, इस लोक-परलोक का, त्यागने योग्य-ग्रहण करने योग्य का, भक्ष्य-अभक्ष्य का, सत्संग-कुसंग का, शास्त्र-कुशास्त्र का विचार ही नहीं करता है । कर्म के उदय के रस में तन्मय होकर, सदाकाल ही कष्ट उठाता रहा है ।

कोई अकस्मात् काललब्धि के योग से उत्तम कुलादि में जिनेन्द्रधर्म प्राप्त हुआ है, जिससे वीतराग सर्वज्ञ के अनेकान्तरूप परमागम के प्रसाद से प्रमाण, नय, निक्षेपों द्वारा निर्णय करके, परीक्षाप्रधानी होकर, वीतरागी सम्यग्ज्ञानी गुरुओं की कृपा से ऐसा निश्चय किया - **मैं एक जाननेवाला, ज्ञायकरूप, अविनाशी, अखण्ड, चेतना लक्षण, देहादि समस्त पर द्रव्यों से भिन्न आत्मा हूँ । देह, जाति, कुल, रूप, नाम इत्यादि मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं । राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभादि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मेरे ज्ञायक स्वभाव में विकार हैं ।** जैसे स्फटिक मणि स्वयं तो स्वच्छ श्वेत स्वभाव है, उसमें डांक के संसर्ग से काला, पीला, लाल, हरा अनेक रंग का दिखता है; उसी प्रकार मैं आत्मा स्वयं तो स्वच्छ, ज्ञायकभाव, निर्विकार, टंकोत्कीर्ण हूँ, मोह कर्म के उदयजनित राग द्वेष आदि उसमें झलकते हैं, वे मेरा रूप नहीं हैं, पर हैं । इस प्रकार अपने स्वरूप का निश्चय हुआ है ।

निःशंकितगुण : सर्वज्ञ, वीतराग, परम हितोपदेशक तथा अठारह दोष - क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, विस्मय, राग, द्वेष, निंदा, चिन्ता, स्वेद, मद, मोह, खेद, अरति का जिनके अत्यन्त अभाव हुआ है, तथा जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य इत्यादि अनन्त आत्मीक अविनाशी गुण प्रकट हुए हैं, ऐसे आप्त ही हमारे वंदन, स्तवन, पूजन करने योग्य हैं । अन्य कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, स्त्रियों में आसक्त, शस्त्रादि धारण किये, कर्म के आधीन, इंद्रिय ज्ञान के धारक, सर्वज्ञता रहित हैं वे मेरे वंदन स्तवन, पूजन योग्य नहीं हैं । जो चोरों में शिरोमणि, जारों में शिरोमणि है, वह कैसे आराधना योग्य होगा ?

सर्वज्ञ वीतराग का उपदेशित, प्रत्यक्ष व अनुमान आदि से जिसमें बाधा नहीं आती, छः काय के सभी जीवों की हिंसारहित धर्म का उपदेशक, आत्मा का उद्धारक, अनेकान्तरूप वस्तु को साक्षात् प्रकट करने वाला ही आगम है; वही पढ़ने, पढ़ाने, सुनने, श्रद्धान करने, वन्दने योग्य है । रागी द्वेषी के कहे गये, विषयानुराग व कषाय बढ़ानेवाले, जिनमें हिंसा करने का उपदेश है, ऐसा प्रत्यक्ष व अनुमान से बाधित एकान्तरूप शास्त्र सुनने, पढ़ने, वंदने योग्य नहीं हैं ।

जिनेक विषयों की वाञ्छा का, कषाय का, परिग्रह का, आरम्भ का अत्यन्त अभाव हो गया है; केवल आत्मा की उज्ज्वलता करने में उद्यमी, ध्यान-स्वाध्याय में अत्यन्त लीन, स्वाधीन, कर्मबंध

जनित सुख-दु:ख में साम्यभाव के धारक, जीवन-मरण लाभ-अलाभ स्तवन-निन्दा में रागद्वेष रहित, उपसर्ग-परीषहों, के सहने में अकम्प धैर्य के धारक, परम निर्ग्रन्थ गुरु ही वन्दन स्तवन करने योग्य हैं । अन्य आरम्भी, कषायी, विषयानुरागी, कुगुरु कभी भी स्तवन वन्दन करने योग्य नहीं हैं ।

जीव दया ही धर्म है, हिंसा कभी भी धर्म नहीं है । यदि कभी सूर्य का उदय-पश्चिम दिशा में हो जाय, अग्नि शीतल हो जाय, सर्प के मुख में अमृत हो जाय, मेरु पर्वत अपने स्थान से हट जाय, पृथ्वी उलट-पुलट हो जाय, तो भी हिंसा में कभी धर्म नहीं होगा । ऐसा दृढ़ श्रद्धान सम्यग्दृष्टि को होता है ।

अपने आत्मा के अनुभवन में, सर्वज्ञ वीतरागरूप आप्त के स्वरूप में, निर्ग्रन्थ विषय-कषाय रहित गुरु में, अनेकान्त स्वरूप आगम में, दयारूप धर्म में शंका का अभाव होना वह नि:शंकित अंग है । सम्यग्दृष्टि को इनमें कभी शंका नहीं होती है, अत: उसके नि:शंकित अंग होता ही है ।

नि:कांक्षित गुण : सम्यग्दृष्टि धर्म सेवन करके विषयों की वांछा नहीं करता है । सम्यग्दृष्टि को इंद्र अहमिन्द्रलोक के विषय भी महान वेदनारूप, विनाशीक, पाप के बीजरूप ही दिखाई पड़ते हैं, तथा धर्म का फल अनन्त, अविनाशी, स्वाधीन सुख सहित मोक्ष दिखाई देता है । जिस प्रकार जौहरी बहुमूल्य रत्न को छोड़कर काँच के टुकड़े को ग्रहण नहीं करता है; उसी प्रकार जिसे सच्चा, आत्मीक, अविनाशी, बाधारहित सुख दिखाई पड़ गया (अनुभव में आ गया) वह असत्य, बाधा सहित, विषयों के सुख की कैसे वांछा करेगा ? अत: सम्यग्दृष्टि वाञ्छा रहित ही होता है ।

अव्रती सम्यग्दृष्टि के वर्तमान काल में आजीविकादि में, स्थान आदि परिग्रह में, वेदना के अभाव की जो वाञ्छा होती है वह वर्तमान काल की वेदना सहने की असमर्थता से वेदना का इलाज मात्र की चाह है । जैसे रोगी कडुवी औषधि से बहुत विरक्त होता है, तो भी जब वेदना का दु:ख नहीं सहा जाता है तब वह वमन-विरेचन आदि की कारण कडुवी औषधि भी ग्रहण करता है, दुर्गन्धित तेलादि भी लगाता है, किन्तु अंतरंग में औषधि से कुछ भी अनुराग नहीं रखता है; वैसे ही सम्यग्दृष्टि निर्वांछक है तो भी वर्तमान का दु:ख दूर करने के लिये योग्य तथा न्याय के विषयों की वाञ्छा करता है । जिनके प्रत्याख्यानावरण अप्रत्याख्यानावरण कषायों का अभाव हो गया है वे मुनिराज अपने शरीर के सौ टुकड़े हो जाय तो भी विषयों की वाञ्छा नहीं करते हैं, अत: सम्यग्दृष्टि के नि:कांक्षित गुण होता ही है ।

निर्विचिकित्सा गुण : सम्यग्दृष्टि के अशुभ कर्म के उदय से प्राप्त हुई अशुभ सामग्री में ग्लानि नहीं करता है, परिणाम नहीं बिगाड़ता है । वह तो विचारता है कि मैंने पूर्व में जैसे कर्म बांधा था उसी के अनुसार भोजन, पानी, स्त्री, पुत्र, दारिद्र संपदा, आपदा प्राप्त हुई है । अन्य किसी को रोगी दरिद्री, हीन, नीच, मलीन देखकर परिणाम नहीं बिगाड़ता है, पाप की सामग्री जानकर कलुषता नहीं करता है । मलमूत्र, कीचड़ आदि द्रव्य को देखकर, भंयकर श्मशान वन आदि क्षेत्र को देखकर, भयरूप दु:खदायी काल को देखकर, दुष्टपना, कडुआपना इत्यादि वस्तु के स्वभाव को देखकर अपने परिणामों में क्लेशित नहीं होना वह निर्विचिकित्सित अंग सम्यग्दृष्टि के होता ही है ।

अमूढ़दृष्टि गुण : खोटे शास्त्रों से, व्यन्तर आदि देवकृत विक्रिया से, मणि-मंत्र-औषधि आदि के प्रभाव से, अनेक वस्तुओं का बिपरीत स्वभाव देखकर सच्चे धर्म से चलायमान नहीं होना वह सम्यग्दर्शन का अमूढ़दृष्टि गुण है जो सम्यग्दृष्टि के होता ही है ।

उपगूहन गुण : सम्यग्दृष्टि अन्य जीवों के अज्ञान से अशक्तता से लगे हुए दोष देखकर उन्हें ढाँकता है । ये संसारी जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय कर्म के वश होकर अपना स्वभाव भूल रहे हैं । कर्म के आधीन होकर असत्य वचन, परधन हरण, कुशील आदि पापों में प्रवृत्ति करते हैं । जो पापों से दूर रहते हैं वे धन्य हैं । यदि किसी प्रसिद्ध धर्मात्मा पुरुष से पाप के उदय में कोई अपराध हो जाय तो उसे जानकर ऐसा विचार करता है कि - यदि यह दोष प्रकट हो जायेगा तो अन्य धर्मात्माओं तथा जैनधर्म की बड़ी निन्दा होगी, ऐसा जानकर उसके दोष को आच्छादित करता है; अपने गुणों की प्रशंसा का इच्छुक नहीं होता है । ऐसा उपगूहन गुण सम्यग्दृष्टि को होता ही है।

स्थितिकरण गुण : यदि किसी धर्मात्मा पुरुष के परिणाम कभी रोग की वेदना से धर्म से विचलित हो जाँय; दारिद्र से, उपसर्ग आने से, परीषह नहीं सहा जाने से, असहायता से, आहार पानी रुक जाने से, परिणाम धर्म से शिथिल होने लगें; तो उसे उपदेश आदि देकर परिणामों को धर्म में स्थिर करने के लिये कहे - **भो ज्ञानी ! भो धर्म के धारक !** तुम सचेत हो जाओ । क्यों कायरता धारण करके धर्म में शिथिल हो रहे हो ? क्यों रोग के कष्ट से धर्म से विचलित होते हो ? तुम ज्ञानी होकर क्यों ऐसी भूल करते हो ? यह असातावेदनीय कर्म अपना समय पाकर उदय में आ गया है, अब यदि कायर, होकर, दीन होकर, रुदन-विलाप आदि करते हुये भोगोगे तो कर्म नहीं छोड़ेगा, कर्म के दया नहीं होती है कि वह तुम्हें रोता, विलाप आदि करता हुआ देख कर अपना रस देने में पीछे हो जायेगा । यदि धीरपना धारण करके भोगोगे तो भी कर्म नहीं छोड़ेगा ।

कोई देव, दानव, मंत्र, तंत्र, औषधि, वैद्य आदि तथा स्त्री, पुत्र, मित्र, बांधव, सेवक, सुभट आदि उदय में आये कर्म का हरण करने में समर्थ नहीं हैं; यह तुम भी अच्छी तरह जानते हो । अब इस वेदना के समय में कायर होकर अपना धर्म, यश, परलोक आदि को क्यों बिगाड़ते हो ? इनको बिगाड़कर स्वच्छन्द चेष्टा, विलाप आदि करने से वेदना नहीं घटेगी । ज्यों-ज्यों कायर होवोगे त्यों-त्यों वेदना का दुःख बढ़ेगा । इसलिये अब धारण करके धर्म की परम शरण ग्रहण करो ।

संसार में नरक के तथा तिर्यंचों के क्षुधा, तृषा, रोग, संताप, ताड़न, छेदन, भेदन, मारन, शीत, उष्ण आदि के घोर दुःख असंख्यात काल पर्यन्त अनेक बार अनन्त भव धारण करके भोगे हैं । अभी यह तुम्हें कितना-सा दुःख है ? वह तो थोड़े ही समय में निर्जर जायेगा । यह रोग की वेदना, देह को मारेगी, तुम्हारे चेतन स्वरूप आत्मा को नहीं मारेगी । देह का मरण तो अवश्य होगा ही । जो भी देह धारण की है उसका मरण अवश्यंभावी है । अतः तुम अब सचेत होओ, यह कर्म को जीतने का अवसर है ।

अब भगवान पंच परमेष्ठी की शरण ग्रहण करके अपने अजर, अमर, अखण्ड, ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को ग्रहण करो । ऐसा अवसर पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है ।

इस प्रकार धर्म का उपदेश देकर धर्म में दृढ़ करना । शीघ्र ही अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का चिंतवन कराना - ग्रहण कराना, यदि त्यागव्रत आदि छोड़ दिये हों तो पुनः ग्रहण कराना । शरीर का मर्दनादि करके दुःख दूर करना, कोई सेवा टहल करने वाला नहीं हो तो आप स्वयं टहल करना, अन्य साधर्मियों का साथ मिला देना, आहार पानी दवा आदि करके स्थितिकरण करना । मल, मूत्र, कफ आदि आ गया हो तो धोना, पोंछना इत्यादि करके स्थिर करना, दारिद्र आदि से चलायमान हुआ हो तो उसकी भोजन-पानादि द्वारा आजीविका लगा देना, उपसर्ग-परीषह आदि दूर करके सच्चे धर्म में स्थापित करना, ऐसा स्थितिकरण अंग सम्यग्दृष्टि के होता ही है ।

वात्सल्य गुण : वात्सल्य नाम का गुण सम्यग्दृष्टि के होता ही है । संसारी जीवों के अपने स्त्री पुत्रादि में, इंद्रियों के विषय भोगों में, धन कमाने में प्रीति बहुत रहती ही है । स्त्री, पुत्र, धन, परिग्रह, विषय आदि को संसार परिभ्रमण के कारण जानकर, अंतरंग में विरागता धारण करके धर्मात्मा में, रत्नत्रय के धारक मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका में व धर्म के आयतनों में जिसकी अत्यन्त प्रीति होती है उसके सम्यग्दर्शन का वात्सल्य अंग होता ही है ।

प्रभावना गुण : अपने मन से, वचन से, काय, से, धन से, दान से, व्रत से, तप से, भक्ति से रत्नत्रय का प्रभाव प्रकट करना वह मार्ग प्रभावना अंग है । इसका विशेष वर्णन प्रभावना अंग की भावना में करेंगे ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग धारण करने से इन गुणों के प्रतिपक्षी शंकादि आठ दोषों का अभाव होने से दर्शन विशुद्धता होती है । इन गुणों को धारण करने से पवित्र उज्ज्वल दर्शन विशुद्धता नाम की भावना होती है ।

लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता के परिणामों को छोड़कर श्रद्धान को उज्ज्वल करना ।

लोकमूढ़ता त्याग : लोकमूढ़ता का स्वरूप इस प्रकार का है - मृतक के हाड़, नखादि गंगा में पहुँचाने से मृतक की मुक्ति हुई मानना; गंगाजल को उत्तम मानना, गंगा स्नान में नदी स्नान में, समुद्र की लहर से स्नान में धर्म मानना; मृतक पति के साथ जीवित स्त्री तथा दासी को अग्नि में जलकर मर जानेवाली को सती मानकर पूजना; मरे हुये पूर्वजों को पितर मानकर पूजना; पितरों को पत्तों में स्थापित करके पहिनना; सूर्य, चंद्र, मंगल आदि ग्रहों को सोने-चाँदी के बनवाकर गले में पहिनना; ग्रहों का दोष दूर करने को दान देना; संक्रांति, व्यतिपात, सोमवती अमावस मानकर दान देना; सूर्य-चंद्र को ग्रहण लगने पर स्नान करना । डाभ को शुद्ध मानना, हाथी के दाँतों को शुद्ध मानना, कुआ पूजना, सूर्य-चन्द्रमा को अर्घ देना, देहरी पूजना, मूसल पूजना, छींक पूजना, गणेश (विनायक) पूजना, दीपक की ज्योति पूजना, चोटी-जडूला रखाना, देवता की बोलारी बोलना, देवता को भेंट चढ़ाने के वायदे को पूरा करते रहने से अपनी संतानों को जीवित मानना, संतान को देवता के द्वारा दी हुई मानना ।



अपने लाभ के लिये, कार्य सिद्धि के लिये इस प्रकार प्रार्थना करना - यदि मुझे इतना लाभ हो जाय, संतान का रोग मिट जाय, संतान उत्पन्न हो जाय, बैरी का नाश हो जाय तो मैं आप को छत्र चढ़ाऊँगा, इतना धन भेंट करूँगा, इस प्रकार वायदा करके देवता को सौंक (रिश्वत) देकर कार्यों की सिद्धि चाहना ।

रतजगा (जागरण) करना; कुल देवता को पूजना; शीतला को पूजना; लक्ष्मी को, सोने, चाँदी को पूजना; कलम-दवात पूजना; पशुओं को पूजना; अन्न को, जल को पूजना; शस्त्र को, वृक्ष को, अग्नि को देवता मानकर पूजना वह सब लोकमूढ़ता है; मिथ्यादर्शन के प्रभाव से श्रद्धान का विपरीतपना है, जो सभी त्यागने योग्य ही है ।

देवमूढ़ता त्याग : देव-कुदेव का विचार रहित होकर कामी, क्रोधी, शस्त्रधारी, परिग्रही में भी ईश्वरपने की बुद्धि करना कि - ये भगवान परमेश्वर हैं, विश्व की समस्त रचना इन्हीं की रची हुई है, ये ही कर्ता धर्ता हैं, जगत में जो कुछ होता है वह सब इन ईश्वर का किया हुआ ही होता है, समस्त ही अच्छा या बुरा लोगों द्वारा ईश्वर के कराये बिना कुछ भी नहीं होता है, सब कुछ ईश्वर की इच्छा के आधीन होता है शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म ईश्वर की प्रेरणा के बिना नहीं होता है इत्यादि अनेक प्रकार के ये सभी परिणाम मिथ्यादर्शन के उदय से होते हैं, देवमूढ़ता हैं ।

गुरुमूढ़ता त्याग : पाखण्डी, हीन आचार के धारक, परिग्रही, लोभी, विषयों के लोलुपी को करामाती मानना; उसके वचन सत्य-सिद्ध मानना; ये प्रसन्न हो जायेंगे तो हमारे इच्छित सभी कार्य सिद्ध (पूर्ण) हो जायेंगे; ये तपस्वी हैं, पूज्य हैं, महापुरुष हैं, प्रसिद्ध हैं इत्यादि विपरीत श्रद्धान करना वह गुरुमूढ़ता है । जिसके परिणामों में इन तीन मूढ़ताओं का लेशमात्र भी नहीं होता है, उसके दर्शनविशुद्धता होती है ।

षट् अनायतन त्याग : छह अनायतनों का त्याग करने से दर्शनविशुद्धता होती है । कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व इनके सेवन करनेवाले, ये छह धर्म के आयतन अर्थात् स्थान नहीं हैं, इसलिये ये अनायतन हैं ।

रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी, लोभी, शस्त्रादि सहित, परिग्रही जो मिथ्यात्व सहित हैं उनमें सच्चा धर्म नहीं पाया जाता है, इसलिये वे कुदेव हैं, अनायतन हैं ।

पाँच इंद्रियों के विषयों के लोलुपी, परिग्रह के धारी, आरंभ करने-करानेवाले, भेषधारी धर्महीन हैं, गुरु नहीं हैं, अतः वे अनायतन हैं ।

हिंसा के आरंभ की प्रेरणा देनेवाले, रागद्वेष-कामादि दोषों को बढ़ानेवाले, सर्वथा एकान्त के प्ररूपक शास्त्र हैं, वे कुशास्त्र हैं, धर्म रहित हैं अतः वे अनायतन हैं ।

देवी, दिहाड़ी, क्षेत्रपाल आदि देवों को वन्दनेवाले धर्म रहित हैं, अतः वे अनायतन हैं ।

कुगुरुओं की भक्ति पूर्वक सेवा करनेवाले धर्म रहित हैं, अतः वे अनायतन हैं ।

मिथ्याशास्त्रों के पढ़नेवाले, उनकी सेवा-भक्ति करनेवाले एकांती हैं, धर्म के स्थान नहीं हैं, अतः वे अनायतन हैं ।

इस प्रकार कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा इनकी सेवा भक्ति करनेवाले - इन छहों में सम्यकधर्म नहीं है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान करने से दर्शन विशुद्धता होती है ।

अष्टमद त्याग : जातिमद, कुलमद, ऐश्वर्यमद, रूपमद, शास्त्रमद, तपमद, बलमद, विज्ञानमद- इन आठ मदों का जिसके अत्यन्त अभाव होता है उसके दर्शन विशुद्धता होती है ।

जातिमद त्याग : सम्यग्दृष्टि के ऐसा सच्चा विचार होता है : हे आत्मन् ! यह उच्च जाति है वह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, यह तो कर्म का परिणमन है, परकृत है, विनाशीक है कर्मों के आधीन है । माता के वंश को जाति कहते हैं । संसार में अनेक बार अनेक जाति पाई हैं । यह जीव अनेकबार चांडाली के, भीलनी के, म्लेच्छनी के, चमारी के, धोबिन के, नाईन के, डोमनी के, नटनी के, वेश्या के, दासी के, कलारिन के, धीवरी आदि मनुष्यनी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है । सूकरी, कूकरी, गर्दभी, स्यालनी, कागली इत्यादि तिर्यंचनी के गर्भ में अनन्तबार उत्पन्न होकर मरा है । **अनन्तबार नीच जाति में उत्पन्न होने के बाद एक बार उच्च जाति पाता है ।** इसी प्रकार से अनन्तबार उच्च जाति भी पाई है, तो भी संसार परिभ्रमण ही करता रहा । इसलिये जाति का मद नहीं करना चाहिये ।

कुल मद त्याग : पिता के वंश को कुल कहते हैं । ऊँच-नीच कुल भी अनन्तबार प्राप्त हुआ है । संसार में जाति का, कुल का मद कैसे किया जा सकता है ? स्वर्ग के महान ऋद्धिधारी देव मरकर एकेन्द्रिय में आकर उत्पन्न हो जाते हैं, श्वान आदि निंद्य तिर्यंचों में उत्पन्न हो जाते हैं, तथा उत्तम कुल के धारी होकर भी चांडाल आदि में उत्पन्न हो जाते हैं । अतः **जाति कुल में अंहकार करना मिथ्यादर्शन है ।** हे आत्मन् ! तुम्हारा जाति-कुल तो सिद्धों के समान है । तुम अपना स्वरूप भूलकर माता के रज पिता के वीर्य से उत्पन्न जाति-कुल में मिथ्या एकत्व करके पुनः संसार में अनंतकाल तक के लिये निगोद निवास की तैयारी नहीं करो । वीतरागी का उपदेश ग्रहण किया है तो इस देह की जाति को भी संयम, शील, दया, सत्यवचन आदि द्वारा सफल करो । जब मैंने उत्तम जाति-कुल पाया है तो नीच जातिवालों के समान हिंसा, असत्य, परधन हरण, कुशील सेवन, अभक्ष्य-भक्षण आदि अयोग्य आचरण कैसे करूँ ? नहीं करना चाहिये, नहीं करूँगा । ऐसा अहंकार करना योग्य है । **सम्यग्दृष्टि के कर्मकृत पुद्‌गल पर्याय में कभी आत्मबुद्धि नहीं होती है ।**

ऐश्वर्यमद त्याग : ऐश्वर्य पाकर उसका मद कैसे किया जा सकता है ? यह ऐश्वर्य तो अपनी आत्मा का स्वरूप भुलाकर बहुत आरम्भ, राग द्वेष आदि में प्रवृत्ति कराकर चतुर्गति में परिभ्रमण का कारण है । **निर्ग्रन्थपना तीनलोक में ध्याने योग्य है, पूज्य है ।** यह ऐश्वर्य क्षणभंगुर है, बड़े-बड़े इन्द्र-अहमिन्द्रों का ऐश्वर्य भी पतन सहित है । बलभद्र-नारायण का भी ऐश्वर्य क्षणमात्र में नष्ट हो गया, अन्य जीवों का तो कितना-सा ऐश्वर्य है ? ऐसा जानकर यदि दो दिन के लिये ऐश्वर्य पाया है तो दुःखित जीवों के उपकार में लगाओ, विनयवान होकर दान दो । परमात्मस्वरूप अपना ऐश्वर्य जानकर इस कर्मकृत ऐश्वर्य से विरक्त होना ही योग्य है ।

रूपमद त्याग : रूप का मद नहीं करो । यह विनाशीक पुद्गल का रूप आत्मा का स्वरूप नहीं है, विनाशीक है, क्षण-क्षण में नष्ट हो जाता है । इस रूप को रोग, वियोग, दारिद्र, वृद्धावस्था महाकुरूप कर देगी । ऐसे हाड़-चाम के रूप में रागी होकर मद करना बड़ा अनर्थ है । इस आत्मा का रूप तो केवल ज्ञान है जिसमें लोक-अलोक सभी पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं । इसलिये इस चमड़ी में अपनापन छोड़कर **अपने त्रिकाली अविनाशी ज्ञान स्वरूप में अपनापन करो ।**

शास्त्रमद त्याग : शास्त्रज्ञान-श्रुतज्ञान का गर्व नहीं करना चाहिए । आत्मज्ञान रहित का श्रुतज्ञान निष्फल है, क्योंकि ग्यारह अंग का ज्ञानधारी होकर के भी अभव्य संसार ही में परिभ्रमण करता है। सम्यग्दर्शन बिना अनेक व्याकारण, छन्द, अलंकार, काव्य, कोष आदि का पढ़ना विपरीत धर्म में अभिमान और लोभ में प्रवर्तन कराकर संसार रूप अंधकूप में डुबोनेवाला ही जानना । **इस इंद्रियजनित ज्ञान का क्या गर्व करना है ?** एक क्षण में वात, पित्त, कफ आदि के घटने-बढ़ने से चलायमान हो जाता है ।

इंद्रियजनित ज्ञान तो इंद्रियों के विनाश के साथ ही नष्ट हो जाता है । मिथ्याज्ञान तो जैसे-जैसे बढ़ता है तैसे-तैसे खोटे काव्य, खोटी टीका आदि की रचना में प्रवर्तन कराकर, अनेक जीवों को दुराचार में प्रवर्तन कराकर संसार समुद्र में डुबो देगा । अतः श्रुतज्ञान का मद छोड़ो । ज्ञान पाकर के आत्म विशुद्धता करो । ज्ञान पाकर अज्ञानी के समान आचरण करके संसार में भ्रमण करते रहना योग्य नहीं है ।

तपमद त्याग : सम्यक्त्व बिना मिथ्यादृष्टि का तप निष्फल है । जो तप का ऐसा मद करता है कि - मैं बड़ा तपस्वी हूँ, वह तप के मद के प्रभाव से बुद्धि को नष्ट करके दुर्गति में परिभ्रमण करेगा । अतः तप के गर्व को महान् अनर्थ का कारण जानकर भव्य जीवों को तप का गर्व करना उचित नहीं है ।

बलमद त्याग : जिस बल से कर्मरूप बैरी को जीता जाता है; काम, क्रोध, लोभ को जीता जाता है, वह बल तो प्रशंसा योग्य है । देह का बल, यौवन का बल, ऐश्वर्य का बल पाकर के अन्य निर्बल अनाथ जीवों को मार डालना, ठगलेना, धन छीनलेना, जमीन-जीविका छीनलेना, कुशील सेवन करना, दुराचार में प्रवर्तन करना वह बल प्रशंसा योग्य नहीं है । वह बलमद तो नरक के घोर दुःखों को असंख्यात काल तक भोगाकर तिर्यंचगति में मारण, ताड़न, लादन द्वारा तथा दुर्वचन, क्षुधा, तृषा आदि के अनेक दुःख अनेक पर्यायों में भोगाकर एकेन्द्रियों में समस्त बल रहित असमर्थ कर देगा । अतः बल का मद छोड़कर क्षमा धारण करके उत्तम तप करना योग्य है ।

विज्ञान मद : विज्ञान अर्थात् अनेक हस्तकला, अनेक वचन कला, अनेक मन के विकल्प जिन से यह आत्मा चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करके दुःख भोगता है वे सभी कुज्ञान हैं । इस संसार में खोटी कला चतुरता का बड़ा गर्व है । मेरी सामर्थ्य तो ऐसी है कि - सच्चे को झूठा कर दूँ, झूठे को सच्चा कर दूँ, कलंक रहित को कलंक सहित कर दूँ, शीलवन्तों को दूषित कर दूँ, अदण्डनीय

को दण्ड पाने योग्य कर दूँ, बहुत दिनों से रोक रखे धन को निकाल लूँ, धर्म छुड़ाकर उल्टा श्रद्धान करा दूँ। प्राणियों के वशीकरण, अनेक जीवों का मारण, अनेक प्रकार के जल में गमन करने के, जमीन पर गमन करने के, आकाश में गमन करने के यन्त्रादि बना देना इत्यादि अनेक कला चातुर्य हैं वे सब कुज्ञान हैं। इनका गर्व करना नरक के घोर दुःखों का कारण है।

कला चातुर्य तो यदि सम्यक् हो तो वह शोभनीय है। **अपने आत्मा को विषय कषायों के उलझाव से सुलझाना तथा लोगों को हिंसा रहित सत्य मार्ग में प्रवर्तन कराना ही उत्तम कला है।**

इस प्रकार सच्चे वस्तु स्वरूप को समझ कर जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, श्रुत, तप, बल, विज्ञान आदि को कर्म के आधीन जानकर इनका मद छोड़कर दर्शन विशुद्धता करो। तीन मूढता, आठ शंकादि दोष, छह अनायतन, आठ मद इन पच्चीस दोषों का परित्याग करने से सम्यग्दर्शन की उज्ज्वलता हो जाती है। ऐसा जानकर निरन्तर दर्शन विशुद्धि भावना का ही चिन्तवन करना, इसी को ध्यानगोचर करके स्तुति सहित उज्ज्वल अर्घ उतारण करना वही मुक्तिरमणी से संबंध करना है। इस प्रकार दर्शन विशुद्धता नाम की प्रथम भावना का वर्णन किया। १।

विनय सम्पन्नता भावना

अब आगे विनय सम्पन्नता नाम की दूसरी भावना कहते हैं। विनय पाँच प्रकार की कही है- दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय, उपचार विनय।

दर्शन विनय : अपने श्रद्धान में शंकादि दोष नहीं लगाना तथा सम्यग्दर्शन की विशुद्धता से ही अपना जन्म सफल मानना, सम्यग्दर्शन के धारकों में प्रीति रखना, आत्मा तथा पर का भेदविज्ञान कर आत्मा का अनुभव करना दर्शन विनय है।

ज्ञान विनय : सम्यग्ज्ञान के आराधन में उद्यम करना, सम्यग्ज्ञान के कथनों का आदर करना, सम्यग्ज्ञान के कारण जो अनेकान्त रूप जिनशास्त्र हैं उनके श्रवण-पठन में बहुत उत्साह रूप होना तथा वन्दना-स्तवन पूर्वक बहुत आदर पूर्वक पढ़ना वह ज्ञान विनय है। ज्ञान के आराधक ज्ञानीजनों का तथा जिनागम की पुस्तकों की प्राप्तिरूप संयोग का बड़ा लाभ मानना, सत्कार-आदर आदि करना, वह सब ज्ञान विनय है।

चारित्र विनय : अपनी शक्ति प्रमाण चारित्र धारण करने में हर्ष मानना, दिनों दिन चारित्र की उज्ज्वलता के लिये विषय-कषायों को घटाना तथा चारित्र के धारकों के गुणों में अनुराग, स्तवन, आदर करना वह चारित्र विनय है।

तप विनय : इच्छाओं को रोककर, प्राप्त हुए विषयों में संतोष करके, ध्यान स्वाध्याय में उद्यमी होकर, काम को जीतने के लिये तथा इंद्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रोकने के लिये अनशन आदि तप में उद्यम करना तप विनय है।

उपचार विनय : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप - इन चार आराधनाओं का उपदेश देकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करानेवाले, तथा जिनका स्मरण करने से परिणामों का मैल दूर होकर विशुद्धता प्रकट हो जाती है ऐसे पंच परमेष्ठी के नाम की स्थापना की विनय, वन्दना, स्तवन करना वह उपचार विनय है । उपचार विनय के अन्य भी बहुत भेद हैं ।

लोक विनय : अभिमान छोड़कर, आठ मदों का जिसके अत्यन्त अभाव हो गया, कठोरता छूटकर जिसके कोमलता प्रकट हो गई उसके नम्रपना प्रकट होता है, उसके सत्यार्थ ऐसा विचार होता है कि - ये धन, यौवन, जीवन क्षणभंगुर है, कर्म के आधीन है, कोई हमसे दु:खी न हो, सभी संबंध वियोग सहित हैं, यहाँ कितने समय तक रहना है, प्रति समय मृत्यु की ओर अखण्ड धाराप्रवाहरूप से जा रहा हूँ, किसी पदार्थ का संबंध स्थिर नहीं है । यहाँ भगवान ने मनुष्य जन्म का सार विनय धर्म को ही कहा है । **यह विनय संसाररूपी वृक्ष को जलाने के लिये अग्नि है ।** यह विनय तीनलोक में प्रधान है ।

यह विनय तीनलोक के जीवों के मन को उज्ज्वल करनेवाली है । विनय ही समस्त जिनशासन की मूल है । विनय रहित को जिनेन्द्र की शिक्षा ग्रहण नहीं होती है । विनय रहित जीव सभी दोषों का पात्र है । मिथ्याश्रद्धान के छेदने को विनय शूल है । **विनय बिना मनुष्यरूप चमड़े का वृक्ष मानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो जाता है ।** मान कषाय द्वारा यहीं पर घोर दु:ख सहता है तथा परलोक में निंद्यजाति, निंद्यकुल में बुद्धिहीन-बलहीन होकर उत्पन्न होता है ।

जो अभिमानी यहाँ किंचिन्मात्र भी वचन नहीं सहते हैं वे तिर्यंचगति में नाक में मूंज की रस्सी का बंधन, लादन, मारण, लात की ठोकरों की मार, मरम स्थान में चमड़े के कोड़े की मार, पराधीन होकर भोगते हैं, तथा चांडाल आदि के मलिन घरों में बंधनों से बंधे रहते हैं जिन के ऊपर मैला आदि निंद्य वस्तुएँ लादते हैं ।

इस लोक में भी अभिमानी का समस्त लोक बैरी हो जाता है । अभिमानी की सभी निंदा करते हैं, महान्‌अपयश प्रकट होता है । **सभी लोग अभिमानी का पतन चाहते हैं ।**

मान कषाय से क्रोध प्रकट होकर, कपट फैलता है, लोभ बढ़ता है, खोटे वचनरूप प्रवृत्ति होती है । लोक में जितनी अनीति हैं वे सभी मान कषाय से होती हैं । परधन हरण आदि भी अपने अभिमान को पुष्ट करने को करता है । **इस जीव का बड़ा बैरी मान कषाय है ।** अत: विनयगुण का बहुत आदर करके अपने दोनों लोक उज्ज्वल करो । वह विनय देव की, गुरु की, शास्त्र की, मन-वचन-काय से प्रत्यक्ष करो और परोक्ष भी करो ।

देव विनय : देव अर्थात् अर्हन्त भगवान, समोशरण की विभूति सहित, गंधकूटी के मध्य में सिंहासन के ऊपर चार अंगुल अधर विराजमान, चौंसठ चमर ढोरित, तीन छत्र-आठ प्रातिहार्य से विभूषित, कोटि सूर्य समान प्रभा के धारी, परम औदारिक शरीर में रहने वाले, बारह सभाओं से सेव्यमान, दिव्यध्वनि द्वारा अनेक भव्य जीवों का भला करनेवाले, अरहन्त का चिंतवन कर ध्यान करना वह मन से उनकी

परोक्ष विनय है । उनकी विनयपूर्वक वचनों द्वारा स्तुति करना वह वचन से परोक्ष विनय है । हाथों की अंजुलि जोड़कर मस्तक झुकाकर नमस्कार करना वह तन से परोक्ष विनय है ।

जिनेन्द्र के प्रतिबिंब की परमशांत मुद्रा को प्रत्यक्ष नेत्रों से अवलोकन कर महा आनंद से मन में ध्यान कर अपने को कृतकृत्य मानना वह मन से प्रत्यक्ष विनय है । जिनेन्द्र के प्रतिबिंब के सामने होकर स्तवन करना वह वचन से प्रत्यक्ष विनय है । हाथों की अंजुलि जोड़कर मस्तक नवाकर वंदना करना तथा भूमि में अंजुलि सहित हाथ, पैरों तथा मस्तक को छुआकर नमस्कार करना वह काय से प्रत्यक्ष विनय है ।

सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा के नाम का स्मरण, ध्यान, वंदन, स्तवन करना वह सब परोक्ष विनय है । देव की इस प्रकार की विनय सभी अशुभ कर्मों का नाश करनेवाली कही है ।

गुरु विनय : वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों को प्रत्यक्ष देखकर खड़ा हो जाना, आनंत सहित सन्मुख जाना, स्तवन करना, वंदना करना, गुरुओं को आगे कर स्वयं पीछे चलना, कभी बराबरी से चलना पड़े तो स्वंय गुरु की बांयी ओर होकर चलना, गुरु को अपने दाहिनी ओर करके चलना, बैठना; गुरु के साथ में रहते हुए स्वंय उपदेश नहीं देना, कोई प्रश्न करे तो गुरु के होते हुए आप उत्तर नहीं देना, और गुरु की आज्ञा होने पर अनुकूल उत्तर देना; गुरु के होते हुए उच्च आसन पर नहीं बैठना, गुरु व्याख्यान उपदेश आदि करें तो उसे हाथ जोड़कर बहुत आदर से ग्रहण करना; गुरुओं के गुणों में अनुराग कर आज्ञा के अनुकूल प्रवर्तन करना, गुरु दूर क्षेत्र में हों तो भी जैसी उनकी आज्ञा हो उसी के अनुसार प्रवर्तन करना; दूर से ही गुरुओं का ध्यान, स्तवन, नमस्कार आदि करना गुरु की विनय है ।

शास्त्र विनय : शास्त्र की विनय करना - बड़े आदर से पढ़ना, श्रवण करना; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर व्याख्यान आदि करना; शास्त्र में कहे व्रत-संयम आदि आप से धारण करते नहीं बन सके तो भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना; शास्त्र की जैसी आज्ञा हो उसी के अनुसार कहना। जो शास्त्र की आज्ञा हो उसे एकाग्रचित्त से श्रवण करना, अन्यथा कथन नहीं करना, आदर पूर्वक मौन से श्रवण करना यदि शंका हो तो उसे दूर करने के लिये विनयपूर्वक थोड़े शब्दों में जिस प्रकार सभा के अन्य लोगों के तथा वक्ता के क्षोभ नहीं उत्पन्न हो उस प्रकार विनय पूर्वक प्रश्न करना, उत्तर को आदर से ग्रहण करना वह शास्त्र की विनय है । शास्त्र को उच्च आसन पर रखकर स्वयं नीचे बैठना, प्रशंसा-स्तवन इत्यादि करना शास्त्र की विनय है । इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्र की विनय है वह धर्म की मूल है ।

निश्चय विनय : रागद्वेष द्वारा जिस प्रकार से आत्मा का घात नहीं हो उस प्रकार प्रवर्तन करना वह आत्मा की विनय है, उसे निश्चय विनय कहते हैं । वह विनयवान इस प्रकार विचार करता है कि - अब यह मेरा जीव चार गतियों में भ्रमण नहीं करे, अब मेरा आत्मा मिथ्यात्व-कषाय-अविनयादि से संसार परिभ्रमण के दुःखों को प्राप्त नहीं हो - इस प्रकार चिंतवन करते हुए मिथ्यात्व-कषाय-

अविनयादि से आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात नहीं करना वह आत्मा का विनय है । इसी को निश्चय विनय कहते हैं, इसी को परमार्थ विनय कहा है ।

व्यवहार विनय : अब यहाँ ऐसा विशेष जानना - जिसकी मान कषाय घट जाती है उसी के व्यवहार विनय होती है । किसी जीव का मुझसे अपमान नहीं हो । जो दूसरों का सम्मान करेगा, वह स्वयं ही सम्मान को प्राप्त कर लेगा । जो दूसरों का अपमान करेगा वह स्वयं ही अपमान को प्राप्त हो जायेगा । सभी से मीठे शब्द बोलना विनय है । किसी जीव का भी तिरस्कार नहीं करना वह भी विनय ही है ।

अपने घर कोई आया हो उसका यथा योग्य सत्कार करना, किसी को सामने जाकर लिवा लाना, किसी को उठकर (खड़े होकर) एक हाथ से माथा छूकर विनय करना, किसी को आइये-आइये-आइये इत्यादि तीन बार कहकर बुलाना, किसी को आदर पूर्वक नजदीक बैठाना, किसी को बैठने को स्थान देना, किसी को आओ-बैठो कहना किसी के शरीर की कुशलता पूछना हम आपके ही हैं, हमें आज्ञा करिये, यह आप ही का घर है, यह घर आपके आने से पवित्र हो गया है, ऊँचा हो गया है, आपकी कृपा हमारे ऊपर तो हमेशा से है - इस प्रकार व्यवहार विनय है ।

किसी को हाथ उठाकर माथे तक लगा लेना इतनी ही विनय है । अन्य भी दान सन्मान कुशल पूछना, रोगी-दुःखी की वैयावृत्य करना भी विनयवान ही के होते हैं । दुःखी मनुष्य-तिर्यंचों को धैर्य, विश्वास देना, दुःख सुनना, अपनी सामर्थ्य अनुसार उपकार करना, अपने से नहीं बन सकता हो तो धीरता-संतोष आदि का उपदेश देना, वह व्यवहार विनय है । यह व्यवहार विनय परमार्थ विनय का कारण है, यश उत्पन्न कराती है, धर्म की प्रभावना करती है ।

वचन विनय : मिथ्यादृष्टि का भी अपमान नहीं करना, मीठे वचन बोलना, यथा योग्य आदर सत्कार करना ये ही विनय है । महापापी, द्रोही, दुराचारी को भी कुवचन नहीं कहना; एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियादि तथा सर्पादि दुष्ट जीवों की विराधना नहीं करना; उनकी रक्षा करते रहना ये ही उनकी विनय है । अन्यधर्मी के मंदिर मूर्ति आदि से बैर करके निंदा नहीं करना । इस प्रकार परमार्थ व व्यवहार दोनों प्रकार की विनय को धारण करके गृहस्थ को प्रवर्तन करना योग्य है ।

देखो ! सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागी वीतरागी मुनिराज को भी यदि कोई मिथ्यादृष्टि वन्दना करता है तो वे उसे भी आशीर्वाद देते हैं; कोई चांडाल, भील, धीवर आदि नीच जाति का भी वन्दना करता है तो वे उसे पापक्षयोस्तु पापों का नाश हो इत्यादि आशीर्वाद देते हैं । इसलिये यदि विनय अंग धारण करते हो तो बालक, अज्ञानी, धर्म रहित, नीच-अधम जाति का कोई हो तो उसकी भी विनय करना चाहिये; विनय नहीं कर सकते हो तो भी उसका तिरस्कार-निंदा करना कभी उचित नहीं है। इस मनुष्य जन्म की शोभा विनय ही है । भगवान गणधर देव तो ऐसा कहते हैं कि विनय बिना मनुष्य जन्म की हमारी एक घड़ी भी नहीं बीते ।

ऐसी विनय गुण की महिमा जानकर इसका महान अर्घ उतारण करो। हे विनयसम्पन्नता अंग! हमारे हृदय में तुम्ही निरन्तर वास करो; तुम्हारे प्रसाद से अब मेरा आत्मा कभी भी आठ मदों रूप अभिमान को प्राप्त नहीं हो। इस प्रकार विनय सम्पन्नता नाम की दूसरी भावना का वर्णन किया। २।

शीलव्रतेष्वनतीचार भावना

अब तीसरी शीलव्रतेष्वनतीचार भावना कहते हैं। शीलव्रतेष्वनतीचार का अर्थ राजवार्तिक में ऐसा कहा है – अहिंसादि पाँच व्रत तथा इन पाँच व्रतों को पालने के लिये क्रोधादि कषायों के त्यागरूप शील में मन-वचन-काय की जो निर्दोष प्रवृत्ति है वह शील व्रतेष्वनतीचार भावना है। **आत्मा के स्वभाव का नाम शील है।** आत्म स्वभाव का घात करनेवाले हिंसादि पाँच पाप हैं। उनमें कामसेवन नाम का एक ही पाप हिंसादि सभी पापों को पुष्ट करता है तथा क्रोधादि सभी कषायों को तीव्र करता है। अतः यहाँ जयमाला के अर्थ में ब्रह्मचर्य की प्रधानता से ही वर्णन किया है।

यह शील दुर्गति के दुःख को हरनेवाला है, स्वर्गादि शुभगति का कारण है, व्रत-तप-संयम का जीवन है। **शील बिना तप करना, व्रत धारण करना, संयम पालना, मृतक के शरीर समान देखने मात्र का है,** कार्यकारी नहीं है। शीलरहित का तप-व्रत-संयम धर्म की निंदा करानेवाला है। ऐसा जानकर शील नाम के धर्म के अंग का पालन करो, चंचल मनरूपी पक्षी का दमन करो, अतिचार रहित शुद्ध शील को पुष्ट करो।

मन हाथी के समान है : धर्मरूपी वन का विध्वंस करनेवाले मनरूपी मदोन्मत्त हाथी को रोकना चाहिये। चलायमान होकर मनरूपी हाथी महान अनर्थ करता है। जैसे मतवाला हुआ हाथी अपने स्थान से निकल भागता है उसी प्रकार काम से उन्मत्त हुआ मनरूपी हाथी अपने समभावरूपी स्थान से निकल भागता है, कुल की मर्यादा संतोष आदि छोड़ देता है। मदोन्मत्त हाथी तो सांकल तोड़कर भाग जाता है, यह मनरूपी हाथी सुबुद्धिरूपी सांकल तोड़कर घूमता है। हाथी तो मार्ग में चलानेवाले महावत को गिरा देता है, कामी का मन सम्यग्धर्म के मार्ग में प्रवर्तानेवाले ज्ञान को दूर कर देता है। हाथी तो अंकुश को नहीं मानता है, मनरूपी हाथी गुरुओं के शिक्षाकारी वचनों को नहीं मानता है। हाथी तो फल व छाया देने वाले बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकता है, काम से उद्दीप्त मन स्वर्ग-मोक्षरूप फल को देनेवाले तथा यशरूपी सुगन्ध को फैलाने वाले, समस्त विषयों की आतप को हरनेवाले ब्रह्मचर्य रूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकता है।

हाथी तो मैल कीचड़ आदि को दूर करनेवाले सरोवर में स्नान करके मस्तक के ऊपर धूल डालता हुआ धूल से खेलता है, काम से व्याप्त मन सिद्धान्तरूप सरोवर में स्नान करके अनेक प्रकार के अज्ञानरूप मैल को धोकर के भी पापरूप धूल से खेलता है। हाथी तो कानों की चपलता दिखलाता है, काम संयुक्त मन पाँचों इंद्रियों के विषयों में चंचलता दिखलाता है। हाथी तो हथिनी में रति करता है, कामसंयुक्त मन कुबुद्धिरूपी हथिनी में रमता है। हाथी स्वच्छन्द होकर डोलता है, मन भी स्वच्छन्द होकर डोलता है। हाथी तो मद से मस्त रहता है, कामी का मन रूपादि आठ मदों से मस्त रहता

है । हाथी के नजदीक कोई पथिक नहीं आता है दूर ही भाग जाते हैं, काम से उन्मत्त मन के नजदीक भी कोई एक भी गुण नहीं रहता है ।

इसलिये इस काम से उन्मत्त मनरूप हाथी के लिये वैराग्यरूप खम्भे से बांधो, यदि यह खुला रहा तो महान अनर्थ करेगा । ये काम अनंग है, इसके पास अंग नहीं है । यह तो मनसिज है, मन में ही इसका जन्म होता है । मन का मथन करनेवाला है इसलिये इसे मनमथ कहते हैं । संवर का अरि अर्थात वैरी है इसीलिये इसे संवरारि कहते हैं । काम से खोटा दर्प अर्थात गर्व उत्पन्न होता है इसलिये इसे कंदर्प कहते हैं । इसके द्वारा अनेक मनुष्य-तिर्यंच परस्पर लड़कर मर जाते हैं इसलिये इसे मार कहते हैं । इसी कारण मनुष्यों में अन्य इंद्रियों के अंग तो प्रगट हैं, काम के अंग ढके हुए हैं । उत्तम पुरुष तो काम के अंग का नाम का भी उच्चारण नहीं करते हैं । इसके समान दूसरा पाप नहीं है । धर्म से भ्रष्ट करनेवाला काम ही है । इस काम ने ऋषि, मुनि, देवता, हरि, हर, ब्रह्मा आदि को भ्रष्ट करके अपने आधीन किया है । इसलिये सारे जगत को जीतनेवाला एक काम को ही कहा जाता है । इसको जीतनेवाला मोह को सहज ही जीत लेता है । इसलिये काम का त्याग करने के लिये मनुष्यनी, देवांगना, तिर्यंचनी का संसर्ग-संगति काम विकार को उत्पन्न करनेवाली जानकर दूर से ही त्याग कर दो ।

मन, वचन, काय से स्त्रियों में राग का त्याग करो । आप स्वयं कुशील के मार्ग पर नहीं चलना, अन्य दूसरे को कुशील के मार्ग का उपदेश नहीं देना । कोई अन्य जो कुशील के मार्ग पर चलता हो, भव्य जीव उसकी अनुमोदना नहीं करते हैं । बालिका स्त्री को देखकर उस पर पुत्रीवत् निर्विकार बुद्धि करो । यौवनरूप हाथी पर बैठी, सौंदर्यरूप जल में जिसके सभी अंग डूब रहे हों, ऐसी रूपवती स्त्री में बहिन के समान निर्विकार बुद्धि करो, उसे सन्मान मत दो, बातचीत नहीं करो ।

जो शीलवान हैं उनकी दृष्टि स्त्रियों पर जाते ही उनके नेत्र बंद हो जाते हैं । जो स्त्रियों से वचनालाप करेगा, स्त्रियों के अंगों को देखेगा उसका शील अवश्य भंग होगा । इसलिये जो विवेकी गृहस्थ हैं उनके तो एक अपनी स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों की संगति, अवलोकन, वचनालाप का त्याग होता है तथा अन्य स्त्रियों की कथा का विचार स्वप्न में भी नहीं आता है । एकान्त में माता, बहिन, पुत्री के साथ भी नहीं रहते हैं ।

मुनिराज तो समस्त स्त्री मात्र का साथ ही नहीं करते हैं, स्त्रियों में उपदेश नहीं करते हैं। स्त्री के नाम ही उसके प्रकट दोषों को कहनेवाले हैं । स्त्री के समान इस जीव का बुरा करने वाला अन्य कोई वैरी नहीं है, इसलिये सज्जन लोग इसे नारी कहते हैं । दोषों को प्रत्यक्ष देखते-देखते ही ढक लेती है अतः इसे स्त्री कहते हैं । इसे देखने से पुरुष का पतन हो जाता है इसलिये इसका नाम पत्नि है । कुमरण होने का कारण है इसलिये इसका नाम कुमारी है । इसकी संगति से पौरुष, बुद्धि, बल आदि नष्ट हो जाते हैं । इसलिये इसका नाम अबला है । संसार के बंध का कारण है इसलिये इसका नाम वधु है । कुटिलता-मायाचार का स्वभाव रखती है इसलिये इसका नाम वामा है । इसके नेत्रों में कुटिलता बसती है इसलिये इसका नाम वामलोचना है ।

शीलवन्त को इंद्र भी नमस्कार करता है। शीलवान पुरुष रत्नत्रयरूप धन लेकर कामादि लुटेरों के भय से रहित निर्वाणपुरी की ओर गमन करते हैं। शील से भूषित रूपरहित भी हो, मलिन हो, रोगादि सहित हो तो भी अपनी संगति से सभी सभाजनों को मोहित करता है। शीलरहित व्यभिचारी पुरुष में कामदेव समान रूप हो तो भी लोग उस पर थू-थू-कार ही करते हैं। इसका नाम ही कुशील है।

शील नाम स्वभाव का है। कामी मनुष्य का शील जो आत्मा का स्वभाव है वह खोटा हो जाता है इसलिये इसको **कुशील** कहते हैं। कामी मनुष्य धर्म से, आत्मा के स्वभाव से, व्यवहार की शुद्धता से रहित हो जाता है इसलिये इसे **व्यभिचारी** कहते हैं। इसके समान जगत में अन्य खोटा कर्म नहीं है इसलिये काम को कुकर्म कहते हैं। कामसेवन के समय में मनुष्य पशु के समान हो जाता है। इसलिये इसे **पशुकर्म** कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् आत्मा का ज्ञान-दर्शन आदि स्वभाव का इससे घात होता है अतः इसे अब्रह्म कहते हैं। कुशीली की संगति से कुशीली हो जाते हैं। जिसने शील की रक्षा की उसने शान्ति, दीक्षा, तप, व्रत, संयम सब पाल लिया।

अपने स्वभाव से चलायमान नहीं होना, उसे मुनीश्वर शील कहते हैं। शीलगुण सभी गुणों में बड़ा है। शील सहित पुरुष का थोड़ा भी व्रत, तप प्रचुर फल देता है तथा शील बिना बहुत भी व्रत-तप हो वह निष्फल है। इस प्रकार जानकर अपने आत्मा में शील की शुद्धता के लिये नित्य शील ही को पूजो। यह शीलव्रत मनुष्य जन्म में ही है, अन्यगति में नहीं है। अतः जन्म सफल करना चाहते हो तो शील की ही उज्ज्वलता करो। इस प्रकार शीलव्रतेष्वनतीचार नाम की तीसरी भावना का वर्णन किया। ३।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नाम की चौथी भावना का वर्णन करते हैं – हे आत्मन्! यह मनुष्य जन्म पाकर निरन्तर ज्ञानाभ्यास ही करो, ज्ञान का अभ्यास किये बिना एक क्षण भी व्यतीत नहीं करो। ज्ञान के अभ्यास बिना मनुष्य पशु समान है। अतः योग्यकाल में जिनागम का पाठ करो, जब समभाव हो तब ध्यान करो, शास्त्रों के अर्थ का चिंतन करो, बहुत ज्ञानी गुरुजनों में नम्रता-वंदना-विनयादि करो, धर्म सुनने के इच्छुक को धर्म का उपदेश करो। इसी को अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहते हैं। इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नाम के गुण का अष्ट द्रव्यों से पूजन करके इसका अर्घ उतारन करो तथा फूलों को दोनों हाथों की अंजुलि से इसके आगे क्षेपण करो।

ज्ञानोपयोग चैतन्य की परिणिति है। अतः प्रतिक्षण निरन्तर चैतन्य की ही भावना करना। अनादिकाल से काम, क्रोध, अभिमान, लोभादि मेरे साथ में लगे हैं, अनादि से ही इनका संस्कार मेरे चैतन्य रूप में घुलमिल रहा है। अब ऐसी भावना हो – **भगवान के परमागम के सेवन के प्रभाव से मेरा आत्मा रागद्वेष आदि से भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव में ही ठहर जाय, रागादि के वशीभूत नहीं हो, वही मेरे आत्मा का हित है।**

नवीन शिष्यों के आगे श्रुत का इस प्रकार अर्थ प्रकाशित करना जिससे संशय आदि रहित, स्व-पर पदार्थों का यथार्थ स्वरूप शिष्यों के हृदय में प्रकट हो जावे। जिस प्रकार पाप-पुण्य का स्वरूप, लोक-अलोक का स्वरूप, मुनि-श्रावक के धर्म का सत्यार्थ निर्णय हो जाय उस प्रकार ज्ञानाभ्यास करना। अपने चित्त में संसार, शरीर, भोगों, से विरक्तता चिन्तवन करना। संसार, शरीर, भोगों का यथार्थ स्वरूप का चिन्तवन करने से राग-द्वेष-मोह आदि ज्ञान को विपरीत नहीं कर सकते हैं।

समस्त द्रव्यों में मिला हुआ होने पर भी एक आत्मा का भिन्न अनुभव होना, वह ही ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोग द्वारा ज्ञान का अभ्यास करने से विषयों की वांछा नष्ट हो जाती है, कषायों का अभाव हो जाता है। माया, मिथ्यात्व, निदान - इन तीन शल्यों का ज्ञानाभ्यास से नाश हो जाता है। ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है, अनेक प्रकार के विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानाभ्यास से ही धर्मध्यान में - शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है। ज्ञानाभ्यास से ही व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते हैं, जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है, अशुभ कर्मों का नाश होता है, जिन धर्म की प्रभावना होती है। ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप ऋण नष्ट हो जाता है। अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।

जिनधर्म का स्तम्भ ज्ञान का अभ्यास ही है। ज्ञान के प्रभाव से ही समस्त जीव विषयों की वांछा रहित होकर संतोष धारण करते हैं। ज्ञान के अभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रकट होते हैं, भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने योग्य-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है। ज्ञान बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान रहित राजपुत्र का भी निरादर होता है। ज्ञान समान कोई धन नहीं है, ज्ञान के दान समान कोई दान नहीं है। दुःखित जीव को सदा ज्ञान ही शरण है। ज्ञान ही स्वदेश में परदेश में आदर करानेवाला परम धन है। ज्ञानधन को कोई चोर चुरा नहीं सकता है, लूटनेवाला लूट नहीं सकता है, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता है, किसी को देने से घटता नहीं है, जो देता है उस का ज्ञान बढ़ जाता है।

ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, ज्ञान से ही मोक्ष प्रकट होता है। सम्यग्ज्ञान आत्मा का अविनाशी स्वाधीन धन है। ज्ञान बिना संसार समुद्र में डूबनेवाले को हस्तावलंबन देकर कौन रक्षा कर सकता है ? विद्या के समान कोई आभूषण नहीं है। विद्या बिना केवल आभूषणों से कोई सत्पुरुषों के द्वारा आदरने योग्य नहीं हो जाता है। निर्धन को भी परम निधान प्राप्त करानेवाला एक सम्यग्ज्ञान ही है।

हे भव्यजीवों! भगवान वीतराग करुणानिधान गुरु तुम्हारे लिये यह शिक्षा दे रहे हैं कि - अपनी आत्मा को सम्यग्ज्ञान के अभ्यास में ही लगाओ, तथा मिथ्यादृष्टियों के द्वारा कहे गये मिथ्याज्ञान का दूर से ही परित्याग करो। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की परीक्षा करके ग्रहण करो, अपनी संतान को पढ़ाओ, अन्य लोगों को भी विद्या का अभ्यास कराओ।

जो धनवान हैं यदि वे अपना धन सफल करना चाहते हैं, तो पढ़नेवालों को आजीविका आदि देकर स्थिर करो; पुस्तकें लिखवाकर विद्या पढ़नेवालों को दो; पुस्तकों को शुद्ध करो-कराओ, पढ़ने-पढ़ाने के लिये स्थान हो, निरन्तर पढ़ने-सुनने में ही मनुष्य जन्म का समय व्यतीत करो । यह अवसर बीतता चला जा रहा है । जब तक आयु, काय, इंद्रियाँ, बुद्धि, बल ठीक हैं तब तक मनुष्य जन्म की एक घड़ी भी सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं खोओ । ज्ञानरूप धन परलोक में भी साथ जायेगा ।

इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की महिमा का कोटि जिह्वा द्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता है । इसलिये ज्ञानोपयोग की परम शरण के लिये जो गृहस्थ धन सहित हो वह भी भावना भाये, अर्घ उत्तारण करे, तथा जो गृह के त्यागी हों वे भी निरन्तर भावना भावें । इस प्रकार यह अभीक्ष्णज्ञानोपयोग नाम की चौथी भावना का वर्णन किया । ४ ।

संवेग भावना

अब पाँचवीं संवेग भावना का वर्णन करते हैं । संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर धर्म में अनुराग करना वह संवेग है; तथा धर्म व धर्म के फल में अनुराग करना वह संवेग है ।

पुत्र का स्वरूप : यहाँ संसार में जिस पुत्र से राग करता है, वह जन्म लेते ही तो स्त्री का यौवन सौंदर्य आदि बिगाड़ देता है । जन्म लेने के बाद बड़ी आकुलता करते हुए, बड़े कष्ट आदि सहते हुए, धन खर्च करके पुत्र को बड़ा करते हैं; तथा रोगादि से बचाते हुए, क्षण-क्षण बड़ी सावधानीपूर्वक महामोही-महारागी होकर, ग्लानिरहित होकर, बड़े कष्ट सहकर बड़ा करते हैं । वह पुत्र बड़ा होकर अच्छा भोजन, अच्छा वस्त्र, आभरण, अच्छा स्थान हठ पूर्वक ग्रहण कर लेता है । यदि वह मूर्ख हुआ, व्यसनी हो गया, तीव्र कषायी हुआ तो रात-दिन परिणामों में जो क्लेश होता है वह कहा नहीं जा सकता है ।

पुत्र के मोह से परिग्रह में बड़ी मूर्च्छा बढ़ती है । यदि वह समर्थ हो जाये किन्तु अपनी आज्ञा में नहीं चले तो परिणाम बहुत आर्तरूप हो जाते हैं । यदि अपने जीवित रहते हुये युवा पुत्र का मरण हो जाय तो अपनी मृत्यु पर्यन्त महादुखी रहता है, कष्ट नहीं मिटता है । जबतक पिता को अपना काम करनेवाला समझता है तब तक पिता से प्रेम करता है, जब पिता काम करने में असमर्थ हो जाता है तो उनसे प्रेम नहीं करता है, यदि पिता धनरहित हो तो उनका निरादर करता है । इसलिये पुत्र का स्वरूप समझकर पुत्र से राग छोड़कर परम धर्म से राग करो । पुत्र के लिये अन्याय से धन परिग्रह आदि को ग्रहण करने का परित्याग करो ।

स्त्री का स्वरूप : स्त्री भी मोह नाम के ठग की बड़ी फांसी है, ममता उपजानेवाली है, तृष्णा को बढ़ाने वाली है । स्त्री में तीव्रराग होने से वह धर्म में प्रवृत्ति का नाश करनेवाली है, लोभ को बहुत अधिक बढ़ानेवाली है, परिग्रह में मूर्च्छा बढ़ानेवाली है, ध्यान-स्वाध्याय में विघ्न करनेवाली है, विषयों में अंधा करनेवाली है, क्रोधादि चारों कषायों में तीव्रता करानेवाली है, संयम का घात करनेवाली है, झगड़े की जड़ है, दुर्ध्यान का स्थान है, मरण बिगाड़नेवाली है इत्यादि दोषों का मूल कारण जानकर स्त्री के प्रति रागभाव छोड़कर वीतराग धर्म से अपना राग बढ़ाओ ।

मित्र का स्वरूप : इस कलिकाल के मित्र भी विषयों में ही उलझानेवाले हैं, सभी व्यसनों में फँसानेवाले सहायक हैं । जिनको धनवान देखते हैं उनसे अनेक लोग मित्रता करते हैं, निर्धन से कोई बात भी नहीं करता है । अधिक कहाँ तक कहें । मित्रता तो व्यसनों में डुबोने के लिये ही है ।

इसलिये हे ज्ञानीजनों ! यदि संसार में डूब जाने का भय लगता है तो अन्य सभी से मित्रता छोड़कर परमधर्म में अनुराग करो । यह संसार तो निरन्तर जन्म मरण रूप ही है । प्रत्येक जीव जन्म के दिन से ही मृत्यु की ओर निरन्तर प्रयाण करता है । अनंतानंत काल जन्म-मरण करते हो गया है । अतः पंच परावर्तनरूप संसार से विरागता भावो ।

इंद्रियों के विषयों का स्वरूप : ये जो पाँच इंद्रियों के विषय हैं वे आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले हैं, तृष्णा को बढ़ानेवाले हैं, असंतोष को बढ़ानेवाले हैं । विषयों के सामान पीड़ा तीन लोक में अन्य नहीं है । विषय तो नरकादि कुगति के कारण हैं, धर्म से पराङ्मुख करनेवाले हैं, कषायों को बढ़ानेवाले हैं, ज्ञान को विपरीत करनेवाले हैं; विष के सामान मारनेवाले हैं; विष और अग्नि के समान दाह उपजानेवाले हैं । इसलिये विषयों में राग छोड़ने में ही परम कल्याण है । जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें विषयों को दूर से ही छोड़ देना चाहिये ।

शरीर का स्वरूप : शरीर रोगों का स्थान है, महामलिन दुर्गन्धित सप्त धातु मय है, मल-मूत्रादि से भरा है, वात-पित्त-कफमय है, वायु के निमित्त से हलन-चलन आदि करता है, सदा ही भूख-प्यास का कष्ट लगाये रहता है, सब प्रकार की अशुचिता का पुंज है, दिन-प्रतिदिन जीर्ण होता चला जाता है, करोड़ों उपायों द्वार रक्षा करते रहने पर भी मरण को प्राप्त हो जाता है । ऐसे शरीर से विरक्त होना ही श्रेष्ठ है ।

इस प्रकार पुत्र, मित्र, कलत्र, संसार, शरीर, भोगों का दुःखकारी स्वरूप जानकर विरागभाव को प्राप्त होना ही संवेग है । संवेग भावना का निरन्तर चिंतन करना ही श्रेष्ठ है । अतः मेरे हृदय में निरन्तर संवेग भावना रहे । ऐसा चिंतवन करते हुये संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति होने पर ही परम धर्म में अनुराग होता है ।

धर्म का स्वरूप : धर्म शब्द का अर्थ ऐसा जानना - जो वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है, उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्म है, रत्नत्रयरूप धर्म है, तथा जीवों की दयारूप धर्म है । पर्याय बुद्धिवाले शिष्यों को समझाने के लिये धर्म शब्द का चार प्रकार से वर्णन किया है । वस्तु जो आत्मा उसका स्वभाव ही दशलक्षणरूप है । क्षमादि दश भेदरूप आत्मा का ही स्वभाव है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र भी आत्मा से भिन्न नहीं है तथा दया भी आत्मा का ही स्वभाव है ।

जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये आत्मा के स्वभावरूप दशलक्षण धर्म में अनुराग होना संवेग है। कपट रहित रत्नत्रयधर्म में अनुराग होना संवेग है । मुनीश्वरों के तथा श्रावकों के धर्म में अनुराग होना संवेग है । जीवों की रक्षा करने रूप जीव दया के परिणाम होना उसे भगवान ने संवेग कहा है ।

वस्तु जो आत्मा, उसका स्वभाव केवलज्ञान-केवलदर्शन है, उस स्वभाव में लीन होना वह प्रशंसा करने योग्य संवेग है। धर्म में अनुरागरूप परिणाम होना संवेग है। धर्म के फल को अत्यन्त मिष्ट जानना वह संवेग है।

धर्म का फल : ये तीर्थंकरपना, चक्रवर्ती होना, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि उत्पन्न होना वह धर्म ही का फल है। बाधारहित केवली होना, स्वर्गादि में महान ऋद्धिधारी देव होना, इंद्र होना, अनुत्तर आदि विमानों में अहमिन्द्र होना वह सब पूर्व जन्म में आराधन किये धर्म का ही फल है।

भोगभूमि आदि में उत्पन्न होना, राज्य-संपदा पाना, अखण्ड ऐश्वर्य पाना, अनेक देशों में आज्ञा चलना, प्रचुर धन-संपदा पाना, रूप की अधिकता पाना, बल की अधिकता, चतुरता, महान पंडितपना, सर्व लोक में मान्यता, निर्मल यश की विख्यातता, बुद्धि की उज्ज्वलता, आज्ञाकारी धर्मात्मा कुटुम्ब का संयोग मिलना, सत्पुरुषों की संगति मिलना, रोग रहित होना, दीर्घ आयु, इंद्रियों की उज्ज्वलता, न्याय मार्ग में प्रवर्तना, वचन की मिष्ठता इत्यादि उत्तम सामग्री का पाना है, वह कभी धर्म से प्रेम किया होगा, धर्मात्माओं की सेवा की होगी, धर्म तथा धर्मात्माओं की प्रशंसा की होगी उसका फल है।

कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न सभी को धर्मात्मा के दरवाजे पर खड़े समझो। धर्म के फल की महिमा कोई कोटि जिह्वाओं द्वारा भी कहने में समर्थ नहीं हो सकता है।

ऐसे धर्म के फल को जो तीनलोक में उत्कृष्ट जानता है उसके संवेग भावना होती है। धर्म सहित साधर्मी जीवों को देखकर आनंद उत्पन्न होना, धर्म की कथनी में आनंदमय होना तथा भोगों से विरक्त हो जाना वह संवेग नाम की पाँचवीं भावना है। इसको आत्मा का हितरूप समझकर निरंतर इसकी भावना भावो तथा भावना के आनंद सहित होकर इसकी प्राप्ति के लिये इसका महान अर्घ उतारण करो। इस प्रकार संवेगनाम की पाँचवीं भावना का वर्णन किया। ५।

शक्ति प्रमाण त्याग भावना

अब शक्तिप्रमाणत्याग भावना का वर्णन करते हैं। यह त्याग नाम की भावना प्रशंसा योग्य मनुष्य जन्म का मण्डन है। अपने हृदय में त्याग भाव लाने के लिये अनेक उत्सवरूप वादित्रों को बजाकर इसका महान अर्घ उतारण करो।

परिग्रह त्याग : बाह्य-अंतरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से ममता छोड़ने से त्याग धर्म होता है। अंतरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है, वह इस प्रकार जानना। जाने बिना ग्रहण त्याग वृथा है। मिथ्यात्व, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद रूप परिणाम, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम-ऐसा चौदह प्रकार का अंतरंग परिग्रह जानना।

शरीर आदि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि करना वह मिथ्यात्व परिग्रह है। जो भी वस्तु है वह अपने द्रव्य, अपने गुण, अपनी पर्यायरूप है, वही वस्तु का अपना स्वरूप है। जैसे - स्वर्ण नाम

का द्रव्य है, पीलापन आदि उसके गुण हैं, कुंडल आदि उसकी पर्याय है - वह सब स्वर्ण ही है। इसलिये स्वर्ण अन्य वस्तु का नहीं, स्वर्ण है वह स्वर्ण का ही है । अन्य वस्तु का अन्य कोई हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं । अपना स्वरूप है वह अपना ही है । वैसे ही-आत्मा है वह आत्मा का ही है, आत्मा का अन्य कोई द्रव्य नहीं है । अब जो देह को अपनी आत्मा मानता है - मैं गोरा, मैं सांवला, मैं राजा, मैं रंक, मैं स्वामी, मैं सेवक, मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय, मैं वैश्य, मैं शूद्र, मैं वृद्ध, मैं बालक, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं तिर्यंच इत्यादि **कर्मकृत विनाशीक परद्रव्य जनित पर्याय में आत्मबुद्धि करना वह मिथ्यात्व परिग्रह है ।**

मिथ्यादर्शन से ही मेरा घर, मेरा पुत्र, मेरा राज्य, मैं नीच, मैं उच्च इत्यादि मानकर सभी पर पदार्थों में आत्मबुद्धि करता है । पुद्गल के नाश को अपना नाश मानता है, इसके बढ़ने से अपना बढ़ना, इसके घटने से अपना घटना मानकर पर्याय में आत्मबुद्धि करके अनादिकाल से अपना स्वरूप भूल रहा है । **समस्त परिग्रह में आत्मबुद्धि का मूल मिथ्यात्व नाम का परिग्रह ही है ।** जिसके मिथ्याज्ञान नहीं है वह परद्रव्यों में '**हमारा**' इस प्रकार कहता हुआ भी परद्रव्यों में कभी अपनापना नहीं मानता है ।

वेद के उदय से स्त्री पुरुषों में जो कामसेवन के भाव होते हैं । उस काम में तन्मय होकर काम के भाव को आत्मभाव मानना वह वेद परिग्रह है । काम तो वीर्य आदि का प्रेरित किया हुआ देह का विकार है, उसे अपना स्वरूप जानना वह वेद परिग्रह है ।

धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्री, आभरणादि परद्रव्यों में आसक्ति का भाव होना वह **राग** परिग्रह है। अन्य का वैभव, परिवार, ऐश्वर्य, पाण्डित्य आदि देखकर बैर भाव करना वह **द्वेष** परिग्रह है । हास्य में आसक्ति का भाव होना वह **हास्य** परिग्रह है । अपना मरण होने से, मित्रों का तथा परिग्रह आदि का वियोग होने से निरंतर भयवान रहना वह **भय** परिग्रह है ।

पाँच इंद्रियों द्वारा वांछित भोग-उपभोग सामग्री को भोगने में लीन होना वह **रति** परिग्रह है। अनिष्ट वस्तु का संयोग होने से परिणामों में संक्लेशभाव होना वह **अरति** परिग्रह है । इष्ट स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, जीविका आदि का वियोग होने से उनके संयोग की वांछा करके संक्लेश भाव होना वह **शोक** परिग्रह है । घृणायुक्त पुद्गलों के देखने से, श्रवण करने से, चिंतवन करने से, स्पर्श करने से परिणामों में ग्लानि उत्पन्न हो जाना वह जुगुप्सा परिग्रह है । अथवा अन्य का पुण्य का उदय देखकर अपने भाव क्लेशरूप हो जाना, सुहावे नहीं वह **जुगुप्सा** परिग्रह है ।

परिणामों में रोष करके तप्तायमान हो जाना वह **क्रोध** परिग्रह है । उच्च जाति, धन-ऐश्वर्य, रूप, बल, तप, ज्ञान, ऋद्धि-बुद्धि इनसे अपने को बड़ा जानकर मद करना, तथा दूसरे को छोटा जानकर निरादर करना, कठोर परिणाम रखना वह **मान** परिग्रह है । अनेक छल-कपट आदि द्वारा वक्र परिणाम रखना वह **माया** परिग्रह है । परद्रव्यों के ग्रहण करने में संग्रह करने में तृष्णा होना वह **लोभ** परिग्रह है ।

इस प्रकार संसार में परिभ्रमण के कारण, आत्मा के ज्ञानादि गुणों के घातक चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह हैं, इन्हीं में मूर्च्छा के कारण धन, धान्य, क्षेत्र, स्वर्ण, स्त्री, पुत्रादि चेतन अचेतन बाह्य परिग्रह हैं। **अंतरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करने से त्याग धर्म होता है।** यद्यपि बाह्य परिग्रह रहित तो दरिद्री मनुष्य स्वभाव से ही होता है, परन्तु अंतरंग परिग्रह का त्याग करना बहुत कठिन है। दोनों प्रकार के परिग्रह का एकदेश त्याग व्रती श्रावक के होता है, तथा पूर्ण त्याग महाव्रतधारी मुनिराजों के होता है।

विषय कषाय त्याग : कषायों के त्यागने से त्याग धर्म होता है। इंद्रियों को विषयों में जाने से रोकने से त्याग धर्म होता है। रसों का त्याग करने से त्याग धर्म होता है। **रसना इंद्रिय की लोलुपता पर विजय प्राप्त करने से सभी पापों का त्याग सहज ही हो जाता है।**

जिनेन्द्र के परमागम का अध्ययन करना, दूसरों को अध्ययन कराना, शास्त्रों को लिखाना, छपवाना, शुद्ध करना, कराना, वह भी परम उपकार करनेवाला त्याग धर्म है। मन के दुष्ट विकल्पों का अभाव करना, दुष्ट विकल्पों के कारण छोड़कर चारों अनुयोगों की चर्चा में चित्त को लगाना वह भी त्याग धर्म है। मोह का नाश करनेवाले धर्म का उपदेश श्रावकों को देना वह भी महापुण्य का उत्पन्न करानेवाला होने से त्याग धर्म है। वीतराग धर्म के उपदेश से अनेक प्राणियों के भाव पाप से भयभीत हो जाते हैं, तथा वे धर्म के स्वरूप को समझकर उसे ग्रहण कर लेते हैं।

उत्तम, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन प्रकार के पात्रों को भक्ति सहित होकर आहारदान देना, प्रासुक औषधि देना, ज्ञान के उपकरण-सिद्धान्तों के पढ़ने योग्य पुस्तकों का दान देना, मुनि के योग्य व श्रावक के योग्य वसतिका दान देना चाहिये। गुणों के धारकों को तप की वृद्धि का कारण आहार आदि चारों प्रकार का दान परम भक्ति से, प्रफुल्लचित्त से, अपने जन्म को कृतार्थ मानते हुए, गृहाचार को सफल मानते हुए, बड़े आदर से, पात्र को करना चाहिये।

पात्र दान होना महाभाग्य से जिनका भला होना है उन्हीं के द्वारा होता है। पात्र का लाभ होना ही दुर्लभ है। भक्ति सहित पात्र दान हो जाय जो उसकी महिमा कहने को कौन समर्थ है?

क्षुधा तृषा से जो दुःखी हो, रोगी हो, दरिद्री हो, वृद्ध हो, दीन हो उनको दयापूर्वक दान देना वह सब त्याग धर्म है। त्याग से ही मनुष्य जन्म सफल है। त्याग से ही धन-धान्यादि का पाना सफल है। त्याग बिना गृहस्थ का घर श्मशान के समान है, गृह का स्वामी पुरुष मृतक के समान है, स्त्री-पुत्रादि '**गृद्धपक्षी**' के समान हैं जो इसके धनरूप माँस को चोंट-चोंट कर खाते हैं। इस प्रकार छटवीं त्याग भावना का वर्णन किया। ६।

शक्ति प्रमाण तप भावना

अब शक्ति प्रमाण तप भावना अंगीकार करना, उसका वर्णन करते हैं। यह शरीर दुःख का कारण है, अनेक दुःख उत्पन्न करता है, अनित्य है, अस्थिर है, अशुचि है, कृतघ्न के समान है। करोड़ों उपकार करने पर भी जैसे कृतघ्न अपना नहीं होता है, उसी प्रकार शरीर की भी अनेक प्रकार

से सेवा उपकार करने पर भी यह अपना नहीं होता है, अतः चाहे-जैसे उपायों से इसे पुष्ट करना उचित नहीं है, कृष करने योग्य ही है, तो भी गुणरूपी रत्नों के संचय करने का कारण है ।

शरीर के बिना रत्नत्रय धर्म नहीं होता है, रत्नत्रय धर्म बिना कर्मों का नाश नहीं होता है । इसलिये अपने प्रयोजन के लिये, विषयों में आसक्ति रहित होकर, सेवक के समान योग्य भोजन देकर, यथाशक्ति जिनेन्द्र के मार्ग से विरोध रहित, काय क्लेशादि तप करना योग्य है । तप किये बिना इंद्रियों के विषयों में लोलुपता नहीं घटती है, तप किये बिना तीनलोक को जीतने वाले काम को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं होती है । तप बिना आत्मा को अचेत करनेवाली निद्रा नहीं जीती जा सकती है । तप बिना शरीर का सुखिया स्वभाव नहीं मिटता है । यदि तप के प्रभाव के द्वारा शरीर को वश में कर रखा होगा तो क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परीषहों के आने पर कायरता उत्पन्न नहीं होगी, संयमधर्म से चलायमान नहीं होगा । तप कर्मों की निर्जरा का कारण है, अतः तप करना ही श्रेष्ठ है ।

अपनी शक्ति को छिपाये बिना जिस प्रकार जिनेन्द्र के मार्ग से विरोध रहित हो उसी प्रकार तप करो । तप नामक सुभट की सहायता के बिना अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप धन को, क्रोध, प्रमाद, आदि लुटेरे एक क्षण में लूट लेंगे; तब रत्नत्रयरूप संपत्ति से रहित होकर चतुर्गतिरूप संसार में दीर्घकाल तक भ्रमण करोगे । अतः जिस प्रकार से वात-पित्त-कफ ये त्रिदोष विपरीत होकर रोगादि उत्पन्न नहीं कर दें उस प्रकार तप करना उचित है ।

सभी तपों में प्रधान तप तो दिगम्बरपना है । कैसा है दिगम्बरपना ? घर की ममतारूप फंदे को तोड़कर, देह का समस्त सुखियापना छोड़कर, अपने शरीर में शीत, उष्ण, गर्मी, वर्षा, वायु, डांस, मच्छर, मक्खी आदि की बाधा को जीतने के सन्मुख होकर, कोपीनादि समस्त वस्त्रों का त्याग कर, दश दिशारूप ही जिसके वस्त्र हैं ऐसा दिगम्बरपना धारण करना, वह बहुत बड़ा अतिशयरूप तप जानना । जिसके स्वरूप को देखने-सुनने पर बड़े-बड़े शूरवीर कांपने लगते हैं ।

हे शक्ति को प्रकट करने वालों ! यदि संसार के बंधन से छूटना चाहते हो तो जिनेश्वर देव संबंधी दीक्षा धारण करो । उस तप से शरीर का सुखियापना नष्ट हो जाता है, उपसर्ग-परीषह सहने में कायरता का अभाव हो जाता है; जिससे स्वर्ग लोक की रंभा, तिलोत्तमा भी अपने हावभाव, विलास, विभ्रम आदि द्वारा मन को काम विकार सहित नहीं कर सकती हैं, ऐसे काम को नष्ट करना वह तप है । इंद्रियों के विषयों में प्रवर्तन का अभाव हो जाना वह तप है ।

दोनों प्रकार के परिग्रह में इच्छा का अभाव हो जाना वह तप है । तप तो वही है जो निर्जनवन में पर्वतों की भंयकर गुफा में जहाँ भूत-राक्षस आदि का अनेक प्रकार से विकार प्रवर्त रहा हो, सिंह, व्याघ्र आदि के भंयकर शब्द हो रहे हों, करोड़ों वृक्षों से अंधकार हो रहा हो, सर्प, अजगर, रीछ, चीता इत्यादि भंयकर दुष्ट तिर्यंचों का आना जाना हो रहा हो, ऐसे महाविषम स्थानों में भय रहित होकर ध्यान-स्वाध्याय में निराकुल होकर रहना वह तप है ।

आहार के लाभ-अलाभ में समभाव रखना, मीठा, खट्टा, कड़ुआ, कषायला, ठंडा, गरम, सरस, नीरस भोजन जलादि में लालसा रहित, संतोष रूप, अमृत का पान करते हुये आनंद में रहना वह

तप है। दुष्ट देव, दुष्ट मनुष्य, दुष्ट तिर्यंचों द्वारा किये गये घोर उपसर्गों के आने पर कायरता छोड़कर कंपायमान नहीं होना वह तप है। जिससे चिरकाल का संचित किया हुआ कर्म निर्जरित हो जाय वह तप है। कुवचन बोलनेवालों में, निंद्य दोष लगानेवालों में, ताड़न, मारन, अग्नि में जला देना आदि उपद्रव करनेवालों में द्वेष बुद्धि से कलुषित परिणाम नहीं करना, तथा स्तुति पूजनादि करनेवालों में राग भाव का उत्पन्न नहीं होना वह तप है।

पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, पाँच इंद्रियों का निरोध करना, छः आवश्यकों को यथा समय करना, अपने सिर तथा दाढ़ी-मूँछ के बालों को अपने हाथ से उपवास के दिन लोंचना तप है। दो माह पूरे हो ज़ाने पर उत्कृष्ट केशलोंच होता है, तीन माह पूरे हो जाने पर मध्यम, चार माह पूरे हो जाने पर जघन्य केशलोंच कहलाता है, वह भी तप है। अन्य भेषियों के समान प्रतिदिन केशलोंच नहीं करते हैं।

शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल में नग्न रहना, यावज्जीवन स्नान नहीं करना, जमीन पर शयन करना, अल्प निद्रा लेना, दाँतों का अंगुली से भी मंजन नहीं करना, एक बार खड़े-खड़े ही रस-नीरस स्वाद छोड़कर थोड़ा भोजन करना, इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों को अखण्ड पालन करना वह भी बड़ा तप है। इन मूलगुणों के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्तकर मुक्त हो जाते हैं।

हे ज्ञानी जनों ! यह तप धर्म का अंग है। तप की निर्विघ्न प्राप्ति के लिये इसका स्तवन-पूजन करके महान अर्घ उतारण करो। तप के द्वारा दूर रहनेवाला तथा अत्यन्त परोक्ष दिखने वाले मोक्ष भी तुम्हारे बहुत निकट आ जाता है। इस प्रकार शक्ति प्रमाण तप नाम की सातवीं भावना का वर्णन किया। ७।

साधु समाधि भावना

अब साधु समाधि नाम की आठवीं भावना कहते हैं। जैसे भंडार में लगी हुई आग को गृहस्थ अपनी उपकारी वस्तुओं का नाश होना जानकर बुझाता ही है, क्योंकि अपनी उपकारी वस्तुओं की रक्षा करना बहुत आवश्यक है, उसी प्रकार व्रत-शील आदि अनेक गुणों सहित जो व्रती-संयमी को किसी कारण से विघ्न आ जाय तो निघ्नों को दूर करके व्रत-शील की रक्षा करना वह साधु समाधि है। अथवा गृहस्थ के अपने परिणामों को बिगाड़नेवाला मरणकाल आ जाये, उपसर्ग आ जाये, रोग आ जाये, इष्ट वियोग हो जाये, अनिष्ट संयोग आ जाये उस समय भयभीत नहीं होना, वह साधु समाधि है।

सम्यग्ज्ञानी ऐसा विचार करता है – हे आत्मन् ! तुम अखण्ड, अविनाशी, ज्ञान, दर्शन स्वभावी हो, तुम्हारा मरण नहीं हो सकता है। जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा। पर्याय का विनाश होता है, चैतन्य द्रव्य का विनाश नहीं होता है। पाँच इंद्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, आयुबल, उच्छवास - ये दश प्राण हैं। इनके नाश को मरण कहते हैं। तुम्हारे ज्ञान, दर्शन, सुख,

सत्ता इत्यादि भाव प्राण हैं, उनका कभी नाश नहीं होता है । अतः देह के नाश को अपना नाश मानना वह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान है ।

हे ज्ञानी ! हजारों कृमि से भरे, हाड़-मांसमय, दुर्गंधित, प्रकट विनाशीक देह के नाश होने से तुम्हारा क्या होता है ? तुम तो अविनाशी ज्ञानमय हो । यह मृत्यु तो बड़ी उपकारी मित्र है जो तुम्हें सड़े-गले शरीर में से निकालकर देव आदि की उत्तम देह धारण कराती है । यदि मृत्यु मित्र नहीं आता तो इस देह में अभी कब तक और रहना पड़ता ? रोग तथा दुःखों से भरे शरीर में से कौन निकालता ? समाधिमरण करके आत्मा का उद्धार कैसे होता ? व्रत-तप-संयम का उत्तम फल मृत्यु नाम के मित्र के उपकार किये बिना कैसे पाता ? पाप से कौन भयभीत होता ? मृत्युरूप कल्पवृक्ष के बिना चार आराधनाओं की शरण ग्रहण कराकर संसाररूपी कीचड़ में से कौन निकालता ?

जिनका चित्त संसार में आसक्त है तथा देह को अपनारूप जानते हैं, उन्हें मरण का भय होता है । सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को देह से भिन्न जानकर भयभीत नहीं होते हैं, उन्हीं के साधु समाधि होती है । मरण के समय में जो कभी रोग, दुःख आदि आता है, वह भी सम्यग्दृष्टि को देह से ममत्व छुड़ाने के लिये आता हैं, त्याग-संयम आदि के सन्मुख कराने के लिये आता है, प्रमाद को छुड़ाकर सम्यग्दर्शन आदि चार आराधनाओं में दृढ़ता कराने के लिये आता है ।

ज्ञानी विचार करता है – जिसने जन्म धारण किया है वह अवश्य मरेगा, यदि कायर हो जाऊँगा तो मरण नहीं छोड़ेगा, और यदि धीर बना रहूँगा तो मरण नहीं छोड़ेगा । इसलिये दुर्गति का कारण जो कायरतारूप मरण है, उसे धिक्कार हो । अब ऐसे साहस से मरूँगा कि देह मर जायेगी किन्तु मेरे ज्ञान-दर्शन स्वरूप का मरण नहीं होगा । ऐसा मरण करना उचित है । अतः उत्साह सहित सम्यग्दृष्टि के मरण का भय नहीं होना, वह साधु समाधि है ।

देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत उपसर्ग होने पर जिसको भय नहीं होता, पूर्व में बांधे हुए कर्म की निर्जरा ही मानता है, उसके साधु समाधि है । ज्ञानी रोग से भय नहीं करता है । वह तो अपने शरीर को ही महारोग जानता है, क्योंकि शरीर ही तो क्षुधा, तृषा, आदि महारोगों को उत्पन्न करानेवाला है । यह मनुष्य शरीर वात, पित्त, कफादि त्रिदोषमय है । असातावेदनीय कर्म के उदय से, त्रिदोषों के घटने-बढ़ने से, ज्वर, खांसी, श्वास, अतिसार, पेटदर्द, सिरदर्द, नेत्रविकार, वातादि की पीड़ा होने पर **ज्ञानी ऐसा विचार करता है** – मुझे यह रोग उत्पन्न हुआ है उसका अंतरंग कारण तो असातावेदनीय कर्म का उदय है, बहिरंग कारण द्रव्य-क्षेत्र-कालादि हैं; कर्म के उदय का उपशम होने पर रोग का नाश हो जायेगा ।

असातावेदनीय का प्रबल उदय होने पर बाह्य औषधि आदि कोई भी रोग को मिटाने में समर्थ नहीं है । असाता कर्म को हरने में कोई देव, दानव, मंत्र-तंत्र, औषधि आदि समर्थ नहीं हैं । अतः अब संक्लेश छोड़कर समता ग्रहण करना । बाह्य जो औषधि आदि हैं, वे असातावेदनीय कर्म का उदय मंद हो जाने पर सहकारी कारण हैं । असातावेदनीय कर्म का तीव्र उदय होने पर औषधि आदि

कोई भी बाह्य कारण रोग दूर करने में समर्थ नहीं है । ऐसा विचार करके असातावेदनीय कर्म के नाश का कारण परम समता भाव धारण करके, संक्लेश रहित होकर सहना, कायर नहीं होना, वही साधुसमाधि है ।

इष्ट का वियोग होने पर, अनिष्ट का संयोग होने पर ज्ञान की दृढ़ता से भय को प्राप्त नहीं होना वह साधु समाधि है । जो जीव जन्म-जरा-मरण के भय सहित है, किन्तु सम्यग्दर्शन आदि गुणों सहित है, वह इस मनुष्य पर्याय के अंत में आराधनाओं की शरण सहित व भय रहित होकर, देहादि सभी पर द्रव्यों में ममता रहित होकर, व्रत-संयम सहित होकर समाधिमरण की इच्छा करता है ।

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरा अनंतानंत काल बीत गया है । समस्त समागम अनेक बार पाया, परन्तु समाधिमरण प्राप्त नहीं हुआ है । यदि समाधिमरण एक बार भी मिल गया होता तो फिर जन्म-मरण का पात्र नहीं होता । संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने भव-भव में अनेक नये-नये देह धारण किये हैं । **ऐसी कौन सी देह है जो मैंने धारण नहीं की ?** अब इस वर्तमान देह में क्यों ममत्व करूँ ? मुझे भव-भव में अनेक स्वजन-कुटुम्बीजनों का भी संबंध हुआ है । आज पहली बार ही स्वजन नहीं मिले हैं, अतः किस-किस स्वजन में राग करूँ ? मुझे भव-भव में अनेक बार राजऋद्धि प्राप्त हुई है । अब मैं इस तुच्छ वर्तमान सम्पदा में क्या ममता करूँ ? भव-भव में मेरे अनेक पालन करनेवाले माता-पिता भी हो गये हैं, अभी ये प्रथम बार ही नहीं हुए हैं ?

मुझे भव-भव में अनेकबार नारीपना भी प्राप्त हुआ है, काम की तीव्र लम्पटता सहित मुझे भव-भव में अनेकबार नपुंसकपना भी प्राप्त हुआ है, तथा मुझे भव-भव में अनेकबार पुरुषपना भी प्राप्त हुआ है, तो भी वेद के अभिमान से नष्ट होता फिरता रहा । भव-भव में अनेक जाति के दुःखों को प्राप्त हुआ हूँ, **संसार में ऐसा कोई दुःख नहीं है जो मैंने अनेक बार नहीं पाया हो ।** ऐसा कोई इंद्रिय जनित सुख भी नहीं है जो मैंने अनेकबार नहीं पाया हो । अनेकबार नरक में नारकी होकर असंख्यात काल तक प्रमाण रहित अनेक प्रकार के दुःख भोगे हैं । अनेकबार तिर्यंचों के भव प्राप्त करके अनंतबार जन्म-मरण करते हुए अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए बारम्बार परिभ्रमण किया है ।

मैं अनेकबार धर्मवासना रहित मिथ्यादृष्टि मनुष्य भी हुआ हूँ । अनेकबार देवलोक में भी जन्म प्राप्त हुआ है, अनेक भवों में जिनेन्द्र की पूजा की है, अनेक भवों में गुरुवंदना भी की है, अनेक भवों मे मिथ्यादृष्टि होकर कपटपूर्वक आत्मनिन्दा भी की है, अनेक भवों में दुर्ध्दर तप भी धारण किया है, अनेक भवों में भगवान के समोशरण में भी हो आया हूँ, तथा अनेक भवों में श्रुतज्ञान के अंगों का भी पठन-पाठनादि का अभ्यास किया है तो भी अनंतकाल से भवनिवासी ही रहा ।

यद्यपि जिनेन्द्र की पूजा करना, गुरुओं की वंदना करना, आत्म निंदा करना, दुर्द्धर तपश्चरण करना, समोशरण में जाना, जिनश्रुत के अंगों का अभ्यास करना इत्यादि कार्य प्रशंसा योग्य हैं, पाप का नाश करनेवाले हैं, पुण्य बंध के कारण हैं तो भी **सम्यग्दर्शन बिना अकृतार्थ हैं** (अकार्यकारी

हैं) संसार परिभ्रमण को नहीं रोक सकते हैं, सम्यग्दर्शन बिना समस्त क्रिया पुण्य का बंध करनेवाली है, सम्यग्दर्शन सहित हो तभी संसार का नाश कर सकती है । वही आत्मानुशासन में कहा है-

शम बोधवृत्त तपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्व संयुक्तम् ॥१५॥

अर्थ – पुरुष के शमभाव, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महानपना पाषाण के महानपने के समान है; ये ही शम, बोध, चारित्र व तप यदि सम्यक्त्व सहित हों तो महामणि के समान पूज्य हैं ।

भावार्थ – जगत में मणि भी पाषाण है तथा अन्य रेतीला पत्थर भी पाषाण है । जैसे कोई मनुष्य साधारण पत्थर तो मन-दो मन भी बांधकर ले जाय और बेचे तो एक पैसा ही मिले, तथा उससे एक दिन भी पेट नहीं भरे । मणि कोई रत्ती भर भी ले जाय और बेचे तो हजारों रुपये मिलें, समस्त जन्म की दरिद्रता मिट जाये । उसी प्रकार शमभाव, शास्त्रों का ज्ञान, चारित्र धारण, घोर तपश्चरण - ये सम्यक्त्व बिना बहुत काल धारण करे तो राज्य संपदा मिल जायेगी, मंद कषाय के प्रभाव से देवलोक में पैदा हो जायेगा, फिर वहाँ से मरकर एक इंद्रिय आदि पर्यायों में परिभ्रमण करेगा, किन्तु यदि ये सम्यक्त्व सहित होवें तो संसार परिभ्रमण का नाश करके मुक्त हो जायेगा ।

सम्यक्त्व बिना जो मिथ्यादृष्टि है वह जिनराज की पूजन करे, निर्ग्रन्थ गुरु की वंदना करे, समोशरण में जाये, जिनागम का अभ्यास करे, उत्कृष्ट तप करे तो भी अनंतकाल तक संसार में ही निवास करता रहेगा ।

इस तीनलोक में सुख-दुःख की सभी सामग्री इस जीव ने अनन्तबार पाई है, कुछ भी दुर्लभ नहीं है; एक साधुसमाधि रूप जो रत्नत्रय की लब्धि है उसे निर्विघ्न परलोक तक ले जाना दुर्लभ है । जो रत्नत्रय सहित होकर देह को छोड़ता है, उसके जो साधुसमाधि होती है उसकी प्राप्ति दुर्लभ है ।

साधुसमाधि चतुर्गति में परिभ्रमण के दुःख का अभाव करके निश्चल, स्वाधीन, अनन्त सुख को प्राप्त कराती है । जो पुरुष साधुसमाधि भावना को निर्विघ्न रूप से प्राप्त करने के लिये इस भावना को भाता हुआ इसका महान अर्घ उतारण करता है वह शीघ्र ही संसार समुद्र को पारकर के अष्ट गुणों का धारक सिद्ध बन जाता है । इस प्रकार साधुसमाधि नाम की आठवीं भावना का वर्णन किया । ८ ।

वैयावृत्य भावना

अब वैयावृत्य नाम की नवमीं भावना का वर्णन करते हैं । कोढ़, पेट के रोग, आमवात, संग्रहणी, कठोदर, सफोदर, नेत्र शूल, कर्णशूल, शिरशुल, दंतशूल तथा ज्वर, कास, श्वास, जरा इत्यादि रोगों से पीड़ित जो मुनि तथा श्राविक हैं उनको निर्दोष आहार, औषधि, वसतिका आदि देकर सेवा-शुश्रुषा करना, विनय करना, आदर करना, दुःख दूर करने का यत्न करना वह सब वैयावृत्य है । जो तप द्वारा तपे हुए हों, किन्तु रोग सहित शरीर हो, उनका दुःख देखकर उनके लिये प्रासुक औषधि तथा पथ्य आदि द्वारा रोग का उपशमन करना वह वैयावृत्य भावना है ।

मुनियों के दश भेद होने से वैयावृत्य के भी दश भेद हैं । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ - इन दश प्रकार के मुनियों की परस्पर में वैयावृत्य होती है। काय की चेष्टा द्वारा अन्य द्रव्यों से दुःख, वेदन आदि दूर करने का कार्य - व्यापार करना, प्रवर्तन करना वह वैयावृत्य है ।

दश प्रकार के मुनियों का ऐसा स्वरूप जानना – जिनसे स्वर्ग-मोक्ष सुख के बीज जो व्रत हैं उनको आदर सहित ग्रहण करके भव्य जीव अपने हित के लिये पालते हैं - आचरण करते हैं, ऐसे सम्यग्ज्ञान आदि गुणों के धारक **आचार्य** हैं । जिनका सामीप्य प्राप्त करके आगम का अध्ययन करते हैं ऐसे व्रत, शील, श्रुत के आधार **उपाध्याय** हैं । जो महान अनशनादि तप करने वाले हैं वे **तपस्वी** हैं । जो निरन्तर श्रुत के शिक्षण में तत्पर तथा व्रतों की भावना में तत्पर रहते हैं वे **शैक्ष्य** हैं । रोगादि के द्वारा जिन का शरीर दुःखी हो वे **ग्लान** हैं । जो वृद्ध मुनियों की परिपाटी के हों वे **गण** हैं । अपने को दीक्षा देनेवाले आचार्य के जो शिष्य हैं वे **कुल** हैं । ऋषि, यति, मुनि, अनगार- इन चार प्रकार के मुनियों का जो समूह है वह **संघ** है । बहुत समय से जो दीक्षित हों वे **साधु** हैं ।

जो पण्डितपने द्वारा, वक्तापने द्वारा, ऊँचे कुल द्वारा (प्रसिद्ध गुरु का शिष्य होना) लोगों में मान्य होकर धर्म का, गुरुकुल का गौरवपना उत्पन्न करनेवाले हों- बढ़ानेवाले हों वे **मनोज्ञ** हैं । अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि भी संसार के अभावरूपपने के कारण मनोज्ञ है ।

इन दश प्रकार के मुनियों के रोग आ जाय, परीषहों से दुःखी होकर तथा श्रद्धानादि बिगड़ जाने से मिथ्यात्व आदि को प्राप्त हो जाँय तो प्रासुक औषधि, भोजन-पानी, योग्य स्थान, आसन, तखत, तृणादि की बिछावन करके, पुस्तक-पीछी आदि धर्मोपकरण द्वारा प्रतिकार-उपकार करना, तथा पुनः सम्यक्त्व में स्थापित करना इत्यादि उपकार करना वह वैयावृत्य है । यदि बाह्य जो भोजन-पानी-औषधि देना सम्भव नहीं हो तो अपने शरीर द्वारा ही उनका कफ, नाक का मैल, मूत्रादि दूर कर देने से तथा उनके अनुकूल आचरण करने से वैयावृत्य होती है ।

इस वैयावृत्य में संयम की स्थापना, ग्लानि का अभाव, प्रवचन में वात्सल्यता, सनाथपना इत्यादि अनेक गुण प्रकट होते हैं । वैयावृत्य ही परम धर्म है । वैयावृत्य नहीं हो तो मोक्षमार्ग बिगड़ जायेगा। आचार्य आदि अपने शिष्य, मुनि, रोगी इत्यादि की वैयावृत्य करने से बहुत विशुद्धता व उच्चता को प्राप्त हो जाते हैं । इसी प्रकार श्रावक भी मुनियों की वैयावृत्य करें, तथा श्राविकायें आर्यिका की वैयावृत्य करें ।

औषधिदान द्वारा भी वैयावृत्य करें, भक्ति पूर्वक युक्ति से देह का आधार आहारदान देकर वैयावृत्य करें । कर्म के उदय से कोई दोष लग गया हो तो उसे ढांकना, श्रद्धान से चलायमान हो गया हो तो उसे सम्यग्दर्शन ग्रहण कराना, जिनेन्द्र के मार्ग से बिछुड़ गया हो तो उसे मार्ग में स्थापित करना इत्यादि उपकार द्वारा भी वैयावृत्य होती है ।

जो आचार्य आदि गुरु शिष्य को श्रुत के अंग पढ़ाते हैं, तथा व्रत-संयम आदि की शुद्धि का उपदेश देते हैं वह शिष्य की वैयावृत्य है। शिष्य भी गुरुओं की आज्ञा के अनुसार प्रवर्तता हुआ गुरुओं के चरणों की सेवा करे वह आचार्य की वैयावृत्य है।

अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को रागद्वेष आदि दोषों से लिप्त नहीं होने देना वह अपने आत्मा की वैयावृत्य है। अपने आत्मा को भगवान के परमागम में लगा देना, दश लक्षणरूप धर्म में लीन हो जाना वह अपने आत्मा की वैयावृत्य है। काम, क्रोध, लोभ आदि के तथा इंद्रियों के विषयों के आधीन नहीं होना वह अपने आत्मा की वैयावृत्य है।

यहाँ और भी विशेष जानना – रोगी मुनियों का तथा गुरुओं का प्रात: एवं संध्याकाल (आथण) शयन, आसन, कमंडल, पीछी, पुस्तक अच्छी तरह नेत्रों से देखकर मयूर पीछी से शोधना; अशक्त रोगी मुनि का आहार-औषधि आदि द्वारा संयम के योग्य उपचार करना; शुद्ध ग्रन्थ को बांचकर, धर्म का उपदेश देकर परिणामों को धर्म में लीन करना; तथा उठाना, बैठाना, मल-मूत्र कराना, करवट लिवाना इत्यादि सब वैयावृत्य है।

कोई साधु रास्ते में दु:खी हुआ हो; भील, म्लेच्छ, दुष्ट राजा, दुष्ट तिर्यंचों द्वारा दु:खी हुआ हो, उपद्रव रूप हुआ हो, दुर्भिक्ष, मरी-व्याधि, इत्यादि उपद्रवों से पीड़ा होने से परिणाम कायर हुए हों तो उसे स्थान देकर कुशल पूंछकर आदर से **सिद्धान्त की शिक्षा देकर स्थितिकरण करना वह वैयावृत्य है।**

जो समर्थ होकर के भी अपने बल-वीर्य को छिपाकर वैयावृत्य नहीं करता है वह धर्म रहित है। उसने तीर्थंकरों की आज्ञा भंग की, श्रुतद्वारा उपदेशित धर्म की विराधना की, अपना आचार बिगाड़ लिया, प्रभावना नष्ट की, धर्मात्मा का आपत्ति में भी उपकार नहीं किया तब धर्म से विमुख हुआ, श्रुत की आज्ञा लोपने से परमागम से पराङ्मुख हुआ।

वैयावृत्य से ऐसे परिणाम होते हैं कि अहो ! **मोह अग्नि से जलते हुए जगत में एक दिगम्बर मुनि ही ज्ञानरूप जल के द्वारा मोहरूप अग्नि को बुझाकर आत्म कल्याण करते हैं।** वे धन्य हैं जो काम को मारकर, रागद्वेष का त्यागकर, इंद्रियों को जीतकर आत्मा के हित में उद्यमी हुए हैं। ये लोकोत्तर गुणों के धारी हैं। मुझे ऐसे गुणवंतों के चरणों की शरण ही प्राप्त हो। इस प्रकार के गुणों में परिणाम वैयावृत्य से ही होते हैं। जैसे-जैसे गुणों में परिणाम मग्न होते हैं, वैसे-वैसे श्रद्धान बढ़ता है, जब श्रद्धान बढ़ता है तब धर्म में प्रीति बढ़ती है, तब धर्म के नायक अरहन्तादि पंच परमेष्ठी के गुणों में अनुरागरूप भक्ति बढ़ती है। **भक्ति कैसी होती है ?** मायाचार रहित, मिथ्याज्ञान रहित, भोगों की वांछा रहित, मेरु के समान निष्कंप-अचल, ऐसी जिनभक्ति जिसे होती है उसे संसार के परिभ्रमण का भय नहीं रहता है। ऐसी भक्ति धर्मात्मा की वैयावृत्य से होती है।

पाँच महाव्रतों सहित, कषायों से रहित, रागद्वेष को जीतनेवाले, श्रुतज्ञानरूप रत्नों के निधान, ऐसे पात्र का लाभ वैयावृत्य करनेवाले को होता है। जिसने रत्नत्रयधारी की वैयावृत्य की उसने रत्नत्रय

से अपनी जोड़ स्वयं को तथा दूसरों को मोक्षमार्ग में स्थापित कर लिया । जिसने आचार्य की वैयावृत्य की है उसने सम्पूर्ण संघ की- सर्व धर्म की वैयावृत्य की, भगवान की आज्ञा पाली, अपने तथा अन्य के संयम की रक्षा की, शुभध्यान की वृद्धि तथा इंद्रियों का निग्रह किया, रत्नत्रय की रक्षा की, अत्यधिक दान दिया, निर्विचिकित्सा गुण को प्रकट दिखाया, जिनेन्द्र के धर्म की प्रभावना की ।

धन खर्च कर देना सुलभ है, किन्तु रोगी की टहल सेवा करना दुर्लभ है । अन्य के औगुण ढंकना, गुण प्रकट करना इत्यादि गुणों के प्रभाव से तीर्थंकर नाम की प्रकृति का बंध होता है । यह वैयावृत्य में उत्तम है, ऐसी जिनेन्द्र की शिक्षा है । जो कोई श्रावक या साधु वैयावृत्य करता है वह उत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त करता है । जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार छःकाय के जीवों की रक्षा करने में सावधान है उससे समस्त प्राणियों की वैयावृत्य होती है । इस प्रकार वैयावृत्य नाम की नवमी भावना का वर्णन किया । ९ ।

अर्हन्त भक्ति भावना

अब अर्हन्तभक्ति नाम की दशमी भावना का वर्णन करते हैं । मन, वचन, काय द्वारा 'जिन' ऐसे दो अक्षर सदाकाल स्मरण करना वह अर्हन्तभक्ति है ।

अरहन्त के गुणों में अनुराग वह अर्हन्त भक्ति है । जिसने पूर्व जन्म में सोलहकारण भावना भाई हैं वह तीर्थंकर होकर अर्हन्त होता है । उसके सोलहकारण भावना से उत्पन्न अद्भुत पुण्य के प्रभाव से गर्भ में आने के छः माह पहले से इंद्र की आज्ञा से कुबेर बारह योजन लम्बी, नौ योजन चौड़ी रत्नमयी नगरी की रचना करता है । उसके मध्य में राजा के रहने के महल का वर्णन तथा नगरी की रचना, बड़े दरवाजे, कोट, खाई, परकोट इत्यादि जो कुबेर रचता है, उसकी महिमा का तो कोई हजार जिह्वाओं द्वारा वर्णन करने में समर्थ नहीं है ।

वहाँ तीर्थंकर की माता के गर्भ का शोधन रुचिक द्वीपादि में रहनेवाली छप्पन कुमारी देवी करती हैं तथा वे देवियाँ माता की अनेक प्रकार की सेवा करने में सावधान रहती हैं । गर्भ में आने के छः महीना पहले से कुबेर प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न, एक-एक काल में आकाश से साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा करता है । इसके बाद गर्भ में आते ही इंद्र आदि चारों निकाय के देवों के आसन कम्पायमान होने से चार प्रकार के देव आकर नगरी की प्रदक्षिणा देकर माता-पिता की पूजा सत्कार करके अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं ।

भगवान तीर्थंकर स्फटिक मणि के पिटारा समान मलादि रहित माता के गर्भ में विराजमान रहते हैं । कमलवासिनी छः देवी तथा रुचिक द्वीप में रहनेवाली छप्पन कुमारी देवी तथा और अनेक देवियाँ माता की सेवा करती हैं । नौ महीना पूर्ण होने पर उचित समय में जन्म होते ही चारों निकाय के देवों के आसन कम्पायमान होना तथा बाजों के अकस्मात् बजने से जिनेन्द्र का जन्म होना जानकर, बड़े हर्ष से सौधर्म नाम का इंद्र, एक लाख योजन प्रमाण के ऐरावत हाथी के ऊपर बैठकर अपने सौधर्म स्वर्ग के इकतीसवें पटल के अठारहवें श्रेणीबद्ध विमान से अपने असंख्यात देवों के परिकर

सहित आता है । साथ में साढ़े बारह करोड़ जाति के बाजों की मीठी ध्वनि, असंख्यात देवों द्वारा किया जानेवाला जय-जयकार शब्द, अनेक ध्वजा, उत्सव सामग्री तथा करोड़ों अप्सराओं का नाचते हुए उत्सव, करोड़ों गंधर्व देवों के साथ गाते हुए आता है ।

इंद्र का रहने का पटल यहाँ से असंख्यात योजन ऊपर तथा असंख्यात योजन ही तिर्यक दक्षिण दिशा में है । वहाँ से जम्बूद्वीप तक असंख्यात योजन उत्सव करते हुए आकर, नगरी की प्रदक्षिणा देकर, इंद्राणी प्रसूतिगृह में जाकर, वहाँ माता को माया द्वारा निद्रा में सुलाकर, वियोग के दुःख के भय से अपनी देवत्व शक्ति द्वारा दूसरा बालक बनाकर वहाँ रखकर, तीर्थंकर बालक को बड़ी भक्ति से लाकर इंद्र को सौंप देती है । उस समय बाल तीर्थंकर को देखकर इंद्र को तृप्ति नहीं होती, तब वह अपने एक हजार नेत्र बनाकर देखता है । फिर वहाँ ईशान आदि स्वर्गों के इन्द्र, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों के इंद्रादि असंख्यात देव अपनी-अपनी सेना, वाहन, परिवार सहित आते हैं ।

सौधर्म इंद्र ऐरावत हाथी के ऊपर बैठकर भगवान (बाल तीर्थंकर) को गोद में लेकर गिरि सुमेरु की ओर चलता है । वहाँ ईशान इन्द्र छत्र लिये रहता है, सनतकुमार-महेन्द्रकुमार चमर ढुराते हुए, अन्य असंख्यात देव अपने-अपने नियोग के अनुसार सावधान होकर बड़े उत्सव पूर्वक मेरुगिरि के पाण्डुकवन में पहुँचते हैं । वहाँ पाण्डुक शिला के ऊपर अकृत्रिम सिंहासन है, उस पर जिनेन्द्र (बाल तीर्थंकर) को विराजमान करते हैं । फिर पाण्डुकवन से लगाकर क्षीर समुद्र तक दोनों ओर देव पंक्तिबद्ध होकर खड़े हो जाते हैं ।

क्षीर समुद्र मेरुपर्वत की भूमि से पाँच करोड़, दश लाख, साढ़े गुनपचास हजार योजन की दूरी पर है । उस समय मेरु की चूलिका से दोनों ओर मुकुट, कुडंल, हार, कंकण आदि अद्भुत रत्नों के आभूषण पहिने हुए देवों की पंक्ति क्षीर समुद्र तक कतार बांधकर हाथों-हाथ कलश सौंपती जाती है । वहाँ दोनों ओर इन्द्र के खड़े होने के लिए बने दो छोटे सिंहासनों पर सौधर्म व ईशान इंद्र खड़े होकर हाथों में कलश लेकर एक हजार आठ कलशों द्वारा (बाल तीर्थंकर का) अभिषेक करते हैं।

उन कलशों का मुख एक योजन का, बीच का उदरस्थान चार योजन चौड़ा, आठ योजन ऊँचा होता है । उन कलशों से निकली धारा भगवान (बाल तीर्थंकर) के वज्रवृषभनाराच संहनन वाले शरीर पर फूलों की वर्षा के समान बाधा रहित होती है । उसके बाद इंद्राणी कोमल वस्त्र से पोंछकर अपने जन्म को कृतार्थ मानती हुई स्वर्ग से लाये हुए सभी रत्नमयी वस्त्र आभरण पहनाती है । वहाँ अनेक देव अनेक उत्सव रचते हैं जिन्हें लिखने में कोई समर्थ नहीं है ।

मेरु पर्वत से फिर उसी प्रकार उत्सव करते हुए वापिस आकर जिनेन्द्र को लाकर माता को सौंपकर इंद्र वहाँ तांडव नृत्य आदि जो उत्सव करता है, उन सब उत्सवों का कोई असंख्यात काल तक करोड़ों जिह्वाओं द्वारा वर्णन करने में समर्थ नहीं है ।

जिनेन्द्र तो जन्म से ही तीर्थंकर प्रकृति के उदय के प्रभाव से दश अतिशय लिये उत्पन्न होते हैं । पसीना रहित शरीर, नीहार (मल, मूत्र, कफ आदि) रहितपना, शरीर में दुग्धवर्ण श्वेत रुधिर,

समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, अद्भुत अप्रमाण शरीर का रूप सौंदर्य, महासुगंधयुक्त शरीर, अप्रमाण बल, एक हजार आठ लक्षण, प्रिय-हित-मधुर वचन - ये सभी पूर्व जन्म में सोलह कारण भावना भाई थीं उनका प्रभाव है । वे इंद्र द्वारा अपने अंगूठे में रखा हुआ अमृतपान करते हैं, माता के स्तन में से निकला दुग्धपान नहीं करते हैं । फिर वे अपनी अवस्था के बराबर बने देव कुमारों के साथ खेलते हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं । स्वर्ग लोक से आये आभरण, वस्त्र, भोजन आदि मनोवांछित सामग्री लिये हुए देव हमेशा रात-दिन खड़े रहते हैं । **पृथ्वी का भोजन, आभरण, वस्त्र आदि अंगीकार नहीं करते हैं, स्वर्ग से आये हुए ही भोगते हैं ।**

कुमारकाल व्यतीत हो जाने के पश्चात् इन्द्रादि द्वारा अद्भुत उत्साह पूर्वक किये गये उत्सव में पिता द्वारा भक्ति पूर्वक सौंपे गये राज्य को ग्रहण कर भोगते हैं । अवसर आ जाने पर संसार, शरीर, भोगों से विरागता उत्पन्न होती है, तब अनित्यादि बारह भावना भाने लगते हैं । बारह भावना भाते ही लोकान्तिक देव आकर वंदना, स्तवनरूप संबोधन तथा वैराग्य की अनुमोदना करते हैं ।

जिनेन्द्र का विरागभाव होते ही चार निकाय के इन्द्रादि देव अपने आसन कंपायमान होने से अवधिज्ञान से जिनेन्द्र के तप का अवसर जानकर बड़े उत्साह पूर्वक आकर अभिषेक करके देवलोक के वस्त्र आभरणों से भक्ति सहित सजाते हैं । फिर रत्नमयी पालकी बनाकर उसमें जिनेन्द्र को बैठाकर, अप्रमाण उत्सव तथा जय-जयकार शब्दोच्चार सहित तप के योग्य वन में ले जाकर उतारते हैं । वहाँ वे सभी वस्त्र, आभरण त्यागते हैं, देव उन्हें अधर में ही झेलकर अपने मस्तक पर रख लेते हैं । फिर वे जिनेन्द्र सिद्धों को नमस्कार करके पंचमुष्टि केशलोंच करते हैं । वहाँ केशों को उत्तम जानकर इन्द्र रत्नमयपात्र में रखकर बड़ी भक्ति से क्षीर समुद्र में क्षेप देते हैं ।

समोशरण की महिमा

कुछ काल के पश्चात् तप के प्रभाव से व शुक्ल ध्यान के प्रभाव से क्षपकश्रेणी में घातिया कर्मों का नाश करके जिनेन्द्र केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं, तब अरहन्तपद प्रकट होता है ।

केवलज्ञानरूप नेत्र द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की अनन्तानन्त पर्यायों सहित अनुक्रम से (क्रमबद्ध) एक समय में युगपत् सभी को जानते देखते हैं । तब चार निकाय के देव ज्ञानकल्याणक की पूजा स्तवन करके भगवान का उपदेश होने के लिये अनेक रत्नमयी समोशरण की रचना करते हैं ।

समोशरण की विभूति का वर्णन कौन कर सकता है ? पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचा, जिसकी बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं, उसके ऊपर बारह योजन प्रमाण इन्द्रनील मणिमय गोल भूमि, उसके ऊपर अप्रमाण महिमा सहित समोशरण रचना होती है । जहाँ समोशरण की रचना होती है व भगवान का विहार होता है वहाँ अंधों को दिखने लगता है, बहरे सुनने लग जाते हैं, लूले चलने लग जाते हैं, गूंगे बोलने लग जाते हैं । **वीतरागता की अद्भुत महिमा है ।**

जिसके धूलिशाल आदि रत्नमयी कोट, मानस्तंभ, बावड़ी, जल की खाई, पुष्पवाड़ी, फिर रत्नमयी कोट, दरवाजे, नाट्यशाला, उपवन, वेदी, ध्वजाभूमि, फिर रत्नमयी कोट, कल्पवृक्षों का वन, रत्नमय स्तूप, महलों की भूमि, स्फटिकमणि का कोट, देवच्छद नाम का एक योजन का श्री मंडप, सर्व तरफ द्वादशसभा, उनसे सेवित रत्नमय तीन कटनीयुक्त गंधकुटी में सिंहासन के ऊपर चार अंगुल अंतरिक्ष भगवान अरहन्त विराजमान होते हैं । उनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यमयी अंतरंग विभूति की महिमा कहने को चार ज्ञान के धारक गणधर समर्थ नहीं है, अन्य तो कौन कह सकता है ?

समोशरण की विभूति ही वचन के अगोचर है । गन्धकुटी तीसरी कटनी के ऊपर है । वहाँ देवों के बत्तीस युगल, मुकुट, कुण्डल, हार, कड़े, भुजबन्ध आदि सभी आभूषण पहिने हुये चौंसठ चमर ढार रहे हैं, अद्भुत कांति के धारक तीन छत्र जिनकी कांति से सूर्य चंद्रमा भी मंद ज्योति वाले दिखाई देते हैं, उनके शरीर का प्रभामंडल चक्र वृद्धिंगत हो रहा है, जिससे समोशरण में रात्रि-दिन का भेद ही नहीं रहता है, सदा दिन ही सा रहता है ।

तीनलोक में जैसी सुगंध और कहीं नहीं होती ऐसी महा सुगंध सहित गंधकुटी के ऊपर, देवों द्वारा बनाये गये अशोक वृक्ष को देखते ही सभी लोगों का शोक नष्ट हो जाता है, आकाश से कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा होती है । आकाश में साढ़े बारह करोड़ जाति के बाजों की ऐसी मधुर ध्वनि होती है, जिसे सुनने मात्र से क्षुधा, तृषा आदि सभी रोग वेदना नष्ट हो जाते हैं । रत्नजड़ित सिंहासन सूर्य की कांति को जीतता सा लगता है ।

जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि की अद्भुत महिमा है । त्रिलोकवर्ती जीवों का परम उपकार करनेवाली है, मोहांधकार का नाश करती है, सभी जीव अपनी-अपनी भाषा में शब्द-अर्थ समझ लेते हैं, सभी जीवों को संशय नहीं रह जाता है, स्वर्ग-मोक्ष के मार्ग को प्रकट करती है । दिव्यध्वनि की महिमा वचन द्वारा गणधर, इंद्रादि कोई कहने में समर्थ नहीं हैं । जिन के समोशरण में सिंह-हाथी, व्याघ्र-गाय, बिल्ली-हंस इत्यादि जाति विरोधी जीव अपनी बैर बुद्धि छोड़कर परस्पर मित्र हो जाते हैं ।

वीतरागता की अद्भुत महिमा है – असंख्यात देव जिनेन्द्रदेव की जय-जयकार करते हैं, उनकी निकटता पाकर के देवों द्वारा रचे कलश, झारी, दर्पण, ध्वजा, ठोना, छत्र, चमर, बीजना-ये अष्ट अचेतन द्रव्य भी लोक में मंगलपने को प्राप्त हो जाते हैं ।

केवलज्ञान होने के पश्चात् **दश अतिशय** प्रकट होते हैं - चारों तरफ सौ-सौ योजन सुभिक्षता, आकाश में गमन, भूमि का स्पर्श नहीं होना, उनसे किसी भी प्राणी का घात नहीं होना, उपसर्ग का अभाव, चार मुख दिखना, समस्त विद्याओं का ईश्वरपना, छाया रहितपना, नेत्रों के पलक नहीं झपकना, नख-केश नहीं बढ़ना । ये दश अतिशय घातिया कर्मों का नाश होने से स्वयं प्रकट हो जाते हैं ।

तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से देवों द्वारा किये **चौदह अतिशय** होते हैं - अर्द्ध मागधीभाषा, समस्त जन समूह में मैत्री भाव, सभी ऋतुओं के फल-फूल-पत्तों सहित वृक्षों का हो जाना, पृथ्वी

का तृणकंटक-रज रहित दर्पण समान रत्नमयी हो जाना, शीतल-मंद-सुगंध पवन का चलना, सभी जीवों के आनंद प्रकट हो जाना, अनुकूल पवन चलना, सुगंधित जल की वृष्टि से भूमि का धूल रहित हो जाना, जहाँ-जहाँ चरण रखते जाते हैं वहाँ-वहाँ सात आगे, सात पीछे, सात दायें, सात बायें तथा एक बीच में ऐसे पंद्रह-पंद्रह कमलों की पंद्रह पंक्तियों में कुल दो सौ पच्चीस कमलों की देव रचना करते जाते हैं, आकाश ऊपर निर्मल हो जाता है, दिशायें चारों तरफ निर्मल हो जाती हैं, चारों निकाय के देव जय-जयकार शब्द बोलते हैं, धर्मचक्र एकहजार किरणों की आरां सहित अपने प्रकाश से सूर्य मंडल का भी तिरस्कार करता हुआ आगे-आगे चलता जाता है, व अष्ट मंगल द्रव्य । ये चौदह देवकृत अतिशय प्रकट होते हैं ।

क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, अरति, चिंता, स्वेद, खेद, मद, निद्रा - इन अठारह दोष रहित अरहंत की वंदना, स्तवन, ध्यान करो । सुख को प्राप्त करानेवाले अरहंत हैं, उनका स्तवन करना चाहिये । यह अरहन्त भक्ति संसार समुद्र से तारने वाली है, उसका निरन्तर चिंतवन करो । अर्हन्त के गुणों की अपेक्षा तो अनंत नाम हैं, तथा भक्ति से भरे इंद्र ने भगवान का एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन किया है । जो अल्प सामर्थ्य के धारी हैं वे भी अपनी शक्ति प्रमाण पूजन, वंदन, स्तवन, नमस्कार, ध्यान करें ।

अरहन्त भक्ति संसार समुद्र से तारनेवाली ही है । **सम्यग्दर्शन में तथा अरहन्त भक्ति में नाम भेद है, अर्थ भेद नहीं है** । अरहन्त भक्ति नरकादि गति को हरनेवाली है । जो इस भक्ति की पूजन, स्तवन करके अर्घ उतारण करते हैं वे देवों का सुख भोगकर, फिर मनुष्य का सुख भोगकर अविनाशी सुख के धारी अक्षय अविनाशी सिद्धों के जैसे सुख को प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार अरहन्त भक्ति नाम की दशवीं भावना का वर्णन किया । १० ।

आचार्य भक्ति भावना

अब आचार्य भक्ति नाम की ग्यारहवीं भावना का वर्णन करते हैं, वही गुरुभक्ति है । वे धन्यभाग्य हैं, जिन्हें वीतराग गुरुओं के गुणें में अनुराग होता है । धन्य पुरुषों के मस्तक के ऊपर गुरुओं की आज्ञा प्रवर्तती है । आचार्य तो अनेक गुणों की खान हैं, श्रेष्ठ तप के धारक हैं । इसलिये अपने मन में इनके गुणों को स्मरण करके पूजिये, अर्घ उतारण कीजिये, उनके आगे पुष्पांजलि क्षेपिये, जिससे मुझे ऐसे गुरुओं के चरणों की शरण ही प्राप्त होवे ।

आचार्य का स्वरूप : कैसे होते हैं आचार्य ? जिनका अनशन आदि बारह प्रकार के उज्ज्वल तपों में निरन्तर उद्यम है, छह आवश्यक क्रियाओं में सावधान हैं, पंचाचार के धारक हैं, दशलक्षण धर्मरूप जिनकी परिणति है, मन-वचन-काय की गुप्ति सहित हैं, ऐसे छत्तीस गुणों के धारी आचार्य होते हैं । सम्यग्दर्शनाचार को निर्दोष धारण करते हैं । सम्यग्ज्ञान की शुद्धता से युक्त हैं । तेरह प्रकार के चारित्र की शुद्धता के धारक हैं । तपश्चरण में उत्साह युक्त हैं, तथा अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हुए बाईस परीषहों को जीतने में समर्थ, ऐसे निरन्तर पञ्च आचार के धारक हैं ।

अंतरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, निर्ग्रन्थ मार्ग में गमन करने में तत्पर हैं, उपवास बेला-तेला पंचोपवास, पक्षोपवास, मासोपवास करने में तत्पर हैं, तथा निर्जन वन में पर्वतों के दराड़े में गुफाओं के स्थान में निश्चल शुभ ध्यान में मन को धारते हैं।

शिष्यों की योग्यता को अच्छी तरह से जानकर दीक्षा देने में व शिक्षा करने में निपुण हैं, युक्ति से सब प्रकार के नयों के जाननेवाले हैं, अपने शरीर से ममत्व छोड़कर रहते हैं, रात्रि-दिन संसार कूप में पतन हो जाने से भयवान हैं। जिन्होंने मन-वचन-काय की शुद्धता सहित नासिका के अग्रभाग में नेत्रयुगल को स्थापित किया है, ऐसे आचार्य को मस्तक सहित अपने सभी अंगों को पृथ्वी में नवाकर वंदन करना चाहिये। उन आचार्यों के चरणों के स्पर्श से पवित्र हुई रज को अष्ट द्रव्य से पूजिये। इस प्रकार संसार परिभ्रमण के क्लेश को नष्ट करनेवाली आचार्य भक्ति है।

आचार्य के विशेष गुण : अब यहाँ ऐसा विशेष जानना - जो आचार्य हैं वे समस्त धर्म के नायक हैं, आचार्यों के आधार से समस्त धर्म है। अतः इन गुणों के धारक को ही आचार्य होना चाहिये।

बड़े राजाओं के, राजा के मंत्री के, महान श्रेष्ठियों के कुल में उत्पन्न हुए हों; जिनके स्वरूप को देखते ही परिणाम शांत हो जांय ऐसे मनोहर रूप वाले हों; जिनका उच्च आचार जगत में प्रसिद्ध हो; पहले गृहस्थ अवस्था में भी कभी हीन आचार निंद्य व्यवहार नहीं किया हो; वर्तमान भोग सम्पदा छोड़कर विरक्तता को प्राप्त हुए हों, लौकिक व्यवहार तथा परमार्थ के ज्ञाता हों; बुद्धि की प्रबलता तथा तप की प्रबलता के धारक हों।

संघ के अन्य मुनियों से जैसा तप नहीं बन सके वैसे तप के धारक हों; बहुत काल के दीक्षित हों; बहुत काल तक गुरुओं का चरणसेवन किया हो, वचन में अतिशय सहित हों; जिनके वचन सुनते ही धर्म में दृढ़ता हो, संशय का अभाव हो, जो संसार-शरीर-भोगों से दृढ़-निश्चल विरागता वाले हों; सिद्धान्त सूत्र के अर्थ के पारगामी हों; इंद्रियों का दमन करके इसलोक-परलोक संबंधी भोग-विलास रहित हों; देहादि में निर्ममत्व हों, महाधीर हो; उपसर्ग-परीषहों से जिनका चित्त कभी चलायमान नहीं हो। यदि आचार्य ही विचलित हो जांय तो सकल संघ भ्रष्ट हो जाये, धर्म का लोप हो जाये।

स्वमत परमत के ज्ञाता हों, अनेकान्त विद्या में क्रीड़ा करनेवाले हों, अन्य के प्रश्न आदि का कायरता रहित तत्काल उत्तर देनेवाले हों, एकान्त पक्ष का खंडन कर सत्यार्थ धर्म की स्थापना करने की जिनमें सामर्थ्य हो, धर्म की प्रभावना करने में उद्यमी हों, गुरुओं के निकट प्रायश्चित आदि शास्त्र पढ़कर छत्तीस गुणों के धारक हों उन्हें समस्त संघ की साक्षी पूर्वक गुरुओं का दिया आचार्य पद प्राप्त होता है। जो इतने गुणों का धारक हो उसी को आचार्यपना होता है। इन गुणों के बिना यदि आचार्य होगा तो धर्मतीर्थ का लोप हो जायेगा, उन्मार्ग (विपरीत) की प्रवृत्ति हो जायेगी, समस्त संघ स्वेच्छाचारी हो जायेगा, शास्त्र की परिपाटी तथा आचार की परिपाटी टूट जायेगी।

आचार्य के आठ गुण : आचार्य के अन्य अष्ट गुण हैं जिनका धारण करनेवाला ही आचार्य होना चाहिये - आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, प्रकर्त्ता, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्रावी, निर्यापक - ये आठ गुण हैं ।

आचारवान : जो पाँच प्रकार का आचार धारण करता है, उसे आचारवान कहते हैं । भगवान सर्वज्ञ वीतराग देव ने अपने दिव्य निरावरण ज्ञान द्वारा जीवादि तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखकर कहा है, उनमें सम्यक्श्रद्धान रूप परिणति होना वह दर्शनाचार है । स्वपर तत्त्वों का निर्बाध आगम और आत्मानुभव से जाननेरूप प्रवृत्ति वह ज्ञानाचार है । हिंसादि पाँच पापों के अभावरूप प्रवृत्ति वह चारित्राचार है । अंतरंग-बहिरंग तप में प्रवृत्ति वह तपाचार है । परीषह आदि आने पर अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर धीरतारूप प्रवृत्ति वह वीर्याचार है । और भी दश प्रकार के स्थिति कल्प आदि आचार में तत्पर हो।

समिति-गुप्ति आदि का कथन करें तो कथन बहुत बढ़ जायेगा । पाँच प्रकार का आचार आप स्वयं निर्दोष पाले, तथा अन्य शिष्यों को भी निर्दोष आचरण कराने में उद्यमी हो वही आचार्य है। **यदि आचार्य स्वयं ही हीनाचारी हो तो वह शिष्यों से शुद्ध आचरण नहीं करा सकेगा ।** जो हीनाचारी होगा वह आहार, विहार, उपकरण, वसतिकादि अशुद्ध ग्रहण करा देगा । जो स्वयं ही आचारहीन होगा वह शुद्ध उपदेश नहीं कर सकेगा । इसलिये आचार्य को आचारवान ही होना चाहिये । १ ।

आधारवान : जिनके जिनेन्द्र का कहा चारों अनुयोग का आधार हो, स्याद्वाद विद्या का पारगामी हो, शब्द विद्या, न्याय विद्या, सिद्धान्त विद्या का पारगामी हो । **प्रमाण, नय, निक्षेप द्वारा व स्वानुभव के द्वारा भली प्रकार से जिसने तत्त्वों का निर्णय किया हो वह आधारवान है ।** जिसके श्रुत का आधार नहीं हो वह अन्य शिष्यों का संशय, एकान्तरूप हट तथा मिथ्याचरण का निराकरण नहीं कर सकेगा।

अनंतानंत काल से परिभ्रमण करते आये जीव को अति दुर्लभ मनुष्य जन्म की प्राप्ति, उसमें भी उत्तम देश, जाति, कुल, इन्द्रियों की पूर्णता, दीर्घायु, सत्संगति, श्रद्धान, ज्ञान, आचरण- ये उत्तरोत्तर दुर्लभ संयोग पाकर, यदि अल्पज्ञानी गुरु के पास रहनेवाला शिष्य हुआ तो वह सत्यार्थ उपदेश नहीं प्राप्त करने के कारण, अपना स्वरूप यथार्थ नहीं जानकर संशयरूप हो जायेगा तथा मोक्षमार्ग को अतिदूर अतिकठिन जानकर रत्नत्रय मार्ग से विचलित हो जायेगा ।

सत्यार्थ उपदेश बिना विषय कषायों में उलझे मन को निकालने में समर्थ नहीं होगा, तथा रोगकृत वेदना में व उपसर्ग परिषहों से विचलित हुये भावों को शास्त्र के अतिशयरूप उपदेश बिना थामने को समर्थ नहीं होगा; यदि मरण आ जाये तब संन्यास के अवसर में आहार-पान का त्याग का यथा अवसर देश-काल सहायक-सामर्थ्य के क्रम को समझे बिना शिष्य के भाव विचलित हो जायें या आर्तध्यान हो जाये तो सुगति बिगड़ जायेगी, धर्म का अपवाद होगा, अन्य मुनि भी धर्म में शिथिल हो जायेंगे, यह तो बड़ा अनर्थ है ?

यह मनुष्य आहारमय है, आहार से ही जी रहा है, आहार की ही निरन्तर वांछा करता है । जब रोग के कारण तथा त्याग कर देने से आहार छूट जाता है तथा दु:ख से ज्ञान-चारित्र में शिथिल

हो जाता है, धर्मध्यान रहित हो जाता है, तब बहुश्रुतगुरु ऐसा उपदेश देते हैं जिससे क्षुधा-तृषा की वेदना रहित होकर उपदेशरूप अमृत से सींचा हुआ समस्त क्लेशरहित हुआ धर्मध्यान में लीन हो जाता है। क्षुधा, तृषा, रोगादि की वेदना सहित शिष्य को धर्म के उपदेश रूप अमृत का पानी तथा उत्तम शिक्षा रूप भोजन द्वारा ज्ञानसहित गुरु ही वेदना रहित करते हैं। बहुश्रुती के आधार बिना धर्म नहीं रहता है। इसलिये **जो आधारवान आचार्य हो उसी की शरण ग्रहण करना योग्य है।**

यदि शिष्य वेदना से दुःखी हो रहा हो तो उसका शरीर सहलाना, हाथ पैर मस्तक दाबना, मीठे शब्द बोलना इत्यादि द्वारा दुःख दूर करे। पूर्व में जो अनेक साधुओं ने घोर परिषह सहकर आत्मकल्याण किया उनकी कथा कहकर **देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कराकर वेदना रहित करे।** हे मुने! अब दुःख में धैर्य धारण करो, संसार में कौन-कौन से दुःख नहीं भोगे? यदि वीतरागी की शरण ग्रहण करोगे तो दुःखों का नाश करके कल्याण को प्राप्त हो जाओगे - इत्यादि बहुत प्रकार से कहकर मार्ग से विचलित नहीं होने दे, ऐसा आधारवान गुरु ही शरण लेने योग्य है। २।

व्यवहारवान : आचार्य को व्यवहार प्रायश्चित शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये, क्योंकि प्रायश्चित शास्त्र तो जो आचार्य होने के योग्य होता है उसी को पढ़ाया जाता है, औरों के पढ़ने योग्य नहीं है। जो जिन आगम का ज्ञाता हो, महाधैर्यवान हो, प्रबलबुद्धि का धारक हो वही प्रायश्चित दे सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, क्रिया, परिणाम, उत्साह, संहनन, पर्याय, दीक्षा का काल, शास्त्र ज्ञान, पुरुषार्थ आदि को अच्छी तरह जानकर जो राग-द्वेष रहित होता है वही प्रायश्चित देता है।

जिसमें इतनी प्रवीणता हो कि यह जान सके कि प्रायश्चित लेनेवाले को कितना प्रायश्चित देने पर उसके परिणाम उज्ज्वल हो जायेंगे, दोष का अभाव हो जायेगा, व्रतों में दृढ़ता होगी, ऐसा ज्ञाता हो। जिसे आहार की योग्यता-अयोग्यता का ज्ञान हो, इस क्षेत्र में ऐसे प्रायश्चित का निर्वाह होगा या नहीं होगा, इस क्षेत्र में वात-पित्त-कफ-शीत-उष्णता की अधिकता है, या समपना है, अथवा इस क्षेत्र में मिथ्यादृष्टियों की अधिकता है या मंदता है, धर्मात्माओं की अधिकता है या मंदता है, यह जानकर प्रायश्चित का निर्वाह होता दिखाई दे तो प्रायश्चित देना चाहिये।

शीत-उष्ण-वर्षाकाल को, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का तीसरा, चौथा, पंचम काल को देखकर, काल के आधीन प्रायश्चित का निर्वाह होता दिखाई दे तो प्रायश्चित दे।

परिणाम देखना चाहिये, यह भी देखना कि तपश्चरण में इसका तीव्र उत्साह है या मंद है। संहनन की हीनता-अधिकता, बल की मंदता-तीव्रता भी देखना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि यह बहुत काल का दीक्षित है या नवीन दीक्षित है, सहनशील है या कायर है, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था भी देखना चाहिये; आगम का ज्ञाता है या मंद ज्ञानी, पुरुषार्थी है या मंद उद्यमी है - इत्यादि का ज्ञाता होकर प्रायश्चित देना चाहिये।

दोषरूप आचरण जिस प्रकार फिर नहीं करे तथा पूर्व में किये दोष दूर हो जाँय, उस प्रकार शास्त्र के अनुकूल प्रायश्चित देना चाहिये। जिसने गुरुओं के निकट प्रायश्चित शास्त्र से व अर्थ

से पढ़ा नहीं, वही यदि दूसरों को प्रायश्चित देता है तो संसाररूप कीचड़ में डूबता है, अपयश उपार्जन करता है तथा उन्मार्ग का उपदेश देकर सम्यङ्मार्ग का नाश करके मिथ्यादृष्टि होता है । जो इतने गुणों का धारक हो उसे प्रायश्चित शास्त्र पढ़ाकर गुरु अपना आचार्य पद दे देते हैं ।

जो महान.काल में उत्पन्न हुआ हो, व्यवहार-परमार्थ का ज्ञाता हो, **किसी भी काल में अपने मूल गुणों में अतिचार नहीं लगाता हो, चारों अनुयोगरूप शास्त्रसमुद्र का पारगामी हो,** धैर्यवान हो, कुलवान हो, परीषह जीतने में समर्थ हो, देवों द्वारा किये गये उपसर्ग से भी जो चलायमान नहीं हो, वक्तापने की शक्ति का धारक हो, वादी-प्रतिवादी को जीतने में समर्थ हो, विषयों से अत्यन्त विरक्त हो, बहुत समय तक गुरुसंघ में रहा हो, सर्वसंघ के मान्य हो, समस्त संघ ने पहले ही जिसमें आचार्यपने की योग्यता जान ली हो, जिसे गुरुओं का दिया प्रायश्चित शास्त्र का ज्ञाता होकर आचार्यपने की योग्यता जान ली हो, वह **प्रायश्चित देता** है । इतने गुणों बिना, जैसे मूढ़ वैद्य यदि देश, काल, प्रकृति आदि को नहीं जानता है तो वह रोगी को मार डालता है, उसी प्रकार व्यवहार ज्ञान रहित मूढ़ गुरु भी शिष्य को संसार में डुबोनेवाला ही है । इसलिये आचार्य को व्यवहारवान होना ही चाहिये । ३ ।

प्रकर्त्ता : आचार्य को प्रकर्त्ता गुण सहित होना चाहिये । संघ में कोई रोगी हो, वृद्ध हो, अशक्त हो, बालक हो जिसने सन्यास धारण कर लिया हो उनकी वैयावृत्य में नियुक्त किये गये मुनि तो सेवा करते ही हैं, परन्तु स्वयं आचार्य भी यदि संघ के मुनियों में कोई अशक्त हो जाये तो उसे उठाना, बैठाना; शयन कराना, मल-मूत्र-कफ तथा खून-पीव आदि शरीर से दूर करना, धोना, उठाना, प्रासुक स्थान में फेकना, धर्मोपदेश देना, धर्मग्रहण कराना इत्यादि आदर पूर्वक भक्तिसहित वैयावृत्य करें । उनको देखकर संघ के सभी मुनि वैयावृत्य करने में सावधान हो जाते हैं तथा विचार करते हैं :-

अहो ! धन्य हैं यह गुरु भगवान परमेष्ठी करुणानिधान, जिनके धर्मात्मा में ऐसा वात्सल्य है। हम महानिंद्य हैं, आलसी हो रहे हैं, हमारे होते हुए भी गुरु सेवा करें - यह हमारा प्रमादीपना धिक्कारने योग्य है, बंध का कारण है । ऐसा विचार कर समस्त संघ वैयावृत्य में उद्यमी हो जाता है ।

यदि आचार्य स्वयं प्रमादी हो तो सकलसंघ वात्सल्य रहित हो जाये । इसलिये आचार्य का कर्तृत्य गुण मुख्य है । समस्त संघ की वैयावृत्य करने की जिसमें क्षमता हो वह आचार्य होता है। कोई हीन आचारी हो तो उसे शुद्ध आचार ग्रहण कराते हैं, कोई मंद ज्ञानी हो तो उसे समझाकर चारित्र में लगाते हैं, किसी को प्रायश्चित देकर शुद्ध करते है, किसी को धर्मोपदेश देकर दृढ़ता कराते हैं । धन्य हैं आचार्य ! जिनको उनकी शरण प्राप्त हो गई उनको मोक्षमार्ग में लगाकर उद्धार कर देते हैं । इसलिये आचार्य का प्रकर्त्तागुण प्रधान है । ४ ।

अपायोपाय – विदर्शी : अपायोपाय - विदर्शी नाम का आचार्य का पाँचवाँ गुण है । कोई साधु क्षुधा, तृषा, रोग वेदना से क्लेशित परिणामरूप हो जाये, तीव्र राग-द्वेष रूप हो जाये, लज्जा से- भय से यथावत् आलोचना नहीं करे, रत्नत्रय में उत्साह रहित हो जाये, धर्म में शिथिल हो जाये उसे अपाय अर्थात् रत्नत्रय का नाश, उपाय अर्थात् रत्नत्रय की रक्षा का प्रकट ऐसा गुण-दोष दिखाये कि

वह रत्नत्रय के नाश होने से कांपने लगे तथा रत्नत्रय के नाश से अपना नाश व नरकादि कुगति में पतन साक्षात् दिखाई देने लगे। रत्नत्रय की रक्षा से संसार से उद्धार होकर अनन्त सुख की प्राप्ति उपदेश द्वारा साक्षात् दिखला दें, ऐसा उपदेश देने की सामर्थ्य जिसमें हो वह अपायोपाय - विदर्शी का धारक आचार्य होता है। यहाँ उपदेश लिखने से कथन बहुत हो जायेगा, इसलिये नहीं लिखा है। ५।

अवपीड़क : अब अवपीड़क नाम का छठाँ गुण कहते हैं। कोई मुनि रत्नत्रय धारण करके भी लज्जा से, भय से, अभिमान, गौरव आदि से अपनी शुद्ध यथावत् आलोचना (भूल स्वीकार करना) नहीं करता है तो आचार्य उसे स्नेह से भरी, कानों को मीठी, तथा हृदय में प्रवेश करने वाली शिक्षा देते हैं - हे मुने ! बहुत दुर्लभ रत्नत्रय के लाभ को तुम मायाचारी द्वारा नष्ट नहीं करो। **माता-पिता के समान अपने गुरुओं के पास अपना दोष प्रकट करने में क्या शर्म है ?** वात्सल्य के धारी गुरु भी अपने शिष्य के दोष प्रकट करके शिष्य का तथा धर्म का अपवाद नहीं कराते हैं। अतः शल्य दूर करके आलोचना करो। जिस प्रकार रत्नत्रय की शुद्धता व तपश्चरण का निर्वाह होगा उसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार तुम्हें प्रायश्चित दिया जायेगा। अतः भय छोड़कर निर्दोष आलोचना करो।

जो ऐसे स्नेहरूप वचनों द्वारा भी माया शल्य नहीं छोड़ता है, तो तेज के धारी आचार्य जबरदस्ती से शिष्य की शल्य को निकालते हैं। जिस समय आचार्य शिष्य से पूछते हैं कि - 'हे मुने ! क्या यह दोष ऐसा ही है, सत्य कहो ?' तब उनके तेज व तप के प्रभाव से, **जैसे सिंह को देखते ही स्यार खाते हुए मांस को तत्काल उगल देता है, तथा जैसे महान प्रचण्ड तेजस्वी राजा अपराधी से पूँछता है तब उससे तत्काल सत्य कहते ही बनता है, उसी प्रकार शिष्य भी माया शल्य को निकाल देता है।**

यदि शिष्य सत्य नहीं बोलकर अपना मायाचार नहीं छोड़ता है, तो गुरु तिरस्कार के वचन भी कहते हैं -'हे मुने ! हमारे संघ से निकल जाओ, हमसे तुम्हारा क्या प्रायोजन है ? जो अपने शरीर का मैल धोना चाहेगा वह निर्मल जल से भरे सरोवर को प्राप्त करेगा, जो अपने महान रोग को दूर करना चाहेगा वह प्रवीण वैद्य को प्राप्त करेगा। उसी प्रकार जो रत्नत्रयरूप परमधर्म का अतिचार दूर करके उज्ज्वल करना चाहेगा वह गुरु का आश्रय लेगा। **तुम्हें रत्नत्रय की शुद्धता करने में आदर नहीं है इसलिये यह मुनिपना, व्रतधारण करना, नग्न होकर क्षुधादि परीषह सहने की विडंबना द्वारा क्या साध्य है ?** संवर-निर्जरा तो कषायों को जीतने से होती है, जब माया कषाय का ही त्याग नहीं किया तो व्रत, संयम, मौन धारण करना व्यर्थ है। मायाचारी का नग्न रहना और परीषह सहना व्यर्थ है। तिर्यंच भी परिग्रह रहित नग्न रहते हैं। अतः तुम दूरभव्य हो, हमारे वंदने योग्य नहीं हो। तुम्हारे भाव तो ऐसे हैं कि यदि हमारा दोष प्रकट हो जायेगा तो हम निंद्य हो जायेंगे, हमारा उच्चपना घट जायेगा, किन्तु तुम्हारा ऐसा मानना बंध का कारण है। **श्रमण तो स्तुति-निंदा में समान परिणाम रखनेवाले होते हैं।**' इस प्रकार गुरु कठोर वचन कहकर भी मायाचार आदि का अभाव कराते हैं।

कैसे होते हैं अवपीड़क आचार्य ? जो बलवान हो, उपसर्ग-परीषह आने पर कायर नहीं हो, प्रतापवान हो, जिसका वचन उल्लंघन करने में कोई समर्थ नहीं हो । प्रभाववान हो, जिसे देखने के साथ ही दोष का धारक साधु कांपने लगे, जिसे बड़े-बड़े विद्या के धारक झुककर वंदना करते हों, जिसकी उज्ज्वल कीर्ति विख्यात होती है, जिसकी प्रसंशा सुनते ही उसके गुणों में दृढ़ श्रद्धा हो जाती हो, जिसके वचन जगत में देखे बिना ही दूर देशों में प्रमाण माने जाते हों, सिंह के समान निर्भय हो । ऐसा अवपीड़कगुण का धारक गुरु जिस प्रकार शिष्य का हित हो उस प्रकार से उपकार करता है । जैसे बालक का हित विचारनेवाली माता रोते हुये बालक को भी दाबकर मुंह खोलकर जबरदस्ती घृत, दुग्ध, औषधि आदि पिलाती है, उसी प्रकार शिष्य का हित विचारने वाले आचार्य भी माया शल्यसहित-शिष्यमुनि का जबरदस्ती दोष दूर करते हैं, अथवा कटुक औषधि के समान पश्चात् हित करते हैं। **जो जिह्वा से मीठा बोले किन्तु शिष्य को दोषों से नहीं छुड़ावे, वह गुरु भला नहीं है ।** जो वचन से ताड़ना देकर भी दोषों से छुड़ाता है, वह गुरु पूजने योग्य है । अत: अवपीड़कगुण का धारक ही आचार्य होता है । ६ ।

अपरिस्रावी : अब अपरिस्रावी गुण कहते हैं । शिष्य जिस दोष की गुरु से आलोचना करता है, गुरु उस दोष को किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं । जैसे तपाये हुए लोहे के द्वारा पिया हुआ जल बाहर नहीं निकलता है, उसी प्रकार शिष्य से सुने हुए दोष को आचार्य किसी दूसरे को नहीं बताते हैं - वह अपरिस्रावी गुण है । **शिष्य तो गुरु का विश्वास करके कहता है, किन्तु यदि गुरु शिष्य का दोष प्रकट कर देता है, दूसरों को बता देता है तो वह गुरु नहीं है, अधम है, विश्वासघाती है ।**

कोई शिष्य अपने दोष को गुरु के द्वारा प्रकट किया गया जानकर दु:खी होकर आत्मघात कर लेता है, कोई क्रोध में आकर रत्नत्रय का त्याग कर देता है, कोई गुरु की दुष्टता जानकर अन्य संघ में चला जाता है । 'जैसे मेरी अवज्ञा की है वैसे ही तुम्हारी भी अवज्ञा करूँगा' - इस प्रकार समस्त संघ में प्रकट घोषणा कर देता है, जिससे समस्त संघ का आचार्य पर से विश्वास उठ जाता है, आचार्य सभी के त्याज्य हो जाता है इत्यादि बहुत दोष आते हैं । बहुत कहने से कथन बढ़ जायेगा, अत: अपरिस्रावी गुण का धारक ही आचार्य होना चाहिये । ७ ।

निर्यापक : आचार्य को निर्यापक गुणधारी होना चाहिये । **जैसे खेवटिया समस्त बाधाओं को टालकर नाव को पार उतार ले जाता है उसी प्रकार आचार्य भी शिष्यों को अनेक विघ्नों से बचाकर संसार समुद्र से पार करा देता है ।** ८ ।

इस प्रकार आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, प्रकर्त्ता, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्रावी, निर्यापक - आचार्य के इन आठ गुणों को धारण करनेवालों के गुणों में अनुराग करना वह आचार्य भक्ति है । ऐसे आचार्यों के गुणों को स्मरण करके आचार्यों का स्तवन वंदन करके अर्घ उतारण जो पुरुष करता है, वह पापरूप संसार की परिपाटी को नष्ट करके अक्षय सुख को प्राप्त करता है, ऐसा वीतरागी गुरु कहते हैं। इस प्रकार आचार्यभक्ति भावना का वर्णन किया । ११ ।

बहुश्रुतभक्ति भावना

अब बहुश्रुत भक्ति नाम की बारहवीं भावना का वर्णन करते हैं। जो अंग-पूर्व आदि के ज्ञाता हैं, चारों अनुयोग के पारगामी होकर निरन्तर स्वयं परमागम को पढ़ते हैं, अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, वे बहुश्रुती हैं। श्रुतज्ञान ही जिनके दिव्य नेत्र हैं, अपना तथा पर का हित करने में ही प्रवर्तते हैं, अपने जिन-सिद्धांतों तथा अन्य एकान्तियों के सिद्धांतों को विस्तार से जानने वाले, स्याद्वादरूप परम विद्या के धारक हैं, उनकी भक्ति करना वह बहुश्रुतभक्ति है। बहुश्रुती की महिमा कहने को कौन समर्थ है ? जो निरन्तर श्रुज्ञान का दान करते हों ऐसे उपाध्यायों की जो विनय सहित भक्ति करते हैं वे शास्त्ररूप समुद्र के पारगामी हो जाते हैं। **जितने भी अंग, पूर्व, प्रकीर्णक जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं उन समस्त जिनागमों को जो निरंतर स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य को पढ़ाते हैं, वे बहुश्रुती हैं।**

द्वादशांग : प्रथम **आचारांग** के अठारह हजार १८,००० पदों में मुनिधर्म का वर्णन है।१।

सूत्रकृतांग के छत्तीस हजार ३६,००० पदों में जिनेन्द्र के श्रुत के आराधन करने की विनयक्रिया का वर्णन है। २।

स्थानांग के बियालीस हजार ४२,००० पदों में छ: द्रव्यों के एक-अनेक स्थानों का वर्णन है। ३।

समवायांग के एक लाख चौंसठ हजार १, ६४,००० पदों में जीवादि पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समानता की अपेक्षा से वर्णन है। ४।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग के दो लाख अट्ठाईस हजार २,२८,००० पदों में जीव अस्ति है या नास्ति है, एक है या अनेक है इत्यादि गणधर द्वारा तीर्थंकर के निकट किये गये साठ हजार प्रश्नों का वर्णन है। ५।

ज्ञातृधर्मकथा अंग के पाँच लाख छप्पन हजार ५,५६,००० पदों में गणधर द्वारा किये प्रश्नों के उत्तररूप जीवादि द्रव्यों के स्वभाव का वर्णन है। ६।

उपासकाध्ययनांग के ग्यारह लाख सत्तर हजार ११,७०,००० पदों में श्रावक के (ग्यारह प्रतिमा) व्रत, शील, आचार, क्रिया, मंत्रादि का वर्णन है। ७।

अंतकृतदशांग के तेईस लाख अट्ठाईस हजार २३,२८,००० पदों में एक-एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में दश-दश मुनि उपसर्ग सहित होकर संसार का अन्त करके निर्वाण प्राप्त किया, उनका वर्णन है। ८।

अनुत्तरोपपाद दशांग के बानवै लाख चबालीस हजार ९२,४४,००० पदों में एक-एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में दश-दश मुनि भंयकर घोर उपसर्ग सहकर देवों द्वारा पूजित होकर (समाधिमरण करके) विजय आदि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए, उनका वर्णन है। ९।

प्रश्नव्याकरणांग के तेरानवै लाख सोलह हजार ९३,१६,००० पदों में नष्ट हो गई, मुट्ठी में रखी हुई, लाभ, हानि, सुख, दु:ख, जीवन, मरण, (हार, जीत, चिन्ता) के संबंध में किये गये प्रश्नों का (भूत, भविष्य, वर्तमान की अपेक्षा से दिये गये उत्तर का) वर्णन है। १०।

विपाकसूत्रांग के एक करोड़ चौरासी लाख १,८४,००,००० पदों में कर्मों का उदय, उदीरणा, सत्ता का वर्णन है ।११ ।(इस प्रकार ग्यारह अंगों का चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार ४,१५,०२,००० पदों में वर्णन किया है ।)

दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के (एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच १०८,६८,५६,००५ पदों में **मिथ्यादर्शन को दूर करने का वर्णन है** । दृष्टिवाद अंग के) पाँच भेद हैं – परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व, चूलिका ।१२। (**बारह अंगों में कुल एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच १,१२,८३,५८,००५ पद हैं**)

परिकर्म : दृष्टिवाद अंग के प्रथम भेद परिकर्म के भी पाँच भेद हैं । चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति ।

चंद्रप्रज्ञप्ति के छत्तीस लाख पाँच हजार ३६,०५,००० पदों में चंद्रमा की आयु, गति, कला की हानि-वृद्धि, देवी, वैभव, परिवार आदि का वर्णन है । १ ।

सूर्यप्रज्ञप्ति के पाँच लाख तीन हजार ५,०३,००० पदों में सूर्य की आयु गति, वैभव आदि का वर्णन है । २ ।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के तीन लाख पच्चीस हजार ३,२५,००० पदों में जंबूद्वीप संबंधी क्षेत्र, पर्वत, सरोवर, नदी आदि का वर्णन है । ३ ।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति के बावन लाख छत्तीस हजार ५२,३६,००० पदों में असंख्यात द्वीप समुद्रों का, मध्यलोक के अकृत्रिम जिन मंदिरों का, भवनवासी-व्यंतर-ज्योतिषी देवों के आवास का वर्णन है । ४ ।

व्याख्या प्रज्ञप्ति के चौरासी लाख छत्तीस हजार ८४,३६,००० पदों में जीव पुद्गलादि द्रव्य का वर्णन है । ५ ।

इस प्रकार पाँच प्रकार के परिकर्म का (एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार १,८१,०५,००० पदों में) वर्णन किया है ।

सूत्र : दृष्टिवाद अंग का **दूसरा भेद सूत्र** के अठासी लाख ८८,००,००० पदों में जीव अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, कर्त्ता ही है, भोक्ता ही है, इत्यादि क्रियावादी , अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी **एकान्तवादियों द्वारा कल्पित जीव के स्वरूप का एक पक्ष की अपेक्षा मात्र से ही वर्णन कैसा होता है, वह बताया है** ।

प्रथमानुयोग : दृष्टिवाद अंग का **तीसरा भेद प्रथमानुयोग** के पाँच हजार ५,००० पदों में विशेष ज्ञान रहित मिथ्यादृष्टि अव्रती को समझाने के लिये तिरेसठ शलाका महापुरुषों के चरित्र का वर्णन है ।

पूर्व – दृष्टिवाद अंग के **चौथे भेद** में चौदह पूर्व हैं ।

उत्पाद पूर्व के एक करोड़ १,००,००,००० पदों में **जीवादि द्रव्यों के** (अनेक प्रकार की नय विवक्षा से क्रमवर्ती - युगपत् अनेक धर्मों से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) **स्वभाव का** (भूत वर्तमान भविष्य कालों की अपेक्षा से ८१-८१ भेद करके) **वर्णन किया है** । १ ।

अग्रायणी पूर्व के छियानवै लाख ९६,००,००० पदों में द्वादशांग का सारभूत ज्ञान सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, सातसौ नय, दुर्नय आदि (प्रयोजनभूत बातों) का वर्णन है । २ ।

वीर्यानुवाद पूर्व के सत्तर लाख ७०,००,००० पदों में आत्मा का स्व-वीर्य, पर-वीर्य, दोनों का ल वीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भाववीर्य, तपोवीर्य, द्रव्य-गुण-पर्यायों का शक्ति रूप वीर्य का वर्णन है । ३ ।

अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व के साठ लाख ६०,००,००० पदों में जीवादि द्रव्यों का स्व-द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति तथा पर-द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति इत्यादि सात भेद (सप्त भंग) तथा नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि का विरोध रहित वर्णन है । ४ ।

ज्ञानप्रवाद पूर्व के एक कम एक करोड़ ९९,९९,९९९ पदों में मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवल-ये पांच सम्यग्ज्ञान, तथा कुमति, कुश्रुत, विभंग-ये तीन अज्ञान इनका स्वरूप, संख्या, विषय, फल की अपेक्षा प्रमाण - अप्रमाण रूप भेद सहित वर्णन है । ५ ।

सत्यप्रवाद पूर्व के छः अधिक एक करोड़ १,००,००,००६ पदों में वचन गुप्ति, वचन के संस्कार के कारण, वक्ता के भेद, बारह भाषा, दश प्रकार का सत्य, तथा बहुत प्रकार के असत्य वचनों का वर्णन है । ६ ।

आत्मप्रवाद पूर्व के छब्बीस करोड़ २६,००,००,००० पदों में आत्मा जीव है, कर्ता है, भोक्ता है, प्राणी है, वक्ता है, पुद्गल है, वेदक है, व्यापक (विष्णु) है, स्वयंभू है, शरीर सहित है, शक्तिवान है, जन्तु है, मानव है, मानी है, मायावी है, योगी है, संकोच-विस्तार वाला है, क्षेत्रज्ञ है, मूर्तिक है, इत्यादि स्वरूप का वर्णन है । ७ ।

कर्मप्रवाद पूर्व के एक करोड़ अस्सी लाख १,८०,००,००० पदों में कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, उपशमन, संक्रमण, निधत्ति, निकाचित आदि अवस्थारूप मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति आदि भेदों का तथा ईर्यापथ तपस्या, अधः कर्म आदि का वर्णन है । ८ ।

प्रत्याख्यान पूर्व के चौरासी लाख ८४,००,००० पदों में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जीवों के संहनन, बल आदि के अनुसार काल की मर्यादा सहित त्याग, पाप सहित पदार्थों का त्याग, उपवास की विधि व भावना, पाँच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि का वर्णन है । ९ ।

विद्यानुवाद पूर्व के एक करोड़ दश लाख १,१०,००,००० पदों में अंगुष्ठ, प्रेत्ससेन आदि सात सौ अल्पविद्याओं का, तथा रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का स्वरूप, सामर्थ्य, साधनभूत मंत्र-यंत्र-पूजा-विधान, सिद्ध हो जाने पर उनका फल तथा अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, छिन्न- **ये आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान का वर्णन है** । १० ।

कल्याणानुवाद पूर्व के छब्बीस करोड़ २६,००,००,००० पदों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण (वासुदेव), प्रतिनारायण के गर्भ कल्याणक आदि महोउत्सवों का तथा इन पदों का कारण षोडश भावना, तपश्चरण आदि क्रिया का, तथा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि की गति, ग्रहण, शकुन, फल आदि का वर्णन है । ११।

प्राणवाद पूर्व के तेरह करोड़ १३,००,००,००० पदों में शरीर की चिकित्सा का अष्टांग आयुर्वेद जो वैद्य विद्या उसका, तथा भूत-प्रेत आदि व्याधि दूर करने के कारणभूत मंत्रादि का, विष आदि दूर करनेवाली जांगलिका, तथा इला, पिंगला, सुषुम्ना आदि श्वासोच्छवास का तथा गति के अनुसार दश प्राणों को उपकारक-अनुपकारक द्रव्यों का वर्णन है । १२ ।

क्रियाविशाल पूर्व के नौ करोड़ ९,००,००,००० पदों में संगीत शास्त्र , छंद , अलंकार शास्त्र, बहत्तर कलायें, स्त्री के चौंसठ गुण, शिल्प विज्ञान, गर्भाधान आदि चौरासी क्रियायें सम्यग्दर्शन आदि की एक सौ आठ क्रियायें , पच्चीस देववंदनादि क्रियायें , तथा नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन है । १३ ।

त्रिलोकबिन्दुसार पूर्व के बारह करोड़ पचास लाख १२,५०,००,००० पदों में तीन लोकों का स्वरूप, छब्बीस परिकर्म , आठ व्यवहार, चार बीज आदि गणित, मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष गमन की कारणभूत क्रिया तथा मोक्ष सुख का वर्णन है ।१४। **इस प्रकार पंचानवै करोड़ पचास लाख पाँच ९५,५०,००,००५ पदों में चौदह पूर्व का वर्णन है ।**

दृष्टिवाद अंग का पाँचवा भेद चूलिका के पाँच भेद हैं - जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता, रूपगता । प्रत्येक चूलिका के दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ २,०९,८९,२०० पद हैं । पाँचों चूलिकाओं के कुल दश करोड़ उनंचास लाख छियालीस हजार १०,४९,४६,००० पद हैं ।

जलगता चूलिका में जल को रोकना, जल में गमन करना, अग्नि को रोकना, अग्नि खाना, अग्नि पर बैठना-चलना, अग्न में प्रवेश करना इत्यादि क्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन है । १ ।

स्थलगता चूलिका में मेरु आदि पर्वतों में , भूमि में प्रवेश तथा शीघ्र गमन इत्यादि क्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र तपश्चरणादि का वर्णन है । २ ।

मायागता चूलिका में मायारूप इंद्रजालादि विक्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र तपश्चरणादि का वर्णन है । ३ ।

आकाशगता चूलिका में आकाश में गमन के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन है । ४ ।

रूपगता चूलिका में सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, हिरण, व्याघ्र, खरगोश, मनुष्य, वृक्ष आदि के अनेक रूप बदलने के कारणभूत मंत्र, तंत्र तपश्चरणादि का, तथा चित्र, मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, लेप

आदि की कलाकारी तथा धातुवाद, रसवाद, खनिज आदि की चतुराई पूर्वक रचना करने का वर्णन है । ५ ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना – समस्त द्वादशांग के एक कम एकट्ठी ही के बराबर अक्षर हैं १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अपुनरुक्त अक्षर हैं । (६५५३६ × ६५५३६ × ६५५३६ × ६५५३६ = एकट्ठी तथा २×८×८×८×८×८ = पण्णट्ठी ६५५३६) । जो एक बार आने के बाद दूसरी बार नहीं आता है उसे अपुनरुक्त अक्षर कहते हैं । इनमें चौंसठ संयोग तक के अक्षर हैं । आगम में कहे मध्यम पद में सोलह सौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी १६३४८३०७८८८ अपुनरुक्त अक्षर हैं । इन अक्षरों में प्रमाण का भाग देने पर एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अठावन हजार पाँच पद आये उनमें समस्त द्वादशांग है ११२,८३,५८,००५ । शेष अक्षर आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर ८०१०८१७५ अंक रहे । इन अक्षरों का पूर्ण एक पद नहीं होता इसलिये इन्हें अंग बाह्य कहा है । उन अक्षरों के सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक हैं ।

प्रकीर्णकः समायिक प्रकीर्णक में मिथ्यात्व, कषायादि के क्लेश के अभावरूप नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से छः भेद रूप सामायिक का वर्णन है । १ ।

स्तवन प्रकीर्णक में चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, परम औदारिक दिव्य देह, समोशरण सभा धर्मोपदेश आदि तीर्थंकरों के माहात्म्य का प्रकाशरूप वर्णन है । २ ।

वंदना प्रकीर्णक में एक तीर्थंकर के आलंबनरूप चैत्यालय प्रतिमा का स्तवन रूप वर्णन है । ३ ।

प्रतिक्रमण प्रकीर्णक में प्रमाद जनित पूर्वकृत दोषों का निराकरण करने का वर्णन है । उसके सात भेद हैं – दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक(वार्षिक), ऐर्यापथिक, उत्तमार्थ (मरण के समय) । ४ ।

विनय प्रकीर्णक में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा उपचार स्वरूप पाँच प्रकार की विनय का वर्णन है । ५ ।

कृतिकर्म प्रकीर्णक में नव देवताओं - अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिन प्रतिमा, जिनमंदिर, जिनागम, जिनधर्म की वंदना के लिये, तीन प्रदक्षिणा, चार शिरोनति, तीन शुद्धि, दो नमस्कार, बारह आवर्त, इत्यादि नित्य-नैमित्तिक क्रिया का वर्णन है । ६ ।

दश वैकालिक प्रकीर्णक में साधु के आचार तथा आहार की शुद्धि का दश विशेष कालों से संबंधित वर्णन है । ७ ।

उत्तराध्ययन प्रकीर्णक में चार प्रकार के उपसर्ग तथा बाईस परीषहों के सहने का विधान उनका फल तथा उनसे संबंधित प्रश्नों के उत्तर का वर्णन है । ८ ।

कल्प व्यवहार प्रकीर्णक में साधु के योग्य आचरण का विधान, अयोग्य के सेवन का प्रायश्चित का वर्णन है । ९ ।

कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक में साधु को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा क्या योग्य है, क्या अयोग्य है ऐसा भेदरूप वर्णन है । १० ।

महाकल्प प्रकीर्णक में जिन कल्पी उत्कृष्ट संहनन सहित महामुनियों के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रभाव से उत्कृष्ट चर्या से वर्तते प्रतिमा योग, आतापन योग, त्रिकालयोग (वृक्ष तल) आदि का आचरण, तथा स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षा, संघ का पोषण, यथायोग्य शरीर का समाधान, आत्म-संस्कार, सल्लेखना तथा उत्तमार्थ को प्राप्त उत्तम आराधना का वर्णन है । ११ ।

पुण्डरीक प्रकीर्णक में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी , कल्पवासी देवों में उत्पत्ति का कारण दान, पूजा, तपश्चरण , अकाम निर्जरा, सम्यक्त्व, संयम आदि का वर्णन तथा उनके उपजने के स्थान का वैभव आदि का वर्णन है । १२ ।

महापुण्डरीक पकीर्णक में महर्द्धिक देवों में जो इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि में उत्पत्ति के कारण तप विशेष आदि का वर्णन है । १३ ।

निषिद्धिका प्रकीर्णक में प्रमाद से उत्पन्न दोषों का त्याग करके विशुद्धता के लिये अनेक प्रकार के प्रायश्चित का वर्णन है, ऐसा प्रायश्चित शास्त्र है । १४ ।

ऐसे द्वादशांग शास्त्र का ज्ञान तप के प्रभाव से होता है । जो आप स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य बुद्धिमान शिष्यों को पढ़ाते हैं, उन बहुश्रुतों की भक्ति संसार परिभ्रमण का नाश करने वाली है । शास्त्रों की भक्ति भी बहुश्रुतभक्ति है । **गुणों में अनुराग करना, वह भक्ति है ।** जो शास्त्रों में अनुराग करके पढ़ते हैं, शास्त्र के अर्थ को अन्य को बतलाते हैं, धन खर्च करके शास्त्रों को लिखाते हैं (छपाते हैं), अपने हाथ से शास्त्र लिखते हैं, अक्षरों की हीनता, अधिकता, मात्रा आदि का शोधन करते हैं, पढ़नेवालों को शास्त्र उपलब्ध करा देते हैं, व्याख्यान करते हैं, व्याख्यान कराते हैं, पढ़ानेवालों-वाँचनेवालों की आजीविका की स्थिरता करके शास्त्रों के ज्ञानाभ्यास का प्रवर्तन कराते हैं, स्वाध्याय करने के लिये निराकुल स्थान देते हैं, वह ज्ञानावरण कर्म का नाश करनेवाली बहुश्रुतभक्ति है ।

शास्त्रों को बहुमूल्य वस्त्रों में पुट्ठा लगाकर कपड़ा सहित डोरी से इस प्रकार बांधना, जिससे देखने-सुनने-पढ़ने वालों का मन प्रसन्न हो जाये, वह सब बहुश्रुतभक्ति है । स्वर्ण से मनोहर घढ़े हुए तथा पाँच प्रकार के रत्नों से जड़ित, सैंकड़ों फूलों से शास्त्र की सारभूत पूजा करना, ऐसी श्रुतभक्ति संशय आदि रहित सम्यग्ज्ञान उत्पन्न कराकर क्रम से केवलज्ञान प्रकट करा देती है । जो पुरुष अपने मन को इन्द्रियों के विषयों से रोककर बारम्बार श्रुतदेवता (जिनवाणी) के गुणों का स्मरण करके भली प्रकार से बनाये पवित्र अर्घ के द्वारा श्रुतदेवता की पूजा करता है, वह समस्त श्रुत का पारगामी होकर केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है । इस प्रकार बहुश्रुतभक्ति नाम की बारहवीं भावना का वर्णन किया, जिसे निरन्तर भावो । १२ ।

प्रवचन भक्ति भावना

अब प्रवचन भक्ति नाम की तेरहवीं भावना का वर्णन करते हैं। प्रवचन का अर्थ जिनेन्द्र सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रणीत आगम है। जिसमें छः द्रव्यों, पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों, नौ पदार्थों का वर्णन है, तथा कर्मों की प्रकृतियों के नाश का वर्णन है, वह आगम है।

जिसके प्रदेश बहुत होते हैं, उसे अस्तिकाय कहते हैं। जो निरन्तर गुण-पर्यायों को प्राप्त हो, उसका नाम द्रव्य है। वस्तुपने के द्वारा जो निश्चय करते हैं उसका नाम पदार्थ है। जिसमें स्वभाव, रूपपना है, उसका नाम तत्त्व है। इनका विशेष कथन आगे प्रकरण पाकर करेंगे। जैसे अंधकारयुक्त महल में हाथ में दीपक लेकर देखने पर सभी पदार्थ दिखाई देते हैं, उसी प्रकार तीनलोकरूप मंदिर में प्रवचनरूप दीपक द्वारा सूक्ष्म, स्थूल, मूर्तिक, अमूर्तिक सभी पदार्थ दिखाई देते हैं; प्रवचनरूप नेत्रों द्वारा ही मुनीश्वर चेतन आदि गुणों के धारक समस्त द्रव्यों का अवलोकन करते हैं। जिनेन्द्र के परमागम को योग्य काल में बहुत विनय से पढ़ना, वह प्रवचन भक्ति है।

कैसा है प्रवचन ? जिसमें छः द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थों के भेदरूप समस्त गुण-पर्यायों का वर्णन है, अनन्त भूतकाल हो गया, अनन्त भविष्यकाल होगा तथा वर्तमानकाल, उनके स्वरूप का वर्णन है।

जिसमें **अधोलोक** की सात पृथ्वी व नारकियों के रहने के, उत्पत्ति के स्थानों का, आयु, काय, वेदना, गति आदि का वर्णन है। तथा भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवनों का, उनकी आयु, काय, वैभव, विक्रिया, भोग का अधोलोक में वर्णन किया है।

जिसमें **मध्यलोक** संबंधी असंख्यात द्वीप समुद्रों का, उनमें मेरु, पर्वत, नदी, सरोवर आदि का तथा कर्मभूमि के विदेह क्षेत्रों का, भोगभूमि का, छियानवै अन्तर्द्वीप संबंधी मनुष्यों का, कर्मभूमि के भोगभूमि के मनुष्यों का कर्तव्य, आयु, काय, सुख-दुःख का; तथा तिर्यंचों का, व्यंतरों के निवास, वैभव, परिवार, आयु, काय, सामर्थ्य, विक्रिया का वर्णन है। मध्यलोक में ज्योतिषी देव हैं उनके विमान, वैभव, परिवार, आयु कायादि का; सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्रों का चारक्षेत्र संबंधी संयोग आदि का वर्णन है।

उर्ध्वलोक के त्रेसठ पटलों का, स्वर्ग के अहमिन्द्रों के पटलों का, इन्द्रादि देवों का वैभव, परिवार, आयु, काय, शक्ति, गति, सुखादि का वर्णन है। इस प्रकार सर्वज्ञ द्वारा प्रत्यक्ष देखे तीन लोकवर्ती समस्त द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपनादि समस्त प्रवचन में वर्णन किया है। कर्मों की प्रकृतियों का बंध होने का, उदय का, सत्त्व का, संक्रमणादि का, समस्त वर्णन आगम में है।

संसार से उद्धार करनेवाले रत्नत्रय के स्वरूप व रत्नत्रय प्राप्त होने के उपाय का वर्णन परमागम में ही है। गृहस्थपने में श्रावक धर्म की जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट चर्या का, तथा श्रावकों के व्रत-संयमादि व्यवहार-परमार्थरूप प्रवृत्ति का वर्णन प्रवचन से ही जानते हैं। गृह के त्यागी मुनिराजों के महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तर गुण, स्वाध्याय, ध्यान, आहार-विहार, सामायिक आदि

चारित्र, चर्या का, धर्मध्यान-शुक्लध्यान आदि का, सल्लेखना मरण की समस्त चर्या का वर्णन प्रवचन में है ।

चौदह गुणस्थानों का स्वरूप, चौदह जीव समास, चौदह मार्गणाओं का वर्णन प्रवचन से ही जाना जाता है । जीवों के एक सौ साढ़े निन्यानवै लाख करोड़ कुल, चौरासी लाख जाति के योनिस्थान प्रवचन से ही जाने जाते हैं । चार अनुयोग, चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रत, तथा चार गतियों के भेद, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र का स्वरूप भगवान के कहे आगम से ही जानते हैं ।

बारह भावना, बारह तप, बारह अंग, चौदह पूर्व, चौदह प्रकीर्णकों का स्वरूप आगम से ही जाना जाता है । उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का चक्र, इसमें छ: छ: काल के भेदों में पदार्थ की परिणति के भेदों का स्वरूप आगम से ही जाना जाता है । कुलकर, चक्रवर्ती, तीर्थंकर बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव इत्यादि की उत्पत्ति, प्रवृत्ति, धर्म तीर्थ का प्रवर्तन, चक्री का साम्राज्य, वासुदेव आदि के वैभव, परिवार, ऐश्वर्य आदि आगम से ही जानते हैं । जीवादि द्रव्यों का प्रभाव आगम से ही जानते हैं ।

आगम का भक्ति पूर्वक सेवनबिना मनुष्य जन्म में ही पशु के समान है । भगवान सर्वज्ञ वीतराग देव ने समस्त लोक-अलोक के अनंतानंत द्रव्यों को भूत, भविष्य, वर्तमान कालवर्ती पर्यायों सहित एक समय में युगपत् क्रमरहित हस्त की रेखा समान प्रत्यक्ष जाना देखा है, उसी सर्वज्ञ कथित समस्त वस्तु के स्वरूप को सातऋद्धि व चार ज्ञान के धारी गणधरदेव ने द्वादशांगरूप में रचना की है ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना – जो देवाधिदेव, परमपूज्य, धर्म तीर्थ के प्रवर्तन करनेवाले; अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनंतसुखरूप अंतरंग लक्ष्मी; समोशरण आदि बहिरंग लक्ष्मी से मंडित; इन्द्रादि असंख्यात देवों के समूह से वंदित; चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्यादि अनुपम ऋद्धि सहित; क्षुधा-तृषादि अठारह दोष रहित; समस्त जीवों के परम उपकारक; लोकालोक के अनन्तानन्त द्रव्यों के गुण-पर्यायों के क्रमरहित युगपत् ज्ञान के धारक; अनन्त शक्ति के धारक; संसार में डूबते हुए प्राणियों को हस्तावलंबन देनेवाले; समस्त जीवों के दयालु, परमात्मा, परमेश्वर, परमब्रह्म, परमेष्ठी, स्वयंभू, शिव, अजर, अमर, अरहंत आदि नामों से प्रसिद्ध; अशरण प्राणियों को परमशरण, अंतिम परम औदारिक शरीर में विराजमान; गणधर आदि मुनियों द्वारा जिनके चरण वंदनीक हैं; कण्ठ, तालु, ओष्ठ, जिह्वा आदि के हलन-चलन रहित, इच्छा बिना अनेक प्राणियों के पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न, आर्य-अनार्य सभी देशों के प्राणियों की समझ में आनेवाली, समस्त पाप की घातक दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों के मोहान्धकार का नाश करनेवाले; चौंसठ चमर ढोराये जाते हुये, तीन छत्र-आठ प्रातिहार्य के धारक; रत्नमय सिंहासन पर चार अंगुल अधर विराजमान; भगवान सकल पूज्य परम भट्टारक श्री वर्धमान देवाधिदेव ने मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने के लिये समस्त पदार्थों का स्वरूप सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा प्रकट किया है ।

उसी समय निकटवर्ती निर्ग्रन्थ ऋषीश्वरों द्वारा वंदनीक, सातऋद्धियों से समृद्ध, चार ज्ञान के धारक श्री गौतम गणधर देव ने कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियों के प्रभाव से भगवान के द्वारा कहे गये

अर्थ को विस्मरण नहीं करते हुए, भगवान के द्वारा कहे गये अर्थ को धारण कर द्वादशांग रूप रचना रची है ।

जब चतुर्थ काल के तीनवर्ष आठ माह पंद्रह दिन बाकी रह गये थे, तब श्रीवर्धमान स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए । पश्चात् बासठ वर्ष तक गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी - इन तीन केवलियों ने केवलज्ञान के द्वारा समस्त प्ररूपणा की ।

उसके बाद केवलज्ञान होने का अभाव हो गया । उसके बाद क्रम से विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु - ये पाँच मुनि द्वादशांग के धारक श्रुतकेवली हुए । उनका समय क्रम से कुल एक सौ वर्ष का रहा । उनके समय में केवली भगवान के समान ही पदार्थों का ज्ञान और प्ररूपणा रही।

उसके बाद विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिमान, गंगदेव, धर्मसेन - ये ग्यारह परम निर्ग्रन्थ मुनीश्वर दश पूर्वों के धारी क्रम से कुल एक सौ तेरासी वर्ष में हुए । उन्होंने भी यथावत् प्ररूपणा की ।

उसके बाद नक्षत्र, जयपाल, पांडुनाम, ध्रुवसेन, कंसाचार्य - ये पाँच महामुनि ग्यारह अंग के ज्ञान के पारगामी अनुक्रम से दो सौ बीस वर्ष में हुए, उन्होंने भी यथावत् प्ररूपणा की । उसके बाद सुभद्र, यशोभद्र, महायश, लोहाचार्य - ये पांच महामुनि एक अंग के ज्ञान के पारगामी अनुक्रम से एक सौ अठारह वर्ष में हुए ।

इस प्रकार भगवान महावीर जिनेन्द्र के निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् छह सौ तेरासी वर्ष तक अंगों का ज्ञान रहा । उसके पश्चात् इस काल के निमित्त से बुद्धि, वीर्य, आदि की मंदता होते जाने पर श्री कुंदकुंद आदि अनेक निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनि अंग की वस्तुओं के ज्ञानी हुए । उन्हीं की परंपरा में श्री उमास्वामी हुए । ऐसे पाप से भयभीत, ज्ञानविज्ञान सम्पन्न, परमसंयम गुण मंडित, गुरुओं की परिपाटी से श्रुत के अव्युच्छिन्न अर्थ के धारक वीतरागियों की परंपरा चली आई ।

उनमें **श्री कुन्दकुन्द स्वामी** ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड़ आदि से लगाकर अनेक ग्रंथ बनाये हैं जो आज प्रत्यक्ष पढ़े जा रहे हैं । इन ग्रन्थों की विनयपूर्वक आराधना करना, वह प्रवचन भक्ति है ।

श्री उमा स्वामी ने दश अध्यायों में तत्त्वार्थ सूत्र बनाया है । उस तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर **श्री पूज्यपाद स्वामी** ने सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका बनाई है। तत्त्वार्थसूत्र पर ही **श्री अकलंकदेव** ने सोलह हजार श्लोकों में राजवार्तिक टीका बनाई है; एवं **श्री विद्यानन्दि स्वामी** ने बीस हजार श्लोकों में श्लोकवार्तिक टीका बनाई है; तथा **श्री समन्तभद्र स्वामी** ने चौरासी हजार श्लोकों में गंधहस्ति-महाभाष्य नाम की बड़ी टीका बनाई थी, जो आज इस समय में उपलब्ध नहीं होती है ।

गंधहस्ति महाभाष्य के प्रारंभ के मंगलाचरण पर **श्री समन्तभद्र स्वामी** ने एक सौ पंद्रह श्लोकों में देवागम स्तोत्र बनाया है, उसे आप्त मीमांसा भी कहते हैं । **श्री अकलंक देव** ने देवागम स्तोत्र

पर आठ सौ श्लोकों में अष्टशती नाम की टीका बनाई है, उसी देवागम अष्टशती पर **श्री विद्यानंदि जी** ने आठ सौ श्लोकों में अष्टसहस्री नाम की टीका बनाई है, जिसमें सोलह हजार टिप्पणी हैं।

श्री विद्यानंदि स्वामी ने आप्त की परीक्षा रूप तीन हजार श्लोकों में आप्तपरीक्षा नाम का ग्रन्थ बनाया है। **श्रीमाणिक्यनंदि आचार्य** ने परीक्षामुख ग्रन्थ बनाया है। परीक्षामुख की बड़ी टीका भी **श्री प्रभाचंद्र आचार्य** ने बारह हजार श्लोकों में प्रमेयकमलमार्तण्ड नाम से बनाई है। उसी की छोटी टीका **श्री अनन्तवीर्य आचार्य** ने प्रमेयचंद्रिका नाम से बनाई है। **श्री अकलंकदेव आचार्य** ने लघुत्रयी नाम का ग्रन्थ बनाया है, उस पर **श्री प्रभाचंद्र आचार्य** ने सोलह हजार श्लोकों में न्यायकुमुदचन्द्रोदय नाम का ग्रन्थ बनाया है। तथा और भी न्याय के कई ग्रंथ प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणनिर्णय, प्रमाणमीमांसा, बालावबोधिनी न्यायदीपिका इत्यादि जिनधर्म के स्तंभ, प्रमाण से द्रव्यों के निर्णय करानेवाले अनेकान्त से भरे हुए द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ जयवन्त प्रवर्तते हैं।

करणानुयोग के गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसारादि अनेक ग्रन्थ हैं। चरणानुयोग के मूलाचार, आचारसार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भगवती आराधना, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मानुशासन, पद्मनन्दि पञ्चविंशति, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, ज्ञानार्णव इत्यादि अनेक ग्रन्थ हैं। जिनेन्द्र व्याकरण अनेकान्त से भरा हुआ है। प्रथमानुयोग के **श्री जिनसेनाचार्य** कृत आदिपुराण, **श्री गुणभद्राचार्यकृत** उत्तरपुराण इत्यादि जिनेन्द्र के परमागम के अनुसार उपदेशीग्रंथ तथा पुराण, चरित्र, आचार के निरूपक अनेक ग्रन्थ हैं; उनको बड़ी भक्ति से पठन करना, श्रवण करना, व्याख्यान करना, वंदना करना, लिखना, शोधना, वह सब प्रवचन भक्ति है।

मेरा शास्त्र के अभ्यास में जो दिन जाता है, वह धन्य है। परमागम के अभ्यास बिना हमारा जो समय जाता है, वह वृथा है। स्वाध्याय बिना शुभ ध्यान नहीं होता है। शास्त्र के अभ्यास बिना पाप से नहीं छूटता है, कषायों की मंदता नहीं होती है। **शास्त्र के सेवन बिना संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है।** समस्त व्यवहार की उज्ज्वलता व परमार्थ का विचार आगम के सेवन से ही होता है। श्रुत के सेवन से जगत में मान्यता, उच्चता, उज्ज्वल यश, आदर सत्कार प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान ही परम बांधव है, उत्कृष्ट धन है, परममित्र है। सम्यग्ज्ञान अविनाशी धन है। स्वदेश में, परदेश में, सुख अवस्था में, दुःख अवस्था में, आपदा में, सम्पदा में परम शरणभूत सम्यग्ज्ञान ही है। स्वाधीन अविनाशी धन ज्ञान ही है।

इसलिये शास्त्रों के अर्थ का ही सेवन करो, अपनी आत्मा को नित्य ज्ञानं दान ही करो, अपनी संतान को तथा शिष्यों को ज्ञान दान ही करो। **ज्ञानदान देने के समान करोड़ धन का दान भी नहीं है।** धन तो मद उत्पन्न करता है, विषयों में उलझाता है, दुर्ध्यान कराता है, संसाररूप अंधकूप में डुबोता है, अतः ज्ञान दान समान अन्य दान नहीं है।

जो नित्य एक श्लोक, आधा श्लोक, एक पद, मात्रा का भी अभ्यास करता है वह शास्त्रों के अर्थ का पारगामी हो जाता है। विद्या ही परम देवता है। जो माता-पिता ज्ञानाभ्यास कराते हैं उन्होंने

मानों करोड़ों का धन दिया है। जो सम्यग्ज्ञान के दाता गुरु हैं उनके उपकार के समान तीन लोक में कोई दूसरा उपकार नहीं है। **जो ज्ञान के देनेवाले गुरु के उपकार का लोप करता है, उसके समान कृतघ्नी दूसरा नहीं है, पापी नहीं है।** ज्ञान के अभायस बिना व्यवहार-परमार्थ दोनों में मूढ़ है, अतः प्रवचन भक्ति ही परम कल्याण है। **प्रवचन के सेवन बिना मनुष्य पशु समान है।** यह प्रवचनभक्ति हजारों दोषों का नाश करनेवाली। इस भक्ति का भक्तिपूर्वक अर्घ उतारण करो। इसी से सम्यग्दर्शन की उज्ज्वलता होती है। इस प्रकार प्रवचनभक्ति भावना का वर्णन किया। १३।

आवश्यकापरिहाणि भावना

अब आवश्यक परिहाणि नाम की चौदहवीं भावना का वर्णन करते हैं। जो अवश्य करने योग्य है उसे आवश्यक कहते हैं। आवश्यकों की हानि नहीं करने का चिंतवन वह आवश्यकापरिहाणि नाम की भावना है। अथवा जो इंद्रियों के वश नहीं होता उसे अवश्य कहते हैं। **अवश्य जो मुनि उनकी क्रिया को आवश्यक कहते हैं।** आवश्यकों की हानि नहीं करना उसे आवश्यकापरिहाणि भावना कहते हैं।

आवश्यकों के छह भेद हैं :- सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। ये छह आवश्यक हैं, उनका वर्णन करते हैं।

सामायिक : देह से भिन्न, ज्ञानमय ही जिसकी देह है, ऐसे परमात्म स्वरूप, कर्म रहित, **चैतन्यमात्र शुद्ध जीव का एकाग्रतापूर्वक ध्यान करनेवाले मुनि सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होते हैं।** निर्विकल्प शुद्ध-आत्मा के गुणों में जिनका मन स्थिर नहीं होता है ऐसे तपस्वी मुनि छह आवश्यक क्रियाओं को अच्छी तरह अंगीकार करें तथा आते हुए अशुभ कर्मों के आस्रव को रोकें, टालें।

प्रथम तो सुन्दर-असुन्दर वस्तु में, तथा शुभ-अशुभ कर्म के उदय में रागद्वेष नहीं करो। आहार-वसतिकादि के लाभ-अलाभ में समभाव करो। स्तुति-निंदा में, आदर-अनादर में, पाषाण-रत्न में, जीवन-मरण में, शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में, श्मशान-महल में, राग-द्वेष रहित परिणाम समभाव है। जो साम्यभाव के धारक हैं वे बाह्य पुद्गलों को अचेतन व अपने से भिन्न तथा अपने आत्म स्वभाव में हानि-वृद्धि के अकर्ता जानकर रागद्वेष करना छोड़ देते हैं; तथा अपने को शुद्ध, ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव करते हुए राग-द्वेषादि विकार रहित रहते हैं उनके साम्यभाव होता है, वही सामायिक है। १।

स्तवन : भगवान जिनेन्द्र का अनेक नामों के द्वारा स्तवन करना वह स्तवन नाम का आवश्यक है। आपने कर्मरूप शत्रुओं को जीता है अतः आपका नाम **जिन** है। आपको किसी ने बनाया नहीं है तथा आप स्वयं ही अपने स्वरूप में रहते हैं अतः **स्वयंभू** हैं। आप केवलज्ञानरूप नेत्रद्वारा त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानते हो अतः आप **त्रिलोचन** हो। अपने मोहरूप अन्धासुर को मार दिया है अतः आप अन्धकान्तक हो। आपने आठ कर्मों में से चार घातिया कर्मोंरूप आधे बैरियों का नाश करके ही अद्वितीय ईश्वरपना पाया है अतः आप **अर्द्धनारीश्वर** हैं। आप शिव पद अर्थात् निर्वाण पद में विराजमान

हैं अत: आप **शिव** हैं । पापरूप बैरी का आप संहार करते हैं अत: आप हर हैं । लोक में आप सुख के कर्ता हैं अत: आप **शंकर** हो । शं अर्थात् परम आनन्दरूप सुख, उसमें आप रहते हैं । अत: आप **शंभू** हैं । वृष अर्थात् धर्म, उससे आप शोभित हैं अत: आप वृषभ हैं । जगत के सम्पूर्ण प्राणियों में गुणों के द्वारा आप बड़े हैं अत: आप **जगज्ज्येष्ठ** हैं । क अर्थात् सुख, उसके द्वारा आप सभी जीवों का पालन करते हो अत: आप कपाली हो । केवलज्ञान द्वारा आप समस्त लोक-अलोक में व्याप्त हो रहे हो अत: आप विष्णु हो । जन्म-जरा मरणरूप त्रिपुर का आपने अंत कर दिया है अत: आप **त्रिपुरांतक** हो । इस प्रकार से इंद्र ने आपका एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन किया है । गुणों की अपेक्षा आपके अनन्त नाम हैं । इस प्रकार भावों में चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का चिन्तवन करके स्तवन करना, वह स्तवन नाम का आवश्यक है । २ ।

वंदना : चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक तीर्थंकर की, तथा अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्वसाधु में से किसी एक को मुख्यकर उसकी स्तुति करना, वह वंदना आवश्यक है । ३ ।

प्रतिक्रण : सम्पूर्ण दिन में प्रमाद के वश होकर, कषायों के वश होकर, विषयों में रागीद्वेषी होकर किसी एकेन्द्रिय जीव का घात किया हो, निरर्थक प्रवर्तन किया हो, सदोष भोजन किया हो, किसी जीव के प्राणों को कष्ट पहुंचाया हो; कर्कश-कठोर-मिथ्या वचन कहा हो, किसी की निंदा-बदनामी की हो, अपनी प्रशंसा की हो; स्त्री कथा, देश कथा, भोजन कथा, राज्य कथा की हो; अदत्त धन ग्रहण किया हो, पर के धन में लालसा की हो - वे सब खोटे पाप किये हैं, बंध के कारण किये हैं ।

अब ऐसे पापरूप परिणामों से भगवान पंच परमगुरु हमारी रक्षा करें, ऐसे परिणाम मिथ्या होवें, पंच परमेष्ठी के प्रसाद से हमारे पापरूप परिणाम नहीं होवें । ऐसे भावों की शुद्धता के लिये कायोत्सर्ग करके पंचनमस्कार के नौ जाप करना चाहिये ।

इस प्रकार सम्पूर्ण दिन की प्रवृत्ति को संध्याकाल चिंतवन करके पाप परिणामों की निंदा करना वह **दैवसिक प्रतिक्रमण** है । रात्रि संबंधी पापों को दूर करने के लिये प्रभात में प्रतिक्रमण करना वह **रात्रिक प्रतिक्रमण** है । मार्ग में चलने में दोष लग गया हो उसकी शुद्धि के लिये जो प्रतिक्रमण है वह **ऐर्यापथिक प्रक्रिमण** है । एक पखवाड़े के दोषों के निराकरण के लिये पाक्षिक प्रतिक्रमण है । चार माहों के दोषों के निराकरण के लिये **चातुर्मासिक प्रतिक्रमण** है । एक वर्ष के दोषों के निराकरण के लिये **सांवत्सरिक प्रक्रिमण** है । समस्त पर्याय-जीवनभर के समय के दोषों के निराकरण के लिये अंत्य सन्यासमरण के पहले जो प्रतिक्रमण है वह **उत्तमार्थ प्रतिक्रमण** है । ऐसा सात प्रकार का प्रतिक्रम है, उसमें से गृहस्थ को संध्या तथा प्रभात के समय तो अपना नफा-टोटा अवश्य देखने योग्य है ।

जब यहाँ सौ-पचास रुपये का व्यापार करनेवाला भी शाम को लाभ-हानि देखता है, तो **इस मनुष्य जन्म की जिसकी एक-एक घड़ी करोड़ों के धन में दुर्लभ है, चली जाने के बाद मिलती**

नहीं है, उसका विचार भी अवश्य करने योग्य है । आज मेरा परमेष्ठी के पूजन में, स्तवन में कितना समय गया । स्वाध्याय में, पंच परमगुरु की जाप में, शास्त्र श्रवण में, तत्त्वार्थ की चर्चा में, धर्मात्मा की वैयावृत्य में कितना समय गया ? घर के आरंभ में कषाय में, विकथा करने में, विसंवाद में, भोजनादि में, इंद्रियों के विषयों में, प्रमाद में, निद्रा में, शरीर के संस्कार में, हिंसादि पाँच पापों में कितना काल गया ? इस प्रकार विचारकर पाप में बहुत प्रवृत्ति हुई हो तो अपने को धिक्कार देकर पाप बंध के कारणों को घटाकर, धर्म कार्य में आत्मा को युक्त करना योग्य है । **पंचम काल में प्रतिक्रमण ही परमागम में धर्म कहा है ।** आत्मा के हित-अहित के विचार में निरन्तर उद्यमी रहना योग्य है । यह प्रतिक्रमण आत्मा की बड़ी सावधानी करने वाला तथा पूर्व में किये पापों की निर्जरा करनेवाला है । ४ ।

प्रत्याख्यान : आगमी काल में पाप का आस्रव रोकने के लिये पापों का त्याग करना कि मैं भविष्य में ऐसा पाप मन-वचन-काय से नहीं करूँगा, वह प्रत्याख्यान नाम का आवश्यक है, जो सुगति का कारण है । ५ ।

कायोत्सर्ग : चार अंगुल के अंतर से दोनों पैर बराबर कर खड़े होकर, दोनों हाथों को नीचे की ओर लम्बे लटकाकर, देह से ममता छोड़कर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, **देह से भिन्न शुद्ध आत्मा की भावना करना कायोत्सर्ग है ।** निश्चल पद्मासन से भी तथा खड़े होकर भी कायोत्सर्ग किया जा सकता है, दोनों ही अवस्थाओं में शुद्ध ध्यान के अवलंबन से ही सफल कायोत्सर्ग होता है । ६ ।

ये छह आवश्यक परम धर्मरूप हैं । इनकी पूजा करके पुष्पों की अंजुलि क्षेपना, अर्घ उतारण करना योग्य है । इन छह आवश्यकों के परमागम में छह-छह भेद कहें हैं - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव - ये छह प्रकार से जानना ।

सामायिक के छह भेद : शुभ-अशुभ नाम को सुनकर रागद्वेष नहीं करना वह **नाम सामायिक** है । कोई स्थापना प्रमाण आदि से सुन्दर है, कोई प्रमाणादि से हीनाधिक होने के कारण असुंदर है, उनमें रागद्वेष का अभाव वह **स्थापना सामायिक** है । सोना, चाँदी, रत्न, मोती, इत्यादि तथा मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, कांटे, छार, राख, धूल इत्यादि में राग-द्वेष रहित सम देखना वह **द्रव्य सामायिक** है । महल-उपवनादि रमणीक, श्मशानादि अरमणीक क्षेत्र में राग-द्वेष नहीं करना वह **क्षेत्र सामायिक** है । हिम, शिशिर, बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद ऋतुओं तथा रात्रि, दिन, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष इत्यादि काल में रागद्वेष नहीं करना वह **काल सामायिक** है । सभी जीवों को दुःख नहीं हो ऐसा मैत्री भाव करते हुए अशुभ परिणामों का अभाव करना वह **भाव सामायिक** है । इस प्रकार सामायिक के छह भेद कहे हैं ।

स्तवन के छह भेद : चौबीस तीर्थंकरों का अर्थ सहित एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन करना वह **नाम स्तवन** है । तीर्थंकरों के - अर्हन्तों के अनेक कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिबिम्बों का स्तवन वह

स्थापना स्तवन है । समोशरण में स्थित अर्हन्तों की देह, प्रभा, प्रातिहार्य आदि सहित का स्तवन वह **द्रव्य स्तवन है** । कैलाश, सम्मेदाचल, ऊर्जयन्त (गिरनार) पावापुर) चंपापुर, आदि निर्वाण क्षेत्रों का तथा समोशरण में धर्मोपदेश के क्षेत्र का स्तवन वह **क्षेत्र स्तवन** है । गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याण के काल का स्तवन वह **काल स्तवन** है । केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय भावों का स्तवन वह **भाव स्तवन** है । इस प्रकार स्तवन के छह भेद कहे हैं ।

वंदना के छह भेद : तीर्थंकर व सिद्ध तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु इनमें एक-एक का नाम उच्चारण करके वंदना करना वह **नाम वंदना** है । अरहन्त सिद्ध आदि में एक-एक के प्रतिबिम्ब आदि की वंदना करना वह **स्थापना वंदना** है । अर्हन्तादि में उनके शरीर की वंदना करना वह **द्रव्य वंदना है** । अर्हन्तादि से व्याप्त क्षेत्र की वंदना करना वह **क्षेत्र वंदना** है । अर्हन्तादि में किसी एक से व्याप्त काल की वंदना करना वह **काल वंदना** है । तीर्थंकर के, सिद्ध के, आचार्य के, उपाध्याय के, साधु के आत्मा के गुणों की वंदना करना वह **भाव वंदना** है । इस प्रकार वंदना के छह भेद कहे हैं ।

प्रतिक्रमण के छह भेद : नाम के अयोग्य उच्चारण में कृत, कारित, अनुमोदनारूप मन-वचन-काय से उत्पन्न दोष का निवारण करने के लिये प्रतिक्रमण करना वह **नाम प्रतिक्रमण** है । किसी शुभ-अशुभ स्थापना के निमित्त से मन-वचन-काय से उत्पन्न दोष से आत्मा को निवृत्त करना वह **स्थापना प्रतिक्रमण** है । आहार, पुस्तक, औषधि आदि के निमित्त से मन-वचन-काय से उत्पन्न दोष के निराकरण के लिये प्रतिक्रमण करना वह **द्रव्य प्रतिक्रमण** है । किसी क्षेत्र में गमन, स्थापना आदि के निमित्त से उत्पन्न अशुभ परिणाम जनित दोषों के निराकरण के लिये प्रतिक्रमण करना वह **क्षेत्र प्रतिक्रमण** है । दिन, रात्रि, पक्ष, ऋतु, शीत, उष्ण, वर्षा काल के निमित्त से उत्पन्न अतिचार को दूर करने के लिये प्रतिक्रमण करना वह **काल प्रतिक्रमण** है ।

रागद्वेष आदि भावों से उत्पन्न दोष को दूर करने के लिये प्रतिक्रमण करना वह **भाव प्रतिक्रमण** है । इस प्रकार प्रतिक्रमण के छह भेद कहे हैं ।

प्रत्याख्यान के छह भेद : अयोग्य पाप के कारण जो नाम हैं उनके उच्चारण करने का त्याग कर देना वह **नाम प्रत्याख्यान है** । अयोग्य मिथ्यात्वादि में प्रवर्तन करानेवाली स्थापना करने का त्याग करना वह **स्थापना प्रत्याख्यान है** । पापबंध के कारण सदोष द्रव्य व तप के निमित्त निर्दोष द्रव्य का भी मन-वचन-काय से त्याग कर देना वह **द्रव्य प्रत्याख्यान** है । असंयम का कारण क्षेत्र का त्याग कर देना वह **क्षेत्र प्रत्याख्यान** है । असंयम का कारण काल का त्याग कर देना वह **काल प्रत्याख्यान** है । मिथ्यात्व, असंयम, कषायादि का त्याग करना वह **भाव प्रत्याख्यान** है । इस प्रकार प्रत्याख्यान के छह भेद कहे हैं ।

कायोत्सर्ग के छह भेद : पाप के कारण कठोर कटुक नामादि से उत्पन्न दोष को दूर करने के लिये कायोत्सर्ग करना वह **नाम कायोत्सर्ग** है । पापरूप स्थापना के द्वारा आये अतिचार को दूर

करने के लिये कायोत्सर्ग करना वह **स्थापना कायोत्सर्ग** है । सदोष द्रव्यों के सेवन से तथा सदोष क्षेत्र, काल के सेवन से - संयोग से उत्पन्न दोष दूर करने के लिये कायोत्सर्ग करना वह **द्रव्य, क्षेत्र, काल कायोत्सर्ग** है । मिथ्यात्व, असंयम आदि भावों द्वारा किये दोष दूर करने को कायोत्सर्ग करना वह **भाव कायोत्सर्ग** है । इस प्रकार कायोत्सर्ग के छह भेदों का वर्णन किया ।

गृहस्थ के और भी छह प्रकार के आवश्यक हैं : भगवान जिनेन्द्र का नित्य पूजन, निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा, स्तवन, चिन्तवन नित्य करना, जिनेन्द्र के कहे आगम का नित्य स्वाध्याय करना, इन्द्रियों को विषयों से रोकना, छह काय के जीवों की दयारूप संयम पालना, शक्ति प्रमाण नित्य तप करना, तथा शक्ति प्रमाण नित्य दान करना, ये छह प्रकार के भी आवश्यक गृहस्थ को नित्य नियम से अंगीकार करने योग्य हैं ।

इस प्रकार समस्त पापों का नाश करने वाली, भावों को उज्ज्वल करनेवाली आवश्यकों की हानि के अभावरूप चौदहवीं भावना का वर्णन किया । १४ ।

सन्मार्ग प्रभावना भावना

अब सन्मार्ग प्रभावना नाम की पन्द्रहवीं भावना का वर्णन करते हैं । यहाँ सन्मार्ग जो मोक्ष का सत्यार्थ मार्ग उसका प्रभाव प्रकट करना वह सन्मार्ग प्रभावना है । वह सन्मार्ग रत्नत्रय है, **रत्नत्रय आत्मा का स्वभाव है;** उसे मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ने अनादि से मलिन-विपरीत कर रखा है । अब परमागम की शरण लेकर **मुझे मिथ्यात्वादि दोषों को दूर करके रत्नत्रय स्वभाव को उज्ज्वल करना है ।**

यह मनुष्य जन्म, इंद्रियों की पूर्णता, ज्ञानशक्ति, परमागम की शरण, साधर्मियों का समागम, रोग रहित अवस्था, क्लेशरहित जीविका, इत्यादि पुण्यरूप सामग्री प्राप्त करके भी यदि आत्मा को मिथ्यात्व, कषाय, विषयों से नहीं छुड़ाया तो अनन्तानन्त दुःखों से भरे संसार समुद्र से मेरा निकलना अनन्तकाल में भी नहीं होगा । जो सामग्री आज मिली है वह अनन्तकाल में भी मिलना अति दुर्लभ है । अंतरंग-बहिरंग सकल सामग्री पाकर भी यदि आत्मा का प्रभाव प्रकट नहीं करूँगा तो काल अचानक आकर समस्त संयोग नष्ट कर देगा । इसलिये **अब मुझे रागद्वेष दूर करके जैसे मेरा शुद्ध वीतराग स्वरूप अनुभवगोचर हो उस प्रकार ध्यान स्वाध्याय में तत्पर होना है ।**

बाह्य प्रवृत्ति भी मुझे उज्ज्वल करके अंतरंग धर्म का प्रभाव प्रकट करके मार्ग प्रभावना ऐसी करना है जिसे देखकर अनेक जीवों के हृदय में धर्म की महिमा प्रवेश कर जाये । जिनेन्द्र के अभिषेक का उत्सव ऐसा करना जिसे देखकर हजारों लोगों के भाव जिनेन्द्र के जन्म कल्याण के समय जिस प्रकार इन्द्रादि देवों ने अभिषेक करके अपना जन्म सफल किया उसी प्रकार जय-जयकार शब्दों द्वारा हमारे स्तवन के उच्चारण से लोग अपने को कृतार्थ मानकर तन-मन से प्रफुल्लित हो जायें - इस प्रकार से अभिषेक द्वारा प्रभावना करना ।

जिनेन्द्रभक्ति करना : जिनेन्द्र की बड़ी भक्ति, बड़ी विनय, निश्चल ध्यान से ऐसे पूजन करो जिसे करते हुए देखकर तथा शुद्ध भक्ति के पाठ पढ़ते तथा सुनते हुए हर्ष के अंकुर प्रकट हो जायें, आनन्द हृदय में नहीं समाये, बाहर उछलने लग जाये; जिन्हें देखकर मिथ्यादृष्टियों के भी ऐसी परिणाम हो जायें - अहो ! जैनियों की भक्ति आश्चर्यरूप है, जिसमें ये निर्दोष उत्तम उज्ज्वल प्रामाणिक सामग्री, ये उज्ज्वल सोने-चाँदी-कांसा-पीतल के मनोहर पूजन के बर्तन, ये भक्तिरस से भरे अर्थ सहित कानों को अमृतरस से सींचते हुए शुद्ध अक्षरों का उच्चारण, एकाग्रता से विनय सहित शब्दों के कहे अनुसार उज्ज्वल द्रव्यों को चढ़ाना, ये परमशांतमुद्रारूप वीतराग के प्रतिबिम्ब प्रातिहार्यों सहितपूजना, स्तवन करना, नमस्कार करना धन्य पुरुषों द्वारा ही होता है । धन्य इनकी भक्ति, धन्य इनका जन्म, धन्य इनका मन-वचन-काय और धन । धन्य इनका धन जो निर्वांछक होकर ऐसे सन्मार्ग में लगाते हैं। ऐसा प्रभाव व्याप्त हो जाता है जिसे देखने से-सुनने से निकट भव्यों के नेत्रों से आनन्द के आँसू झरने लग जायें ।

भक्ति ही संसार समुद्र में डूबते हुए लोगों को हस्तावलम्बन देनेवाली है । हमारे लिये भव-भव में जिनेन्द्र की भक्ति ही शरण हो । इस प्रकार जिनेन्द्र का नित्य पूजन करना, अष्टाह्निका, षोडशकारण, दशलक्षण व रत्नत्रय पर्वों में सभी पाप के आरम्भ छोड़कर जिन पूजन करना, आनन्द सहित नृत्य करना, कर्ण प्रिय वाद्य बजाना; तथा स्वर ताल, मूर्च्छनादि सहित जिनेन्द्र के गुणगान करने में सभी सन्मार्ग प्रभावना है । **जिनके हृदय में सत्यार्थ धर्म निवास करता है । उनसे प्रभावना होती ही है।**

शास्त्र प्रवचन की प्रेरणा तथा व्याख्यान का स्वरूप : जिनेन्द्र प्ररूपित चारों अनुयोगों के सिद्धांतों का ऐसा व्याख्यान करना जिसे सुनने से एकान्त का हठ नष्ट हो जाये, हृदय में अनेकान्त रच जाये, पापों से कांपने लगे, व्यसन छूट जांय, दया रूप धर्म में प्रवर्तन हो जाये, अभक्ष्यभक्षण का त्याग हो जाये । ऐसा व्याख्यान करना जिसे सुनने से हजारों मनुष्यों का कुदेव, कुगुरु, कुधर्म के आराधन का त्याग हो जाये तथा वीतरागदेव, दयारूप धर्म, आरम्भ परिग्रह रहित गुरु के आराधन में दृढ़ श्रद्धान हो जाये । ऐसा व्याख्यान करना जिसे सुनकर बहुत मनुष्य रात्रि भोजन, अयोग्य भोजन, अन्याय के विषय, परधन में राग छोड़कर व्रतों में, शील में, संयम भाव में, संतोषभाव में लीन हो जायें ।

ऐसा उपदेश करना जिससे देहादि परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव हो जाये, शरीर में एकत्वबुद्धि छूट जाये, जीव-अजीवादि द्रव्यों का प्रमाण-नय-निक्षेपों के द्वारा निर्णय होकर संशय रहित द्रव्य, गुण, पर्यायों का सत्यार्थ स्वरूप प्रकट हो जाये, मिथ्या अंधकार दूर हो जाये - ऐसे आगम के व्याख्यान से सन्मार्ग की प्रभावना होती है ।

ऐसा घोर तपश्चरण करना जो कायरों से धारण नहीं किया जा सके, ऐसे तप द्वारा प्रभावना होती है । विषयानुराग छोड़कर निर्वांछक होने से भी आत्मा का प्रभाव प्रकट होता है, तथा धर्म का मार्ग भी तप से ही चमकता है । यह तप दुर्गति के मार्ग को नष्ट करनेवाला है । तप बिना कामादि

विषय ज्ञान-चरित्र को नष्ट कर देते हैं। तप के प्रभाव से काम का नाश होता है, रसना इंद्रिय की चपलता नष्ट हो जाती है, लालसा का अभाव होता है। रत्नत्रय की प्रभावना में तप से ही दृढ़ता होती है।

जिन मंदिर और जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराना : जिनेन्द्र के प्रतिबिम्ब की प्रतिष्ठा कराना, जिनेन्द्र का मंदिर बनवाना - इनसे सन्मार्ग की प्रभावना होती है। प्रतिष्ठा कराने से जब तक जिनबिम्ब रहेगा तब तक दर्शन, स्तवन पूजनादि करके अनेक भव्य जीव पुण्य उपार्जन करेंगे, तथा जो जिनमंदिर बनावायेंगे उन गृहस्थों का ही धन प्राप्त करना सफल होगा। पूजन, रात्रि जागरण, शास्त्रों का व्याख्यान, श्रवण, पठन, जिनेन्द्र का स्तवन, सामाजिक, प्रतिक्रमण, अनशनादि तप, नृत्य-गान-भजन, उत्सव जिनमंदिर होने पर ही होते हैं। **जिन मंदिर बिना धर्म का समस्त समागम होता ही नहीं है।** इसलिये अधिक क्या लिखें, अपने तथा पर के उपकार का मूल प्रतिष्ठा कराना तथा जिनमंदिर बनवाना है।

धन में आसक्ति घटाने की प्रेरणा : धर्म का उत्कृष्ट मार्ग तो समस्त परिग्रह छोड़कर वीतरागता अंगीकार करना है; परन्तु जिसके प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यान कषायों का उपशम नहीं हुआ उससे गृह सम्पदा नहीं छोड़ी जाती है।

धन सम्पदा बहुत हो तो प्रथम तो जिनका आपने अन्याय से धन लिया हो उनके पास जाकर क्षमा मांगकर उनका धन लौटा देना। यदि आपके पास धन बहुत हो तो धन के उपार्जन करने का त्याग करना। तीव्रराग के बढ़ानेवाले इंद्रियों के विषयों की लालसा छोड़कर संवररूप होना। फिर जो शेष धन रहे उसमें से अपने मित्र, हितचिन्तक, पुत्री, बहन, भुआ, बंधुओं में जो निर्धन, रोगी, दु:खी हों उनको तथा अनाथ विधवा हों उनको यथा योग्य देकर संतोषित करना। अपने आश्रित, सेवकादि व जो समीप में रहनेवाले हों उनको यथायोग्य संतुष्ट करके, फिर पुत्र को-स्त्री को उनका हिस्सा अलग दे देना। पश्चात् जो धन बचे उसे जिनमंदिर बनवाने में, जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराने में तथा जिनेन्द्र के धर्म का आधार जिनसिद्धांतों को लिखवाने में (छपवाने में) कृपणता छोड़कर उदार मन से पर के उपकार करने की बुद्धि से धन लगाना; उसके समान कोई प्रभावना नहीं है।

बाह्य आचरण में शुद्धता बढ़ाने की प्रेरणा : जो मंदिर प्रतिष्ठा तो कराये किन्तु अनीति से पराया धन रख ले, अन्याय का धन ग्रहण कर ले तो उसकी समस्त प्रभावना नष्ट हो जायेगी। प्रतिष्ठा करानेवाला, मंदिर बनवानेवाला यदि खोटा वणिज व्यवहार करता है, हिंसादि महापापों में अयोग्य निंद्य वचनों में, तीव्र लोभ में प्रवर्तता है, कुशील में प्रवर्तता है, तथा अतिकृपणता करके परिणामों में संक्लेश रूप होकर धन खर्च करता है तो उसकी समस्त प्रभावना नष्ट हो जायेगी। इसलिये जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करानेवाले की, जिनमंदिर बनवानेवाले की बाह्य प्रवृत्ति भी शुद्ध होती है, उससे प्रभावना होती है। मंदिर में शिखर, कलश, घण्टा-घण्टी, कपड़े का चन्दोवा, सिंहासन आदि उत्तम उपकरण देकर तथा स्वाध्याय में प्रवृत्ति आदि द्वारा होने वाली प्रभावना दु:ख का नाश करनेवाली होती है।

प्रभावना शुद्ध आचरण द्वारा होती है, अत: जो जिनवचनों का श्रद्धानी होता है वही धर्म की प्रभावना करता है। जैनियों का गाढ़ा प्रेम देखकर अन्य मिथ्यादृष्टि के हृदय में भी जैनधर्म की

बड़ी महिमा आती है । देखो जैनियों का धर्म ! ये जैनी प्राण जाने पर भी अभक्ष्यभक्षण नहीं करते हैं, तीव्र रोग वेदना होने पर भी रात्रि में दवाई-जलादि भी नहीं पीते हैं, धन-अभिमानादि नष्ट होने पर भी असत्य वचनादि नहीं बोलते हैं, महान आपदा आने पर भी पराये धन में चित्त नहीं चलाते हैं, अपने प्राण जाने पर भी अन्य जीव का घात नहीं करते हैं । शील की दृढ़ता, परिग्रह परिमाणता, परम संतोष धारण करने से आत्मा की प्रभावना होती है तथा मार्ग की भी प्रभावना होती है ।

अत: समस्त धन चले जाने पर भी व प्राण चले जाने पर भी जो अपने निमित्त से धर्म की निन्दा-हास्य कभी नहीं कराता, उसके सन्मार्ग प्रभावना अंग होता है । इस प्रभावना की महिमा का करोड़ जिह्वाओं द्वारा भी वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है । इसलिये हे भव्यजनों ! तीन लोक में पूज्य प्रभावना अंग को दृढ़ता से धारणा करके इसी की भक्ति से पूजा करो, इसी का अर्घ उतारण करो । जो प्रभावना अंग को दृढ़ता से धारण करता है, वह इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य तीर्थंकर होता है। इस प्रकार सन्मार्ग प्रभावना नाम की पन्द्रहवीं भावना का वर्णन किया । १५ ।

प्रवचन वत्सलत्व भावना

अब प्रवचन वत्सलत्व नाम की सोलहवीं भावना का वर्णन करते हैं । **प्रवचन अर्थात् देव-गुरु-धर्म इनमें वात्सल्य अर्थात् प्रीतिभाव वह प्रवचन कहलाता है** । जो चारित्रगुण सहित हैं, शील के धारी हैं, परम साम्यभाव सहित हैं, बाईस परीषहों के सहनेवाले हैं, देह में निमर्मत्व, समस्त विषय वांछा रहित, आत्महित में उद्यमी, पर का उपकार करने में सावधान - ऐसे **साधुजनों** के गुणों में प्रीतिरूप परिणाम वह वात्सल्य है ।

व्रतों के धारी, पाप से भयभीत, न्यायमार्गी, धर्म में अनुराग के धारक, मंद कषायी, संतोषी ऐसा **श्रावक** तथा **श्राविका** के गुणों में, उनकी संगति में अनुराग धारण करना वह वात्सल्य है ।

जो स्त्री पर्याय में व्रतों की हद्द को प्राप्त करके, समस्त गृहादि परिग्रह को छोड़कर, कुटुम्ब का ममत्व छोड़कर, देह में निमर्मता धारण करके, पाँच इंद्रियों के विषयों को छोड़कर, एक वस्त्रमात्र परिग्रह का आलम्बन लेकर, भूमि शयन, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णादि परीषह सहन कर, संयम सहित ध्यान-स्वाध्याय-सामायिक आदि आवश्यकों सहित होकर, **अर्जिका** की दीक्षा ग्रहण कर, संयम सहित काल व्यतीत करते हैं उनके गुणों में अनुराग वह वात्सल्य भाव है ।

मुनिराज के समान वन में रहते हुए, बाईस परीषह सहते हुए, उत्तमक्षमादि धर्म के धारक देह में निमर्मत्व, **आपके निमित्त बनाया औषधि-अन्न-पानादि ग्रहण नहीं करनेवाले**, एक वस्त्र कोपीन बिना समस्त परिग्रह के त्यागी **उत्तम श्रावकों** के गुणों में अनुराग वह वात्सल्य है । **देव-गुरु-धर्म** के सत्यार्थ स्वरूप को जानकर दृढ़ श्रद्धानी, धर्म में रुचि के धारक **अव्रत-सम्यग्दृष्टि** में भी वात्सल्य करना चाहिये ।

मोह की महिमा : इस संसार में अनादिकाल से ही अपने स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि में, देह में, इन्द्रिय विषयों के साधनों में राग लगा चला आ रहा है । पिछला अनादि संस्कार ही ऐसा है कि तिर्यंच

भी अपने स्त्री-पुत्रों में, विषयों में अति अनुरागी होकर उनके लिये कट जाता है, मर जाता है, अन्य को मार देता है - ऐसा मोह का कोई अद्‌भुत माहात्म्य है । वे पुरुष धन्य हैं । जो सम्यग्ज्ञान से मोह को नष्ट करके आत्मा के गुणों में वात्सल्य करते हैं ।

पंचमकाल के धनिक संसारी के वात्सल्य का अभाव है : संसारी तो धन की लालसा से अति आकुलित होकर धर्म में वात्सल्य छोड़ बैठे हैं । संसारी के जब धन बढ़ता है तो तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है, सभी धर्म का मार्ग भूल जाता है, धर्मात्माओं में वात्सल्य दूर से ही त्याग देता है । रात्रि-दिन धन-संपदा के बढ़ाने में ऐसा अनुराग बढ़ता है कि लाखों का धन हो जाये तो करोड़ों की इच्छा करता है, आरम्भ परिग्रह को बढ़ाता जाता है, पापों में प्रवीणता बढ़ाता जाता है तथा धर्म में वात्सल्य नियम से छोड़ देता है ।

जहाँ दानादि में, परोपकार में धन लगता दिखाई देता है वहाँ दूर से ही बचकर निकल जाता है । बहुआरम्भ, बहुपरिग्रह, अतितृष्णा से नजदीक आ गया नरक का निवास भी उसे दिखाई नहीं देता है । **पंचमकाल के धानाढ्‌य पुरुष तो पूर्व भव से ही मिथ्या-धर्म, कुपात्र-दान, कुदान आदि में लिप्त होकर ऐसे कर्म बांधकर आये हैं कि उनकी नरक-तिर्यंच गति की परिपाटी असंख्यातकाल अनंतभव तक नहीं छूटेगी ।** उनका तन, मन, वचन, धन, धर्म कार्य में नहीं लगता है । रात्रि-दिन तृष्णा व आरम्भ से ही दुःखी रहते हैं; उनको धर्मात्मा में तथा धर्म के धारने में कभी वात्सल्य नहीं होता है । धन रहित यदि धर्मात्मा भी हो तो उसे भी नीचा मानते हैं ।

धर्म तथा धर्मात्माओं में वात्सल्य की प्रेरणा : हे आत्महित के वांछक हो ! धन सम्पदा को महामद को उत्पन्न करनेवाली जानकर, देह को अस्थिर दुःखदायी जानकर, कुटुम्ब को महाबंधन मानकर इनसे प्रीति छोड़कर **अपने आत्मा से वात्सल्य करो** । धर्मात्मा में, व्रती में, स्वाध्याय में, जिनपूजन में वात्सल्य करो । जो सम्यक्चारित्ररूप आभरण से भूषित साधुजन हैं उनका जो पुरुष स्तवन करते हैं, गौरव करते हैं, उनके वात्सल्य गुण है, वे सुगति को प्राप्त होते हैं, कुगति का नाश करते हैं । वात्सल्य गुण के प्रभाव से ही समस्त द्वादशांग विद्या सिद्ध होती है । सिद्धान्तग्रन्थों में तथा सिद्धांत का उपदेश करनेवाले उपाध्यायों में सच्ची भक्ति के प्रभाव से श्रुतज्ञानावरण कर्म का रस सूख जाता है तब सफल विद्या सिद्ध हो जाती हैं, **वात्सल्यगुण के धारक को देव भी नमस्कार करते हैं ।**

वात्सल्य के द्वारा ही अठारह प्रकार की **बुद्धि-ऋद्धि**, नौ प्रकार की आकाशगामिनी **क्रिया-ऋद्धि**, अनेक प्रकार की **चारण-ऋद्धि**, ग्यारह प्रकार की **विक्रिया-ऋद्धि**, तीन प्रकार की **बल-ऋद्धि**, सात प्रकार की **तप-ऋद्धि**, छह प्रकार की **रस-ऋद्धि**, आठ प्रकार की **औषधि-ऋद्धि**, दो प्रकार की **क्षेत्र-ऋद्धि** इत्यादि चौंसठ ऋद्धि व अनेक शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं । यहाँ ऋद्धियों का स्वरूप कहने से कथन बढ़ जायेगा इसलिये नहीं लिखा है । अर्थ प्रकाशिका में लिखा है, वहाँ से जान लेना ।

वात्सल्य के द्वारा ही मंदबुद्धियों का भी मतिज्ञान-श्रुतज्ञान विस्तीर्ण हो जाता है । वात्सल्य के प्रभाव से पाप का प्रवेश नहीं होता है । वात्सल्य से ही तप की शोभा होती है । तप में

उत्साह बिना तप निरर्थक है । यह जिनेन्द्र का मार्ग वात्सल्य द्वारा ही शोभा पाता है । वात्सल्य से ही शुभ ध्यान की बुद्धि होती है । वात्सल्य से ही सम्यग्ज्ञान निर्दोष होता है । वात्सल्य से ही दान देना कृतार्थ-सफल होता है । पात्र में प्रीति बिना तथा देने में प्रीति बिना दान निंदा का कारण है ।

जिनवाणी में जिसे वात्सल्य होगा उसे ही प्रशंसा योग्य जिनवाणी का सच्चा अर्थ उद्योतरूप-प्रकट होगा । जिसको जिनवाणी में वात्सल्य नहीं, विनय नहीं उसे यथावत् अर्थ नहीं दिखेगा, वह तो विपरीत ही ग्रहण करेगा । इस मनुष्य जन्म का मंडन वात्सल्य ही है । वात्सल्य रहित बहुत मनोज्ञ आभरण, वस्त्र धारण करना भी पद-पद में निंद्य होता है । इस लोक का कार्य जो यश का उपार्जन, धर्म का उपार्जन, धन का उपार्जन है वह भी वात्सल्य से ही होता है । परलोक-स्वर्गलोक में महर्द्धिक देवपना भी वात्सल्य से ही होता है । वात्सल्य बिना इस लोक का समस्त कार्य नष्ट हो जाता है, परलोक में भी देवादि गति प्राप्त नहीं होती है ।

जिसे अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, स्याद्वादरूप परमागम, दयारूप धर्म में वात्सल्य है, वही संसार परिभ्रमण का नाश करके निर्वाण को प्राप्त करता है । वात्सल्य ही से जिनमंदिर की वैयावृत्य, जिनसिद्धांतों का सेवन, साधर्मियों की वैयावृत्य, धर्म में अनुराग, दान देने में प्रीति होती है । जिन्होंने छह काय के जीवों पर वात्सल्य दिखाया है, वे ही तीनलोक में अतिशयरूप तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं । इसलिये जो कल्याण के इच्छुक हैं वे भगवान जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित वात्सल्य गुण की महिमा जानकर सोलहवीं वात्सल्य भावना का स्तवन-पूजन करके उसका महान अर्घ उतारण करते हैं । वे ही दर्शन की विशुद्धता पाकर, तपरूप आचरण करके, अहमिन्द्रादि देवलोक को प्राप्त होकर पश्चात् जगत के उद्धारक तीर्थंकर होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं । सोलहकारण धर्म की महिमा अचिन्त्य है जिससे तीनलोक में आश्चर्यकारी अनुपम वैभव के धारक तीर्थंकर होते हैं । ऐसी सोलहकारण भावना का संक्षेप-विस्ताररूप वर्णन किया । १६ ।

धर्म के दश लक्षण – धर्म का स्वरूप दश लक्षण रूप है । इन दश चिह्नों के द्वारा अंतरंग धर्म जाना जाता है । उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य – ये दश धर्म के लक्षण हैं ।

धर्म तो वस्तु का स्वभाव है, स्वभाव को ही धर्म कहते हैं । लोक में जितने पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं । यदि स्वभाव का नाश हो जाये तो वस्तु का अभाव हो जाये किन्तु ऐसा नहीं होता है ।

आत्मा नाम की वस्तु है, उसका स्वभाव क्षमादि रूप है । क्रोधादि कर्मजनित उपाधि है, आवरण है । क्रोध नाम की कर्म की उपाधि का अभाव होने पर क्षमा नाम का आत्मा का स्वभाव स्वयं ही प्रकट हो जाता है । इसी प्रकार मान के अभाव से मार्दव गुण, माया के अभाव से आर्जव गुण, लोभ के अभाव से शौच गुण इत्यादि जो आत्मा के गुण हैं वे कर्म के अभाव से स्वयमेव प्रकट होते हैं। जो ये उत्तम क्षमादि आत्मा के स्वभाव हैं, वे मोहनीय कर्म के भेद क्रोधादि कषायों द्वारा अनादिकाल से आच्छादित हो रहे हैं । कषायों के अभाव से क्षमादि आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं ।

उत्तम क्षमा धर्म

अब उत्तमक्षमा गुण के स्वरूप का वर्णन करते हैं । **क्रोध बैरी का जीतना वही उत्तमक्षमा है ।** कैसा है क्रोध बैरी ? इस जीव के निवास स्थान जो संयमभाव, सन्तोषभाव, निराकुलताभाव, सम्यग्दर्शन आदि रत्नों का भण्डार उन्हें जलाने के लिये अग्नि के समान है । यश का नाश कर देता है, अपयशरूप कालिमा को बढ़ाया है, धर्म-अधर्म का विचार नष्ट कर देता है । क्रोधी के मन-वचन-काय अपने वश में नहीं रहते हैं । बहुत दिनों की प्रीति को क्षणमात्र में बिगाड़कर महान बैर उत्पन्न कर देता है ।

जो क्रोधरूप राक्षस के वश में हो जाता है वह असत्य वचन, लोक निंद्य वचन, भील चाण्डालादि के बोलने योग्य वचन बोलने लगता है । क्रोधी समस्त धर्म का लोप कर देता है । क्रोधी होकर पिता को मार डालता है; माता को, पुत्र को, स्त्री को, बालक को, स्वामी को, सेवक को, मित्र को भी प्राण रहित कर देता है । तीव्र क्रोधी तो विष से, शस्त्र से, स्वयं का ही घात कर लेता है; ऊँचे मकान से, पर्वतादि से गिरकर, कुए में कूद कर मर जाता है । क्रोधी की किसी प्रकार प्रतीति नहीं करना । क्रोधी तो यमराज तुल्य है । क्रोधी पहले तो अपने ज्ञान, दर्शन, क्षमादि गुणों का घात करता है; पश्चात् कर्म के वश से अन्य का घात हो या न हो । **क्रोध के प्रभाव से महातपस्वी दिगम्बर मुनि भी धर्म से भ्रष्ट होकर नरक गये हैं ।**

क्रोध दोनों लोकों का नाश करनेवाला है, महापाप बंध कराकर नरक पहुँचाता है, बुद्धि भ्रष्ट करता है, निर्दयी बना देता है, दूसरों के द्वारा किये गये उपकार को भुला कर कृतघ्नी बना देता है। अत: क्रोध के समान पाप अन्य नहीं है । इस लोक में क्रोधादि कषायों के समान अपना घात करनेवाला दूसरा नहीं है । **जो लोक में पुण्यवान हैं, महा भाग्यवान हैं, जिनके दोनों लोक सुधरना हैं उन्हीं के क्षमा गुण प्रकट होता है ।**

क्षमा अर्थात् पृथ्वी, उसके समान सहने का स्वभाव होना वह क्षमा है । अपने सम्यक् स्वरूप को, हित-अहित को समझकर, असमर्थों द्वारा किये हुये उपद्रवों को आप समर्थ होकर भी राग-द्वेष रहित होकर सहना, विकारी नहीं होना उसे उत्तमक्षमा कहते हैं ।

यहाँ उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन सहित होने के लिये कहा है । उत्तमक्षमा तीनलोक में सार है। उत्तमक्षमा संसार समुद्र से तारनेवाली है, रत्नत्रय को धारण करानेवाली है, दुर्गति के दु:खों को हरनेवाली है । जिसके उत्तमक्षमा होती है उसका नरक-तिर्यंच दोनों गतियों में गमन नहीं होता है । उत्तमक्षमा के साथ अनेक गुणों का समूह प्रकट होता है । मुनिराजों को तो अति प्यारी उत्तमक्षमा ही है । उत्तम क्षमा की प्राप्ति को ज्ञानीजन तो चिन्तमणि रत्न की प्राप्ति के समान लाभ मानते हैं । उत्तमक्षमा ही मन की उज्ज्वलता करती है । क्षमागुण के बिना मन की उज्ज्वलता तथा स्थिरता कभी नहीं होती है । वांछित अभिप्राय की सिद्धि करनेवाली एक उत्तमक्षमा ही है ।

क्रोध को जीतने का उपाय : क्रोध को जीतने की विधि इस प्रकार है - कोई आप को दुर्वचनादि कहकर दु:खी करे, गाली दे, चोर कहे, अन्यायी, पापी, दुराचारी, दुष्ट, नीच, दोगला, चाण्डाल,

कृतघ्नी - ऐसे अनेक दुर्वचन कहे, तो ज्ञानी को **ऐसा विचार करना चाहिये** – मैंने इसका अपराध किया है या नहीं किया ? यदि मैंने इसका अपराध किया है, तथा राग-द्वेष-मोह के वश होकर किसी बात से इसका चित्त दुखाया है तो मैं अपराधी हूँ, मुझे गाली देना, नीच, चोर, कपटी, अधर्मी कहना न्याय है । मुझे इससे अधिक दण्ड देता तो भी ठीक था । मैंने अपराध किया है, अब मुझे गाली सुनकर क्रोध नहीं करना ही उचित है । अपराधी को नरक में भी दण्ड भोगना पड़ता है । मेरे निमित्त से इसको दु:ख हुआ है । तब दु:खी होकर दुर्वचन कह रहा है, ऐसा विचार कर दु:खी न होकर क्षमा ही करता है ।

यदि दुर्वचन कहनेवाला मंदकषायी हो तो आप जाकर उससे क्षमा मांगकर उसे क्षमा ग्रहण करने को कहे : हे कृपालु ! मैं अज्ञानी हूँ, मैंने प्रमाद व कषाय के वश होकर आपका चित्त दुखाया है, अत: अब मैं अपने अपराध की माफी चाहता हूँ; भविष्य में ऐसा कार्य भूलकर भी नहीं करूँगा। एक बार किसी से भूल हो जाय तो बड़े लोग उसे माफ कर देते हैं । यदि सामनेवाला न्यायरहित तीव्र कषायी हो तो उसके पास अपराध माफ कराने नहीं जाये, कालान्तर में उसका क्रोध उपशान्त होने के पश्चात् क्षमा मांगे ।

यदि आपने अपराध किया नहीं हो, किन्तु ईर्ष्याभाव से व केवल दुष्टता से आपको दुर्वचन कहता है तथा अनेक दोष लगाता है तो ज्ञानी कुछ भी संक्लेश नहीं करे, किन्तु **इस प्रकार विचार करे** – यदि मैंने इसका धन हरण किया हो, जमीन जगह छीनी हो, इसकी जीविका बिगाड़ी हो, चुलगी खाई हो, इसके दोष कहकर मैंने अपराध किया हो तो मुझे पश्चाताप करना उचित है; यदि मैंने इसका अपराध नहीं किया है तो मुझे कुछ भी फिकर नहीं करना ।

ये दुर्वचन कहता है सो नाम को कहता है तथा कुल को कहता है, किन्तु **नाम मेरा स्वरूप नहीं है, जाति कुलादि मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ** । जिसको ये कहता है, वह मैं नहीं हूँ । जो मैं हूँ उस तक दुर्वचन पहुँचते ही नहीं हैं । अत: मुझे क्षमा करना ही श्रेष्ठ है । यह जो दुर्वचन कहता है सो मुख इसका, अभिप्राय इसका, जिह्वा-दंत-ओष्ठ इसका, भाषारूप पुद्गल शब्द इसके भावों के निमित्त से उत्पन्न हुए, जिन्हें सुनकर यदि मैं विकार को प्राप्त होता हूँ तो यह मेरी बड़ी अज्ञानता है ।

जो ईर्ष्यावान दुष्ट पुरुष मुझे गाली देता है, यदि स्वभाव से देखो तो गाली कोई वस्तु ही नहीं है । मुझे कहीं पर भी गाली लगी हुई नहीं दिखाई देती है । अत: अवस्तु में लेने-देने का व्यवहार ज्ञानी होकर कैसे स्वीकार करे ?

जो मुझे चोर, अन्यायी, कपटी, अधर्मी इत्यादि कहता है, **तब ज्ञानी इस प्रकार विचार करता है** – हे आत्मन् ! तू अनेक बार चोर हुआ, अनेक जन्मों में व्यभिचारी, जुआरी, अभक्ष्यभक्षी, भील, चाण्डाल, चमार, गोला, बांडा, शूकर, गधा इत्यादि तिर्यंच तथा अधर्मी, पापी, कृतघ्नी हो-होकर आया है तथा संसार में भ्रमण करते हुए अनेक बार होगा । अब यदि कोई तुझे कूकर, शूकर, चोर, चांडाल

कहता है, उसे सुनकर तेरा दु:खी होना बड़ा अनर्थ है । **ये दुष्टजन जो दुर्वचन कहते हैं वह इनका अपराध नहीं है, हमारे द्वारा पूर्व जन्मों में बांधे गये कर्मों का उदय है;** इसके द्वारा दुर्वचन कहने से हमारे उन कर्मों की निर्जरा होती है; यह हमें बड़ा लाभ ही है । इनका यह भी उपकार है कि- ये दुर्वचन कहनेवाले हमारे लिये दुर्वचन कहकर अपने पुण्य के समूह का तो नाश करते हैं तथा मेरे पापों को दूर करके उनकी निर्जरा करते हैं । ऐसे उपकारी पर यदि मैं क्रोध करूँ तो मेरे समान अधम कोई नहीं है ।

इसने मुझे दुर्वचन ही तो कहे हैं, मारा पीटा तो नहीं है । क्रोधी तो मारने भी लग जाता है, अपने पुत्र, पुत्री, स्त्री, बालक को भी मारता है, किन्तु इसने मुझे मारा तो नहीं है, यही लाभ है। यदि दुष्ट आपको मारे तो ऐसा विचार करना चाहिये - इसने मुझे पीटा ही तो है, प्राणरहित तो नहीं किया है । दुष्ट तो अपना मरण नहीं गिन करके भी अन्य को मार डालता है, किन्तु इसने मुझे प्राण रहित तो नहीं किया है, यही लाभ है । यदि प्राण रहित कर देता है तो **ऐसा विचार करना चाहिये**- एक बार तो मरना ही था, अच्छा ही हुआ, कर्म का ऋण चुका । हम यहाँ पर ही कर्म के ऋण से रहित हो गये, हमारा धर्म तो नष्ट नहीं हुआ है, यही लाभ है । प्राण धारण करना तो धर्म से ही सफल है । ये द्रव्य प्राण तो पुद्‌गलमय हैं । मेरे ज्ञान, दर्शन, क्षमादि धर्म ये भावप्राण हैं, इनका घात मैंने क्रोध करके नहीं किया, इस समान लाभ मुझे अन्य कुछ भी नहीं है ।

जो कल्याणरूप कार्य हैं उनमें अनेक विघ्न आते ही हैं । मुझे भी विघ्न आया वह ठीक ही है । मैं तो अब साम्यभाव की शरण लेता हूँ । यदि उपद्रव आने पर मैं क्षमा छोड़कर क्रोध से विकार रूप हो जाऊँगा तो मुझे देखकर अन्य मन्दज्ञानी तथी कायर त्यागी-तपस्वी धर्म से शिथिल हो जायेंगे, तब मेरा जन्म केवल दूसरों को दु:खी करने के लिये ही हुआ कहलाया । यदि मैं वीतराग धर्म धारण करके भी क्रोधी, विकारी, दुर्वचनी हो जाऊँ तो मुझे देकर अन्य भी क्रोधी होने लग जायेंगे, तब धर्म की मर्यादा भंग करके पाप की परिपाटी चलानेवाला मैं ही प्रधान हो गया । अत: प्राण जाने पर भी, धन व अभिमान नष्ट होने पर भी मुझे क्षमागुण छोड़ना उचित नहीं है ।

पूर्वभव में मैंने अशुभ कर्म बांधे हैं उनका फल मैं ही भोगूंगा । ये अन्य जन तो निमित्त मात्र हैं । यदि इनके निमित्त से पाप कर्म उदय में नहीं आता तो किसी अन्य के निमित्त से आता । **उदय में आया हुआ कर्म तो फल दिये बिना टलता नहीं है ।** ये लौकिक अज्ञानी मेरे ऊपर क्रोधी होकर दुर्वचन आदि के द्वारा उपद्रव करते हैं, यदि मैं भी दुर्वचनादि के द्वारा इनको उत्तर दूँ, तो मैं तत्त्वज्ञानी और ये अज्ञानी, दोनों ही समान हुए, मेरा तत्त्वज्ञानीपना निरर्थक हुआ । न्यायमार्ग से देखो, तो उदय में आया मेरा पाप कर्म, उसकी निर्जरा होने पर, कौन विवेकी अपने आत्मा को क्रोधादि के वशीभूत करेगा ?

हे आत्मन् ! पूर्व भवों में बांधे हुए असाता कर्मों का अब उदय आया है, उसे इलाज रहित, न रुकनेवाला जानकर समभावों से सहो । यदि दु:खी होकर भोगोगे तो असाता को तो भोगोगे ही,

किन्तु नये और बहुत असाता कर्मों का बंध भी करोगे। अत: होनेवाले दु:ख को निशंक होकर समभावों से ही सहो। ये दुष्टजन तो बहुत हैं, वे अपनी सामर्थ्य के द्वारा मुझमें क्रोधरूप अग्नि को प्रज्वलित कराकर, मेरी समभावरूप सम्पत्ति को जला देना चाहते हैं। अब यहाँ यदि मैं असावधान होकर क्षमा को छोड़कर क्रोधी हो जाऊँगा तो अवश्य ही अपना साम्यभाव नष्ट करके, अपना धर्म व यश का नाश करनेवाला हो जाऊँगा। इसलिये दुष्टों का संसर्ग होने पर सावधान रहना ही उचित है।

ज्ञानी मनुष्य तो असह्य दु:ख उत्पन्न होने पर भी अपने पूर्व कर्म का नाश होना जानकर हर्षित ही होते हैं। यदि दुर्वचन रूपी कांटों से पीड़ित किया गया मैं क्षमा छोड़ दूँगा तो क्रोधी और मैं, दोनों ही समान हुए। बैरी यदि अनेक प्रकार के दुर्वचन, पीड़न, मारण द्वारा मेरा इलाज नहीं करता तो मैं अपने पुराने संचित अशुभ कर्मों से कैसे छूटता ? अत: बैरी ने तो मुझ पर उपकार ही किया है जो मुझे अशुभ कर्मों से छुड़ा दिया है।

मैंने विवेकी होकर जो जिनागम के प्रसाद से साम्यभाव का अभ्यास किया है, उसकी परीक्षा लेने को ये बैरीरूप परीक्षा का स्थान प्रकट हुआ है, यहाँ पर मेरे भावों की परीक्षा हो गई। परीक्षा लेने को ही ये कर्म उदय में आये हैं। यदि मैं समभाव की मर्यादा को तोड़कर बैरियों पर क्रोध करूँगा, तो मैं ज्ञाननेत्र का धारी होकर के भी समभाव को नहीं प्राप्त कर क्रोधरूप अग्नि में जलकर भस्म हो जाऊँगा। मैं वीतराग के मार्ग पर चलनेवाला, संसार की स्थिति छेदने का उद्यम करनेवाला, यदि मेरा ही चित्त क्रोधरूप हो जायेगा तो संसार के मार्ग में प्रवर्तन करनेवाले अन्य मिथ्यादृष्टियों के समान ही मैं ठहरा।

यदि दुष्ट अज्ञानियों को न्यायरूप धर्म का मार्ग बताया, समझाया, क्षमा ग्रहण कराया, किन्तु वे नहीं समझें, क्षमा ग्रहण नहीं करें तो ज्ञानीजन उनसे क्रोध नहीं करते। जैसे - विष दूर करनेवाला वैद्य किसी का विष दूर करने के लिये अनेक औषधि आदि देकर विष दूर करना चाहता है, **किन्तु यदि रोगी का जहर दूर नहीं हो, तो वैद्य स्वयं जहर नहीं खा लेता है** – कि इसका विष दूर नहीं हुआ तो मैं ही विष खाकर मर जाऊँ, ऐसा न्याय भी नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानीजन भी पहले दुष्टों की दुष्टता की जाति पहिचानते हैं कि - यह दुष्टता छोड़ेगा या नहीं छोड़ेगा या अधिक दुष्टता धारण करेगा। ऐसा विचार कर, जिसे विपरीत परिणमता देखे उसे तो उपदेश ही नहीं देना, जो कुछ-समझने लायक योग्यतावाला दिखे उसे न्याय के वचन हितमित रूप कहना। यदि दुष्टता नहीं छोड़े तो आप क्रोधी नहीं होना।

यदि यह मुझे दुर्वचनादि उपद्रव द्वारा भयभीत नहीं करता तो मैं प्रशम भाव द्वारा धर्म की शरण कैसे ग्रहण करता ? जो मुझे पीड़ा देनेवाला है, उसने मुझे पाप से भयभीत कराकर धर्म से संबंध कराया है, इस प्रकार **पीड़ा देनेवाले ने मेरा प्रमादीपना छुड़ाकर मुझ पर बड़ा उपकार ही किया है।**

जगत में कितने उपकारी तो ऐसे हैं जो दूसरों को सुखी करने के लिए अपना शरीर छोड़ देते हैं, धन छोड़ देते हैं, तो दुर्वचन बन्धनादि सहने में मेरा क्या चला जायेगा ? मुझे दुर्वचन कहने से

ही यदि दूसरे को सुख होता है तो मेरी क्या हानि है ? मुझे पीड़ा देनेवाले पर यदि मैं क्रोध नहीं करूँगा तो बैरी के पुण्य का नाश हो जायेगा, व मेरे आत्मा के हित की सिद्धि होगी । यदि पीड़ा देनेवाले पर मैं क्रोध करूँगा तो मेरे पुण्य का नाश हो जायगा, हित का नाश हो जायगा व दुर्गति मिलेगी प्राणों का नाश होने पर भी **दुष्टों के प्रति क्षमा करना ही एक हित है,** ऐसा सत्पुरुष कहते हैं । अतः आत्म कल्याण की सिद्धि के लिये मुझे क्षमा ही ग्रहण करना चाहिये ।

दुष्टों द्वारा दुर्वचनादि से पीड़ा देने से मुझमें जो क्षमा प्रगट हुई है, वह मेरे पुण्य के उदय से ऐसी परीक्षा भूमि प्रकट हुई है जहां मैंने इतने समय से वीतराग का धर्म धारण किया है, सो अब क्रोधादि के निमित्त से साम्यभाव हुआ कि नहीं हुआ है - ऐसी परीक्षा करना चाहिये । साम्यभाव तो वही प्रशंसा योग्य है, वही कल्याण का कारण है जो मारने के इच्छुक निर्दयी द्वारा मलिन नहीं किया जा सके ।

बहुत समय से शास्त्र का अभ्यास करके व साम्यभाव करके क्या साध्य है, यदि प्रयोजन के समय वह व्यर्थ हो जाय ? धैर्य वही प्रशंसा योग्य है, जो दुष्टों के कुवचनादि होने पर भी नहीं छूटे, दृढ़ बना रहे । उपद्रव आये बिना तो सभी लोग सत्य, शौच, क्षमा के धारक बने रहते हैं । जैसे चंदन के वृक्ष को कुल्हाड़ी काटे तो चंदन का वृक्ष कुल्हाड़ी के मुख को सुगंधित ही करता है, वैसे ही **जिसकी जैसी प्रवृत्ति होती है उसको वैसी ही सिद्धि की प्राप्ति होती है ।**

अन्य के द्वारा किये उपसर्ग से तथा स्वयमेव आये उपसर्ग से जिसका चित्त कलुषित नहीं होता है वह अविनाशी संपदा को प्राप्त होता है । अज्ञानी अपने भावों द्वारा पूर्व में किये गये पाप कर्मों पर तो क्रोध नहीं करता है, किन्तु कर्म का फल देने के जो बाह्य निमित्त हैं उनके ऊपर क्रोध करता है । जिस कर्म के नाश होने से मेरे संसार का संताप नष्ट हो जाये यदि वह कर्म स्वयमेव भोगने में आ गया और नष्ट हो गया तो मुझे वांछित सुख की सिद्धि हो गई ।

इस संसाररूप वन में अनन्त संक्लेश भरे हैं । इसमें रहनेवालों को अनेक प्रकार के दुःख क्या सहने योग्य नहीं हैं ? संसार में तो दुःख ही है । यदि इस संसार में सम्यग्ज्ञान विवेक से रहित, जिनसिद्धान्तों से द्वेष करनेवाले, महानिर्दयी, परलोक के हित का विचार करने की जिनके पास बुद्धि नहीं है, क्रोधरूप अग्नि से प्रज्वलित, दुष्टता सहित, विषयों की लोलुपता से अंधे, हठग्राही, महान अभिमानी, कृतघ्नी ऐसे बहुत दुष्टजन नहीं होते, तो उज्ज्वल बुद्धि के धारक सत्पुरुष व्रत-तपश्चरण करके मोक्ष के लिये उद्यम कैसे करते ? **ऐसे क्रोधी, दुर्वचन बोलनेवाले, हठग्राही, अन्यायमार्गियों की अधिकता देख करके ही सत्पुरुष वीतरागी हुए हैं ।**

मैं बड़े पुण्य के प्रभाव से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञाता हुआ तथा सर्वज्ञ द्वारा उपदेशित पदार्थों का भी निर्णयरूप ज्ञान किया, संसार के परिभ्रमण के दुःखों से भयभीत होकर वीतराग के मार्ग में भी प्रवर्तन किया; अब यदि मैं भी क्रोध के वश में होऊँगा तो मेरा ज्ञान-चारित्र सभी निष्फल हो जायेगा, तथा धर्म का अपयश करानेवाला होकर दुर्गति का पात्र हो जाऊँगा ।

आचार्य पद्मनंदि ने तो और भी कहा है : मूर्खजनों द्वारा बाधा, पीड़ा, क्रोध के वचन, हास्य, अपमानादि होने पर भी जो उत्तमपुरुषों का मन विकार को प्राप्त नहीं होता है उसे उत्तम क्षमा कहते हैं। वह क्षमा मोक्षमार्ग में प्रवर्तते पुरुष की परम सहायक होती है। विवेकी ऐसा चिंतवन करते हैं- **हम तो रागद्वेषादि मलरहित उज्ज्वल मन से बैठे हैं, अन्य लोग हमें खोटा कहो या भला कहो, हमें उससे क्या प्रयोजन है ? वीतराग धर्म के धारकों को तो अपने आत्मा का शुद्धपना साधने योग्य है।**

यदि हमारे परिणाम दोष सहित हैं, तथा कोई हितैषी हमें भला कहता है, तो हम भले नहीं हो जायेंगे। यदि हमारे परिणाम दोष रहित हैं, तथा कोई बैर बुद्धि से हमें खोटा कहता है तो हम खोटे नहीं हो जायेंगे। **फल तो जैसी हमारी चेष्टा, परिणाम, आचरण होगा वैसा प्राप्त होगा।** जैसे किसी ने काँच को रत्न कह दिया तथा रत्न को काँच कह दिया, तो भी मूल्य तो रत्न का ही पायेगा, काँच के टुकड़े का बहुत धन कौन देगा ?

दुष्टजन का स्वभाव तो पर के दोष कहने का है; पर में बिलकुल भी दोष नहीं हो, तो भी पर के दोष कहे बिना उसे सुख नहीं मिलता है। अत: दुष्टजनों, मुझमें जो दोष हैं ही नहीं, वे लोगों के घर-घर में जाकर सभी मनुष्यों को कहकर सुखी होओ; जो धन चाहता हो वह मेरा सब कुछ ग्रहण कर सुखी हो जाओ; जो बैरी मेरे प्राण हरण करना चाहता है वह शीघ्र ही प्राण हरण कर ले; जो मेरा स्थान चाहता है वह स्थान छीन ले; मैं तो मध्यस्थ हूँ, रागद्वेष रहित हूँ। सभी संसार के प्राणी मेरे निमित्त से तो सुखरूप रहो। मेरे निमित्त से किसी प्राणी को कोई भी प्रकार का दु:ख नहीं हो। मैं यह घोषणा करता हूँ - **मेरा जीवन तो आयुकर्म के आधीन है, धन तथा स्थान का चला जाना बना रहना पाप-पुण्य के आधीन है; हमारा किसी अन्य जीव से बैर विरोध नहीं है, सभी के प्रति क्षमा है।**

हे आत्मन् ! मिथ्यादृष्टि, दुष्टतासहित, हित-अहित के विवेकरहित, मूढ़ मनुष्यों द्वारा किये गये दुर्वचनादि उपद्रवों से अस्थिर चित्त होकर, बाधा मानकर क्यों दु:खी हो रहे हो ? क्या तुम तीन लोक के चूड़ामणि भगवान वीतराग को नहीं जानते हो ? क्या तुमने वीतराग धर्म की उपासना नहीं की है ? जगत के लोग तो मूर्ख हैं, क्या तुम ऐसा नहीं जानते हो ? **मोही, मिथ्यादृष्टि, मूढ़ों का ज्ञान तो विपरीत ही होता है;** वे सब तो कर्मों के वश हैं, इसलिये उनमें क्षमा ग्रहण करना ही योग्य है।

क्षमा ही इसलोक में परमशरण है, माता के समान रक्षा करनेवाली है। बहुत क्या कहें ? जिन धर्म का मूल क्षमा है, इसी के आधार से सकल गुण हैं, कर्मों की निर्जरा का कारण है, हजारों उपद्रव दूर करनेवाली है। इसलिये धन व जीवन चले जाने पर भी क्षमा को छोड़ना योग्य नहीं है।

कोई दुष्टता से आपको प्राणरहित करता हो उस समय में भी कटु वचन नहीं कहो। मारने वाले से भी अंतरंग बैर छोड़कर ऐसा कहो - आप जो हमारे रक्षक ही हैं, परन्तु हमारी मृत्यु ही आ गई है, उसमें आप क्या कर सकते हैं ? हमारे पाप कर्म का उदय आ गया है, तो भी हमारा

बड़ा भाग्य है जो आप सरीखे महापरुषों के हाथ आदि से हमारा मरण हो रहा है। यदि हम सरीखे अपराधी को आप दण्ड नहीं दोगे तो न्याय का मार्ग बदनाम हो जायेगा। हम अपने अपराध का फल नरक-तिर्यंचगति में आगे भोगते, किन्तु आपने हमें यहीं पर कर्म के ऋण से रहित कर दिया। मैं आपसे मन-वचन-काय से बैर विरोध छोड़कर क्षमा माँगता हूँ। आप भी मुझे अपराध का दण्ड देकर क्षमा ग्रहण करो - मैं क्षमा करता हूँ। मैं रोगादि कष्टों को भोगकर अत्यंत दुःख से मरण करता, किन्तु अब धर्म की शरण लेकर, कर्म के ऋण से रहित होकर आप जैसे सज्जन की कृपा सहित मरण करूँगा। इस प्रकार मारनेवाले से भी बैर छोड़कर समभाव धारण करना वह उत्तम क्षमा है। इस प्रकार उत्तम क्षमा धर्म कहा। १।

उत्तम मार्दव धर्म

अब उत्तम मार्दव गुण का स्वरूप कहते हैं। मार्दव का स्वरूप इस प्रकार है : मान कषाय से आत्मा में जो कठोरता होती है, उस कठोरता का अभाव होने पर जो कोमलता होती है वह मार्दव नाम का आत्मा का गुण है। **आत्मा और मान कषाय के भेद को अनुभव करके मान को छोड़ना उसका नाम मार्दव गुण है**। मान कषाय तो संसार का बढ़ानेवाला है, किन्तु मार्दव संसार परिभ्रमण का नाश करनेवाला है। यह मार्दवगुण दयाधर्म का कारण है।

अभिमानी के दयाधर्म का मूल से ही अभाव है, ऐसा जानना। कठोर परिणामी तो निर्दयी होता है। मार्दवगुण सभी का हित करनेवाला है। जिनके मार्दवगुण है उन्हीं का व्रत पालना, संयम धारण करना, ज्ञान का अभ्यास करना सफल है, अभिमानी का सब निष्फल है। मार्दव नाम का गुण मान कषाय का नाश करनेवाला है तथा पाँच इन्द्रियों व मन को दण्ड देनेवाला है।

मार्दव धर्म के प्रसाद से चित्तरूप भूमि में करुणारूप नवीन बेल फैलती है। मार्दव द्वारा ही ही जिनेन्द्र भगवान में तथा शास्त्रों में भक्ति का प्रकाश होता है। मद सहित के जिनेन्द्र के गुणों में अनुराग नहीं होता है। मार्दव गुण से कुमतिज्ञान के प्रसार का नाश होता है, कुमति नहीं फैलती है। अभिमानी के अनेक प्रकार की कुबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। मार्दवगुण से बहुत विनय प्रवर्तती है। मार्दव से बहुत समय का पुराना बैरी भी बैर छोड़ देता है। मान घटने पर परिणामों में उज्ज्वलता होती है।

कोमल परिणामों द्वारा दोनों लोकों की सिद्धि होती है - कोमल परिणामी का इस लोक में सुयश होता है, परलोक में देवगति की प्राप्ति होती है। कोमल परिणामों से ही अंतरंग-बहिरंग तप शोभित होते हैं। अभिमानी का तप भी निंदा योग्य है। कोमल परिणामी से तीनों लोकों के जीवों का मन प्रसन्न रहता है। मार्दव द्वारा ही जिनेन्द्र का शासन जाना जाता है। मार्दव द्वारा ही अपने तथा पर के स्वरूप का अनुभव करते हैं। कठोर परिणामी के आपा-पर विवेक नहीं होता है। मार्दव द्वारा ही समस्त दोषों का नाश होता है। मार्दव परिणाम संसार समुद्र से पार कर देता है। अतः मार्दव परिणाम को सम्यग्दर्शन का अंग जानकर निर्मल मार्दव धर्म का स्तवन करो।

संसारी जीवों के अनादिकाल से मिथ्यादर्शन का उदय हो रहा है। उसके उदय से पर्यायबुद्धि हुआ जाति को, कुल को, विद्या को, ऐश्वर्य को, तप को, रूप को, धन को शरीर को, बल को अपना स्वरूप मानकर इनके गर्वरूप हो रहा है। उसे यह ज्ञान नहीं है कि ये जाति-कुलादि सब कर्म के उदय के आधीन पुद्गल के विकार हैं, विनाशीक हैं। मैं अविनाशी ज्ञान-स्वाभावी अमूर्तिक हूँ।

मैंने अनादिकाल से अनेक जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य आदि प्राप्त कर-करके छोड़े हैं। मैं अब किस में अपनापन करूँ ? समस्त धन, यौवन, इंद्रिय जनित ज्ञान आदि विनाशीक हैं, क्षण भंगुर हैं। इनका गर्व करना संसार में परिभ्रमण का कारण है।

इस संसार में स्वर्गलोक का महाऋद्धिधारी देव मरकर एक समय में एकेन्द्रिय में आकर उत्पन्न हो जाता है, तथा कूकर, शूकर, चांडाल आदि पर्याय को प्राप्त हो जाता है। नवनिधि - चौदह रत्नों का धारक चक्रवर्ती एक समय में मरकर सातवें नरक का नारकी हो जाता है। बलभद्र, [illegible] ऐश्वर्य भी नष्ट हो गया, अन्य की क्या कहें ? जिनकी हजारों देव सेवा करते थे उनका [illegible] होने पर कोई एक मनुष्य पानी देनेवाला भी नहीं रहा, अन्य पुण्य रहित जीव क्यों मदोन्मत्त हो रहे हैं ?

जो उत्तम ज्ञान से जगत में प्रधान हैं, उत्तम तपश्चरण करने में उद्यमी हैं, उत्तम दानी हैं वे भी अपने आत्मा को बहुत छोटा मानते हैं, उनके मार्दव धर्म होता है।

ये विनयवानपना मदरहितपना समस्त धर्म का मूल है, समस्त सम्यग्ज्ञानादि गुणों का आधार है। यदि सम्यग्दर्शनादि गुणों का लाभ चाहते हो, अपना उज्ज्वल यश चाहते हो, बैर का अभाव चाहते हो तो मदों को त्याग कर कोमलपना ग्रहण करो। मद नष्ट हुए बिना विनय आदि गुण, वचन में मिष्टता, पूज्य पुरुषों का सत्कार, दान, सम्मान एक भी गुण प्राप्त नहीं होगा।

अभिमानी के बिना अपराध ही समस्त लोग बैरी हो जाते हैं। सभी लोग अभिमानी की निन्दा करते हैं, सभी लोग अभिमानी का पतन देखना चाहते हैं। स्वामी भी अभिमानी सेवक को छोड़ देता है। गुरुजन भी अभिमानी को विद्या देने में उत्साह रहित हो जाते हैं। अभिमानी का अपना सेवक भी पराङ्मुख हो जाता है; मित्र, भाई, हितू, पड़ौसी भी इसका पतन चाहते हैं। पिता, गुरु, उपाध्याय को, पुत्र को, शिष्य को विनयवन्त देखकर ही आनंदित हो जाते हैं। अविनयी-अभिमानी पुत्र व शिष्य बड़े पुरुषों के मन को भी दुःखी करते हैं। पुत्र का, शिष्य का, सेवक का तो ये धर्म है कि नया कार्य करना हो वह पिता, गुरु, स्वामी को बतलाकर करे, आज्ञा माँगकर करे; यदि आज्ञा मांगने का समय नहीं मिले तो अवसर देखकर शीघ्र ही बतला देवे। ये ही विनय है, ये ही भक्ति है।

जिनके मस्तक पर गुरु विराजमान हैं वे धन्य भाग्य हैं। विनयवन्त मदरहित जो पुरुष हैं वे अपने सभी कार्य गुरु को बतला देते हैं। वे धन्य हैं जो इस कलिकाल में मदरहित कोमल परिणामों द्वारा समस्त लोक में प्रवर्तते हैं। उत्तम पुरुष बालक में, वृद्ध में, निर्धन में, रोगियों में, बुद्धिरहित

मूर्खों में तथा जातिकुलादि हीनों में भी यथा योग्य प्रियवचन, आदर, सत्कार, स्थान दान आदि देने से कभी नहीं चूकते हैं, प्रियवचन ही कहते हैं ।

उत्तमपुरुष उद्धतता के वस्त्र आभरण नहीं पहनते हैं; उद्धतपने का, पर के अपमान का कारण लेन-देन विवाहादि व्यवहार कार्य नहीं करते हैं; उद्धत होकर अभिमान से चलना, बैठना, झांकना, बोलना दूर से ही छोड़ देते हैं उनको लोक में पूज्य मार्दवगुण होता है । धन पाना, रूप पाना, ज्ञान पाना, विद्या-कला-चतुराई पाना, ऐश्वर्य पाना, बल पाना, जाति-कुलादि उत्तम गुण, जगत मान्यता इत्यादि पाना उनका ही सफल है, जो उद्धततारहित, अभिमानरहित, नम्रता सहित, विनय सहित प्रवर्तते हैं । जो अपने मन में अपने को सबसे छोटा मानते हुए कर्म के परवश जानते हैं, वे कैसे [illegible] कर सकते हैं ? नहीं करते हैं । हे भव्यजनों ! सम्यग्दर्शन का अंग इस मार्दव अंग को [illegible] में ध्यान करो, स्तवन करो । इस प्रकार मार्दवधर्म का वर्णन किया । २ ।

उत्तम आर्जव धर्म

अब उत्तम आर्जवधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं । धर्म का श्रेष्ठ लक्षण आर्जव है । आर्जव का अर्थ सरलता है । मन-वचन-काय की कुटिलता का अभाव वह आर्जव है ।आर्जव धर्म पाप का खण्डन करनेवाला है तथा सुख उत्पन्न करनेवाला है । अतः कुटिलता छोड़कर कर्म का क्षय करनेवाला आर्जव धर्म धारण करो । कुटिलता अशुभ कर्म का बंध करनेवाली है, जगत में अतिनिंद्य है । आत्मा का हित चाहनेवालों को आर्जवधर्म का अवलंबन लेना उचित है । जैसा मन में विचार करते हैं, वैसा ही शब्दों द्वारा अन्य को कहना तथा वैसा ही बाह्य में शरीर द्वार प्रवर्तन करना, उसे सुख का संचय करनेवाला आर्जवधर्म कहते हैं ।

मायाचाररूप शल्य मन से निकालकर उज्ज्वल पवित्र आर्जवधर्म का विचार करो । मायाचारी का व्रत, तप, संयम सभी निरर्थक है । आर्जवधर्म निर्वाण के मार्ग का सहाई है । जहाँ कुटिलवचन नहीं बोले वहाँ आर्जवधर्म होता है । यह आर्जवधर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अखण्ड स्वरूप है तथा अतींद्रिय सुख का पिटारा है । आर्जवधर्म के प्रभाव से अतीन्द्रिय अविनाशी सुख प्राप्त होता है । संसाररूप समुद्र से तिरने के लिये जहाजरूप आर्जवधर्म ही है ।

जिस समय मायाचार जान लिया जाता है उसी समय प्रीति भंग हो जाती है, जैसे कांजी डालने से दूध फट जाता है । मायाचारी अपना कपट बहुत छिपाता है, किन्तु वह प्रकट हुए बिना नहीं रहता है । दूसरे जीवों की चुगली करना व दोष बतलाना, वे स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं । मायाचार करना तो अपनी प्रतीति का बिगाड़ना है, धर्म का बिगाड़ना है । मायाचारी के समस्त हितैषी बिना किये ही बैरी हो जाते हैं ।

जो व्रती हो, त्यागी हो, तपस्वी हो किन्तु जिसकी कपट एक बार भी प्रकट हो जाय तो सभी उसे अधर्मी मानकर कोई भी उसकी प्रतीति नहीं करता है । कपटी की तो माता भी प्रतीति नहीं करती है । कपटी तो मित्र द्रोही, स्वामी द्रोही, धर्म द्रोही, कृतघ्नी है तथा यह जिनेन्द्र का धर्म तो

छल, कपट रहित है । जिस प्रकार टेढ़े म्यान में सीधी तलवार प्रवेश नहीं करती है, उसी प्रकार कपट से वक्र परिणामी के हृदय में जिनेन्द्र का आर्जवरूप सरल धर्म प्रवेश नहीं करता है ।

कपटी के दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं । यदि यश चाहते हो, धर्म चाहते हो, प्रतीति चाहते हो तो मायाचार का त्याग करके आर्जव धर्म धारण करो । कपट रहित की बैरी भी प्रशंसा करते हैं । कपट रहित सरलचित्त वाले ने यदि कोई अपराध भी किया हो तो भी वह दण्ड देने योग्य नहीं है । आर्जव धर्म का धारक तो परमात्मा के अनुभव करने का संकल्प करता है, कषाय जीतने का, संतोष धारने का संकल्प करता है, जगत के छलों का दूर से ही परिहार करता है, आत्मा को असहाय चैतन्यमात्र जानता है ।

जो धन, सम्पदा, कुटुम्ब आदि को अपनाता है वही कपट छल ठगाई करता है । जो आत्मा को संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर पर द्रव्यों से अपने को भिन्न असहाय जानता है वह धन जीवन के लिये कपट नहीं करता है । अतः यदि अपने आत्मा को संसार परिभ्रमण से छुड़ाना चाहते हो तो मायाचार का परिहार करके आर्जव धर्म धारण करो । इस प्रकार आर्जव धर्म का वर्णन किया । ३।

उत्तम सत्य धर्म[1]

अब उत्तम सत्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं । जो सत्य वचन है वह ही धर्म है । यह सत्य वचन दया, धर्म का मूल कारण है, अनेक दोषों का निराकरण करनेवाला है, इस भव में तथा परभव में सुख का करनेवाला है, सभी के विश्वास करने का कारण है । समस्त धर्मों के मध्य में सत्य वचन प्रधान है । सत्य है वह संसार समुद्र से पार उतारने को जहाज है । समस्त विधानों में सत्य बड़ा विधान है । समस्त सुख का कारण सत्य ही है । सत्य से ही मनुष्य जन्म की शोभा है। सत्य से ही समस्त पुण्य कर्म उज्ज्वल होते हैं । जो पुण्य के ऊँचे कार्य करते हैं उनकी उज्ज्वलता सत्य के बिना नहीं होती है । सत्य से ही सभी गुणों का समूह महिमा को प्राप्त होता है ।

सत्य के प्रभाव से देव भी सेवा करते हैं । सत्य सहित ही अणुव्रत-महाव्रत होते हैं । सत्य के बिना समस्त व्रत, संयम नष्ट हो जाते हैं । सत्य से सभी आपत्तियों का नाश होता है । अतः जो भी वचन बोलो वह अपने और पर के हितरूप कहो, प्रामाणिक कहो, किसी को दुःख उत्पन्न करनेवाला वचन नहीं कहो । दूसरे जीवों को बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी नहीं कहो । गर्व रहित होकर कहो। परमात्मा का अस्तित्व बतानेवाला वचन कहो । नास्तिकों के वचन, पाप-पुण्य का अभाव, स्वर्ग-नरक का अभाव बतानेवाले वचन नहीं कहो ।

यहाँ परमागम का ऐसा उपदेश जानना : यह जीव अनन्तानन्त काल तो निगोद में ही रहा है । वहाँ पर वचनरूप वर्गणा ही ग्रहण नहीं की । पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय इनमें भी अनन्तकाल रहा, वहाँ तो जिह्वा इन्द्रिय ही नहीं पाई, बोलने की शक्ति ही नहीं पाई । जब विकल चतुष्क में उत्पन्न हुआ, पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न हुआ वहाँ जिह्वा इन्द्रिय पाई तो भी अक्षर स्वरूप शब्दों का उच्चारण करने की सामर्थ्य नहीं मिली ।

---

१. यहाँ पर पं. जी ने सत्य के वर्णन में सत्यवचन का वर्णन किया है । - संपादक

एक मनुष्यपने में ही वचन बोलने की शक्ति प्रकट होती है । ऐसी दुर्लभ वचन बोलने की सामर्थ्य को पाकर उसे असत्य वचन बोलकर बिगाड़ देना, यह बड़ा अनर्थ है । मनुष्य जन्म की महिमा तो एक वचन शक्ति से ही है । नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका तो ढोर तिर्यंच के भी होते हैं । खाना, पीना, काम, भोगादि पुण्यपाप के अनुकूल जानवरों को भी प्राप्त हो जाते हैं। आभरण, वस्त्रादि कूकर, वानर, गधा, घोड़ा, ऊँट, बैल इत्यादि को भी मिल जाते हैं; परन्तु वचन कहने की शक्ति, सुनने की शक्ति, उत्तर देने की शक्ति, पढ़ने-पढ़ाने का कारण वचन शक्ति तो मनुष्य जन्म में ही प्राप्त होती है । जिसने मनुष्य जन्म पाकर वचन बिगाड़ लिया, उसने समस्त जन्म बिगाड़ दिया । मनुष्य जन्म में भी लेना-देना, कहना-सुनना, धीरज-प्रतीति, धर्म-कर्म, प्रीति-बैर इत्यादि जितने भी प्रवृत्तिरूप व निवृत्तिरूप कार्य हैं वे सभी वचन के अधीन हैं । जिसने वचन को ही दूषित कर दिया उसने समस्त मनुष्य जन्म का व्यवहार बिगाड़ कर दूषित कर दिया । अतः प्राण जाने पर भी अपने वचन को दूषित नहीं करो ।

परमागम में कहे हुए चार प्रकार के असत्य वचन का त्याग करो ।

करणानुयोग का कथन (१) : विद्यमान अर्थ का निषेध करना वह प्रथम असत्य वचन है। जैसे - कर्मभूमि के मनुष्य-तिर्यंच की अकाल मृत्यु नहीं होती है - ऐसा वचन असत्य है । देव, नारकी तथा भोगभूमि के मनुष्य व तिर्यंच का तो आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हो जाने पर ही मरण होता है, बीच में आयु छेदी नहीं जा सकती है, जितनी स्थिति बांधी थी उतनी भोग करके ही मरण करता है ।

बाह्य निमित्त की मुख्यता से कथन : कर्मभूमि के मनुष्य-तिर्यंचों की आयु का नाश विष खाने से, पीटने से, मारने से, छेदने से, बन्धनादि की वेदना से, रोग की तीव्र वेदना से, शरीर से रक्त निकल जाने से, तथा दुष्ट मनुष्य-दुष्ट तिर्यंच भयंकर देवों द्वारा उत्पन्न किये गये भय से, वज्रपातादि के स्वचक्र-परचक्रादि के भय से, शस्त्र के घात से, पर्वत आदि से गिरने से, अग्नि-पवन-जल-कलह-विसंवादादि से उत्पन्न क्लेश से, श्वास-उच्छ्वास के रुक जाने से, आहार-पानादि का निरोध होने से आयु का नाश हो जाता है । आयु की लम्बी (दीर्घ) दिखने वाली स्थिति भी विष भक्षण, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, श्वासोच्छ्वास निरोध, अन्न पान का अभाव आदि से तत्काल ही नाश को प्राप्त हो जाती है ।

प्रश्न : कितने ही लोग कहते हैं कि आयु पूर्ण हुए बिना मरण नहीं होता है ?

उत्तर : यदि बाह्य निमित्त से आयु नहीं छिदती है तो विष भक्षण से कौन पीछे हटता? विष खानेवाले को उखाली क्यों देते ? शस्त्रघात करनेवाले से डरकर क्यों भागते ? सर्प, सिंह, व्याघ्र, हाथी, दुष्ट मनुष्य, दुष्ट तिर्यंचों को दूर से ही क्यों छोड़ते ? नदी, समुद्र, कुआ, बावड़ी में, अग्नि की ज्वाला में गिरने से कौन भय खाता? रोग का इलाज क्यों करते ? अधिक कहने से क्या ? **यदि आयुघात होने का बहिरंग कारण मिल जाता है तो जिसकी आयु का घात होना ही है, उसकी आयु का घात हो ही जाता है, यह निश्चय है ।**

आयु कर्म के समान ही अन्य कर्म भी बहिरंग कारण मिलने पर उदय में आ ही जाते हैं। सभी जीवों के पापकर्म-पुण्यकर्म सत्ता में विद्यमान है, बाह्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल भावादि परिपूर्ण सामग्री के मिलने पर अपना रस देते ही हैं; यदि बाह्य निमित्त नहीं मिलता है तो उदय में नहीं आते हैं, बिना रस दिये ही निर्जरित हो जाते हैं।

करणानुयोग का कथन (२) : असद्भूत को (अविद्यमान अर्थ को) प्रकट करना वह दूसरा असत्य वचन है। जैसे - देवों की अकाल मृत्यु कहना, देवों को भोजन ग्रासादि रूप से करने वाला कहना, देवों को मांस भक्षी कहना, मनुष्यनी को देव के साथ कामसेवन व देवांगना को मनुष्य के साथ कामसेवन इत्यादि कहना, वह दूसरा असत्य वचन है।

द्रव्यानुयोग का कथन (३) : वस्तु स्वरूप को अन्य विपरीत स्वरूप कहना वह तीसरा असत्य वचन है।

चरणानुयोग का कथन (४) : गर्हित वचन कहना वह चौथा असत्य वचन है। गर्हित वचन के तीन भेद हैं - गर्हित १, सावद्य २, अप्रिय ३।

गर्हित वचन त्याग १ : पैशून्य, हास्य, कर्कश, असमंजस, प्रलपित, इत्यादि अन्य और भी आगम विरुद्ध वचन कहना वह **गर्हित** वचन है। दूसरे के विद्यमान व अविद्यमान दोषों को पीठ पीछे कहना, जिस वचन से दूसरे के धन का विनाश, जीविका का विनाश, प्राणों का विनाश हो जाय, जगत में निंद्य हो जाय, अपवाद हो जाय, ऐसे वचन कहना वह **पैशून्य** नाम का गर्हित असत्य वचन है। हास्य, लीला, भण्ड वचन, सुननेवालों को अशुभराग उत्पन्न करनेवाले वचन कहना वह **हास्य** नाम का गर्हित वचन है। अन्य को कहना कि तू ढांढ़ा है, गधा है, मूर्ख है, अज्ञानी है, मूढ़ है इत्यादि वचन **कर्कश** नाम का गर्हित वचन है। देशकाल के अयोग्य वचन कहना जिससे स्वयं को तथा दूसरे को महासंताप उत्पन्न हो जाये वह **असमंजस** नाम का गर्हित वचन है। प्रयोजन रहित ढीठपने से बकवाद करना वह **प्रलपित** नाम का गर्हित वचन है। १।

सावद्य वचन त्याग २ : जिस वचन के द्वारा प्राणियों का घात हो जाय, देश में उपद्रव हो जाय, देश लुट जाय, देश के स्वामियों में महाबैर हो जाय, गाँव में अग्नि लग जाय, घर जल जाय, वन में अग्नि लग जाय, कलह-विसंवाद-युद्ध होने लगे, दुःख से कोई मर जाय, बैर बाँध ले, छह काय के जीवों का घात प्रारंभ हो जाय, महाहिंसा में प्रवृत्ति होने लगे वह सावद्य वचन है; पर को चोर कहना, व्यभिचारी कहना वह सब सावद्य वचन दुर्गति के कारण हैं, अतः त्यागने योग्य हैं। २।

अप्रिय वचन त्याग ३ : त्यागने योग्य अप्रिय वचन प्राण जाते हुए भी नहीं कहना चाहिये। अप्रिय भाषा के दश भेद इस प्रकार जानना - कर्कशा, कटुका, परुषा, निष्ठुरा, परकोपनी, मध्यकृषा, अभिमाननी, अनयंकरी, छेदंकरी, भूतवधकरी। इन महापापरूप महानिंद्य दश भाषा बोलने का सत्यवादी त्याग करता है।

तू मूर्ख है, बैल है, ढोर है, रे मूर्ख, तू क्या समझेगा इत्यादि कर्कशा भाषा है । तू कुजाति है, नीच जाति का है, अधर्मी है, महापापी है, तू स्पर्श करने योग्य नहीं है, तेरा मुख देखने से बड़ा अनर्थ होता है, इत्यादि उद्वेग करने वाली कटुका भाषा है । तू आचार भ्रष्ट है, भ्रष्टाचारी है इत्यादि मर्म छेदनेवाली परुषा भाषा है । मैं तुझे मार डालूँगा, तेरी नाक काटूँगा, तुझे गर्म सलाख लगाऊँगा, तेरा मस्तक काट डालूँगा, तुझे खा जाऊँगा इत्यादि निष्ठुरा भाषा है । रे निर्लज्ज, वर्ण शंकर, तेरे जाति-कुल आचार का ठिकाना नहीं है, तेरा क्या तप है, तू कुशीली है, तू हँसने योग्य है, तू महानिंद्य है, तू अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है; तेरा नाम लेने से कुल लज्जित होता है इत्यादि परकोपनी भाषा है।

जिस वचन को सुनने से ही हड्डियों की ताकत नष्ट हो जाती है, सामर्थ्य नष्ट हो जाती है वह मध्यकृषा भाषा है । लोगों में अपने गुण प्रकट करना, दूसरों के दोष कहना, अपना कुल-जाति-रूप-बल-विज्ञान आदि का मद सहित वचन बोलना वह अभिमाननी भाषा है । शील का खण्डन करनेवाली तथा विद्वेष करनेवाली अनयंकरी भाषा है । वीर्य, शील, गुणादि को निर्मूल करनेवाली, असत्य दोष प्रकट करनेवाली, जगत में झूठा कलंक प्रकट करनेवाली छेदंकरी भाषा है । जिस वचन से अशुभ वेदना प्रकट हो जाय, ऐसी प्राणों का घात करनेवाली भूतवधकरी भाषा है । ये दश प्रकार के निंद्य अप्रिय वचन त्यागने योग्य हैं ।

स्त्रियों के हावभाव, विलास, विभ्रम, क्रीड़ा, व्यभिचारादि की कथा, काम को जगानेवाली, ब्रह्मचर्य का नाश करनेवाली स्त्रियों की कथा; भोजनपान में राग करानेवाली भोजन की कथा; रौद्रभाव करानेवाली राजकथा; चोरों की कथा; मिथ्यादृष्टि कुलिंगियों की कथा; धन उपार्जन करने की कथा; बैरी दुष्टों का तिरस्कार करने की कथा, तथा हिंसा को पुष्ट करनेवाली वेद, स्मृति, पुराण आदि कुशास्त्रों की कथा कहने योग्य नहीं है, सुनने योग्य नहीं है । पाप के आस्रव का कारण होने से विकथारूप अप्रिय भाषा त्यागने योग्य है । ३ ।

हे ज्ञानी जनों ! चार प्रकार की असत्य वचनरूप निंद्य भाषा हँसी में, क्रोध में, मद से, छल से, लोभ से, भय से, द्वेष से कभी नहीं कहो । अपने तथा पर के हितरूप ही वचन बोलो । इस जीव को जैसा सुख हितरूप अर्थसहित मिष्ठवचन करता है, निराकुल करता है, आताप हरता है, वैसा सुखकारी आताप हरनेवाला चन्द्रमा, चन्द्रकांतमणि, जल, चन्दन, मोती आदि कोई पदार्थ नहीं है ।

जहाँ अपने बोलने से धर्म की रक्षा होती हो, प्राणियों का उपकार होता हो, वहाँ बिना पूछे ही बोलना, तथा जहाँ आपका व अन्य का हित नहीं हो वहाँ मौन सहित ही रहना उचित है । सत्य बोलने से समस्त विद्या सिद्ध होती है, जहाँ विद्या देने वाला सत्यवादी हो तथा सीखने वाला भी सत्यवादी हो उसे समस्त विद्या सिद्ध होती है, कर्म की निर्जरा होती है । सत्य के प्रभाव से अग्नि, जल, विष, सिंह, सर्प, दुष्ट देव, मनुष्यादि बाधा नहीं कर सकते हैं ।

सत्य के प्रभाव से देवता वश में हो जाते हैं, प्रीति-प्रतीति दृढ़ होती है । सत्यवादी माता के समान विश्वास योग्य है, गुरु के समान पूज्य होता है, मित्र के समान प्रिय होता है, उज्ज्वल यश

को प्राप्त होता है । तप-संयम आदि सभी सत्य वचन से शोभित होते हैं । जैसे विष मिल जाने से मिष्ठ भोजन का नाश हो जाता है, अन्याय से धर्म व यश का नाश हो जाता है, उसी प्रकार असत्य वचन से अहिंसा आदि सभी गुणों का नाश हो जाता है ।

असत्य वचन से अप्रतीति, अकीर्ति, अपवाद, स्वयं को व अन्य को संक्लेश, अरति, कलह, बैर, भय, शोक, बध, बंधन, मरण, जिह्वाछेद, सर्वस्व हरण, बन्दीगृह में प्रवेश, दुर्ध्यान, अपमृत्यु, व्रत-तप-शील-संयम का नाश, नरकादि दुर्गति में गमन, भगवान की आज्ञा का भंग, परमागम से पराङ्मुखता, घोर पाप का आस्रव इत्यादि हजारों दोष प्रकट होते हैं । इसलिये हे ज्ञानीजन हो ! लोक में प्रिय, हित, मधुर वचन बहुत भरा है, सुन्दर शब्दों की कमी नहीं है, फिर निंद्य असत्य वचन क्यों बोलते हो?

रे, तू इत्यादि नीच पुरुषों के बोलने के वचन प्राण जाने पर भी नहीं कहो । अधमपना और उत्तमपना तो वचनों से ही जाना जाता है । नीचों के बोलने के निंद्य वचन को छोड़कर प्रिय, हित, मधुर, पथ्य, धर्मसहित वचन कहो । जो दूसरों को दु:ख देने वाले वचन कहते हैं तथा झूठा कलंक लगाते हैं उनकी बुद्धि यहाँ पर ही पाप से भ्रष्ट हो जाती है, जिह्वा गल जाती है, अंधे हो जाते हैं, पैर टूट जाते हैं, दुर्ध्यान से मरकर नरक-तिर्यंच आदि कुगति के पात्र हो जाते हैं । सत्य के प्रभाव से यहाँ उज्ज्वल यश, वचन की सिद्धि, द्वादशांगादि श्रुत का ज्ञान पाकर, फिर इन्द्रादि महर्द्धिकदेव होकर, तीर्थंकर आदि उत्तम पद पाकर निर्वाण को चले जाते हैं । इसलिये उत्तम सत्यधर्म ही को धारण करो। इस प्रकार सत्य धर्म का वर्णन किया । ४ ।

उत्तम शौच धर्म

अब उत्तम शौचधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं । शौच का अर्थ पवित्रता उज्ज्वलता है । बहिरात्मा तो देह की उज्ज्वलता, स्नानादि करने को शौच कहते हैं, किन्तु देह तो सप्त धातुमय, मलमूत्र से भरी जल से धोने से शुचिपने को प्राप्त नहीं होती है । जैसे मल से बना, मल से भरा घड़ा जल से धोने से शुद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार शरीर भी शुद्ध उज्ज्वल जल से धोने से शुद्ध नहीं होता है । शरीर को शुद्ध मानना वृथा है ।

शौचधर्म तो आत्मा को उज्ज्वल करने से होता है । आत्मा लोभ से, हिंसा से अत्यन्त मलिन हो रहा है, अत: आत्मा के लोभमल का अभाव होने से शुचिता होगी । जो अपने आत्मा को देह से भिन्न ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोगमय, अखण्ड, अविनाशी, जन्म-जरा-मरण रहित, तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों का प्रकाशक सदाकाल अनुभव करता है, ध्याता है उसे शौचधर्म होता है । **मन को मायाचार, लोभादि से रहित उज्ज्वल करने से शौचधर्म होता है ।** जिसका मन काम, लोभादि से मलिन हो रहा है उसे शौचधर्म नहीं होता है । धन की गृद्धता व अतिलम्पटता का त्याग करने से शौचधर्म होता है ।

परिग्रह की ममता छोड़कर, इंद्रियों के विषयों का त्यागकर, तपश्चरण के मार्ग में प्रवर्तन करना वह शौचधर्म है । ब्रह्मचर्य धारण करना वह शौचधर्म है । आठ मदों से रहित विनयवानपना भी शौचधर्म

है । अभिमानी मद सहित होने से महामलिन है, उसके शौचधर्म कैसे होगा ? **वीतराग सर्वज्ञ के परमागम का अनुभव करके अंतरंग मिथ्यात्व कषायादि मल का धोना वह शौचधर्म है** । उत्तम गुणों की अनुमोदना करने से शौचधर्म होता है । परिणामों में उत्तम पुरुषों के गुणों का चिंतवन करने से आत्मा उज्ज्वल होता है । कषाय मल का अभाव करने से उत्तम शौचधर्म होता है । आत्मा को पाप से लिप्त नहीं होने देना, वह शौचधर्म है ।

जो समभाव-संतोषभावरूप जल से तीव्र लोभरूप मल के पुंज को धोता है, भोजन में अतिलम्पटता रहित है, उसके निर्मल शौचधर्म होता है । भोजन का लंपटी अति अधम है, अखाद्य वस्तु भी खा लेता है, हीनाचारी होता है, लज्जा नष्ट हो जाती है । संसार में जिह्वा इंद्रिय व उपस्थ इंद्रिय के वशीभूत हुए जीव अपना स्वरूप भूलकर, नरक-तिर्यंचगति के कारण महानिंद्य परिणामों को प्राप्त हो जाते हैं ।

संसार में परधन की इच्छा, परस्त्री की वांछा, भोजन की अतिलंपटता ही परिणामों को मलिन करनेवाली है । इनकी वांछा से रहित होकर अपने आत्मा की संसार में पतन से रक्षा करो । **आत्मा की मलिनता तो जीव हिंसा से तथा परधन, परस्त्री की वांछा से है** । जो परस्त्री, परधन के इच्छुक तथा जीवघात करनेवाले हैं वे करोड़ों तीर्थों में स्नान करो, समस्त तीर्थों की वंदना करो, करोड़ों का दान करो, करोड़ों वर्षों तक तप करो, समस्त शास्त्रों का पठन-पाठन करो तो भी उनके शुचिता कभी नहीं होती है ।

अन्याय, अनीति तथा अभक्ष्य-भक्षण का फल : अभक्ष्य-भक्षण करनेवालों के व अन्याय के विषय तथा धन भोगनेवालों के परिणाम इतने मलिन होते हैं कि करोड़ों बार धर्म का उपदेश व समस्त सिद्धान्त शास्त्रों की शिक्षा बहुत वर्षों से सुनते रहने पर भी वह कभी हृदय में प्रवेश नहीं करती है । प्रत्यक्ष ही देखते हैं - **जिनको पचास वर्ष शास्त्र सुनते हुए हो गये हैं किन्तु जिन्हें धर्म के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं हुआ है, वह सब अन्याय का धन तथा अभक्ष्य-भक्षण का फल है ।**

इसलिये यदि अपनी आत्मा की पवित्रता चाहते हो तो अन्याय का धन मत ग्रहण करो, अभक्ष्य भक्षण नहीं करो, परस्त्री की वांछा नहीं करो । शौचधर्म तो परमात्मा के ध्यान से होता है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह के त्याग से शौचधर्म होता है ।

जो पाँच पापों में प्रवर्तनेवाले हैं वे सदाकाल मलिन हैं । जो पर के उपकार को लोप करते हैं वे कृतघ्नी सदा ही मलिन हैं । जो गुरुद्रोही, धर्मद्रोही, स्वामीद्रोही, मित्रद्रोही उपकार को लोपने वाले हैं; उनके पाप का संतानक्रम असंख्यात भवों तक करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से, दान करने से दूर नहीं होता है । **विश्वासघाती सदा ही मलिन है ।**

अत: भगवान के परमागम की आज्ञा के अनुसार शुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को पवित्र बनाओ । क्रोधादि कषायों का निग्रह करके उत्तम क्षमादि गुण धारण कर आत्मा को उज्ज्वल करो । समस्त व्यवहार कपट रहित उज्ज्वल करो । परका वैभव, ऐश्वर्य, उज्ज्वल यश, उत्तम विद्या

प्रभाव देखकर अदेखपना भावरूप मलिनता छोड़कर शौचधर्म अंगीकार करो। दूसरों का पुण्य का उदय देखकर दुःखी नहीं होओ। इस मनुष्य पर्याय को तथा इंद्रिय, ज्ञान, बल, आयु, संपदादि को अनित्य, क्षणभंगुर जानकर, एकाग्रचित से अपने स्वरूप में दृष्टि रखकर, अशुभ भावों का अभाव करके आत्मा को शुचि करो। शौच ही मोक्ष का मार्ग है, शौच ही मोक्ष का दाता है। इस प्रकार शौच धर्म का वर्णन किया। ५।

उत्तम संयम धर्म

अब उत्तम संयमधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। संयम का लक्षण इस प्रकार जानना - अहिंसा अर्थात् हिंसा को त्यागकर दयारूप रहना, हित-मित-प्रिय-सत्य वचन बोलना, पर के धन में वांछा का अभाव करना, कुशील छोड़ना, परिग्रह का त्याग करना, ये पाँच व्रत हैं। पाँच पापों का एकदेश त्याग करना वह **अणुव्रत** है, सम्पूर्ण त्याग करना वह **महाव्रत** है। इन पाँच व्रतों को दृढ़ धारण करना, पाँच समिति पालना। उनमें गमन की शुद्धता **ईर्या समिति है**, वचन की शुद्धता **भाषा समिति है**, निर्दोष शुद्ध भोजन करना **ऐषणा समिति** है, शरीर तथा उपकरणों को नेत्रों से देख-शोध कर उठाना-धरना वह **आदान निक्षेपण समिति** है, मलमूत्र-कफादि मलों को ऐसे स्थान में फेंकना-त्यागना जहाँ अन्य जीवों को ग्लानि, दुःख, बाधादि उत्पन्न नहीं हो वह **प्रतिष्ठापन समिति** है।

इन पाँच समितियों का पालना, क्रोध-मन-माया-लोभ-इन चार कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति - ये तीन दण्ड हैं, इन दण्डों का त्याग करना, तथा विषयों में दौड़नेवाली पाँच इन्द्रियों को वश में करना-जीतना वह संयम है।

पाँच महाव्रतों का धारण, पाँच समितियों का पालन, चार कषायों का निग्रह, तीन दण्डों का त्याग, पाँच इन्द्रियों की विजय को जिनेन्द्र के परमागम में संयम कहा है। वह संयम प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है। पूर्व के बाँधे अशुभ कर्मों का अत्यंत मंद उदय होने से मनुष्यजन्म, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम जाति, इन्द्रियों की परिपूर्णता, निरोगता, कषायों की मंदता, उत्तम संगति, जिनेन्द्र के आगम का सेवन, सच्चे गुरुओं का संयोग, सम्यग्दर्शन आदि अनेक दुर्लभ सामग्री का संयोग होने पर संसार, देह, भोगों से अति विरक्तता के धारक मनुष्यों को अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से देश संयम होता है; तथा अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान दोनों कषायों के क्षयोपशम से सकल संयम होता है। इसलिये संयम प्राप्त करना महादुर्लभ है।

नरकगति में, तिर्यंचगति में व देवगति में तो संयम होता ही नहीं है। किसी तिर्यंच के अपनी पर्याय की योग्यता के अनुसार कभी देशव्रत होते हैं। मनुष्य पर्याय में भी नीच कुलादि में, अधम देशों में, इन्द्रियों से पीड़ित, अज्ञानी, रोगी, दरिद्री, अन्यायमार्गी, विषयानुरागी, तीव्र कषायी, निंद्यकर्मी, मिथ्यादृष्टियों को संयम कभी नहीं होता है। इसलिये संयम प्राप्त करना अति दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ संयम को भी पाकर कोई मूढ़बुद्धि यदि विषयों का लोलुपी होकर छोड़ देता है, किसी प्रकार से नष्ट कर देता है तो वह अनन्तकाल तक जन्म-मरण करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।




जो संयम को प्राप्त करने के बाद उसे छोड़ देता है, बिगाड़ देता है उसको अनन्तकाल तक निगोद में परिभ्रमण, त्रस-स्थावरों में भ्रमण करना पड़ता है, सुगति नहीं मिलती है । **संयम प्राप्त करके उसे बिगाड़ने के समान बड़ा अनर्थ दूसरा नहीं है** । विषयों का लोभी होकर जो संयम को बिगाड़ता है वह एक कौड़ी में चिन्तामणि रत्न बेच देनेवाले व ईंधन के लिये कल्पवृक्ष को काटनेवाले के समान है ।

विषयों का सुख तो सुख ही नहीं है, वह तो सुखाभास है, क्षण भंगुर है, नरकों के घोर दु:खों की प्राप्ति का कारण है; किंपाक फल के समान जिह्वा का स्पर्शमात्र ही मीठा लगता है पश्चात् घोर दु:ख, महादाह, संताप देकर मरण को प्राप्त कराता है; उसी प्रकार भोग भी किंचित्काल मात्र को अज्ञानी जीवों को भ्रम से सुख जैसा लगता है, पश्चात् तो अनन्तकाल तक अनन्त भवों में घोर दु:ख ही भोगने पड़ते हैं । इसलिये संयम की परम रक्षा करो ।

पाँच इंद्रियों के विषयों के भोग छोड़ने से संयम होता है, कषायों का नाश करने से संयम होता है, दुर्द्धर तप को धारण करने से संयम होता है, रसों का त्याग करने से संयम होता है, मन के विकल्प जाल का प्रसार रोकने से संयम होता है, मन में परिग्रह की लालसा का त्याग करने से संयम होता है, महान कायक्लेशों को सहने से संयम है । उपवासादि अनशन तप करने से संयम होता है । त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा करना ही संयम है ।

मन के विकल्पों को रोकने से तथा प्रमाद से होनेवाली वचनों की प्रवृत्ति को रोकने से संयम होता है, शरीर के अंग-उपांगों के प्रमादी प्रवर्तन को रोकने से संयम होता है, बहुत गमन को रोकने से संयम होता है, दयारूप परिणामों द्वारा संयम होता है, परमार्थ का विचार करने से तथा परमात्मा का ध्यान करने से संयम होता है ।

संयम से ही सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है । संयम ही मोक्ष का मार्ग है । संयम बिना मनुष्यभव शून्य है, गुण रहित है । संयम बिना ही यह जीव दुर्गतियों में गया है । संयम बिना देह का धारण करना, बुद्धि का पा लेना, ज्ञान की आराधना करना, सभी व्यर्थ हैं । **संयम बिना दीक्षा धारणा, व्रत धारणा, मूंड मुडावना, नग्न रहना, भेष धारणा – ये सभी वृथा हैं ।**

संयम दो प्रकार का है : इंद्रिय संयम तथा प्राणी संयम । जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से नहीं रुकीं, छह: काय के जीवों की विराधना नहीं टली उसका बाह्य परीषह सहना, तपश्चरण करना, दीक्षा लेना वृथा है । संसार में दु:खी जीवों का संयम बिना कोई अन्य शरण नहीं है । **ज्ञानीजन तो ऐसी भावना भाते हैं – संयम बिना हमारे मनुष्य भव की एक घड़ी भी नहीं व्यतीत हो,** संयम बिना आयु निष्फल है । संयम ही इस भव में तथा पर भव में शरण हैं, दुर्गतिरूप सरोवर को सोखने के लिये सूर्य के समान है । संयम से ही संसाररूप विषम बैरी का नाश होता है । संसार परिभ्रमण का नाश संयम के बिना नहीं होता, ऐसा नियम है । जो अंतरंग में कषायों से आत्मा को मलिन नहीं होने देता तथा बाह्य में यत्नाचारी होकर प्रमाद रहित प्रवर्तन करता है उसके संयम होता है । इस प्रकार संयम धर्म का वर्णन किया । ६ ।

उत्तम तप धर्म

अब उत्तम तपधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं । इच्छा का निरोध करना वह तप है । तप चार आराधनाओं में प्रधान है । जैसे स्वर्ण को तपाने से - सोलह बार पूर्ण उष्णता (ताप) देने पर वह समस्त मैल छोड़कर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी बारह प्रकार के तपों के प्रभाव से कर्ममल रहित होकर शुद्ध हो जाता है ।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि तो शरीर को पंचाग्नि द्वारा तपाने में, तथा अनेक प्रकार के कायक्लेश सहने को तप कहता है किन्तु वह तप नहीं है । शरीर को जला देने से, सुखाकर कृष कर देने से क्या होता है ? **मिथ्यादृष्टि ज्ञान पूर्वक आत्मा को कर्मों के बन्धन से छुड़ाना नहीं जानता है** । आत्मा कर्म-कलंक रहित तो भेद-विज्ञान पूर्वक अपने आत्मा के स्वभाव को तथा राग-द्वेष-मोहादि भावकर्मरूप मैल को भिन्न-भिन्न देखकर **जिस प्रकार से राग-द्वेष-मोहरूप मैल भिन्न हो जाय तथा शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा भिन्न हो जाय, वह तप है ।**

इसीलिये कहा है : मनुष्य भव पाकर यदि स्व-पर तत्त्व का ज्ञान किया है तो मन सहित पाँचों इंद्रियों को रोककर, विषयों से विरक्त होकर, सभी परिग्रहों को छोड़कर, बंध करनेवाली राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति को छोड़कर, पाप के आलम्बन से छूटने के लिये, ममता नष्ट करने के लिये वन में जाकर तप करना चाहिये । ऐसा तप धन्य पुरुषों के द्वारा ही होता है ।

संसारी जीव के ममतारूप बड़ी फांसी है । वह ममतारूप जाल में फंसा हुआ, घोर कर्म करता हुआ, महापाप का बंध करके, रोगादि की तीव्र वेदना से तथा स्त्री-पुत्रादि समस्त कुटुम्ब व परिग्रह के वियोगादि से उत्पन्न तीव्र आर्तध्यान से मरण करके दुर्गतियों के घोर दुःखों को प्राप्त करता है ।

तपोवन को प्राप्त होना दुर्लभ है । तप तो कोई महा भाग्यवान पुरुष पापों से विरक्त होकर, समस्त स्त्री-कुटुम्ब-पुत्र-धनादि परिग्रह से ममत्व छोड़कर, परम धर्म के धारक वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरणों की शरण में पाता है । गुरुओं को प्राप्त करके जिसके अशुभकर्म का उदय अति मंद हो गया हो, सम्यक्त्वरूप सूर्य का उदय प्रकट हुआ हो, संसार-विषय-भोगों से विरक्तता उत्पन्न हुई हो वही तप-संयम ग्रहण करता है ।

ऐसा दुर्द्धर तप धारण करके भी यदि कोई पापी विषयों की इच्छा से बिगाड़ता है, उसको अनन्तानन्त काल तक फिर तप प्राप्त नहीं होता है । अतः मनुष्य भव पाकर, तत्त्वों का स्वरूप जानकर, मन सहित पाँच इन्द्रियों को रोककर, वैराग्यरूप होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, वन में एकाकी ध्यान में लीन होकर बैठना वह तप है ।

परिग्रह में ममता नष्ट होकर वांछा रहित हो जाना, तथा प्रचण्ड काम का खण्डन करना वह बड़ा तप है । नग्न दिगम्बर रूप धारण करके शीत की, आतप की, पवन की, वर्षा की, डांस, मच्छर, मक्षिका, मधुमक्षिका, सर्प, बिच्छू इत्यादि से उत्पन्न हुई घोर वेदना को कोरे-नग्न शरीर पर सहना वह

तप है । निर्जन पर्वतों की निर्जन गुफाओं, में, भयंकर पर्वतों की दरारों में, तथा सिंह, व्याघ्र, रीछ, सियाली, चीता, हाथी से भरे घोर वन में निवास करना वह तप है । दुष्ट, बैरी, म्लेच्छ, चोर, शिकारी, मनुष्य तथा दुष्ट-व्यंतर आदि द्वारा किये गये घोर उपसर्गों से कंपायमान नहीं होना, धीर-वीरपने से कायरता छोड़कर बैर-विरोध छोड़कर, समताभाव से परमात्मा के ध्यान में लीन होकर सहना वह तप है । समस्त जीवों को उलझाने वाले राग-द्वेष आदि को जीतना, नष्ट करना वह तप है ।

याचना रहित, भोजन के अवसर में, श्रावक के घर में, नवधाभक्तिपूर्वक, हाथ में रखा अलोना, कड़ुआ, खट्टा, लूखा, चिकना, रस-नीरस, निर्दोष, प्रासुक आहार लोलुपता रहित, संक्लेश रहित, एकबार खाना वह तप है । पाँच समितियों का पालना, मन-वचन-काय को चलायमान नहीं करना, रागद्वेष रहित अपने आत्मा का अनुभव करना वह तप है । स्व-पर तत्त्व की कथनी का निर्णय करना, चारों अनुयोग का अभ्यास करते हुए धर्म सहित काल व्यतीत करना वह तप है । अभिमान छोड़कर विनयरूप प्रवर्तना, कपट छोड़कर सरल परिणाम रखना, क्रोध छोड़कर क्षमा ग्रहण करना, लोभ त्यागकर निर्वांछक होना वह तप है । जिससे कर्म के समूह का नाश करके आत्मा स्वाधीन हो जाय वह तप है ।

श्रुत के अर्थ का प्रकाश करना, व्याख्यान करना, स्वयं निरंतर अभ्यास करना, दूसरों को अभ्यास कराना वह तप है । तपस्वियों का स्तवन-भक्ति देवों का इन्द्र भी करता है । तप से केवलज्ञान उत्पन्न होता है । तप का अचिन्त्य प्रभाव है । तप करने के परिणाम होना अति दुर्लभ हैं । नारकी, तिर्यंच, देवों में तप करने की योग्यता ही नहीं है; एक मनुष्य गति में ही तप होता है । मनुष्यों में भी उत्तम कुल, जाति, बल, बुद्धि, इंद्रियों की पूर्णता, रागादि की मंदता जिसके होती है, तथा विषयों की लालसा जिसके नष्ट हो जाती है उसी के तप होता है ।

तप बारह प्रकार का है – जिसकी जैसी शक्ति हो उसके अनुसार तप धारण करना चाहिये। बालक करे, वृद्ध करे, तरुण करे, धनवान करे, निर्धन करे, बलवान करे, निर्बल करे, सहाय सहित हो वह करे, सहायरहित हो वह करे, भगवान का कहा हुआ तप किसी के भी करने को अशक्य नहीं है । जिस प्रकार से वात-पित्त-कफादि का प्रकोप नहीं हो, रोग की वृद्धि नहीं हो, शरीर रत्नत्रय का सहकारी बना रहे, उस प्रकार अपना संहनन, बल, वीर्य देखकर तप करना चाहिये । **देश, काल, आहार की योग्यता देखकर तप करना चाहिये** । जैसे तप में उत्साह बढ़ता रहे, परिणामों में उज्ज्वलता बढ़ती जाये वैसे तप करना चाहिये । इच्छा का निरोध करके विषयों में राग घटाना वह तप है । तप ही जीव का कल्याण है; तप ही काम को, निद्रा को, प्रमाद को नष्ट करनेवाला है । अत: मद छोड़कर बारह प्रकार के तप में जैसा तप करने की अपने में सामर्थ्य हो वैसा ही तप करना चाहिये । बारह प्रकार के तप का वर्णन आगे तप भावना में अलग से लिखेंगे । इस प्रकार उत्तम तपधर्म का वर्णन किया । ७ ।

उत्तम त्याग धर्म

अब उत्तम त्यागधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं । त्याग इस प्रकार जानना : जिन्होंने धन, सम्पदा आदि परिग्रह को कर्म के उदय जनित पराधीन, विनाशीक, अभिमान को उत्पन्न करनेवाला,

तृष्णा को बढ़ानेवाला, रागद्वेष की तीव्रता करनेवाला, आरंभ की तीव्रता करनेवाला, हिंसादि पाँचों पापों का मूल जानकर इसे *अंगीकार* ही नहीं किया वे उत्तम पुरुष धन्य हैं । जिन्होंने इसे *अंगीकार* करके फिर इसे हलाहल विष समान जानकर जीर्ण तृण की तरह त्याग दिया उनकी भी अचिन्त्य महिमा है।

कितने ही जीवों का तीव्र राग भाव मंद नहीं हुआ इसलिये समस्त परिग्रह त्यागने को समर्थ नहीं हैं, वे सराग धर्म में रुचि रखते हैं, पापों से भयभीत हैं । वे इस धन को उत्तम पात्रों के उपकार के लिये दान में लगाते हैं । जो धर्म के सेवन करनेवाले धनवान हैं वे अन्न वस्त्रादि द्वारा निर्धन जनों का उपकार करने में धन लगाते हैं; धर्म के आयतन जिनमंदिर आदि बनवाने में, जिन सिद्धान्त (शास्त्र) लिखवा देने में, उपकरण में, पूजनादि प्रभावना में धन लगाते हैं; दु:खी-दरिद्री-रोगियों के उपकार में तन-मन से करुणावान होकर धन लगाते हैं, वे अपना धन व जीवन सफल करते हैं ।

दान है वह धर्म का अंग है । अपनी शक्ति प्रमाण, भक्ति पूर्वक, गुणों के धारी उज्ज्वल पात्रों को जो दान देता है, वह जीव की महान सुख सामग्री को परलोक ले जानेवाला है, तथा निर्विघ्न स्वर्ग को व भोगभूमि को प्राप्त करानेवाला है, ऐसा जानो ।

दान की महिमा तो अज्ञानी वाल-गोपाल भी करते हैं । वे कहते हैं कि - जिसने पूर्व भवों में दान दिया है, उसी ने अनेक प्रकार की सुख सामग्री पाई है, तथा जो अभी देगा सो आगे पायेगा। अत: जो सुख सम्पदा का इच्छुक हो उसे दान देने में ही अनुराग करना चाहिये । जो दान देने में उद्यमी नहीं हैं, केवल मरण पर्यन्त के लिये धन का संचय करने में ही उद्यमी हैं, वे यहाँ पर ही तीव्र आर्त परिणाम से मरकर सर्प आदि दुष्ट तिर्यंच की गति पाकर नरक-निगोद को प्राप्त करते हैं । धन क्या साथ जायेगा ?

धन पाना तो दान से ही सफल है । दान रहित का धन घोर दु:खों की परिपाटी का कारण है । यहाँ पर ही कृपण की घोर निंदा होती है, लोग कृपण का नाम भी नहीं लेना चाहते हैं । कृपणा-सूम का नाम लेने को भी लोग अमंगल मानते हैं । दानी में कोई औगुण या दोष हो तो वह दोष भी दान से ढक जाता है, दानी के दोष दूर भाग जाते हैं । जगत में निर्मल कीर्ति दान से ही फैलती है । दान देने से बैरी भी बैर छोड़ देते हैं, चरणों में झुक जाते हैं, अपना अहित करनेवाला भी मित्र हो जाता है । **जगत में दान बड़ा है** । सच्ची भक्ति से थोड़ा-सा भी दान देनेवाला भोगभूमि के भोगों को तीन पल्य पर्यन्त भोगकर देवलोक में चला जाता है ।

देना ही जगत में ऊँचा है । विनय सहित व स्नेह के वचन सहित होकर दान देना चाहिये। दानी को ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये कि हम इसका उपकार कर रहे हैं । दानी तो पात्र को अपना महान उपकार करनेवाला मानता है । **लोभरूप अंधकूप में पड़े हुए को वहाँ से निकालने का उपकार पात्र बिना कौन करे ?** पात्र बिना लोभियों का लोभ नहीं छूटता, पात्र बिना संसार से उद्धार करनेवाला दान कैसे बनता ? धर्मात्माजनों को तो पात्र के मिलने के समान तथा दान देने के समान अन्य कोई आनन्द नहीं है ।

बड़ापना, धनाढ्यपना, ज्ञानीपना पाया है तो दान में ही उद्यम करो । छहकाय के जीवों को अभयदान देवो, अभक्ष्य का त्याग करो, बहुत आरंभ को घटाओ, देख-सोधकर उठाना-धरना करो। यत्नाचार रहित निर्दयी होकर प्रवर्तन नहीं करो । किसी प्राणीमात्र को मन-वचन-काय से दुःखी नहीं करो । दुखियों पर करुणा ही करो । ये ही गृहस्थ का अभयदान है । इससे संसार में जन्म, मरण, रोग, शोक, दारिद्र, वियोगादि संताप के पात्र नहीं बनोगे ।

संसार के बढ़ानेवाले, हिंसा को पुष्ट करनेवाले, मिथ्याधर्म की प्ररूपणा करनेवाले, युद्धशास्त्र, शृंगारशास्त्र, मायाचार के शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, रस-रसायन, मन्त्र-जन्त्र, मारण-वशीकरण शास्त्र महापाप के प्ररूपक हैं, इनको अति दूर से ही त्याग देना चाहिये ।

भगवान वीतराग सर्वज्ञ के कहे, दयाधर्म की प्ररुपणा करनेवाले, **स्याद्वाद रूप अनेकान्त का प्रकाश करनेवाले, नय-प्रमाण द्वारा तत्त्वार्थों की प्ररूपणा करनेवाले शास्त्रों को अपने आत्मा को पढ़ने-पढ़ाने के द्वारा आत्मा के उद्धार के लिये अन्य को व अपने लिये दान करो ।** अपनी संतान को ज्ञान दान करो तथा अन्य धर्मबुद्धिवाले धर्म के रोचक इच्छुक हों, उनको शास्त्र दान करो। जो ज्ञान के इच्छुक हैं वे ज्ञानदान के लिये पाठशाला की स्थापना करते हैं; क्योंकि धर्म का स्तम्भ ज्ञान ही है । जहाँ ज्ञानदान होगा वहाँ धर्म रहेगा । अत: ज्ञानदान में प्रवर्तन करो । ज्ञानदान के प्रभाव से निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होता है ।

रोग का नाश करनेवाली प्रासुक औषधि का दान करना चाहिये । औषधिदान बड़ा उपकारक है । रोगी को तुरंत तैयार औषधि मिल जाय उसका बड़ा आनन्द है । किसी निर्धन को जिसकी सेवा-टहल करनेवाला कोई नहीं हो, यदि उसे तैयार बनी हुई औषधि मिल जाय तो वह उसे निधियों के लाभ के समान मानता है । औषधि लेकर जो स्वस्थ हो जाता है वह समस्त व्रत-तप-संयम पालता है, ज्ञान का अभ्यास करता है । औषधिदान के द्वारा वात्सल्य, स्थितिकरण, निर्विचिकित्सा इत्यादि अनेक गुण पुष्ट होकर प्रकट होते हैं । औषधिदान के प्रभाव से रोगरहित देवों की वैक्रियिक देह प्राप्त होती है ।

आहारदान समस्त दानों में प्रधान है । प्राणी का जीवन, शक्ति, बल, बुद्धि ये सभी गुण आहार बिना नष्ट हो जाते हैं । जिसने आहारदान दिया उसने प्राणियों को जीवन, शक्ति, बल, बुद्धि सभी कुछ दिया । आहारदान से ही मुनि व श्रावक का समस्त धर्म चलता है । आहार बिना ये मार्ग भ्रष्ट हो जायेंगे । आहार ही सभी रोगों का नाश करनेवाला है । जो आहारदान देता है वह मिथ्यादृष्टि भी भोगभूमि में कल्पवृक्षों के द्वारा प्रदत्त दश प्रकार के भोगों को असंख्यात काल तक भोगता है, तथा क्षुधा-तृषादि की बाधा रहित होकर आँवले के बराबर तीन दिन के अंतर से भोजन करता है। सभी प्रकार के दुःख, क्लेश आदि से रहित होकर असंख्यात वर्ष तक सुख भोगकर देवलोक में जाकर उत्पन्न होता है । अत: धन को पाकर चार प्रकार के दान में प्रवर्तन करो । जो निर्धन हैं वे भी अपने भोजन में से जितना बने उतना दान करो । आपको आधा भोजन मिले तो उसमें से भी ग्रास दो ग्रास दुःखी, भूखे, दीन दरिद्रियों को दो ।

मिष्ट वचन बोलना भी बड़ा दान है । आदर, सत्कार, विनय करना, स्थान देना, कुशल पूँछना ये महादान हैं । दुष्ट विकल्पों का त्याग करो, पापों में प्रवृत्ति का त्याग करो, चार कषायों का त्याग करो, विकथा करने का त्याग करो, दूसरों के सत्य व असत्य दोष कभी नहीं कहो । अन्याय का धन ग्रहण करने का दूर से ही त्याग करो ।

हे ज्ञानी जनो ! यदि अपना हित चाहते हो तो दुःखी जीवों को तो दान करो, तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणों के धारकों का महाविनय पूर्वक सम्मान करो । समस्त जीवों के प्रति करुणा करो । मिथ्यादर्शन का त्याग करो । राग-द्वेष-मोह के धारक कुदेव, आरंभ-परिग्रह के धारक भेषधारी कुगुरु, हिंसा के पोषक रागद्वेष को पुष्ट करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के शास्त्र - इनकी वंदना, स्तवन, प्रशंसा करने का त्याग करो । क्रोध, मान, माया, लोभ - इनके निग्रह करने में बड़ा प्रयत्न करो । क्लेश देने के कारण अप्रिय वचन, गाली के वचन, अपमान के वचन, मद सहित वचन कभी नहीं कहो । इस प्रकार दूसरों को दुःख के कारण, अपने यश को नष्ट करनेवाले, धर्म को नष्ट करनेवाले मन-वचन-काय के प्रवर्तन का त्याग करो । इस प्रकार त्याग धर्म का संक्षेप में वर्णन किया । ८।

उत्तम आकिंचन्य धर्म

अब उत्तम आकिंचन्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं । **अपने ज्ञानदर्शनमय स्वरूप के बिना अन्य किंचिन्मात्र भी मेरा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ – ऐसे अनुभव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं** । हे आत्मन् ! अपने आत्मा को देह से भिन्न, ज्ञानमय, अनुपम, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण रहित, अपने स्वाधीन ज्ञानानन्द सुख से परिपूर्ण, परम अतीन्द्रिय, भयरहित अनुभव करो ।

यह देह है, वह मैं नहीं हूँ । देह तो रस, रक्त, हड्डी, मांस, चाममय, जड़, अचेतन है । **मैं इस देह से अत्यन्त भिन्न हूँ** । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आदि जाति-कुल देह के हैं, ये मेरे नहीं है । स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिंग देह के हैं, मेरे नहीं हैं । यह गोरापना, सांवलापना, राजापना, रंकपना, स्वामीपना, सेवकपना, पण्डितपना, मूर्खपना इत्यादि समस्त रचना कर्म के उदय जनित देह की है, **मैं तो ज्ञायक हूँ । ये देह का संबंध मेरा स्वरूप नहीं है** । मेरा स्वरूप तो अन्य द्रव्य की उपमा रहित अनुपम है ।

ताता (गर्म), ठंडा, नरम, कठोर, लूखा, चिकना, हलका, भारी - यह आठ प्रकार का स्पर्श है, वह हमारा रूप नहीं है, पुद्‌गल का रूप है । ये खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला, चिरपरा-पाँच प्रकार का रस, सुगन्ध-दुर्गन्ध ये दो प्रकार की गन्ध, तथा काला, पीला, हरा, सफेद, लाल- ये पाँच प्रकार का वर्ण मेरा स्वरूप नहीं है, पुद्‌गल का स्वरूप है ।

मेरा स्वभाव तो सुख से परिपूर्ण है, परन्तु यहाँ कर्म के आधीन दुःखों से व्याप्त हो रहा हूँ। मेरा स्वरूप इन्द्रिय रहित अतीन्द्रिय है । इन्द्रियाँ पुद्‌गलमय कर्म द्वारा की हुई हैं । मैं समस्त भय रहित, अविनाशी, अखण्ड, आदि-अन्त रहित, शुद्ध, ज्ञान स्वभाव हूँ; परन्तु अनादिकाल से जैसे स्वर्ण तथा पाषाण मिला हुआ है, उसी तरह क्षीर-नीर के समान कर्मों से अनादिकाल से मिला हुआ चला आ

रहा हूँ। मिथ्यात्व नाम के कर्म के उदय से अपने स्वरूप के ज्ञान से रहित होकर देहादि पर-द्रव्यों को अपना स्वरूप जानकर अनन्तकाल से मैंने परिभ्रमण किया है। अब कोई आवरणादि के किंचित् दूर होने से श्रीगुरुओं के द्वारा उपदेशित परमागम के प्रसाद से अपना तथा पर में स्वरूप का ज्ञान हुआ है।

जैसे रत्नों का व्यापारी जड़े हुए पाँच वर्ण के रत्नों के आभरणों में गुरु की कृपा से तथा निरन्तर अभ्यास से मिले हुए डाँक के रंग को तथा मणि के रंग को, तोल को तथा मूल्य को अलग-अलग जान लेता है; उसी प्रकार परमागम के निरन्तर अभ्यास से मेरे ज्ञान स्वभाव में मिले हुए राग, द्वेष, मोह, कामादि, मैल को भिन्न जाना है; तथा अपने ज्ञायक स्वभाव को भिन्न जाना है। इसलिये अब जिस प्रकार से भी राग-द्वेष-मोहादि भावकर्मों में तथा कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए विनाशीक शरीर, परिवार, धन, संपदा आदि परिग्रह में मुझे ममताबुद्धि फिर अन्य जन्म में भी नहीं उत्पन्न होवे, उस प्रकार से आकिंचन्य भावना भाता हूँ।

यह आकिंचन्य भावना मुझे अनादिकाल से नहीं उत्पन्न हुई। सभी पर्यायों को अपना रूप मानता रहा, तथा राग-द्वेष-मोह-क्रोध-कामादि भाव जो कर्मकृत विकार थे, उनको अपने रूप अनुभव करके विपरीत भाव करते हुए उनसे घोर कर्म बंध ही किया। अब मैं आकिंचन्य भावना में विघ्नों का नाश करनेवाले पाँचों परम गुरुओं की शरण से निर्विघ्न आकिंचनपना ही चाहता हूँ, तीनलोक में किसी अन्य वस्तु को नहीं चाहता हूँ। यह आकिंचनपना ही संसार समुद्र से तारने का जहाज हो जाये। परिग्रह को महादु:खरूप तथा बंध का कारण जानकर छोड़ना वह आकिंचन्य धर्म है।

जिसे आकिंचनपना होता है उसे परिग्रह में वांछा नहीं रह जाती है, आत्मध्यान में लीनता होती है, देहादि में तथा बाह्य वेष में अपनापन नहीं रह जाता है, तथा अपना स्वरूप जो रत्नत्रय है उसी में प्रवृत्ति होती है। इन्द्रियों के विषयों में दौड़ता मन रुक जाता है, देह से स्नेह छूट जाता है। सांसारिक देवों का सुख, इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती का सुख भी दु:ख दिखता है; इनकी वांछा कैसे करेगा ? परिग्रह, रत्न, स्वर्ण, राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्रादि को उसी प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार ममता रहित होकर जीर्ण तृण छोड़ने में विचार नहीं करना पड़ता है। आकिंचन्य तो परम वीतरागपना है, जिनका संसार का किनारा आ गया है, उनको ही यह आकिंचन्यधर्म होता है।

जिनके आकिंचनपना होता है उनके परमार्थ जो शुद्ध आत्मा उसका विचार करने की शक्ति प्रकट होती ही है, पंच परमेष्ठी में भक्ति होती ही है, दुष्ट विकल्पों का नाश होता ही है, इष्ट-अनिष्ट भोजन में रागद्वेष नष्ट हो ही जाता है, केवल पेटरूप खाड़े को भरना है, अन्य रस-नीरस भोजन का विचार चला जाता है।

समस्त धर्मों में प्रधान धर्म आकिंचन्य ही मोक्ष का निकट समागम करानेवाला है। अनादिकाल से जितने सिद्ध हुये हैं वे आकिंचन्य धर्म से ही हुए हैं, तथा आगे भी जो तीर्थंकरादि सिद्ध होंगे वे आकिंचन्य धर्म ही से होंगे। यद्यपि आकिंचन्य धर्म प्रधानरूप से साधुओं के ही होता है, तथापि

एकदेश धर्म का धारक गृहस्थ भी उस आकिंचन्य धर्म को ग्रहण करने की इच्छा रखता है। जो गृहाचार में मंदरागी होकर अतिविरक्त होता है, प्रामाणिक परिग्रह रखता है, आगामी वांछा रहित है, अन्याय का धन परिग्रह कभी नहीं ग्रहण करता है, अल्प परिग्रह में अति संतोषी होकर रहता है, परिग्रह को दुःख का देनेवाला तथा अत्यन्त अस्थिर मानता है, उसके ही आकिंचन्य भावना होती है। इस प्रकार आकिंचन्य धर्म का वर्णन किया। ९।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

अब उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। **समस्त विषयों में अनुराग छोड़कर ब्रह्म जो ज्ञायक स्वभाव आत्मा उसमें चर्या अर्थात् प्रवृत्ति करना वह ब्रह्मचर्य है।**

हे ज्ञानीजनो ! यह ब्रह्मचर्य नाम का व्रत बड़ा दुर्द्धर है। सभी बेचारे जो विषयों के वश होने से आत्मज्ञान से रहित हैं, वे इसे धारण करने में समर्थ नहीं हैं। जो मनुष्यों में देव के समान हैं वे इसे धारण करने में समर्थ हैं। अन्य रंक, विषयों की लालसा के धारक ब्रह्मचर्य धारण करने में समर्थ नहीं हैं। यह ब्रह्मचर्यव्रत महादुर्द्धर है। जिसके ब्रह्मचर्य होता है उसे समस्त इन्द्रियों तथा कषायों को जीतना सुलभ है।

हे भव्य हो ! स्त्रियों के सुख में रागी जो मनरूप मदोन्मत्त हाथी है उसको वैराग्यभावना में रोक करके, तथा विषयों की इच्छा का अभाव करके दुर्द्धर ब्रह्मचर्य धारण करो। यह कामभाव चित्तरूप भूमि में उत्पन्न होता है। काम से सताये जाने पर यह जीव नहीं करनेयोग्य ऐसे पाप भी कर डालता है। यह काम मन का मथन करता है, मन के ज्ञान को नष्ट कर देता है, इसी कारण इसे **मनमथ** कहते हैं, ज्ञान के नष्ट हो जाने पर ही स्त्रियों के महादुर्गन्धियुक्त निंद्य शरीर को रागी होकर सेवन करता है।

कामभाव से अंधा हो जाने पर महा अनीति को प्राप्त होकर अपनी तथा परकी नारी का विचार ही नहीं करता है। इस अन्याय से मैं यहाँ पर ही मारा जाऊँगा, राजा का तीव्र दण्ड भोगना पड़ेगा, यश मलिन हो जायगा, धर्म से भ्रष्ट हो जाऊँगा, सत्यार्थ बुद्धि नष्ट हो जायेगी, मरण करके नरकों में घोर दुःख असंख्यातकाल पर्यन्त भोगना होंगे, फिर असंख्यातकाल तक तिर्यंचों के दुःखरूप अनेक भव धारण करना होंगे; फिर कुमनुष्यों में, अंधा, लूला, कुबड़ा, दरिद्री, इन्द्रिय विकल, बहरा, गूंगा, चांडाल, भील, चमारों के नीच कुलों में उत्पन्न होकर, फिर त्रस स्थावरों में अनन्तकाल परिभ्रमण करूँगा - ऐसा सत्य विचार कामी के उत्पन्न नहीं होता है।

इस काम के नाम के अर्थ भी जगत के जीवों को स्पष्ट प्रकट करते हैं। कं अर्थात् खोटा, दर्प अर्थात् गर्व उत्पन्न करता है, अतः इसे **कंदर्प** कहते हैं। अति कामना अर्थात् इच्छा को उत्पन्न करके दुःखी करता है, अतः इसे **काम** कहते हैं। इसके कारण अनेक जीव तिर्यंच तथा मनुष्यों के भवों में लड़-लड़कर मर जाते हैं, अतः इसे **मार** कहते हैं। यह संवर का बैरी है, अतः इसे **संवरारि** कहते हैं। ब्रह्म जो तप-संयम उससे यह सू अर्थात् सुवति चलायमान करता है, अतः इसे **ब्रह्मसू**

कहते हैं । इस प्रकार अनेक दोषों के नाम भी कहे हैं । ऐसा जानकर मन-वचन-काय से अनुराग पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत पालो । ब्रह्मचर्य सहित होने पर ही संसार के पार जाओगे ।

ब्रह्मचर्य बिना व्रत-ताप समस्त निस्सार है । ब्रह्मचर्य बिना सकल कायक्लेश निष्फल है । बाह्य स्पर्शन इंद्रिय के सुख से विरक्त होकर, अंतरंग अपना परमात्म स्वरूप जो आत्मा है उसकी उज्ज्वलता देखो । जैसे भी अपना आत्मा काम के राग से मलिन नहीं हो, वैसे ही यत्न करो । ब्रह्मचर्य से दोनों लोक भूषित हो जाते हैं ।

यदि शील की रक्षा चाहते हो, उज्ज्वल यश चाहते हो, धर्म चाहते है, अपनी प्रतिष्ठा चाहते हो तो चित्त में **परमागम की शिक्षा इस प्रकार धारण करो** – स्त्रियों की कथा नहीं सुनो, नहीं कहो, स्त्रियों के रागरंग-कौतूहल नाटक-दृश्य नहीं देखो । ये मेला, सिनेमा देखना परिणाम बिगाड़ते हैं । व्यभिचारी पुरुषों की संगति का त्याग करना; भांग, तम्बाखू, जरदा, मादक वस्तु भक्षण नहीं करना; ताम्बूल, पुष्पमाला, इत्र, फुलेलादि शीलभंग-व्रतभंग के कारणों को दूर से ही टालो ।

गीत-नृत्यादि कामोद्दीपन के कारणों का परिहार करो, रात्रि भोजन छोड़ो, विकार करने के कारण लोक विरुद्ध वस्त्र-आभरण नहीं पहनो, एकान्त में किसी भी स्त्री मात्र का संसर्ग नहीं करो । रसना इंद्रिय की लम्पटता छोड़ो, जिह्वा इंद्रिय की लम्पटता के साथ हजारों दोष आ जाते हैं; इसी से समस्त उच्चता, यश, धर्म नष्ट हो जाता है; समता भाव को तो वह स्वप्न में भी नहीं याद करता है; लोक व्यवहार भ्रष्ट हो जाता है; ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है । अतः जो आत्मा के हित का इच्छुक हो वह एक ब्रह्मचर्य की ही रक्षा करे । इस प्रकार ब्रह्मचर्य धर्म का वर्णन किया ।१०।

इस प्रकार ये धर्म के दश लक्षण सर्वज्ञ भगवान ने कहे हैं । जिसके ये दश चिह्न प्रगट होते हैं, उसके धर्म है ऐसा जानना । उत्तम क्षमादि धर्मों के घातक-बैरी क्रोधादि हैं, उनसे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, अतः उन्हें दूर करो तथा क्षमादि में अनेकगुण हैं, उनकी भावना बारम्बार भावो।

क्षमाधर्म : जो क्षमा है वह अपने ही प्राणों की रक्षा है, धन की रक्षा है, यश की रक्षा है, धर्म की रक्षा है । व्रत, शील, संयम, सत्य की रक्षा एक क्षमा से ही होती है । कलह के घोर दुःखों से अपनी रक्षा एक क्षमा ही करती है । समस्त उपद्रव तथा बैर से क्षमा ही रक्षा करती है।

क्रोध है वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मूल से ही नाश करने वाला है । क्रोधी अपने ही प्राणों का नाश करता है । क्रोध से प्रचण्ड रौद्रध्यान प्रकट होता है । क्रोधी एक क्षण मात्र में आत्मघात करके मर जाता है । कुए में, बावड़ी में, तालाब में, नदी में, समुद्र में डूबकर मर जाता है । शस्त्रघात, विषभक्षण, झंपापातादि (झंझावातादि) अनेक कुकर्म करके आत्मघात कर लेता है । क्रोधी में अन्य को मारने की दया नहीं होती है । वह अपने पिता को, पुत्र को, भाई को, मित्र को, स्वामी को, सेवक को , गुरु को एक क्षण मात्र में मार डालता है । **क्रोधी घोर नरक का पात्र है** ।

क्रोधी महाभयंकर है, समस्त धर्म का नाश करनेवाला है । क्रोधी के सत्य वचन नहीं होता है; वह तो अपने को, पर को, समभाव को, धर्म को जला देनेवाला, कुवचनरूप अग्नि को ही उगलता

है । क्रोधी है वह धर्मात्मा, संयमी, शीलवान, मुनि तथा श्रावकों को चोरी व अन्याय के झूठे दोष, कलंक लगाकर दूषित करता है । क्रोध के प्रभाव से ज्ञान कुज्ञान हो जाता है, आचरण विपरीत हो जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है, अन्याय में प्रवृत्ति हो जाती है, नीति का नाश हो जाता है, अत्यन्त हठी होकर विपरीत मार्ग का प्रवर्तक हो जाता है, धर्म-अधर्म उपकार-अपकार के विचार रहित कृतघ्नी हो जाता है । अत: यदि तुम वीतराग धर्म को चाहते हो तो कभी क्रोध भाव को प्राप्त नहीं होना।

मार्दव धर्म : मार्दव अर्थात् कठोरता रहित कोमल परिणामी जीव में गुरुओं की बड़ी कृपा रहती है । **मार्दव परिणामी को साधु पुरुष भी साधु मानते हैं** । कठोरता रहित पुरुष ही ज्ञान का पात्र होता है । मान रहित कोमल परिणामी को जैसा गुण ग्रहण कराना चाहें तथा जैसी कला सिखाना चाहें वह वैसी ही कला व गुण सीख लेता है । समस्त धर्म का मूल समस्त विद्याओं का मूल विनय है । विनयवान सभी को प्रिय होता है । अन्य गुण जिसमें नहीं हों ऐसा पुरुष भी विनयगुण से मान्य हो जाता है । विनय परम आभूषण है । कोमल परिणामी में ही दया भाव रहता है । मार्दव से स्वर्गलोग की अभ्युदय-सम्पदा तथा निर्वाण की अविनाशी सम्पदा प्राप्त हो जाती है ।

कठोर परिणामी को शिक्षा नहीं लगती है । साधु पुरुष भी अविनयी कठोर परिणामी को दूर से ही त्यागने का परिणाम करते हैं । **जैसे पाषाण में जल प्रवेश नहीं करता है, उसी प्रकार सद्गुरुओं का उपदेश कठोर पुरुष के हृदय में प्रवेश नहीं करता है** । जो पाषाण-काष्ठादि नरमाई लिये होते हैं उनका तो बाल-बाल बराबर भी जहाँ जैसा गढ़ना चाहें, छीलना चाहें, वहाँ उतना बाल बराबर भी उतर जाता है, छिल जाता है तथा जैसी सूरत की मूरत गढ़ना चाहें, वैसी ही बन जाती है; किन्तु कोमलता रहित में जहाँ टांकी-छैनी लगाते हैं वहीं चिड़ककर-उतरकर दूर जा पड़ता है, शिल्पी के अभिप्राय अनुसार गढ़ाई में नहीं आता है, वैसे ही कठोर परिणामी को यथावत् शिक्षा नहीं लगती है ।

अभिमानी का समस्त लोक बिना किये ही बैरी हो जाता है, परलोक में तिर्यंच तथा अति नीच मनुष्यों में असंख्यातकाल तक अनेक प्रकार से तिरस्कार का पात्र होता है । अभिमानी किसी को भी प्रिय नहीं लगता है । अत: कठोरता छोड़कर मार्दव भावना ही निरन्तर धारण करो ।

आर्जव धर्म : कपट सभी अनर्थों की मूल है ; प्रीति तथा प्रतीति का नाश करने वाला है । कपटी में असत्य, छल, निर्दयता, विश्वासघात आदि सभी दोष रहते हैं । कपटी में गुण नहीं किन्तु समस्त दोष ही रहते हैं । मायाचारी यहाँ अपयश को पाकर फिर नरक-तिर्यंचादि गतियों में असंख्यातकाल तक परिभ्रमण करता है । मायाचार रहित आर्जवधर्म के धारक में सभी गुण रहते हैं, समस्त लोक की प्रीति तथा प्रतीति का पात्र होता है, परलोक में देवों द्वारा पूज्य इन्द्र-प्रतीन्द्र आदि होता है । अत: सरल परिणाम ही आत्मा का हित है ।

सत्य धर्म : सत्यवादी में सभी गुण रहते हैं । सत्यवादी सदाकाल कपटादि दोष रहित होकर जगत में भी मान्यता को प्राप्त होता है, तथा परलोक में अनेक देव, मनुष्यादि उसकी आज्ञा आगे

मस्तक के ऊपर धारण करते हैं । असत्यवादी यहाँ भी अपवाद, निंदा करने योग्य होता है, सभी की अप्रतीति का कारण है, बंधु-मित्रादि भी अवज्ञा करके छोड़ जाते हैं, राजा द्वारा जिह्वाछेद-सर्वस्व हरणादि दण्ड पाता है । परलोक में तिर्यंचगति में वचन रहित एकेंद्रिय विकलत्रयादि में असंख्यात भव धारण करता है । अत: सत्यधर्म का धारण करना ही श्रेष्ठ है ।

शौच धर्म : जगत में जिसका आचरण पवित्र होता है, वही पूज्य होता है । शुचि का अर्थ पवित्रता-उज्जवलता है । जिसकी आहार-विहार आदि समस्त प्रवृत्ति हिंसा रहित हो, हिंसा के भय से यत्नाचार सहित हो, अन्य के धन में इच्छा रहित हो, अन्य की स्त्री में वांछा कभी स्वप्न में भी नहीं हो, वही उज्ज्वल आचरण का धारक है, उसको ही जगत पूज्य मानता है । निर्लोभी का सभी लोग विश्वास करते हैं, वही लोक में उत्तम है, ऊर्ध्वलोक में उत्तमगति का पात्र है । लोभरहित का बहुत उज्ज्वल यश प्रगट होता है ।

लोभी महामलिन सभी दोषों का स्थान है । लोभी को निंद्य कर्मों से प्रीति होती है । लोभी को ग्राह्य-अग्राह्य, खाद्य-अखाद्य, कृत्य-अकृत्य का विचार ही नहीं होता है । यहाँ लोक में भी उसकी निन्दा, धर्म से पराङ्मुखता, निर्दयता प्रकट देखते ही हैं । लोभी धर्म, अर्थ, काम को नष्ट करके कुमरण करके दुर्गति में चला जाता है । **लोभी के हृदय में सद्गुणों को कोई स्थान नहीं रहता है** । लोभी को इसलोक में तथा परलोक में अचिन्त्य क्लेश व दु:ख प्राप्त होता है । अत: शौचधर्म का धारण करना ही श्रेष्ठ है ।

संयम धर्म : संयम ही आत्मा का हित है । इस लोक में संयम का धारक सभी लोगों द्वारा वंदने योग्य है, किसी भी पाप से लिप्त नहीं होता है, इसकी इस लोक में व परलोक में अचिन्त्य महिमा है । असंयमी प्राणों का घात करके तथा विषयों में अनुराग करके अशुभ कर्मों का बन्ध करता हुआ दु:ख भोगता है । अत: संयमधर्म ही जीव का हित है ।

तप धर्म : कर्मों का संवर तथा निर्जरा करने का प्रधान कारण तप है । तप ही आत्मा को कर्म मल रहित करता है । तप के प्रभाव से यहाँ ही अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, तप का अचिन्त्य प्रभाव है । तप बिना काम को, निद्रा को कौन मारे ? तप बिना इच्छाओं को कौन मारे? **इंद्रियों के विषयों को मारने में तप ही समर्थ है, आशारूपी पिशाचिनी तप से ही मारी जाती है**, काम पर विजय तप से ही होती है । तप की साधना करनेवाला परीषह-उपसर्ग आदि आने पर भी रत्नत्रय धर्म से च्युत नहीं होता है । अत: तपधर्म को धारण करना ही उचित है । तप किये बिना संसार से छुटकारा नहीं होता है । चक्रवर्ती भी राज्य को छोड़कर तप धारण करके तीन लोक में वंदने योग्य पूज्य हो जाते हैं । जो तप को छोड़कर राज्य ग्रहण करता है वह अतिनिंद्य थू-थू-कार करने योग्य हैं, तिनेक से भी छोटा हो जाता है । अत: तीनलोक में तप समान महान अन्य कुछ भी नहीं है ।

त्याग धर्म : परिग्रह समान भार अन्य नहीं है । जितने भी दु:ख, दुर्ध्यान, क्लेश, बैर, वियोग, शोक, भय, अपमान हैं वे सभी परिग्रह के इच्छुक के होते हैं । जैसे-जैसे परिग्रह से परिणाम भिन्न

होने लगते हैं, परिग्रह में आसक्ति कम होने लगती है, वैसे-वैसे ही दुःख कम होने लगता है। जैसे बड़े भार से दुःखीपुरुष भार रहित होने पर सुखी हो जाता है, उसी प्रकार परिग्रह की वासना मिट जाने से सुखी हो जाता है। **समस्त दुःख तथा समस्त पापों की उत्पत्ति का स्थान यह परिग्रह है।**

जैसे नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता है, ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती है उसी तरह परिग्रह से आशा की प्यास नहीं बुझती है। आशारूपी गड्ढा अगाध गहरा है, जिसका तल स्पर्श नहीं है। ज्यों-ज्यों इसमें धन धरो, त्यों त्यों गड्ढा बढ़ता जाता है। जो आशारूपी गड्ढा निधियों से नहीं भरा जा सकता वह अन्य संपदा से कैसे भरा जा सकता है ? किन्तु ज्यों-ज्यों परिग्रह की आशा का त्याग करो, त्यों त्यों वह भरता चला जाता है। अतः समस्त दुःख दूर करने में एक त्यागधर्म ही समर्थ है। त्याग **ही से अंतरंग-बहिरंग बंधन रहित अनन्त सुख के धार** बनोगे। परिग्रह के बंधन में बंधे जीव परिग्रह **के त्यागने से ही छूटकर मुक्त होते हैं**। अतः त्यागधर्म धारण करना ही **श्रेष्ठ है**।

आकिंचन्य धर्म : हे आत्मन् ! **इस देह,** स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, राज्य, ऐश्वर्य आदि में एक **परमाणुमात्र भी तुम्हारा नहीं है। वे सब पुद्गल द्रव्य की अवस्थायें हैं, जड़ हैं,** विनाशीक है, अचेतन **हैं। इन परद्रव्यों में 'अहं' ऐसा संकल्प तीव्र दर्शनमोह कर्म के उदय बिना कौन करा सकता है ?** इस परद्रव्य में 'अहं' ऐसी आत्मपने की मिथ्या मान्यतारूप संकल्प मुझे कभी नहीं हो, मैं तो अकिंचन हूँ। इस प्रकार की आकिंचन्य भावना के प्रभाव से कर्म के लेप रहित यहाँ ही समस्त बंधरहित हो जाता है। अतः साक्षात् निर्वाण का कारण आकिंचन्य धर्म ही धारण करो।

ब्रह्मचर्य धर्म : कुशील महापाप है, संसार परिभ्रमण का बीज है। ब्रह्मचर्य के पालनेवाले से हिंसादि पापों का प्रचार दूर भागता है। इसमें सभी गुणों की सम्पदा निवास करती है, इससे जितेन्द्रियपना प्रकट होता है। ब्रह्मचर्य से कुल-जाति आदि भूषित होते हैं, परलोक में अनेक ऋद्धियों का धारक देव होता है।

धर्म कैसे प्रगट होता है ? भगवान अरहन्त देवाधिदेव के मुखारविंद से प्रकट हुआ दशलक्षण धर्म आत्मा का स्वभाव है, परवस्तु नहीं है। क्रोधादि कर्मजनित उपाधि दूर होने पर स्वयमेव आत्मा का स्वभाव प्रकट हो जाता है। क्रोध के अभाव से क्षमागुण प्रकट होता है, मान के अभाव से मार्दव गुण प्रकट होता है, माया के अभाव से आर्जव गुण प्रकट होता है, लोभ के अभाव से शौच गुण प्रकट होता है, असत्य के अभाव से सत्यगुण प्रकट होता है, कषायों के अभाव से संयम गुण प्रकट होता है, इच्छा के अभाव से तप गुण प्रकट होता है, पर में ममता के अभाव से त्याग गुण प्रकट होता है, **परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव होने से आकिंचन्य गुण प्रकट होता है,** वेद के अभाव से आत्म स्वरूप में प्रवृत्ति करने से ब्रह्मचर्य गुण प्रकट होता है।

धर्म का स्वरूप : यह दश प्रकार का धर्म आत्मा का स्वभाव है। यह धर्म किसी छीनने वाले द्वारा छीना नहीं जा सकता है, लूटनेवाले द्वारा लूटा नहीं जा सकता है, चोर द्वारा चुराया नहीं

जा सकता है, राजा के द्वारा लूटा नहीं जा सकता है, स्वदेश-परदेश में इसका स्वरूप कभी भी बदलता नहीं है, किसी के बिगाड़ने से बिगड़ता नहीं है, धन से खरीदा नहीं जा सकता है । आकाश में, पाताल में, दिशा में, पहाड़ में, जल में, तीर्थ में, मंदिर में कहीं भी धर्म रखा नही है, धर्म तो आत्मा का निज स्वभाव है । **धर्म का लाभ (प्राप्ति) सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान से होता है ।**

धर्म करना इतना सुगम है कि बालक-बृद्ध-युवा, धनवान-निर्धन, बलवान-निर्बल, सहायसहित-सहायरहित, रोगी-निरोगी सभी के द्वारा धारण किया जा सकता है, स्वाधीन है । धर्म को धारण करने में कुछ खेद, क्लेश, अपमान, भय, विषाद, कलह, शोक, दुःख कभी नहीं होता है । धर्म धारण करना दुर्लभ नहीं है । इसमें कुछ भी बोझा उठाना नहीं है, दूर देश में जाना नहीं है, भूख-प्यास-शीत-उष्णता की वेदना सहना नहीं है । किसी से विसंवाद झगड़ा नहीं है, **अत्यन्त सुगम समस्त क्लेश दुःख रहित स्वाधीन आत्मा का ही सच्चा परिणमन है** । इसलिये समस्त संसार के परिभ्रमण से छूटकर अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य धारक सिद्धदशा इस धर्म धारण करने का फल है । इस प्रकार दश लक्षण धर्म का संक्षेप में वर्णन किया ।

व्रती का स्वरूप : जिसके शल्यों का अभाव हो जाता है वह व्रती है । शल्यसहित के व्रत कभी नहीं होता है । अत: श्रावक को तीन शल्यों का स्वरूप अवश्य जानना चाहिये । निदानशल्य, मायाशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य - ये तीनों ही शल्यें व्रतों का घात करनेवाली हैं ।

निदान शल्य : निदान शल्य के तीन भेद हैं - प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान, भोगार्थ निदान- ये तीनों ही प्रकार के निदान संसार के कारण है । यहाँ निदान का अर्थ आगामी काल की वांछा से है । संयम धारण करने के लिये उत्तम कुल, उत्तम संहनन, उत्तम बल-वीर्य, शुभ संगति तथा बंधुजनों की धर्म में सहायता, उज्ज्वल बुद्धि आदि का चाहना वह **प्रशस्त निदान है** ।

अभिमान के लिये अपनी आज्ञा, आदर तथा उच्चता दिखाने के लिये उत्तम कुल, जाति, भली बुद्धि, प्रबल शक्ति, तथा आचार्यपना, गणधरपना, तीर्थंकरपना इत्यादि की चाह करना वह अप्रशस्त निदान है । क्रोधी होकर दूसरों को मारने की इच्छा करना, दूसरों की स्त्री, पुत्र, राज्य, ऐश्वर्य के नाश की इच्छा करना वह भी **अप्रशस्त निदान** है ।

संयम धारण करके तथा घोर तपश्चरण करके उसके फल में इन्द्रियों के विषय, राज्य, ऐश्वर्य, देवपना, अनेक अप्सराओं का स्वामीपना, जातिकुल में उच्चपना, चक्रीपना आदि चाहना वह **भोगार्थनिदान** है । यह निदान दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करानेवाले जानना ।

संयम के प्रभाव से समस्त कर्मों का नाश कर अतीन्द्रिय अविनाशी निर्वाण का अनन्तसुख प्राप्त होता है । **उस संयम का पालन करके भोगों की इच्छा करना तो उसी प्रकार की मूर्खता है जैसे कोई चिन्तामणि रत्न को एक कौड़ी में बेच देता है, अपनी रत्नों से भरी समुद्र में दौड़ती हुई नाव को ईंधन के लिये तोड़ता है, धागे के लिये मणियों के हार को तोड़ता है, राख के लिये गोशीर चंदन को जला डालता है । जो इच्छा करता है उसका पुण्य भी नष्ट हो जाता है, तथा पाप का बंध हो जाता है** । पुण्य का बंध तो निर्वांछिक भाव से होता है ।

सम्यग्दृष्टि तो भोगों की वांछा से रहित होता है । उसे तो इन्द्र-अहमिन्द्र लोक के जो सुख हैं वे सुखाभास, विनाशीक, पराधीन, दुःखरूप दिखाई देते हैं । सम्यग्दृष्टि को तो आत्मीक, स्वाधीन, अतीन्द्रिय सुख का अनुभव हुआ है, अतः वह इंद्रियजनित आताप से महाक्लेश से भरे, तृष्णारूप आताप को बढ़ानेवाले विषयों के आधीन सुख को कैसे सुख मानेगा ? **जिसने अमृत का स्वाद चखा है वह कटुक महादुर्गन्धित आताप उत्पन्न करनेवाली कड़ुवी खली की इच्छा कैसे करेगा ?**

सम्यग्दृष्टि की तो ऐसी इच्छा होती है :-

दुक्खक्खय कम्मक्खय समाहिमरणं च वोहिलाहो य ।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२११॥ भ. आराधना

अर्थ :– हमारे शरीर धारण आदि जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा आदि दुःखों का क्षय हो, हमारी आत्मा के गुणों को नष्ट करनेवाले मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों का क्षय हो, इस पर्याय में चार आराधना धारणकर समाधिपूर्वक मरण हो, बोधि जो रत्नत्रय उसकी प्राप्ति हो - ऐसी योग्य प्रार्थना सम्यग्दृष्टि करते हैं । इससे भिन्न अन्य प्रकार की प्रार्थना इस भव के लिये या परभव के लिये करना योग्य नहीं है ।

संसार में परिभ्रमण करते हुये जीव ने उच्चकुल-नीचकुल, राज्य-ऐश्वर्य, धनाढ्यता-निर्धनता, दीनता, रोगीपना-निरोगीपना, रूपवानपना-विरूपपना, निर्बलपना-बलवानपना, पण्डितपना-मूर्खपना, स्वामीपना-सेवकपना, राजापना-रंकपना, गुणवानपना-निर्गुणपना अनन्तानन्तबार पाया है और छोड़ा है; इसलिये इस क्लेशरूप संयोग-वियोगरूप संसार का सम्यग्दृष्टि निदान कैसे करेगा ?

इस संसार में जब अनन्त पर्यायें दुःख की प्राप्त होती हैं, तब एक पर्याय इन्द्रियजनित सुख की प्राप्त होती है, फिर अनन्तबार दुःख की पर्यायें मिलती हैं । इस प्रकार परिवर्तन करते हुये इन्द्रिय जनित सुख भी अनन्तबार पाया है । अब सम्यग्दृष्टि होकर इन्द्रियों के सुख की वांछा कैसे करेगा?

इस संसार में स्वयंभू रमण समुद्र के समस्त जल के बराबर तो दुःख हैं, तथा एक बाल की नोंक पर जितना जल लगता है उसके अनन्तभाग करने पर उसमें से एक भाग (अनन्तवें भाग) के बराबर इन्द्रियजनित सुख है । इससे तृप्ति कैसे होगी ? भोगों के संयोग तथा इष्ट सम्पदा के संयोग का जितना सुख होता है, उससे असंख्यात गुणा उसके वियोग के समय दुःख होता है। **जिसका संयोग होता है, नियम से उसका वियोग होता ही है ।**

जैसे शहद से लिपटी तलवार की धार को जो जिह्वा से चाँटता है उसे जितनी देर का स्पर्श है उतनी देर मिठास का सुख होता है किन्तु जिह्वा कटकर गिर जाने से उसका महादुःख बहुत समय तक होता है; उसी प्रकार विषयों के संयोग का सुख जानना । जैसे किंपाक फल देखने में सुन्दर है, खाने में मीठा है, किन्तु पश्चात् प्राणों का नाश कर देता है; जहर मिला लड्डू खाने में तो मीठा है, किन्तु बाद में पचने पर महादुःख देकर प्राणों का नाश करता है; उसी प्रकार भोगजनित सुख जानना ।

जैसे किसी पुरुष के पास बहुत धन है । वह उस अधिक धन के बदले में थोड़ा धन लेना चाहता है तो थोड़ा धन मिल जाता है । किन्तु यदि उसके पास थोड़ा धन हो, उसके बदले में वह अधिक धन लेना चाहे तो नहीं मिलता है । उसी प्रकार जिसने स्वर्ग की बहुत सम्पदा प्राप्त करने योग्य पुण्य बंध किया हो, बाद में निदान कर ले (थोड़ा धन मांग ले) तो उसे वहाँ पर राज्य सम्पदा मिल जाती है, व्यन्तर आदि देवों में उत्पन्न हो जाता है ।

निदान शल्य : यदि अपना अधिक पुण्य हो तो निदान करने से उसका घात होकर, तुच्छ सम्पदा प्राप्त हो जाती है, पश्चात् संसार में परिभ्रमण करना ही निदान का फल है । जैसे सूत की लम्बी डोरी से बंधा पक्षी दूर तक उड़ गया हो तो भी वापिस उसी स्थान पर आ जाता है, उसके दूर तक उड़ जाने से क्या लाभ हुआ ? पैर तो सूत की डोरी से बंधा है, अन्यत्र जा नहीं सकेगा। उसी प्रकार निदान करनेवाला बहुत दूर स्वर्ग आदि में महर्द्धिक देव भी हो गया हो तो भी संसार में ही परिभ्रमण करेगा। देवलोक में जा करके भी निदान के प्रभाव से एकेन्द्रिय तिर्यंचों में, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में तथा मनुष्यों में आकर के पाप एकत्र करके (संचय करके) बहुत समय तक परिभ्रमण करता है ।

जैसे ऋणवान कैदी जैलर से वायदा करके कुछ समय तक के लिये जेल से छूटकर अपने घर में आकर सुख से रहता है, तो भी वायदा का समय पूरा हो जाने पर वापिस जेल में जाकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार निदान सहित पुरुष भी तप-संयम से पुण्य बांधकर स्वर्गलोग में चला जाता है, वहाँ की आयु पूर्ण करके स्वर्ग से आकर संसार में ही फिर परिभ्रमण करता है ।

यहाँ ऐसा जानना : जिसने मुनिपने में-श्रावकपने में मंदकषाय के प्रभाव से व तपश्चरण के प्रभाव से अहमिन्द्रों में तथा स्वर्ग में उत्पन्न होने का पुण्य संचय किया हो, यदि वह बाद में भोगों की वांछारूप निदान करता है तो भवनत्रिक आदि अशुभ देवों में उत्पन्न हो जाता है । जिसके अधिक पुण्य हो, यदि वह अल्प पुण्य के फल के योग्य निदान करता है तो अल्प पुण्य वाले देव-मनुष्यों में उत्पन्न हो जाता है, अधिक पुण्यवाले देव-मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होता है । जो निर्वाण सुख को तथा स्वर्गादि के सुख को देनेवाले मुनि-श्रावक के उत्तम धर्म को धारण करके निदान करके उसे बिगाड़ता है, वह मानो ईंधन के लिये कल्पवृक्ष को काटता है । इस प्रकार निदान शल्य के दोषों का वर्णन किया ।

माया शल्य : मायाशल्य के दोषों का वर्णन कौन कर सकता है ? पहिले मायाचार के दोष कह ही आये हैं । मायाचारी के व्रत, शील, संयम सभी भ्रष्ट हैं । यदि भगवान जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्म धारण करके अपने आत्मा की दुर्गतियों के दुःखों से रक्षा करना चाहते हो तो करोड़ों उपदेशों का सार एक उपदेश यह है कि माया शल्य को हृदय में से निकाल दो; यश और धर्म दोनों का नाश करनेवाला मायाचार त्याग कर सरलता अंगीकार करो ।

मिथ्यादर्शन शल्य : मिथ्यात्व का पहिले वर्णन कर आये हैं, **वही समस्त संसार का बीज है। मिथ्यात्व के प्रभाव से अनन्तानन्त परिवर्तन किये हैं । मिथ्यात्व का जहर उगले बिना सत्य**

धर्म प्रवेश ही नहीं करता है । अत: मिथ्यात्व शल्य को शीघ्र ही त्यागो । माया, मिथ्यात्व, निदान इन तीनों शल्यों का अभाव हुए बिना मुनि-श्रावक का धर्म कभी नहीं हो सकता है । **नि:शल्य ही व्रती होता है ।**

कुसंगति त्याग की प्रेरणा : दुष्ट मनुष्यों का साथ नहीं करो । जिनकी संगति से पाप में ग्लानि लगती, पाप में प्रवृत्ति हो जाती है उनका संग कभी नहीं करो । जुआरी, चोर, छली, पर स्त्री लंपट, जिह्वा इंद्रिय के लोलुपी, कुल के आचार से भ्रष्ट, विश्वासघाती, मित्रद्रोही, गुरुद्रोही, धर्मद्रोही, अपयश के भय से रहित, निर्लज्ज, पाप क्रिया में निपुण, व्यसनी, असत्यवादी, असंतोषी, अतिलोभी, अतिनिर्दयी, कर्कश परिणामी, कलहप्रिय, विसंवादी, कुचाली, प्रचण्ड परिणामी, अतिक्रोधी, परलोक का अभाव कहनेवाला नास्तिक, पाप का भय रहित, तीव्र मूर्च्छा का धारक, अभक्ष्य का भक्षक, वेश्यासक्त, मद्यपायी, नीचकर्मी इत्यादि की संगति नहीं करो ।

यदि श्रावक धर्म की रक्षा करना चाहते हो, अपना हित करना चाहते हो तो कुसंग को अग्नि के समान विष के समान दु:खदायी जानकर दूर से ही छोड़ दो । **जैसे का संसर्ग करोगे, उससे ही प्रीति हो जायगी; जिसमें प्रीति हो जायेगी, उसका ही विश्वास होगा; विश्वास हो जाने से उस जैसा बनने का भाव होता है । इसलिये जैसी संगति करोगे वैसे हो जाओगे ।** जब अचेतन मिट्टी भी संसर्ग से सुगन्धमय या दुर्गन्धमय हो जाती है तब चेतन मनुष्य संगति से दूसरों के गुणरूप या दुर्गुणरूप कैसे नहीं परिणमेगा ?

जो जैसे की मित्रता करता है वह उस जैसा ही हो जाता है । दुर्जन की संगति करने से सज्जन भी अपनी सज्जनता छोड़कर दुर्जन हो जाते हैं । जैसे शीतल जल भी अग्नि की संगति करने से अपना शीतल स्वभाव छोड़कर तप्तपने को प्राप्त हो जाता है । उत्तम पुरुष भी अधम पुरुष की संगति पाकर अधमता को प्राप्त हो जाता है । जैसे देवता के मस्तक पर चढ़नेवाली सुंगधित फूलों की माला भी मुर्दा के शरीर का संसर्ग करके स्पर्श करने योग्य नहीं रहती है । दुष्टों की संगति से त्यागी-संयमी पुरुषों में भी दोष सहित होने की शंका की जाती है । जैसे कलाल (शराब बेचने-बनानेवाला) के हाथ में दूध का घड़ा होने पर भी उसमें मदिरा होने की ही शंका उत्पन्न होती है; तथा कलाल के घर में दुग्धपान करता हुआ ब्राह्मण भी लोगों को मदिरापान की शंका उत्पन्न कराता है ।

लोग तो दूसरों के छिद्र देखनेवाले हैं, दूसरों के दोष कहने में आसक्त हैं । यदि तुम दुष्टों की, दुराचारियों की संगति करोगे तो तुम लोगों में निंदा को प्राप्त होकर धर्म का अपवाद (निन्दा) करावोगे, इसलिये कुसंगति नहीं करो । खोटे मनुष्यों की संगति से निर्दोष मनुष्य भी दोषसहित मिथ्यामार्गी शीघ्र हो जाते हैं । **मिथ्यात्व तथा कषायों का परिचय तो अनादिकाल का है; किन्तु वीतरागभाव तो अभी महाकष्ट से उत्पन्न हुआ है, कुसंग पाकर तो वह क्षण मात्र में चला जायेगा ।**

अनादिकाल का मोह कर्म बड़ा प्रबल है । इसके उदय से जीव बिना सिखाये स्वयमेव विषय कषायों में प्रवर्तता है, फिर कुसंगति से तो हवा की संगति से अग्नि के समान अति प्रज्वलित हो



जाता है । अतः कुसंग छोड़कर शुभ संगति करना चाहिये । सज्जनों की संगति से दुष्ट भी अपने दोषों को छोड़ देते हैं ।

सत्संगति करने की प्रेरणा : सत्संगति से निर्गुण पुरुष भी जगत में मान्य हो जाता है, जैसे निर्गन्ध पुष्प को भी लोग देवताओं की संगति होने से अपने मस्तक पर चढ़ा लेते हैं । यद्यपि किसी एक पुरुष को भी धर्म में प्रीति नहीं है, परीषह सहने में तथा इन्द्रियों के विषय त्यागने में अति पराङ्मुखपना है तो भी संयमी-त्यागी-व्रती पुरुषों की संगति में रहने के प्रभाव से, लज्जा से, भय से, अभिमान से, अन्याय के विषय-कषायों से विरक्त हो ही जाता है । जो प्रकृति से ही मंद कषायी, धर्मानुरागी, पाप से भयभीत होता है, यदि उत्तम संगति मिल जाय तो उसे परम धर्म का ग्रहण हो जाता है और वह संसार के पार को भी पा लेता है ।

जिनसे सम्यक् धर्म का प्रवर्तन हो, जिनकी संगति से अनेक लोग विषय–कषायों से विरक्त हो जायें, त्याग–संयम–तप में लीन हो जायें, ऐसे न्यायमार्गी धर्मचर्या के धारक धर्मात्मा एक पुरुष से ही जगत शोभित होता है, कृतार्थ हो जाता है । धर्म रहित विषय-कषायी पुरुष बहुत होने से क्या साध्य है ? कल्पवृक्ष तो एक ही समस्त वेदना रहित कर देता है, वांछित सुख दे देता है, किन्तु विष के बहुत वृक्ष केवल मूर्च्छा, संताप, मरण के कारण होने से क्या साध्य हैं ?

इस लोक में जितने भी अनर्थ पैदा होते हैं, वे सभी कुसंग से होते हैं । कुसंग बिना कोई जुआरी, चोर, पर-स्त्री लंपट, वेश्यासक्त, अभक्ष्य-भक्षक, मद्यपायी नहीं होता है । बड़े-बड़े अनर्थ-दोष कुसंग से ही होते हैं । अतः यदि दोनों लोकों में अपना हित चाहते हो तो कुसंग नहीं करो। प्रत्यक्ष देखते हैं - जिन्होंने उत्तम कुल-उत्तम उज्ज्वल धर्म पाया है, फिर भी कुदेव-कुधर्म-पाखण्डियों की उपासना करते हैं, भांग पीते हैं, जरदा खाते हैं, हुक्का पीते हैं, रात्रि भक्षण करते हैं, वेश्या की जूंठन खाते हैं, जुआ खेलते हैं, चोरी करते हैं, चुगली करते हैं, परधन-परस्त्री की तरफ तृष्णा से देखते हैं, जिह्वा इंद्रिय के लोलुपी हैं, निर्दय परिणामी कुवचन बोलने में प्रवृत्त, परविघ्न सन्तोषी - ये सब दोष सत्संगति के बिना कुसंग से ही होते हैं । वह महापुण्याधिकारी मनुष्य है, जो इस विषम कलिकाल में कुसंग छोड़कर शुभ संगति को पा लेता है ।

स्वप्रशंसा त्याग – यदि जिनेन्द्र का धर्म धारण किया है तो अपनी प्रशंसा व पर की निंदा नहीं करो । जो अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता है वह अपने यश का नाश करता है । अभिमानी के सिवाय अन्य कोई अपनी प्रशंसा नहीं करता है । अपनी प्रशंसा करनेवाला पुरुष तृण समान छोटा हो जाता है, अवज्ञा योग्य हो जाता है, गुण विद्यमान होने पर भी अपने मुख से कहने पर वह गुण रहित होकर दोषों का पात्र हो जाता है । जिसमें अन्य कुछ भी दोष नहीं हो, किन्तु बड़ा भारी दोष तो अपनी प्रशंसा करना है । **अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करना वह बड़ा गुण है ।**

अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करनेवाले पुरुष के विद्यमान गुण नष्ट नहीं हो जाते हैं, जैसे अपने तेज की प्रशंसा नहीं करनेवाले सूर्य का तेज जगत में विख्यात होता ही है । यदि स्वयं में गुण नहीं





हैं तो अपनी प्रशंसा करने से उसमें गुणवानपना प्रकट नहीं हो सकता है; जैसे स्त्री के समान हाव-भाव, विलास, विभ्रम, श्रृंगार, अंजन, वस्त्रादि धारण करके स्त्री के समान आचरण करनेवाला नपुंसक, स्त्री नहीं हो जायगा, नपुंसक ही रहेगा ।

आप में गुण विद्यमान भी हों तथा कोई उसकी कीर्ति बखान, प्रशंसा करता है तो उत्तम पुरुष तो अपनी कीर्ति सुनकर लोक में लज्जा का अनुभव करते हैं, **सत्पुरुषों को अपनी कीर्ति अच्छी नहीं लगती है** । वह तो अपनी कीर्ति सुनकर अत्यन्त लज्जित होकर आत्मनिंदा ही करता है कि - "मैं संसारी अनेक दोषों से भरा हूँ, लोग मेरी प्रशंसा कर मेरे ऊपर बड़ा भार रख रहे हैं । प्रशंसा योग्य तो वे हैं जो आत्मा की परम विशुद्धता के इच्छुक होकर मोह, काम, क्रोधादि पर विजय प्राप्त कर चुके हैं । हम संसारी राग-द्वेष से व्याप्त, इन्द्रियविषयों के दास, परिग्रह में आसक्त अतिनिंदने योग्य हैं । जिनकी एक घड़ी भी प्रमादीपने से धर्म रहित व्यतीत होती है वे जगत में महामूढ़ हैं, निंद्य हैं।

यह मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है, फिर इसमें जिनधर्म का प्राप्त होता अति दुर्लभ है । ऐसे अवसर में भी जो धर्म छोड़कर विषयों में लीन होते हैं, वे ऐसे हैं जो अपने घर में उत्पन्न हुए कल्पवृक्ष को काटकर विष का वृक्ष लगाते हैं, चिन्तामणि रत्न को कौओं को उड़ाने में फेंक देते हैं, चिन्तामणि रत्न को कांच के टुकड़े में बेच देते हैं । **इस मनुष्य जन्म की एक-एक घड़ी जो करोड़ों के धन में प्राप्त होना दुर्लभ है, वह वृथा जा रही है** । मैं भी अन्य लोगों की कथा में तथा उनकी रागद्वेषरूप परिणति को देखकर कषाय सहित होकर दुर्ध्यान से मनुष्य जन्म व्यतीत कर रहा हूँ, अतः मुझ जैसा निंदा के योग्य दूसरा नहीं है" - इस प्रकार अपनी निंदा गर्हा करते हुए उत्तम पुरुष को अपनी प्रशंसा कैसे रुच सकती है ? नहीं रुचती है, वह तो अपने को नीचा ही देखता है । **जो वचनों से अपनी प्रशंसा करता है वह नीच गोत्र कर्म का बन्ध करता है,** यहाँ पर भी लोगों में महानिंद्य होता है। सत्पुरुष अपने गुण आप प्रकट नहीं करते हैं, तो भी उनके उज्ज्वल आचरण से जगत में उनके गुण विख्यात हो जाते हैं, जैसे चन्द्रमा का प्रकाश तथा शीतलता व आह्लादकपना बिना कहे ही जगत में फैल जाता है ।

परनिन्दा त्याग : पर की निंदा कभी नहीं करो । पर की निंदा करने समान जगत में दोष नहीं है । पर की निंदा महाबैर का कारण है, दुर्ध्यान का कारण है, कलह का कारण है, भय का कारण है, दुःख शोक पश्चाताप विसंवाद अप्रतीति का कारण है, निंदा का कारण है । पर की निंदा करनेवाला अपने धर्म, यश, बड़प्पन का नाश करता है । जो पर के दोष प्रकट करके स्वयं निर्दोष बनना चाहते हैं, वे दूसरे के द्वारा औषधि सेवन कर लेने से अपना निरोगपना चाहनेवालों के समान हैं ।

कोटि दोषों का शिरोमणि एक अन्य की निन्दा करना है । यदि जिनेन्द्र का धर्म धारण किया है तो दूसरों के दोष नहीं कहो । सत्पुरुष तो पर के दोष देखकर स्वयं लज्जित होते हैं, तथा अपनी सामर्थ्य प्रमाण पर के दोष ढांकते हैं, वे तो जिस प्रकार अपने अपवाद से डरते हैं, उसी प्रकार दूसरे का अपवाद होने का बड़ा भय रखते हैं ।

संसारी जीवों के ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म का उदय प्रबल है जिसके कारण जीव अज्ञान को प्राप्त हो रहे हैं । मोहनीय कर्म के उदय से रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी, लोभी, मानी, कपटी हो रहे हैं; भयवान, शोकवान, ग्लानिवान, रति के वश, अरति के वशीभूत होकर अनेक विकाररूप कुचेष्टा कर रहे हैं ।

जैसे कोई मदिरा पीकर परवश होकर अपने को भूल जाता है; धतूरा खाकर उन्मत्त हुआ परवश होकर अपने को भूलकर निंद्य चेष्टा करने लगता है; उसी प्रकार संसारी जीव विषय-कषायों के वश होकर निंद्य चेष्टा करता है । इनपर तो करुणा करना चाहिये, दोषों से छुड़ाना चाहिये; निन्दा अपवाद कैसे करे ? पर का अपवाद करके अनेक निंद्य पर्यायों में दुर्गतियों में तिरस्कार ही पाया है ।

सम्यग्दृष्टि तो नित्य ही ऐसी प्रार्थना करता है : दूसरों के दोष कहने में मेरा मौन बना रहे, सभी जीवों के प्रति मेरे प्रिय हितरूप वचन ही निकलें । **जिनधर्मी तो गुणग्राही ही होते हैं;** वे मिथ्यादृष्टियों के, तीव्र कषायी जीवों के मिथ्या आचरण देखकर बैर बुद्धि से निंदा नहीं करते हैं । उनके ऐसा अभिप्राय नहीं रहता है कि इसका अपवाद हो जाय तो अच्छा है । वे तो दोषों को, **मिथ्यात्व को अनंतकाल तक दुःखों का देनेवाला** जानकर करुणाबुद्धि से मंद कषायी जीवों को गुण-दोषों की हानि-वृद्धि का स्वरूप दिखलाते हैं ।

निद्रा त्याग : निद्रा, आलस, प्रमाद पर विजय प्राप्त करो । निद्रा समस्त धर्म का अभाव करती है । जिसने निद्रा को नहीं जीता, उसके छह आवश्यक, स्वाध्याय, ध्यान, जाप सभी उत्तम कार्य नष्ट हो जाते हैं । मुनियों के तो तप ही निद्रा को जीतने के लिये हैं । दर्शनावरण कर्म के उदयजनित निद्रा सर्वघाती प्रकृति है, आत्मा को अचेतन जैसा कर देती है । जिसने निद्रा को नहीं जीता उसके सभी हितरूप कार्य नष्ट हो जायेंगे ।

शास्त्र पढ़ते समय या शास्त्र सुनते समय यदि निद्रा आ जायगी, ऊंघ आ जायगी तो शास्त्र पढ़ना, सुनना नहीं होगा, किन्तु शास्त्र पढ़ने-सुनने में अरुचि हो जायगी । ध्यान, सामायिक करते समय यदि निद्रा आ जायगी तो ध्यान, जाप, सामायिक, आत्मध्यान, भावना सभी नष्ट हो जायेंगे । नींद में जीव एकेन्द्रिय के समान हो जाता है । निद्रा समस्त ज्ञान को नष्ट कर देती है । **निद्रा के समय में अबुद्धिपूर्वक आत्मा में अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं** । बुद्धिपूर्वक आत्मा का हित करने की भावना का अभाव हो जाता है ।

दिन में निद्रा लेने से दर्शनावरण कर्म का आस्त्रव होता है । मुनिराज तो एक प्रहर रात्रि चले जाने के बाद खेद प्रमादादि दूर करने के लिये रात्रि के मध्यम दो प्रहरों में शयन करते हैं, थोड़ी सी निद्रा लेकर फिर जागृत होकर बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं, फिर क्षणभर को निद्रा आ जाती है, फिर जाग्रत होकर धर्मध्यान में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार बीच के दो प्रहरों में भी अनेक बार जागृत होकर धर्मध्यान करते रहते हैं । **यदि कभी मुहूर्त भर को भी निद्रा में अचेत हो जाते हैं तो निद्रा को जीतने के लिये एक उपवास, दो उपवास, तीन, चार, पाँच इत्यादि उपवास**

तथा रस परित्याग आदि महान अनशन आदि तपों द्वारा निद्रा का अभाव करते हैं। निद्रा को जीतने के लिये तथा काम को जीतने की सावधानी के लिये अनशनादि तप हमेशा करते रहते हैं।

निद्रा में तो सभी परिणामों की सावधानी का तथा वचन, काय की सावधानी का अभाव हो जाता है। जिसे उत्तम मनुष्य जन्म तथा उत्तमधर्म का नाश करके एकेन्द्रिय समान होकर मनुष्य आयु को पूर्ण करना होता है, वह बहुत निद्रा लेता है। **जो दिन में निद्रा लेता है उसका तो व्रत–संयम ही गल जाता है;** खेद, आलस्यादि को दूर करने के लिये रात्रि में अल्प निद्रा लेते हैं।

निद्रा–आलस आदि तो जीव के अंतरंग महाबैरी हैं। निद्रा में हेय-उपादेय, कार्य-अकार्य, हित-अहित, योग्य-अयोग्य का विचार रहित हो जाता है। निद्रा को जीते बिना इस लोक के ही सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं तब परमार्थरूप कार्य कैसे बनेंगे। अतः यदि विद्या, विनय, तप, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, जाप की सिद्धि चाहते हो तो निद्रा को जीतकर खेद, ग्लानि, आलस को दूर करने के लिये अल्पनिद्रा लेना चाहिये।

आठ शुद्धियाँ : अब आठ प्रकार की शुद्धि का वर्णन करते हैं। यद्यपि ये आठ शुद्धियाँ तो मुनीश्वर परम वीतरागी साधुओं के होती हैं तथापि जो साधुपना धारण करने का इच्छुक तथा साधु के धर्म की भावना भाने का इच्छुक गृहस्थ है उसे ये आठ शुद्धियाँ जानने योग्य हैं। भाव शुद्धि, काय शुद्धि, विनय शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासन शुद्धि, वाक् शुद्धि- ये आठ प्रकार की शुद्धियाँ हैं।

भाव शुद्धि : मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न जो **मोक्षमार्ग में रुचि** है, उससे परिणामों में ऐसी उज्ज्वलता होती है कि रत्नत्रय ही एक मात्र मोक्षमार्ग है, अन्य हैं सो संसार में उलझाने वाले कुमार्ग हैं - ऐसा दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न हो जाता है। **आत्मा का हित मोक्ष है,** वह मोक्ष कर्मबंध रहित अवस्था है, तथा कर्मबंधनों का छूटना रत्नत्रय से ही होता है। ऐसे दृढ़ श्रद्धान-ज्ञान से उत्पन्न संसार-शरीर-भोगों से विरागतारूप समस्त राग-द्वेषादि मल रहित उज्ज्वलता, वह भाव शुद्धि है।

भावों में से विषयों की इच्छा, रागद्वेषादि उपद्रव, मिथ्यात्वरूप महामल दूर हुये बिना मुनि का आचार तथा श्रावक का आचार उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता है। जैसे बहुत साफ दीवार के ऊपर चित्र अच्छे बनते हैं; कीचड़ आदि से लिप्त जमीन पर बहुत होशियार चित्रकार भी अच्छी रंगोली नहीं बना सकता है, उसी प्रकार **मिथ्यात्व तथा कषायादि से लिप्त पुरुष को भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र नहीं होते हैं।** इस प्रकार यह भाव शुद्धि कही। १।

काय शुद्धि : साधुओं के कायशुद्धि कैसी होती है, वह कहते हैं। जो आवरण रहित, आभरण रहित, संस्कार रहित, विकार रहित तथा यत्नाचार सहित हैं उनकी उस शुद्धि का नाम काय शुद्धि है। जो सूत के, रेशम के, सन के, घास के, रोम के, चमड़े के, वृक्षों के, छालों के, पत्तों के वस्त्रों के आच्छादन से रहित तथा भस्मादि के लगाने से रहित हैं वह आवरण रहित हैं। उनके कायशुद्धि है। जो समस्त आभरणादि रहित हैं, **जो स्नान, गंध, लेपन आदि संस्कार से रहित हैं** – जैसे शरीर

पर रेत, धूल, तृण, पसीना आदि चिपक जाय तो उसे दूर नहीं करते वे संस्कार रहित हैं । नासिका, नेत्र, ललाट, ओष्ठ, मुकुट, मस्तक, स्कंध, हात, अंगुलि इत्यादि हिलाकर इशारा करनेरूप विकार रहित हैं ।

सर्वत्र क्रिया में यत्नाचार सहित प्रशम सुख की मूर्ति के समान ही दिखाई देते हैं । ऐसा लगता है मानो शरीर के होने पर भी आपको किसी अन्य से भय नहीं है तथा किसी अन्य को आप से भय नहीं है, ऐसी काय की विशुद्धता साधुओं के ही होती है । श्रावक भी जो एकदेश शुद्धि के धारक हैं ऐसे वस्त्राभरण पहिनते हैं, जिनसे स्वयं को तथा दूसरों को कामभाव उत्पन्न नहीं हो, अभिमान उत्पन्न नहीं हो, भय उत्पन्न नहीं हो । लोगों में मान्य अपने पद के अनुकूल, अवस्था के योग्य वस्त्र पहिनना तथा अंगों की चेष्टा, नेत्रों से देखना, वचन बोलना, बैठना, सोना, चलना, रागादि अभिमानादि दोष रहित प्रवर्तन करना वह कायशुद्धि है । २ ।

विनय शुद्धि : विनय शुद्धि इस प्रकार होती है अरंहतादि परमगुरुओं की यथायोग्य पूजा में लीनता तथा सम्यग्ज्ञानादि में यथार्विधि भक्ति सहित रहना विनय शुद्धि है । सदाकाल गुरुओं के अनुकूल प्रवर्तना, प्रश्न करने में, स्वाध्याय में, वाचन में, कथनी में, विनती में निपुणपना तथा देश-काल भावों को जानकर निपुणतापूर्वक आचार्यादिके अनुकूल प्रवर्तना-आचरण करना वह विनय शुद्धि है । विनय ही समस्त चारित्रसंपदा का मूल है, विनय ही पुरुष का आभूषण है, विनय ही संसार समुद्र में तिरने के लिये नाव है । अत: गृहस्थ को भी मन से, वचन से, काय से प्रत्यक्ष-परोक्ष विनय को धारण करना चाहिये । इसका विशेष वर्णन आगे तप के प्रकरण में करेंगे । ३ ।

ईर्यापथ शुद्धि : साधुओं के ईर्यापथ शुद्धि इस प्रकार जानना - अनेक प्रकार के जीवों के स्थान, जीवों की उत्पत्तिरूप योनि तथा जीवों के रहने के जो-जो आश्रय स्थल हैं, उन्हें जानकर यत्नाचार पूर्वक उन जीवों के कष्ट होने को दूर से ही त्यागकर गमन करते हैं । अपने ज्ञान से, सूर्य के प्रकाश में, नेत्रादि इंद्रियों द्वारा उजाले में देखते हुए मार्ग में चलते हैं । मार्ग में उतावलीपूर्वक शीघ्रता से गमन, विलंब करते हुये गमन, संभ्रम पूर्वक (भूलकर) गमन, विस्मयरूप-आश्चर्य करते हुए गमन, क्रीड़ा करते हुए गमन, शरीर को विकारयुक्त करते हुये गमन, दिशाओं की ओर देखते हुये गमन--ये गमन के दोष हैं । इन दोषों से रहित चार हाथ जमीन को आगे की ओर देखते हुये, जिस मार्ग पर अनेक मनुष्य गाड़ा-गाड़ी, बैल, गधा आदि चल चुके हों, जिस मार्ग से प्रात: काल की वायु का स्पर्श हो गया हो, जिस मार्ग पर सूर्य की किरणों का संचार हो गया हो, उस मार्ग पर दिन में गमन करनेवाले साधुओं के ईर्या समिति होती है ।

ईर्या समिति के होने पर ही संयम प्रतिष्ठित (आदर योग्य) होता है, जैसे सुनीति होने पर ही वैभव प्रतिष्ठित होता है । इसी का एकदेश धर्म अंगीकार करनेवाले गृहस्थ को भी ईर्यापथ की **शुद्धिरूप गमन करने की भावना रखना चाहिये, तथा अपनी** शक्ति प्रमाण मार्ग में कीड़ा-कीड़ी, हरित **अंकुर, घास, दूब, कीचड़, नील इत्यादि को टालकर दया परिणामों से गमन** करना उचित है । देख-

शोधकर गमन करनेवाले गृहस्थ को इसलोक में भी गड्ढे में गिर जाने की, ठोकर लगने की, सर्प-बिच्छू आदि दुष्ट जीवों की बाधा नहीं हो पाती है, जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन हो जाता है । ४ ।

भिक्षा शुद्धि : आहार की शुद्धि : अब मुनीश्वरों की भिक्षा शुद्धि का वर्णन करते हैं । साधु जब वन से भिक्षा के लिये नगर ग्रामादि में जाते हैं तब देश की रीति को, काल को जानकर व नगर-ग्रामादि को उपद्रव रहित जानकर जाते हैं । यदि अग्नि का उपद्रव, पर के चक्र (अन्य धर्म का प्रचार, उत्सव आदि) का उपद्रव, राजादि महन्त पुरुषों के मरण का विघ्न होवे तथा अपने धर्म में विघ्न जाने तो भिक्षा को नहीं जाते हैं, महान हिंसा का होना जाने तो भी नहीं जाते हैं ।

जिसकाल में चक्कियों के, मूसलों के बहुत तेज शब्द होते-होते बिल्कुल मंद रह जाँय, तथा अनेक भेषधारी भिक्षा लेने आ रहे हों, उस काल में मल-मूत्र की बाधा हो तो उस बाधा को मिटाकर पश्चात् पीछी से अपने शरीर का अगला-पिछला भाग शोधकर, कमंडलु-पीछी लेकर गमन करते हैं । मार्ग में अतिशीघ्रता से गमन नहीं करते हैं, विलम्ब करते हुए गमन नहीं करते हैं, मार्ग में किसी से वचनालाप नहीं करते हैं, मार्ग में वन की भूमि की, नगर की, ग्राम की शोभा नहीं देखते । जहाँ कलह, विसंवाद, कौतुक, नृत्य, गीत आदि हो रहे हों उन्हें दूर से ही छोड़कर गमन करते हैं । मार्ग में दुष्ट तिर्यंच, दुष्ट मनुष्य, पागल मनुष्य, स्त्री तथा पत्ते, फल, फूल, बीज, जल, कीचड़ादि जिस भूमि पर पड़े हों उसे दूर से ही छोड़कर गमन करते हैं ।

आचारांग शास्त्र में कहे देशकाल को जानने में निपुण तथा मार्ग में गमन करता साधु दातार का तथा भोजन का इस प्रकार चिन्तवन नहीं करता है कि - आज मुझे कौन दातार भोजन देगा, मुझे भोजन शीघ्र ही मिल जाय तो अच्छा है; मीठा, नमकीन, गरम, ठण्डा, स्वादिष्ट या बेस्वाद भोजन मिल जाय तो अच्छा है? वह तो अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार लाभ-अलाभ जानकर भोजन के लाभ-अलाभ में, मान-अपमान में, मन की वृत्ति को समान रखता हुआ, धर्मध्यानरूप चिन्तवन करता हुआ, चार आराधनाओं की शरण सहित, क्षुधातृषादि की वेदना का चिंतन नहीं करता हुआ भिक्षा के लिये गमन करता है ।

लोक निंद्य कुल में गमन नहीं करता है । उत्तमकुल के भी ऐसे घरों में प्रवेश नहीं करता है जहाँ दानशाला हो, विवाहादि हो रहा हो; मृतक का सूतक हो, गान गीत हो रहा हो; नृत्य के वादित्र बजने का उत्सव हो रहा हो, रुदन हो रहा हो; भिक्षा भोजन के लिये बहुत लोग एकत्र हो रहे हो; कलह, विसंवाद द्यूत क्रीडायें हो रहे हों; दरवाजे बंद हों, जानेवाले को कोई मना कर रहा हो; घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैल आदि रास्ते में खड़े हों या बंध रहे हों; अनेक मनुष्यों की भीड़ हो रही हो, संकड़े रास्ते में बहुत लोगों का संकड़ाई से आना-जाना हो रहा हो; नाभि से अधिक नीचे दरवाजे में से जाना पड़ता हो, पैरों से अधिक ऊँची भूमि पर चढ़ना पड़ता हो, ऐसे घरों में तो साधु भोजन के लिये प्रवेश ही नहीं करता है ।

चन्द्रमा की चाँदनी के समान धनवान-निर्धन सभी के घरों में जाता है । दीन, अनाथ, निंद्यकर्म से जीविका करने वाले, गीत-नृत्य-वादित्र से जीविका करने वाले इत्यादि अयोग्य घरों में भिक्षा के

लिये नहीं जाता है । जब भिक्षा के लिये घरों में जाता है तो जहाँ तक अन्य भिक्षुओं को तथा सभी जनों को आने की रोक नहीं हो वहाँ तक ही जाता है । **आशीर्वाद, धर्मलाभ आदि मुख से नहीं कहता है, हुंकारा या भौंहों से इशारा आदि नहीं करता है,** पेट का कृशपना नहीं दिखलाता है, हाथ से मांगने का इशारा नहीं करता है; दातार को देखने के लिये, भोजन को देखने के लिये ऊपर की ओर या दिशा-विदिशा में नहीं देखता है, अधिक देर तक खड़ा नहीं रहता, बिजली की चमक के समान आधे आंगन तक जाकर रुक जाता है; तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ - ऐसे तीन बार आदर पूर्वक बोलकर खड़ा रखे तो खड़ा रहे, एक बार निकल आने के पश्चात् फिर उसी घर में नहीं जाता है, फिर अन्य घर में प्रवेश करता है । अंतराय हो जाय तो फिर अन्य घर में भी नहीं जाता है, वापिस सीधा वन को ही लौट जाता है ।

दीनता रहित, याचना रहित, प्रासुक आहार आचारांग शास्त्र में कहे अनुसार छियालीस दोष, चौदह मल, बत्तीस अंतराय रहित भोजन प्राणों की रक्षामात्र कारण से अंगीकार करता है । सुन्दर रस-नीरस में लाभ-अलाभ में संतोषी रहना वह साधु की भिक्षा है । इस भिक्षा की शुद्धता से चारित्र की उज्ज्वल संपदा उसी प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार साधु पुरुषों की सेवा से गुणों की संपदा प्राप्त हो जाती है ।

मुनीश्वरों की भिक्षा पाँच प्रकार से होती है – गोचरी वृत्ति, अक्षमृक्षण वृत्ति, उदराग्नि प्रशमन वृत्ति, भ्रामरी वृत्ति, गर्तपूरण वृत्ति - ऐसे पाँच प्रकार से साधुओं की आहार में प्रवृत्ति जानना ।

गोचरी वृत्ति भिक्षा : जैसे लीला (नाटकीय) विकार, वस्त्र, आभरण आदि सहित, रूप यौवन से युक्त, सुन्दर स्त्री द्वारा लाये घास को गाय चरती है किन्तु उस स्त्री के अंगों का सौन्दर्य, आभरण, वस्त्रों को नहीं देखती है, केवल घास चरना ही उसका प्रयोजन है; उसी प्रकार साधु भी दातार के रूप, आभरण, सौन्दर्य को नहीं देखता हुआ, नवधा भक्ति से पड़गाहे जाने पर हाथ में रखा हुआ भोजन का ग्रास भक्षण करता है, वह गोचरी वृत्ति है ।

जैसे गाय वन में अनेक स्थानों में रुकती हुई जैसा घास मिल जाय तैसा भक्षण करती है, वन की शोभा, वृक्षों की शोभा देखने में परिणाम नहीं रखती है, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थों के घर में जाकर केवल अपने हाथ में रखे हुये भोजन के ग्रास के खा लेने में दृष्टि रखता है । गृहस्थ के बड़े महल, मकान, शैया, आसन आदि देखने में; सोने, चाँदी, काँसा, पीतल, मिट्टी के बर्तन आदि देखने में; अनेक भोजन व परिवारजनों के देखने में परिणाम नहीं लगाते हैं; परिकर जनों के कोमल, ललित रूप-वेष-विलासों को देखने में वांछा रहित हुआ, सूखा-गीला आहार नहीं देखता हुआ गाय के समान भोजन करता है, वह गोचरी वृत्ति या गवेषणा कहलाती है ।

अक्षमृक्षण वृत्ति भिक्षा : जैसे वणिक रत्नों से भरी गाड़ी को घृतादि चिकने पदार्थ का धुरा में ओंगन लगाकर अपने इच्छित स्थान-देशान्तर को ले जाता है, उसी तरह साधु भी गुणरूप रत्नों से भरी अपनी देहरूप गाड़ी को निर्दोष भिक्षा भोजनरूप ओंगन देकर अपने इच्छित समाधिरूप नगर को ले जाता है, उसे अक्षमृक्षण वृत्ति कहते हैं ।

उदराग्नि प्रशमन वृत्ति भिक्षा : जैसे अनेक वस्त्र, आभरण आदि से भरे भण्डार-घर में लगी हुई आग को गृहस्थ शुद्ध या अशुद्ध जल से बुझाकर अपने सामान की रक्षा करता है, उसी प्रकार साधु भी अपने उदररूप भण्डार में उत्पन्न क्षुधा-तृषादिरूप अग्नि को सुन्दर-असुन्दर (सरस-नीरस) भोजन से बुझाता है, वह उदराग्निप्रशमन वृत्ति है ।

भ्रमराहार वृत्ति भिक्षा : जैसे भ्रमर पुष्प को कुछ भी कष्ट बाधा नहीं पहुँचाता हुआ पुष्प की गंध ले जाता है, उसी प्रकार साधु भी दातार को कुछ भी बाधा नहीं हो इस तरह भोजन करता है, वह भ्रमराहार वृत्ति है ।

गर्तपूरण वृत्ति भिक्षा : जैसे गृहस्थ के घर में यदि कोई गड्डा हो गया हो तो वह उस गड्ढे को धूल, पत्थर आदि से भर देता है, उसी प्रकार साधु भी उदररूप गड्ढे को रस-नीरस भोजन से भरता है, उसे गर्तपूरण वृत्ति कहते हैं । इस प्रकार पाँच प्रकार से भोजन करनेवाले साधु के भिक्षा शुद्धि होती है ।

श्रावक भी अन्याय छोड़कर, बहुत हिंसा के कारण व्यवहार आरंभ छोड़कर, कर्म के उदर में दिये धन में संतोष धारण करके, दूसरों को कष्ट दिये बिना, न्याय से कमाये धन को, मद विषाद दीनता रहित होकर, दान का विभाग करके भोगता है । अभक्ष्यादि सदोष भोजन का त्याग करके, दिन में भोगान्तराय-लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम प्रमाण, रस-नीरस जो मिला उसमें कुटुम्ब का विभाग व दान का विभाग करके भोजनादि करता है । **गृहस्थ के लालसारहित गृद्धतारहित ही भोजन की शुद्धता है । ५ ।**

प्रतिष्ठापन शुद्धि : संयमी पुरुष अपने शरीर के नख, केश, कफ, नाक का मैल, मूत्र, मल, आदि को देश-काल जानकर, विरोध रहित, जहाँ जीवों को बाधा नहीं हो, दूसरों के परिणाम मलिन नहीं हों, ऐसे क्षेत्र में क्षेपते हैं उनके प्रतिष्ठापन शुद्धि होती है । गृहस्थ भी अपने शरीर का मल तथा जल, कजोड़ा, भस्म, मिट्टी, पत्थर यत्न से फेंकता है । जिस तरह छोटे-बड़े जीवों की विराधना नहीं हो, किसी के साथ कलह-विसंवाद नहीं हो, अपने शरीर को बाधा नहीं हो, दूसरे लोगों को ग्लानि उत्पन्न नहीं हो उस प्रकार क्षेपना चाहिये । ६ ।

शयनासन शुद्धि : शयनाशन शुद्धि साधु का प्रधान आचरण है । जहाँ स्त्रियाँ, नपुंसक, चोर, शराबी, शिकारी इत्यादि पापीजनों का आना-जाना नहीं हो; जहाँ शृंगार, शरीर विकार, उज्ज्वल आभरण पहिने स्त्रियाँ विचरण करती हों, वेश्याओं का क्रीड़ावन, बाग, गीत-नृत्य-वादित्र से व्याप्त स्थानों को तो दूर से ही त्यागकर रहते हैं । अकृत्रिम पर्वतों की गुफा, वृक्षों के कोटर, शून्यगृह आदि, आपके लिये नहीं बनवाये गये, आरंभ रहित स्थानों में तथा शुद्ध भूमि में शयन आसन करते हैं ।

गृहस्थ भी विषयों के विकार रहित, स्त्री नपुंसक, दुष्ट, कलह, विसंवाद, विकथादि रहित, परिणामों की उज्ज्वलता जहाँ नहीं बिगड़े ऐसे स्थानों में शयन आसन करता है । **स्थान के दोष से परिणामों में दुर्ध्यान रहता है, दुष्ट चिन्तवन होता है ।** अतः अपनी जीविकादि का न्यायमार्ग से साधन करके निराकुल स्थान में ही शयन आसन करना चाहिये । ७ ।

वाक्य शुद्धि : साधु पृथ्वीकाय आदि जीवों की विराधना की प्रेरणा रहित कठोर-कटुक आदि पर पीड़ा के कारण वचन रहित, व्रत-शील-संयम के उपदेशरूप वचन कहता है, हित-मित-मधुर मनोहर वचन कहता है वह वाक्य शुद्धि है । गृहस्थ भी जितने वचन कहता है, वह विवेक सहित कहता है । **लोक विरुद्ध, धर्म विरुद्ध, हिंसा के प्रेरक, असत्य, कटुक, कर्कश आदि वचन कभी नहीं कहता है ।** ऐसी आठ प्रकार की संयमियों की शुद्धि का विचार करता है, भावना रखता है तो बहुत पापों से लिप्त नहीं होता है, धर्म भावना की वृद्धि करता है । ८ ।

तप भावना

तप भावना गृहस्थ को भी भाने योग्य है । यद्यपि तप की प्रधानता तो मुनीश्वरों के ही होती है, तथापि गृहस्थ भी यदि तप भावना भाता रहे तो रोगादि कष्ट आने पर चलायमान नहीं होता है, इन्द्रियों की विकलता को जीतता है, वृद्ध अवस्था में बुढ़ापे से बुद्धि चलित नहीं होती है, खान-पान में विकलता का अभाव होता है, संतोष वृत्ति प्रकट होती है, दीनता का अभाव हो जाता है, लोक में यश उज्ज्वल होता है, परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है । अतः तप करना ही उचित है ।

बाह्य तप : तप दो प्रकार का है - एक बाह्य, एक आभ्यन्तर । बाह्य तप के छह भेद हैं- अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शयनासन, कायक्लेश । ऐसे ये छह प्रकार के बाह्य तप का वर्णन करते हैं ।

अनशन तप : अब अनशन तप का स्वरूप कहते हैं - अनशन अर्थात् भोजन का त्याग करना यह अनशन तप है । इष्ट फल की अपेक्षा रहित होकर भोजन का त्याग करना वह अनशन तप है। जो यहाँ यश के लिये, ख्याति के लिये, जगत के लोगों से पूजा-नमस्कारादि कराने के लिये, मंत्रसाधना के लिये, धन के लिये, ऋद्धि संपदा के लिये, बैरियों के घात के लिये, परलोक में राज्य-संपदा की प्राप्ति के लिये, कषाय से बैर से दुःखी होकर अपने प्राण घात के लिये जो अनशन करता है, वह अनशन सम्यक्तप नहीं है, केवल संसार परिभ्रमण का कारण है ।

जो इन्द्रियों के विषयों की लालसा घटाने के लिये, छह काय के जीवों की दया के लिये, रागभाव घटाने के लिये, निद्रा को जीतने के लिये, कर्मों की निर्जरा के लिये ध्यान की सिद्धि के लिये, देह का सुखियापना मिटाने के लिये, उपवास आदि करता है वह अनशन तप है । अनशन तप दो प्रकार से किया जाता है - एक काल की मर्यादा से होता है, दूसरा यावज्जीवन के लिये होता है ।

सभी मनुष्य एक दिन में दो बार भोजन करते हैं, उसमें प्रातः का एक बार भोजन करना, संध्या का दूसरी बार भोजन का त्याग करना वह भी अनशन है । पहिले दिन एक बार भोजन करके दूसरी बार के भोजन का त्याग, दूसरे दिन के दोनों बार के भोजन का त्याग तथा अगले पारणा के दिन एक भोजन त्यागकर एक बार जीमना, वह चार भोजन के त्यागरूप चतुर्थ है, इसी को उपवास कहते हैं । छह भोजन के त्याग को दो उपवास कहते हैं, आठ भोजन के त्याग को तेला कहते हैं, दश भोजन के त्याग को चोला कहते हैं । इस प्रकार काल की मर्यादा रूप अनशन तप जानना । आयु के अंत में यावज्जीवन भोजन त्याग वह यावज्जीवन अनशन है ।

इंद्रियों के उपशमन के लिये भगवान ने उपवास करना कहा है । इसलिये इन्द्रियों को जीतने वाला मुनि भोजन करते हुए भी उपवास करनेवाला जानना । **जो उपवास करते हुए भी इन्द्रियों को विषयों से नहीं रोकता है, आरंभ करता है, कषायरूप प्रवर्तता है, उसका अनशन तप निष्फल होता है,** कर्मों की निर्जरा नहीं करता है । इस प्रकार अनशन तप का स्वरूप कहा है ।

जिस प्रकार से वात-पित्त-कफादि विकार को प्राप्त नहीं हो, रोग शांत हो, धर्म में उत्साह बढ़ता रहे उस तरह अपने परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि चाहते हुये देश के अनुकूल, काल के अनुकूल, आहार-पानी की योग्यता के अनुकूल, कुटुम्ब आदि की सहायता के अनुकूल, संहनन के अनुसार जैसे शरीर विकार को प्राप्त नहीं हो वैसे श्रावकों को भी अपने शक्ति के अनुसार अनशन तप अंगीकार करना श्रेष्ठ है । १ ।

अवमौदर्य तप : अवमौदर्य तप का स्वरूप इस प्रकार जानना : अवम् अर्थात् ऊन अर्थात् कुछ कम, उदर में अर्थात् जिसमें पूर्ण उदर से कुछ कम भोजन किया जाता है, उसे अवमौदर्य तप कहते हैं । जितने भोजन से उदर पूर्ण भरता है उतने से ऊन अर्थात् कुछ कम भोजन करना वह ऊनोदर या अवमौदर्य तप है । अवमौदर्य तप से इंद्रियों का संयम होता है, भोजन की गृद्धता का अभाव होता है । अल्प आहार करने से वात-पित्त-कफादि प्रकोप को प्राप्त नहीं होते हैं; रोगों का उपशम होता है, निद्रा-आलस पर विजय होती है; स्वाध्याय में, सामायिक में, कायोत्सर्ग में, ध्यान में खेद नहीं होता है; सुख से ध्यान, स्वाध्याय आदि आवश्यक होते हैं । अवमौदर्य तप करने से उपवास का खेद, गर्मी आदि नहीं व्यापती है, उपवास सुख से हो जाता है । यदि बहुत भोजन कर लेता है तो ध्यान, कायोत्सर्ग आदि आवश्यक सुख से हो जाता है । यदि बहुत भोजन कर लेता है तो ध्यान, कायोत्सर्ग आदि आवश्यक सुख से नहीं होते हैं, आलस-निद्रा प्रबल हो जाते हैं, प्यास बहुत लगती है, गर्मी की पीड़ा सताती है ।

इसलिये इन्द्रियों की लालसा आदि घटाने के लिये, मन को रोकने के लिये, ज्ञानी मुनि तो आधा भोजन, चतुर्थभाग भोजन, क्रम से एक-एक दो-दो ग्रास घटाते हुए, एक ग्रास मात्र पर्यन्त अवमौदर्यतप के भेद करते हैं; किन्तु जो मिष्ठ भोजन के लाभ के लिये, कीर्ति-प्रशंसा पाने के लिये अल्प भोजन करते हैं, वह अवमौदर्य तप नहीं है । **अवमौदर्य तप तो भोजन में लालसा घटाने के लिये किया जाता है** । गृहस्थ श्रावक के लिये भी अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार प्राप्त हुए भोजन में संतोष करके, भोजन की लालसा छोड़कर, इच्छा के निरोध के लिये अवमौदर्य तप करना श्रेष्ठ है । २ ।

वृत्ति परिसंख्यान तप : वृत्ति परिसंख्यान तप मुनिराजों के होता है, उसका स्वरूप कहते हैं। मुनिराज भोजन को जाते समय प्रतिज्ञा करते हैं कि - आज एक घर में ही जाऊँगा, या दो, तीन, पांच, सात घरों का प्रमाण करके जाते हैं; आज सीधे मार्ग में ही मिलेगा तो, वक्र मार्ग में मिलेगा तो, ऐसा दातार होगा तो, ऐसा भोजन होगा तो, ऐसे पात्र में होगा तो, ऐसी विधि से मिलेगा तो भोजन ग्रहण करूँगा, अन्य प्रकार से नहीं करूँगा । ऐसी कठिन-कठिन प्रतिज्ञा लेकर जो भोजन के लिये

गमन करते हैं, उनके वृत्ति परिसंख्यान तप होता है। यह दुर्ध्दर तप मुनिराजों से ही होता है, अन्य गृहस्थ इसे धारण करने में समर्थ नहीं होते हैं।

गृहस्थ भी वीतरागी गुरुओं के प्रसाद से इस प्रकार की प्रतिज्ञायें करते हैं – मैंने जिनेन्द्र धर्म पाया है, इसलिये उज्ज्वल धर्म का घात जिसमें नहीं हो ऐसी रीति से ही जीविका करूँगा; जिसमें श्रद्धान, ज्ञान, व्रत नष्ट हो जाय वह जीविका नहीं करूँगा। बहुत हिंसा, झूठ, मायाचार जिसमें करना पड़े ऐसी नौकरी नहीं करूँगा; खोटे पाप के वणिज व्यवहार नहीं करूँगा; उज्ज्वल वणिज, बहुत आरंभ रहित, कपट रहित, असत्य रहित, जो जीविका हो वह ही मुझे करना, अन्य नहीं करना इत्यादि आजीविका का नियम करता है।

इतना परिग्रह, इतना धन, इतने वस्त्र ही से भोग उपभोग करना, रोग हो जाय तो इतनी ही औषधि खाऊँगा, इन औषधियों के सिवा अन्य औषधियाँ नहीं खाऊँगा; आज मेरे घर में जो भोजन तैयार हो जायेगा वही खाऊँगा, मैं मुख से कहकर बनवाऊँगा नहीं, माँगकर खाऊँगा नहीं। आज मैं अपने घर में, अपने ही घर का बना, थाली में प्रथम बार के परोसने में जितना भोजन आ-जायेगा उतना ही भोजन करूँगा, फिर दुबारा मागूँगा नहीं इत्यादि प्रकार की इच्छाओं को रोकने के लिये गृहस्थ भी अपने मन में प्रतिज्ञा करते हैं। ३।

रस परित्याग तप : अब रस परित्याग तप का स्वरूप कहते हैं। दूध, दही, घी, नमक, गुड़, तेल - ये छह प्रकार के रस हैं। इनमें से जिह्वा आदि इंद्रियों के दमन के लिये, मन की लोलुपता मिटाने के लिये, काम को जीतने के लिये, निद्रा को घटाने के लिये, संयम की साधना के लिये रसों का त्याग करना, कभी एक रस का त्याग, कभी दो रस का त्याग, कभी तीन रस का त्याग, कभी छहों रसों का त्याग करना वह रस परित्याग तप है।

संसारी जीव मीठा रस आदि खाने के लोलुपी होकर अभक्ष्य-भक्षण करते हैं, लज्जा छोड़ देते हैं, व्रत तप बिगाड़ देते हैं, भोजन की लोलुपता से शूद्रादि के अयोग्य कुल में भोजन करते हैं, दीन होकर गिड़गड़ाते हैं, रसादि खाने के लिये लड़ते हैं, मरते हैं, गिरते हैं, प्राय: रसों के लोभी होकर भ्रष्ट हो रहे हैं।

कोई अन्य पुरुष के रसरूप भोजन करने की लालसा नहीं रहती है। उत्तम गृहस्थ तो पहिले से ही अनेक प्रकार के घी, मीठा, रसादि में लालसा को छोड़कर अपने घर में ही खारा, रोना, रूखा, चिकना इत्यादि जैसा कर्म सहज विधि मिला दे वैसा भोजन संतोषपूर्वक खाता है। रसरूप भोजन की चर्चा स्वप्न में भी नहीं करता है। **रसों की लम्पटता दोनों लोकों में भ्रष्ट करनेवाली है।** अत: लालसा छोड़ने के लिये, इंद्रियों को वश में करने के लिये, परम संवर और निर्जरा करने के लिये, दीनता का अभाव करने के लिये, संतोष धारण करने के लिये रसपरित्याग तप करना ही श्रेष्ठ है। ४।

विविक्त शयनासन तप : अब विविक्त शयनासन तप का स्वरूप कहते हैं। शून्यगृह, एकान्त स्थान, विकलत्रय जीवों की बाधा रहित, स्त्री-नपुंसक-असंयमी पुरुषों के आवागमन से रहित स्थान में, पर्वतों की गुफा, वनखण्ड में ध्यान-अध्ययन करना, शयन-आसन करना वह विविक्त शयनासन

तप है। उससे एकान्त में रहनेवाले साधु के हिंसा का अभाव, ममत्व का अभाव, विकथा का अभाव, काम का अभाव होता है तथा ध्यान-अध्ययन की सिद्धि होती है। दूसरा साथ में हो तो बातचीत होती है, उससे ध्यान चलायमान हो जाता है, रागभाव बढ़ जाता है। अत: संयमी एकान्त में ही शयन-आसन करते हैं।

गृहस्थ धर्मात्मा भी पाप से भयभीत होकर, अपने गृहाचार के आजीविका आदि कार्य न्यायमार्ग से, अल्प आरंभादि रूप पाप कार्यों से भी भयभीत होकर, शरीर के स्नान, भोजन आदि कार्य करके एकांत मकान में, अपने घर में, जिनमंदिर में धर्मशाला में, वन के चैत्यालयादि में, साधर्मी लोगों की संगति में धर्मचर्चा करते हुये, स्वाध्याय, जिनागम का पठन-पाठन, व्याख्यान, जिनागम का श्रवण, पंच नमस्कार का स्मरण करते हुए दिन-रात्रि व्यतीत करता है। स्त्री कथा, राजकथा, भोजनकथा, देशकथा कभी भी नहीं करता हुआ काल व्यतीत करता है। काम विकार को बढ़ानेवाले, राग उत्पन्न करनेवाले शयनासन का त्याग करता है। गृहस्थ का भी विविक्त शयनासन तप निर्जरा का कारण है। ५।

कायक्लेश तप : मुनिराजों के कायक्लेश नाम का बड़ा तप होता है। एक आसन से बैठना, एक करवट से सोना, मौन रहना; **ग्रीष्मऋतु** में पर्वत की शिखर पर, पत्थर की शिला के ऊपर, सूर्य के सामने, कायोत्सर्ग धारण करके, तेज धूप, गर्म हवा आदि की घोर वेदना होने पर भी धर्मध्यान में, बारह भावना के चिन्तवन में, परिणामों को स्थिर करके कष्टरूप अनुभव नहीं करना वह कायक्लेश तप है।

वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे योग धारण करते हुए, घोर अंधकार से भरी रात्रि में अखण्ड धाररूप बरसते मेघ से धरती आकाश जलमय हो रहा हो, वृक्षों में एकत्र होकर जल की मोटी धार पड़ती हो, बिजली चमकती हो, बादल गरजते हों, गाज गिरती हो उस समय में धन्य मुनि बिना किसी वस्तु से ढके हुए नग्न शरीर के ऊपर घोर वेदना भोगते हुए भी संक्लेश रहित धर्मध्यान-शुक्लध्यान से जुड़े हुए रहते हैं। **यह सब वीतरागता की महिमा है।**

शीतऋतु में नदी के किनारे, चौराहे पर, नग्न शरीर के ऊपर बर्फ गिरती हो, महान घोर शीतल पवन चलती हो उस अवसर में दु:खरहित धर्मध्यान से शीतकाल की रात्रि व्यतीत करना तथा दुष्ट जीवों द्वारा किये गये घोर उपद्रव को सहते हुए समता भाव रखना वह काय क्लेश तप है। इस प्रकार परवश दु:ख आने पर चलायमान नहीं होने के लिये, देह जनित सुख की अभिलाषा का अभाव करने के लिये, रोगों से चलायमान नहीं होने के लिये, भय को जीतने के लिये, परीषह सहने के लिये, कर्मों की निर्जरा के लिये कायक्लेश तप धारण करते हैं।

गृहस्थ के आतापनयोगादि नहीं होते हैं। ये तप तो दिगम्बर साधुओं से ही होते हैं। गृहस्थ तो स्वयं चलकर काय क्लेश तप नहीं करता है। सामायिक के समय में ही कोई क्लेश आ जाय तो चलायमान नहीं होता है। कर्म के उदय से अपनी रक्षा करते हुए भी शीत ज्वर, दाह ज्वर, वातशूल आदि हो जाये व दुष्ट बैरी, धर्मद्रोही, म्लेच्छादि आकर उपद्रव करने लगें, जेल में डाल दें, मार-

पीट करने लगें तो गृहस्थ भी मुनियों के कायक्लेश तप की भावना करते हुए समता भाव से सहता है, कायरता नहीं दिखाता है । निर्धनता से उत्पन्न भूख प्यास, गर्मी, सर्दी आदि के दुःख की वेदना कर्म के उदय से आ जाये तो वहाँ कायर नहीं होना, धर्म की शरण से सहना वही कायक्लेश तप है ।

मुनीश्वर तो इस प्रकार का कायक्लेश तप उत्साह पूर्वक धारण करते हैं । हम गृहस्थ कायक्लेश से बहुत दूर रहते हैं, तो भी यदि असाता कर्म के उदय से दुःख आ गया तो भयभीत हो जाने पर छोड़ेगा नहीं । यदि धैर्य धारण करके सहूँगा तो कर्म रस देकर अवश्य निर्जरित हो जायेगा; किन्तु यदि कायरता करूँगा-क्लेश करूँगा तो भी सहना तो पड़ेगा, भोगना तो पड़ेगा, कर्म के उदय के दया नहीं है । यदि कायर होकर दुःखी होते हुये, उदय में आया है तो भी मैं ही भोगूँगा, और इस प्रकार भोगने से आगे के लिये बहुत गुणा बंध करूँगा । इसलिये **जिनेन्द्र के वचनों की शरण ग्रहण करके कर्म के उदय में धर्य धारण करना ही श्रेष्ठ है ।**

गृहस्थ के जब अन्तराय कर्म का उदय आता है तब पेट भरने के लिये भोजन भी पूरा नहीं मिलता है, घी आदि रस नहीं मिलते हैं या थोड़ा मिलते हैं; उस समय उसे थोड़े में ही संतोष रखना चाहिये, पर का वैभव देखकर वांछा नहीं करना चाहिये, समता भावरूप रहे तो सहज ही काय क्लेश तप होता है, बहुत निर्जरा करता है । ६ ।

यह छह प्रकार के बाह्य तप का वर्णन किया । बाह्य अर्थात् दूसरे को प्रत्यक्ष जानने में आता है, वह बाह्य भोजनादि के त्याग से होता है, व अन्य गृहस्थ अन्यमती भी धारण कर लेता है इसलिये इन्हें **बाह्य** तप कहा है । जैसे बहुत बड़े घास के ढेर को अग्नि जला देती है, वैसे ही पूर्व संचित कर्म राशि को यह जला देता है, इसलिये तप कहा है । शरीर व इंद्रियों को संतापित करके विषयों में मग्न नहीं होने देता है अतः इसे तप कहते हैं । जैसे तपाया हुआ स्वर्णयुक्त पाषाण कीट छोड़कर शुद्ध स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी इसके प्रभाव से कर्ममल रहित हो जाता है, अतः भगवान ने इसे तप कहा है ।

अंतरंग तप : अब छह प्रकार के अभ्यन्तर तप का वर्णन करते हैं । प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान - ये छह भेद हैं । प्रायश्चित तप के नौ भेद, संख्यात व असंख्यात भेद हैं। यहाँ पर आलोचना आदि का कथन लिखने से कथनी बहुत हो जायेगी, अतः संक्षेप में कहते हैं ।

प्रायश्चित तप : जो धर्मात्मा है, वह अपने व्रत-धर्म में कभी दोषरूप आचरण नहीं करता है, अन्य को सदोष आचरण कराता नहीं है, जो दोष सहित आचरण करता है उसे मन-वचन-काय से भला नहीं कहता है । यदि कभी प्रमाद से, भूल से दोष लग जाय तो निर्दोष साधु के निकट जाकर, सरल परिणामों से, दश प्रकार के दोष रहित आलोचना करके, गुरुओं द्वारा दिये प्रायश्चित को परम श्रद्धा से आदरपूर्वक ग्रहण करता है। हृदय में ऐसी शंका नहीं करता है कि मुझे बहुत प्रायश्चित दे दिया या थोड़ा प्रायश्चित दिया । प्रमाद से एक बार दोष लग गया हो, उसे प्रायश्चित लेकर दूर

कर लिया, फिर ऐसी सावधानी रखना कि अपने सौ-टुकड़े हो जाँय तो भी फिर दोष नहीं लगने दे, उसका प्रायश्चित लेना सफल है ।

अनेक गुणों के धारी, सिद्धान्त रहस्य के पारगामी, प्रशान्त मनवाले, अपरिस्रावी गुण के धारी जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला पानी को पीकर उसे बाहर नहीं आने देता, उसी प्रकार जो शिष्य के द्वारा आलोचना किये दोष को कभी प्रकट कर बाहर नहीं कहते, देशकाल के ज्ञाता, एकान्त में रहने वाले, आचार्यों के पहिले कहे गये अनेक गुणों के धारी उनके पास प्रायश्चित लेनेवाला हाथ जोड़कर, बहुत विनयपूर्वक, बालक के समान सरलचित्त होकर आत्मनिन्दा करता हुआ आलोचना करता है ।

जैसे रुधिर से लिप्त वस्त्र रुधिर से नहीं धुलता है, कीचड़ से कीचड़ नहीं धुलता है, उसी प्रकार दोषों से युक्त साधु भी शिष्य को निर्दोष नहीं कर सकता है । **जैसे मूढ़ वैद्य रोगी का विपरीत इलाज करके उसे प्राण रहित कर देता है, उसी प्रकार अज्ञानी गुरु भी शिष्य को संसार समुद्र में डुबो देता है** । निर्दोष गुरु ही प्रायश्चित देकर शुद्ध करता है ।

संयमी पुरुष तो एक गुरु, एक शिष्य-दो ही एकान्त में आलोचना करते हैं । आर्यिकादि प्रकट खुली जगह में एक गुरु, एक गणिनी आर्यिका, एक वह जिसे दोष लगा हो - ऐसे तीन होते हैं । जो लज्जा से, तिरस्कार के भय से, प्रायश्चित के भय से या अभिमान से दोष को शुद्ध नहीं करता है, वह आय-व्यय के ज्ञानरहित व्यापारी के समान कर्मरूप कर्जदार होकर भ्रष्ट हो जाता है ।

आलोचना के बिना महान तप धारण करने से भी वांछित फल नहीं मिलता है । आलोचना करके भी यदि गुरु के द्वारा दिया प्रायश्चित नहीं लेता है, तो वैद्य की बताई दवाई को नहीं खाने वाले रोगी के समान, शुद्ध नहीं होता है, व जैसे हलादि से नहीं सुधारे गये खेत में अनाज बोने से अधिक उपज नहीं होती है, अथवा जैसे बिना साफ किये दर्पण में स्वच्छ रूप दिखाई नहीं देता है, उसी तरह चित्त की शुद्धता के बिना आत्मा में चारित्र की उज्ज्वलता नहीं दिखाई देती है ।

अब इस कलिकाल के प्रभाव से प्रायश्चित देने वाले निर्दोष गुरु भी दिखाई नहीं देते हैं। जो स्वयं ही अनेक दोषों से लिप्त हो, वह अन्य को कैसे शुद्ध कर सकता है ? **रुधिर से रुधिर कैसे धोया जाय ?**

आत्मानुशासन जी में कहा है :-

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम् ।
नतानामाचार्या न हि नतिरताः साधुचरिता
स्तपस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥१४९॥

अर्थ :- किसी शिष्य ने गुणभद्र स्वामी से पूछा - हे स्वामी ! इस काल में तपस्वी मुनियों में भी सच्चे आचरण के धारण करनेवाले अत्यंत विरले रह गये हैं, इसका क्या कारण है ? इसका

उत्तर देने के लिये यह काव्य लिखा है । इसका अर्थ लिखते हैं - **इस कलिकाल में नीति पर चलाने का उपाय दण्ड देना है । दण्ड के भय बिना कोई भी न्याय के मार्ग पर स्वयं स्वेच्छा से नहीं चलता है ।** दण्ड राजाओं द्वारा ही दिया जाता है, क्योंकि कलिकाल में बलवान के बिना अन्य साधर्मियों द्वारा, वृद्ध पुरुषों द्वारा, समाज द्वारा दिया दिया गया दण्ड कोई ग्रहण नहीं करता है, कोई इनका कहना नहीं मानता है । बलवान राजा द्वारा दिया गया दण्ड ही ग्रहण करता है ।

इस कलिकाल में राजा भी ऐसे होने लगे हैं – जिससे उन्हें धन की प्राप्ति होती दिखाई देती है, उसे दण्ड देते हैं । यदि वह राजा को धन दे देवे तो उसे दण्ड नहीं देते हैं, निर्धन को दण्ड नहीं देते हैं । कुछ श्रम नहीं करनेवाले आश्रमवासी संयमियों के पास कुछ भी धन नहीं होता है, अतः संयम लेकर भी वे कुमार्ग पर चलते हैं, क्योंकि उन्हें राजा के दण्ड का भय तो है नहीं, जिससे वे कुमार्ग से रुक जावें ।

आचार्यों का भी दण्ड होना चाहिये, क्योंकि कलिकाल में आचार्यों का शिष्यों में अनुराग होने लगा है । जो आप को नमस्कार कर लेता है उसे दण्ड नहीं देते, अपना संघ-संप्रदाय बढ़ाने के लिये जो आपको नमोस्तु-नमस्कार करले उसे अपना जानकर दण्ड नहीं देते हैं, तब वह दण्ड के भय से रहित होकर शास्त्र से विरुद्ध आचरण करने लग जाता है । इसीलिये कलिकाल में तपस्वीजनों में भी सत्य आचार के धारी अति विरले ही दिखाई देते हैं, केवल भेषधारी ही बहुत दिखाई पड़ते हैं ।

अतः प्रायश्चित ही कल्याण का कारण है किन्तु गृहस्थों में प्रायश्चित की प्रवृत्ति कैसे होवे? परमेष्ठी के प्रतिबिम्ब के समक्ष जाकर ही अपने अपराध की आलोचना करके इस प्रकार यत्न करना जिससे पुनः अपराध स्वप्न में भी नहीं बने । १ ।

विनयतप : विनयतप अंतरंग तपों का दूसरा भेद है । उसके भी पाँच भेद हैं - १ दर्शन विनय, २ ज्ञान विनय, ३ चारित्र विनय, ४ तप विनय, ५ उपचार विनय ।

दर्शन विनय – पदार्थों के श्रद्धान में शंकादि दोषरहित निःशंक रहना वह दर्शन विनय है । सम्यग्दर्शन का परिणाम होने में हर्ष तथा सम्यक्त्व की विशुद्धता में उद्यमी रहना, सम्यग्दृष्टियों की संगति चाहना, सम्यक्त्व के परिणाम की भावना भाना, मिथ्याधर्म की प्रशंसा नहीं करना, क्योंकि **मिथ्यादृष्टि का जितना आचरण है वह इसलोक-परलोक में यश, प्रसिद्धि, विषय सुख, धन, संपदा की चाह पूर्वक आत्मज्ञान रहित है, बन्ध का कारण है इसलिये प्रमाण (सत्य) नहीं है।** वीतराग सर्वज्ञदेव ने जो पदार्थों का स्वरूप कहा है वह प्रमाण है - यह दर्शन विनय है ।

ज्ञान विनय – ज्ञान विनय इस प्रकार है - आलस रहित, खेद रहित, विषय-कषाय-मल रहित, शुद्ध मन सहित, देश-काल की विशुद्धि के विधान में होशियार पुरुष, बहुत आदर पूर्वक, यथाशक्ति मोक्ष का चाहनेवाला होकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा गया परमागम का ज्ञान ग्रहण करना, अभ्यास करना, स्मरण करना वह ज्ञान विनय जानना । ज्ञान का अभ्यास ही जीव का हित है, ज्ञान बिना मनुष्य

पशु के समान है, मनुष्याचार ही ज्ञान के सेवन से होता है । कामसेवन, भोजन, इन्द्रिय-विषय तो **तिर्यंच के भी होते हैं** । ज्ञान विनय का धारी निरन्तर सम्यग्ज्ञान की ही वांछा करता है, ज्ञान के लाभ ही को परम निधान का लाभ मानता है। यह ज्ञान विनय महानिर्जरा की कारण है, जिसके ज्ञान विनय होती है उसे ज्ञान के धारकों की विनय विशेषरूप से होती है ।

चारित्र विनय – चारित्र विनय इस प्रकार है - ज्ञान-दर्शनवाले पुरुष के पंचाचार का श्रवण करने के साथ ही समस्त शरीर में रोमांच प्रकट हो जाता है, अंतरंग में भक्ति प्रकट हो जाती है, तथा विषय-कषायों के निग्रहरूप परमशांत भाव के प्रसाद से मस्तक के ऊपर हाथ जोड़कर भावों में चारित्ररूप स्वयं हो जाता है, वह चारित्र विनय है ।

तप विनय – तप विनय इस प्रकार है - जिसके भावों में संसार के दु:खों को छेदनेवाला, आत्मा को बाधा रहित सुख को प्राप्त करानेवाला, विषय-कषाय रोग के उपद्रव को जीतनेवाला, एक तप ही जिसे परम शरण दिखाई देता है उसके तप भावना होती है, उसी के तप की विनय होती है, उस ही के विनय तप होता है । तपस्वियों को उच्च - सर्वोत्कृष्ट समझना, तपस्वियों की सेवा, भक्ति, वैयावृत्य, स्तुति करना वह तप विनय है । शक्ति प्रमाण इन्द्रियों का निग्रह करके, देशकाल की योग्यता के अनुसार अनशनादि तप को उद्यमी होकर धारण करना वह सब तप विनय है ।

उपचार विनय – उपचार विनय इस प्रकार है - आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखते ही उठकर खड़े हो जाना, सात कदम आगे जाना, हाथ जोड़कर मस्तक से लगाना, उन्हें आगे करके आप पीछे-पीछे चलना, पठन-पाठन, तपश्चरण, आतापन योग आदि, नये शास्त्र का अभ्यास प्रारम्भ, विहार, वंदना आदि सभी कार्य गुरु को बतलाकर करना, गुरु के रहते हुए ऊँचे आसन पर नहीं बैठना, यह सब उपचारविनय है । यदि आचार्य आदि परोक्ष हों तो मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक उन्हें नमस्कार करना, हाथ जोड़कर गुणों का स्मरण करना, गुणों की प्रशंसा करना, उनसे जो प्रतिज्ञा ली हो उसे पालन करते रहना, यह सब उपचार विनय है । विनय के प्रभाव से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अनेक विद्यायें सिद्ध होती हैं, मद का अभाव होता है, आचार की उज्ज्वलता होती है, सम्यक् आराधना होती है, यश की उज्ज्वलता होती है । कर्म की निर्जरा होती है ।

व्यवहार विनय – अन्य साधर्मियों की, शिष्यों की, मंदज्ञानवालों की भी यथायोग्य विनय करना, मिथ्यादृष्टियों का भी तिरस्कार नहीं करना, मीठे वचनों से आदरपूर्वक बोलना, संतोष करनेवाले दु:ख दूर करनेवाले वचन कहना ही विनय है । **उद्धत चेष्टा दोनों लोकों को नष्ट कर देती है।** उपचार विनय मन-वचन-काय से अनेक प्रकार की होती है । गुरुओं का तथा सम्यग्दर्शन आदि गुणों के धारकों का सोने का स्थान-बैठक का स्थान साफ करना, उनके आसन से नीचे बैठना, नीचे स्थान पर सोना, योग्यतानुसार पादस्पर्श करना, दु:ख रोग आ जाय तो शरीर की टहल करके अपना जन्म सफल मानना वही विनय है ।

पूज्य पुरुषों के निकट थूकना नहीं, आलस नहीं दिखाना, उबासी नहीं लेना, अंगुली आदि तोड़ना-चटकाना नहीं, हंसी नहीं करना, पैर नहीं पसारना, हाथ से ताली नहीं बजाना, अंग विकार, भृकुटी विकार, अंगों का संस्कार नहीं करना चाहिये ।

विनयवान स्वयं ऊँचे स्थान पर स्थित रहकर वंदना नहीं करे, जहाँ-जहाँ पर संयमी बैठे हों वहाँ-वहाँ जाकर वंदना करे। जो संयमियों को आते देखकर खड़े हो जाते हैं, आसन छोड़ देते हैं, वंदना करते हैं उनके ही विनय है। गुरुओं की आज्ञा हमारे लिये जैसी हो उसी प्रकार यदि हम अंगीकार करें तो हमारे समान पुण्यवान कोई विरला ही होगा।

विनयरहित के व्रत, शील, संयम, विद्या सभी निष्फल हैं। विनय के प्रभाव से क्रोध, मान, वैर आदि सभी दोषों का अभाव हो जाता है। विनय बिना संसार सम्बन्धी लक्ष्मी, सौभाग्य, यश, मित्रता, गुणग्राहकता, सरलता, मान्यता, कृतज्ञता सभी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये साधुओं को तथा गृहस्थों को सकल धर्म की मूल विनय ही धारण करना श्रेष्ठ है। २।

वैयावृत्य तप : जिनमें गुणों में प्रीति, धर्म में श्रद्धान, धर्मात्मा में वात्सल्य, निर्विचिकित्सा आदि गुण होते हैं उन्हीं के वैयावृत्य तप भी होता है। कृतघ्न के आचार्यादि की वैयावृत्य का परिणाम नहीं होता है। आगम में दश प्रकार के साधुओं की वैयावृत्य कही है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ - इन दश प्रकार के साधुओं की वैयावृत्य कही है।

जो सम्यग्ज्ञान आदि गुणों को, तथा स्वर्ग-मोक्ष के सुखरूप अमृत के बीज व्रत-संयम को अपने हित के लिये आचरण करते हैं, वे साधु **आचार्य** हैं। उनकी अपने शरीर से तथा अन्य क्षेत्र, शैया, आसन आदि द्वारा सेवा करना वह आचार्य वैयावृत्य है। आचार्यों की वैयावृत्य ही समस्त संघ की वैयावृत्य है, क्योंकि समस्त संघ, समस्त धर्म आचार्यों के प्रभाव से ही प्रवर्तता है।

जिन व्रत-शील के धारियों को समीपता प्राप्त होने पर जो परमागम का अध्ययन-पठन करते हैं वे साधु **उपाध्याय** हैं। जो महान अनशनादि तपों में प्रवर्तन करते हैं वे साधु **तपस्वी** हैं। श्रुतज्ञान के शिक्षण में तथा व्रत शील की भावना में जो निरन्तर तत्पर रहते हैं वे साधु **शैक्ष्य** हैं। रोगादि से जिनका शरीर क्लेशित हो वे साधु **ग्लान** हैं। जो वृद्ध मुनियों की परम्परा के साधु हैं, वे **गण** हैं। जो अपने को दीक्षा देनेवाले आचार्य के शिष्य साधु हैं, वह **कुल** है। चार प्रकार के मुनियों- ऋषि, मुनि, यति, अनगार का समुदाय वह **संघ** है। जो बहुत काल के दीक्षित हैं वे **साधु** हैं। लोक में पण्डितपने से जो मान्य हो, वक्तृत्व गुण से मान्य हो, महाकुलीनपने से लोगों में मान्य हों वे **मनोज्ञ** हैं। इनसे प्रवचन का, धर्म का, गौरवपना प्रकट होता है।

इन दश प्रकार के मुनियों को कभी शरीर में व्याधि प्रकट हो जाय, परीषह आ जाय, भावों में मिथ्यात्वादि का उदय हो जाय तो प्रासुक औषधि, भोजन, पानी, वसतिका, संस्तरण आदि द्वारा, धर्मोपदेश द्वारा श्रद्धान की दृढ़ता कराकर, पुस्तक-पीछी-कमंडलु आदि धर्म के उपकरण देकर इलाज करना, धर्म में दृढ़ता कराना, संतोष-धैर्य आदि धारण कराना, वीतरागता को बढ़ाना वह वैयावृत्य है। बाह्य औषधि, भोजन, पानी आदि द्रव्य का देना असंभव होने पर अपने शरीर द्वारा कफ, नासिका, मल-मूत्र, पुरीष आदि दूर करना, रात्रि जागरण करना, ऐसा वैयावृत्य परम निर्जरा का कारण है।

उसमें कितने ही उपकार तो मुनियों के मुनि ही करते हैं : उठाना, बैठाना, सुलाना, कलोट लिवाना, हाथ पैर आदि पसारना, समेटना, उपदेश देना, कफ मलादि दूर करना, धैर्य धारण कराना मुनियों का मुनि ही करते हैं । कितने ही उपकार प्रासुक औषधि, आहार, पानी, उपकरण आदि गृहस्थ धर्मात्मा श्रावक से ही बनते हैं । गृहस्थ साधुओं की वैयावृत्य करता है, तथा श्राविका अर्जिका की वैयावृत्य करती है ।

करुणा बुद्धि से दुखित रोगी, निःसंतान, बाल, वृद्ध, पराधीन, जेल में पड़े लोगों का उपकार करना चाहिये । माता-पिता, विद्यागुरु, स्वामी, मित्र, आदि का उपकार स्मरण करके कृतघ्नता छोड़कर सेवा, सम्मान, दान, प्रशंसा आदि द्वारा आदर-सम्मान करके, सुखी करे, दुःखी होंय तो उनका दुःख दूर करे, अपनी शक्ति अनुसार दान-सम्मान करके वैयावृत्य करे, उसके वैयावृत्य तप से बहुत निर्जरा होती है। वैयावृत्य से ग्लानि का अभाव हो जाता है, प्रवचन में वात्सल्यता होती है । आचार्य आदि अनेक वात्सल्य के स्थान हैं उनमें से किसी की भी वैयावृत्य बन जाय उसी की वैयावृत्य करके सभी प्रकार से कल्याण को प्राप्त हो जाता है । ३ ।

स्वाध्याय तप : अब स्वाध्याय तप का वर्णन करते हैं । स्वाध्याय के पाँच भेद हैं - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश ।

वाचना स्वाध्याय : निर्दोष ग्रन्थों का पाठ, अर्थ, तथा पाठ और अर्थ दोनों को पात्र मनुष्यों को पढ़ाना, बतलाना, समझाना वह वाचना स्वाध्याय है । **परमागम का शब्द पढ़ाने के समान, अर्थ समझाने के समान कोई अपना तथा पर का उपकार नहीं है ।** परमागम को पढ़ाकर योग्य शिष्य को प्रवीण कर देना धर्म का स्तंभ खड़ा कर देने के समान है । जैनधर्म तो शास्त्र ज्ञान से ही है। प्रतिमा तथा मंदिर तो मुख से बोलते नहीं हैं । साक्षात् बोलता हुआ देव के समान हित में प्रेरणा करनेवाला तथा अहित से रक्षा करनेवाला भगवान सर्वज्ञ का परमागम ही है । अतः शास्त्र पढ़ाने में, पढ़ने में परम उद्यमी रहना ।

पृच्छना स्वाध्याय : अपना संशय दूर करने के लिये बहुज्ञानी से विनय पूर्वक प्रश्न करना चाहिये क्योंकि प्रश्न से संशय दूर किये बिना ज्ञान सम्यक् प्रकट नहीं होता है । अथवा आपने आगम के शब्द का जो अर्थ समझ रखा हो वह बहुज्ञानियों के मुख से सुन ले तो बहुत पक्का ज्ञान हो जाता है, ज्ञान की शिथिलता दूर हो जाती है । अतः बहुज्ञानियों से प्रश्न करना चाहिये । अथवा आपने संक्षेप में समझा हो उसे विस्तार से जानने के लिये बड़ी विनय से सम्यग्ज्ञानियों से प्रश्न करना चाहिये। **अपनी उच्चता या पण्डितपना दिखाने के लिये या दूसरे का तिरस्कार करने के लिये तथा हँसी करने के लिये सम्यग्दृष्टि प्रश्न नहीं करता है ।** शब्द के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, अर्थ के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, शब्द व अर्थ दोनों के सम्बन्ध में प्रश्न करता है फिर निर्णय करता है, वह पृच्छना स्वाध्याय है ।

अनुप्रेक्षा स्वाध्याय : परमागम के जाने हुये शब्द और अर्थ को अपने हृदय में धारण करके बारंबार मन से अभ्यास करना, चिन्तवन करना; आगम में आज मैंने जो पढ़ा सुना है उसमें से ये

दोष मुझे त्यागने योग्य हैं; ये गुण मुझे ग्रहण करने योग्य हैं; ये मेरे स्वरूप से भिन्न द्रव्य, लोक, क्षेत्र आदि जानने योग्य ही हैं - इस प्रकार मन से बारंबार चिन्तवन करना वह अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है । इससे अशुभ भावों का नाश होता है, शुभधर्म ध्यान प्रकट होता है ।

आम्नाय स्वाध्याय : अतिशीघ्रता से पढ़ना, अतिविलंब से पढ़ना इत्यादि वचन के दोष टालकर धैर्य सहित एक-एक अक्षर की स्पष्टता सहित अर्थ के प्रकाश (भाव भासन) सहित पढ़ना, पाठ करना, मीठे स्वर से उच्चारण करना, तथा सिद्धान्त की परिपाटी से व आगम से विरोध रहित, लोक विरुद्धता रहित पढ़ना वह आम्नाय स्वाध्याय है ।

धर्मोपदेश स्वाध्याय : लौकिक प्रयोजन लाभ, पूजा, अभिमान, मद आदि को छोड़कर उन्मार्ग को दूर करने के लिये, सन्मार्ग को दिखलाने के लिये, संशय मिटाने के लिये, अपूर्व पदार्थ प्रकट करने के लिये, धर्म का प्रकाश फैलाने के लिये, विषयानुराग तथा कषाय घटाने के लिये, अज्ञान मिटाने के लिये, भेद विज्ञान प्रकट करने के लिये, पाप क्रिया से भयभीत होने के लिये, भव्यों को धर्म के कथनों का उपदेश करना वह धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है । **जहाँ अनेक भव्य जीवों को धर्म का उपदेश दिया जाता है वहाँ मन-वचन-काय सभी धर्म के स्वरूप में लीन हो जाते हैं।**

वक्ता का स्वरूप : उपदेशदाता का अभिप्राय ऐसा होता है कि किसी भी प्रकार से अनेकांत धर्म का यथावत् स्वरूप श्रोताओं के हृदय में प्रवेश कर जाय, किसी भी प्रकार से संसार-शरीर-भोगों में राग घट जाय, किसी भी प्रकार से भेद विज्ञान प्रकट हो जाय । जिस वक्ता का अभिप्राय ऐसा होता है वही सत्यार्थ धर्म का उपदेश करता है । जिसका आत्मा धर्म में रच जायेगा वही अन्य श्रोताओं को धर्म में रचा सकेगा । धर्मोपदेश देनेवाले में आत्मानुशासन में कहे इतने गुण होना चाहिये;-

जिसकी बुद्धि त्रिकालविषयी हो अर्थात् जो पिछली अनेक परम्परायें परमागम से नहीं जानता है वह यथावत् वस्तु का स्वरूप नहीं कह सकता है, जिसे वर्तमान का वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा वह विरुद्ध कथन कर देगा, जिसे भविष्य के परिपाक का ज्ञान नहीं होगा वह अयोग्य कह देगा । इसलिये जो वक्ता हो उसे अपनी बुद्धि के बल से, आगम के बल से, लौकिक रीति को प्रत्यक्ष देखकर त्रिकाल की रीति का जाननेवाला होना चाहिये । १ ।

चारों अनुयोगों के समस्त शास्त्रों के रहस्य का जाननेवाला होना चाहिये । जो चारों अनुयोगों के रहस्य को नहीं जानेगा तथा वक्तापना करेगा तो श्रोताओं को यथावत् नहीं समझा सकेगा, क्योंकि यदि प्रमाण का कथन आ गया, नयों का कथन आ गया, निक्षेपों का कथन आ गया, गुणस्थान-मार्गणास्थान का कथन आ गया, तीन लोकों का कथन आ गया, कर्म प्रकृतियों का कथन आ गया, आचार का कथन आ गया तो जाने बिना यथावत्, निःशंक-संशय रहित व्याख्यान नहीं कर सकेगा। इसलिये वक्ता को सभी अनुयोगों के सभी शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिये । २ ।

लोकरीति का जानकर (ज्ञाता) होना चाहिये । यदि लौकिक रचना (बनाव) में मूढ़ होगा तो वह लोक विरुद्ध व्याख्यान करेगा । ३ ।

जिसको भोजन, वस्त्र, स्थान, धन, यश, अभिमान की चाह होगी वह वक्ता यथार्थ व्याख्यान नहीं कर सकेगा, लोगों को प्रसन्न करना चाहेगा । **लोभी के यथार्थ सत्यार्थ वक्तापना नहीं होता है** । ४ ।

वक्ता की बुद्धि तत्काल उत्तर देनेवाली होना चाहिये । यदि वक्ता तत्काल उत्तर नहीं दे पाता है तो सभा में क्षोभ हो जाता है । सभा में उपस्थित श्रोताओं को वक्ता की दृढ़ प्रतीति नहीं रह जायगी । ५ ।

वक्ता को मंदकषायी होना चाहिये । मंद कषायी हुए बिना लोभी, कपटी, क्रोधी, अभिमानी का दिया उपदेश कोई अंगीकार नहीं करता है । ६ ।

वक्ता ऐसा होना चाहिये जो श्रोताओं के प्रश्न करने से पहिले ही उत्तर जानता हो – यदि आप ऐसा कहते हो तो ऐसा है और यदि ऐसा कहते हो तो ऐसा है । इस प्रकार व्याख्यान ही ऐसा करना कि श्रोताओं को प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सके । पहिले से ही प्रश्नों का रास्ता बन्द करता हुआ व्याख्यान करता है क्योंकि यदि बहुत प्रश्न होने लगें तो सभा में क्षोभ मच जायेगा । ७ ।

वक्ता को सहनशील होना चाहिये । यदि कोई आकर प्रबल (कठिन) प्रश्न कर दे तो क्रोध नहीं करना चाहिये । यदि प्रश्न सुनकर वक्ता क्रोधी हो जाय तो कोई प्रश्न नहीं कर सकेगा, श्रोताओं की शंका नहीं मिट पायेगी । ८ ।

वक्ता में प्रभुत्व गुण होना चाहिये । श्रोता जिसको अपने से ऊँचा जानते हैं, उसी की शिक्षा ग्रहण करते हैं । दीन की, नीच की शिक्षा कौन ग्रहण करता है ? अतः वक्ता को जगत में मान्य, प्रभु होना चाहिये । ९ ।

वक्ता को दूसरों के मन को हरनेवाला होना चाहिये, जो सभी को प्रिय हो । जो श्रोताओं को अप्रिय होगा उसकी शिक्षा ग्रहण नहीं होती है । १० ।

वक्ता ने स्वयं जिस विषय को अच्छी तरह से आगम से तथा गुरु परिपाटी से ठीक समझ लिया हो उसी का व्याख्यान करना चाहिये । यदि स्वयं ने ही अच्छी तरह से पूरा नहीं समझा होगा तो वह दूसरों को कैसे समझा सकेगा ? जो दीपक स्वयं प्रकाशरूप है वही घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है । ११ ।

जिसकी प्रवृत्ति व्यवहार में, परमार्थ में, धर्म में, लेने में, देने में, व्यापार आदि आजीविका में, भोजन वस्त्रादि में उज्ज्वल यश सहित हो वही वक्ता हो । जिसकी प्रवृत्ति मलिन होगी उसको वक्तापना शोभा नहीं देता है । यदि प्रवृत्ति मलिन होगी तो वह जगत में मान्य नहीं रह जायगा । १२ ।

जिसकी अन्य लोगों को ज्ञान उत्पन्न कराने की भावना हो वही वक्तापना स्वीकार करेगा । जिसे दूसरों को समझाने की भावना नहीं होगी, वह क्यों व्याख्यान करेगा ? १३ ।

रत्नत्रयमार्ग को चलाने में तथा रत्नत्रयमार्ग पर स्वयं चलने में जिसका उद्यम होगा, वही धर्म कथा कहनेवाला वक्ता होगा । वक्ता में अन्य कोई लौकिक प्रयोजन होना ही नहीं चाहिये । १४ ।

वक्ता ऐसा होना चाहिये जिसकी बड़े ज्ञानी लोग प्रशंसा करते हों, क्योंकि बड़े-बड़े ज्ञानी जिसकी प्रशंसा करते हैं, उसके वचनों पर जगत दृढ़ श्रद्धान करता है । १५ ।

वक्ता को उद्धतता से रहित होना चाहिये । यदि वक्ता उद्धत होगा तो वह सभी को अप्रिय हो जायेगा । १६ ।

वक्ता लोकरीति, देश, काल, श्रोताओं की सद्भावना-दुष्टता, प्रवीणता, मूढ़ता, शक्तता-अशक्तता आदि सभी जान कर ऐसा उपदेश करे, जिसे सभी लोग बड़े आदर से ग्रहण करें । लोकज्ञाता हुए बिना यथा-योग्य उपदेश नहीं होता है । १७ ।

वक्ता में कोमलता गुण होना चाहिये । कठोर परिणामी के कठोर वचन आदरने योग्य नहीं होते हैं । उसे श्रोता सुनना नहीं चाहते हैं । १८ ।

वक्ता को वक्तापने द्वारा धन, भोग आदि की इच्छा नहीं होनी चाहिये । १९ ।

वक्ता के मुख से अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण होना चाहिये। स्पष्ट अक्षरों को बोले बिना समझ में नहीं आता है । २० ।

वक्ता के अक्षर ऐसे मीठे हों कि श्रोता को ऐसा लगे जैसे वक्ता ने कानों के द्वार से सभी अंगों को अमृत से सींच दिया हो । २१ ।

वक्ता ऐसा हो जिसका स्वामित्व श्रोताजन समझते हों - अपना मानते हों । २२ ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वात्सल्य आदि अनेक गुणों का निधान हो । २३ ।

ऐसे वक्तापने के अनेक गुणों से युक्त जो हो वही धर्म कथा का वक्ता होता है । ऐसे गुणों के धारक वक्ता का उपदेश कोई महाभाग्यवान् पुण्यवान लोगों का मिलता है । **सम्यग्देशनालब्धि का प्राप्त होना अनन्तकाल में भी दुर्लभ है ।**

श्रोता का स्वरूप : धर्मोपदेश भी मिल जाय, किन्तु योग्य श्रोतापना बिना धर्म ग्रहण नहीं होता है । जैसे योग्य पात्र बिना वस्तु ठहरती नहीं है, अयोग्य पात्र में रखने से पात्र तथा वस्तु दोनों का नाश हो जाता है, उसी प्रकार योग्य श्रोतापना बिना भी धर्म का उपदेश ठहरता नहीं है । अत: संक्षेप में श्रोता का लक्षण इस प्रकार जानना :-

प्रथम तो **भव्य** हो । जो उपदेश देने पर भी सम्यक् श्रद्धान आदि गुण ग्रहण करने योग्य नहीं हो उसे उपदेश देना व्यर्थ है । मेरा कल्याण क्या है, मेरा हित क्या है ? ऐसा जिसको हमेशा विचार आता हो, जिसे अपने हित की चाह नहीं है, वह बिना प्रयोजन धर्म कथा क्यों सुनेगा ? वह तो विषय कषाय का लाभ, धन का लाभ जिससे सधै उसकी इच्छा करता है । १ ।

दु:ख से अत्यन्त भयभीत हो, अब मुझे नरक तिर्यंचादि पर्याय का दु:ख नहीं हो । जिसे ऐसा भय नहीं होगा वह पाप छोड़ने को, विषय-कषाय छोड़ने को शास्त्र श्रवण क्यों करेगा ? अत: दु:ख से भयभीत होना चाहिये । २ ।

सुख का इच्छुक हो, जिसे सुख की चाहना नहीं होगी वह धर्म का श्रवण नहीं करेगा । जिसके कर्ण इंद्रिय नहीं हो या कान खराब हो गये हों तो वह किससे सुनेगा ? ३ ।

जिसे धर्म कथा श्रवण करने की इच्छा हो, इच्छा बिना परिपूर्ण श्रवण नहीं होता है । इच्छा भी हो किन्तु प्रमाद, आलस, कुसंगति से श्रवण नहीं करे तो इच्छा भी व्यर्थ है । **जो श्रवण भी करता है, किन्तु ये गुरु इस प्रकार इस अपेक्षा से कहते हैं, इतनी सावधानी रखे बिना श्रवण करना व्यर्थ है** । श्रवण करने से ग्रहण भी हो, किन्तु यदि धारणा नहीं हो, याद नहीं रहे, श्रवण करते ही विस्मरण हो जाय तो श्रवण करना, ग्रहण करना भी व्यर्थ है । ४ ।

जो विचार पूर्वक प्रश्न-उत्तर द्वारा निर्णय नहीं करता है तो श्रवण में संशय आदि ही रहेगा, तब आत्महित के सन्मुख कैसे होगा ? ५ ।

श्रोता को ऐसा धर्म सुनना चाहिये जो दयामय हो, सुख देनेवाला हो, युक्ति-प्रमाण-नय से जिसमें बाधा नहीं आये, भगवान सर्वज्ञ वीतराग के आगम से निकला हो, ऐसे धर्म को श्रवण करके बारंबार विचार करके ग्रहण करना चाहिये । **यदि विचार रहित होकर मिथ्यात्वरूप, हिंसा का कारण धर्म ग्रहण कर लेगा तो नरकादि को प्राप्त करके दुःखी होगा** । ६ ।

जिसमें युक्ति से तथा सर्वज्ञ वीतराग के आगम से बाधा आ जाय वह धर्म नहीं है, अधर्म है, अतः श्रवण करने योग्य नहीं है । ७ ।

हठाग्रह आदि दोष रहित हो । हठग्राही को शिक्षा नहीं लगती है । ८ ।

इस प्रकार अनेक गुणों का धारक श्रोता हो वह धर्म का उपदेश सुनकर आत्म-कल्याण करता है ।

श्रोता के भेद : अब यहाँ प्रकरण पाकर श्रोताओं के कुछ भेद दृष्टान्त द्वारा कहते हैं । कितने ही श्रोता **मिट्टी** के स्वभाव के समान होते हैं । जैसे मिट्टी पर पानी गिरजाय तब वह नरम हो जाती है, पश्चात् सूख जाने पर कठोर हो जाती है, उसी तरह ये श्रोता भी धर्म सुनते समय तो भावों में भीगकर कोमल हो जाते हैं, पश्चात् कठोर हो जाते हैं । १ ।

कितने ही श्रोता **चालनी के समान** होते हैं, जो अनाज के दाने छोड़कर केवल छिलका ही ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये भी धर्म कथा में सार गुण तो छोड़ देते हैं, किन्तु औगुण ग्रहण कर लेते हैं । २ ।

कितने ही श्रोता **भैंसा के समान** होते हैं । जैसे स्वच्छ जल से भरे सरोवर में भैंसा प्रवेश करके समस्त सरोवर को कीचड़मय कर देता है, उसी प्रकार ये भी सभा के लोगों के परिणाम मलिन कर देते हैं । ३ ।

कितने ही श्रोता **हंस के समान** होते हैं । जैसे हंस जल व दूध का भेद करके दूध ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार ये भी निःसार छोड़कर आत्महित की बात ग्रहण कर लेते हैं । ४ ।

कितने ही श्रोता **तोता के समान** होते हैं। जिनसे राम बुलवावो तो राम बोलते हैं, रहीम बुलवावो तो रहीम बोलते हैं, कुछ और सिखाओ तो कुछ और बोलते हैं; उन्हें राम का भी ज्ञान नहीं है, रहीम का भी ज्ञान नहीं है। उसी प्रकार ये भी पाप-पुण्य का विचार रहित जो पढ़ाओ वही पढ़ लेते हैं, ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु विचार रहित होते हुये अपना स्वरूप व पर के स्वरूप के ज्ञान से रहित ही रहते हैं। ५।

कितने ही श्रोता **बिल्ली के समान** होते हैं। जिस प्रकार बिल्ली सोते हुए भी अपने शिकार की तरफ जागृत ही रहती है, उसी प्रकार ये श्रोता भी वक्ता की वाणी में से विषय, कषाय, छल ही ग्रहण करते रहते हैं। ६।

कितने ही **बगुला के समान** श्रोता होते हैं। जैसे बगुला अपना शिकार पकड़ने के लिये ध्यानी-सा बना बैठा रहता है, उसी प्रकार ये भी अपने विषय-कषाय ही ग्रहण करते हैं। ७।

कितने ही श्रोता **डांस (मच्छर) के समान** होते हैं, जो वक्ता को बारम्बार बाधा उत्पन्न करते हैं। ८।

कितने ही श्रोता **बकरा के समान** होते हैं। जैसे बकरे को कितना ही इत्र फुलेल लगावो, सुगंधित पानी पिलाओ तो भी वह दुर्गन्ध ही प्रकट करता है, उसी प्रकार ये भी उज्ज्वल धर्म सुनते हुए भी पाप ही उगलते हैं। ९।

कितने ही **जलौका (जौंक) के समान** श्रोता होते हैं। जैसे जौंक को स्तन के ऊपर भी लगावो तो वह गन्दी वस्तु रुधिर ही ग्रहण करती है, उसी प्रकार ये भी विषय-कषाय ही ग्रहण करते हैं। १०।

कितने ही श्रोता **फूटे घड़े के समान** होते हैं। वे धर्म सुनने पर भी चित्त में लेश (अंश) मात्र भी धारण नहीं करते हैं। ११।

कितने ही श्रोता **सर्प के समान** स्वभाव वाले होते हैं। वे दूध-मिश्री को पीने पर भी प्रबल जहर ही बढ़ाते हैं। १२।

कितने ही श्रोता **गाय के समान** उत्तम स्वभाव वाले होते हैं। वे तिनका-घास खाकर भी दूध देते हैं। १३।

कितने ही श्रोता **पाषाण की शिला के समान** होते हैं। उनको बहुत बार धर्मोपदेश देने पर भी हृदय में प्रवेश नहीं करता है। १४।

कितने ही श्रोता **कसौटी के समान** परीक्षा-प्रधानी होते हैं। १५।

कितने ही श्रोता **तकड़ी (तराजू) की डांडी के समान** होते हैं जो घट-बढ़, हेय-उपादेय को अच्छी तरह से जानते हैं। १६।

इस प्रकार श्रोताओं के उत्तम, मध्यम, जघन्य अनेक भेद हैं। जिसका जैसा स्वभाव होता है उसे धर्म का उपदेश वैसा ही परिणमता है। इस धर्मोपदेश नाम से स्वाध्याय तप के प्रकरण में वक्ता-श्रोता का लक्षण कहा है। इस तरह पाँच प्रकार के स्वाध्याय का वर्णन किया।

स्वाध्याय करने से लाभ : स्वाध्याय करने से बुद्धि अतिशयवंत होती है, अभिप्राय उज्ज्वल होता है, जिनधर्म में श्रद्धान दृढ़ होता है, संशय का अभाव होता है, परवादी (अन्यमती) की शंका का अभाव होता है, परम धर्मानुराग होता है, तप की वृद्धि होती है, आचार की उज्ज्वलता होती है, अतिचार (दोष) का अभाव होता है, पाप क्रिया का त्याग होता है, कुधर्म में राग का अभाव होता है, हेय-उपादेय की पहिचान होती है, परमेष्ठी में अतिशयरूप भक्ति होती है, सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, संसार-शरीर-भोगों से विरागता होती है, कषायों की मंदता होती है, दया भाव की वृद्धि होती है, शुभध्यान होता है, आर्त-रौद्र ध्यान का अभाव होता है, जगत में मान्य होता है, उज्ज्वल यश प्रकट होता है, दुर्गति का अभाव होता है, स्वर्ग के उत्तम सुख तथा निर्वाण के अतींद्रिय सुख की प्राप्ति होती है इत्यादि अनेक गुणों को उत्पन्न करनेवाला जानकर वीतराग सर्वज्ञ द्वाराकहे गये आगम के अभ्यास बिना मनुष्य जन्म व्यतीत नहीं करो। इस प्रकार स्वाध्याय नाम के चौथे अंतरंग तप का पाँच प्रकार का स्वरूप कहा। ४।

कायोत्सर्ग तप : अब कायोत्सर्ग नाम के तप का स्वरूप कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यंतर उपाधि का त्याग करना वह कायोत्सर्ग है। बाह्य जो शरीर, धन, धान्य आदि का त्याग करना है वह बाह्य उपाधि त्याग है। आभ्यंतर मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद परिणामों का अभाव करना है, वह आभ्यंतर उपाधि त्याग है। बाह्य त्याग में आहार आदि का भी त्याग होता है। सन्यास के समय में आयु की पूर्णता होने पर यावज्जीवन त्याग होता है उसका आगे क्रम से सल्लेखना के प्रकरण में वर्णन करेंगे, इसलिये यहाँ उसके सम्बन्ध में विशेष नहीं लिखा। ५।

ध्यान तप : अब ध्यान नाम के तप का वर्णन करते हैं उसका स्वरूप इस प्रकार जानना- एक पदार्थ को जानते हुए चिन्तवन का रुक जाना ध्यान है। वह ध्यान उत्तम संहनन वाले के अंतर्मुहूर्त रहता है। एकाग्र चिन्तवन का सुख अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल उत्तम संहननवाले के भी नहीं रहता है। वज्रवृषभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन, ये तीन उत्तम संहनन है। उत्तम संहननवाले के ही मनुष्यपने में चित्त का रुकना होता है। **संसार में गमन, भोजन, शयन, अध्ययन, आदि अनेक क्रियायें हैं उनमें जो नियम रहित वर्तता है उसे ध्यान नहीं होता है।** जहाँ एक (शुद्धात्मा) के सन्मुख होकर चित्त रुक जाता है वहाँ ध्यान है, तथा जहाँ एकाग्रता नहीं वहाँ भावना है।

प्रशस्त भावों से शुभ ध्यान होता है, अप्रशस्त भावों से अशुभ ध्यान होता है। शुभ ध्यान दो प्रकार का है - एक धर्मध्यान, दूसरा शुक्लध्यान। अशुभ ध्यान भी दो प्रकार का है - एक आर्तध्यान, दूसरा रौद्रध्यान। इस प्रकार ध्यान के चार बेद हुए। उनमें अशुभ ध्यान तो बिना यत्न के ही जीवों के होता है क्योंकि अशुभ ध्यान का संस्कार तो जीवों के अनादिकाल से चला आ रहा है। अशुभ

ध्यान सिखाने का कोई शास्त्र भी नहीं है, यह तो बिना शिक्षा दिये ही जीवों के होता है । अशुभ ध्यान का अभाव होने पर शुभ ध्यान होता है ।

आर्तध्यान और उसके भेद : अशुभ ध्यान का अभाव करने के लिये प्रथम चार प्रकार के आर्तध्यान का कथन करते हैं - अनिष्ट संयोगज, इष्ट वियोगज, रोग जनित, निदान जनित - ये चार प्रकार का आर्तध्यान है - ऋत अर्थात् दु:ख, उससे उत्पन्न होनेवाला वह आर्तध्यान है ।

अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान (१) : अनिष्ट वस्तु के संयोग से जब बहुत दु:ख उत्पन्न होता है, उस समय तो चिन्तवन होता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है । अपने शरीर का नाश करनेवाले, धन का नाश करनेवाले, आजीविका को बिगाड़नेवाले, अपने स्वजन-मित्रादि के नाश करनेवाले ऐसे दुष्ट बैरी, दुष्ट राजा, राजा के दुष्ट अधिकारी, अपने दुष्ट पड़ोसी का संयोग मिलना; रोगी शरीर, घोर दरिद्रता, नीच जाति-नीच कुल में जन्म, निर्बलता, असमर्थता, अंग हीनता इत्यादि का पाना; सिंह, व्याघ्र, सर्प, श्वान, चूहा, अग्नि, जल, दुष्ट राक्षस आदि का संयोग मिलना; दुष्ट बांधव, दुष्ट कलत्र, पुत्रादि का संयोग बड़ा अनिष्ट होता है । इनके संयोग के दु:ख में जो संक्लेशरूप परिणाम होते हैं, इन संयोगों का वियोग चाहने के लिये जो चिंतवन होता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है ।

अति शीत, अति उष्णता, अति वर्षा, डांस, मच्छर, चींटी, खटमल (उटकण) आदि तथा दुष्टों के दुर्वचन सुनकर, चिंतवन कर, स्मरण कर परिणामों में बहुत कष्ट उत्पन्न होता है । अनिष्ट के संयोग से दिन में, रात में, घर, बाहर, किसी भी स्थान में, किसी भी समय में क्लेश नहीं मिटता है । **ऐसे आर्त परिणामों से घोर कर्म का बंध होता है** । यह सब अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान का प्रथम भेद है । जो इसे परिणामों में नहीं होने देते हैं उन सम्यग्दृष्टियों के कर्म की बहुत निर्जरा होती है ।

जो ज्ञानी महान सत्पुरुष हैं वे अनिष्ट के संयोग में आर्तध्यान नहीं करते हैं । वे तो इस प्रकार विचार करते हैं - हे आत्मन् ! यह तुम्हें जो अनिष्ट दु:ख देनेवाली सामग्री प्राप्त हुई है, वह सभी तुम्हारे कमाये हुए पाप कर्म का फल है, किसी अन्य का दोष नहीं है, अन्य को अपना घात करनेवाला नहीं जानो । पूर्व में जो तुमने दूसरों का धन चुराया है, अन्याय किया है, अन्य निर्बलों को संताप उत्पन्न किया है, अन्य को कलंक लगाया है, मिथ्याधर्म की शिक्षा दी है, शीलवन्त त्यागी तपस्वियों को दोष लगाया है, खोटा मार्ग चलाया है, विकथा में लीन रहे हो, अन्याय के विषयों का सेवन किया है, निर्माल्य देव द्रव्य खाया है, उनसे बांधे हुए कर्म अब अवसर पाकर उदय में आये हैं ।

अब इन कर्मों के उदय में दु:खी होकर क्लेश भोगोगे तो नवीन अधिक पाप का बंध और करोगे; दु:खी होने से कर्म छोड़ नहीं देगा, किन्तु दु:ख अधिक बढ़ जायेगा, बुद्धि नष्ट हो जायेगी, धर्म का लेश भी नहीं रह जायेगा, पाप का बंधन दृढ़ हो जायेगा । अत: अब धैर्य धारण करके सम भावों से सहो । यदि संक्लेश रहित सम भावों से सहोगे तो शीघ्र ही पाप कर्म का नाश हो जायेगा ।

परिणामों में ऐसा विचार करो – यह मुझे बड़ा लाभ है कि कर्म इस समय में उदय में आकर रस देकर निर्जरित हो रहा है । मुझे यह बड़ा लाभ है कि जब जिनधर्म धारण हो रहा है, उस समय में बड़ी समता से कर्म के प्रहार को सहकर कर्म के ऋण से रहित हो जाऊँगा । यदि यही कर्म किसी अन्य समय में उदय में आता तो इससे अधिक बंध करके असंख्यात भवों में इसकी उलझन से नहीं छूट पाता ।

ऐसा भी विचार करो – ये अनिष्ट के संयोग जैसे मुझे अनिष्ट लगते हैं, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी कष्ट देनेवाले हैं । अत: अब मैं किसी अन्य जीव को अयोग्य वचनों द्वारा, काय से अयत्नाचाररूप व मन से अन्य जीवों के दु:ख हानि का चिन्तवन द्वारा कभी भी दु:खी करने की इच्छा नहीं करूँगा । इस समय में ये जो मुझे अनिष्ट संयोग मिले हैं । उनसे असंख्यात गुणे अधिक अनिष्ट संयोग नरक-तिर्यंच पर्याय में तथा मनुष्य पर्याय में अनेक बार भोगे हैं, अनेक दुर्वचन सहे हैं, अनेक प्रकार की मार के नित्य दु:ख भोगे हैं, अनेक जन्मों में दारिद्र भोगा है ।

बोझ लादने का दु:ख, मर्म स्थान में मारने का दु:ख, हाथ-पैर-नासिका छेदने का दु:ख, आँखें निकालने का दु:ख, भूख का, प्यास का, शीत का, उष्णता का, तपन में पड़े रहने का, पवन का, दुष्ट जीवों द्वारा खाये जाने का, बहुत समय तक जैल में पराधीन रहने का व बन्धन के अनेक दु:ख भोगे हैं । अनेक बार अग्नि में जला हूँ, अनेक बार मरा हूँ, अनेक बार जल में डूबा हूँ, कीचड़ में फंसकर मरा हूँ । इस प्रकार तिर्यंचों में-मनुष्यों में उत्पन्न होकर अनिष्ट का संयोग अनंत बार भोगा है । नरकगति के दु:ख तो प्रत्यक्षज्ञानी ही जानने में समर्थ हैं, अन्य नहीं । इस संसार में जब तक रहूँगा, तब तक अनिष्ट संयोग तो रहेगा ही ।

मैं पाप कर्म करके पंचमकाल का मनुष्य हुआ हूँ, इसमें अनिष्ट के संयोग होने का क्या भय करना है ? इसमें तो जो अनन्तकाल में भी प्राप्त होना दुर्लभ था ऐसा जिनधर्मरूप परम निधान मिल गया है । **इसके लाभ से आनन्द पूर्वक मुझे अनिष्ट संयोग जनित दु:खों को भूलकर परम समता भाव से कर्म के उदय को जीतना योग्य है** । इस प्रकार अनिष्ट संयोगजनित आर्तध्यान का अभाव करना । १ ।

इष्ट वियोगज आर्तध्यान (२) : आर्तध्यान का दूसरा भेद इष्ट वियोगज है । इष्ट के वियोग से बहुत दु:ख उत्पन्न होता है । अपने चित्त को आनन्द देनेवाले - सुखों को उत्पन्न करने वाले ऐसे पुत्र का मरण हो जाय, आज्ञाकारिणी स्त्री का वियोग हो जाय, प्राणों के समान मित्र का वियोग हो जाय, बहुत संपदा-राज्य-ऐश्वर्य-भोगों को देनेवाले स्वामी का वियोग हो जाय, सुख पूर्वक जीवन यापन करनेवाली आजीविका नष्ट हो जाय, राज्य भंग हो जाय, पदवी भंग हो जाय, संपदा भंग हो जाय, सुख से रहने का स्थान जमीन मकान नष्ट हो जाय, सौभाग्य-यश नष्ट हो जाय, प्रीति करनेवाले भोग नष्ट हो जाय, वह समस्त इष्ट का वियोग है । ऐसे इष्ट के वियोग होने पर शोक, भ्रम, भय, मूर्च्छा आदि होना, उनका बारम्बार संयोग हो जाने के लिये चिन्तवन करना, रुदन करना, दु:ख में

अचेत होकर विलाप करना, बारम्बार दु:खी होना, हाहाकार करना, वह तिर्यंचगति में गमन का कारण इष्ट वियोगज आर्तध्यान है ।

इष्ट के वियोग से बड़े-बड़े शूरवीरों का धैर्य छूट जाता है, महान पुरुष भी दीन के समान हो जाते हैं, हृदय फट जाता है, मरण हो जाता है, उन्मत्त-बावला हो जाता है, कुआ-बावड़ी में गिरकर मर जाता है, ऊँचे मकान-पर्वत से गिरकर मर जाता है, विष-भक्षण कर लेता है, शस्त्रादि से आत्मघात कर लेता है । इष्ट के वियोग के दु:ख समान कोई दु:ख नहीं है । इष्ट वियोग के दु:ख से दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं ।

कोई उत्तम पुरुष, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, सम्यक् श्रद्धानी, सम्यग् ज्ञानी, वीतराग सर्वज्ञ के वचनों का अवलम्बन लेनेवाला, वस्तु के सत्यार्थ स्वरूप को जाननेवाला पुरुष ही इष्ट के वियोग जनित दु:ख को जीतता है । वे जीव ऐसी भावना भाते हैं - हे आत्मन् ! संसार में जितना भी तुझे संयोग मिला है, उसका नियम से वियोग होगा । वियोग को रोकने को कोई भी देवता, इन्द्र, मन्त्र, यन्त्र, औषधि, सेना, बल, कुटुम्ब, बुद्धि, मित्र, धन संपदा समर्थ नहीं है ।

जब इस अपने शरीर का ही वियोग अवश्य होगा, तब इस शरीर के सम्बन्धियों की क्या कथा करना ? ये जो स्त्री, पुत्र, पुत्री, माता, पिता आदि को अपना मानकर प्रीति करता है, सो तेरा सम्बन्ध इनके आत्मा से नहीं है, इनके शरीर से सम्बन्ध है । यह मुख का चमड़ा, दुर्गन्धित नासिका, चमड़े के नेत्र इनमें मोह बुद्धि से परस्पर अपने समान राग करता रहता है, किन्तु इन्हें तो एक दिन अग्नि में जलकर भस्म हो जाना है । तुम्हारे चमड़े का और इनके चमड़े का अनन्तकाल में भी कैसे सम्बन्ध मिलेगा ? **जिनका संयोग हुआ है, उनका नियम से वियोग होगा** । माता का, पिता का, प्यारी स्त्री का, सपूत पुत्र का, भ्राता का, राज्य का, ऐश्वर्य का, धन-सम्पदा का, महल-मकान का, देश-नगर-ग्राम का, मित्रों का, स्वामी का, सेवक का, अवश्य वियोग होगा । इसलिये इष्ट के वियोग का दु:ख करके अशुभ बन्ध नहीं करो ।

यदि ये तुम्हारे इष्ट हैं तो तुम्हारे लिये दु:ख उत्पन्न कराने का प्रयत्न कैसे करेंगे ? अत: सम्यग्ज्ञानी हो तो परम धर्मरूप भाव को इष्ट मानो, जिस के द्वारा संसार के दु:खों से छूटा जा सकता है । ये स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, परिग्रह आदि इष्ट नहीं हैं । जो ममता उत्पन्न कराकर पाप कर्म में, इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करावें, अनीति में लगाकर दुर्गति में पहुँचावे वे किसके इष्ट ? **इष्ट तो परम हितरूप धर्म में प्रवर्तन करानेवाले धर्मात्मा गुरुजन हैं, साधर्मी हैं, अन्य नहीं** ।

ये कुटुम्ब के लोग तो तुम्हारे पास पुण्य के उदय से जब तक धन-संपदा है तब तक सब अपने इष्ट दिखते हैं, बिना धन के कोई अपना इष्ट नहीं मानता है । धन तो पुण्य के आधीन है, अत: पुण्य के भाव को ही इष्ट मानो । जब पुण्य का उदय आता है तो स्वर्गलोक की महान इष्ट सामग्री, असंख्यात देवों द्वारा वंदनीय इन्द्रपना, बहुत प्रेम से भरी हुई हजारों देवांगनायें, अद्भुत् भोग सामग्री मिल जाती है । जब पाप का उदय हो तब अपना बहुत प्रिय पुत्र, यत्न से पाला हुआ शरीर ही घोर दु:ख के देने वाले बैरी हो जाते हैं ।

संसार में अज्ञानभाव से स्त्री, पुत्रादि को इष्ट मानते हो, तो संसार में अनंत जीवों से अनेक नाते/रिश्ते हुये हैं । **इतनी माताओं का दूध पिया है कि यदि प्रत्येक की एक-एक बूंद इकट्ठी करें तो अनन्त समुद्र भर जायें । इतने शरीर धारण करके छोड़े हैं कि यदि एक शरीर का एक रोम इकट्ठा करें तो सुमेरु समान अनन्त ढेर इकट्ठे हो जायें ।** इतने कुटुम्ब के लोग तेरे लिये रोये हैं व कुटुम्बियों के लिये तू रोया है कि यदि उन अश्रुपातों को एक जगह इकट्ठा करें तो अनन्त समुद्र भर जायेंगे ।

सत्यार्थ विचार करो – कौन-कौन से इष्ट के वियोग को गिनोगे ? अनेक इष्ट ग्रहण करके छोड़े हैं । जो इष्ट अभी विद्यमान है उनको छोड़ने का भी अवसर सामने जरूर आयेगा । अवसर का कोई ठिकाना (निश्चत स्थान व समय) नहीं है कि मृत्यु किस स्थान पर किस समय पर आ जायेगी ? मृत्यु को प्राप्त हुए बिना कोई नहीं रहता है । सभी इष्ट सामग्री जो आपको दिखाई देती है, जिसमें तुम राग करते हो उसके वियोग होने का समय अचानक आया ही समझो । जिनमें ममता करके फंस रहे हो, जिनके लिये पाँचों प्रकार का पाप करते हो, वे भी अवश्य बिछुड़ेंगे समस्त सामग्री के वियोग के दिन कोई कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है । अत: तिर्यंचगति का कारण इष्ट वियोग में क्लेश नहीं करो ।

ऐसी भावना करो – यह जो शरीर है, वह जल के बुलबुले के समान है, क्षणभर में नष्ट हो जाता है । यह लक्ष्मी, इन्द्रजाल की रचना के समान है, देखते-देखते ही बिला जाती है । ये स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब आदि हैं, वे प्रचण्ड पवन के वेग से प्रेरित समुद्र की लहरों के समान चलायमान हैं । विषयों का सुख संध्याकाल के बादलों की लालिमा के समान विनाशीक है । अत: इनके वियोग में शोक करना व्यर्थ है । जिसने शरीर धारण किया है उसे दु:ख और मरण तो अवश्य प्राप्त होगा ही । अत: दु:ख का तथा मरण का भय छोड़कर ऐसे उपाय का विचार करो जिससे शरीर के धारण करने का ही अभाव हो जाय ।

हे आत्मन् ! जो कर्म किसी देव, दानव, मंत्र, तंत्र, यंत्र, औषधि आदि के द्वारा नहीं रोका जा सकता है, उसके कारण अपने इष्ट का मरण होने पर शोक से दुर्ध्यान करना, पागल के समान आचरण करने जैसा है । क्या शोक करने से, रुदन-विलाप करने से कोई दया करके मृतक को जीवित कर देगा ? शोक करने से कुछ भी सिद्धि नहीं है; धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब नष्ट हो जायेगा ।

जो भी उत्पन्न हुआ है वह मरने के लिये ही उत्पन्न हुआ है । ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता है त्यों-त्यों मरण का दिन नजदीक आता जाता है । जैसे वृक्ष में फल, फूल, पत्ते उत्पन्न होते हैं, वे सभी टूटकर गिरते ही हैं; उसी प्रकार कुलरूप वृक्ष में माता-पिता, पुत्र, पौत्र जो भी उत्पन्न हुये हैं, वे एक दिन नष्ट होंगे ही । इसमें शोक करना व्यर्थ है ।

जो भवितव्यता है वह दुर्लंघ्य है, पूर्व में बांधे हुए कर्मों के अधीन है । कर्मों का उदय आने पर उसका फल आता ही है, रोका नहीं जा सकता है । जो उदय के आधीन इष्ट वस्तु का नाश

हो गया, उसका विलाप करके शोक करना ऐसा है जैसे अन्धकार में नाचना, कौन देखेगा ? पूर्व में बांधे हुये कर्मों के उदय के समय में जिसकी आयु का अन्त आयेगा, वियोग का समय आयेगा उस समय उसे कौन रोक सकेगा ? इसलिये दु:ख छोड़कर परम धर्म में यत्न करना चाहिये ।

जो धनोपार्जन के लिये, परिग्रह बढ़ाने के लिये, बहुत समय तक जीवित रहने के लिये महासंक्लेश पूर्वक दुर्ध्यान करते हैं वे महामूढ़ हैं । इच्छा करने से, दु:खी होकर, पुण्य के उदय के बिना गई वस्तु कैसे प्राप्त होगी ? जो आपका इष्ट मर गया, उसे जला दिया, एक बार परमाणु धूम्र, भस्म आदि होकर उड़ गये, उन्हें प्राप्त करने के लिये जो शोक करता है, उसके समान मूर्ख और कौन दिखाई देता है ?

इस जगत को प्रत्यक्ष इन्द्रजाल के समान देखते हुए भी शोक कैसे कर सकते हैं? **यदि मरण का, वियोग का, हानि का दिन आ जाय तो उसे एक क्षण भी टालने को कोई इन्द्र, जिनेन्द्र, नरेन्द्र समर्थ नहीं हैं** । इस प्रकार जानता हुआ भी जो रुदन-विलाप करता है, वह निर्जन वन में बहुत पुकारकर रोनेवाले के समान है, कौन दया करेगा? पूर्वोपार्जित कर्म तो अचेतन है, उसमें तो दया है ही नहीं । यदि अपनी इष्ट वस्तु का नाश हो जाय तो उसका शोक करना वहाँ तो उचित है, जहाँ शोक करने से वस्तु की प्राप्ति हो जाय, अपने को सुख हो जाय, जगत में यश (कीर्ति) हो जाय, धर्म की प्राप्ति हो जाय, वहाँ तो इष्ट के वियोग का शोक भी करना ठीक है ।

शोक करने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता । धर्म का नाश, बुद्धि का नाश, शरीर का नाश, इन्द्रियों का नाश, नेत्रों की ज्योति का नाश हो जाता है । प्रकट घोर दु:ख, परलोक में दुर्गति, अन्य सुननेवालों में क्लेश, आपके रोग की उत्पत्ति, बल-वीर्य का नाश, व्यवहार-परमार्थ दोनों का नाश, धीरता, ज्ञान नष्ट होना इत्यादि अनेक दु:खों का कारण शोक हैं, ऐसा शोक नहीं करना चाहिये । अत: यह तिर्यंचगति में अनेक जन्म उपार्जन करनेवाला इष्ट वियोगज नाम का आर्तध्यान कभी नहीं करना चाहिये ।

इष्ट का वियोग तो पाप का फल है, इसका शोक करने से क्या होगा ? यदि पापकर्म के नाश करने का यत्न करोगे तो फिर इष्ठ-वियोग आदि दु:ख के पात्र नहीं होवोगे । जो इष्ट के वियोग से दु:खरूप क्लेशित हो रहे हैं, वे ऐसे असाता कर्म का बंध करते हैं जो आगे असंख्यात भवों तक दु:खों की परिपाटी से नहीं छूटते हैं ।

जो यह क्षण-क्षण में आयु नष्ट हो रही है वह काल के मुख में प्रवेश है । कोई ऐसा अनन्तकाल में ना हुआ, ना होगा जो देह धारण करके मरण को प्राप्त नहीं हुआ हो । सूर्य, चन्द्रमा आदि देवता तथा पक्षी - ये तो आकाश में ही विचरण करते हैं; मनुष्य तिर्यंच आदि पृथ्वी पर ही विचरण करते हैं; मछली, कछुआ आदि जल में ही विचरण करते हैं, किन्तु काल (मृत्यु) तो स्वर्ग में, नरक में, आकाश में, पाताल में, जल में, थल में, सर्वत्र ही विचरण करता है । इससे कौन बचा सकता है ?

जो दिन निरन्तर व्यतीत हो रहे हैं, वे आयु के बड़े-बड़े खण्ड प्रत्यक्ष टूटते चले जा रहे हैं । सागरों की जिनकी आयु, अणिमा आदि हजारों ऋद्धियों के धारक, जिनकी असंख्यात देव सेवा करते हैं उनका भी विनाश हो जाता है तो कीट समान मनुष्य कैसे स्थिर रहेगा ? जिस हवा से पहाड़ उड़ गये उसमें तिनकों का समूह कैसे ठहर सकेगा ? ऐसा चिन्तवन करके इष्ट का वियोग होने पर आर्तध्यान कभी नहीं करना चाहिये । इस प्रकार इष्ट वियोगज आर्तध्यान का और इसके जीतने की भावना का वर्णन किया । २ ।

रोगजनित आर्तध्यान (३) : अब रोगजनित तीसरे आर्तध्यान का स्वरूप कहते हैं । इस शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं तब रोग के नाश होने के लिये बारम्बार संक्लेशरूप परिणाम होना वह रोगजनित आर्तध्यान है । खांसी, श्वास, ज्वर, वात, पित्त, कफ, पेटदर्द, सिरदर्द, नेत्रदर्द, कानदर्द, दाँतदर्द, जलोदर, कठोदर, सफोदर, कोढ़, खाज, दाद, संग्रहिणी, अतिसार इत्यादि प्राणों का नाश करनेवाले, घोर वेदना देनेवाले रोगों के होने पर घोर दुःख उत्पन्न होता है । रोगों की तकलीफ से एक श्वास लेना भी बड़े कष्ट से होता है, बैठे-खड़े-सोते हुए कहीं भी परिणामों में थिरता नहीं होने देता है । ऐसे समय में परिणामों में बड़े दुःख से उत्पन्न हुआ पीड़ा चिन्तवन नाम का आर्तध्यान होता है ।

यह रोगजनित वेदना ऐसी है जिससे बड़े-बड़े कोटिभट, महाशूरवीर, अनेक शस्त्रों के सामने भी मुकाबले में डटे रहनेवाले शूरवीरों का भी धैर्य चलायमान हो जाता है, बड़े-बड़े त्यागी-तपस्वियों-परीषह सहनेवालों का भी धैर्य चलायमान हो जाता है । ऐसे रोग की वेदना जनित आर्तध्यान को जीतने की सामर्थ्य बड़ी दुर्ध्दर है ।

रोगजनित वेदना में आर्त परिणामों का जीतना भगवान जिनेन्द्र की शरण से ही होता जानो । बड़े की शरण बिना ऐसी दुर्ध्दर वेदना में धैर्य नहीं रहता है । इसलिये ज्ञानी पुरुष सर्वज्ञ की शरण ग्रहण करके विचार करते हैं - हे आत्मन् ! यह जो भयानक घोर असाताकर्म का उदय आया है उसमें यदि विलाप करोगे तो दुःख कौन दूर कर देगा ? तड़फड़ाहट करोगे तो भी यह वेदना छोड़नेवाली नहीं है । धीर होकर भोगोगे तो भोगनी होगी, कायर होकर भोगोगे तो भोगनी होगी । **रोग तो देह में आया है सो वह देह को मार सकेगा, तुम्हारे आत्मा को नहीं मार सकेगा । तुम्हारा आत्मा तो ज्ञायक स्वभाव अविनाशी है,** परन्तु इस देह के फन्दे में आकर फंस गया है, अतः अब धैर्य धारण करके कायरता छोड़ो ।

इस संसार में करोड़ों रोगों का उदय तथा ताड़न-मारण आदि अनेक त्रास नरक में भोगे हैं, तिर्यंचगति में प्रत्यक्ष रोगों से उत्पन्न हुए घोर दुःख देखते ही हो । और से तो छूटकर भाग भी जाओ, परन्तु कर्म से नहीं भाग सकोगे । इस कर्ममय शरीर ने तुम्हारे एक-एक प्रदेश को अनन्त कर्म परमाणुओं से बांधकर अपने आधीन कर रखा है, वह कैसे भागने देगा ? यह जो कर्म है, वह तो मरण होने पर भी नहीं छोड़ेगा । मरण होने पर शरीर छूटेगा, जहाँ पर भी अन्य शरीर धारण करोगे वहाँ पर भी तो कर्म तो साथ ही रहेगा । रोग की वेदना में जो धैर्य धारण करते हैं उनके कर्मों की बहुत निर्जरा होती है ।

ऐसा भी विचार करो – मुनिराज तो ग्रीष्म में आताप की वेदना तथा शीतऋतु में शीत की वेदना कर्मों को जीतने के लिये बड़े उत्साह से सहते हैं; तुम्हारे यहाँ तो कर्म स्वयं ही उदय में आ गया है तो इसे शूरपना द्वारा जीतो । **यह भी देखो कि** – कितने ही मनुष्य निर्धन हैं, अकेले हैं, रहने का स्थान नहीं है, खान-पान नहीं मिलता है, कोई पूँछनेवाला नहीं है, कोई सहायता करनेवाला नहीं है, शरीर में एक के बाद एक रोग का क्लेश आता रहता है ; कोई पानी पिलाने वाला भी नहीं है, उनका विलाप कौन सुनता है ? ऐसा दुःखी अज्ञानी भी अपने को असहाय, अकेला, निर्धन समझकर आप ही आप भोगता है ।

तुम्हारे पास तो शयन करने को स्थान है, खाने को भोजन है, रोग की दवा है, ठंडी गर्म सब सामग्री है, सेवा करनेवाला सेवक है, स्त्री है, पुत्र है, मित्र है, मल-मूत्रादि सफाई करने वाला है; अब तुम्हें समता भाव से वेदना सहना चाहिये, कायरता छोड़कर, धैर्य धारण करके रोगजनित आर्तध्यान छोड़ना ही योग्य है । धर्म धारण करने का ये ही फल है ।

जिनका कोई सहायता करनेवाला नहीं, वे भी धैर्य धारण करते हैं । हे आत्मन् ! यह जिनधर्म धारण करके भी तथा कर्म के उदय को किसी से भी नहीं रोका जा सकनेवाला (अरोक) समझकर भी क्यों कायरता धारण करते हो ? जेल में भी बहुत रोग की वेदना भोगते हुये कितने ही मर जाते हैं । तिर्यंचों में घोर रोग की वेदना, रोगी होकर निर्जन वन में गिर पड़ना, कीचड़ में फंस जाना, गर्मी में, ठंड में पड़े रहना, पड़े हुये को अनेक जीवों द्वारा काट-काटकर खाया जाना इत्यादि घोर वेदना संसार में भोगते हैं ।

संसार तो दुःखों से ही भरा है । ऐसा कौन सा रोग है जो संसार में तुमने अनेक बार नहीं भोगा है । इसलिये रोग में जिनधर्म ही शरण है, जिनेन्द्र के वचन को ही जन्म-मरण जरा रोग का नाश करनेवाला जानो । अन्य औषधि, **इलाज तो साताकर्म की सहायता से असाताकर्म के मन्द उदय होने पर उपकार करते हैं** । असाता के प्रबल उदय में समस्त उपायों को निष्फल जानकर, अशुभ कर्म के नाश का कारण परम समताभाव ही धारण करना श्रेष्ठ है । इस प्रकार रोगजनित आर्तध्यान को जीतने की भावना कही । ३ ।

निदान जनित आर्तध्यान (४) : अब निदान जनित चौथे आर्तध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं । देवों के भोगों की वांछा करना, अप्सराओं के नृत्य आदि देखने की वांछा करना, अपना सौभाग्य चाहना, अद्भुत सुंदर रूप चाहना, अखण्ड ऐश्वर्य सहित राज-विभूति की वांछा करना, सुंदर महल-मकान रहने को चाहना, रूपवती स्त्री के कोमल सुकुमार अंगों का स्पर्श चाहना, शैया आसन आभरण-वस्त्र, सुगन्ध मिष्ठ वांछित भोजन चाहना, अनेक रस सहित क्रीड़ा विहार चाहना । बैरियों का तिरस्कार-मरण चाहना, अपने पास वांछित विभूति चाहना, समस्त जगत के बीच अपनी उच्चता चाहना, अपनी आज्ञा जो माने उसकी विजय चाहना, अन्य का तिरस्कार चाहना, मद को पुष्ट करनेवाली समस्त पंडितों का तिरस्कार करनेवाली विद्या चाहना, राजनीति को अपने आधीन चाहना, आजीविका की

वृद्धि चाहना, परके कुटुम्ब का-संपदा का नाश चाहना, अपने कुटुम्ब की वृद्धि चाहना, धन का लाभ चाहना, अपना दीर्घकाल तक जीवित रहना चाहना, अपने वचन की सिद्धि चाहना, अपने कपट-झूठ की गोप्यता चाहना, अन्य जीवों की अपने से न्यूनता चाहना, अपनी सभी के बीच में उच्चता चाहना, समस्त भोगों की वांछा चाहना, अपना निरोगपना चाहना, अपना अद्‌भुत रूप, संपदा, आज्ञाकारी पुत्र, चतुर सेवक इत्यादि की जो आगामी काल में वांछा करना है, वह निदान आर्तध्यान है ।

संसार परिभ्रमण का कारण, पुण्य का नाश करनेवाला जानकर कभी निदान नहीं करो । **इच्छा से तो पाप का बंध होता है** । भोगों की अभिलाषा तथा अपने अभिमान की पुष्टि चाहना तो अपने एकत्र किये पुण्य का नाश करना है । **निर्वांछक परिणाम से ही पुण्य बंध होता है** । अपनी उच्चता की वांछा तथा विषयों का लोभ तीव्रकषायी पर्याय-बुद्धिवाले के बिना कौन करता है ? ये विषय और यह अभिमान कितने दिन रहेगा ?

अनन्तानन्त पुरुष इस पृथ्वी पर संपदावान, बलवान, रूपवान, विद्यावान होकर मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं, यहाँ पर काल अचानक आकर ग्रस लेगा । इतने समय तक भोगों ने क्या कर दिया? ये भोग अतृप्ति के करनेवाले हैं, दुर्गति को ले जानेवाले हैं, चाहने से कभी प्राप्त भी नहीं होते हैं। असंख्यात जीव चाह की दाह के मारे जलते रहते हैं । मरण निकट आ जाता है तब भी चाह ही करते रहते हैं । **चाह से सारा जगत जल रहा है** । जगत के जीवों के ऐसी तृष्णा है कि जो तीनलोक के राज्य से भी तृप्त नहीं होती है, फिर किस-किस को समस्त लोक का राज्य मिलेगा? यह धूल समान अचेतन संपदा है, इससे आत्मा को क्या साध्य है, क्या लाभ होनेवाला है ?

लोक में संपदा, परिग्रह, अभिमान महादुःखदायी हैं । अपनी अविनाशी ज्ञान की संपदा, सुख संपदा, स्वाधीनता को पाकर सुखी होने का यत्न करो । संतोष समान सुख नहीं है, संतोष समान तप नहीं है । प्राप्त हुए विषयों में संतोष रखकर वांछारहित होकर जो रहते हैं उनके बड़ा तप है, कर्म की निर्जरा करते हैं । जो वांछा करते रहते हैं उन्हें क्या मिलता है ? अनन्तानन्त जीव विषय-कषायों की प्राप्ति के लिये तरसते-तरसते मरकर दुर्गति को चले जाते हैं ।

अतः यदि तुम्हारे हृदय में जिनेन्द्र के धर्म की सत्यार्थ रुचि हुई है तो गई वस्तु का चिन्तवन नहीं करो, आगामी की वांछा नहीं करो, तथा वर्तमान काल में जो कर्म का शुभ-अशुभ रस उदय में आया है उसे रागद्वेष रहित होकर भोगो । यह जो शुभ-अशुभ का संयोग है वह हमारा स्वभाव नहीं है, कर्म का उदय है । इस प्रकार निश्चय करके आगामी वांछा का अभाव करके निदान नाम के आर्तध्यान को जीतना चाहिये । ४ ।

इस प्रकार आर्तध्यान का चार प्रकार का स्वरूप कहा है । यह छठवें गुणस्थान तक उत्पन्न होता है । निदान आर्तध्यान पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है, छठवें गुणस्थान में निदान नहीं होता है । यह आर्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, पापरूप अग्नि को बढ़ाने के लिये ईंधन के समान है । यह आर्तध्यान अनादिकाल के अशुभ संस्कार से बिना

यत्न किये ही उत्पन्न हो जाता है। इसका फल अनन्त दुःखों से व्याप्त तिर्यंचगति में परिभ्रमण करना है। यह क्षायोपशमिक भाव है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है।

जिसके हृदय में आर्तध्यान होता है उसके बाह्य शरीर पर ऐसे चिन्ह होते हैं : शोक, शंका, भय, प्रमाद, कलह, चिन्ता, भ्रम, भ्रान्ति, उन्माद, बारंबार निद्रा, अंग में जड़ता, श्रम मूर्च्छा इत्यादि चिह्न प्रकट होते हैं। इस प्रकार आर्तध्यान का स्वरूप कहा है।

रौद्रध्यान और उसके भेद : अब आगे चार प्रकार का रौद्रध्यान त्यागने योग्य है, उनका स्वरूप कहते हैं। हिंसानंद, मृषानन्द, स्तेयानंद, परिग्रहानन्द - ये चार प्रकार के रौद्रध्यान हैं।

हिंसानंद रौद्रध्यान (१) : प्रथम हिंसानन्द रौद्रध्यान का ऐसा स्वरूप जानना। अपने द्वारा प्राणियों के समूह की हिंसा होने पर जो आनन्द उत्पन्न होता है वह हिंसानंद रौद्रध्यान है। हिंसा के कारण जो विषय हैं उनमें अनुराग होना; जलयंत्र (बांध) बंधाने में, तालाब, बावड़ी, कुआ, नहर, नदी, नाला खुदवाने में अनुराग होना; वन कटवाने में, बाग-बगीचा लगाने में, सड़क खुदवाने में अनुराग होना; ग्राम जलाने में, मकान जलाने में, पर्वत काटने में अनुराग होना; युद्ध होने में, परधन विध्वंस होने में, बारूद के फटाके-आतिशबाजी छूटने में, डाका डालने में, लूटने में अनुराग होना; जलचर थलचर नभचर जीवों की शिकार करने में, जीवों के मारने में, पकड़ने में, बन्दीगृह में रोकने में अनुराग होना; वह समस्त हिंसानन्द रौद्रध्यान हैं।

रौद्रध्यानी का निरन्तर निर्दय स्वभाव होता है, स्वभाव से क्रोध प्रज्वलित रहता है, मद से उद्धत पापबुद्धिरूप रहता है, पाप में प्रवीणतायुक्त है; परलोक की नास्ति, धर्म-अधर्म की नास्ति माननेवाला है। रौद्रध्यानी के पापकर्म में महानिपुणता से अनेक कुबुद्धियाँ पहले से ही तैयार खड़ी रहती हैं। पाप के उपदेश देने में बड़ी निपुणता है, नास्तिकमत के स्थापन में बड़ी निपुणता है, हिंसा के कार्यों में राग की अधिकता है, निर्दयियों की संगति में निरन्तर रहना - वह समस्त हिंसानन्द रौद्रध्यान है।

जिनसे अपने विषय कषाय पुष्ट नहीं होते उनके सम्बन्ध में ऐसा विचार करता है - इनका घात किस उपाय से होगा, इनके मारने में किसे रुचि है, इनका मूल से ही विध्वंस कर देने में कौन निपुण है, ये कितने दिनों में कैसे मारे जायेंगे ? जब ये मारे जायेंगे तब ब्राह्मणों को मनोवांछित भोजन कराऊँगा, देवताओं की पूजन अराधना करूँगा; बैरियों के नाश के लिये धन देकर जाप कराना, दुर्गापाठ कराना, अपने सिर डाढ़ी के बाल नहीं बनवाना, केश बढ़ाना, इत्यादि द्वारा परिणामों में संक्लेश रखना वह समस्त हिंसानन्द है।

जल के, स्थल के विकलत्रय, आकाशचारी जीवों के मारने में, बलि देने में, बांधने में, छेदने में जिसे बड़ा यत्न तथा जीवों के नख, नेत्र, चाम उखाड़ने में, जीवों के लड़ाने में जिसे बड़ा अनुराग हो उसे हिंसानन्द है। इसकी जीत, इसकी हार, इसका तिरस्कार, इसका मरण, इसके धन का नाश, इसके स्त्री-पुत्र का मरण-वियोग हो जाये - इस प्रकार चिन्तवन व इस प्रकार के सुनने में, देखने में स्मरण करने में अनुराग होना वह हिंसानन्द है।

इस प्रकार विकल्प करता है – क्या करूँ, मेरी शक्ति नहीं, कोई ताकतवर मेरी मदद करनेवाला नहीं है, वह भाग्यशाली दिन कब आयेगा जब मैं अपने पुराने शत्रुओं को अनेक कष्ट देकर मारूँगा? यदि मुझमें यहाँ सामर्थ्य नहीं होगी तो परलोक में मारूँगा, इस प्रकार दूसरों का निरन्तर उपकार ही चाहता है। पर के विघ्न आ जाय, हानि-वियोग-अपमान हो जाय तब बहुत हर्ष मानना – वह समस्त हिंसानंद रौद्रध्यान है। इस प्रकार के अनेक हिंसा के विकल्प करना वह हिंसानंद है।

हिंसानन्द के ये बाह्य चिह्न हैं – हिंसा के उपकरण, तलवार, छुरी, कटारी, इत्यादि शस्त्र ग्रहण करना, शस्त्रों से मारने के, विदारने के दाव-घात चिन्तवन करना; मारने की कला में निपुणता रखना, हिंसक जीवों को पालना; हिंसक चीता, कुत्ता, शिकरा (बाज) इत्यादि जीवों को निकट रखना – ये सब हिंसानन्द के बाह्य चिह्न हैं। १।

मृषानन्द रौद्रध्यान (२) : मृषानन्द रौद्रध्यान के दूसरे भेद का स्वरूप ऐसा जानना। जिनका मन असत्य की कल्पना करने में निपुण है वे ऐसा विचार करते हैं – ऐसा कोई जाल खड़ा करूँ जिससे लोगों को वश में कर के धन ग्रहण करूँ, ऐसी रसायन विद्या का लोभ दिखाऊँ, मन्त्र का, व्यन्तरों का, इन्द्रजाल की विद्या का ऐसा चमत्कार दिखाऊँ, जिससे ये लोग हमारे आधीन हो जायें, मेरी वचन कला भी तभी सफल है जब ये स्वयं को भूलकर मेरे अधीन हो जायें।

पापी परलोक के भयरहित होकर, अपने पण्डितपने के बल से कल्पित शास्त्र बनाकर जगत को विपरीत धर्म बतलाना; हिंसादि आरंभ में यज्ञादि से धर्म बतलाना, देवताओं को बकरा, भैंसा आदि जीव मारकर चढ़ाने से वांछित कार्य की सिद्धि होती है, बैरियों का विध्वंस होता है, राज्य आदि की लक्ष्मी दृढ़ होती है इत्यादि खोटे वचन शास्त्र में लिख देना; परिग्रही-आरंभी को पाप में प्रवर्तन कराना; देवताओं को प्रसन्न करनेवालों को मोक्षमार्गी बतलाना, इत्यादि बहुत खोटे धर्म शास्त्र बनाना, राग बढ़ानेवाली, काम को पुष्ट करनेवाली राजकथा, भोजन कथा, स्त्रीकथा कहने सुनने में आनन्द मानना; पर के झूँठे-साँचे दोष कहने में, अपनी बड़ाई करने में आनन्द मानना, वह मृषानन्द है।

असत्य के बल से झूठों को सच्चे दिखलाना, सच्चों को झूठे दिखलाना, दोषयुक्त को निर्दोष कहना, निर्दोष को दोष रहित कहना, तथा ऐसा विचारकर कि ये लोग तो मूर्ख हैं, ज्ञान विचार रहित हैं, इन्हें अपने वचनों की प्रवीणता से अनर्थ कार्यों में प्रवर्तन कराकर भ्रष्ट करके उनकी धन-संपदा छीन लूँगा, इसमें कोई शक नहीं है इत्यादि अनेक असत्य संकल्प-विकल्प करते रहना वह नरकगति का कारण मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है। २।

चौर्यानन्द रौद्रध्यान (३) : अब तीसरे चौर्यानन्द नाम का रौद्रध्यान का स्वरूप ऐसा जानना- चोरी के उपदेश में होशियारी दिखाना, चोरी करने की कला में निपुणपना वह चौर्यानन्द है। दूसरे का धन हरने के लिये रात्रि-दिन चिन्तवन करना, चोरी करके धन लाने में बड़ा हर्ष मानना चौर्यानन्द है। अन्य कोई ने चोरी से धन उपार्जन किया हो उसे देखकर ऐसा विचार करना कि- देखो, इसको कितना धन हाथ लग गया है, मुझे दूसरे का धन कैसे हाथ आवे, कौन उपाय करूँ, किसकी मदद

लूँ, कैसे छीन लूँ ? मेरे ऐसा पुण्य का उदय कब आयेगा जब किसी का गिरा, पड़ा, भूला हुआ धन हमारे हाथ लग जायेगा ? अन्य कोई चुराकर मुझे सौंप जाये, चोर का माल हमारे पास अल्प मूल्य में आ जाये तथा बहुत मूल्य के रत्नस्वर्ण आदि मुझे कोई भूलकर-चूककर थोड़े दामों में बेच जाये तो बहुत लाभ हो जाये । यह सब चौर्यानन्द है ।

कोई अज्ञानी या बालक मुझे बहुत मूल्य की वस्तु थोड़े मूल्य में दे जाय, ऐसा चिन्तवन करना चौर्यानन्द है । ये रक्षक मर जायें, धन का मालिक-धनी मर जाय तो धन हमारे पास ही रह जाय ऐसा चिन्तवन करना चौर्यानन्द है । किसी बलवान की, सेना की मदद लेकर व बहुत प्रकार से उपाय करके यहाँ जो बहुत समय का एकत्र किया हुआ धन रखा है वह ग्रहण कर लूँ; किसी छल से, वचन कला से, पुरुषार्थ से प्राणों की बाजी लगाकर या इन्हें मारकर इनके धन को ग्रहण कर लूँ, तभी मेरा पुरुषार्थ सफल है, इत्यादि सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान हैं जो नरकगति के कारण हैं । ३ ।

परिग्रहानन्द रौद्रध्यान (४) : अब चौथे परिग्रहानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप कहते हैं । बहुत परिग्रह बढ़ाने के लिये, बहुत आरंभ करने के लिये चिन्तवन करना वह परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है । **जो विषयों में राग तथा अभिमान के वश हुआ है वह विचारता है –** ऐसा महल-मकान हमारे रहने का बन जाय, कोई हमारा भाग्य फल जाय तो अनेक चित्रशालायें, सोने के खंभें, सोने की सांकलों से झूलनेवाले झूले, अनेक ऋतुओं के कई महल, कोट, कंगूरे, गढ़, तोप, बड़े दरवाजे ऐसे सुन्दर बनवाऊँ कि मेरे आंगन की विभूति देखकर लोगों को आश्चर्य उत्पन्न हो । अनेक बाग लगावाऊँ, बागों में अनेक महल, जल के यन्त्र, फुहारे, चादर, नदियों के धौरा, कुण्ड, बावड़ी, कूप, द्रह, अनेक जल क्रीड़ा के स्थान, कामक्रीड़ा के, भोजन करने के, नाटकगृहों के स्थान बन जायें तब मुझे मनवांछित सफलता हो । अनेक ऋतुओं के फल-फूल हमारे सामने रखे जायें तथा मेरे महल-मकान में स्वर्णमय, रूपमय, वस्त्रमय **ऐसी सामग्री जो दूसरे लोगों के यहाँ नहीं हो वह प्राप्त हो तो मैं धन्य हो जाऊँ, वह परिग्रहानन्द है ।**

मेरे शरीर का अद्‌भुत रूप देखने को हजारों स्त्री-पुरुष बहुत अधिक अभिलाषा करें; ऐसी चाह है कि नख से लेकर शिख तक हीरों के आभरणों के जोड़े हों; पन्ना के माणिक के इन्द्रनील मणि के मोतियों के बहुमूल्य आभरण हों; इस संपदा की शोभा बढ़ानेवाले बहुत कोमल बहुमूल्य वस्त्र हों; अनेक प्रकार के स्वर्णमय, रत्नमय, चांदीमय उपकरण हों; कोमल सुकुमार अंगोंवाली, अपने लावण्य से देवांगनाओं को जीतनेवाली, शीलवती, प्रिय, हित, वचन सहित प्रेम की भरी स्त्रियाँ साथ में हों; आज्ञाकारी, शूरवीर, धैर्यवान, विद्यवान, विनयवान, यशस्वी पुत्र हों; अपने मन के अनुसार इच्छित कार्य के करनेवाले महाचतुरतायुक्त प्रवीण स्वामीभक्त सेवक हों; सभी लोगों से अधिक ऐश्वर्य परिवार विभूति होने का चिन्तवन करके आनन्द मानना तथा जैसे-जैसे अपनी धन-संपदा बढ़ती जाय उसका आनन्द मानना वह परिग्रहानन्द है ।

अपने गृह में स्वर्ण का, चाँदी का, कांसे का, पीतल का, लोहे का, ताम्बे का, पत्थर का, लकड़ी का, चीनी का, काँच का, मिट्टी का, कागज का, कपड़े का, जो भी परिग्रह बढ़े, कोई दे जाये, किसी का रह जाये, धन से खरीद कर आ जाये - उस परिग्रह को देखकर हर्ष का बढ़ाना, आनंद मानना, परिग्रह बढ़ने से अपने से अपने को ऊँचा मानना वह समस्त परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है ।

ऐसा भी चिन्तवन करता है – किसी की जमीन-जगह मुझे मिल जाये, इसकी जीविका मेरे पास आ जाये, तथा अमुक के आगे (भविष्य में) कोई कार्य करने लायक नहीं है यदि वह मर जाये तो उसकी जीविका में - संपदा में मेरा अधिकार हो जाये । इसके बालक पुत्र, असमर्थ स्त्रियों का तिरस्कार करके (दूर हटाकर) मैं अकेला निष्कंटक संपदा भोगूँ ऐसी अभिलाषा करना परिग्रहानन्द है । पर की राज्य, संपदा, धन, जमीन, जगह, आजीविका, सुन्दर स्त्री, आभरण, हाथी, घोड़े आदि जबरदस्ती छीन लेने की बुद्धि का, शरीर का, सहायकों का, कपटरूप झूँठा उपाय, पुरुषार्थ इत्यादि बल पाने का अपने को बड़ा आनन्द मानना वह समस्त परिग्रहानन्द रौद्राध्यान है । ४ ।

यह रौद्रध्यान अनेकबार नरक प्राप्त करानेवाला; अनन्तबार तिर्यंचों के घोर दुःखों का, अनेक भवों में कुमानुष, घोर दारिद्र, घोर रोगों को उत्पन्न करानेवाला जानकर इसका दूर से ही त्याग करो। यह रौद्रध्यान कृष्ण लेश्या के बल सहित है, पंचम गुणस्थान तक होता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि-अव्रती गृहस्थ के तथा व्रतधारी-श्रावक के नरकादि का कारण रौद्रध्यान नहीं होता है ।

किसी काल में ऐसा होता है कि अपने पुत्र-पुत्री का विवाह करने में, अपने रहने के लिये मकान बनवाने में, न्यायमार्ग से जीविका में लाभ होने के कार्यों के चिन्वतन में भी हिंसा होती है। इनको पाप का कारण खोटा कार्य जानकर आत्मनिंदा भी करता है, तो भी अपने आरंभ के कार्यों में कुछ हर्ष होता ही है । अपना न्यायमार्ग से प्रामाणिक परिग्रह प्राप्त होने पर हर्ष होता ही है । अपने धन को चोर आदि नहीं हरण कर सकें इसलिये अपनी संपदा की रक्षा के लिये झूठकपट करते हुये भी अन्य जीवों के प्राण, धन आदि हरण करने की प्रवृत्ति नहीं करता है । अपनी रक्षा के लिये कपट की आड़ी ढाल करता है, किन्तु अन्य के घात के लिये कपट-झूठ की ढाल-तलवार नहीं करता है । इसलिये श्रावक को जो नरक आदि कुगति का कारण है ऐसा रौद्रध्यान का भाव नहीं होता है ।

रौद्रध्यानी के ये बाह्य लक्षण हैं – स्वभाव से ही क्रूरता, पर को कठोर दण्ड देना, निर्दयीपना, अति कपटीपना, सभी के दोष ग्रहण करना इत्यादि भाव होते हैं । बाह्य में नेत्र लाल करना, भृकुटी चढ़ा लेना, भयानक आकृति, वचन में दुष्टता, इत्यादि बाह्य चिह्न हैं । क्षयोपशम भाव है, अंतर्मुहूर्त काल है, बाद में अन्य-अन्य हो जाते हैं । ४ ।

इस तरह से चार प्रकार का आर्तध्यान तथा चार प्रकार का रौद्रध्यान का त्याग करने पर धर्मध्यान होता है । इन्हें त्यागे बिना धर्मध्यान की वासना अनादि से नहीं हुई । अतः धर्म के इच्छुक को दोनों दुर्ध्यान का स्वरूप समझकर अपने आत्मा में ऐसे आर्तध्यान-रौद्रध्यान के भाव कभी नहीं होने देना चाहिये ।

धर्मध्यान और उसके भेद – अब धर्मध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं । यह धर्मध्यान किसी सम्यग्दृष्टि के ही होता है । कोई बिरला महान पुरुष राग-द्वेष-मोह रूप बंधन को छेदकर परम उद्यमी होकर बड़े पुरुषार्थ से कभी धर्मध्यान को प्राप्त होता है । जैसे सोते, बैठते, चलते, खानपान करते विषयों को भोगते हुए, कषायों में प्रवर्तनेवाले के भी बिना यत्न ही आर्त-रौद्रध्यान हो जाता है, उसी तरह धर्मध्यान नहीं हो जाता है । **स्थान के निमित्त से परिणाम भी शुभ–अशुभ होते हैं**, अतः धर्मध्यान का इच्छुक कितने ही परिणामों को बिगाड़नेवाले स्थानों का दूर से ही त्याग करता है ।

खोटे स्थान में परिणाम खोटे ही हो जाते हैं । दुष्ट, हिंसक, पाप-कर्म करनेवाले, पाप कर्म से जीविका करनेवाले, तीव्र कषायी, नास्तिकमती, धर्म के द्रोही जहाँ रहते हों वहाँ पर परिणाम क्लेशित हो जाते हैं । दुष्ट राजा हो, राजा का दुष्ट मंत्री हो, पाखण्डी-मिथ्यादृष्टि भेषधारियों का जहाँ अधिकार हो वहाँ धर्मध्यान में परिणाम नहीं लगते हैं ।

जहाँ परचक्र आदि का प्रजा के ऊपर उपद्रव हो रहा हो; दुर्भिक्ष-महामारी आदि का उपद्रव सहित प्रजा हो; वेश्याओं का संचार हो; व्यभिचारियों का संकेत स्थान हो; आचरणभ्रष्ट भेषधारियों का स्थान हो; जहाँ रस कर्म-रसायन के कर्म होते हों; मारण-उच्चाटन विद्या के साधक हों; जहाँ हिंसादि पापकर्म के उपदेशक काम-शास्त्र-युद्धशास्त्र कपटी-धूर्तों के बनाये खोटी कथा के शास्त्रों की प्ररूपणा करते हों ; जहाँ जुआ खेलनेवाले मद्यपान करनेवाले हों; व्यभिचारी भांड डोंम चारण भाटों से युक्त हों; जहाँ चाण्डाल, धीवर, शिकारी, कषायी आदि दुष्टों का संचार हो; दुष्ट तपस्वियों, स्त्रियों का परिचार हो; नपुंसकों का समागम हो; जहाँ दीन, याचक, रोगी, विकलांग, अंधे, लूले, बहरे, पीड़ा के शब्द करनेवाले जहाँ हों; जहाँ शिकार करनेवाले हिंसक जीव, कलह काम के धारक पशु-मनुष्य आदि रहते हों; जहाँ जीवों के बिल, बांबी, कण्टक, तृण, विषम, पाषाण, ठीकरे, हाड़, मांस, रुधिर, मल, मूत्र, पंचेन्द्रिय जीवों के कलेवर, कर्दम आदि से दूषित स्थान हो; जहाँ दुर्गन्ध आती हो; कुत्ता, बिल्ली, स्यार, कागला, घूघू इत्यादि दुष्ट जीव हों; तथा शुभ परिणामों को बिगाड़नेवाले, ध्यान को नष्ट करनेवाले स्थान दूर से ही त्यागने योग्य हैं, क्योंकि खोटे स्थान के योग से अवश्य ही परिणाम बिगड़ते हैं । **अतः जो शुभ ध्यान के इच्छुक हों वे खोटे स्थानों में स्वप्न में भी निवास नहीं करें** ।

धर्मध्यान के लिये सुन्दर, मन को प्रिय, शीत, उष्ण, आताप, वर्षा, अतिपवन की बाधा रहित, डांस मच्छर अन्य विकलत्रय जीवों की बाधा रहित, शुद्ध भूमि, शिलातल, काष्ठफल हो उनके ऊपर बैठकर, शून्य गृह, पुरातन बाग, वन के जिनमंदिर, घर में निराकुल एकांत स्थान बाधा रहित हो, रागद्वेष को उत्पन्न नहीं करता हो, कोलाहल रहित हो, नृत्य, गीत, वादित्रादि रहित हो, कलह विसंवादादि रहित हो, हिंसा रहित स्थान हो वहाँ पर धर्मध्यान के इच्छुक होकर निश्चल बैठना चाहिये । **धर्मध्यान में स्थान की शुद्धता, आसन की दृढ़ता प्रधान कारण है** । जिसका आसन दो प्रहर तक भी दृढ़

नहीं रहता उसकी सेवा-कृषि-वाणिज्य आदि ही बिगड़ जायगी, तब धर्मध्यान आसन की दृढ़ता के बिना कैसे बनेगा ?

तीन प्रकार के उत्तम संहनन के धारकों से ही ध्यान में दृढ़ता होती है। जिनका वज्रमय संहनन है, महान बल-पराक्रम के धारक हैं, देव-मनुष्यों के घोर उपद्रव से-उपसर्ग से चलायमान नहीं होते हैं, जिनका आसन तथा मन दृढ़ होता है वे तो जैसा भी स्थान व बैठने का आसन हो उस पर से ही ध्यान कर लेते हैं। जो हीन संहनन के धारक हैं, उनको तो स्थान की शुद्धता व आसन की शुद्धता अवश्य देखकर धर्म ध्यान में प्रवर्तन करना श्रेष्ठ है। जिनका चित्त संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो गया हो, चित्त में विक्षिप्तता नहीं हो, संशय रहित आत्मज्ञानी अध्यात्म रस में भीगे निश्चल हों उनको स्थान का व आसन का भी नियम नहीं है। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित हैं, जितेन्द्रिय हैं, वे अनेक अवस्थाओं से ध्यान की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

धर्मध्यानी इस प्रकार का चिन्वतन करता है – अहो ! बड़ा अनर्थ है जो मैं अनन्तगुणों का धारक होकर के भी संसाररूप वन में अनादिकाल के कर्मरूपी बैरी से पूर्णरूप से ठगा गया हूँ। अहो ! मैंने अज्ञान भाव से कर्म के उदय से हुए राग-द्वेष-मोह को अपना स्वरूप जानकर घोर दुःखरूप संसार में परिभ्रमण किया है। अब मेरा किसी कर्म के उपशम से, परम उपकारी जिनेन्द्र के परमागम के उपदेश की प्राप्ति होने से रागरूप ज्वर नष्ट हो गया है, तथा **मोह निद्रा के दूर होने से स्वभाव और प्रभाव का ज्ञान प्राप्त हुआ है।** अब इसकाल में शुद्ध ध्यानरूप तलवार से कर्मों का नाश कर लूँ तो स्वाधीनता को प्राप्त करके फिर कभी दुःखों का पात्र नहीं होऊँगा। यदि मैं अज्ञानरूप अन्धकार को आत्मज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश के द्वारा अब भी दूर नहीं करूँगा तो अन्य किस पर्याय में दूर करूँगा ?

समस्त जगत को देखने का एक अद्वितीय नेत्र मेरा आत्मा है। उसे अभी अविद्यारूप पिशाच से प्रेरित विषय-कषाय ढांके हुए हैं। ये इन्द्रिय विषय और कषाय मुझे-अहित के ज्ञान से रहित किये हुए हैं। मैं इन ठगों के वशीभूत होकर अपना हित-अहित भूल गया हूँ। अहो ! ये प्राप्त होते समय तो रमणीक लगते हैं, किन्तु अंत में नीरस लगते हैं - ऐसे पाँचों इन्द्रियों के विषयों से परम ज्योति स्वरूप जगत में महान परमात्म स्वरूप अपना आत्मा ही ठगाया गया है। मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञान रूप नेत्रवाले हैं। परमात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये मैं अपने स्वरूप को जानने की इच्छा करता हूँ। परमात्मा के तो आत्म गुण प्रकट हैं, किन्तु मेरे गुण कर्मों से ढक रहे हैं। **मुझमें और परमात्मा में गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है, शक्ति-व्यक्ति का ही भेद है।** ये कर्मजनित दुःख हैं वे जब तक मैं ज्ञान समुद्र में डूबा नहीं हूँ तभी तक मुझे दुःखी करेंगे।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव की कर्म के उदयजनित पर्याय, मेरा स्वरूप नहीं है। **मैं सिद्ध समान, निर्विकार, स्वाधीन, सुखस्वरूप हूँ; मैं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख स्वरूप हूँ;** क्या अब मोहरूप विष के वृक्ष को नहीं उखाड़ूँ ? अब मैं अपनी सामर्थ्य को जानकर, अपने

स्वरूप में अचल होकर, समस्त इच्छा रहित होकर, मोहरूप विष के वृक्ष को उखाड़ूँगा । अब मुझे अपना स्वरूप ही निश्चय करना है जिससे अनादि से मुझमें फंसी हुई जो मोह की पाशी (बंधन) है उसे तोड़ने का उपाय करता हूँ ।

जो अपने स्वरूप को ही नहीं जानता है, वह परमात्मा के स्वरूप को कैसे जानेगा ? इसलिये ज्ञानियों को प्रथम अपने स्वरूप का ही निश्चय (ज्ञान) करना योग्य है । जो अपने स्वरूप को ही नहीं जानेगा उसकी अपने स्वरूप में स्थिति कैसे होगी ? अनादि से पुद्गल से मिलकर एक हो रहे आत्मा को भिन्न कैसे करूँगा ? **देह से आत्मा का भेदविज्ञान हुये बिना आत्मा की प्राप्ति कैसे होगी ?** आत्मा की प्राप्ति हुए बिना अनन्त ज्ञानादि आत्मगुणों का ज्ञान न हुआ है, न होता है, तब आत्म कल्याण की क्या कथन कहना ? इसलिये मोक्ष के अभिलाषियों को समस्त पुद्गल की पर्यायों (शरीर) से भिन्न एक आत्म स्वरूप का ही निश्चय करना श्रेष्ठ है ।

आत्मा तीन प्रकार का होता है - बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा ।

बहिरात्मा का स्वरूप : जिसकी बाह्य शरीरादि पुद्गल की पर्यायों में आत्मबुद्धि है वह बहिरात्मा है । जिसकी चेतना मोहनिद्रा से अस्त हो गई है, पर्याय ही को अपना स्वरूप जानता है, निरन्तर इन्द्रियों द्वारा ही प्रवर्तन करता है, अपने स्वरूप की सच्ची पहिचान जिसे नहीं है, देह को ही आत्मा मानता है, देव पर्याय में अपने लिये देव, नारक पर्याय मैं अपने लिये नारकी, तिर्यंच पर्याय में अपने लिये तिर्यंच, मनुष्य पर्याय में अपने लिये मनुष्य जानकर पर्याय के व्यवहार में तन्मय हो रहा है ।

पर्याय तो कर्मकृत पुद्गलमय प्रत्यक्ष ज्ञानरूप आत्मा से भिन्न ही दिखाई देती है, तो भी कर्मजनित पर्याय में अपनत्व मानकर पर्याय में तन्मय हो रहा है । मैं गोरा हूँ, मैं सांवला हूँ, मैं अन्य वर्ण हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रंक हूँ, मैं स्वामी हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं हिंसक हूँ, मैं रक्षक हूँ, मैं धनाढ्य हूँ, मैं दातार हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं मुनि हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं दीन हूँ, मैं अनाथ हूँ, मैं समर्थ हूँ, मैं असमर्थ हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं अकर्ता हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ इत्यादि **कर्म के उदयजनित पर पुद्गलों की विनाशीक पर्यायों में जिसकी आत्मबुद्धि होती है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है ।**

जो यह शरीर में आत्मबुद्धि है वह यहीं पर शरीर के जो स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु इत्यादि संबंधी हैं उनमें रागद्वेष मोह क्लेशादि उत्पन्न कराकर, आर्त-रौद्र परिणामों से मरण कराकर, संसार में अनन्तकाल तक जन्म-मरण कराती है । पुद्गल की पर्याय में जो आत्मबुद्धि है वह पुद्गलमय जड़रूप एकेन्द्रियों में अनन्तकाल तक भ्रमण कराती है । इसलिये **अब बहिरात्मबुद्धि को छोड़कर अन्तरात्मा का अवलंबन लेकर परमात्मपना पाने का यत्न करना चाहिये ।**

अन्तरात्मा का स्वरूप : इस जगत में जो-जो रूप देखने में आते हैं वे सभी अपने आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं, पर द्रव्य हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं । मैं ज्ञान स्वरूप हूँ, इन्द्रियों के द्वारा जानने

में नहीं आता हूँ, अपने अनुभव से साक्षात् प्रत्यक्ष हूँ, अब किसने वचनालाप करूँ ? मैं अन्य लोगों के द्वारा समझाने के योग्य हूँ, अन्य जनों को मैं संबोधन करूँ ऐसा विकल्प भी भ्रम है, क्योंकि अपने और पर के आत्मा को जाने बिना किस को समझाऊँ और कौन समझे ? **मैं तो समस्त विकल्प रहित ज्ञाता हूँ जो अपने स्वरूप को ही आपरूप जानता है, अपने से भिन्न अन्य को आत्मारूप नहीं जानता है, ऐसा निर्विकल्प विज्ञानमय केवल स्वसंवेदन गोचर हूँ ।**

अन्तरात्मा विचार करता है – जैसे सांकल में सर्पबुद्धि हो जाय तब भयभीत होकर मरण आदि के भय से भागना, गिरना इत्यादि क्रिया से भी भ्रष्ट हो जाता है (भाग नहीं पाता है), उसी प्रकार पूर्व काल में मैंने शरीरादि में आत्मबुद्धि करके शरीरादि के नाश में अपना नाश जानकर बहुत विपरीत क्रियाओं में प्रवर्तन किया है; जैसे सांकल में सर्प का भ्रम नष्ट हो जाने पर सांकल को सांकल जा ता है तब भ्रमरूप क्रिया का अभाव हो जाता है, उसी प्रकार मेरा शरीर में आत्मा का भ्रम (आत्मबुद्धि) नष्ट हो जाने पर अब आचरण में भी भ्रम का अभाव हो गया है । जिसका ज्ञान किये बिना मैं सोते हुये के समान था, उसका ज्ञान कर लेने पर मैं जागृत हूँ, ऐसा चैतन्यमय मैं हूँ ।

इस ज्ञान ज्योतिमय अपने स्वरूप को देखने से मेरा राग–द्वेष नष्ट हो गया है, अतः अब मेरा कोई बैरी नहीं है, कोई प्रिय नहीं है । बैरी–मित्र तो ज्ञानी में रागद्वेष विकार से दिखाई देते हैं । जो मेरे ज्ञायक आत्म स्वरूप को नहीं जानता है, वह मेरा बैरी या मित्र नहीं हो सकता है, तथा जिसने मेरे स्वरूप को साक्षात् देख लिया है वह भी मेरा बैरी या मित्र नहीं हो सकता है । अब मैं अपने स्वरूप का ज्ञाता हूँ, मुझे पिछला अपना सभी आचरण स्वप्नवत् इन्द्रजाल के समान दिखाई देता है ।

अहो ! ज्ञानी पुरुषों के अलौकिक वृतान्त का कौन वर्णन कर सकता है ? जहाँ पर अज्ञानी अपने प्रवर्तन द्वारा कर्म का बंध कर लेता है, वहीं पर ज्ञानी अपने प्रवर्तन द्वारा कर्मबंधन से छूट जाता है । जगत के पदार्थ तो सभी जैसे हैं वैसे ही रहते हैं, दूसरी प्रकार के नहीं हो जाते हैं; परन्तु अज्ञानी अपने विपरीत संकल्पों द्वारा रागी-द्वेषी-मोही होकर घोर बंध को प्राप्त होता है । ज्ञानी पदार्थों का सत्य स्वरूप जानकर परम सौम्य वीतरागी होकर प्रवर्तता हुआ निर्जरा करता है ।

मैं पूर्वकाल में दुःखों से व्याप्त संसार वन में चिरकाल से दुःखी ही हुआ हूँ, वह केवल अपने और पर के भेदविज्ञान के बिना ही हुआ हूँ । समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले भेदविज्ञान रूप दीपक के प्रज्वलित होते हुए भी यह मूर्खलोक संसार रूप कीचड़ में क्यों डूब रहा है ? **यह अपना स्वरूप अपने भीतर ही अपने द्वारा अपने लिये प्रकट अनुभव में आ रहा है** । इसे छोड़कर यह अन्य में अपने को जानने का व्यर्थ खेद करता है ।

अज्ञानी के जो-जो **पर वस्तु के प्रति राग है वह राग समस्त आपदा का कारण है,** जो आनन्द का स्थान है अज्ञानी उससे भय करता है, अज्ञानभाव का कोई ऐसा ही प्रभाव है । बंध का कारण तो पदार्थ के विषय में ज्ञान में भ्रम है । भ्रम रहित भाव मोक्ष का कारण है । जितना बंध है वह

पर के संबंध से है, तथा **पर द्रव्य से भेद का अभ्यास करने से मोक्ष है** । जो इन्द्रियों को विषयों से रोककर क्षणमात्र भी अपने आत्मा में ठहरता है वह परमेष्ठी के स्वरूप का स्मरण करता है ।

जो सिद्धात्मा है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो परमेश्वर है । इसलिये मेरे स्वरूप से अन्य मुझे उपासना करने योग्य दूसरा नहीं है, तथा मैं किसी अन्य के द्वारा उपासना करने योग्य नहीं हूँ । जो भ्रम रहित होकर देह से भिन्न आत्मा को नहीं जानता है, वह तीव्र तप करता हुआ भी कर्म के बंधन से नहीं छूटता है । जो भेदविज्ञानरूप अमृत से आनंदित है वह बहुत तप करता हुआ भी शरीर से उत्पन्न क्लेश से खेद को प्राप्त नहीं होता है । जिसका चित्त रागद्वेष आदि मल से रहित निर्मल है वही अपने स्वरूप को सम्यक्रूप से जानता है, अन्य किसी हेतु से नहीं जान सकता है।

अपने चित्त को विकल्प रहित करना ही परम तत्त्व है, तथा अनेक विकल्पों से उपद्रवित करना ही अनर्थ है । अत: सम्यक् तत्त्व ही सिद्धि के लिये चित्त को विकल्प रहित करो । जो अज्ञान से उपद्रवित चित्त है वह अपने स्वरूप से छूटा हुआ है, जिसके चित्त में भेद-विज्ञान बसा हुआ है वह परमात्मतत्त्व को साक्षात् देखता है । यदि उत्तम पुरुषों का मन मोहकर्म के वश से कभी रागादि से तिरस्कृत हो जाये तो उन्हें अपने चित्त को आत्मतत्त्व के चिन्तवन में लगाकर रागादि का तिरस्कार कर देना चाहिये ।

अज्ञानी आत्मा जिस शरीर में रागी हो रहा है, उस शरीर से अपनी बुद्धि को बल पूर्वक वापिस लौटाकर चिदानन्दमय निज स्वरूप में युक्त कर देने से शरीर से प्रीति छूट जाती है । **अपने आत्मज्ञान के भ्रम से उत्पन्न दु:ख, आत्मा का ज्ञान करने से ही नष्ट होता है** । आत्मज्ञान रहित जीव का संसार परिभ्रमण बहुत तप से भी छेदा नहीं जा सकता है ।

बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा में अन्तर : बहिरात्मा अपने लिये रूप, आयु, बल, धनादि संपदा चाहता है; अन्तरात्मा आयु, बल, धनादि से अपने को छुड़ाना चाहता है ।

अज्ञानी धन, शरीरादि पुद्गल में आत्मबुद्धि करके अपने को बांधता है, अन्तरात्मा अपने स्वरूप में आत्मबुद्धि करके बंधन से छूट जाता है ।

अज्ञानी तीन लिंग - स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप शरीर को आत्मा जानता है; सम्यग्ज्ञानी अपने को तीन लिंग के संग से रहित जानता है ।

बहुत काल तक अभ्यास करने पर तथा अच्छी तरह से निर्णय करने पर भी भेद-विज्ञान अनादिकाल के विभ्रम से शीघ्र ही छूट जाता है; यह रूप जो मुझे दिखाई देता है वह अचेतन है, किन्तु जो चेतन है वह मुझे दिखाई नहीं देता है । अत: अचेतन पदार्थों में राग भाव करना व्यर्थ है । **मुझे तो स्वानुभव प्रत्यक्ष आत्मा ही का आश्रय करना है ।**

अज्ञानी बाह्य पदार्थों में ही त्याग ग्रहण करता है, ज्ञानी अंतरंग के रागादि परभावों को त्यागकर आत्मभाव को ग्रहण करता है ।

ज्ञानी वचन से तथा काय से भिन्न करके, आत्मा का अभ्यास मन के द्वारा करता है । अन्य विषय-भोगों के कार्य कोई वचन से करता है, कोई कार्य काय से करता है, किन्तु सांसारिक कार्यों में मन नहीं लगाता है ।

अज्ञानी का तो विश्वास का और आनन्द का स्थान यह जगत है, ज्ञानी को इस जगत में कहाँ विश्वास, कहाँ आनन्द है ? उसे तो अपने स्वभाव में ही आनन्द तथा विश्वास है ।

ज्ञानी आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्य को अपने हृदय में स्थान नहीं देता है । लौकिक कार्यों के वश होकर जो कुछ करता है सो अनादररूप हुआ वचन से तथा काय से करता है, मन नहीं लगाता है । यह इन्द्रिय विषयों का जो रूप है, वह मेरे रूप से विलक्षण (भिन्न जाति का) है । मेरा रूप तो आनंद से परिपूर्ण ज्ञान ज्योतिमय है ।

ज्ञानी को तो जिससे भ्रान्ति दूर होकर अपने आत्मरूप में अपनी स्थिति हो जाय वही जानने योग्य है, वही कहने योग्य है, वही सुनने योग्य है, वही चिन्तवन करने योग्य है ।

इन इन्द्रियों के विषयों में इस आत्मा का हित किसी प्रकार से भी नहीं है, फिर भी बहिरात्मा अज्ञानी इन विषयों में ही प्रीति करता है । **जो कहे हुये आत्मतत्त्व को नहीं कहे के समान अंगीकार करता है, उस अज्ञानी के प्रति कहने का उद्यम व्यर्थ है ।**

अज्ञानी को आत्मा का प्रकाश (ज्ञान) नहीं है इसलिये पर द्रव्यों में ही संतुष्ट हो रहा है, ज्ञानी बाहर की वस्तुओं में भ्रमरहित होकर अपने स्वरूप में ही संतुष्ट है ।

जब तक मन-वचन-काय को अपना स्वरूप मानता है तब तक संसार परिभ्रमण ही है । देहादि से भेदविज्ञान होने पर संसार का अभाव है ।

वस्त्र जीर्ण हो या दृढ़ हो, लाल हो या श्वेत हो, शरीर जीर्ण-लालादि रूप नहीं हो जाता है; उसी प्रकार शरीर जीर्णादि होने पर आत्मा जीर्णादि रूप नहीं हो जाता है ।

अज्ञानी प्रत्यक्ष इस शरीर को बिछुड़ते-मिलते परमाणुओं की समूहरूप रचना देखता है तो भी इसी को आत्मा जानता है, अनादि का ऐसा ही भ्रम है । ये दृढ़-स्थूल, स्थिर-अस्थिर, लघु-दीर्घ, शीर्ण-जीर्ण, हलका-भारी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम, ठंडा-गर्म आदि पुद्‌गल के धर्म (गुण) हैं । इन पुद्‌गल के धर्मों से आत्मा का कोई संबंध नहीं है, आत्मा तो केवल ज्ञान स्वरूप है ।

यहाँ संसार में मनुष्यों का संसर्ग होता है तो वचनों की प्रवृत्ति होती है, वचन प्रवृत्ति होती है तो मन चलायमान होता है, मन चलायमान होता है तो भ्रम होता है - ये क्रमश: उत्तरोत्तर कारण है, अत: ज्ञानीजन लोगों का संसर्ग ही छोड़ देते हैं ।

अज्ञानी बहिरात्मा अपना निवास नगर में, ग्राम में, पर्वत में, वनादि में जानता है; किन्तु ज्ञानी अन्तरात्मा तो अपना निवास अपने अन्तर में ही भ्रम रहित मानता है ।




शरीर को आत्मा जानना वह देह धारण करने की परिपाटी का कारण है, तथा अपने स्वरूप को आत्मा जानना वह अन्य शरीर धारण करने से छूटने का कारण है । यह आत्मा स्वयं ही अपना मोक्ष करता है, तथा स्वयं ही विपरीत चलकर अपना संसार बढ़ाता है । अतः अपना गुरु भी आप स्वयं ही है तथा बैरी भी आप स्वयं ही है, अन्य तो बाह्य निमित्त मात्र हैं ।

अन्तरात्मा आत्मा को शरीर से भिन्न जानता है, शरीर को आत्मा से भिन्न जानता है, आत्मा से समस्त पर द्रव्यों को भिन्न जानता है । इस शरीर को मलिन वस्त्र के समान निःशंक त्याग देता है । शरीर से भिन्न आत्मा को जानता है, श्रवण करता है, मुख से बोलता है तो भी जब तक भेद-विज्ञान के अभ्यास से आत्मा में लीन नहीं होता है, तब तक वह शरीर की ममता से नहीं छूटता है। अपने आत्मा को शरीर से भिन्न इस प्रकार भावो जिससे पुनः शरीर का साथ स्वप्न में भी नहीं हो, स्वप्न में भी देह से भिन्न ही आत्मा का अनुभव हो ।

मनुष्यों में जो व्रत का तथा अव्रत का व्यवहार है वह शुभ-अशुभ बंध का कारण है । जो मोक्ष है वह बंध के अभावरूप है । इसलिये जो व्रतादि क्रियायें हैं वे भी पूर्व अवस्था में हैं। प्रथम असंयमभाव को छोड़कर संयमभाव ग्रहण करना; जब शुद्धात्मभाव परम वीतरागरूप में अवस्थित हो जायेगा तब संयमभाव भी कहाँ रहेगा ?

ये जाति तथा मुनि-श्रावक के लिंग (भेष) – ये दोनों शरीर के आश्रय से वर्तते हैं, तथा शरीरात्मक ही संसार है, अतः ज्ञानी जीव जाति और लिंग में भी अपनापन त्याग देते हैं। जिसकी देह में आत्मबुद्धि है वह पुरुष जागता हुआ और पढ़ता हुआ भी संसार से नहीं छूटता है। जिसका अपने आत्मा में अपनापन का निश्चय है वह शयन करता हुआ और असावधान रहता हुआ भी संसार से छूट जाता है ।

ज्ञानी अपने सिद्ध समान शुद्ध स्वरूप की आराधना करके सिद्धपने को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे वाती दीपक से युक्त होकर स्वयं दीपक हो जाती है वैसे ही **यह आत्मा भी अपने आत्मा की आराधना करके परमात्मा हो जाता है ।** जैसे वृक्ष आप ही घिसकर अग्नि हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी परमात्मभाव से जुड़कर स्वयं सिद्ध बन जाता है ।

जैसे किसी ने स्वप्न में अपना नाश देखा, तो जागने पर उसका नाश तो नहीं हुआ, उसी प्रकार जागते हुए भी जो भ्रम से अपना नाश मानता है उसका वास्तव में तो नाश नहीं होता है, किन्तु जो पर्याय उत्पन्न हुई है, वह नष्ट हुये बिना नहीं रहती है ।

आत्म स्वरूप का अनुभव किये बिना, शरीर को ही आत्मारूप अनुभव करनेवाला अनेक शास्त्र पढ़ता हुआ भी संसार से नहीं छूटेगा; किन्तु अपने स्वरूप में अपना अनुभव करनेवाला शास्त्र अभ्यास रहित भी संसार से छूट जायगा ।

हे ज्ञानी ! यह जो सुख अवस्था में हुआ ज्ञान है, वह दुःख अवस्था आने पर छूट जायेगा। इसलिये दुःख अवस्था में, रोग परीषहादि अवस्था में भी आत्मज्ञान का दृढ़ अभ्यास करो । इस प्रकार




चिंतवन के प्रभाव से बाह्य शरीरादि में आत्मबुद्धि रूप जो बहिरात्मबुद्धि है उसे छोड़कर **अपने अंतर के आत्मरूप में आपरूप अंतरात्मा होकर परमात्मारूप होने का यत्न करो ।**

परमात्मा का स्वरूप : परमात्मा के दो भेद हैं - सकल परमात्मा और निकल परमात्मा । जो घातिया कर्मों का नाश करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुखरूप स्वाधीन, अठारह दोषों से रहित, इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र द्वारा वंदनीय, अनेक अतिशयों सहित, सभी जीवों के हितकारक, दिव्यध्वनि सहित, देवाधिदेव, परम औदारिक देह में विराजमान अरहंतदेव हैं, वे सकल परमात्मा हैं। कल अर्थात् शरीर जो देह सहित आयु के अंत तक परमोपदेश देनेवाले अरहंतदेव हैं, वे सकल परमात्मा हैं ।

जो आठकर्म रहित होकर सिद्ध परमेष्ठी हो गये हैं, उनका कल अर्थात् शरीर नष्ट हो गया है इसलिये सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं ।

यह **परमात्मपद** इस मनुष्य पर्याय में किसी रत्नत्रय की आराधना करनेवाले को ही प्राप्त होता है । **इसका बीज बहिरात्मपना छोड़कर अंतरात्मपने में लीन होना है** । बहिरात्मा के मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक अंतरात्मा हैं । देह सहित तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में जो हैं उन्हें परमात्मा जानना; देह रहित गुणस्थान रहित जो सिद्ध भगवान हैं वे भी परमात्मा हैं । **गुणस्थान तो मोह और योग की अपेक्षा से होता है** । भगवान सिद्धों के मोहकर्म भी नहीं है तथा मन-वचन-काय के योगों का भी अभाव हो गया है, अतः गुणस्थान संज्ञा रहित हैं।

धर्मध्यान का और भी वर्णन करते हैं : यह धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि के ही होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होता है, ऐसा नियम है । चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ करके सप्तम गुणस्थान तक धर्मध्यान होता है । परमागम में धर्मध्यान चार प्रकार का कहा है - आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय ।

आज्ञा विचय धर्मध्यान (१) : आज्ञा विचय धर्मध्यान का संक्षेप में स्वरूप कहते हैं । भगवान सर्वज्ञ वीतराग के कहे आगम की प्रमाणता से पदार्थों का निश्चय करना वह आज्ञा धर्मध्यान है । जहाँ उपदेश दाता का अभाव हो, कर्म के उदय से अपनी बुद्धि मंद हो, पदार्थों से सूक्ष्मपना हो, हेतु दृष्टांत का अभाव हो वहाँ सर्वज्ञ द्वारा कहे आगम को प्रमाण मानकर इस प्रकार विचार करना चाहिये-यह ही तत्त्व है, इस प्रकार ही यह तत्त्व है, और नहीं, अन्य प्रकार नहीं, सर्वज्ञ वीतराग जिन अन्यथा कहनेवाले नहीं हैं । ऐसे गहन पदार्थों के श्रद्धान में अर्थ का निश्चय करना वह आज्ञा विचय है ।

सम्यग्दर्शन से परिणामों की विशुद्धता का धारक, अपने और परमत के पदार्थों के निर्णय को जाननेवाला ऐसा सम्यग्ज्ञानी सर्वज्ञ द्वारा कथित सूक्ष्म पदार्थों को जानकर, पाँच अस्तिकाय आदि पदार्थों का निश्चय करके अन्य भव्य जीवों को सिखलाता है; कथन के व्याख्यान के मार्ग में श्रुतज्ञान की सामर्थ्य से जैसे अपने सिद्धान्तों में विरोध नहीं आवे उस प्रकार, तथा अन्य एकान्तियों द्वारा कहे मिथ्या

प्रमाण, हेतु, नय का खण्डन करने में समर्थ ऐसे अनेकान्त को ग्रहण करने में समर्थ होकर, श्रोताओं का पदार्थों का स्वरूप ग्रहण कराने में समर्थ होकर, श्रुत का व्याख्यान करता है। उनके समर्थन के लिये तर्क, नय, प्रमाण को युक्त करने में तत्पर, इस प्रकार चिन्तवन करने में एकाग्रता, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को बतलाने के प्रयोजन से आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

जिन सिद्धान्त में प्रसिद्ध सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार वस्तु स्वरूप का चिन्तवन करना वह आज्ञा विचय है। जगत में जो भी वस्तु है वह अनन्त गुण-अनन्त पर्याय स्वरूप है इसलिये उत्पादन-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है; त्रिकालवर्ती है इसलिये नित्य है। ऐसी वस्तु का कहनेवाला कोई आगम का सूक्ष्म वचन अपनी स्थूल बुद्धि से समझ में नहीं आता हो तथा जो हेतु से बाधा को भी प्राप्त नहीं होता हो वहाँ '**सर्वज्ञ की आज्ञा ऐसी है**', '**सर्वज्ञ वीतराग जिन अन्यथा नहीं कहते**' इस प्रकार प्रमाणरूप चिन्तवन वह आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

जिनेन्द्र के परमागम का पठन, श्रवण, चिन्तवन, अनुभवन वह समस्त आज्ञा विचय है। जो श्रुत सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहा हुआ है, जिसको सुनने से रागी, द्वेषी, शस्त्रधारी देवों की उपासना से पराङ्मुखता हो जाये, परिग्रहधारी विषय-कषायों के धारी अनेक भेषधारियों में गुरुबुद्धि-पूज्यपने की बुद्धि नहीं उत्पन्न नहीं हो, हिंसा की प्रवृत्ति कभी धर्म रूप नहीं दिखाई दे, जिसके श्रवण, पठन, चिन्तवन से विषय, कषाय, देह, परिग्रह आदि से पराङ्मुखता उत्पन्न हो जाये, दयाधर्म की वृद्धि हो जाये उस आगम के शब्द व अर्थ का चिन्तवन करना वह आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

कैसा है आगम ? श्री सर्वज्ञ वीतराग का उपदेशित है, रत्नत्रय स्वरूप को पुष्ट करनेवाला है, अनादि निधन है, समस्त जीवों को परम शरण है, अनन्त धर्म के धारक पदार्थों का प्रकाश करनेवाला है, प्रमाण-नय-निक्षेपों द्वारा पदार्थों का स्पष्ट उद्योग करनेवाला है, स्याद्वाद रूप इसका बीज है। इस की शरण नहीं पाकर के ही जीव ने अनादिकाल से चतुर्गति में परिभ्रमण किया है।

सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, षट् द्रव्य, पाँच अस्तिकाय का स्वरूप प्रकाशन करनेवाला है, द्रव्य-गुण-पर्यायों का स्वरूप दिखलाने वाला है; गुणस्थान मार्गणास्थान योनि कुलकोडि द्वारा जीव का प्ररूपण करनेवाला है; आस्रव बंध उदय उदीरणा सत्ता का प्ररूपण करनेवाला है; समस्त लोक अलोक का प्रकाशक है; अनेक शब्दों की रचनारूप अंग, पूर्व, प्रकीर्णक आदि रत्नों से भरा हुआ गम्भीर रत्नाकर के समान आगम है।

एकान्त विद्या के मद से उन्मत्त मिथ्यादृष्टियों का मद नष्ट करनेवाला है, मिथ्यात्वरूप अंधकार को दूर करने को सूर्य है, रागरूप सर्प का विष उतारने के लिये गारुड़ी विद्या है, समस्त अंतरंग पापमल धोने के लिये पवित्र तीर्थ है, समस्त वस्तुओं की परीक्षा करने में समर्थ है, योगीश्वरों का तीसरा नेत्र है, संतापरूप ज्वर का घातक है, इन्द्र-अहमिन्द्र-गणधर मुनीन्द्रों द्वारा सेवित, ज्ञानी को परम अक्षय निधान, आशा-वांछा-भय का नाश करनेवाला आगम है।




आत्मीक सुखरूप अमृत को प्रकट करने के लिये चंद्रमा का उदय है, अक्षय अविनाशी जीवों का निज धन है, मुक्ति की ओर प्रयाण करनेवाले जीवों का प्रधान मित्र है, गमन का ढोल है, विनय-न्याय-इंद्रियदमन-शील-संयम-सन्तोषादि गुणों को उत्पन्न करनेवाला है। ऐसे परमागम का चिन्तवन ध्यान अनुभव वह आज्ञा विचय धर्मध्यान है। इस प्रकार आज्ञा विचय धर्मध्यान का वर्णन किया ।१।

अपाय विचय धर्मध्यान (२) : अपाय विचय धर्मध्यान का स्वरूप इस प्रकार जानना। मिथ्यात्व के संयोग से सन्मार्ग का अपाय (नाश) का ज्ञान करना, सन्मार्ग अर्थात् **मोक्षमार्ग का अभाव करने वाला मिथ्यात्व ही है,** ऐसा चिन्तवन करना वह अपाय विचय है।

मिथ्यादर्शन से जिनके ज्ञान नेत्र ढंक रहे हैं, उनके आचार-विनयादि सभी कार्य संसार के बढ़ाने के लिये हैं क्योंकि मिथ्यादृष्टि के अंधे के समान विपरीत ज्ञान की बहुलता है। जैसे कोई जन्म का अंधा बलवान पुरुष भी भले मार्ग से दूर छूटा हुआ, बिना सत्य मार्ग का उपदेश देने वाले द्वारा चलाये, नीचे-ऊँचे पर्वत पर, विषम पाषाण, कठोर ठूँठ, झाड़, खाई, नाले, काँटों से भरी, विषम जमीन पर पड़ा हुआ, हलन-चलन क्रिया करता हुआ भी उपदेश दाता के बिना मार्ग में गमन करने में समर्थ नहीं होता है; उसी प्रकार सर्वज्ञ के कहे मार्ग से पराङ्मुख जीव मोक्ष का इच्छुक होने पर भी सन्मार्ग के ज्ञान बिना संसार में बहुत दूर ही परिभ्रमण करता है। इस प्रकार सन्मार्ग का प्रकाश का अभाव हुआ है, ऐसा चिन्तवन करना अपाय विचय धर्मध्यान है। कुमार्ग के प्रवर्तन का अभाव व नाश का चिन्तवन करना भी अपाय विचय है।

अहो ! विपरीत ज्ञान-श्रद्धान के धारक मिथ्यादृष्टि कुवादियों के द्वारा उपदेशित कुमार्ग से ये प्राणी कैसे बचें ? ये प्राणी कुदेव, कुधर्म, कुगुरुओं के सेवन से कैसे दूर हों ? ऐसा विचार करना वह अपाय विचय है।

पाप के कारणों में काया के प्रवर्तन का अभाव, वचन के प्रवर्तन का अभाव, मन में पाप की भावना का अभाव का चिन्तवन करना वह अपाय विचय धर्मध्यान है। जिसमें उपाय सहित कर्मों के नाश का चिन्तवन किया जाता है उसे ज्ञानीजन अपाय विचय कहते हैं।

श्री सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा जो रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग है उसे नहीं प्राप्त करके, प्राणी संसाररूप वन में चिरकाल से नष्ट हो रहे हैं, जिनेश्वर का उपदेशरूप जहाज प्राप्त नहीं करके बेचारे प्राणी संसार समुद्र में निरन्तर डावक-डूबा होकर दुःखों को भोग रहे हैं। महान कष्टरूप अग्नि से जलते हुए संसाररूप वन में भ्रमण करते हुये भी मैंने सम्यग्ज्ञानरूप समुद्र का तट प्राप्त कर लिया है। यदि अब सम्यग्ज्ञान के शिखर को प्राप्त होकर उससे दूर होऊँगा तो संसाररूप अंधकूप में गिरने से मुझे कौन रोक सकेगा ?

अनादि के भ्रम से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषायादि कर्मबन्ध के कारण मेरे दुर्निवार हैं। यद्यपि मैं तो शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय निर्मल नेत्र का धारक सिद्ध स्वरूप हूँ, तो भी उन कर्मों के द्वारा खंडित किया गया मैं चिरकाल से संसाररूप कीचड़ में खेदखिन्न ही होता




आया हूँ । एक तरफ तो अनेक प्रकार के कर्मों की सेना है, और एक तरफ मैं अकेला आत्मा हूँ। ऐसे बैरियों के संकट में मुझे सावधान होकर प्रमाद रहित रहना ही उचित है ।

यदि अब प्रमादी होकर रहूँगा तो कर्म मेरे ज्ञानदर्शन स्वरूप का घात करके एकेन्द्रियादिरूप पर्याय में जड़ अचेतन जैसा कर देगा । प्रबल ध्यानरूप अग्नि द्वारा मैं अपने आत्मा को, कर्ममल नष्ट करके पाषाण में से स्वर्ण के समान शुद्ध कब करूँगा ? मुझे प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप मेरा स्वभाव ही है, अन्य सब परभाव तो पर ही हैं, वे स्वयं ही मुझ से भिन्न हैं ।

मेरा स्वरूप क्या है ? मुझे किस कारण से कर्मों का आस्रव होता है? कर्म कैसे बंधते हैं? कर्म कैसे निर्जरेंगे ? मुक्ति क्या है ? मुक्ति का स्वरूप क्या है ? मुक्ति का बाधा रहित निराकुलता लक्षण ऐसा स्वभाव से उत्पन्न सुख मुझे किस उपाय से प्राप्त होगा ?

अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर सकल तीनलोक का ज्ञान हो जाता है । कर्ममल दूर हो जाने पर मेरा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वभाव मुझमें से ही प्रकट होगा । **जितने समय तक मेरा बाह्य पदार्थों के साथ संबंध है उतने समय तक मेरी स्थिरता अपने स्वभाव में स्वप्न में भी होना दुर्घट (कठिन)** है । इसलिये मुझे भेदविज्ञान से बाह्य पदार्थों से भिन्न होने का ही उपाय करना चाहिये । इस प्रकार अपाय विचय नाम के धर्मध्यान के दूसरे भेद का वर्णन किया । २ ।

विपाक विचय धर्मध्यान (३) : अब विपाक विचय धर्मध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं । ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय को अपने आत्मा से भिन्न चिन्तवन करना वह विपाक विचय है। अनादिकाल से नरकादि गतियों में उत्पन्न होकर नारकी, तिर्यंच, देव, मनुष्यादि पर्याय धारण करना, इंद्रियों का पाना, शरीरादि धारण करना, रूप रस गंध स्पर्श आदि पाना, संहनन, बल, पराक्रम, राज्यसंपदा, वैभव, परिवार आदि सभी कर्म के उदय जनित हैं, मेरे स्वरूप से भिन्न हैं । **मेरा स्वरूप ज्ञाता दृष्टा, अविनाशी, अखण्ड है, कर्म की उदयजनित परिणति से भिन्न है** । जितने संयोग हैं वे सब कर्मजनित हैं । अतः कर्म के उदयजनित परिणति से अपने को भिन्न अवलोकन करके कर्म के उदयजनित राग-द्वेष, जीवन-मरण आदि से भी अपने को भिन्न ही अवलोकन करना, वह विपाक विचय धर्मध्यान है ।

पूर्व काल में बांधे हुए कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का संयोग पाकर अनेक प्रकार का रस देते हैं । कर्म की मूल प्रकृति आठ हैं, आठ के ही एक सौ अड़तालीस भेद हैं, तथा एक-एक के असंख्यात लोकमात्र भेद हैं । वे समस्त एकेन्द्रियादि जीवों के भिन्न-भिन्न उदय देखने से ज्ञात हो जाते हैं ।

सामान्य से जीव ज्ञान स्वभावी है, स्वपर को जननेवाला है, असंख्यात प्रदेशी है, कर्मजनित देह प्रमाण है, सुख-दुःख का भोक्ता है; तथापि जीव ने अपने भिन्न-भिन्न परिणामों द्वारा अनेक प्रकार के कर्मों का बंध किया है, उन कर्मों का रस भी उदयकाल में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है । समस्त जीवों के प्रकृतिरूप लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, संयोग-वियोग, आयु, काय,

बुद्धि, बल, पराक्रम, इच्छा इत्यादि एक-एक जीव के कर्म के उदय के अनुसार भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, किसी के अन्य किसी से नहीं मिलते हैं । इसलिये अनेक जीवों के अनेक प्रकार के उदय की जाति देखकर राग-द्वेष के वश नहीं होओ ।

जैसे वन में बिहार करता हुआ पुरुष वन में लाखों-करोड़ों वृक्ष, लता, छोटे, बडे, अनेक प्रकार के देखता है, किस-किस में रागद्वेष करे ? कोई वृक्ष ऊँचा है, कोई नीचा है, कोई बहुत छायादार है, कोई थोड़ा छायादार है, कोई फूल-फल सहित है, कोई निष्फल है, कोई कडुवा है, कोई मीठा है, कोई चिरपरा है, कोई जहर से भरा है, कोई अमृत से भरा है, कोई काँटों सहित है, कोई काँटों रहित है, कोई वक्र है, कोई सरल है, कोई जीर्ण है, कोई नवीन है, कोई सुगन्धवाला है, कोई दुर्गन्धवाला है इत्यादि समस्त रचना पूर्व कर्म के संस्कार से एकेन्द्रिय जीवों के भी दिखाई देती है । कोई को काटते हैं, फाड़ते हैं, कतरते हैं, छीलते हैं, रांधते हैं, छौंकते हैं, जलाते हैं, चबाते हैं, रगड़ते हैं, घसीटते हैं, चींथते हैं, गलाते हैं, सुखाते हैं, पीसते हैं, बांधते हैं, मोड़ते हैं, इत्यादि एकेन्द्रिय वनस्पति में भी कर्म के उदय की अनेक जातियाँ देखकर अपने वा अन्य के पुण्य-पाप के उदय की अनेक तरंगें देखकर साम्यभाव धारण करो, हर्ष विषाद नहीं करो ।

कर्म के उदय की लहर समय-समय में भिन्न-भिन्न है । भगवान सर्वज्ञ वीतराग ने जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस प्रकार होना देखा है, वही प्रमाण है, उसी प्रकार होगा । कर्म के उदय को अपने स्वभाव से भिन्न जानो । अनेक जीव-पुद्गलों की रचना तथा संयोग-वियोग आदि देखकर राग-द्वेष रहित होकर परम साम्यभाव को धारण करो, जिससे पूर्व के बांधे हुए कर्म की निर्जरा हो जाये तथा नवीन बन्ध नहीं हो । इस प्रकार तप के प्रकरण में विपाक विचय नाम के धर्मध्यान का वर्णन किया । ३ ।

ईश्वर कर्तृत्व निषेध

संस्थानविचय धर्मध्यान (४) : अब संस्थानविचय नाम के चौथे धर्मध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं । यह जो सभी तरफ अनन्तानन्त आकाश है वह स्वयं अपने आधार से है । उसके बिलकुल बीच में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल जितने आकाश के क्षेत्र में हैं वह **लोक** है । वह लोक किसी का बनाया हुआ नहीं है, अनादि निधन है ।

यहाँ कोई अन्य वादी कहता है – इस जगत का कर्त्ता कोई **ईश्वर** है, क्योंकि कर्त्ता के किये विना कोई भी सत्रूप वस्तु नहीं होती है ?

उससे पूछते हैं – १. यदि किये बिना कोई भी सत्रूप वस्तु नहीं होती है, तो ईश्वर को किसने किया है ? ईश्वर भी सत् वस्तु है, ईश्वर को करनेवाले के नाम को बताना चाहिये ।

यदि कहोगे – इस ईश्वर का कर्त्ता भी कोई दूसरा है । तो उस दूसरे को किसने किया है? यदि उस दूसरे का कर्त्ता किसी अन्य को कहोगे - तो उस अन्य को किसने किया है ? इसी प्रकार कहते रहने में अनवस्था नाम का दोष आवेगा ।

फिर और पूछते हैं – २. यदि पहले सृष्टि की रचना नहीं थी, तो सृष्टि के बाहर ईश्वर कहाँ था ? तथा किस स्थान में बैठकर ईश्वर ने जगत को बनाया है ? ईश्वर आप जगत बिना निराधार बहुत काल से विद्यमान था, तो आप कहाँ रहता था ? इस जगत को बना कर कहाँ पर स्थापित किया ? इस जगत को किसी के आधार से कहोगे, तो **वह किसके आधार से है ?**

यदि कहोगे – उसका अन्य आधार है । उसका अन्य आधार कहोगे - तो उस अन्य आधार का कौन आधार है ? इस प्रकार भी अनवस्था दोष आ जावेगा ।

यदि यह कहोगे – निराधार में, अनादि निधन में तर्क नहीं चलता है । तो सृष्टि का कर्त्ता कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि सृष्टि भी निराधार, अनादि निधन है । जैनी तो समस्त पदार्थों को ही अनादि निधन कहते हैं । जिनके मत में सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं उनको ही दोष आवेगा।

और पूछते हैं – ३. जगत तो अनेक रूप है, उसे **एकरूप ईश्वर** करने में-बनाने में कैसे समर्थ हो गया ? ईश्वर तो शरीर रहित **अमूर्तिक** है, अमूर्तिक द्वारा शरीरादि मूर्तिक पदार्थ कैसे उत्पन्न किये जा सकते हैं, अमूर्तिक द्वारा मूर्तिक कैसे बनाये जा सकते हैं ? उपकरण एवं सामग्री बिना लोक को किस साधन से बनाया है ? क्योंकि **उपादान कारण के बिना किसी भी वस्तु की रचना बनती नहीं दिखाई पड़ती है** । जैसे मिट्टी के बिना समर्थ कुम्भकार भी घट की रचना करने में समर्थ नहीं होता है ।

यदि यह कहोगे – ईश्वर ने पहले सामग्री बनाई, फिर बाद में जगत को बनाया है । **तो फिर हम पूछते हैं** – ४. उस सामग्री को किसने बनाया ? इस प्रकार भी अनवस्था दोष आ जावेगा।

यदि यह कहोगे – जगत के बनाने योग्य **सामग्री** तो स्वभाव से ही बिना बनाये ही सिद्ध (मौजूद रहती) है । तो लोक को भी सिद्ध मानने का प्रसंग आ जावेगा । जैसे लोक के कर्त्ता को स्वत: सिद्ध मानना उसी तरह लोक को भी **स्वत: सिद्ध** मानने का प्रसंग आवेगा ।

यदि यह कहोगे – ईश्वर समर्थ है । उसने बिना सामग्री के ही इच्छा मात्र से लोक को बना दिया है । तो ऐसा '**इच्छामात्र**' युक्ति से रहित तुम्हारा कथन किसके श्रद्धान करने योग्य होगा ? इच्छामात्र से करने की और भी अनेक कल्पनाएं करो तो तुम्हें कौन रोकता है ? जहाँ 'इच्छामात्र' कहा, वहाँ विचार (विवेक, तर्क, न्याय) किसका, कहाँ रहा ?

हम पूछते हैं –५. ईश्वर **कृतार्थ** है या **अकृतार्थ** है ? कृतकृत्य है या अकृतकृत्य है ? यदि कृतार्थ है-जिसे करने को कुछ भी बाकी कार्य नहीं रहा-तो जगत के रचने की इच्छा उस ईश्वर के कैसे उत्पन्न हुई ?

यदि अकृतार्थ कहोगे – तो जो अकृतार्थ होगा वह समस्त जगत को रचने के लिये कुम्भकार के समान समर्थ नहीं होगा । अकृतार्थ कुम्भकार भी एक घड़े को बनाकर अपने को कृतार्थ मानता है, समस्त जगत की रचना करना तो अकृतार्थ से बनेगी नहीं । उसी प्रकार अगर ईश्वर को अकृतार्थ

मानते हो तो वह एक-एक वस्तु को बनाकर खेदित क्लेशित होता हुआ अनन्त पदार्थों को कैसे बनाकर पूर्ण करेगा ? इसलिये इस प्रकार से भी जगत का कर्त्तापना ईश्वर को सम्भव नहीं है ।

ईश्वर को अमूर्तिक, निष्क्रिय, सर्वव्यापी, निर्विकार कहते हैं – ६. तो ऐसे ईश्वर ने जगत को कैसे और क्यों बनाया है ? **अमूर्तिक** से तो मूर्तिक **व्यापी** समस्त जगत में उत्पन्न होते नहीं हैं ।

जो **निष्क्रिय** अर्थात् (क्रिया करने में असमर्थ) क्रिया रहित हो उससे रचने की क्रिया कैसे बन सकती है ?

जो **व्यापक** होकर समस्त जगत में व्याप रहा हो उससे लोक की रचना कैसे बन सकती है? वह तो अनादि से ही समस्त लोक में व्याप्त हो रहा है । ईश्वर को विक्रिया रहित **निर्विकार** कहते हैं, उसका रचना करने के लिये विकारी हो जाना संभव नहीं है ।

ईश्वर ने सृष्टि बनाई है, सो क्या फल चाहने के लिये बनाई है ? ७. ईश्वर तो कृतार्थ है, कृतकृत्य है । उसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में कुछ करना बाकी नहीं रहा है, तब सृष्टि की रचना करके क्या फल चाहता है ? **प्रयोजन बिना तो मूर्ख भी कोई कार्य नहीं करता है ।**

यहि यह कहोगे – ईश्वर को सृष्टि रचने में उसका कोई प्रयोजन नहीं था, बिना प्रयोजन ही बनाई है । तो यह **अनर्थरूप कार्य** करने का प्रसंग आया ।

यदि कहोगे – ईश्वर की यह क्रीड़ा है । तो वह मोह का बड़ा संतान–क्रम आया । क्रीड़ा तो अज्ञानी मोही बालक करता है, या जो पहले दुःखी हो वह क्रीड़ा करके दिन व्यतीत करता है, अपना दुःख भुलाने के लिये क्रीड़ा करता है ।

यदि ईश्वर ने जगत को बनाया है तो समस्त पदार्थों को उज्ज्वल, सुखकारी, मनोहर, रूपवान ही क्यों नहीं बनाया ? ८. जगत में कितने ही दरिद्री, कितने ही रोगी, कितने ही कुरुप, कितने ही कुबुद्धि, कितने ही नीच जाति के - ऐसे क्यों बनाये हैं ? विष, कांटे, मल, मूत्र, दुर्गन्ध आदि क्यों बनाये हैं ? दुष्ट, म्लेच्छ, भील, सर्प, चाण्डालादि क्यों बनाये हैं ?

जगत में भी देखते हैं – जो बहुत बुद्धिमान, चतुर होता है वह अपने कार्य बहुत सुन्दर ही बनाना चाहता है, अपने किये हुए कार्य को कोई भी बिगाड़ना नहीं चाहता है ।

हम पूछते हैं – ९. ईश्वर ने बुद्धिमान, समर्थन और स्वाधीन होकर ग्लानिरूप, भयानक, दुःखदायक, विड्रूप (भद्दी) रचना क्यों की ?

यदि यह कहोगे – जीव ने जैसे कर्मों का उपार्जन किया उसी प्रकार उनके शरीरादि समस्त सामग्री बना दी । **तो उसके ईश्वरपना कहाँ रहा ?** १०. जैसे जुलाहे को (कोली) महीन सूत दिया तो उसने महीन वस्त्र बुन दिया, मोटा सूत दिया तो मोटा वस्त्र बुन दिया, ईश्वर के ईश्वरपना नहीं रहा ।



और भी पूछते हैं – ११. संसार में प्राणी भले व खोटे कर्म करते हैं, तो वे ईस्वर के अभिप्राय से ईश्वर के कराये करते हैं , या ईश्वर के अभिप्राय बिना अपनी जबरदस्ती से करते हैं ?

यदि कहोगे – ईश्वर की इच्छा से करते हैं । तो वह ईश्वर होकर के अपनी प्रजा से खोटे कृत्य क्यों कराता है ? अपनी संतान को दुराचारी तो कोई नहीं बनाना चाहता है ।

यदि कहोगे – ईश्वर की इच्छा के बिना ही करते हैं ? तो ईश्वर के ईश्वरपना व कर्तापना कहाँ रहा ? जगत के प्राणी स्वयं ही अपने कर्मादि कार्यों के कर्ता हुए ।

यदि यह कहोगे – कार्य तो होता है सो जैसा कर्म किया वैसा ही होता है, परन्तु ईश्वर के निमित्त से होता है । तो ऐसी स्वयंसिद्ध वस्तु (जगत) को बिना कारण ही ईश्वर का किया हुआ व्यर्थ क्यों कहते हो ? असत्य को पुष्ट करना बड़ा अनर्थ का कार्य है ।

और पूछते हैं – १२. ईश्वर समस्त प्राणियों से वात्सल्य रखता है तथा जगत पर अनुग्रह दिखाने के लिये जगत की रचना की है । तो समस्त सृष्टि को सुखमयी उपद्रव रहित बनाना चाहिये थी; दु:खमय, वियोगमय, दारिद्रमय, रंकमय क्यों बनाई? इस प्रकार तो ईश्वरपना नहीं रहा ?

यदि कहोगे – जो ईश्वर के भक्त थे उनको सुखी किया, दुष्टों को दु:खी किया ।

तो पूछते हैं – १३. ईश्वर होकर आपने दुष्ट क्यों बनाये ? सभी अपने भक्त ही बनाना थे। म्लेच्छादि अपने द्रोहियों को क्यों बनाया ?

यदि कहोगे – ईश्वर को पहले ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था, बाद में जो दुष्ट देखे तो उन्हें दण्ड दिया । इससे तो ईश्वर का अज्ञानीपना प्रकट हुआ ? यह सृष्टि किसी अज्ञानी की बनाई हुई ठहरी।

और पूछते हैं – १४. ईश्वर ने जगत को बनाया है, तो जगत पहले से ही विद्यमान था उसे बनाया है या अत्यन्त असत् (पहले कुछ भी नहीं था) को बनाया है? यदि विद्यमान को ही बनाया है तो जो पहले से ही सत्रूप विद्यमान था उसे कोई क्या बनावेगा ? यदि अत्यन्त असत् को बनाया है, तो वह तो आकाश के फूल के बनाने के समान अवस्तु ठहरा ।

ईश्वर को मुक्त कहते हैं ? १५. तो मुक्त तो किसी भी कार्य के करने-कराने में उदासीन रहता है, उसे सृष्टि को रचने की इच्छा कैसे होगी ? करने-कराने की चिन्ता मुक्त के होना संभव नहीं है । यदि ईश्वर मुक्त नहीं संसारी है, तो वह हम सबके समान ही है, उसका किया समस्त जगत कैसे उत्पन्न होगा ? **इसलिये तुम्हारा यह सृष्टि को ईश्वरकृत कहना कुछ भी सार्थक नहीं रहा** । पहले तो जगत को आपने बनाया, पश्चात् आपने ही उसका संहार किया, तो यह उसका महान अधर्म हुआ ?

यदि आप कहोगे – दैत्यादि दुष्ट बहुत इकट्ठे हो जाने पर उनको मारने के लिये प्रलयकाल में संहार करता है ।




तो दैत्यादि दुष्ट पहले बनाये ही क्यों ? १६. यदि ईश्वर को पहले से ज्ञान नहीं था कि ये दुष्ट हो जायेंगे, तो ईश्वर के बड़ा अज्ञानीपना ठहरा जिसने अपने किये का फल पहले से ही नहीं जान पाया ? तो ईश्वर के महादुखितपना भी ठहरा ? जो नई-नई रचना करता रहता है, किन्तु यदि उसमें कहीं भूल हो जाती है तो मारता फिरता हैं, ढूंढ़ता फिरता है, दु:ख का मारा स्वयं छिपता फिरता है, दुष्टों को मारने के लिये हजारों उपाय, सहाय, भेष शस्त्रादि साम्रगी का चिन्तवन करता हुआ महाक्लेश से जन्म पूरा करता है ।

इस प्रकार ईश्वर के तो अज्ञान, राग, द्वेष, मोहादि (मूर्तिक, सक्रिय, अव्यापी, विकारी, निष्प्रयोजन, क्रीड़ा, दुष्टता, संसारी, अधर्मी, दु:खी, भयभीत, अल्पशक्तिवान, अल्पज्ञ, चिंतित, अकर्ता आदि) **अनेक दोष दिखाई देते हैं** । (वह ईश्वर पूर्ण, सुखी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, मुक्त, वीतरागी नहीं सिद्ध होता है ।)

इसलिये मिथ्यादृष्टियों के द्वारा बनाये गये असत्य शास्त्रों से उत्पन्न क्लेश को छोड़कर, वीतराग सर्वज्ञ का कहा अनादिनिधन स्वत: सिद्ध लोक का स्वरूप जानकर श्रद्धान करो । ये छह द्रव्य जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अनादि निधन हैं । असत् को कोई सत् करने में समर्थ नहीं है । **जो सत् वस्तु है उसका कभी नाश नहीं होता है, तथा असत् का कभी उत्पाद नहीं होता है । ये उत्पादन–विनाश तो पर्यायार्थिक नय से कहे जाते हैं ।**

जितने भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं वे द्रव्यपने से कभी उत्पन्न ही नहीं होते हैं, नष्ट भी नहीं होते हैं । समय-समय पूर्वपर्याय का नाश तथा उत्तरपर्याय का उत्पाद हो रहा है । द्रव्य ध्रौव्य है, उत्पन्न नहीं होता, नष्ट नहीं होता । उपजना, विनशना पर्याय का होता है, पर्याय एकरूप रहती नहीं है । द्रव्यों का कभी नाश नहीं होता है । छह द्रव्यों का समुदाय ही लोक है, अन्य वस्तुरूप लोक नहीं है ।

बारह भावना : इस संस्थानविचय धर्मध्यान में बारह भावनायें निरन्तर चिन्तवन करने योग्य हैं । अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म - ये बारह भावनाओं के नाम कहे हैं । भगवान तीर्थंकर भी इनका स्वभाव विचारकर संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हुए हैं । इसलिये ये भावनायें वैराग्य की माता हैं, समस्त जीवों का हित करनेवाली हैं, अनेक दु:खों से व्याप्त संसारी जीवों को ये भावनायें ही भली तथा उत्तम शरणरूप हैं ।

दु:खरूप अग्नि से जलते हुए जीवों को शीतल कमलवन के बीच में निवास के समान है, परमार्थ मार्ग को दिखलानेवाली है, तत्त्व का निर्णय करानेवाली है, सम्यक्त्व को उत्पन्न कराने वाली है, अशुभ ध्यान को नष्ट करनेवाली है । इन बारह भावनाओं के समान इस जीव का अन्य हित नहीं है, द्वादशांग का सार है । अत: बारह भावनाओं का भाव सहित इस संस्थान विचय धर्मध्यान में चिन्तवन करो ।

अनित्य भावना (१) : अनित्यभावना का स्वरूप इस प्रकार विचारना चाहिये । देव, मनुष्य, तिर्यंच ये समस्त ही जल के बुदबुदे के समान, झाग के पुंज के समान विनाशीक हैं, देखते-देखते ही विलयमान होते चले जाते हैं । ये समस्त ऋद्धि, संपदा, परिकर स्वप्न के समान हैं, इस प्रकार विनशते हैं जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तु फिर नहीं दिखाई देती है । इस जगत में धन, यौवन, जीवन, परिवार समस्त क्षण भंगुर हैं । संसारी मिथ्यादृष्टि जीव इनको ही अपना स्वरूप अपना हित जान रहे हैं । अपने स्वरूप की पहिचान होती, तो पर को अपना कैसे मानते ?

समस्त इन्द्रियजनित सुख जो ये दृष्टिगोचर हैं वे इन्द्रधनुष के रंग के समान देखते-देखते विलीन हो जाते हैं, यौवन का जोश संध्याकाल की लाली के समान क्षण-क्षण में नष्ट होता जाता है । **अतः ये मेरा ग्राम, मेरा राज्य, मेरा घर, मेरा धन, मेरा कुटुम्ब – ऐसा विकल्प करना महामोह का प्रभाव है** । जो-जो पदार्थ नेत्रों से दिखाई देते हैं वे सभी विला जायेंगे, इनको देखने-जानने वाली इन्द्रियाँ हैं, वे भी अवश्य ही नष्ट होयेगी । अतः शीघ्र ही आत्मा के हित में उद्यम करो ।

जैसे एक नाव में अनेक देशों के अनेक जाति के मनुष्य एक साथ बैठ जाते हैं, बाद में किनारे पर आकर अनेक देशों को चले जाते हैं; वैसे ही कुलरूप नाव में अनेक गतियों से आये प्राणी एक साथ मिलकर रहने लगे हैं, बाद में आयु पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्म के अनुसार चारों गतियों में चले जाते हैं । जिस देह के संबंध से स्त्री, पुत्र, मित्र, बंधु आदि को अपने मानकर रागी हो रहे हो, वह देह अग्नि में भस्म होगी, माटी में मिलेगी तथा कोई जीव खायेगा तो विष्टा, कृमि कलेवररूप होकर एक-एक परमाणु जमीन आकाश में अनन्त विभागरूप होकर बिखर जायेंगे, फिर कहां मिलेंगे?

इनका संबंध फिर नहीं प्राप्त होगा, ऐसा निश्चय जानकर स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्ब आदि में ममता करके धर्म को बिगाड़ना बड़ा अनर्थ है । जिस पुत्र, स्त्री, भ्राता, मित्र, स्वामी, सेवक आदि के साथ मिलकर रहकर सुख से जीना चाहते हो, वे सभी कुटुम्ब आदि के लोग शरदकाल के बादलों के समान बिखर जायेंगे । यह संबंध जो आज दिखाई देता है वह बना नहीं रहेगा, शीघ्र ही बिखर जायेगा, ऐसा नियम जानो ।

जिस राज्य के लिये, जमीन के लिये; हाट, हवेली, मकान, आजीविका के लिये; हिंसा, असत्य, छल, कपट की प्रवृत्ति करते हो; भोले-भाले लोगों को ठगते हो; बलवान होकर निर्बलों का धन छीन लेते हो; उस सभी परिग्रह का संबंध तुमसे शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा । अल्प जीवन के लिये नरक-तिर्यंचगति की अनन्तकाल पर्यंत के लिये अनन्त दु:खों की परंपरा मत ग्रहण करो । इनके स्वामीपने का अभिमान करके अनेक जीव नष्ट हो गये हैं, तथा अनेक प्रत्यक्ष नष्ट होते देखते हो । इसलिये अब तो ममता छोड़कर अन्याय का परिहार करके अपनी आत्मा का कल्याण होने के कार्य में प्रवर्तन करो ।

बन्धु, मित्र, पुत्र, कुटुम्ब आदि सहित रहना तो ऐसा है जैसे ग्रीष्म ऋतु में चार मार्गों के बीच एक वृक्ष की छाया में अनेक देशों के पथिक विश्राम करके अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं,

वैसे ही ये भी कुलरूप वृक्ष की छाया में ठहरकर कर्म के अनुकूल अनेक गतियों में चले जाते हैं। जिनसे अपनी प्रीति मानते हो उनमें से एक भी हमारे हित का नहीं है, सब अपने-अपने मतलब (स्वार्थ) के हैं, आँखों के सुख के समान (देखने मात्र का सुख) क्षणभर में प्रीति का राग नष्ट हो जाता है। जैसे पक्षी एक वृक्ष पर बिना कोई पूर्व संकेत किये ही रात्रि में आकर बस जाते हैं, प्रातःकाल होने पर उड़कर चले जाते हैं, वैसे ही कुटुम्ब के लोग बिना किसी संकेत के ही कर्म के वश होकर एकत्र होते हैं और फिर बिखर जाते हैं।

ये समस्त धन, संपदा, आज्ञा ऐश्वर्य, राज्य, इन्द्रियों के विषयों की सामग्री देखते-देखते अवश्य वियोग को प्राप्त हो जायेगी। यौवन तो दोपहर की छाया के समान ढल जायेगा, स्थिर नहीं रहेगा। चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि तो अस्त होकर फिर उदय हो जाते हैं, हिम-वसन्तादि ऋतुएं भी जा-जाकर फिर-फिर आ जाती हैं, परन्तु नष्ट इन्द्रिय, यौवन, आयु, कायादि फिर वापिस लौटकर नहीं आते हैं। जैसे पर्वत से गिरती नदी की तरंग बिना रुके ही चली जाती है, वैसे ही आयु भी क्षण-क्षण में बिना रुके ही चली जाती है।

जिस देह के आधीन जीवन है उस देह को जरजर करती हुई जरा समय-समय चली आ रही है। **कैसी ही जरा ?** यौवनरूप वृक्ष को जलाने के लिये दावाग्नि के समान है, सौभाग्यरूप फूलों को ओलों की वर्षा के समान है, स्त्रियों की प्रीतिरूप हिरणी को व्याघ्र के समान है, ज्ञाननेत्र को मूंदने को धूल की वर्षा के समान है, तपरूप कमल के वन को हिमानी (बर्फीली हवा) के समान है, दीनता उत्पन्न करने की माता है, तिरस्कार बढ़ाने को धाय के समान है, उत्साह घटाने को तिरस्कार है, रूप धन को चुरानेवाली है, बल को नष्ट करनेवाली है, जंघावल को बिगाड़नेवाली है, आलस को बढ़ानेवाली है, स्मरण शक्ति को नष्ट करनेवाली यह जरा- वृद्धावस्था ही है। मौत से मिलानेवाली दूती के समान जरा के आने पर भी अपने आत्महित को विस्मरण करके निडर हो, यह बड़ा अनर्थ है। **बारम्बार मनुष्य जन्मादि सामग्री नहीं मिलेगी।**

जितना नेत्रादि इंद्रियों का तेज है वह क्षण-प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। सभी संयोगों को वियोगरूप जानो। इन इन्द्रियों के विषयों में राग करके कौन-कौन नष्ट नहीं हो गये हैं ? ये सभी विषय भी विला जायेंगें तथा इन्द्रियाँ भी नष्ट हो जायेंगी। किसके लिये आत्महित छोड़कर घोर पापरूप दुर्ध्यान कर रहे हो ? जिन विषयों में राग करके अधिक-अधिक लीन हो रहे हो, वे सभी विषय तुम्हारे हृदय में तीव्र दाह उत्पन्न कराकर विनश जायेंगे। शरीर को निरंतर रोगों से व्याप्त जानो, सभी जीवों को मरण से व्याप्त जानो, ऐश्वर्य को विनाश के सन्मुख जाने। ये जितने भी संयोग हैं उनका नियम से वियोग होगा।

ये सभी विषय आत्मा के स्वरूप को भुलानेवाले हैं। इनमें लीन होकर तीन लोक नष्ट हो गया है। विषयों के सेवन से सुख चाहना तो ऐसा है जैसे जीवन के लिये जहर पीना, शीतलता पाने

के लिये अग्नि में प्रवेश करना, मीठे भोजन के लिये विष के वृक्ष को सींचना है । ये विषय महामोह मद को उत्पन्न करनेवाले हैं । इनका राग छोड़कर आत्मा का कल्याण करने का प्रयत्न करो ।

मरण अचानक आवेगा । यह मनुष्य जन्म, यह जिनेन्द्र का धर्म छूट जाने के बाद मिलना अनन्तकाल में दुर्लभ है । जैसे नदी की तरंग निरंतर अरोक चलती ही जाती है, उलटकर कभी वापिस नहीं आती है, उसी प्रकार आयु, काय, रूप, बल, लावण्य, इन्द्रियों की शक्ति चले जाने पर वापिस नहीं आते हैं ।

जो ये प्यारे स्त्री, पुत्रादि सामने दिखाई दे रहे हैं उनका संयोग सदा नहीं बना रहेगा, स्वप्न के संयोग समान जानो । इनके लिये अनीति-पाप करना छोड़कर शीघ्र व्रत-संयम आदि धारण करो। यह जगत लोगों को इन्द्रजाल के समान भ्रम उत्पन्न करानेवाला है । इस संसार में धन, यौवन, जीवन, स्वजन, परजन के समागम में जीव अन्धा हो रहा है । धन-संपदा तो चक्रवर्तियों की भी स्थायी नहीं रही तो अन्य पुण्यहीनों की कैसे स्थिर रहेगी ? यौवन तो जरा के द्वारा नष्ट होगा ही । जीवन तो मरण सहित ही है । स्वजन-परजन वियोग के सन्मुख ही हैं । किसमें स्थिरबुद्धि करते हो ?

इस देह को नित्य स्नान कराते हो, सुगन्ध लगाते हो, आभरण-वस्त्रादि से सजाते हो, अनेक प्रकार के भोजन-पान कराते हो, बारम्बार इसी के दासपने में समय व्यतीत करते हो; शैया, आसन, काम, भोग, निद्रा, शीत, उष्ण अनेक प्रकार से सुख देकर इसे पुष्ट करते हो; इसके राग में ऐसे अन्धे हो रहे हो कि भक्ष्य-अभक्ष्य, योग्य-अयोग्य, न्याय-अन्याय के विचार रहित होकर अपना धर्म बिगाड़ना, यश विनाशना, मरण होना, नरक जाना, निगोद में निवास करना आदि सभी को नहीं गिन रहे हो।

यह शरीर तो जल से भरे हुए मिट्टी के कच्चे घड़े के समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है । इस देह का उपकार कृतघ्न के उपकार के समान विपरीत फलेगा, सर्प को दुग्ध-मिश्री पिलाने के समान अपने लिये महादु:ख, रोग, क्लेश, दुर्ध्यान, असंयम, कुमरण, निश्चय से नरक में पतन का कारण जानो । इस शरीर को ज्यों-ज्यों विषय आदि से पुष्ट करोगो त्यों-त्यों यह आत्मा का अहित करने में अधिक समर्थ होगा । एक दिन भी भोजन नहीं दोगे तो बड़ा दु:ख देगा । जो-जो इस शरीर में रागी हुए हैं वे सभी संसार में नष्ट होकर आत्मकार्य बिगाड़कर अनन्तानन्त काल नरक-निगोद में भटके हैं । जिन्होंने इस शरीर को तप-संयम में लगाकर कृश किया है उन्होंने ही अपना हित किया है ।

ये इन्द्रियाँ ज्यों-ज्यों विषयों को भोगती हैं त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ाती है । जैसे अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती है वैसे ही इन्द्रियाँ भी विषयों से तृप्त नहीं होती हैं । एक-एक इन्द्रिय के विषय की चाह से बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा भ्रष्ट होकर नरक में जा पहुँचे, अन्य की क्या कहें? इन इन्द्रियों को दु:खदाई, पराधीन करनेवाली, नरक पहुँचाने वाली जानकर, इन्द्रियों का राग छोड़कर इनको वश में करो । संसार में लोग जितने निंद्यकर्म करते हैं वे समस्त इन्द्रियों के अधीन होकर ही करते हैं। इसलिये इन्द्रियोंरूप सर्पों के विष से आत्मा की रक्षा करो ।




यह लक्ष्मी क्षणभंगुर है । यह लक्ष्मी कुलीनों में नहीं रमती है । धीर में, शूर में, पण्डित में, मूर्ख में, रूपवान, में, कुरूप में, पराक्रमी में, कायर में, धर्मात्मा में, अधर्मी में, पापी में, दानी में, कृपण में, कहीं भी नहीं रमती है । यह तो जिसने पूर्व जन्म में पुण्य किया है उसकी दासी है। कुपात्र दानादि से, कुतपादि से उत्पन्न होकर प्राणियों को खोटे कुभोगों में, कुमार्ग में, मदों में लगाकर दुर्गति में पहुँचानेवाली है ।

इस पंचमकाल में तो कुपात्रदान करने से, कुतपस्या करने से ही लक्ष्मी उत्पन्न होती है। यह लक्ष्मी बुद्धि को बिगाड़कर, महादु:ख से उत्पन्न होकर, महादु:ख से भोगकर, पापों में लगाकर, दान-भोग बिना ही छोड़कर, आर्तध्यान पूर्वक मरण कराकर तिर्यंचगति में उत्पन्न करा देती है ।

इसलिये इस लक्ष्मी को तृष्णा बढ़ानेवाली, मद उत्पन्न करनेवाली जानकर दु:खी-दरिद्रियों के उपकार में, धर्म के बढ़ाने में, धर्म के आयतनों में, विद्या पढ़ाने में, वीतराग सिद्धान्त लिखवाने में, शास्त्र छपवाने में लगाकर सफल करो । न्याय के प्रामाणिक भोगों में जिस प्रकार धर्म नहीं बिगड़े उस प्रकार लगाओ । यह लक्ष्मी जल की तरंग के समान अस्थिर है, अत: अवसर में दान उपकार कर लो, परलोक साथ नहीं जायेगी, अचानक ही छोड़कर मर जावोगे । **जो निरन्तर इस लक्ष्मी का संचय ही करते रहते हैं, दान–भोग में नहीं लगाते हैं, वे अपने आप को ही ठगते हैं ।**

जिन्होंने पाप के आरंभ करके लक्ष्मी को इकट्ठा किया है, महामूर्च्छा करके कमाया है और उन्होने उसको दूसरे के हाथ में दे दी है, अन्य देश में व्यापारादि द्वारा बढ़ाने के लिये रख दी है, जमीन में बहुत दूर गाड़कर रख दी है वे रात-दिन उसी का चिन्तवन करते हुए दुर्ध्यान से मरकर दुर्गति में जा पहुँचे हैं । **कृपण को लक्ष्मी का रखवाला व दास ही जानना ।**

दूर जमीन में गाड़कर रखनेवाले ने तो लक्ष्मी को पाषाण के समान कर दिया, जैसे भूमि में अन्य पाषाण गड़े हैं वैसे ही यह लक्ष्मी भी जानो । उसने राजाओं का, हिस्सेदारों का, कुटुम्बियों का कार्य साधा । अपना शरीर तो राख बनकर उड़ जायेगा - ऐसा प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं क्या ? **इस लक्ष्मी के समान आत्मा को ठगने वाला दूसरा नहीं है ।**

लक्ष्मी के लोभ का मारा अपना सब परमार्थ भूलकर रात-दिन घोर आरंभ करता है, समय पर भोजन नहीं करता है, शीत-ऊष्ण की वेदना सहता है, रोगादि के कष्ट को नहीं गिनता है, चिंतित होकर रात्रि में निद्रा भी नहीं लेता है । लक्ष्मी का लोभी अपना मरण होने को भी नहीं गिनता है, युद्ध के घोर संकट में भी चला जाता है, समुद्र में भी चला जाता है, घोर भयानक वन-पर्वतों में चला जाता है, धर्म रहित देशों में भी चला जाता है, जहाँ अपने कुल का, जाति का, घर का कोई भी नहीं दिखाई देता है ऐसे स्थानों में (विदेशों में) भी केवल लक्ष्मी के लोभ में भ्रमण करता-करता मरण करके दुर्गति में जा पहुँचता है । लोभी नहीं करने योग्य, तथा नीच-भील-चांडालों के करने योग्य कार्यों को भी करता है ।




इसलिये अब जिनेन्द्र के धर्म को प्राप्त होकर, सन्तोष धारण कर, अपने पुण्य के अनुकूल न्यायमार्ग से प्राप्त हुए धन को संतोषी होकर, तीव्र राग छोड़कर न्याय के विषय भोगो। दुःखित, भूख, दीन, अनाथों, के उपकार के लिये दान-सन्मान में धन लगाओ।

इस लक्ष्मी ने अनेक को ठगकर दुर्गति में पहुँचाया है। लक्ष्मी का साथ करके जगत के जीव अचेत हो रहे हैं। पुण्य के अस्त होते ही यह लक्ष्मी अस्त हो जायेगी। लक्ष्मी को केवल जोड़कर संग्रह करके मर जाना, यह लक्ष्मी पाने का फल नहीं है। इसका फल तो केवल उपकार करना, धर्म का मार्ग चलाना है। इस पापरूप लक्ष्मी को जिन्होंने ग्रहण नहीं किया है, या ग्रहण करके भी ममता छोड़कर क्षणमात्र में ही त्याग दिया है वे ही धन्य हैं, इस तरह बहुत क्या लिखें ?

यह धन, यौवन, जीवन, कुटुम्ब का साथ सब को जल के बुदबुदे के समान अनित्य जानकर आत्मा के हितरूप कार्य में प्रवर्तन करो। संसार में जितने संयोग हैं वे सब विनाशीक हैं - इस प्रकार अनित्य भावना भावो। जो पुत्र, पौत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदि हैं वे किसी के साथ परलोक गये नहीं व जायेंगे नहीं, अपने द्वारा कमाया हुआ पुण्य-पापादि कर्म ही साथ रहेगा। ये जाति, कुल, रूपादि व देश, नगरादि का समागम देह के साथ ही विनशैगा। अतः अनित्य भावना क्षणमात्र भी विस्मरण नहीं करो, जिससे पर से ममत्व छूटकर आत्म कार्य में प्रवृत्ति हो। इस प्रकार अनित्य भावना का वर्णन किया। १।

अशरण भावना (२) : अब अशरण भावना का स्वरूप इस प्रकार भावो। इस संसार में ऐसा कोई देव, दानव, इन्द्र, मनुष्य नहीं है जिसके ऊपर यमराज की फांसी नहीं पड़ी हो। काल के आ जाने पर कोई शरण देनेवाला नहीं है। आयु पूर्ण होने पर इन्द्र का भी पतन क्षण मात्र में हो जाता है। जिसके असंख्यात देव आज्ञाकारी सेवक, हजारों ऋद्धि सहित, स्वर्ग में असंख्यात काल का निवास, रोगादि-क्षुधा-तृषादि उपद्रव रहित शरीर, असंख्यात बल पराक्रम के धारी इन्द्र ही का जब पतन हो जाता है तो अन्य कोई भी शरण नहीं है। जैसे निर्जन वन में व्याघ्र के द्वारा पकड़े गये हिरण के बच्चे को बचाने में कोई भी समर्थ नहीं है, उसी प्रकार मृत्यु के द्वारा ग्रहण किये गये प्राणी की रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं है।

इस संसार में पूर्व काल में अनन्तानन्त पुरुष नाश को प्राप्त हो गये हैं, यहाँ कौन शरण है ? कोई ऐसी औषधि, मंत्र, यंत्र, तंत्र, क्रिया, देव, दानव आदि नहीं है जो एक क्षणमात्र के लिये भी काल से रक्षा कर ले। यदि कोई देव, देवी, वैद्य, मंत्र, तंत्रादि एक मनुष्य की ही मरण से रक्षा कर लेता तो मनुष्य अक्षय हो जाते। इसलिये मिथ्याबुद्धि को छोड़कर अशरण भावना भावो।

मूढ़ लोग इस प्रकार विचार करते हैं - मेरे हितैषी का इलाज ठीक नहीं हुआ, औषधि नहीं दी, किसी देवता की शरण नहीं ली, बचाने का उपाय किये बिना मर गया, इस प्रकार अपने स्वजन का शोच करते हैं। अपना शोच नहीं करते हैं कि - मैं भी यमराज की डाढ़ के बीच में बैठा हूँ। जो काल करोड़ों उपाय करने से इन्द्र के द्वारा भी नहीं रोका जा सका है उसको मनुष्यरूप कीड़ा

कैसे रोक सकता है ? जैसे दूसरे जीवों को मरते हुए देखते हैं उसी प्रकार मैं भी मरण को प्राप्त होऊँगा, जैसे अन्य जीवों के स्त्री, पुत्रादि का वियोग देखते हैं उसी प्रकार मेरे भी वियोग होगा, कोई शरण नहीं है ।

अशुभ कर्म की उदीरणा होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है । प्रबल कर्म का उदय होने पर एक भी उपाय नहीं चलता है, अमृत विष हो जाता है, तिनका भी शस्त्र बन जाता है, अपने खास मित्र भी शत्रु हो जाते हैं । अशुभ कर्म के प्रबल उदय के वश बुद्धि विपरीत हो जाने से स्वयं ही अपना घात कर लेता है । जब शुभ कर्म का उदय होता है तब मूर्ख को भी प्रबल बुद्धि प्रकट हो जाती है, बिना किये ही अपने आप अनेक सुख के उपाय प्रकट हो जाते हैं, बैरी भी मित्र बन जाता है, विष भी अमृतमय परिणम जाता है ।

जब पुण्य का उदय होता है तब समस्त उपद्रवकारी वस्तुएँ भी अनेक प्रकार के सुख देने वाली हो जाती हैं । अतः संसार में पुण्य कर्म ही शरण है । पाप के उदय से हाथ में रखा हुआ धन भी क्षण भर में नष्ट हो जाता है, पुण्य के उदय से बहुत दूर रखी हुई वस्तु भी प्राप्त हो जाती है । लाभांतराय का क्षयोपशम हो तो बिना प्रयत्न किये ही निधि रत्न प्रकट हो जाते हैं ।

जब पाप का उदय होता है तब सुन्दर आचरण करते हुए भी उसे दोष–कलंक लग जाता है, अपवाद अपयश हो जाता है । यश नामकर्म के उदय से समस्त अपवाद दूर होकर दोष भी गुणरूप परिणम जाते है । संसार तो पुण्य-पाप के उदयरूप है । परमार्थ से तो दोनों के उदय को पर का (कर्म का) किया अपने आत्मा से भिन्न जानकर ज्ञायक ही रहो, हर्ष विषाद नहीं करो । पूर्व में जो कर्म का बंध किया था वह अब उदय में आया है, वह अपने द्वारा दूर करने से दूर नहीं होगा, उदय आ जाने के बाद कोई उपाय नहीं है । कर्म का फल जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना, दुःख आदि के आ जाने पर कोई रक्षा करनेवाला मंत्र, तंत्र, देव, दानव, औषधि आदि समर्थ नहीं हैं ।

कर्म का उदय आकाश पाताल में कहीं भी नहीं छोड़ता है । औषधि आदि बाह्य निमित्त भी अशुभ कर्म का उदय मंद होने पर उपकार करते हैं । दुष्ट, चोर, भील, बैरी, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि तो ग्राम में, वन में मारते हैं; जलचर आदि जल में मारते हैं; किन्तु अशुभ कर्म का उदय जल में, थल में, नभ में, वन में, समुद्र में, पहाड़ में, गढ़ में, घर में, शैया में, कुटुम्ब में, राजादि सामन्तों के बीच में, शस्त्रादि से रक्षा करते हुए भी कहीं पर भी नहीं छोड़ता है ।

इस लोक में ऐसे भी स्थान हैं जिनमें सूर्य चंद्रमा का प्रकाश, पवन तथा वैक्रियिक ऋद्धिधारी भी गमन नहीं कर सकते हैं, परन्तु कर्म का उदय तो सर्वत्र गमन करता है । प्रबल कर्म का उदय होने पर विद्या, मंत्र, बल, औषधि, पराक्रम, मित्र, सामन्त, हाथी, घोड़ी, रथ, प्यादा, गढ़, कोट, शस्त्र, उपाय, शाम, दाम, दण्ड, भेद, आदि समस्त उपाय कोई शरण नहीं हैं । जैसे उदय होते हुए सूर्य को कोई नहीं रोक सकता है, वैसे ही कर्म के उदय को भी अरोक जानकर साम्यभाव



की शरण ग्रहण करो, तो अशुभ कर्म की निर्जरा होकर, आगे नवीन बंध नहीं होगा। रोग, वियोग, दारिद्र, मरण आदि से भय छोड़कर परम धैर्य ग्रहण करो।

अपना परम वीतराग सन्तोषभाव, समताभाव – ये ही शरण हैं, अन्य नहीं। इस जीव के उत्तम क्षमादि भाव ही स्वयं के लिये शरण हैं। क्रोधादि भाव इस जीव को इसलोक तथा परलोक में घातक हैं। इस जीव को कषायों की मंदता इसलोक में हजारों विघ्नों का नाश करनेवाली परम शरण है तथा परलोक में नरक तिर्यंचगति से रक्षा करनेवाली है। मंदकषायी का देवलोक में तथा उत्तम मनुष्यों में जन्म होता है।

यदि पूर्व कर्म के उदय में आर्त-रौद्र परिणाम करोगे तो उदीरणा को प्राप्त हुए कर्म को रोकने में तो कोई समर्थ है नहीं; केवल दुर्गति का कारण नवीन कर्म और बंध जायेगा। कर्म के उदय आने के बाह्य सहकारी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिलने के पश्चात् कर्म के उदय को इन्द्र, जिनेन्द्र, मणि, मंत्र, औषधि आदि कोई रोकने को समर्थ नहीं होता है। रोगों का इलाज तो जगत में औषधि आदि देखा जाता है, परन्तु प्रबल कर्म के उदय को रोकने को औषधि आदि समर्थ नहीं होते हैं, विपरीत परिणम जाते हैं।

इस जीव के असाता वेदनीय कर्म का यदि प्रबल उदय हो तो औषधि आदि विपरीत होकर परिणम जाते हैं। असाता का मंद उदय हो या उपशम हो तो औषधि आदि उपकार करते हैं, क्योंकि मंद उदय को रोकने को तो अल्पशक्ति का धारक भी समर्थ होता है। प्रबल बल के धारक को रोकने को अल्पशक्ति का धारक समर्थ नहीं होता है।

इस पंचमकाल में अल्प ही तो बाह्य द्रव्य-क्षेत्रादि सामग्री है, अल्प ही ज्ञानादि है, अल्प ही पुरुषार्थ है, किन्तु अशुभ के उदय के आने की तो बाह्य सामग्री की सहायता प्रबल है; अतः अल्प सामग्री अल्प पुरुषार्थ से प्रबल असाता के उदय को कैसे जीते? जैसे प्रबल नदी का प्रवाह किनारों की मिट्टी को उखाड़ता हुआ चला आता हो, उसको तैरने की विद्या में समर्थ कुशल पुरुष भी तैरकर पार नहीं हो सकता है। नदी के प्रवाह का वेग मंद बहता हो तो तैरने की कला जाननेवाला तैरकर पार हो जाता है।

अतः प्रबल कर्म के उदय में अपने को अशरण भावना का चिन्तवन करना चाहिये। यहाँ पर पृथ्वी तथा समुद्र दो चीजें बड़ी हैं। पृथ्वी को पार करने को तथा समुद्र को तैरने को समर्थ भी अनेक दिखाई देते हैं, परन्तु कर्म के उदय को रोकने में समर्थ कोई नहीं दिखाई देता है।

इस संसार में सम्यग्दर्शन शरण है, सम्यग्ज्ञान शरण है, सम्यग्चारित्र शरण है, सम्यक् तप संयम शरण है। इन चार आराधना के सिवा अनन्तानन्त काल में कोई शरण नहीं है। उत्तमक्षमादि दशधर्म प्रत्यक्ष इस लोक में समस्त क्लेश, दुःख, मरण, अपमान, हानि आदि से रक्षा करनेवाले हैं। इस मंदकषाय जनित धर्म की आराधना का फल तो स्वाधीन सुख, आत्मरक्षा, उज्ज्वल यश, क्लेशरहितपना, उच्चता इस लोक में प्रत्यक्ष देखकर इसकी शरण ग्रहण करो। परलोक में इसका फल स्वर्गलोक




प्राप्त होना है । व्यवहार में भी चार शरण है - अरहन्त, सिद्ध, साधु व केवली द्वारा प्रकाशित किया **धर्म** । **ये ही शरण** जानना क्योंकि इनकी शरण बिना आत्मा उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता है । **इस प्रकार** अशरण भावना का वर्णन किया । २ ।

संसार भावना (३) : अब संसार भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं । इस संसार में अनादिकाल से मिथ्यात्व के उदय से अचेत हुआ जीव जिनेन्द्र सर्वज्ञ वीतराग के कहे सत्यार्थ धर्म को प्राप्त नहीं करके चारों गतियों में भ्रमण करता है, संसार में कर्मरूप दृढ़ बंधन से बंधा, पराधीन हुआ, त्रस स्थावरों में निरन्तर घोर दु:ख भोगता हुआ बारम्बार जन्म-मरण करता है ।

जो-जो कर्म के उदय आकर रस देतें हैं उनके उदय में प्राप्त सामग्री में अपनत्व धारण करके अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को नही जानते हुए नये-नये कर्मों का बंध करता है, तथा कर्मों के बंध के अधीन हुए प्राणी को ऐसी कोई दु:ख की जाति बाकी नहीं रही जो पहले नहीं भोगी हो । समस्त दु:खों को अनन्त-अनन्तवार भोगते हुए अनन्तानन्त काल व्यतीत हो गया ।

पंच परावर्तन का स्वरूप : इस प्रकार संसार में इस जीव के अनन्त परिवर्तन व्यतीत हो गये हैं । संसार में ऐसा कोई **पुद्गल** बाकी नहीं रहा, जिसको इस जीव ने शरीरादिरूप तथा आहाररूप से ग्रहण नहीं किया हो । अनन्त जाति के अनन्त पुद्गलों को शरीररूप धारण किया है, आहाररूप भोजनपानरूप भी ग्रहण किया है ।

तीन सौ तेतालीस धन राजू प्रमाण इसलोक में आकाश के क्षेत्र में ऐसा कोई एक भी **प्रदेश** बाकी नहीं रहा, जहाँ संसारी जीव ने अनन्तानन्त जन्म मरण नहीं किये हों ।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी **काल** का ऐसा कोई एक भी समय बाकी नहीं रहा, जिस समय में यह जीव अनन्तबार जन्मा और अनन्तबार मरा नहीं हो ।

नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव-इन चारों पर्यायों में यह जीव जघन्य आयु से लगाकर उत्कृष्ट आयु तक के सभी समयों की आयु के बराबर आयु धारण करके अनन्तबार **जन्म** धारण किया है । सिर्फ नौ अनुदिश व पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि उन चौदह (नौ तथा पाँच) विमानों में सम्यग्दृष्टि के बिना अन्य का उत्पाद नहीं होता, सम्यग्दृष्टि का आगे संसार भ्रमण नहीं होता है।

कर्म की स्थिति बंध के स्थान, स्थिति बंध के कारण असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान, उनको कारण असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग बंध अध्यवसाय स्थान, व जगत श्रेणी के संख्यातवें भाग योग स्थानों में ऐसा कोई **भाव** करना बाकी नहीं रहा जो इस संसारी ने नहीं किया हो । एक सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र के योग्य भाव तो नहीं किये, अन्य समस्त भाव संसार में अनंतबार किये हैं ।

निगोद अवस्था का दु:ख : जिनेन्द्र के वचनों के आलम्बन से रहित पुरुषों की, मिथ्याज्ञान के प्रभाव से, अनादि से ही विपरीत बुद्धि हो रही है, इसलिये सम्यग् मार्ग को ग्रहण नहीं करते हुए, संसाररूप वन में भटकते हुए निगोद में पहुंच जाते हैं । **कैसा है निगोद** ? जहाँ से निकलना अनन्तानन्त

काल में भी कठिन है । कभी पृथ्वीकाय में, जलकाय में, अग्निकाय में, पवनकाय में, प्रत्येक-साधारण वनस्पतिकाय में समस्त ज्ञान की व्यक्तता के अभाव से, जड़ जैसा होकर, मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा, कर्म के उदय के आधीन होकर, आत्म शक्ति रहित जिह्वा, घ्राण, नेत्र, कर्णादि इन्द्रिय रहित होकर दुःखमय दीर्घकाल व्यतीत करता है ।

दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय रूप विकलत्रय जीव आत्मज्ञान रहित केवल रसनादि इन्द्रियों के विषयों की अतितृष्णा के मारे उछल-उछलकर विषयों के लिये गिर-गिरकर मरते हैं । असंख्यात काल विकलत्रय में, फिर एकेन्द्रियों में, फिर-फिर बारम्बार अरहट की घड़ी के समान नई-नई देह धारण करता हुआ चारों गतियों में निरन्तर जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा, रोग-वियोग का संताप भोगता हुआ अनन्तकाल से परिभ्रमण कर रहा है । इसी का नाम संसार है ।

जैसे गरम अधन में चावल के दाने चारों तरफ दौड़ते हुए पकते हैं, उसी प्रकार संसारी जीव कर्मों से तपाया हुआ चारों गतियों में परिभ्रमण करता है । आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को अन्य बलवान पक्षी मार डालते हैं; जल में विचरण करनेवाली मछली आदि को अन्य बड़े मगरमच्छादि मार डालते हैं; जमीन पर चलते हुये मनुष्य, पशु आदि को सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि दुष्ट तिर्यंच तथा भील, म्लेच्छ, चोर, लूटेरे, महानिर्दयी मनुष्य मार डालते हैं । इस प्रकार इस संसार में समस्त स्थानों में निरन्तर भयभीत होकर निरन्तर दुःखमय परिभ्रमण करता है ।

जैसे शिकारी के उपद्रव से भयभीत भागता हुआ खरगोश, अजगर के खुले फैले हुये मुंह को बिल समझकर प्रवेश कर जाता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव क्षुधा, तृषा, काम, क्रोधादि, तथा इन्द्रियों के विषयों की तृषा के आताप से संतापित होकर विषयरूप अजगर के मुख में प्रवेश करता है । विषय-कषायों में प्रवेश करना वही संसाररूप अजगर का मुख है । इसमें प्रवेश कर अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्तादि भाव प्राणों का नाश कर निगोद में अचेतन जैसा होकर अनन्तबार जन्म-मरण करता हुआ अनन्तानन्त काल व्यतीत करता है, वहां आत्मा अभाव तुल्य ही है । ज्ञानादि का अभाव होने पर तो समझना चाहिये कि जैसे नष्ट ही हो गया हो ।

निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान रहता है जो सर्वज्ञ ने देखा है । त्रस पर्याय में भी जितने दुःख के प्रकार हैं, वे सब दुःख अनन्तबार भोगे हैं । दुःख की ऐसी कोई जाति बाकी नहीं रही है जो इस जीव ने संसार में नहीं पाई हो । इस संसार में यह जीव सब अनन्तबार दुःखमय पर्याय पाता है तब कोई एकबार इंद्रियजनित सुख की पर्याय पाता है; वह भी विषयों की आताप सहित, भय शंका सहित अल्प काल के लिये ही पाता है । फिर अनन्त पर्याय दुःख को पाता है तब फिर एक पर्याय इंद्रियजनित सुख की कभी प्राप्ति हो पाती है ।

नरकगति के दुःख : अब चारों गतियों के स्वरूप का परमागम के अनुसार कुछ विचार करते हैं :- नरक की सात पृथ्वी हैं, उनके उनचास पटल हैं । उन पटलों में चौरासी लाख बिल हैं । उन बिलों को ही नरक कहते हैं । उनकी भूमि, दीवालें, छत वज्रमयी हैं । कोई बिल संख्यात

योजन लम्बे चौड़े हैं, कोई असंख्यात योजन लम्बे चौड़े हैं। उन सभी बिलों की छतों में नारकियों के उत्पत्ति स्थान हैं। वे छोटे मुंह के ऊँट के मुख के आकार आदि लिये ओंधे मुख हैं। उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं जो नीचे की ओर सिर तथा ऊपर की ओर पैर किये हुये आकर वज्राग्निमय पृथ्वी पर गिरकर ऐसे उछलते हैं जैसे जोर से पटकने से गेंद झंपा खाकर उछलती है, फिर पृथ्वी पर गिरकर बार-बार उछलते फिरते हैं।

नरक की भूमि कैसी है ? असंख्यात बिच्छुओं के काटने से होनेवाले दुःख से असंख्यात गुणा दुःख करनेवाली है। उन नरकों के बिलों में ऊपर की चार पृथ्वी में तथा पाँचवी पृथ्वी के दो लाख बिल, इस प्रकार बियासी लाख बिलों में तो केवल आतप की वेदना है। उस नरक की **उष्णता** को बतलाने के लिये यहाँ कोई भी पदार्थ देखने-जानने में नहीं आता है, जिससे सदृश्यता कही जाय? तो भी भगवान के कहे आगम में उष्णता का ऐसा अनुमान कराया गया है - एक लाख योजन मोटा लोहे का गोला यदि यहाँ से छोड़े तो नरक की भूमि को छूने के पहले ही नरक के क्षेत्र के वातावरण की उष्णता से वह गोला पिघलकर रसरूप होकर बह जाता है।

पाँचवी पृथ्वी के तिहाई व छठीं-सातवीं पृथ्वी के **शीत** बिलों में शीत की ऐसी तीव्र वेदना है कि यदि एक लाख योजन मोटा लोहे का गोला रख दें तो एक क्षण भर में शीत से खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाता है। ऐसी उष्ण वेदना और शीत वेदना से भरे नरकों में कर्म के वश हुये जीव असंख्यात काल तक घोर दुःख भोगते हैं, आयु पूर्ण हुये बिना मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। ऐसी तो नरक में घोर शीत-उष्णता की वेदना है।

नरक में **क्षुधा** वेदना ऐसी है कि यदि जगत के पत्थर, मिट्टी आदि सभी खा ले तो भी क्षुधा वेदना नहीं मिटे, परन्तु खाने के लिये एक कण भी नहीं मिलता है। वहाँ पर **तृषा** वेदना ऐसी है कि यदि समस्त समुद्रों का जल पी ले तो भी तृषा की वेदना दूर नहीं हो, परन्तु पीने के लिये एक बूंद भी जल नहीं मिलता है।

करोड़ों **रोगों** की घोर वेदना जहाँ पर एक ही काल में उत्पन्न होती है। जहाँ पर नये नारकी को देखकर हजारों नारकी महाभंयकर रूप तथा अनेक शस्त्रों के साथ- मार डालो, चीर दो, फाड़ दो, टुकड़े कर दो आदि भंयकर शब्द करते हुये चारों तरफ से मारने को आ जाते हैं।

नारकी कैसे हैं ? नग्न रूप, अत्यंत रूखा भंयकर काला रूप, लाल पीले कुटिल नेत्रों से क्रूर देखते हुए, मुँह फाड़े, लपलपाती हुई विकराल जिह्वा सहित, जिनके दाँत करोंत के समान तीक्ष्ण हैं व टेढ़े हैं, ऊपर को उठे हुए लाल पीले पैने कड़े बालों वाले हैं, भयानक तीक्ष्ण नाखून हैं, महानिर्दयी, हुंडक संस्थान वाले, आ-आकर के कोई मुद्‌गर मुसण्डों से मस्तक चूर्ण कर देते हैं। नारकियों का शरीर, जैसे जल से भरे सरोवर में जल को मूसलों से कूटने पर जल उछलकर उसी सरोवर में गिरकर मिल जाता है, उसी प्रकार नारकियों का शरीर भी खण्ड-खण्डरूप होकर उछलकर वापिस उसी शरीर में आकर मिल जाता है। **आयु पूर्ण हुए बिना मरण नहीं होता है।**




नारकी परस्पर में तलवारों से खण्ड-खण्ड करते हैं, करोंतों से चीरते हैं, कुल्हाड़ों से फाड़ते हैं, वसूलों से छीलते हैं, भालों से बेधते हैं, शूली पर छेदते हैं, पेट आदि मर्म स्थानों में छेदते हैं, फाड़ते हैं, नेत्र उखाड़ते हैं, भाड़ में सेकते हैं, कढ़ाहे में चुराते हैं, घानी में पेलते हैं । इस प्रकार नारकी परस्पर में मारण, ताड़न, त्रासन द्वारा जो दुःख नरक में भोगते हैं, वह कोटि जिह्वाओं द्वारा कोटि वर्षों तक एक क्षण के दुःख को कहने में कोई समर्थ नहीं है ।

नरक में जो दुःखकारी सामग्री है उसके एक कण के बराबर भी इस लोक में नहीं है। यदि नरक की भूमि की सामग्री तथा नारकियों के **विकरालरूप** जैसा किसी को एक क्षण को स्वप्न में भी दिख जाये तो डर से तुरन्त ही मर जाये । नारकों की रस सामग्री ऐसी है जैसी यहाँ कांजीर, विष, हालाहल भी नहीं है ।

नारकियों के शरीरादि का एक कण भी यदि यहाँ आ जाये तो उसकी कड़ुवी **गंध** से यहाँ के पाँच इंद्रियों वाले जीव मरण कर जाय । नरक की मिट्टी की दुर्गन्ध ऐसी है कि यदि सातवें नरक की मिट्टी का एक कण भी यहाँ आ जाये तो साढ़े चौबीस कोस के चारों तरफ के पंचेन्द्रिय जीव दुर्गन्ध से मरण कर जायें । पहले नरक के पहले पटल की **मिट्टी** की गंध से आधे कोश के जीव मर जाते हैं इतनी दुर्गन्धित है । आगे क्रम से एक-एक नरक पटल की मिट्टी की दुर्गन्ध में आधा-आधा कोश के अधिक-अधिक जीवों को मारने की शक्ति है । इस प्रकार उनचासवें पटल की मिट्टी की दुर्गन्ध में साढ़े चौबीस कोस तक के जीवों को मारने की शक्ति कही है ।

नरक में वैतरणी नदी का जल कैसा है ? जिसके स्पर्श मात्र से नारकियों के शरीर फट जाते हैं, उस **जल** का क्षार विष तो अग्नि से तपाये गये गर्म तेल के सींचने से भी अधिक अपरिमित दुःख को उत्पन्न करनेवाला है । वहाँ की **हवा** ऐसी है कि यहाँ के पर्वत उसके स्पर्श होने मात्र से भस्म होकर उड़कर जगत में बिखर जावें । नरक की **वज्राग्नि** को धारण करने को यहाँ के पृथ्वी, पर्वत, समुद्र कोई समर्थ नहीं हैं । स्वरूप का क्या वर्णन करें ? नारकियों के **शब्द** ऐसे भंयकर व कठोर हैं कि यहाँ हाथी व शेर सुन लें तो उनके हृदय फट जावें ।

वहाँ कर्मरूप रखवाले नारकियों को सागरों तक निकलने नहीं देते हैं । जहाँ पर निरन्तर मार-मार ही सुनाई पड़ती है, वे रोते हैं, पकड़ते हैं, भागते हैं, घसीटते हैं, चूर्णरूप कर देते हैं तथा उनके अंग फिर पारे के समान मिल जाते हैं । वहाँ कोई रक्षक नहीं है, कोई दयावान नहीं है, कोई राजा नहीं, मित्र नहीं, माता नहीं, पिता नहीं, पुत्र नहीं, स्त्री नहीं, कुटुम्बादि नहीं, केवल पाप का भोग है । कोई छिपने का स्थान नहीं है, किसी से अपना दुःख दर्द कह सकें ऐसा कोई नहीं है, केवल क्रूर परिणामी महा भंयकर पापी हैं ।

जैसे यहाँ दुष्ट श्वानादि तिर्यंचों में देखते साथ ही बैर हो जाता है, उसी प्रकार नारकियों में बिना कारण ही परस्पर में बैर है । दुःख से भागकर वन में जाते हैं तो वहां शाल्मलि **वृक्षादि के पत्ते** शरीर को वसूले-कुल्हाड़े की तरह काटनेवाले आकर गिरते हैं, जिनसे अंग छिद जाते हैं, कट

जाते हैं। वन में ही, गुफाओं में से सिंह-व्याघ्रादि निकलकर अंग फाड़ डालते हैं। वहीं पर वज्रमयी **चोंचों वाले गृद्ध,** काक आदि पक्षी उन नारकियों के अंगों को फाड़ते हैं, नेत्रादि निकाल लेते हैं, **पेट फाड़कर** आंते निकाल लेते हैं। यद्यपि नरक में तिर्यंच नहीं हैं तथापि नारकी विक्रिया द्वारा अपना **तिर्यंचरूप** बना लेते हैं। नारकियों में पृथक् जुदा शरीर बनाने की विक्रिया नहीं है। एक शरीर ही सिंह, व्याघ्र, श्वान, घूघू, काक आदि देह धारण कर लेता है।

नारकी शुभ करना चाहे तो भी शुभ नहीं होता है। अपने को तथा अन्य को दुःखदायी ही परिणाम, देह, वेदना, विक्रिया करने में समर्थ हैं, सुख करनेवाली विक्रिया नहीं होती, परिणाम नहीं होते, देह नहीं होती, वेदना नहीं होती। जीवों के ऐसा क्षेत्रजनित पाप कर्म का उदय है।

नरक में नारकियों को मारने के लिये अनेक आयुध, शूली, घानी, यन्त्र, लोहे के ओंटाने के, तलने के, रांधने के अनेक दुःखदायी पात्र क्षेत्र के स्वभाव से ही हैं। वहाँ पर सुखदायी सामग्री तो स्वप्न में भी नहीं मिलती है। वहाँ **लोहमय पुतली** ज्वाला को उगलती हुई, जिसका शरीर महावेदना संताप करनेवाला है, वे उछलकर नारकियों को पकड़ती हैं, स्पर्श करती हैं। उनके स्पर्श से करोड़ों बिच्छुओं के काटने के समान, वज्राग्नि के समान, तथा विषमय तीक्ष्ण शस्त्रों के आघात से भी अनन्तगुनी वेदना होती है। नरकों में जो दुःखदायी सामग्री है उसका स्वभाव आदि दिखलाने के लिये अनुभव कराने के लिये समस्त मध्यलोक में कोई वस्तु दिखाई नहीं देती है, तथापि उनकी अधिक दुःखदायकता दिखलाने के लिये कितनी ही वस्तुओं का वर्णन किया है।

नारकियों का दुःख तो साक्षात् भगवान का केवलज्ञान जानता है तथा जो नारकी होकर भोगता है वही जीव जानता है। नारकियों का शरीर, रुधिर, मांस, हाड़, चाम आदि सप्त धातुमय नहीं है, परन्तु उनके शरीर के पुद्गल ऊँट, श्वान, मार्जार आदि के सड़े हुए कलेवर से भी असंख्यातगुने दुर्गन्ध युक्त हैं और असंख्यातगुने दुर्निरीक्ष्य घृणा करानेवाले हैं, जिनका स्वरूप ना देखा जा सकता है, ना सुना जा सकता है, ना गन्ध ग्रहण की जा सकती है। मनुष्यादि तो उन्हें देखते ही, दुर्गन्ध के ग्रहण करते ही प्राण रहित हो जाते हैं।

नरक गति में कौन उत्पन्न होते हैं? पूर्व जन्म में खोटे परिणामों से जो नरक की आयु बाँधकर नरक में उत्पन्न होते हैं वे वहाँ पर असंख्यातकाल तक दुःख भोगते हैं। **बहुत आरंभ करनेवाले, बहुत परिग्रह में आसक्त, घोर हिंसक परिणामी नरक की आयु बांधते हैं।**

विश्वासघाती, धर्मद्रोही, गुरुद्रोही, स्वामीद्रोही, कृघ्नी, परधन-परस्त्री के लोलुपी, अन्यायमार्गी, धर्मात्मा-त्यागियों को कलंक लगानेवाले, यतियों का घात करनेवाले, ग्रामों में घास तृणादि वृक्षों में आग लगानेवाले, देवद्रव्य चुरानेवाले, तीव्र कषायी, अनन्तानुबंधी कषाय के धारक, कृष्ण लेश्या के धारक, सुंदर आहारादि मिलने पर भी जिह्वा इंद्रिय की लोलुपता से मांस के भक्षक, मद्यपायी, वेश्यानुरागी, परविघ्न संतोषी, लम्पटी, तीव्रलोभी, दुराचार के धारी, **मिथ्यात्व, अन्याय व अभक्ष्य की प्रशंसा कनरेवालों का नरक में गमन होता है।** विषादि मिलावट का कार्य करनेवाले, विषादि उत्पन्न करनेवाले,

वनकटी करानेवाले, वन में दावाग्नि लगानेवाले, जीवों को बाड़े में बांधकर जला देनेवाले, हिंसा के तीव्रकर्म की परिपाटी चलानेवालों का नरक में गमन होता है ।

नरक में अम्ब अम्बरीषादि दुष्ट असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक जाकर नारकियों को लड़ाते हैं । किन्हीं नारकियों को तीसरी पृथ्वी तक पूर्व जन्म के संबंधी देव आकर धर्म का उपदेश भी देते हैं । कोई-कोई अपने पूर्व भव के पापों की निंदा भी करता है, बहुत पश्चाताप करता है कि - मुझको पूर्व में सत्पुरुषों ने बहुत शिक्षा दी - अरे ! अनीति के मार्ग पर मत चलो, बहुत उपदेश भी दिया - परन्तु मैं पापी ने विषयों में कषायों के मद से अन्धा होकर उनकी शिक्षा ग्रहण नहीं की । अब मैं दैव (भाग्य) बल, पौरुषबल से रहित क्या करूँ ? जिन पापी, दुराचारी, पाप में प्रेरणा करनेवाले, व्यसनी, अनीति का पोषण करनेवालों ने हमें नरक प्राप्त कराया है, वे पापी क्या मालूम शरीर छोड़कर कहाँ जायगे ? हमारे साथ तो कोई दिखाई नहीं देता है । हमारे धन भोगने में, विषय सेवन में सहायक, पाप के प्रेरक मित्र पुत्र बांधव स्त्री आदि सहायक थे, उन्हें अब कहाँ देखूँ ? इस प्रकार अवधिज्ञान से पूर्व जन्म में जो दुराचार किये उनका पश्चाताप करते हुए घोर मानसिक दु:ख प्राप्त करते हैं ।

किसी महाभाग्यवान के सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न हो जाता है । परन्तु पर्याय संबंधी दु:ख कषाय स्वयमेव उत्पन्न होते हैं । आप स्वंय किसी को नहीं मारना चाहता है, तो भी कषायों की प्रबलता कर्म उदय से रूकती नहीं है, स्वयमेव हस्तादि शस्त्ररूप परिणमते हैं ।

नारकियों को क्षणमात्र भी विश्राम नहीं, निद्रा नहीं । भूमि के स्पर्श का दु:ख ही केवलीगम्य है । अतितीव्र कर्म के उदय में कोई शरण नहीं है, शरण की इच्छा से वहां देखता है, किन्तु कोई दयावान नहीं सभी क्रूर, निर्दयी, भयानक, उग्र देह के धारक, अंगार समान प्रज्वलित नेत्रों सहित, प्रचण्ड अशुभ ध्यान के करानेवाले, क्रोध को उत्पन्न करानेवाले घोर नारकी हैं ।

उन नारकियों के महान विलाप तथा रुदन, मारण, त्रासन के घोर शब्द सुनाई देते हैं । अहो! जब मैं मनुष्य पर्याय में था तब स्वाधीन होकर आत्महित नहीं किया, अब देव व पुरुषार्थ दोनों के बल से रहित होकर क्या करूँ ? पूर्व में जो-जो निंद्य कर्म मैंने किये हैं अब मुझे याद आते ही मरम को छेद देते हैं । जो दु:ख एक क्षण भर को भी नहीं सहा जाता है वह दु:ख यहाँ सहते हुए सागरों तक का समय कैसे पूरा करूँगा ?

जिनके लिये पाप कर्म किये वे सेवक, स्त्री, पुत्र, बांधवों को यहाँ कहाँ देखूँ ? वे तो धन के विषयों के भोगने में शामिल थे, अब इन दु:खों में कहाँ देखूँ ?

ऐसे दु:खों से रक्षा करनेवाला एक दयाधर्म ही है, वह धर्म मुझ पापी ने उपार्जन ही नहीं किया । परिग्रह रूप महापिशाच से अचेतन हुआ यह नहीं जाना कि यमराज रूप सिंह की चपेट से एक क्षण में मरकर नरक के नारकी के रूप में जन्म हो जायेगा, इत्यादि मन के संताप जनित घोर दु:ख प्राप्त करता है ।

पूर्व जन्म में मैंने अन्य प्राणियों का मांस काट-काटकर खाया है, इसीलिये यहाँ मेरे मांस को काट-काटकर मुझे खिलाते हैं; पूर्व में मैंने बहुत मद्य पान किया, अभक्ष्य खाया है, इसीलिये अनेक नारकी यहाँ पर पिघले हुये ताम्रलोहमय रस को संडासी से मेरा मुख खोलकर पिलाते हैं । जो पूर्व में परस्त्री लम्पटी थे उनको यहाँ पर वज्राग्निमय पुतलियाँ जबरदस्ती पकड़कर बहुत देर तक आलिंगन करती हैं । **नरक में चक्षु की टिमकार मात्र समय को भी सुख नहीं है** । यदि कभी कोई क्षण भर को भूल जाता है तो दुष्ट अधम असुरकुमार प्रेरणा करते हैं व नारकी परस्पर में भी प्रेरणा करके लड़ाते हैं ।

बहुत क्या कहें ? असंख्यात प्रकार के दु:ख असंख्यात काल तक नरक में नारकी भोगते हैं। **संसार में एक धर्म ही इस जीव का उद्धार करनेवाला है** । वह धर्म कमाया नहीं है तब नरक में कौन रक्षा करेगा ? **कोई धन–कुटुम्ब आदि जीव के साथ नहीं जाता है, अपने भावों से कमाया पाप–पुण्य कर्म ही साथ जाता है** । ये संसारी उपस्थ (काम) इंद्रिय तथा रसना इंद्रिय के विषयों के लोलुपी होकर नरकादि में दु:ख के पात्र बन जाते हैं । इस प्रकार अनेकबार नरक में जाकर घोर दु:ख भोगता है ।

तिर्यंच गति के दु:ख

तिर्यंच गति में जाने के बाद भ्रमण का कुछ ठिकाना नहीं है, दु:ख का पार नहीं है, दु:ख ही दु:ख है ।

पृथ्वी काय में खोदना, जलाना, कूटना, रगड़ना, फाड़ना, छेदना आदि क्रियाओं से कौन रक्षा करता है ?

जल काय में औंटाया गया, जलाया गया, मला गया, मसला गया, पिया गया; विष में, क्षार में, कड़ुवे पदार्थों में मिलाया गया; गरम लोहा आदि धातुओं में पत्थरों में बुझाया गया; घोर शब्द करता हुआ उबलता है-जलता है; पर्वतों से गिरकर शिलाओं के ऊपर घोर शब्द करता हुआ पछाड़ा खाता है; वस्त्रों में भर-भर कर शिलाओं पर पछाड़ा जाता है, डण्डों से कूटा जाता है, जलकाय के जीवों की कौन दया करे ? अग्नि के ऊपर पटक देते हैं, ग्रीष्मऋतु में गरम जमीन पर धूल पर सींचते हैं, कोई दया नहीं करता है; क्योंकि पूर्व जन्म में हमने दयाधर्म अंगीकार नहीं किया, अब अपनी दया कौन करेगा ?

अग्नि काय में दबाना, बुझाना, कूटना, छेदना इत्यादि घोर दु:ख भोगता है, कौन रक्षा करेगा?

पवन काय में निरन्तर पर्वतों की कठोर भीतों की चोट-पछाड़ें सहता है; चमड़े में भरकर अग्नि में फेंका जाता है, धौंका जाता है; बीजना-पंखा-वस्त्र आदि से फटकारें खाता है, वृक्षों के पछाड़े आदि से पवनकाय में घोर दु:ख भोगता है ।

वनस्पति काय में साधारण वनस्पति में तो एक के घात में अनन्तों का घात का दु:ख तो केवलज्ञानी ही जानते हैं; परन्तु प्रत्येक वनस्पति का दु:ख काटना, छेदना, छीलना, बनाना, राँधना, चबाना, तलना,

घी-तेलादि में छोंकना, बाँटना, गर्मराख में झुलसना, घसीटना, चीरना, रगड़ना, मसलना, दबाना, घानी में पेलना, कूटना, आदि घोर दु:ख वनस्पतिकाय में यह जीव पाता है ।

एकेन्द्रिय पर्याय में बोलने को जिह्वा नहीं, देखने को नेत्र नहीं, सुनने को कान नहीं, हाथ-पैर आदि अंग-उपांग नहीं, कोई रक्षक नहीं, असंख्यात अनन्तकाल तक घोर दु:खमय एकेन्द्रिय पर्याय से निकलना नहीं होता है । **मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यादि के प्रभाव से जीव के समस्त ज्ञानादि गुण नष्ट हो जाते हैं** । एकेन्द्रिय में किंचिन्मात्र पर्यायज्ञान रहता है । आत्मा का समस्त प्रभाव, शक्ति, सुख नष्ट हो जाता है; जड़-अचेतन के समान हो जाता है । किंचिन्मात्र ज्ञान की सत्ता एक स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ज्ञानियों को जानने में आती है । समस्त शक्ति रहित केवल दु:खमय एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म-मरण वेदना का दु:ख भोगता है ।

विकलत्रय जीवों के दु:ख : कदाचित् कोई त्रसपर्याय पाता है तो विकल चतुष्क में घोर दु:ख भोगता है । लपलपाती जिह्वा इंद्रिय का सताया तीव्र क्षुधा-तृषामय वेदना का मारा निरन्तर आहार को ढूंढता फिरता है । लट, कीड़ा, अपने मुखफाड़ करके आहार के लिये चपल हुए फिरते हैं । मक्खी, मकड़ी, मच्छर, डांस, भूख के मारे निरन्तर आहार ढूंढते फिरते हैं, रसों में गिर जाते हैं, जल में-अग्नि में गिर जाते हैं, हवा के-वस्त्रों के पछौटे से मर जाते हैं; पशुओं की पूछों से-खुरों से मर जाते हैं; मनुष्यों के नखों से, हाथ-पैर आदि के आघात से चिंथ जाते हैं, दब जाते हैं, मल कफादि में फंसकर मर जाते हैं ।

विकलत्रय जीवों की कोई दया नहीं करता है । चिड़िया, कौवा चुगकर खा जाते हैं; छिपकली, बिसमरा, सर्प इत्यादि को ढूंढ़-ढूंढ़ कर मारते हैं; पक्षी बड़ी मजबूत वज्र जैसी चोंचों से चुग लेते हैं । कोई चीर डालता है, कोई आग में जला देता है । इल्ली, घुन, लट इत्यादि कीड़ों से भरे हुए अनाज को दलते हैं, पीसते हैं, पेलते हैं, उखली में कूटकर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, भाड़ में भून देते हैं, राँधते हैं; बेर आदि फलों में, शाक-पत्तों में विदारते हैं; छीलते हैं, कूटते हैं, छोंकते हैं, चबा जाते हैं, कोई दया नहीं करता है ।

मेवों में, फलों में, दवाइयों में पुष्प-पल्लव-डाली-जड़-वल्कलों में; मर्यादा से अधिक काल के सभी भोजन, दूध, दही, रसों में बहुत विकलत्रय व पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं; वे सब खा लिये जाते हैं, जीव-जन्तु चुग जाते हैं, अग्नि में जल जाते हैं, कौन दया करता है ?

विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति से वर्षा ऋतु में सर्व भूमि ढँक जाती है, और वे पशुओं के पैरों से, मनुष्यों के पैरों से, घोड़ों के खुरों से, रथ, बैलगाड़ी आदि से चिंथ जाते हैं, कट जाते हैं, पैर टूट जाते हैं, माथा कट जाता है, पेट चिर जाता है, कौन दया करता है ? कोई उनकी तरफ देखता ही नहीं है । इस प्रकार विकलत्रय रूप तिर्यंचों का अनेक दु:खों सहित मरण होता है ।

विकलत्रय जीव क्षुधा-तृषा से, शीत-ऊष्ण की वेदना से; वर्षा की, पवन की, गाड़ियों की बाधा से मर जाते हैं । भाटा, ठीकरा, माटी का ढिगला, लकड़ी, मल, मूत्र, गर्म पानी, अग्नि इत्यादि के

गिरने से दबकर मर जाते हैं । **विकलत्रय जीवों की ओर नहीं देखता, कोई–कोई तो इन्हें जीव मानते ही नहीं हैं, इनकी कोई दया नहीं करता है** । घी में-तेल में गिरकर, दीपक में-अग्नि में गिरकर मरकर घोर दु:ख भोगते हैं; फिर उत्पन्न होते हैं फिर मरते हैं; इसी प्रकार असंख्यातकाल तक दु:ख भोगते रहते हैं ।

जलचर तिर्यंचों के दु:ख : कभी पंचेन्द्रिय जलचर तिर्यंच होता है, उनमें निर्बल को सबल खा जाते हैं । धीवरों के जाल में कांटों में फंसकर मर जाते हैं व जीवितों को भी भुलसकर खा जाते हैं ।

जंगली थलचर तिर्यंचों के दु:ख : वन के जीव सदाकाल डरे हुए, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, वर्षा, पवन, कर्दम आदि की घोर वेदना सहते हैं । प्रात:काल में भूख बहुत लगती है, किन्तु भोजन कहाँ ? कभी आहार मिल जाता है तो पानी नहीं मिलता है, तीव्र तृषा वेदना भोगते हैं । शिकारी, पारधी जाकर मार लाते हैं । सबल हों तो वे निर्बलों को मार कर खा लेते हैं । पारधी जाकर बिलों में से खोजकर निकालकर मार डालते हैं । बलवान तिर्यंच निर्बलों को गुफाओं में, पर्वतों में, वृक्षों में, खड्डों में छिपे हुओं को बड़े छल से पकड़कर मार डालते हैं ।

सिंह, व्याघ्र आदि भी सदा भयवान रहते हैं, आहार मिलने का नियम नहीं है, बहुत भूखे-प्यासे पड़े रहते हैं । कभी कुछ थोड़ा सा आहार मिल जाता है; कभी दो दिन में, कभी तीन दिन में मिले; कभी नहीं मिले तो घोर वेदना भोगते हुए मर जाते हैं । कषायी मनुष्य यंत्रों से, जालों के उपाय से पकड़कर मार मार कर बेचते हैं, खा जाते हैं; जीवित के पैर काटकर बेच देते हैं; जीभ काटकर बेच देते हैं; इन्द्रियाँ काटकर बेच देते हैं; पूँछ काटकर बेच देते हैं; मरम स्थानों को काट देते हैं; छेद देते हैं, नथ देते हैं, गोंधते हैं, डालते हैं -

उस तिर्यंचगति में कोई शरण नहीं है, कोई रक्षक नहीं है, कोई उपाय नहीं है । **तिर्यंचों में तो माता ही पुत्र का भक्षण कर लेती है**, तब अन्य वहाँ कौन रक्षा करे ?

नभचर तिर्यंचों के दु:ख : नभचर पक्षियों को भी दु:खों का निरन्तर समागम है । निर्बल पक्षियों को सबल पक्षी पकड़कर मार डालते हैं । बाज, शिकरा, आकाश में ही मारकर खा जाते हैं । बागली, उल्लू इत्यादि रात्रि में विचरनेवाले दुष्ट पक्षी जाकर गर्दन मरोड़कर मार डालते हैं । बिल्ली, कुत्ते भी पक्षियों को बड़े छल से पकड़कर मारते हैं । पक्षी भयभीत हुए वृक्षों की छोटी डाली पकड़कर बैठते हैं; उन्हें सोना, बिछाना, बैठना नहीं मिलता; हवा की, वर्षा की, जल की, गर्मी की, ठण्ड की, घोर वेदना भोग-भोगकर मर जाते हैं । दुष्ट मनुष्य पकड़कर पंख उखाड़ देते हैं, चीर देते हैं, गर्म तेल में जीवित को ही तलकर बनाकर खा जाते हैं । **जहाँ देखो वहाँ पर तिर्यंचों को घोर दु:ख है जो सब हिंसा का फल है ।**

पालतू थलचर तिर्यंचों के दु:ख : हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गधा, भैंसा - इनकी पराधीनता का दु:ख कौन कह सकता है ? नाक फोड़कर सांकल-रस्सी की नाथ डालना, पराधीन बँधे रहना;

जिन्हें स्वच्छन्द फिरना खाना नहीं; गरमी में बंधे हैं, वर्षा में बंधे हैं, शीत में बंधे हैं, पराधीन क्या करें ? उन पर बहुत बोझा लादते हैं, मार मारते हैं, तीक्ष्ण लोहा और काँटा चुभाते हैं, चमड़े के चाबुक से रास्ते में बारंबार मारते हैं, लाठी लकड़ी की चोट से मरम स्थानों में मारते हैं ।

पीठ गल जाती है, मांस कट जाने से गढ्ढा पड़ जाता है, कंधे गल जाते हैं, नाक गल जाती है; कीड़े पड़ जाते हैं तो भी पत्थर, लकड़ी, धातुओं का कठोर भार लादते हैं जिससे हाड़ों का चूरा बन जाता है; पैर टूट जाते हैं, बहुत रोगी हो जाता है, उठा नहीं जाता है, जरा से जरजर हो जाता है; पीठ गल जाती है तो भी बहुत भार लादते हैं, बहुत दूर ले जाते हैं, भूख-प्यास-रोग-गरमी की वेदना नहीं गिनते हैं । आधी रात हो जाने पर भी बहुत भार लाद देते हैं और दूसरे दिन के तीन प्रहर व्यतीत हो जाने पर भार उतारते हैं । कुछ घास, काँटा, तुस, भुस, कणरहित, नीरस, थोड़ा-सा आहार मिलता है । वह भी पेटभर नहीं मिलता है । **पराधीनता का दुःख तिर्यंचगति समान और नहीं है ।**

निरन्तर बंधन में पिंजरे में घोर दुःख भोगते हैं । चांडाल के दरवाजे पर बंधा रहे, चमार कषायियों के दरवाजे पर बंधा रहे, खाने को नहीं मिलता है । अन्य पुण्यवानों के दरवाजे पर बंधे तिर्यंचों को खाते देखकर मानसिक दुःख होता है । दूसरों के आहार-घास में मुख चलाते हैं तो पसलियों में बड़ी लाठियों से मारते हैं । बहुत घोर क्षुधा का दुःख भोगते हैं । रास्ता चलने का, बोझा ढोने का, रोगों का घोर दुःख भोगते हैं । तिर्यंच बैल, कुत्ते आदि के नेत्रों में, कानों में, इन्द्रियों में, पोतों में घोर वेदना देने वाली गूँगा-चीचड़ा पैदा हो जाते हैं जो सभी मरम स्थानों में तीक्ष्ण मुखों से लहु को खींचते हैं, जिसकी घोर वेदना भोगते हैं ।

कितनों ही को खाने को घास तथा पीने को पानी नहीं मिलता है तो भी घोर वेदना भोगते हुए ग्रीष्म ऋतु को पूरा करते हैं । श्रावण माह आ जाने पर घास बहुत पैदा हो जाती है वहाँ भी पाप के उदय से करोड़ों डांस मच्छर पैदा हो जाते हैं तो जहाँ चरने को जाते हैं वहीं पर डांस-मच्छरों के पैने डंक चुभने से उछलता फिरता है; घास की तरफ मुख नहीं कर सकता है; बैठे या सो जाय तो वहाँ पर जुओं की घोर वेदना भोगता है ।

ऊँट, बैल, घोड़ा इत्यादि रास्ते में बोझा के दुःख से, वृद्ध अवस्था से, रोग से, जब थक जाते हैं, चलते नहीं बनता है, पैर टूट जाता है, मारते-मारते भी नहीं चल पाता है तब वही वन में, पानी में, पर्वत में ही छोड़कर मालिक चला जाता है । वहाँ निर्जन स्थान में, कीचड़ में अकेला पड़ा हुआ रह जाता है; कोई शरण नहीं । किससे कहे, कौन पानी पिलावे, घास कहाँ से आवे ? कीचड़ में, गर्मी में, शीत में, वर्षा में पड़ा हुआ घोर भूख-प्यास की वेदना भोगता है । असमर्थ जानकर दुष्ट पक्षी अपनी लोहे जैसी चोंचों द्वारा आँखें निकाल लेते हैं, मरम स्थानों में से अनेक जीव मांस काट-काटकर खाते हैं, नरक के समान घोर वेदना भोगता है, कई दिन तक तड़फड़ाता हुआ अति कठिनता से दुःख भोगता हुआ मरता है ।

ये सभी दुःख दूसरों का अन्याय से धन छीनने का, कपटी-छली होकर दान लेने का, विश्वास घात करने का, अभक्ष्य-भक्षण करने का, रात्रि में भोजन करने का, निर्माल्य देव द्रव्य- भक्षण करने का, जल तिर्यंच गति में भोगते हैं। दूसरों को कलंक लगाने का, अपनी प्रशंसा करने का, दूसरों की निंदा करने का, दूसरों के छल ढूँढ़ने का, दूसरों के मीठे भोजन की लालसा का, अति मायाचार करने का फल तिर्यंच गति में भोगते हैं । यहाँ असंख्यात अनन्तभव तिर्यंचगति में बारंबार धारण करता हुआ, मायाचारादि व तीव्रराग के परिणामों से तिर्यंचगति के कारण - नरकगति के कारण नये कर्मों का बंध करता हुआ अनन्तकाल व्यतीत करता है । **ये सब मिथ्या श्रद्धान, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या आचरण का फल है ।**

मनुष्यगति के दुःख

यहाँ मनुष्यगति में कई तो तिर्यंचों के समान ज्ञान रहित हैं। कितने ही के गर्भ में आते ही पिता मर जाता है तब दूसरों की जूठन खाकर, भूख-प्यास को सहता हुआ, दूसरों द्वारा तिरस्कार करना सहता हुआ बढ़ता है । दूसरों का दासपना करता है; बचपन से ही तिर्यंचों के समान भार ढोता है; एक सेर अनाज से पेट भरने के लिये, एक बोझा सिर पर, एक बोझा पीठ पर, एक बोझा हाथों में लेकर बारा कोस तक पांवों से चला जाता है; अन्न का, घी का, तेल का, नमक का, धातु का कठोर भार ढोता है ।

कोई दिनभर ही पानी का बोझा ढोते रहते हैं ; कोई विदेशों में रात-दिन गमन करते हैं; गमन समान दुःख दूसरा नहीं है । बीस-तीस कोस पेट भरने के लिये प्रतिदिन दौड़ना पड़ता है । कोई पत्थर मिट्टी आदि का बोझा निरन्तर ढोते रहते हैं; **कोई दूसरों की सेवा करते हुए पराधीनता से मनुष्य जन्म व्यतीत करते हैं ।**

कोई लुहार होकर लोहा गढ़कर पेट भरते हैं, कोई लकड़ी चीरते हैं, काटते-फाड़ते हैं, बनाते हैं तब भोजन मिलता है । कोई मैले कपड़े धोते हैं, कोई कपड़ा रंगते हैं, कोई छापते हैं, कोई सिलते हैं, कोई तागते हैं, कोई बुनते हैं, कोई तिर्यंचों की सेवा करते हैं तो भी पेट नहीं भरता है । कोई पीसते हैं; कोई घास का बोझा ढोते हैं; लकड़ी का बोझा ढोते हैं; कोई चमड़े का छीलना बनाना आदि कार्य करते हैं; कोई दलते हैं, कोई खोदते हैं, कोई रसोई बनाते हैं; कोई अग्नि जलाने के (संस्कार) कार्य करते हैं, कोई भट्टी चलाते हैं; कोई घी, तेल, क्षार, नमक आदि से आजीविका करते हैं ।

कोई दीनपना दिखाकर घर-घर से मांगते हैं, कोई रंक होकर फिरते हैं, कोई रोते हैं, कोई कर्म के आधीन होकर **अपने को भूलकर व्यर्थ मनुष्य जन्म व्यतीत करते हैं** । कोई चोरी करते हैं, छल करते हैं, असत्य बोलते हैं, व्यभिचार करते हैं । कोई चुगली करते हैं, कोई गली में लूट लेते हैं, कोई सड़कों पर लूटते हैं । कोई युद्ध में चल जाते हैं, कोई समुद्र में - विषम वनों में प्रवेश करते हैं कोई नदी में उतरते हैं, कुआ जोतते हैं, खेती करते हैं, नाव चलाते हैं, बोते हैं, नुनाई करते हैं । कोई मिट्टी के बर्तन बनाते हैं, कोई आभूषण आदि बनाते हैं । कोई मल-मूत्र को झाड़ते हैं, कोई मल-मूत्र का भार ढोते हैं, कोई भाड़ भूँजते हैं और जन्म पूरा करते हैं ।

कोई हिंसा के अनेक आरम्भ, हिंसा के व्यापार बहुत अभिमानी लोभी होकर करते हैं । कोई आमद-खरच लिखने के काम करते हैं; कोई अनेक चित्र बनाते हैं; कोई पत्थर, ईंट पकाते हैं, कोई मकान बनाते हैं । कोई जुआ खेलते हैं, कोई वेश्यावृत्ति कराते हैं; कोई शराब पीने-पिलाने का कार्य करते हैं; कोई राज्य की नौकरी करते हैं; कोई नीचों की नौकरी करते हैं; कोई गायन विद्या से जीविका करते हैं; कोई बाजे बजाते हैं, कोई नृत्य करते हैं; कर्म के वश में पड़े हुए अनेक प्रकार के कष्टों में मनुष्य पर्याय को व्यतीत करते हैं । **पुण्य-पाप के आधीन होकर अनेक मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करते हुए प्रत्यक्ष ही अनेक प्रकार का फल भोगते हुये दिखाई देते हैं ।**

कोई अनाज आदि बेचकर जीविका करते हैं, कोई गुड़, शक्कर, घी, तेल आदि की आजीविका करते हैं; कोई कपड़े का, कोई सोने-चाँदी का, कोई हीरा-मोती, मणि-माणिक आदि के व्यापार से आजीविका करते हैं । कोई लोहा-पीतल इत्यादि धातु की, कोई लकड़ी-पत्थर की, कोई मेवा-मिठाई, पुआ-घेवर-मोदक आदि की, कोई अनेक व्यजंन-अनेक औषधियाँ इत्यादि कर्म के अधीन अनेक प्रकार की जीविका करते हैं ।

कोई व्यापारी हैं, कोई नौकर हैं, कोई दलाल हैं, कोई उद्यमी हैं, कोई निरुद्यमी हैं, कोई आलसी हैं; कोई मनमाने कपड़े आभूषण पहिनते हैं; कोई बहुत कष्ट से पेट भरते हैं; कोई कष्ट रहित सुखिया हुए भोजन करते हैं; कोई दूसरों के घर जाकर याचक बनकर भोजन करते हैं; कोई पूज्य गुरु बनकर भोजन करते हैं, कोई रंक दीन होकर भोजन करते हैं, कोई अनेक रस सहित भोजन करते हैं, कोई नीरस भोजन करते हैं, कोई पेट भर अनेकबार भोजन करते हैं; कोई साधारण नीरस भोजन से आधा पेट ही भर पाते हैं, किसी को एक दिन के अन्तर से मिलता है, किसी को दो दिन के अन्तर से मिलता है, किसी को तीन दिन के अन्तर से बड़ी मुश्किल से मिलता है, किसी को भोजन नहीं मिलने से भूख प्यास की वेदना से मरण हो जाता है ।

कोई बंदीघर में पराधीन पड़े घोर वेदना सहते हैं, कोई अपने हितैषी के वियोग से दुःखी हैं, कोई पूरी जिन्दगी भर रोग जनित घोर वेदना भोगते हुए बहुत दुःखी होकर मर जाते हैं । कोई बुखार, खांसी, श्वास, अतिसार की वेदना भोगते हैं । कोई अनेक प्रकार की वायु की, पित्त की, उदर विकार की, जलोदर-कटोदर आदि की घोर वेदना भोगते हैं । कोई कर्णशूल, दन्तशूल, नेत्रशूल, मस्तकशूल, उदरशूल की घोर वेदना भोगते हुए मर जाते हैं ।

कोई जन्म से अन्धे, बहरे, गूंगे होते हैं तथा कोई हाथ-पैर आदि अंगों से विकल होकर जन्म पूरा करते हैं । कोई कितनी ही आयु बीत जाने पर अंधे होकर, बहरे होकर, लूले होकर, लंगड़े होकर, पागल होकर, पराधीन होकर मानसिक व शारीरिक घोर दुःख भोगते हैं । कितने ही की रूधिरविकार से कोढ़, खाज, पैर में दाद आदि से अंगुलियाँ गल जाती हैं, हाथ गल जाते हैं, नाक पैर आदि गल जाते हैं और दुःख भोगते रहते हैं ।

कर्म के उदय की गहन गति है । कोई अन्तराय के उदय से निर्धन होकर अनेक दुःख भोगते हैं; कभी पेट भरता है कभी नहीं भरता है, कभी नीरस भोजन गला हुआ-सड़ा हुआ बहुत कष्ट से

मिलता है; अनेक तिरस्कार भोगते हैं । रहने को बहुत ही जीर्णघर जिसके ऊपर घासफूस पत्तों की छाया ही पूरी नहीं; बहुत सकड़ा होता है । उसमें भी चूहे, सांप, बिच्छू आदि के चारों तरफ बिल; बहुत दुर्गंध व चांडाल आदि कुकर्मियों के घरों के पास रहना होता है । खाने को पाव भर धान नहीं मिलती है । कलहकारिणी, काली, कटुकवचन युक्त, महाभयंकर, विड्रूप, डरावनी, पापिनी स्त्री का समागम; अनेक रोगी, भूखे, विलाप करते कुरूप पुत्र-पुत्रियों का समागम पाप के उदय से पाता है ।

व्यसनी दुष्ट महापापी पुत्र का साथ; बैरियों से भी महाबैरी जबर दुष्ट भाई का साथ; दुष्ट अन्यायमार्गी, बलवान, पापी, दुराचारी पड़ोसियों का साथ; लोभी, दुष्ट, अवगुणग्राही, कृपण, क्रोधी, मूर्ख स्वामी की महाक्लेश कारी सेवा पाप के उदय से मिलती है । कृतघ्नी, दुष्ट, छिद्र हेरनेवाला, जबर सेवक का मिलना - ये सब संसार में पाप के उदय से देखे जाते हैं ।

धर्मरहित, अन्यायमार्गी, क्रूर राजा के राज में रहना; दुष्ट मंत्री, प्रधान, कोतवाल का साथ मिलना; कलंक लगना, अपयश हो जाना, धन का नष्ट हो जाना - ये सब पंचमकाल के मनुष्यों के बहुत प्रकार से पाये जाते हैं ।

इस दुःखमाकाल में जितने मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे पूर्व जन्म में व्रत-संयम रहित मिथ्यादृष्टि होते हैं, वे ही भरतक्षेत्र में पंचमकाल के मनुष्य होते हैं । कोई मिथ्याधर्मी कुदान, कुतप, मन्दकषाय के प्रभाव से यहाँ मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं; वे राज्य ऐश्वर्य धन भोग सम्पदा निरोगता पाकर, अल्प आयु में ही ये सब भोगकर, पाप उपार्जन करनेवाले अन्याय अभक्ष्य के मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करके संसार में परिभ्रमण करते हैं ।

कोई विरले पुरुष यहाँ पर सम्यग्दर्शन सहित होकर व्रत-संयम भी धारण करते हैं । मंदकषायी आत्म निन्दा-गर्हायुक्त मनुष्य अपने मनुष्यजन्म को सफल करके स्वर्ग में महर्द्धिक देव होते हैं । यहाँ पर कोई पूर्व जन्म में मन्दकषायी उज्ज्वल दानादि करनेवाला पुण्य संयुक्त भी आ जाये, तो उसको भी इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग होता ही है ।

संसार के दुःख का स्वभाव देखो : भरत चक्रवर्ती के ही छोटे भाई ने महान अनिष्ट होकर बल के मद से चक्रवर्ती का मान भंग (अपमान) किया । **न्यायमार्ग से देखिये:** तो भरत बड़ा भाई, पद में पिता के बराबर रहनेवाला, नमन करने योग्य था । फिर वह चक्रवर्ती और कुल में भी बड़ा था । उसकी उच्चता लघुभ्राता होकर देख नहीं सके । **भरत बड़ा सच्चा,** ममत्व से शामिल होकर राज्य को भोगने के लिये बुलाया । परन्तु बड़े भाई से ईर्ष्या की, अपयश किया, तो अन्य की कथा क्या कहें ?

किसी के स्त्री नहीं है तो उसकी तृष्णा से स्त्री के बिना अपना जीवन व्यर्थ मानकर दुःखी हो रहा है । किसी की स्त्री है जो दुष्टनी है, व्यभिचारिणी है, कलहकारिणी, मर्म को विदारनेवाली व रोग से निरंतर सन्ताप करनेवाली है, जिससे बहुत दुःखी होता है । किसी की आज्ञाकारिणी पति

की इच्छानुसार चलनेवाली स्त्री मर जाती है तो उसके वियोग से महादुःखी होता है । किसी की वृद्ध अवस्था में निर्धनता में स्त्री का मरण हो जाये तब छोटे बच्चे माता के वियोग से निरीह रह जाते हैं, उन्हें देखकर दुःखी होता है ।

कितने ही वृद्ध अवस्था में अपने विवाह की इच्छा करते, हैं किन्तु विवाह होता नहीं है जिससे दुःखी रहते हैं । कोई पुत्र रहित हो तो वह दुःखी है, कोई कपूत पुत्रों से दुःखी है; किसी के यशवान सुपुत्र का मरण हो जाये तो वह उसके वियोग से दुःखी होता है । किसी को बैरी के समान मारनेवाले कुवचन बोलनेवाले भाई के समागम के समान दुःख नहीं है ।

कोई महारोग व निर्धनता के दुःख से दुःखी होते हैं; किसी के पुत्रियाँ बहुत हों उनके विवाह आदि के लिये आवश्यक धन नहीं होने से दुःखी रहते हैं; किसी की पुत्री विवाह के योग्य हो गई है, किन्तु वर का संयोग नहीं मिलता तो बहुत दुःखी होते हैं । किसी की कन्या अंधी, लूली, गूँगी, बावली, अंगहीन, विड्रूप हो तो उसका महादुःख है ।

किसी की पुत्री को कुबुद्धि, व्यसनी, निर्धन, रोगी, पापी वर का संयोग हो जाता है तो घोर दुःख होता है । किसी की पुत्री छोटी अवस्था में विधवा हो जाये तो उसका महादुःख, पुत्री को निर्धन देखे तो महादुःख; पुत्री व्यभिचारिणी हो तो मरण से भी अधिक होता है; तथा विवाही पुत्री का मरण हो जाता है तो दुःखी होता है ।

माता-पिता के वियोग का दुःख होता है । यदि पिता किसी बलवान निर्दयी का कर्ज छोड़ जाता है तो उसका दुःख होता है; क्योंकि ऋण समान दुःख नहीं है । माता-बहिन व्यभिचारिणी हो, दुष्ट हो तो महादुःख; कोई इन्हें जबरदस्ती से हरण कर ले जाय, मार दे उसका घोर दुःख होता है । दुष्टों के समागम का दुःख; दुष्ट-अधर्मी-अन्यायमार्गी के साथ शामिल आजीविका हो तो महादुःख, दुष्ट अन्यायी के अधीनपना हो तो दुःख होता है ।

मनुष्य जन्म में धनवान होकर फिर निर्धन हो जाने का दुःख, तथा मानभंग होने का दुःख होता है । कोई अपना मित्र होकर फिर दोष देखनेवाला, छिद्र प्रकट करनेवाला, असत्य बोलनेवाला, अपराध लगाने वाला शत्रु हो जाय तो उसका बहुत दुःख होता है । यह संसार सर्व प्रकार दुःखरूप ही है। यहाँ पर राजा होकर रंक हो जाता है, रंक से राजा हो जाता है; इत्यादि मनुष्य पर्याय में घोर दुःख ही है ।

देवगति के दुःख

यदि कभी देव पर्याय पाता है तो वहाँ भी मानसिक दुःख होता है । यद्यपि देवों के निर्धनता नहीं, बुढ़ापा नहीं, रोग नहीं; क्षुधा-तृषा-मारण-ताडन-वेदना नहीं; तथापि महान ऋद्धि के धारकों को देखकर अपने को नीचा मानकर मानसिक दुःख को प्राप्त होता है । कोई इष्ट देवांगना के वियोग होने के दुःख को प्राप्त होता है; यद्यपि जब कोई देवांगना मरती है तब उसके स्थान पर शरीर, रूप, ऋद्धि आदि सहित वैसी की वैसी ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है, तो भी उस जीव के वियोग का दुःख तो उत्पन्न होता ही है ।

जो पुण्यहीन देव हैं वे इंद्रादि महर्द्धिक देवों की सभा में प्रवेश नहीं कर सकते हैं, उसका बहुत मानसिक दुःख होता है। **आयु पूर्ण होने पर देवलोक में अपना पतन देखने पर उनका दुःख वे ही जानते हैं या उनका दुःख भगवान केवली ही जानते हैं।**

इस संसार में स्वर्ग का महर्द्धिक देव मरकर एक इंद्रिय में आकर पैदा हो जाता है। मल-मूत्र से भरे रुधिर-मांस के गर्भ में आकर जन्म लेता है। इस संसार में परिभ्रमण करते हुये पुण्य-पाप के प्रभाव से श्वानादि तिर्यंच तो देवों में उत्पन्न होकर देव बन जाते हैं, तथा देव मरकर ब्राह्मण, चाण्डाल, तिर्यंच बन जाता है। कर्मों के अधीन हुआ जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

संसार में राजा होकर रंक हो जाता है, स्वामी से सेवक हो जाता है, सेवक से स्वामी हो जाता है, पिता हो वही पुत्र हो जाता है, पुत्र हो वह पिता हो जाता है, पिता पुत्र ही माता हो जाते हैं, पत्नी हो वह बहिन, दासी, दास हो जाती है, दासी दास हो वह पिता हो जाये, माता हो जाये, आप ही आपका पुत्र हो जाये, देवता हो जाये, तिर्यंच हो जाये, धनवान से निर्धन और निर्धन से धनवान हो जाता है, रोगी दरिद्री से दिव्य रूपवान हो जाये, दिव्य रूपवान का महाविड्रूप देखने योग्य नहीं रहता है।

शरीर धारण करना भी बड़ा भार है। अन्य भार को ढोता हुआ पुरुष तो किसी स्थान में भार को उतार कर विश्राम कर लेता है, किन्तु देह के भार को ढोनेवाले पुरुष को कहीं पर भी विश्राम प्राप्त नहीं होता है। जहाँ पर औदारिक-वैक्रियिक देह का भार क्षण मात्र को उतारता है, वहीं पर आत्मा इनसे अनंतगुना तैजस-कार्माण शरीर का भार धारण किये रहता है।

तैजस–कार्माण शरीर कैसे हैं? इन्होंने आत्मा के अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख को दबाकर रखा है। इनके कारण केवलज्ञान तथा अनन्त सुखशक्ति अभाव के समान हो रही है। जैसे वन में अंधा मनुष्य घूमता है, उसी प्रकार मोह से अंधा होकर जीव चारों गतियों में भ्रमण करता है।

संसारी जीव रोग, दारिद्र, वियोग आदि के दुःख से दुःखी होकर धन कमाकर दुःख दूर करने के लिये मोह से अंधा होकर विपरीत इलाज करता है। सुखी होने को अभक्ष्य-भक्षण करता है, छल कपट करता है, हिंसा करता है, धन के लिये चोरी करता है,मार्ग में लूटता है, परन्तु धन भी पुण्यहीन के हाथ नहीं आता है। **सुख तो पाँच पापों के त्याग से होता है। मिथ्यादृष्टि पाँचों पाप करके अपने धन की वृद्धि कुटुम्ब की वृद्धि, सुख की वृद्धि चाहता है। इंद्रियों के विषयों की प्राप्ति होने से सुख जानता है, यही मोह से अंधापना है।**

जिन संसारी जीवों को हम यहाँ पर भी दुःखी देखते हैं वे दूसरे जीवों को मारने से, असत्य से, चोरी से, कुशील से, परिग्रह की लालसा से, क्रोध से, अभिमान से, छल से, लोभ से, अन्याय से ही दुःखी दिखते हैं। **अन्य कोई दुःखी होने का मार्ग नहीं है।** ऐसा प्रत्यक्ष देखते हुए भी पापों में ही लिप्त होता है। **यह विपरीत मार्ग ही संसार के अनन्त दुःखों का कारण है।** दुःखों से दुःख ही उत्पन्न होता है, जैसे अग्नि से अग्नि ही उत्पन्न होती है।

जो इस प्रकार का सत्यार्थ स्वरूप का बारम्बार चिन्तवन, अनुभवन करता है उसे संसार से वैराग्य होता है; **जो विरक्त होता है वह संसार परिभ्रमण दूर करने के उद्यम में सावधान होता है** । इस प्रकार तीसरी संसार भावना का वर्णन किया । ३ ।

एकत्व भावना (४)

अब एकत्व भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं, जिसका अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये चिन्तवन करना चाहिये । यह जीव कुटुम्ब, स्त्री, पुत्रादि के लिये तथा अपना शरीर पालने के लिये बहुत आरंभ, बहुत परिग्रह, अन्याय, अभक्ष्य आदि करता है जिसका फल घोर दुःख, नरक आदि पर्यायों में अकेला स्वयं भोगता है ।

जिस कुटुम्ब के लिये व देह के लिये पाप करता है, सो देह तो अग्नि में भस्म होकर उड़ जायेगी, कुटुम्ब भी कहाँ मिल पायेगा ? अपने ही द्वारा बांधे गये कर्मों के उदय से हुए रोग, दुःख, वियोगादि को भोगते हुए जीव के सभी मित्र, कुटुम्ब आदि प्रत्यक्ष देखते हुए भी थोड़ा सा भी दुःख दूर नहीं कर सकते हैं ? तब नरक आदि गति में कौन सहायी होगा ? अकेले ही भोगेगा । आयु का अन्त होने पर अकेला ही मरता है । मरण से बचाने में कोई दूसरा सहायी नहीं है । अशुभ का फल भोगने में कोई अपना सहायी नहीं है । परलोक की ओर गमन करनेवाले आत्मा के स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, देह, परिग्रह आदि सहायी नहीं होते हैं । कर्म अकेले जीव को ही ले जाता है, ले जायगा ।

इस लोक में जो बंधु-मित्रादि हैं वे परलोक में बंधु-मित्रादि नहीं होंगे । जो धन, शरीर, परिग्रह, राज्य, नगर, महल, आभूषण, सेवक आदि परिकर यहाँ हैं वे परलोक में साथ नहीं जायेंगे। इस देह के संबंधी इस देह का नाश होते ही संबंध छोड़ देंगे; वे अपने कर्मों के आधीन अपना सुख-दुःख स्वयं ही भोगेंगे, जीव अकेला जायेगा । इसलिये **संबंधियों में ममता करके परलोक बिगाड़ना महा अनर्थ है ।**

यहाँ जो सम्यक्त्व, व्रत, संयम, दान, भावना आदि करके धर्म की कमाई की है, वह इस जीव की सहायक होती है । एक धर्म के बिना कोई सहायक नहीं, अकेला ही है । धर्म के प्रसाद से स्वर्गलोक में इन्द्रपना, महर्द्धिक देवपना पाकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, मन्डलेश्वरपना, उत्तमरूप, बल, विद्या, संहनन, उत्तम जाति, कुल, जगतपूज्यपना पाकर निर्वाण प्राप्त होता है ।

जैसे बंदीगृह में बंधन से बंधे हुये पुरुष को बन्दीगृह से राग नहीं है, वैसे ही सम्यग्ज्ञानी पुरुष को देहरूप बंदीगृह से राग नहीं है; क्योंकि धन-कुटुम्ब आदि का अभिमानी घोर बंधन में पराधीन होकर दुःख भोगता है; ऐसा वह जानता है । अकेला ही अपने स्वरूप को नहीं जानकर; परद्रव्य, देह, परिग्रह आदि को अपना जानकर अनंतकाल से भ्रमण करता रहा है; अकेला ही अन्य गति से आकर जन्म धारण कर लेता है । कर्म के सिवाय अन्य कुछ भी साथ नहीं आया है । पुण्य-पाप कर्म ही राजा, रंक, नीच, ऊँच के गर्भादि योनिस्थान में ले जाकर पैदा कर देता है । अकेला ही आयुपूर्ण होने पर समस्त कुटुम्ब आदि को छोड़कर परलोक को चला जाता है, फिर लौटकर वापिस नहीं आता है ।

गर्भ में बसने का दु:ख, योनि संकट का दु:ख, रोग सहित शरीर का दु:ख, दारिद्र का घोर दु:ख, वियोग का महादु:ख, क्षुधा-तृषादि वेदना का दु:ख, अनिष्ट दुष्टों के संयोग का दु:ख यह जीव अकेला ही भोगता है ।

स्वर्गों के असंख्यातकाल तक महान सुख, अप्सराओं का साथ, असंख्यात देवों का स्वामीपना, हजारों ऋद्धि आदि की सामर्थ्य पुण्य के उदय से जीव अकेला ही भोगता है ।

पाप के उदय से नरक में ताड़न, मारण, छेदन, भेदन, शूली आरोहण, कुम्भीपाचन, वैतरणी मज्जन आदि क्षेत्र जनित, शरीर जनित, मन जनित तथा परस्परकृत घोर दु:ख अकेला ही भोगता है।

तिर्यंचों का पराधीन बन्धना, बोझा लादना, कुवचन सुनना, मरम स्थानों में अनेक प्रकार से घात सहना; दीर्घकाल तक बहुत भार लेकर बहुत दूर तक चलना; क्षुधा-तृषा सहना; रोगों की अनेक वेदना भोगना; शीत, उष्ण, पवन, तावड़ा, वर्षा, गड़ा इत्यादि की घोर वेदना भोगना; नासिका आदि में रस्सी डालकर दृढ़ बाँधना, घसीटना, सवारी करना, समस्त दु:ख पाप के उदय से जीव अकेला ही भोगता है । **कोई मित्र-पुत्रादि सहायक साथ में नहीं रहते हैं, एक धर्म ही सहायक है ।**

इस प्रकार एकत्व भावना भाने से स्वजनों में प्रीति नहीं बढ़ती है, अन्य परिजनों में द्वेष का अभाव होता है; तब अपने आत्मा की शुद्धता में ही प्रयत्न करता है । इस प्रकार एकत्व भावना का वर्णन किया (४) ।

अन्यत्व भावना (५)

अब अन्यत्व भावना का स्वरूप चिन्तवन करने योग्य है । हे आत्मन्! इस संसार में जो स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, राज्य, भोग आदि का तुमसे संबंध है वे सब तुम्हारे स्वरूप से अन्य हैं, भिन्न हैं, तुम किस के सोच-विचार में लग रहे हो ? अनन्तानन्त जीवों का तथा अनन्त पुद्गलों का संबंध तुमसे अनन्तबार होकर छूट चुका है । अज्ञानी संसारी अपने से अन्य जो स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु, धन, कुटुम्ब आदि का संयोग, वियोग, सुख, दु:ख आदि हैं उनका चिन्तवन करके समय व्यतीत करता है; किन्तु अपने नजदीक आया मरण व नरक-तिर्यंच आदि गति में जाना, उसका चिन्तवन विचार नहीं करता है ।

समय-समय यह मनुष्यआयु चली जा रही है; यदि इसमें ही अपना हित नहीं किया, पाप से पराङ्मुख नहीं हुआ, कुगति के कारण राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, लोभादि महाबली से आत्मा को नहीं छुड़ाया तो तिर्यंचगति-नरकगति में अज्ञानी, पराधीन, अशक्त रहता हुआ क्या करूँगा ?

इस पंच परिवर्तनरूप संसार में अनन्तानन्त काल से परिभ्रमण करते हुए जीव का अपना कोई स्वजन नहीं है । **ये स्वामी, सेवक, पुत्र, मित्र, बांधवों को जो अपना मानते हो, वह मिथ्या मोह की महिमा है, इसी को मिथ्यात्व कहते हैं ।** ये तो सभी संबंध कर्मजनित अल्पकाल के हैं, अचानक वियोग हो जायगा । ये सभी संबंध विषय-कषाय पुष्ट करने को तथा अपना स्वरूप भुलाने के लिये हैं ।

संसार में सभी जीवों से अपना शत्रुमित्रपना अनेकबार हुआ है; आगे भी इन परद्रव्यों में आत्मबुद्धि करके अनन्तकाल तक भ्रमण करोगे । इन परद्रव्यों के संबंध में राग-द्वेष बुद्धि करके शत्रु-मित्र बुद्धि ही से एक इंद्रियपना तथा ज्ञान पहिचान के विचार रहित अज्ञानी होकर अनन्तकाल तक भ्रमण करोगे। जैसे अनेक देशों से आये भिन्न-भिन्न अनेक पथिक रात्रि में एक स्थान में ठहर जाते हैं अथवा एक वृक्ष पर अनेकदिशाओं से आये अनेक पक्षी रात्रि में आकर बस जाते हैं; प्रातः काल होने पर वे सब अनेक मार्गों से अनेक देशों को चले जाते हैं; उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र, बंधु आदि अनेक गतियों से पाप-पुण्य बांधकर कुलरूप स्थान में आकर शामिल हो जाते हैं; अपनी-अपनी आयु पूर्ण हो जाने पर पाप-पुण्य के अनुसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदि अनेक भेदरूप गतियों को चले जायेंगे ।

कोई भी किसी का नहीं है । पुण्य-पाप के अनुसार दो दिन आपका उपकार-अपकार करके संसार में आकर रूलते रहते हैं । **इस संसार में सभी जीवों की भिन्न-भिन्न प्रकृति है, किसी का स्वभाव किसी दूसरे से मिलता नहीं है ।** स्वभाव मिले बिना कैसी प्रीति है ? परस्पर में किसी का अपना-अपना विषय-कषायरूप प्रयोजन सधता दिखाई देता है तो उनमें प्रीति हो जाती है, प्रयोजन बिना प्रीति नहीं होती है ।

इस समस्त लोक में बालू रेत के कण के समान किसी का किसी से संबंध नहीं है । जैसे बालू के भिन्न-भिन्न कण किसी जल आदि चिकने पदार्थ का साथ हो जाने से मुट्ठी में बंध जाते हैं, चिपक जाते हैं; चैंप दूर होने पर कण-कण भिन्न-भिन्न बिखर जाता है; उसी प्रकार समस्त पुत्र, स्त्री, मित्र, बंधु, स्वामी, सेवकों का संबंध है । जब तक अपना कोई भी विषय, अभिमान, लोभादि कषाय सधता दिखाई देता है तभी तक प्रीति जानो । जिनसे अपने इन्द्रियों के विषय नहीं सधते, अभिमान आदि कषाय पुष्ट नहीं होते उनके रूखे परिणामों से प्रीति नहीं होती है ।

बिना प्रयोजन भी जगत में कहीं प्रीति देखी जाती है, वह लोक लाज के अभिमान से, आगामी कुछ प्रयोजन की आशा से, तथा पूर्वकाल के उपकार को लोपूँगा तो लोक में मेरा कृतघ्नीपना दिखाई देगा-इस भय से मीठे वचनादिरूप प्रीति करता है ।

कषाय-विषयों के संबंध के बिना प्रीति होती ही नहीं है । वही देखते भी हैं - जिससे अपना अभिमान सधता दिखता है, धन का लाभ, विषय-भोगों का लाभ, आदर, बड़ाई अपना पूज्यपना होने का लाभ, व यश के लिये या किसी प्रकार की आपत्ति के भय से प्रीति करता है । **विषय-कषायों के चैंप के बिना प्रीति होती ही नहीं है ।** सभी अन्य है, कोई अपना नहीं है ।

माता भी पुत्र का पोषण करती है सो वह भी दुःख में-वृद्धपने में अपना आधार जानकर पोषण करती है । पुत्र भी माता का पोषण करता है सो वह ऐसा विचारकर करता है - यदि मैं माता की सेवा नहीं करूँगा तो जगत में मेरे कृतघ्नीपने का अपवाद होगा तथा पाँच आदमियों में मेरी उच्चता नहीं रहेगी, ऐसे अभिमान से प्रीति करता है ।

बैरी भी उपकार, दान, सन्मान आदि करने से अपने मित्र हो जाते हैं, तथा अपने अति प्यारे पुत्र भी विषयों को रोकने से अपमान-तिरस्कार आदि करने से क्षण मात्र में अपने शत्रु हो जाते हैं। अतः किसी का कोई मित्र भी नहीं है, शत्रु भी नहीं है। उपकार-अपकार की अपेक्षा ही मित्रपना-शत्रुपना है । **संसारियों का जो अपना विषय-अभिमान पुष्ट करे वह मित्र है, जो विषय-अभिमान रोके वह शत्रु है ।**

जगत का ऐसा स्वभाव जानकर अन्य में राग-द्वेष का त्याग करो । यहाँ जो बहुत प्यारे स्त्री, पुत्र, मित्र, बांधव तुम्हारे, हैं वे सभी स्वर्ग मोक्ष का कारण जो धर्म, संयम, वीतरागता है, उनमें अत्यन्त विघ्न करनेवाले हैं; वे हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि महान अनीतिरूप परिणाम कराकर नरक आदि कुगति पाने का बंध कराते हैं, वे ही बड़े बैरी हैं । **इस जीव को जो मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि से रोक कर संयम में, दशलक्षण धर्म में प्रवृत्ति कराते हैं वे मित्र हैं, वे निर्ग्रन्थ गुरु ही हैं ।**

यह आत्मा स्वभाव से ही शरीर आदि से भिन्न लक्षणवाला चेतनामय है; देह पुद्‌गलमय अचेतन जड़ है । जब देह ही भिन्न है, अन्य है, विनाशीक है तो इसके संबंधी स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्ब, धन, धान्य, स्थान आदि भिन्न कैसे नहीं होंगे ? यह शरीर तो अनेक पुद्‌गल परमाणुओं के समूह से मिलकर बना है; वे शरीर के परमाणु भिन्न-भिन्न होकर बिखर जायेंगे और आत्मा चैतन्य स्वभाव अखण्ड, अविनाशी बना रहेगा । अतः सभी संबंधों में अन्यपने का दृढ़ निर्णय करो ।

कर्म के उदय जनित राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि भी भिन्न हैं, विनाशीक हैं, तो अन्य शरीरादि के संबंधी अन्य कैसे नहीं होंगे ? इसलिये अपना ज्ञान-दर्शन स्वभाव के सिवाय अन्य जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म, शरीर परिग्रह आदि नोकर्म- ये सभी आत्मा से भिन्न हैं। ये जो पुत्रादि हैं, वे तो अन्य गति से आये पाप, पुण्य, स्वभाव, कषाय, आयु, कायादि से संबंधरूप दिखाई देते ही हैं । **तुम्हारा स्वभाव पाप-पुण्य और इन सबसे अन्य है ।** अतः अन्यत्व भावना भावो, जिससे इनकी ममताजनित घोरबंध का अभाव हो जाये । इस प्रकार अन्यत्व भावना का वर्णन किया । ५ ।

अशुचि भावना (६)

अब अशुचि भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं । हे आत्मन् ! इस देह के स्वरूप का चिंतवन करो । माता के महामलिन रूधिर-पिता के वीर्य से उत्पन्न हुआ है; महादुर्गन्धित मलिन गर्भ में रुधिर-मांस से भरे जरायुपटल में नव माह पूर्ण करके महादुर्गन्धित मलिन योनि में से निकलने का घोर संकट सहता है । सप्त धातुमय-रुधिर, मांस, हाड़, रस, मेधा, मज्जा, वीर्य, चाम व नसों के जालमय देह धारण की है जो मल, मूत्र, लट, कीड़ों से भरी महा अशुचि है । नव द्वारों से निरन्तर दुर्गन्धित मल को बहाती रहती है । **जैसे मल का बनाया हुआ घड़ा, मल से ही भरा, फूटा हुआ चारों तरफ मल को ही बहाता रहता है; वह जल से धोने पर कैसे पवित्र हो सकता है ?**

जगत में कपूर, चन्दन, पुष्प, तीर्थों के जलादि जिस शरीर के स्पर्श मात्र से मलिन-दुर्गन्धित हो जाते हैं वह शरीर कैसे पवित्र हो सकता है ? **जगत में जितनी अपवित्र वस्तुएँ हैं वे देह के एक-एक अवयव के स्पर्श से अपवित्र होती हैं ।** मल के, मूत्र के, हाड़ के, चाम के, रस के, रूधिर के, मांस के, वीर्य के, नसों के, केश के, कफ के, नख के, लार के, नाकमल के, दन्तमल के, नेत्रमल के कर्णमल के स्पर्श मात्र से अपवित्र हो जाती हैं । दो इन्द्रिय आदि प्राणियों की देह के सिवाय कोई अपवित्र वस्तु ही लोक में नहीं है । **देह के संबंध बिना लोक में अपवित्रता कहाँ से होगी ?**

देह को पवित्र करने के लिये तीनलोक में कोई पदार्थ नहीं है । जलादि से तो करोड़ोंबार धोने पर भी जल ही अपवित्र हो जाता है, देह पवित्र नहीं होती है । **जैसे कोयले को ज्यों-ज्यों धोवो त्यों-त्यों उसमें से कालिमा ही निकलती है, उज्ज्वल नहीं होता है, उसी प्रकार देह का स्वभाव जानो । देह को पवित्र मानना मिथ्यादर्शन है । यह देह तो एक रत्नत्रय, उत्तमक्षमादि धर्म को धारण करने पर आत्मा के संबंध से देवों द्वारा वंदने योग्य पवित्र हो जाता है ।**

धनादि परिग्रह, पाँच इन्द्रियों के विषय, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ ये अमूर्तिक आत्मा के स्वभाव (पर्याय) को महामलिन करते हैं, अधम करते हैं, निंद्य करते हैं, दुर्गति को प्राप्त कराते हैं । इसलिये काम, क्रोध, रागादि छोड़कर आत्मा को पवित्र करो, देह पवित्र नहीं होगा।

इस प्रकार देह का स्वरूप जानकर देह से राग छोड़कर जो आत्मा से अनादि से संबंधरूप हैं (लग रहे हैं) उन रागादि कर्म मलों को (दोषों को) दूर करने का प्रयत्न करो ।

धन संपदादि परिग्रह, पाँच इन्द्रियों के भोग, देह में स्नेह- ये आत्मा को मलिन करनेवाले हैं, इसलिये इनका अभाव करने में उद्यम करो । **धन तो आत्मा में काम, क्रोध, लोभ, मद, कपट, ममता, बैर, कलह, महान आरम्भ, मूर्च्छा, ईर्ष्या, अतृप्ति आदि हजारों दोष उत्पन्न करनेवाला है । इस लोक संबंधी समस्त दोष अतिचिन्ता, दुर्ध्यान, महाभय उत्पन्न करनेवाला एक धन का निर्णय करके विचार करो ।**

पाँच इन्द्रियों के विषय आत्मा को अपना स्वरूप भुलाकर महानिंद्य कार्य कराते हैं । जो निंद्य कार्य जगत में नहीं करने योग्य हैं उनको इन्द्रियों के विषयों की इच्छा कराती है । देह में स्नेह करना तो मांस, मज्जा, हाड़मय, महादुर्गन्धित, सड़े हुए कलोवर से राग करना है; जो महामलिन भाव का कारण है । ऐसे शरीर की शुचिता करनेवाला दशलक्षण धर्म ही है ।

शुचिपना दो प्रकार का है – एक लोकोत्तर दूसरा लौकिक । **कर्म को धोकर शुद्ध आत्म स्वरूप में स्थिर होना वह लोकोत्तर शौच है, इसका कारण रत्नत्रयभाव है । रत्नत्रय के धारक परम साम्यभाव से रहनेवाले साधु भी लोकोत्तर शुचिता के कारण हैं, जिनका समागम करके शुद्धात्मा को प्राप्त करना चाहिये ।**

लौकिक शौच आठ प्रकार की है – कोई कालशौच जो प्रामाणिक काल बीत जाने पर लोक में शुचि मानते हैं; कोई अग्नि संस्कार – अग्नि में तपाने से शुचिता मानते हैं; कोई को पवन से, कोई भस्म से मांजने से, कोई मिट्टी से, कोई जल से, कोई गोबर से लीपने से, कोई ज्ञान से ग्लानि मिट जाने से, लौकिकजन मन में शुचिपना मान लेते हैं; परन्तु शरीर को पवित्र करने में कोई समर्थ नहीं है, शरीर के संसर्ग से तो जल, भस्म आदि ही अशुचि हो जाते हैं।

यह शरीर आदि में, मध्य में, अन्त में, कहीं भी शुचि नहीं है। इसका उपादान कारण रूधिरवीर्य वह शुचि नहीं; यह शरीर स्वयं शुचि नहीं; इसके भीतर दुर्गन्धित मल-मूत्रादि, बाहर चाम-हाड़-रुधिर आदि कोई शुचि नहीं है। इसे समस्त तीर्थों के, समस्त समुद्रों के जल से धोईये तो भी यह समस्त जल को ही अशुचिरूप कर देता है, यह शुद्ध नहीं होता है।

यह शरीर सर्वकाल रोगों से भरा है, सर्वकाल अशुचि है, सर्वथा विनाशीक है; दुःख उत्पन्न करनेवाला है। इसकी शुचिता का उपाय तथा अशुचिता का प्रतिकार, धूप, गंध, विलेपन, पुष्प, स्नान, जल, चंदन, कपूर आदि कोई नहीं है। **जैसे अंगारे का स्पर्श करने से अन्य पदार्थ भी अंगारा बन जाता है, वैसे ही शरीर के स्पर्श करने मात्र से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं।**

इस प्रकार शरीर की अशुचिता का चिन्तवन करने से, शरीर के संवारने में रूपादि में अनुराग का अभाव होने से वीतरागता में यत्न होने लगता है। इस प्रकार अशुचिभावना का वर्णन किया। ६।

आस्रव भावना (७)

अब आस्रव भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं। कर्मों के आने के जो कारण हैं वे आस्रव हैं। जैसे समुद्र के बीच जहाज में छिद्रों से जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार पांच मिथ्यात्व भाव, पांच इंद्रियां तथा छठे मन के विषयों में प्रवर्तन करने के भाव, छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करने के भाव, अनन्तानुबंधी से लेकर पच्चीस कषायों के भाव तथा मन वचन काय के भेद से पंद्रह प्रकार का योग – इस प्रकार **कर्मों के आने के ये सत्तावन द्वार हैं।**

इनमें से मिथ्यात्व, कषाय, अविरति आदि के अनुसार मन-वचन-काय से शुभ-अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। वहाँ पुण्य-पाप के संयोग से मिले विषयों में संतोष करना, विषयों से विरक्त होना, परोपकार के परिणाम, दुःखियों की दया, तत्त्वों का चिन्तवन, सभी जीवों में मैत्रीभाव इत्यादि भावना, परमेष्ठी में भक्ति, धर्मात्मा में अनुराग, तप-व्रत-शील-संयम के परिणाम इत्यादि रूप मन की प्रवृत्ति से पुण्य का शुभ आस्रव होता है।

परिग्रह में अभिलाषा, इन्द्रियों के विषयों में अति लोलुपता, पर का धन हरने के परिणाम, अन्यायरूप प्रवर्तन में, अभक्ष्य-भक्षण में, सप्त व्यसन के सेवन में, पर का अपवाद होने में अनुराग रखना, पर के स्त्री पुत्र धन आजीविका का नाश चाहना, पर का अपमान चाहना, अपनी उच्चता चाहना इत्यादि मन के भावों द्वारा पाप का अशुभ आस्रव होता है।

सत्य, हित, मित, मधुर वचनों द्वारा, परमागम के अनुकूल वचनों द्वारा, परमेष्ठी के स्तवन से, सिद्धान्तों को वांचने से तथा व्याख्यान कर न्यायरूप वचनों द्वारा पुण्य का आस्रव होता है ।

पर की निन्दा, अपनी प्रशंसा, अन्याय का प्रवर्तन करानेवाले वचन, हिंसा का आरंभ कराने वाले, विषयानुराग बढ़ानेवाले, कषायरूप अग्नि को प्रज्वलित करनेवाले, कलह विसंवाद शोक भय बढ़ानेवाले, धर्म विरुद्ध, मिथ्यात्व-असंयम को पुष्ट करनेवाले, अन्य जीवों को दुःख-अपमान-धन-आजीविका की हानि करनेवाले वचनों से पाप का आस्रव होता है ।

परमेष्ठी की पूजन, प्रणाम, जिनायतन की सेवा, धर्मात्मा पुरुषों की वैयावृत्य, यत्नाचार पूर्वक जीवों पर दयारूप होकर सोना, बैठना, पलटना, रखना, धरना, सौंपना, खाना, पीना, बिछाना, चलना, हिलना इत्यादि काय का योग शुभ आस्रव का कारण हैं ।

यत्नाचार रहित-करुणारहित स्वच्छन्द देह का प्रवर्तना, महा आरम्भ में प्रवर्तना, देह को सजाने-संवारने में ही लगे रहना- इन सब कार्यों के द्वारा अशुभ आस्रव होता है ।

यह मन, वचन, काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति तीव्र-मन्द कषाय के योग से तीव्र मन्द अनेक प्रकार के कर्मों के बन्ध का निमित्त होती है । इनका विचार करने पर आत्मा अशुभ प्रवृत्ति से रुककर शुभ प्रवृत्ति में सावधान होकर प्रवर्तन करता है ।

कषायें आत्मा के सभी गुणों का घात करनेवाली हैं । क्रोध दूसरे जीवों को मारने में, घात करने में, बंधनादि करने में चित्त को दौड़ाता है । मान इस जीव को अभिमान से ऐसा उद्धत कर देता है कि वह पिता, गुरु, स्वामी का भी तिरस्कार करना चाहता है, विनय को नष्ट कर देता है। माया कषाय अनेक छल, अनेक धूर्तता, पर को भुला देना इत्यादि अनेक कपट ही के विचार कराती है, परिणामों की सरलता का अभाव कर देती है । लोभ कषाय सुख का कारण जो सन्तोष है, उसका नाश कर देती है, योग्य-अयोग्य के विचार का नाश कर देती है ।

काम मर्यादा को भंग कर देता है, लज्जा को भंग कर देता है, हित-अहित का नीचकर्म-उच्चकर्म के विचार रहित कर देता है । मोह मदिरा के समान स्वरूप को भुला देता है । शोक अत्यन्त दुःख पूर्वक हाहाकार कराता है । रुदन आत्मघात आदि में प्रवृत्ति कराता है । हास्य दूसरों की हँसी कराता है, अज्ञानता प्रकट करना चाहता है । स्नेह मद्य पिये बिना ही अचेत कर देता है, महा बंधनरूप है, आत्मा को हितरूप प्रवृत्ति से रोकनेवाला है, अनर्थ का स्थान है । निद्रा आत्मा के चैतन्य का घात करके जड़ जैसा कर देती है । तृषा नहीं पीने योग्य जल को भी पिलाना चाहती है । क्षुधा चाण्डाल के भी घर में प्रवेश कराके याचना करवाती है, कुल मर्यादा को नष्ट करके घोर कष्ट देती है ।

नेत्र सुन्दररूपादि देखने को उत्सुकता दिखाते हैं । जिह्वा इंद्रिय मीठे भोजन करने को अति-चंचल होकर लज्जा, उच्चपना, संयमादि नष्ट करके नीच प्रवृत्ति कराती है । घ्राण इन्द्रिय सुगंधित पदार्थों पर अचेत होकर टूट पड़ती है । स्पर्शन इन्द्रिय स्त्रियों के कोमल अंगों, नर्म शय्या आदि की

तृष्णा बढ़ाती है । **कर्ण** इन्द्रिय अनेक मधुर रागों में खुश होकर आपा भुलाकर पराधीन कर देती है । **मन** चंचल बंदर के समान स्वच्छंद अनेक विकल्पों द्वारा शुभध्यान-शुभप्रवृत्ति में भी नहीं रुकता है, विषय-कषायों में ही घूमता है । असत्य **वाणी** मुख में से अतिप्रेम पूर्वक निकलकर अपनी चतुरता प्रकट करती है । **हाथ** तो हिंसा का आरम्भ करने के मुख्य उपकरण हैं । **पैर** भी पाप करने के मार्ग में बहुत तेजी से दौड़ते हैं ।

कविपना बहुत राग बढ़ानेवाली रचना चाहता है । **पण्डितपना** कुतर्क और असत्य प्रलापीपने द्वारा अपनी विख्यातता चाहता है । **सुभटपना** घोर हिंसा चाहता है । **बाल्यपना** अज्ञानरूप है । **यौवन** वांछित विषयों के लिये विषम स्थानों में भी दौड़ता है । **वृद्धपना** विकराल काल के निकट रहता है । **ऊश्वास-निश्वास** निरन्तर शरीर से निकलकर भाग जाने का अभ्यास कर रहे हैं । **जरा** काम, भोग, तेज, रूप, सौंदर्य, उद्यम, बल, बुद्धि आदि का हरण करनेवाला तस्कर है । **रोग** यमराज के प्रबल सुभट दूत हैं । इस प्रकार की सामग्री इस आत्मा को अपना स्वरूप भुलानेवाली है, उससे बहुत अशुभ कर्मों का आस्रव होता है । इन इन्द्रियों के विषय तथा कषायों के संयोग से मन-वचन-काय के द्वारा आस्रव होता है । इस प्रकार आस्रव भावना का वर्णन किया । ७ ।

संवर भावना (८) : अब संवर भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं । जैसे समुद्र के बीच में नाव में जल आने का छिद्र बंद कर दें तो नाव में जल नहीं भर पाये और नाव नहीं डूबेगी; उसी प्रकार जो कर्मों के आने के द्वार बंद कर देता है उसके परम संवर होता है । **सम्यग्दर्शन से तो मिथ्यात्व नाम के आस्रव का द्वार रुक जाता है** । इंद्रियों तथा मन को संयमरूप प्रवर्तन कराने से इंद्रियों से होनेवाला आस्रव रुककर संवर हो जाता है । छह काय के जीवों का घात करनेवाला आरम्भ त्याग देने से प्राणीसंयम होने से अविरति द्वारा होनेवाला आस्रव रुक जाने से संवर होता है।

कषायों को जीतकर दशलक्षणरूप धर्म को धारण करने से, चारित्र प्रकट होने से, कषायों के अभाव से संवर होता है । ध्यानादि तप से, स्वाध्याय तप से, योगों के द्वारा आनेवाले कर्मों के रुकने से संवर होता है । तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशलक्षण धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहों को सहना, पाँच प्रकार का चारित्र पालना, इनसे नये कर्म नहीं आते हैं ।

मन, वचन, काय के योगों को रोकना **गुप्ति** है । प्रमाद छोड़कर यत्न से प्रवर्तना **समिति** है। जिसमें दया प्रधान होती है वह **धर्म** है । स्वतत्व का चिंतवन करना **भावना** है । कर्म के उदय से आये हुए क्षुधा-तृषादि परीषहों को कायरता रहित समभावों से सहना **परीषह जय** है । **रागादि दोष रहित अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा में प्रवृत्ति करना वह चारित्र है** ।

इस प्रकार जो विषयों से पराङ्मुख होकर सर्वक्षेत्र सर्वकाल में प्रवर्तता है, उसके गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र - इनसे नये कर्मों का आना रूक जाता है, नये कर्म आते नहीं हैं, वही संवर है । जो इन संवर के कारणों का चिन्तवन करता है उसके नया-नया आस्रव-बंध नहीं होता है । इस प्रकार संवर भावना का वर्णन किया । ८ ।

निर्जरा भावना (९) : अब निर्जरा भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं । जो ज्ञानी वीतरागी होकर मद रहित-निदान रहित होकर बारह प्रकार का तप करता है उसके बहुत निर्जरा होती है । समस्त कर्मों का उदयरूप रस को प्रकट करके झड़ जाना वह निर्जरा है । निर्जरा के दो भेद हैं - सविपाक निर्जरा, अविपाक निर्जरा ।

अपने उदय काल में कर्मों का रस देकर झड़ जाना वह **सविपाक निर्जरा** है । चारों गतियों में जो कर्म अपना रसरूप फल देकर निर्जरित हो जाता है वह सविपाक निर्जरा है । व्रत, संयम, तप धारण करके उदयकाल के आये बिना ही कर्मों का निर्जरित हो जाना वह **अविपाक निर्जरा** है । मंद कषाय के भाव सहित जैसे-जैसे तप बढ़ता है वैसे-वैसे निर्जरा की वृद्धि होती है । जो पुरुष कषाय वैरी को जीतकर दुष्टजनों के दुर्वचन, उपद्रव, उपसर्ग, अनादर आदि को कलुषितभाव रहित होकर सहता है उसके महानिर्जरा होती है ।

दुष्टों द्वारा उपद्रव किये जाने पर, कर्मकृत परीषह, दारिद्र, रोग, दुष्टों का समागम आदि होने पर इस प्रकार विचार करता है – मैंने पूर्वकाल में जो पाप बांधा था ये उसका फल है, अब समभावों से भोगो । कर्मरूप ऋण छूटेगा नहीं, विषाद करोगे तो कर्म छोड़ेगा नहीं; संक्लेश परिणाम करने से तो संख्यात-असंख्यातगुणा नवीन कर्म और बांधोगे ।

जो उत्तम पुरुष शरीर को केवल ममत्व को उत्पन्न करनेवाला, विनाशीक, अशुचि, दु:ख देनेवाला जानते हैं; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को सुख उत्पन्न करनेवाला, निर्मल, नित्य, अविनाशी जानते हैं; अपनी निन्दा करते हैं, गुणवन्तों का बड़ा सत्कार कर उन्हें उच्च मानते हैं; मन और इन्द्रियों को जीतकर अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होते हैं, उनका मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल होता है; पाप कर्मों की बहुत निर्जरा होती है, संसार को छेदनेवाला सातिशय पुण्य का बन्ध होता है, तथा उन्हीं को परम अतीन्द्रिय, अविनाशी, अनन्त सुख होता है ।

जो समभावरूप सुख में लीन होकर बारम्बार अपने स्वरूप की उज्ज्वलता का स्मरण करता है, इन्द्रियों तथा कषायों को महादु:खरूप जानकर जीतता है उस पुरुष के बहुत निर्जरा होती है । इस प्रकार निर्जरा भावना का वर्णन किया । ९ ।

लोक भावना (१०) : अब लोक भावना के स्वरूप का वर्णन करते हैं । सर्व तरफ अनन्तानन्त आकाश है, उसके बिलकुल बीच में लोक है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल-इनका समुदाय जितने आकाश में रह रहा है, दिखाई देता है, वह लोक है । वह तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण क्षेत्र है । उसके बाहर अनन्तानन्त आकाश है, उसको अलोक कहते हैं ।

इस लोक में अनन्तानन्त जीव हैं, जीवों से अनन्तगुने पुद्गल हैं, एक धर्म नाम का द्रव्य है, एक अधर्म नाम का द्रव्य है, एक आकाश द्रव्य है, काल द्रव्य असंख्यात हैं । यदि इन द्रव्यों का स्वरूप, लोक का संस्थान आदि का स्वरूप, अवगाहन आदि का वर्णन किया जाय तो वर्णन बहुत हो जायेगा । ग्रन्थ का विस्तार थोड़ा-थोड़ा करते हुए भी बहुत होता जा रहा है; तथा अब मेरी आयु

का भी रोग की अधिकता से - शरीर का बल घट जाने से थोड़ा समय ही बाकी रहा दिखाई देता है, इसलिये ग्रन्थ संग्रह किया है तो उसकी पूर्णतारूप फल की आवश्यकता है । अत: इन छह द्रव्यों का विस्तार से वर्णन अन्य ग्रन्थों से जान लेना । १० ।

बोधि दुर्लभ भावना (११): अब बोधि दुर्लभ भावना का स्वरूप संक्षेप में कहते हैं । यह जीव अनादिकाल से निगोद में रहा है । एक निगोद के शरीर में अतीतकाल में हुए सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं, वे सभी अपने-अपने कार्माण शरीर सहित एक निगोद के शरीर की अवगाहना में रहते हैं। इस प्रकार के बादर-सूक्ष्म निगोदिया जीवों के शरीरों से सम्पूर्ण लोक ऊपर-नीचे भीतर-बाहर अन्तर-रहित (ठसाठस) भरा है । पृथ्वीकाय आदि अन्य पाँच स्थावरों से भी यह लोक निरन्तर भरा है । **इसमें त्रसपना प्राप्त करना बालू के समुद्र में गिरी हीरा की कणिका के प्राप्त करने के समान दुर्लभ है ।**

यदि कदाचित् त्रसपना भी प्राप्त हो जाये तो त्रसों में विकलेन्द्रियों की प्रचुरता है; उनमें पंचेन्द्रियपना असंख्यातकाल तक परिभ्रमण करते हुए भी प्राप्त नहीं होता है । फिर विकलत्रय में मरकर निगोद में अनंतकाल बीतता है । फिर पाँच स्थावरों में असंख्यातकाल बीतता है, फिर निगोद में चला जाता है । इस प्रकार परिभ्रमण करते हुए अनंत परिवर्तन पूर्ण हो जाते हैं, किन्तु पंचेन्द्रियपना प्राप्त होना दुर्लभ है । पंचेन्द्रियों में भी मनसहित होना और दुर्लभ है । असंज्ञी रहते हुए हित-अहित के ज्ञान रहित, शिक्षा-क्रिया-उपदेश-आलाप आदि रहित, अज्ञानभाव से नरक निगोद आदि तिर्यंचगति में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है ।

कभी मन सहित भी होता है तो क्रूर तिर्यंचों में रौद्र परिणामी, तीव्र अशुभ लेश्या का धारक घोर नरक में असंख्यातकाल तक अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है । असंख्यातकाल नरक के दु:ख भोगकर फिर पापी तिर्यंच होता है; फिर नरक में तथा तिर्यंचों में अनेक प्रकार के घोर दु:ख भोगता हुआ असंख्यात पर्यायें तिर्यंच की व नरक की भोगता हुआ फिर स्थावरों में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णता, मारन, ताड़न सहता हुआ अनन्तकाल व्यतीत करता है ।

जैसे कभी चौराहे पर रत्नराशि मिल जाती है, उसी प्रकार दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त करके भी यदि म्लेच्छ मनुष्य हुआ तो वहाँ भी घोर पाप संचय करके, नरकादि चतुर्गति में परिभ्रमण करनेवाले को फिर मनुष्य जन्म पाना अति ही दुर्लभ है । वहाँ भी आर्यखण्ड में जन्म लेना अति-दुर्लभ है । आर्यखण्ड में भी उत्तम जाति, उत्तम कुल प्राप्त होना अतिदुर्लभ है । भील, चांडाल, कोली, चमार, कलार, धोबी, नाई, खाती, लुहार इत्यादि नीच कुल बहुत हैं, उच्च कुल प्राप्त होना दुर्लभ है ।

यदि कभी उच्चकुल भी पाया, किन्तु धन रहित हुआ तो तिर्यंचों के समान भार ढोना, नीचकुल के धारकों की सेवा करने में तत्पर रहना, आठों प्रहर अधर्म कर्म करके पराधीन वृत्ति द्वारा पेट भरना किया, उसका उच्चकुल पाना वृथा है ।

यदि धन सहित भी हुआ, किन्तु कान, आँख आदि इन्द्रियों से विकल हुआ तो उसका धन प्राप्त करना व्यर्थ है । इन्द्रियाँ परिपूर्ण होने पर भी रोगरहित शरीर प्राप्त होना दुर्लभ है । रोगरहित होने पर भी दीर्घ आयु का प्राप्त होना दुर्लभ है । दीर्घ आयु प्राप्त होने पर भी शीलरूप अर्थात् सम्यक् मन-वचन-काय का न्यायरूप प्रवर्तन दुर्लभ है । न्यायरूप प्रवर्तन होने पर भी सत्पुरुषों की संगति प्राप्त होना दुर्लभ है ।

सत्संगति मिलने पर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होना दुर्लभ है । सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी सम्यक् चारित्र प्राप्त होना दुर्लभ है । सम्यक् चारित्र प्राप्त होने पर भी आयु की पूर्णता तक इसका निर्वाह करते हुए समाधिमरण तक निर्वाह होना दुर्लभ है । रत्नत्रय प्राप्त करके भी यदि तीव्र कषायादि को प्राप्त हो जाय तो संसार समुद्र में ही नष्ट हो जाता है तथा समुद्र में गिरे रत्न के समान फिर रत्नत्रय का प्राप्त करना दुर्लभ हो जाता है ।

रत्नत्रय की प्राप्ति मनुष्यगति में ही हो सकती है । मनुष्यगति में ही व्रत, तप, संयम से निर्वाण की प्राप्ति होती है । ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी जो विषयों में रमण करते हैं वे भस्म के लिये दिव्यरत्न को जला देते हैं । इस प्रकार बोधिदुर्लभ भावना का वर्णन किया । ११ ।

धर्म भावना (१२) : अब धर्म भावना का स्वरूप संक्षेप में कहते हैं । धर्म का स्वरूप दशलक्षण भावना में कहा ही है । धर्म तो आत्मा का स्वभाव है । वह धर्म भगवान सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रकाशित दशलक्षण, रत्नत्रय तथा जीवदयारूप है । उसका वर्णन यथा अवसर संक्षेप में इस ग्रन्थ में लिखा ही है । इस संसार में धर्म के जानने की सामग्री ही अतिदुर्लभ है ।

धर्मश्रवण करना दुर्लभ है, धर्मात्मा की संगति दुर्लभ है । धर्म में श्रद्धा, ज्ञान, आचरण, किसी विरले पुरुष का मोह की मंदता से, कर्मों की उपशमता से होता है ।

यदि यह संसारी जीव जिस प्रकार इन्द्रियों के विषयों में; स्त्री, पुत्र, धनादि में प्रीति करता है उस प्रकार एक जन्म में भी धर्म से प्रीति करे तो संसार के दुःखों का अभाव हो जाये । यह संसारी अपने लिये निरन्तर सुख को चाहता है, किन्तु सुख का कारण जो धर्म है उसमें आदर नहीं करता है, उसे सुख कैसे प्राप्त होगा ? बीज बिना बोये धान्य की प्राप्ति कैसे होगी ? इस संसार में भी जो इन्द्रपना, अहमिन्द्रपना, तीर्थंकरपना, चक्रवर्तीपना, बलभद्रपना, नारायणपना होता है वह धर्म के प्रभाव से ही होता है ।

यहाँ भी उत्तम कुल, रूप, बल, ऐश्वर्य, राज्य, सम्पदा, आज्ञा, सपूत पुत्र, सौभाग्यवती स्त्री, हितकारी मित्र, वांछित कार्य साधनेवाला सेवक, निरोगता, उत्तम भोग-उपभोग, रहने का देव विमान समान महल, सुन्दर संगति में प्रवृत्ति, क्षमा, विनय, मंदकषायपना, पण्डितपना, कविपना, चतुरता, हस्तकला, पूज्यपना, लोकमान्यता, विख्यातता, दातारपना, भोगीपना, उदारपना, शूरपना इत्यादि उत्तमगुण, उत्तमसंगति, उत्तम बुद्धि, उत्तमप्रवृत्ति जो कुछ देखने-सुनने में आती है, वह सब धर्म का ही प्रभाव है ।

धर्म के प्रसाद से विषम भी सुगम हो जाता है, महान उपद्रव भी दूर भाग जाते हैं, उद्यम रहित के भी लक्ष्मी का समागम हो जाता है। धर्म के प्रभाव से अग्नि का, जल का, पवन का, वर्षा का, रोग का, महामारी का, सिंह-सर्प-गजादि क्रूर जीवों का, नदी का, समुद्र का, विष का, पर चक्र का, दुष्ट राजा का, दुष्ट बैरियों का, चोरों का, समस्त उपद्रव दूर होकर आत्मा को अनेक सुखरूप वैभव की प्राप्ति होती है। **इसलिये यदि सर्वज्ञ के परमागम के श्रद्धानी-ज्ञानी हो तो केवल धर्म की ही शरण ग्रहण करो।** इस प्रकार संस्थान विचय धर्मध्यान में बारह भावनाओं का संक्षेप में वर्णन किया। १२।

धर्मध्यान के अन्य प्रकार चार भेद : धर्मध्यान के कथन का ध्यान नामक तप में वर्णन किया। अब धर्मध्यान के वर्णन में ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान-ऐसे चार प्रकार के कहे हैं। उनका संक्षेप इस ग्रन्थ में भी बतलाते हैं।

पिण्डस्थ धर्मध्यान (१) : पिण्डस्थ ध्यान में भगवान ने पाँच धारणाओं का वर्णन किया है, उनको सम्यक् जाननेवाला संयमी संसाररूप बंधन का छेद करता है। पार्थिवी धारणा, आग्नेयी धारणा, पवन धारणा, वारुणी धारणा, तत्त्व रूपवती धारणा - ये पाँच धारणायें जानने योग्य हैं।

पार्थिवी धारणा (१) : पृथ्वी संबंधी पार्थिवीधारणा का स्वरूप वर्णन करते हैं। इस मध्यलोक समान गोल एक राजू के विस्तारवाला क्षीर समुद्र का विचार करना। **क्षीर समुद्र का किस प्रकार का विचार करना ?** शब्द रहित, लहरों रहित (पूर्णशान्त निशब्द) सफेद पाला या बरफ के समान उज्ज्वल क्षीर समुद्र का विचार करना। उस क्षीर समुद्र के बीच में तपाये हुए स्वर्ण के समान अपरिमित प्रभा का धारक, एक हजार पत्र पांखुड़ी युक्त, पद्मराग मणिमय उदयरूप केशरावलि युक्त एक कमल का विचार करना।

कमल किस प्रकार का है ? जम्बूद्वीप समान एक लाख योजन के विस्तार का कमल का विचार करना। उसके बीच में चित्तरूप भौंरे को प्रसन्न करनेवाली, मेरु के समान कर्णिका अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को पीला करती हुई शोभायमान है। उस कर्णिका के बीच में शरदऋतु के चन्द्रमा की कांति के समान उज्ज्वल उच्च एक सिंहासन पर **आप** सुखरूप, रागद्वेषरहित, संसार में उत्पन्न कर्म समूह को नष्ट करने में उद्यमी बैठा हुआ है, ऐसा विचार करना।

वहाँ ऐसा विचार करना : एक उज्ज्वल क्षोभरहित, शब्दरहित, मध्य लोक के बराबर विस्तारवाले **क्षीर समुद्र के बीच में जम्बूद्वीप के बराबर तपाये हुए स्वर्ण के समान कान्ति का पुंज, पद्मराग मणिमय केशरिया, एक हजार पांखुड़ी का एक कमल है। उस कमल के बीच में मेरु समान महाकन्ति की पुंज कर्णिका है। उस कर्णिका के बीच में शरद के चन्द्रमा के समान कान्ति का पुंज उन्नत एक सिंहासन उसके ऊपर बीच में क्षोभरहित, राग-द्वेषरहित, कर्म के नाश करने में उद्यमी निश्चल बैठा हुआ अपने आत्मा का विचार करना वह पार्थिवी धारणा है।**

आग्नेयी धारणा (२) : पार्थिवी धारणा का जब दृढ़ अभ्यास हो जाये तब उस स्फटिकमणिमय सिंहासन में बैठे हुए अपने नाभिमण्डल में मनोहर सोलह उन्नत पत्तेवाला एक कमल का विचार करना। उस कमल के एक-एक पत्ते के ऊपर बैठी सोलह स्वरों की पंक्ति - अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः इस क्रम से स्थापित कर विचार करना । उस कमल की कर्णिका में बैठा एक शून्य अक्षर रेफ बिन्दु अर्धचन्द्राकार कला युक्त, बिन्दु में से कोटि कांतियुक्त दश दिशाओं को व्याप्त करता हुआ है । ऐसे मन्त्र का विचार करना । फिर उस मन्त्र के रेफ से मंदमंद निकलता हुआ धूम विचार करना । पश्चात् अग्नि के स्फुलिंग की पंक्ति का विचार करना ।

उसके बाद महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न अग्नि की ज्वाला का समूह ऊँचा उठता हुआ जानकर अपने हृदय स्थान में बैठा अधोमुख आठ कर्ममय आठ पंखुड़ियों के कमल को जला दे । उसके बाद बाहर आकर त्रिकोण अग्नि मण्डल अग्नि के बीजाक्षर रकार (र) सहित स्वस्तिक चिह्नसहित ज्वाला के समूह से - अग्नि से शरीर को जला दे । उसके बाद निर्धूम अग्नि स्वर्ण समान प्रभा की धारक धगधगाती हुई-भीतर तो मन्त्र की अग्नि से कर्मों को जला दिया तथा बाहर शरीर को अग्निमय करके जला दिया, फिर जलाने योग्य कुछ नहीं रहा, तब अग्नि धीरे-धीरे स्वयमेव शान्त होकर शीतल हो जाती है । यहाँ तक यह अग्निधारणा का वर्णन किया ।

पवन धारणा (३) : अब पवन धारणा का वर्णन करते हैं । **कैसा है पवन ?** महावेग युक्त तथा महाबलवान, देवों के समूह को भी चलायमान करता हुआ, मेरु को कंपायमान करता हुआ, मेघों के समूह को विदीरता हुआ, महासमुद्र को क्षोभरूप करता हुआ, बड़े भवनों के भीतर से गमन करता हुआ दिशाओं के मुख में चलता हुआ, जगत के बीच फैलता हुआ, पृथ्वीतल में प्रवेश करता हुआ-ऐसा पवन सम्पूर्ण आकाशभर में विचरण करता हुआ स्मरण करना । उस प्रबल पवन से वह जली हुई कर्म रज और शरीर की रज उड़ जाती है तथा धीरे-धीरे पवन शान्त हो जाता है । इस प्रकार पवन धारणा का वर्णन किया ।

वारुणी धारणा (४) : वारुणी धारणा में मेघ के समूह से व्याप्त आकाश का विचार करना। **कैसा है मेघ ?** इन्द्र धनुष और बिजली की चमक व महागर्जना सहित स्मरण करना । अमृत से उत्पन्न सघन मोती के समान उज्ज्वल मोटी धार से निरन्तर बरसता हुआ स्मरण करना । उसके बाद वरुण बीजाक्षर से चिह्नित तथा अमृतमय जल से भरे हुए आकाश में व्याप्त होते अर्द्धचन्द्र के आकार के वरुणापुर का विचार करना । उस अचिन्त्य प्रभावरूप दिव्य ध्वनिरूप जल के द्वारा, शरीर व कर्मों को जलाने से उत्पन्न हुई, पवन के उड़ाने से शेष रही, समस्त रज को प्रक्षालित करता हुआ स्मरण करना । इस प्रकार वारुणी धारणा का वर्णन किया ।

तत्त्वरूपवती धारणा (५) : उसके पश्चात् सिंहासन के ऊपर बैठा हुआ, दिव्य, अतिशयों से युक्त, कल्याणकों की महिमायुक्त, चार प्रकार के देवों से पूजित, समस्त कर्म रहित, अत्यन्त निर्मल, प्रकट, पुरुषाकार अपने शरीर के भीतर सप्तधातु रहित, पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्ति का पुंज, सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का स्मरण-विचार करना । यह तत्त्वरूपवती धारणा का वर्णन किया ।

इस प्रकार पाँच धारणारूप पिण्डस्थ धर्मध्यान के चिन्तवन में निश्चल अभ्यास करता योगी अल्पकाल में संसार का अभाव कर देता है। ऐसे इस पिण्डस्थ धर्मध्यान में महाकान्ति युक्त जगत को आह्लादित करता हुआ सर्वज्ञ के समान मेरू के शिखर के ऊपर सिंहासन पर विराजमान समस्त देवों द्वारा वंदनीय आत्मा का निश्चल चिन्तवन करता हुआ जिनागमरूप महासमुद्र का पारगामी हो जाता है।

इस ध्यान के ही प्रभाव से दुष्टों द्वारा की गई विद्या, मण्डल, मंत्र, यंत्रादि क्रूर क्रिया का नाश हो जाता है; सिंह, सर्प, शार्दूल, व्याघ्र, गेंडा, हाथी इत्यादि क्रूरजीव शांत होकर निःसार हो जाते हैं; भूत, राक्षस, पिशाच, ग्रह, शाकिनी आदि दुष्ट देवों की क्रूर वासना का अभाव हो जाता है। इस प्रकार पिण्डस्थ धर्मध्यान के स्वरूप का वर्णन किया। १।

पदस्थ धर्मध्यान (२) : अब पदस्थ धर्मध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं। जो पुराने आचार्यों द्वारा प्रसिद्ध सिद्धांत में मन्त्रपद हैं, उनका ध्यान करना वह पदस्थध्यान है। अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध समस्त शब्द रचना की जन्मभूमि, जगत के वंदने योग्य वर्णमातृका का ध्यान करना। नाभि में एक सोलह पांखुड़ियोंवाले कमल का विचार करो। उसके प्रत्येक पत्ते पर सोलह स्वरों की पंक्ति भ्रमण करती हुई विचार करो - अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः - इन सोलह स्वरों की पंक्ति का विचार करना।

अपने हृदय स्थान में चौबीस पांखुड़ियों वाले कमल का विचार करना। उसकी कर्णिका सहित पच्चीस स्थानों में पाँच वर्ग के पच्चीस अक्षर - क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न , प फ ब भ म - इनका विचार करना। मुख में आठ पांखुड़ीवाले कमल का विचार करना। उसमें य र ल व, श ष स ह - ये आठ अक्षर प्रदक्षिणारूप परिभ्रमण करते हुए विचार करना। इस प्रकार अनादि प्रसिद्ध वर्णमातृका का स्मरण करता हुआ ज्ञानी श्रुतज्ञान समुद्र का पारगामी हो जाता है। इस वर्णमातृका के ध्यान से नष्ट हुई वस्तु का ज्ञान हो जाता है; क्षय रोग, अरुचि रोग, मंदाग्नि, कोढ़, उदर रोग, कास-श्वास, आदि रोगों को जीत लेता है; तथा असदृश वचनकला व महन्तपुरुषों से पूज्यता पाकर उत्तमगति को प्राप्त होता है।

परमागम में कहे गये पैंतीस अक्षरों का मन्त्र जपना - **णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं; "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः"** इस प्रकार सोलह अक्षरोंवाले मन्त्रपद का ध्यान करना; **"णमो अरहन्ताणं"** ऐसे सात अक्षरों के मंत्र का जाप करना; **"अरहंतसिद्ध"** ऐसे छह अक्षरों के मन्त्र का; **"असिआउसा"** ऐसे पाँच अक्षरों के मंत्र का, **"णमो सिद्धाणं"** ऐसे पाँच अक्षरों के मंत्र का, **"नमः सिद्धेभ्यः"** ऐसे पाँच अक्षरों के मंत्र का; **"अरहंत"** ऐसे चार अक्षरों के मंत्र का; **"सिद्ध"** इन दो अक्षरों के मंत्र का; **" ॐ"** इस एक एक्षर के मंत्र का; **'अ'** इस एक अक्षर के मंत्र का ध्यान करना; परमेष्ठी के वाचक अनेक मंत्रों का परम गुरुओं के उपदेश से ध्यान करना।

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं - ये चार मंगल पद; चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो - ये चार उत्तम पद ; तथा चत्तारि शरणं पव्वज्जामि, अरिहंते शरणं पव्वज्जामि, सिद्धे शरणं पव्वज्जामि, साहू शरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णतं धम्मं शरणं पव्वज्जामि ये चार शरण पद हैं। इनका कर्मपटल नाश करने के लिये नित्य ही ध्यान करना ।

तीनलोक में ये चार ही मंगल है, चार ही उत्तम हैं, चार ही शरण हैं । ध्यान में निरन्तर इनका स्मरण करना । इनके सिवाय और भी अनेक मन्त्र इस जीव के राग-द्वेष-मोह-मूर्च्छा का नाश करने के लिये; बैर विरोध दूर करने के लिये; दुर्ध्यान का नाश करने के लिये; परमशांत भाव उत्पन्न करने के लिये; विषयों में राग नष्ट करने के लिये; पाँच इंद्रियों को जीतने के लिये; वीतरागता बढ़ाने के लिये; सभी पर वस्तु में वांछा-ममता रहित होकर गुरुओं के उपदेश से ध्यान करने योग्य हैं; जाप करने योग्य हैं; उनसे कर्मों की बहुत निर्जरा होती है; क्रम से संसार परिभ्रमण का अभाव हो जाता है ।

दुर्ध्यान, दुर्ध्यानी और दुर्ध्यान का फल : जो रागी-द्वेषी-मोही होकर दूसरे का मारण, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि के लिये; विषय भोगों के लिये; बैरियों के नाश के लिये; राज्य सम्पदा ग्रहण करने के लिये; मन्त्र का जाप करते हैं, ध्यान-मुद्रा-तप इत्यादि दृढ़ होकर करते हैं **वे घोर संसार परिभ्रमण का कारण मिथ्यादर्शन आदि अशुभ कर्मों का बंध करते हैं** । खोटी वासना, खोटा ध्यान, तथा व्यन्तर देव, देवी, यक्षणी इत्यादि कुदेवों का ध्यान करने से अपने परिणामों को श्रद्धान-ज्ञान से भ्रष्ट करके घोर संसार परिभ्रमण करते हैं ।

यदि कदाचित् किसी के चित्त की एकाग्रतारूप तप के प्रभाव से, मंद कषाय के प्रभाव से व शुभ कर्म के उदय से खोटी विद्या सिद्ध हो जाती है तो वह विषय, कषाय, अभिमान को बढ़ाकर, सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का घात करके, पाप में प्रवर्तन करके दुर्गति का पात्र हो जाता है । इस प्रकार जानकर वीतरागता को नष्ट करनेवाले खोटे मंत्र, यन्त्र, मुद्रा मण्डलादि का त्याग करो ।

ध्यान के लिये गृहस्थाश्रम की अयोग्यता :- महामोहरूप अग्नि से जलते हुए इस जगत में कषायों को छोड़कर कोई परम योगी ही पार हो पाते हैं । यहाँ हजारों कष्ट, आधि, व्याधि से व्याप्त संसार में महापराधीन राग-द्वेष-मोहरूप विष से व्याप्त अतिनिंद्य गृहवास में बड़े-बड़े बुद्धिमान भी प्रमाद आदि को जीतकर चंचलमन को वश में करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं । इस गृहस्थाश्रम में अनेक धन-परिग्रह आदि के संयोग में एक-एक वस्तु की ममतारूप जाल तथा **आशारूप पिशाचिनी से पकड़े गये तथा स्त्रियों के राग में अन्धे हुए ये जीव आत्मा के हित को जानने में असमर्थ हैं** ।

इस गृहस्थाश्रम में निरन्तर आर्तध्यानरूप अग्नि में जलते हुए, खोटी वासनारूप धूम्र से ज्ञानरूप नेत्र जिनके बंद हो गये हैं, तथा अनेक चिन्तारूप ज्वर से जिनका आत्मा अचेत हो रहा है उनको

स्वप्न में भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती है । आपदारूप महाकीचड़ में फंसे हुए, प्रबलरागरूप पिंजड़े में पीड़ित हो रहे, तथा परिग्रहरूप विष से मूर्च्छित गृहस्थ आत्मा का हितरूप ध्यान करने में असमर्थ हैं । अपने ही आरम्भ-परिग्रह में ममतारूप बुद्धि से स्वयं ही अपने को बांधकर पराधीन हो रहे हैं। रागादिरूप बैरियों को गृह का त्यागी-संयमी हुए बिना नहीं जीता जाता है ।

मिथ्यादृष्टि भेषी के भी ध्यान की अयोग्यता : गृह के त्यागी होकर भी विपरीत तत्त्व को ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टियों को स्वप्न में भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती है । यतिपने में भी पूर्वापर विरुद्ध अर्थ की सत्ता का आश्रय करनेवाले पाखंडियों को भी ध्यान होना सम्भव नहीं है । **सर्वथा एकान्त ग्रहण करनेवाले पाखंडी अनेकान्त स्वरूप वस्तु को जानने में ही समर्थ नहीं है, उनके ध्यान की सिद्धि कैसे होगी ?**

जिनेन्द्र की आज्ञा के प्रतिकूल चलनेवाले, मुनिलिंग धारण करने पर भी मन-वचन-काय की कुटिलतावाले, शिष्यादि परिग्रह से अपनी उच्चता माननेवाले, अपनी कीर्ति अभिमान पूजा सत्कार वन्दना के इच्छुक, लोगों को रंजायमान (प्रसन्न) करने में चतुर, ज्ञाननेत्र से अंधे, मद से उद्धत, मिष्ठ भोजन के लोलुपी, पक्षपाती, तुच्छशीली उनके मुनिभेष धारण कर लेने पर भी कभी धर्मध्यान नहीं होता है । **ऐसे पाखण्डी भेषी अन्य भोले लोगों से कहते हैं – यह दुःखमा काल है (पंचम काल), इसमें ध्यान की सिद्धि नहीं होती है** । यह कहकर वे अपना तथा अन्य के ध्यान होने का निषेध करते हैं । काम, भोग, धन के लोलुपी, मिथ्याशास्त्रों के सेवक उनके ध्यान कैसे होगा ?

रागभाव सहित, इंद्रियों के विषयों में लीन, करुणा रहित, हास्य, कौतुक, मायाचार, युद्ध, कामशास्त्र आदि का व्याख्यान करनेवालों को स्वप्न में भी ध्यान नहीं होता है । जो जिनेश्वर की दीक्षा धारण करके भी अपने गौरव के लिये वशीकरण, आकर्षण, मारण, उच्चाटन, जल स्तंभन, अग्नि स्तंभन, रसकर्म, रसायन, पादुका विद्या, अंजन विद्या, विष स्तंभन, पुरक्षोभ, इन्द्रजाल, बल स्तंभन, जीतहार, विद्या छेद, विद्या भेद, वैद्यक विद्या, ज्योतिष विद्या, यक्षिणी सिद्धि, पातालसिद्धि, काल वंचना, जांगुलि, सर्प मन्त्र, भूत पिशाच क्षेत्रपालादि साधन, चल मंत्रन, सूत्रबंधन इत्यादि कार्यों के लिये ध्यान करते हैं, मन्त्रसाधना करते हैं, घोर तप करते हैं उनके तीव्र मिथ्यात्व व कषाय के वश से घोर पाप कर्म के बन्ध का कारण दुर्ध्यान का होना जानना । उसके प्रभाव से नरक-तिर्यंचादि कुगति में अनन्तकाल तक परिभ्रमण होता है । **ऐसे पांखड़ियों की उपासना करनेवाले, अनुमोदना करनेवाले भी दुर्गति में परिभ्रमण करते है;** ऐसा दृढ़ श्रद्धान करके खोटे मन्त्र-यन्त्रों का दूर से ही त्याग करो ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है – खोटे मारण, उच्चाटनादि अनेक विद्या, मन्त्र, तन्त्रादि द्वादशांग में कहे हैं कि नहीं ?

उसके उत्तर में कहते हैं :– द्वादशांग में तो समस्त तीन लोकों में वर्तते द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, विष, अमृत सभी कहे हैं; परन्तु विषादि को त्यागने योग्य कहा है, अमृत को ग्रहण करने योग्य कहा है । उसी प्रकार खोटे मन्त्र, खोटी विद्या त्यागने योग्य कही है । इसलिये अयोग्य विद्या का,

दुर्ध्यान आदि का त्याग करके कर्म की निर्जरा करनेवाली वीतरागता को कारण पंच परमेष्ठी के वाचक मन्त्र पदों का ही ध्यान करो। इस प्रकार धर्मध्यान के भेदों में पदस्थध्यान का वर्णन किया। २।

रूपस्थ धर्मध्यान (३) : अब रूपस्थ धर्मध्यान में - भगवान अर्हन्त परमेष्ठी समोशरण में विराजमान असंख्यात इन्द्रादि देवों द्वारा वंदनीय द्वादश सभाओं के जीवों को परम धर्म का उपदेश देते हुए का - ध्यान करने का उपदेश देते हैं।

समोशरण वर्णन

भगवान अर्हन्त के धर्मोपदेश देने का जो सभास्थान है, वह समोशरण है। वह भूमि से पाँच हजार धनुष ऊँचा आकाश में बीस हजार सीढ़ियों सहित होता है। हरित-नील मणिमय जिसकी भूमि, समवृत्त झालर के आकार का गोल होता है। ऐसा दिखता है मानो तीनलोक की लक्ष्मी का मुख अवलोकव करने का दर्पण ही है।

इस सभा स्थान का वर्णन करने को कौन समर्थ है ? इसका सूत्रधार सौधर्म इन्द्र है, जो अनेक प्रकार की रचना करने में समर्थ है, उसका वर्णन हम सरीखे मंदबुद्धि कैसे कर सकते हैं? तो भी शुभ ध्यान होने के लिये, तथा श्रवण-चिन्तवन कर भव्य जीवों को अति आनन्द होने के लिये कुछ वर्णन करते हैं।

बारह योजन प्रमाण इन्द्रनीलमणिमय समवृत्त भूमिका तक अनेक रंगों के रत्नों की धूल से बना धूलिशाल कोट है। कहीं पर तो हरित मणियों की कान्ति से आकाश हरित किरणमय शोभित हो रहा हैं; कहीं पर पद्मराग मणियों की प्रभा से व्याप्त है; कहीं मेचक मणियों की प्रभा से व्याप्त है; कहीं चन्द्रकान्त मणियों से व्याप्त चन्द्रमा की ज्योत्स्ना चांदनी को धारण किये हैं; कहीं पर स्वर्णमय धूल की कान्ति से दैदीप्यमान है।

अनेक कान्तियुक्त-रत्नों की महाप्रभा से यह **धूलिशाल कोट** आकाश में बलयाकार इन्द्रधनुष के समान शोभायमान हो रहा है। अनेक रत्नों की प्रभा के पुञ्ज **धूलिशाल कोट की चार दिशाओं में स्वर्णमय दो-दो स्तंभ हैं।** उन स्तंभों के अग्रभाग में लूंबते हुए मकराकृत तोरण है जिनमें रत्नों की मालायें सुशोभित हैं।

उस धूलिशाल कोट के चारों तरफ भीतर प्रवेश करने के लिये एक कोस चौड़ी महावीथी (सड़क) है। उस महावीथी में कितनी ही दूर जाने पर वीथी के बीच में बहुत ऊँचे स्वर्ण के मानस्तंभ हैं। उन मानस्तंभों के चारों तरफ चार-चार द्वारों सहित तीन कोट हैं। उन तीनों कोटों के बीच में सोलह सोपान युक्त पीठ हैं। उन पीठों के बीच में बड़े ऊँचे **मान स्तंभ** हैं। वे पीठ सभी सुर, असुर, मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं। **उन मानस्तंभों को दूर से देखते ही मिथ्यादृष्टियों का मान चला जाता है।**

उन मानस्तंभों के मूल में पीठ के ऊपर स्वर्णमय जिनेन्द्र की प्रतिमायें विराजमान हैं, उनका इन्द्रादि देव क्षीर समुद्र के जल से अभिषेक करते हैं। उस जल से वह पीठ पवित्र होती रहती

है । वहाँ हमेशा ही देव मनुष्यों द्वारा किये नृत्य, वादित्र, जिनेन्द्र के मंगलरूप गान होते रहते हैं । पृथ्वी पर बीच में पीठ है, उस के ऊपर पीठों की तीन कटनी, उन तीन पीठों के ऊपर स्वर्णमय मानस्तंभ, उनके मस्तक के ऊपर तीन छत्र हैं । मिथ्यादृष्टियों के मान का स्तंभन करने से तथा त्रिलोकवर्ती सुर, असुर, मनुष्यों द्वारा मानने से पूजने से इनका मानस्तंभ नाम सार्थक है ।

इन मानस्तंभों के चारों तरफ चार–चार बावड़ी हैं । उन बावड़ियों में निर्मल जल भरा है, अनेक प्रकार के कमल खिल रहे हैं । स्फटिक मणिमय उनके तट हैं । उन तटों पर अनेक प्रकार के पक्षियों के शब्द हो रहे हैं । उन पक्षियों के शब्दों से तथा भ्रमरों के गुंजन से ऐसा लगता है जैसे मानों वे जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन ही कर रहे हैं ।

पूर्व दिशा के मानस्तंभ के चारों तरफ की चार बावड़ियों के नाम नन्दा, नन्दोत्तरा, नन्दवती, नन्दघोषा हैं । दक्षिण दिशा के मानस्तंभ की चारों तरफ की चार बावड़ियों के नाम विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता हैं । पश्चिम दिशा के मानस्तंभ के चारों तरफ की चार बावड़ियों के नाम अशोका, सुप्रसिद्धा, कुमुदा, पुण्डरीका हैं । उत्तर दिशा के मानस्तंभ के चारों तरफ की चार बावड़ियों के नाम नन्दा, महानन्दा, सुप्रबुद्धा, प्रभंकारी हैं । ये सभी नाम प्रदक्षिणारूप क्रम से जानना । इस प्रकार **चार दिशाओं के चार मानस्तंभों के चारों तरफ सोलह बावड़ी हैं । एक–एक बावड़ी के दोनों तटों के पास पैर धोने के लिये दो–दो कुण्ड हैं** । कुण्डों के जलसे पैर धोकर मानस्तंभों की पूजा के लिये मनुष्य आदि जाते हैं ।

यहाँ से कुछ आगे जाने पर महावीथी के मार्ग को छोड़ देने के बाद **चारों तरफ से घेरे हुए जल से भरी कमलों से व्याप्त खाई है** जो ऐसी लगती है मानों प्रभु की सेवा के लिये गंगा नदी ही चारों ओर से आ गई है । उस खाईरूप आकाश में तारा-नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब समान पुष्प शोभित हो रहे हैं । उस खाई के रत्नमय किनारों पर अनेक प्रकार के पक्षियों के समूह अनेक प्रकार के शब्दोच्चार कर रहे हैं, खाई में अद्भुत तरंगें उठ रही हैं । उस खाई तक एक योजन चौड़ा गोल विस्तार है । **उस खाई की भूमि के भीतरी भाग में चारों तरफ (घेरे में) लताओं का वन है** ।

उस लता वन में अनेक प्रकार की लतायें, छोटे गुल्म वृक्ष समस्त ऋतुओं के फूलों से व्याप्त हैं, जिनमें अनेक प्रकार के पुष्पों की लतायें उज्ज्वल पुष्पों से ऐसी लगती हैं मानों देवांगनाओं के मन्द हास्य की लीला को धारण किये हैं । उनके ऊपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं तथा मंद सुगंध पवन से बेलें, वृक्ष झूम रहे हैं । उस बेलों के वन में बहुत से क्रीड़ा करने के छोटे-छोटे पर्वत हैं, रमणीक शैय्याओं सहित स्थान-स्थान पर लताओं के मंडप बने हुए हैं, जिनमें अनेक देव-देवांगनायें जिनेन्द्र का यशोगान करते हैं । अनेक लता-भवनों में हिमालय के समान शीतल चन्द्रकान्तमणि मय शिलायें देवों के विश्राम के लिये रखी हैं ।

धूलिशाल कोट से लगाकर पुष्पवाड़ी तक दो योजन का गोल विस्तार है । (धूलिशाल कोट से मानस्तंभ तक एक योजन तथा आगे खाई का विस्तार एक योजन) । दोनों तरफ का चार

योजन क्षेत्र हुआ । यहाँ से महावीथी के बीच में जितनी दूर जाओ वहाँ चारों तरफ तपाये हुए स्वर्ण के समान **स्वर्णमय प्रथम कोट** उस भूमि को घेरे हुए है । यह स्वर्णमय प्रथम कोट अनेक चित्र-विचित्र रत्नों सहित है । कहीं हाथियों के जोड़े, कहीं सिंह-व्याघ्रों के, कहीं मनुष्यों के, कहीं हंस-मयूर-सुआ इत्यादि के युगलों के रूप अनेक प्रकार के रत्नों के जड़ाव से व्याप्त हैं । कई रत्नमयी बेलों-पुष्प-पल्लव-वृक्षों के सुन्दररूप बने हुए हैं, तथा ऊपर नीचे कंगूरों में मोतियों की तथा पंचवर्णमय रत्नों की मालाओं व झालरों का जाल व्याप्त है । उस कोट की अप्रमाण कान्ति से आकाश इन्द्रधनुषी हो रहा है ।

उस स्वर्णमय प्रथम कोट के चारों दिशाओं में बहुत ऊँचे रूपामय उज्ज्वल चार गोपुर अर्थात् दरवाजे हैं । वे गोपुर विजयार्द्ध पर्वत के शिखर के समान ऊँचे तीन-तीन खण्ड के ज्योति के पुंज मानों तीनलोक की लक्ष्मी पर हंस रहे हों । उन रूपामयी तीन खण्ड के गोपुरों के ऊपर पद्मरागमणिमय कान्ति से दिशाओं को तथा आकाश को छूते हुए ऊँचे शिखर आकाश में फैल रहे हैं । उन गोपुरों में गान करनेवाले कई देव जगत के गुरु जो जिनेन्द्रदेव उनके गुण गा रहे हैं, कई जिनेन्द्र के गुण श्रवण कर रहे हैं, कई जिनेन्द्र के गुणों से भरे नृत्य कर रहे हैं ।

एक-एक दरवाजे पर एक सौ आठ-एक सौ आठ झारी, कलश, दर्पण, ठोना, चमर, छत्र, ध्वजा, वीजना-ये रत्नमय अष्टमंगल द्रव्य शोभित हो रहे हैं । एक-एक गोपुर पर रत्नों के आभरण की कान्ति से जिन्होंने आकाश व्याप्त कर दिया है, ऐसे सौ-सौ तोरण सजे हैं । ऐसा लगता है जैसे स्वभाव से ही अतिकान्ति के धारक जिनेन्द्र की देह में अपना स्थान नहीं जानकर वे आभरण गोपुरों के तोरण-तोरण पर लटक रहे हैं । एक-एक द्वार के बाहर भूमि में नव-नव निधियाँ तीन भुवन का उल्लंघन करनेवाले जिनेन्द्र प्रभाव की प्रशंसा कर रही हैं जैसे मानों वीतराग भगवान से तिरस्कार पाकर वे नव निधियाँ द्वार से बाहर पड़ी हैं ।

द्वार के भीतर जो एक कोस चौड़ी महावीथी है उसके दोनों ओर नाट्यशालायें हैं । इस प्रकार चारों दिशाओं के दरवाजों पर प्रत्येक पर दो-दो नाट्यशालायें हैं । वे नाट्यशाला तीन-तीन खण्ड की ऐसी शोभित हो रही हैं मानों जीवों को रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग बतलाने के लिये तैयार हैं । उन नाट्यशालाओं की उज्ज्वल स्फटिकमणिमय दीवालें हैं, स्वर्णमय स्तंभ हैं, स्फटिकमय भूमि (फर्श) हैं तथा अनेक रत्नमय शिखरों से आकाश को रोकती हुई शोभित हो रही हैं ।

उन नाट्यशालाओं में बिजली की चमक के समान नृत्यगान करती जिन्होंने मोहकर्म को जीतकर **'जिन'** नाम सार्थक पाया है, ऐसे भगवान जिनेन्द्र का यशोगान करती कितनी ही देवांगनायें अंजुलि से पुष्प बिखेर रही हैं; कितनी ही देवांगनायें बीन बजा रही हैं, तथा मृदंग आदि अनेक वादित्रों की ध्वनि के साथ अनेक प्रकार से जिनेन्द्र का स्तवन बखान करती हुई नाट्यरस में जिनेन्द्र के गुणों में तन्मय होकर नृत्य कर रही हैं । वीणा के नाद के समान सुन्दर शब्दों से गाते हुए जो किन्नर देव हैं वे आने-जानेवाले देवों आदि के मन को प्रसन्न कर रहे हैं ।

नाट्यशालाओं से आगे महावीथी के दोनों तरफ दो-दो धूप घड़े रखे हैं; उनसे निकलता हुआ धूप का धुँआ आकाश के आंगन में फैलता हुआ दिशाओं को सुगंधित कर रहा है; जो आकाश से उतरते हुए देवों को मेघ की शंका उत्पन्न कर देता है। उस महावीथी के दोनों बाजुओं के अन्तराल में चारों तरफ वन वीथी है उसका एक योजन चौड़ा गोल विस्तार है। उसमें एक पंक्ति (श्रेणी) अशोक वृक्षों की, दूसरी पंक्ति सप्तपर्ण वन की, तीसरी पंक्ति चंपकवन की, चौथी पंक्ति आम्रवन की है। वे वन पत्र-पुष्प-फलों से शोभित मानों जिनेन्द्र को अर्घ ही दे रहे हैं।

यह वन पंक्तियाँ दोनों तरफ दो योजन में हैं। उसमें रत्नमय अनेक पक्षी शब्द कर रहे हैं, भ्रमरों के नाद हो रहे हैं, नन्दनवन के समान करोड़ों देव-देवांगनायें अनेक आभरण पहिने प्रकाश के पुंज के समान विचरण कर रहे हैं। उन वनों में कहीं तो कोयलों के शब्द ऐसे सुनाई दे रहे हैं मानो जिनेन्द्र की सेवा करने के लिये देवेन्द्रों को बुला रही हों, तथा वहाँ पर शीतल मंद सुगंध पवन द्वारा वृक्षों की शाखायें नृत्य कर रही हैं। उस वन की भूमि स्वर्णमय रज से व्याप्त है।

इस वन में रत्नमय वृक्षों की ज्योति से रात्रि दिन का भेद नहीं है, निरन्तर उद्योतरूप है। वृक्षों की शीतलता के प्रभाव से सूर्य की किरणें आताप उत्पन्न नहीं कर पाती हैं। उन वनों में कहीं त्रिकोण, कहीं चतुष्कोण निर्मल निर्जन्तु जल से भरी वापिकायें हैं। उन वापिकाओं की रत्नों की सीढ़ियाँ व स्वर्णमय तट हैं। कहीं रत्नमय अनेक क्रीड़ा पर्व हैं, कहीं रमणीक अनेक रत्नमय महल हैं, कहीं अनेक प्रकार के क्रीड़ा मण्डप हैं, कहीं प्रेक्षागृह हैं; कहीं एक मंजिले, कहीं दो मंजिले, कहीं तीन मंजिले अनेक महलों की रचना है। कहीं हरितभूमि इंद्रगोप रत्नों से व्याप्त है। कहीं महानिर्मल सरोवर है, कहीं मनोज्ञ नदी है।

प्राणियों का शोक दूर करनेवाला अशोक वृक्षों का वन ऐसा लगता है मानों जिनेन्द्र की सेवा से अपने लाल फूल, फल और पत्तों द्वारा राग का ही वमन कर रहा है। सप्तच्छद नाम का वन मानों अपने सप्तपत्रों द्वारा भगवान के सप्त परमस्थानों को ही दिखा रहा है। चम्पक वन अपने दीपक समान पुष्पों द्वारा मानों दीपांग जाति के कल्पवृक्षों का वन ही प्रभु की सेवा कर रहा है। सुन्दर आम्रवन कोयलों की कूकों द्वारा जिनेन्द्र का स्तवन कर रहा है।

अशोक वन के बीच में एक अशोक नाम का चैत्यवृक्ष है जो तीन स्वर्णमय पीठों के ऊपर है। उन पीठों के चारों ओर तीन कोट हैं, एक-एक कोट के चार-चार द्वार हैं। वे द्वार छत्र, चमर, झारी, कलश, दर्पण, बीजना, ठोना, ध्वजा - इस प्रकार अष्ट मंगल द्रव्य, मकराकृत तोरण, मोतियों की माला आदि से शोभायमान हैं। जैसे जम्बूद्वीप के स्थल के बीच में जम्बू वृक्ष सुशोभित है, वैसे ही अशोकवन स्थल के बीच में तीन पीठों के ऊपर अशोक नाम का चैत्यवृक्ष सुशोभित है।

अशोक चैत्यवृक्ष की शाखाओं के अग्रभाग दशों दिशाओं में फैले हुए हैं जिन्हें देखते ही शोक नष्ट हो जाता है, अपने फूलों की सुगंध से समस्त आकाश को व्याप्त कर रहा है, अपने विस्तार से आकाश को रोक रहा है, मरकत मणिमय हरित कांति संयुक्त पत्रों से भरा हुआ है, पद्मरागमणि

मय पुष्पों के गुच्छों से वेष्टित है, स्वर्णमय ऊँची शाखायें हैं । वज्र अर्थात् हीरों से बनाया गया पेड़ है वह अपने प्रभामण्डल से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रहा है ।

रणत्कार करते हुए घण्टों के नाद से भगवान की विजय की घोषणा तीनलोक में व्याप्त हो रही है । ध्वजाओं के उड़ते हुए वस्त्र के दर्शन करने से लोगों के अपराधों की पापरूप रज दूर हो रही है । मोतियों की जालियों सहित मस्तक के उपर घूमते हुए तीन छत्र जिनेन्द्र को तीनलोक का ईश्वरपना वचन बिना ही कह रहे हैं । उस अशोक चैत्यवृक्ष का मूल भाग चार दिशाओं में चार जिनेन्द्र की प्रतिमाओं से युक्त है । उन जिनेन्द्र के प्रतिबिम्बों का इंद्रादि देव अभिषेक करते हैं, तथा गंध, माला, धूप, दीप, नैवेद्य, फल, अक्षत आदि से देव पूजन करते हैं ।

वे अरहन्त की प्रतिमायें क्षीर समुद्र के जल से प्रक्षालित हैं, स्वर्णमय हैं, नित्य सुर-असुर देव लोक के उत्तम द्रव्यों से इन्द्रादि देव पूजते हैं, वंदना-नमस्कार करते हैं । कितने ही देव अरहन्त के गुणों का स्मरणकर निश्चय पूर्वक आनंद से गान करते हैं ।

जैसे अशोक वन में एक अशोक नाम का चैत्यवृक्ष है वैसे ही सप्तच्छद, चंपक, और आम्र नाम के वनों में एक-एक चंपक आदि नाम वाला चैत्य वृक्ष जानना । चैत्य अर्थात् जिनेन्द्र की प्रतिमा सहित इन वृक्षों का मूल भाग है, इसीलिये इनका चैत्य वृक्ष नाम धारना सार्थक ही है । उन वनों के अंतिम भाग के चारों ओर वेदी है । जो कंगूरों सहित होता है, उसे कोट कहते हैं । जो कंगूरों रहित चारों ओर दीवाल होती है, उसे वेदी कहते हैं ।

उस वन के अंत में स्वर्ण वेदी है । उसके बहुत ऊँचे चारों तरफ रूपामय चार द्वार हैं । वह वेदी तथा दरवाजे अनेक रत्नों से व्याप्त हैं । उन दरवाजों पर घण्टाओं के समूह लटक रहे हैं, मोतियों की मालायें, झालर, पुष्पमालायें, लंबी लटक रही हैं । वे दरवाजे एक सौ आठ अष्ट-मंगल द्रव्य तथा रत्नों के आभरण सहित रत्नमय तोरणों से शोभित हो रहे हैं । उन तीन खण्डों के द्वारों में अनेक देव गीत, वादित्र, नृत्य से जिनेन्द्र के यश में लीन हो रहे हैं ।

उन द्वारों के आगे वेदी के नजदीक ही रत्नमय पीठों के ऊपर स्वर्णमय स्तंभों के अग्रभाग में अनेक प्रकार की **ध्वजाओं की पंक्तियाँ** हैं । वे स्तम्भ मणिमय पीठों के ऊपर स्वर्णमय अनुपम कांति के धारक हैं; वे अट्ठासी अंगुल मोटे हैं - स्थूल हैं, पच्चीस-पच्चीस धनुष के अन्तराल से खड़े हैं ।

इनकी ऊँचाई का प्रमाण इस प्रकार जानना :– समोशरण में स्थित सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वन, वेदी, स्तूप, तोरण, मानस्तंभ, ध्वजा, वन के वृक्ष, प्रासाद (महल), पर्वत आदि की ऊँचाई तीर्थंकर की देह की ऊँचाई से बारह गुनी जाननी । पर्वतों की ऊँचाई से उनकी चौड़ाई आठ गुनी है; स्तूपों की चौड़ाई ऊँचाई से कुछ अधिक है । कोट, वेदी आदि की चौड़ाई उनकी ऊँचाई से चौथाई भाग जाननी ।

ध्वजा दश प्रकार की हैं : माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी, चक्र के चिह्न की ध्वजा दश प्रकार की हैं । वे ध्वजा प्रत्येक एक-एक प्रकार की एक सौ आठ एक दिशा में हैं । सभी दश प्रकार की ध्वजा एक हजार अस्सी एक दिशा में हुई, चारों तरफ की चार दिशाओं में चार हजार तीन सौ बीस हैं । समुद्र की लहरों के समान हवा से उनके वस्त्र लहरा रहे हैं ।

माला की ध्वजा में माला के आकार के वस्त्र लूमते हिल रहे हैं । ऐसी ही वस्त्र की ध्वजा, मयूराकार मयूर ध्वजा, सहस्र पांखुड़ी के कमल के आकार कमल ध्वजा, हंस ध्वजा, गरुड़ ध्वजा, सिंह ध्वजा, वृषभ ध्वजा, गज ध्वजा, चक्र ध्वजा - ये दश प्रकार प्रत्येक दिशा में एक सौ आठ-एक सौ आठ हैं । इस तरह चारों दिशाओं में चार हजार तीन सौ बीस हैं । ऐसा लगता है जैसे ये ध्वजायें मोह कर्म को विजय करके जिनेन्द्र ने जो त्रिभुवेनशपना प्राप्त किया है, उसकी प्रशंसा कर रही हैं ।

इस ध्वजा भूमि का घेरा का विस्तार एक योजन चौड़ा है - दोनों तरफ का दो योजन चौड़ा है । उसके आगे जाने पर **दूसरा स्वर्ण का अर्थात् अर्जुन का कोट है** । इस दूसरे कोट के भी प्रथम कोट के समान रूपामय चारों तरफ चार महा द्वार हैं । ये द्वार भी प्रथम कोट के द्वारों के समान मंगल द्रव्य, तोरण, रत्नों के आभरणों की सम्पदा को धारण किये हैं । ये द्वार भी तीन-तीन खण्ड के हैं तथा भीतर दोनों ओर नाट्यशालायें, धूपघट युग्म, महावीथी के दोनों बाजुओं में स्थित हैं ।

आगे महावीथी के दोनों ओर एक योजन चौड़ा गोल घेराकार विस्तार में अनेक रत्नमय चारों ओर **कल्पवृक्षों का वन** है । वे सभी कल्पवृक्ष ऊँचे, छायादार, फलों और फूलों से युक्त हैं । दश प्रकार के कल्प वृक्षों के वन का रूप धारण करके जैसे देवकुरु-उत्तरकुरु की भोग भूमि ही जिनेन्द्र की सेवा करने आयी है । उन कल्पवृक्षों के आभरण, वस्त्र, फल, पुष्प आदि की महान महिमा है। वृक्षों के नीचे बैठे हुए देव अपने स्वर्गों के स्थान को भूलकर चिरकाल तक वहीं पर रहना चाहते हैं । ज्योतिरांग जाति के कल्पवृक्षों में ज्योतिषी देव, दीपांग जाति के कल्पवृक्षों में कल्पवासी देव, गृहांग जाति के कल्प वृक्षों में भवनेन्द्र (भवनवासी) यथायोग्य सुखपूर्वक बैठते हैं ।

इस वन में चारों दिशाओं में एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष बीच में है, जिसके मूल में सिद्ध प्रतिमा विराजमान है । जैसा पहिले चैत्यवृक्षों का वर्णन किया है उसी प्रकार इनका वर्णन जानना । इतना विशेष है : ये कल्पवृक्ष इच्छा किये अनुसार फल को देनेवाले हैं । कल्पवृक्षों के वन में भी कहीं बावड़ी, कहीं नदी, कहीं बालू के ढेर के समान रत्नमय धूल के पुंज हैं, कहीं सभागृह, प्रासाद इत्यादि अनेक सुखरूप स्थानों को धारण किये हैं ।

इस वन वीथी के भीतर रूपामई वनवेदी है । वह तीन-तीन खण्ड के ऊँचे चार द्वारों सहित है तथा पूर्व में वर्णित वेदी के समान तोरण आभरण मंगल द्रव्यों से युक्त है ।

उन द्वारों के भीतर जाने पर चारों तरफ प्रासादों (महल) की पंक्ति है । ये महल देवों के शिल्पियों द्वारा बनाये गये चारों तरफ अनेक प्रकार के हैं । उन महलों के स्वर्णमय स्तम्भ हैं, वज्रमणि अर्थात् हीरा, उससे बनी भूमि का बंधन (नींव, वीम) हैं, चन्द्रकान्त मणिमय दीवालें हैं, अनेक प्रकार के रत्नों से चित्र बने हुए हैं । कितने ही दो खण्ड के, कितने ही तीन खण्ड के, कितने ही चार खण्ड के हैं । कई प्रासाद चंद्रशालायुक्त हैं । ऊपर के ऊँचे खुले छत को **चन्द्रशाला** कहते हैं । कितने ही **वलभीछद** युक्त हैं । अर्थात् ऊपर की खुली छत पर चारों ओर ऊँची दीवालें हैं ।

वे प्रासाद अपनी उज्ज्वल प्रभा में डूब रहे हैं । कितने ही अपनी उज्ज्वल शिखरों से चंद्रमा की चाँदनी से ही मानों बने हुए हैं ऐसे दिखाई देते हैं । कहीं बहुत शिखरवाले महल हैं, कहीं सभागृह हैं, कहीं नाट्यशालाएँ हैं, कहीं शय्यागृह हैं जिनकी चंद्रकांत मणिमय ऊँची सीढ़ियाँ हैं । उनमें देव, विद्याधर जाति के देव, सिद्ध जाति के देव, गंधर्व देव, पन्नग देव, किन्नर देव बहुत आदर सहित जिनेन्द्र के गुण गाते हैं; कोई बजाते हैं; अनेक जाति के वादित्रों से शब्द करते हैं; कोई संगीत नृत्य करते हैं; कोई जय-जयकार शब्द करते हैं; कोई जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन करते हैं ।

उस रमणीक भूमि के मध्य भाग में **नौ स्तूप** हैं । वे स्तूप पद्मराग मणिमय पुंज के आकार उत्तुंग आकाश के अग्रभाग को लांघते हुए ऐसे हैं मानो समस्त देव-मनुष्यों के चित्त का अनुराग ही स्तूप के आकार को प्राप्त हो गया है । **कैसे हैं स्तूप** ? सिद्धों के तथा अर्हन्तों के प्रतिबिम्बों के समूह से सभी तरफ व्याप्त हो रहे हैं, अपनी ऊँचाई से जैसे आकाश को रोके हैं । वे स्तूप देव-विद्याधरों द्वारा सुमेरु के समान पूज्य हैं, उच्च देवों द्वारा तथा चारण ऋद्धि धारियों द्वारा आराध्य हैं।

ये नव स्तूप, जिनेन्द्र की नव केवल लब्धि ही मानो स्तूपों के आकार हो गई हैं । उन स्तूपों के अन्तराल में रत्नों के तोरणों की पंक्तियाँ इस प्रकार शोभित हो रही हैं मानों इंद्र धनुषमय ही हैं, तथा अपनी ज्योति से आकाशरूप आंगन को चित्ररूप कर रही हैं । वे स्तूप छत्रों सहित हैं; पताका ध्वजा सहित हैं, समस्त मंगल द्रव्यों से भरे हैं । उन स्तूपों में जिनेन्द्र की प्रतिमाओं का अभिषेक करके, तथा पूजन-स्तवन करके पश्चात् प्रदक्षिणा करके भव्य जीव हर्ष को प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार आधा योजन चौड़ी गोल विस्ताररूप प्रासाद और स्तूपों की भूमि के आगे जाकर **आकाश के समान स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है ।** वह आकाश स्फटिक मणिमय कोट आकाश के समान निर्मल है, तथा **जिनेन्द्र की समीपता के सेवन से निकट भव्य की आत्मा के समान उज्ज्वल उत्तुंग सद्वृत्ति व समृद्धि से युक्त है ।** उस स्फटिक मणिमय कोट के चारों दिशाओं में पद्मराग मणिमय चार महा उत्तुंग द्वार ऐसे हैं जैसे भव्य जीवों का राग पुंज निकलकर इन दरवाजों की लालिमारूप परिणित हो गया है । इन द्वारों पर भी पूर्व के समान मंगलद्रव्य, तोरण, मालायें आदि सभी सम्पदा हैं तथा द्वारों के समीप ही दैदीप्यमान गंभीर नव निधियाँ हैं ।

तीनों कोटों के सभी चार-चार द्वारों में हाथों में गदा आदि धारण किये देव खड़े हैं । प्रथम कोट के द्वारपाल व्यन्तरदेव हैं, दूसरे कोट के द्वार पाल भवनवासी देव हैं, तीसरे स्फटिक मणिमय कोट के द्वारपाल कल्पवासी देव हैं ।

उस स्फटिक मणिमय कोट से गन्ध कुटी की निचली **प्रथम पीठ** तक लम्बी सोलह दीवारें आकाश स्फटिक मणि की बनी हुई हैं जिनकी कान्ति बहुत निर्मल है। प्रथम पीठतल से लगाकर स्फटिक कोट तक बनी सोलह दीवारें हैं जो अपनी स्वच्छता के कारण नेत्रों से दिखाई नहीं देती हैं, केवल आकाश ही दिखाई देता है; हाथ आदि शरीर के स्पर्श से ही दीवार ज्ञात होती है, अपनी स्वच्छता के प्रभाव से दिखाई नहीं देती है। **निर्मल और समस्त वस्तुओं के बिम्ब दिखानेवाली वहाँ की भूमि जिनेन्द्र की ज्ञानविद्या के समान शोभायमान हो रही है।**

इन सोलह दीवालों के बीच में सोलह ही दर हैं, जिनमें चार महावीथी हैं तथा महावीथियों के बीच बारह सभास्थान हैं, जो दीवारों की आकाश समान स्वच्छता के कारण अलग-अलग नहीं दिखाई देते हैं, सभी एक ही दिखते हैं।

उन सोलह दीवारों के ऊपर रत्नमय सोलह खंभों द्वारा धारण किया आकाश स्फटिक मणिमय बहुत ऊँचा **श्री मंडप है,** जो एक योजन चौड़ा लंबा गोल है, महान शोभायुक्त है। उसमें समस्त सुर असुरों से वंद्यमान भगवान स्याद्वाद विद्या के परमेश्वर विराजमान हैं। इसीलिये यह सच्चा ही श्री मण्डप है। यह श्री मण्डप आकाश स्फटिक मणिमय है, जिसमें से आकाश दिखाई देता है। तीन लोक के जन समूह को निर्बाध स्थान देने से बड़े वैभव को प्राप्त है। उस श्री मण्डप के ऊपर गुह्यक देवों द्वारा छोड़े गये पुष्पों के समूह हैं जो श्री मण्डप के नीचे बैठे देव मनुष्यों को तारागणों की शंका उत्पन्न कराते हैं।

एक योजन विस्तार वाले इस श्री मण्डप में सभी देव मनुष्य परस्पर बाधा रहित सुखरूप बैठते हैं, वह जिनेन्द्र का माहात्म्य है। उसके मध्य भाग में **प्रथम पीठ** स्थित है, वह वैडूर्यमणि का मयूर के कण्ठ के समान हरित वर्ण का आठ धनुष ऊँचा है। उस पीठ के सोलह अंतर हैं। उन सोलह अंतर के सोलह-सोलह पग चढ़ने-उतरने के लिये सीढ़ियाँ हैं।

प्रथम पीठ के चार तरफ तो चार महावीथी हैं जो एक कोस चौड़ी तथा धूलिशाल कोट से प्रथम पीठ तक लम्बी सीधी हैं। उस पीठ को सोलह-सोलह सीढ़ियाँ चढ़कर प्रथम पीठ के ऊपर जाकर अपनी-अपनी सभा के स्थान पर देव मनुष्य आदि जाकर अपनी-अपनी सभा में बैठ जाते हैं। उस प्रथम पीठ को चारों तरफ से अष्ट मंगलद्रव्य सजाये हैं तथा चारों तरफ ही उसके ऊपर ऊँचे यक्षों के मस्तक पर धर्म चक्र स्थित हैं। वे धर्म चक्र एक हजार रत्नमय किरणों के समूह से शोभित ऐसे दिख रहे हैं मानो प्रथम पीठ का रूप उदयाचल पर्वत के ऊपर सूर्य का विम्ब ही उदय होता दिखाई दे रहा है। उस प्रथम पीठ के ऊपर स्वर्णमय द्वितीय पीठ है।

द्वितीय पीठ स्वर्णमय है जो उस प्रथम पीठ के ऊपर चार धनुष ऊँची है। वह पीठ सूर्य की किरणों के समान अपनी कांति से आकाश को उद्योतरूप कर रही है। उस दूसरी पीठ के ऊपर आठ प्रकार की ध्वजा हैं। वे ध्वजा १ चक्र, २ हाथी, ३ वृषभ, ४ कमल, ५ वस्त्र, ६ सिंह, ७ गरुड़, ८ माला ध्वजा हैं। क्या ये हवा से हिलते हुए वस्त्रों से जैसे पाप रूप धूल को ही उड़ा रही

हैं? उस द्वितीय पीठ के ऊपर अपने अनेक रत्नों की कांति से अंधकार को दूर करता हुआ सर्व रत्नमय चार धनुष ऊँचा तृतीय पीठ है । इस प्रकार त्रिमेखलामय पीठ ऐसा दिखाई देता है मानो भगवान की उपासना के लिये समस्त रत्नमय सुमेरु पर्वत ही आ गया है ।

समोशरण का विस्तार इस प्रकार जानना

धूलिशाल कोट से खाई तक गोल घेरा का व्यास (चौड़ाई) एक योजन है; खाई से पुष्पवाड़ी की वेदी तक वलय व्यास (चौड़ाई) एक योजन है; उसके आगे अशोकादि वनभूमि का वलय व्यास एक योजन है; उसके आगे ध्वजाभूमि का वलय व्यास एक योजन है; उसके आगे कल्पवृक्षों के वन का वलय व्यास एक योजन है; उसके आगे प्रासाद पंक्ति का वलय व्यास आधा योजन है । इस प्रकार एक दिशा का वलय व्यास साढ़े पाँच योजन हुआ, दोनों (आमने सामने की) दिशाओं का वलय व्यास कुल ग्यारह योजन हुआ । मध्य में तथा आकाश स्फटिक कोट के नीचे श्रीमण्डप का विस्तार एक योजन का है । इस प्रकार कुल बारह योजन का विस्तार समोशरण की भूमि का है ।

श्रीमण्डप में स्फटिकमय कोट से गंधकुटी की निचली पीठ तक सभा की भूमि एक तरफ की एक कोस, दोनों तरफ की **दो कोस** है । मध्य में तीनों कटनी की पीठ दोनों तरफ **दो कोस** चौड़ी है । उसमें ऊपरी तीसरी पीठ (मध्य) की चौड़ाई १००० **धनुष** है, दूसरी पीठ की चौड़ाई एक तरफ ७५० **धनुष** दोनों तरफ १५०० **धनुष** है, तीसरी निचली (प्रथम) पीठ की चौगिरद कटनी चौड़ाई ७५० **धनुष** दोनों तरफ की १५०० **धनुष** है । इस प्रकार तीनों पीठों की चौड़ाई ४००० **धनुष** अर्थात् **दो कोस** है । **इस प्रकार मध्य का विस्तार चार कोस या एक योजन जानना ।**

प्रथम पीठ भूमि से आठ धनुष ऊँची है; उसके ऊपर चार धनुष ऊँची दूसरी पीठ है । उसके ऊपर चार धनुष ऊँची तीसरी पीठ है । एक कोस चौड़ी चारों तरफ की चार महावीथी हैं, उनके दोनों बाजु की आठ दीवारें प्रथम पीठ की ऊँचाई के बराबर आठ-आठ धनुष ऊँची हैं, तथा दीवारों की मोटाई ऊँचाई का आठवाँ भाग याने एक धनुष की है । बारह सभाओं की शेष आठ दीवारों की ऊँचाई भी आठ धनुष व चौड़ाई एक धनुष की है ।

तीसरी अंतिम पीठ के ऊपर समोशरण के मध्य में अनेक रत्नों के समूहों से इंद्रधनुष बन रहे हैं । वहाँ इंद्र के हाथ से क्षेपे गये अनेक प्रकार के पुष्प शोभित हो रहे हैं । उस एक हजार धनुष चौड़ी गोल तीसरी पीठ के बीच में **छह सौ धनुष लम्बी चौड़ी चौकोर** अनेक रत्नमय **गंधकुटी** की रचना कुबेर ने की है । चौड़ाई से ऊँचाई अधिक है - मान उनमान प्रमाण सहित है, ऊँचे कोट से भूषित है, अनेक रत्नों की प्रभायुक्त कूट शिखर सहित आकाश में व्याप्त हैं, तथा ऊँचे शिखरों से बंधी जो विजयरूप ध्वजायें हैं वे ऐसी लगती हैं मानो देवों को बुला रही हैं ।

बड़े-बड़े मोतियों के जाल चारों तरफ लटक रहे हैं; कहीं सोने के, कहीं रत्नों के जाल शोभित हैं; चारों तरफ अनेक रत्नमय आभरण तथा बहुत सुंगधित कल्पवृक्षों के फूलों की मालायें शोभित

हैं; अनेक सुगंधित पुष्प व महासुगंध युक्त धूप की गंध फैल रही है; परन्तु उन सबसे अधिक जिनेन्द्र के शरीर की सुगंध से सभी दिशाये सुगंधित हो रही हैं, इसीलिये इसे गंधकुटी कहते हैं। सुगंध की, कांति की और शोभा की यह तीन लोक में परम हद है।

छह सौ धनुष की चौकोर गंधकुटी के बीच में एक योजन ऊँचा सिंहासन है। उस सिंहासन की कांति, किरण समूह व सौंदर्य का वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है। उस सिंहासन के ऊपर चार अंगुल का अंतर छोड़कर, अपनी महिमा के अनुसार ही सिंहासन को स्पर्श किये बिना ही जिनेन्द्र विराजमान हैं। वहाँ पर विराजमान जिनेन्द्र की इन्द्रादि देव अत्यन्त भक्ति पूर्वक पूजन, स्तवन, वन्दना करते हैं।

देवरूप मेघों के द्वारा कल्पवृक्षों के अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि बारह योजन के सम्पूर्ण समोशरण में हो रही है। एक योजन के श्रीमण्डप के ऊपर रत्नमय अशोकवृक्ष सभी ओर शोभित हो रहे हैं; उनके मरकतमणिमय हरित पत्र हैं, अनेक प्रकार के मणिमय पुष्पों से भूषित हैं, पवन से मन्द-मन्द हिलती शाखायें मानो नृत्य कर रही हैं, मदोन्मत्त कोकिल और भ्रमर अपने शब्दों द्वारा जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन कर रहे हैं। एक योजन लम्बी अपनी शाखाओं द्वारा सभी जीवों का शोक दूर कर रहे हैं, सभी दिशाओं को अपनी डालियों से ढांक रहे हैं। हीरामय पेड़ हैं उनसे जपापुष्प समान रत्नों के पुष्प बरस रहे हैं।

तीन छत्र अपनी कांति की उज्ज्वलता से सूर्य चन्द्रमा दोनों की प्रभा का तिरस्कार करते हुये, अद्‌भुत त्रैलोक्य के पदार्थों की प्रभा को जीतते हुये, मोतियों की झालर युक्त हैं। तीन लोक की लक्ष्मी के हास्य का पुंज है, या धर्मरूप राजा को तीनलोक को आनंदित करने का हर्ष है या मोह को जीतने से उत्पन्न प्रभु के यश का यह पुंज है। इस प्रकार तर्कणा उत्पन्न करते तीन छत्र शोभायमान हैं।

जब तक जिनेन्द्रद्रेव विराजमान रहेंगे तब तक सेवा करनेवाले यक्ष देवों के हाथों के समूह से चलायमान चौंसठ चमर प्रकट शोभायमान हैं। वे चमर ऐसे दिखते हैं मानो क्षीर समुद्र की लहरों की पंक्ति ही है, अमृत के खण्डों से ही बने हैं, चन्द्रमा की किरणों का समूह ही है, जिनेन्द्र की सेवा के लिये चमरों के रूप में गंगा ही आई है, जिनेन्द्र के अंग की द्युति ही है, क्षीर समुद्र के झागों की पंक्ति ही हवा से हिल रही है, आकाश से गिरती हुई हंसों की पंक्ति ही है, तथा भगवान का उज्ज्वल यश ही चारों तरफ फैल रहा है। ऐसे शोभनीय चौंसठ चमर ढुर रहे हैं।

वहाँ पर देवदुन्दभि आकाश में मेघों के आगमन की शंका उत्पन्न करती हुई कानों को अमृत की तरह सींचती हुई मीठे शब्द कर रही है। देवलोक के अनेक जाति के वादित्र अनेक प्रकार की ध्वनियों द्वारा समस्त दिशाओं को पूर्ण करते हुए मेघ की गर्जना के समान समस्त लोक में व्याप्त होते हुए भगवान ने मोह को जीत लिया है, अतः उसके आनंद के शब्द लोगों के हृदय में प्रकट हो रहे हैं।

जिनेन्द्र की देह की अद्भुत प्रभा समस्त समोशरण में फैल रही है। उस प्रभा से सभी सुर, असुर, मनुष्यों को महा आश्चर्य हो रहा है। वह प्रभा सूर्य के तेज को ढंक रही है, करोड़ों कल्पवासी देवों की द्युति को आच्छादित करती हुई जगत में एक अद्भुत महान उदय को प्रकट करती हुई फैल रही है। **जिनेन्द्र के देहरूप अमृत के समुद्र में देव, दानव, मनुष्य अपने-अपने सात भव देख रहे हैं।** चन्द्रमा की कान्ति तो जड़ता करती है, सूर्य की प्रभा आतप करती है, किन्तु जिनेन्द्र के देह की प्रभा जड़ता को दूर करती है, ज्ञान का प्रकाश करती है तथा समस्त संताप को दूर करके सुखी करती है।

जिनेन्द्र के मुख कमल से मेघ की गर्जना के समान दिव्य ध्वनि प्रकट होती है, जो भव्य जीवों के मन से मोह अंधकार को दूर करती हुई सूर्य के समान अनेकान्त स्वरूप वस्तु का उद्योत करती है। जिनेन्द्र की ध्वनि एकरूप होकर भी समस्त मनुष्यों की भाषारूप होकर कानों के भीतर प्रवेश कर जाती है। तिर्यंचों के भी हृदय में प्रवेश कर जाती है, और विपरीत ज्ञान को दूर करके सम्यक्रूप तत्त्वों के ज्ञान को प्रकट करती है। जैसे एकरूप जल का समूह भी अनेक प्रकार के वृक्षों में अनेक रूप परिणम जाता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ की एक प्रकार की ध्वनि भी अनेक प्रकार के श्रोतारूप पात्रों की विशेषता से अनेक रूप में प्राप्त हो जाती है। जैसे एक रूप स्फटिक मणि भी अनेक प्रकार के डाक के संयोग से अनेक रूप परिणमती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ की एक प्रकार की ध्वनि भी स्वच्छता के प्रभाव से पात्र के प्रभाव से अनेक रूप परिणमती है। कोई दिव्यध्वनि का अनेक भाषा स्वभावरूप परिणमन को देवकृत विशेषता (गुण) कहते हैं किन्तु इसमें देवकृतपना सम्भव नहीं है। दिव्यध्वनि अक्षर सहित ही है, अक्षर समूह के बिना अर्थ का ज्ञान कैसे होगा ?

इस प्रकार अष्ट प्रातिहार्यों की विभूति सहित गन्धकुटी में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख के धारक जिनेन्द्र गन्धकुटी में पूर्व दिशा के सन्मुख या उत्तर दिशा के सन्मुख होकर विराजमान रहते हैं। गन्धकुटी की प्रदक्षिणारूप (चारों ओर) सामने की ओर देखते हुए **पहली** सभा में गणधरादि मुनिराज बैठते हैं, **दूसरी** सभा में कल्पवासी देवों की स्त्रियाँ, **तीसरी** सभा में गणनी सहित अर्जिका व मनुष्यनी स्त्रियाँ, **चौथी** सभा में चक्रवर्ती आदि सहित मनुष्य, **पाँचवीं** सभा में ज्योतिषी देवों की स्त्रियाँ, **छटवीं** सभा में व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ, **सातवीं** सभा में भवनवासी देवों की स्त्रियाँ, **आठवीं** सभा में भवनवासी देव, **नवमी** सभा में व्यन्तर देव, **दशमी** सभा में ज्योतिषी देव, **ग्यारहवीं** सभा में कल्पवासी देव तथा **बारहवीं** सभी में सभी तिर्यंच बैठते हैं। इस प्रकार बारह सभाओं के जीव जिनेन्द्र के चरणों की भक्ति करके नम्रीभूत होकर भगवान जिनेन्द्र के द्वारा उपदेशित धर्मरूप अमृत का पान करते हैं।

घातिया कर्मों का नाश होने से भगवान के अठारह दोषों का अभाव हो गया है। क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, भय, विस्मय, अरति, चिन्ता, स्वेद, खेद, मद, मोह, निद्रा, राग और द्वेष - ये अठारह दोष सभी संसारी (मिथ्यादृष्टि) जीवों में व्याप्त हो रहे हैं। भगवान अरहन्त के

घातिया कर्मों के अभाव से ये समस्त दोष नष्ट हो गये हैं । अतः अनन्त सुखरूप परमात्मा परमपूज्य परमेश्वर अनन्तगुणों से भूषित, कोटि सूर्य समान उद्योत के धारक, अनेक अतिशयों से युक्त, अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुखरूप से विराजमान हैं । इस प्रकार अर्हंत के स्वरूप का ध्यान करना वह **रूपस्थ धर्मध्यान** है ।

जो पुरुष वीतराग होकर (४थे गुणस्थान से छटवें गुणस्थान तक) वीतराग को (तेरहवें गुणस्थान वालों को) स्मरण करता है वह कर्मबन्धन से छूटता है । जो स्वयं रागी (प्रथम गुणस्थान वाला) होते हुए सरागी (प्रथम गुणस्थान वाले गृहीत मिथ्यादृष्टि) का अवलम्बन करता है वह दुष्ट कर्मों का बंध करता है; क्रोधी होकर ध्यान करनेवाला भी अनेक प्रकार के विकारीभाव करता हुआ असार ध्यान के मार्ग का अवलम्बन करता है ।

जो मंत्र, मंडल, मुद्रादि अनेक उपायों से ध्यान करने में उद्यमी हैं उनको आत्मा में एकाग्र होकर जुड़ने से ऐसी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है कि क्षण भर में सुर, असुर, मनुष्यों के समूह को क्षोभ को प्राप्त करा देते हैं । विद्यानुवाद पूर्व में अनेक विद्या, मंडल, मंत्र, अक्षरों आदि की सामर्थ्य आत्मा के भाव जुड़ने से प्रकट होने का वर्णन किया है, क्योंकि **अनादि निधन वस्तुओं का स्वभाव किसी के द्वारा दूर करने से दूर नहीं होता है** । जैसे -कितने ही पुद्गलों का संयोग होने से विष हो जाता है, कितने ही अमृत हो जाते हैं, कितनों को शरीर में लगाने से विकार दूर हो जाते हैं, कितने ही खाने से मर जाते हैं ।

वचन के पुद्गलों में भी अचिन्त्य सामर्थ्य है, जिनसे आत्मा में क्रोधादि विकार प्रकट हो जाते हैं, आजन्म के कषाय दूर हो जाते हैं, मंत्रादि से जहर उतर जाता है, जहर फैल जाता है । इसी प्रकार मन के एकाग्र होकर जुड़ने में ध्यान की अचिंत्य सामर्थ्य है ।

नरक स्वर्ग मोक्ष होने का कारण ध्यान ही है । कितने ही असंख्यात ध्यान तो कौतूहल के लिये कुमार्ग में प्रर्वतानेवाले कुगति के कारण कुध्यान है । **आत्मा में अनन्त सामर्थ्य स्वभाव से ही है** । जैसा बाह्य निमित्त मिल जाता है वैसा परिणमन हो जाता है; इसलिये जो जिनेन्द्र धर्म के धारक हैं वे खोटे ध्यान, कुमंत्र, मंडलादि साधन कौतुक द्वारा स्वप्न में भी कभी सेवन नहीं करो । कुध्यान आदि के प्रभाव से सम्यङ्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, सच्ची उज्ज्वल बुद्धि नष्ट हो जाती है, फिर अनेक भवों में बुद्धि में शुद्धता नहीं आती है, मिथ्यामार्ग नहीं छूटता है ।

सन्मार्ग छूटने पर असंख्यात भवों तक सम्यग् बुद्धि प्रकट नहीं होती है, जिन सिद्धान्त के सत्य उपदेश हृदय में प्रवेश नहीं करते हैं, बुद्धि विपरीत हो जाती है । अतः असद् ध्यान, खोटे मंत्रादि केवल आत्मा के नाश के लिये हैं, रागादि बढ़ानेवाले हैं; गृहीत मिथ्यात्व हैं ।

जो पुरुष निम्न कोटि के ध्यान, खोटे मंत्र, मुद्रा, मंडल, यंत्र प्रयोग आदि द्वारा रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी, नीच व्यंतर देव, भवनवासी देव, ज्योतिषी देव, देवियों, यक्ष यक्षिणी की आराधना करते हैं, वे संसार के विषय, धन, तथा कषायों की खोटी आशा के चाहनेवाले होकर भोगों के दुःख भोगकर अपने पूर्व पुण्य का घात करके नरक को प्राप्त हो जाते हैं ।

जब यह विषय कषायों की इच्छा ही दुर्गति कर देती है, तो फिर इनके लिये खोटी विद्या, खोटे मंत्रादि द्वारा ध्यान करना आत्मा में मिथ्यात्व व कषायों का दृढ़ आरोपण करना है; जो निगोदादि में अनंतकाल तक परिभ्रमण कराता ही है।

बुद्धिमान को तो ऐसा ध्यान करना, ऐसा चिन्तवन करना, तथा ऐसा आचरण करना चाहिये जिससे जीव के कर्मबंध का विध्वंस हो जाय। जो शांतचित्त हैं, मंद कषायी हैं, निर्वांछक हैं, संतोषी हैं, मोक्षमार्ग के अवलंबी हैं उनको विद्या की साधना तथा देव की आराधना के बिना ही स्वयमेव अनेक सिद्धियाँ, अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो नीच वांछा के धारक, हीन पुण्य के धारक हैं, उनके इच्छानुसार कुछ भी नहीं होता, किन्तु अनेक मंत्रादि की साधना करते हुए भी अनेक विपत्तियाँ ही प्राप्त होती हैं। **इसलिये वीतराग धर्म के श्रद्धानी को स्वप्न में भी नीच ध्यान, मंत्रादि की प्रशंसा नहीं करना चाहिये।** ३।

रूपातीत धर्मध्यान (४) : जो शरीरादि नोकर्म व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रहित, चैतन्य स्वरूप निजानंदमय, शुद्ध, अमूर्त, अविनाशी, अजन्मा, स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि पुद्‌गल विकार रहित, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतशक्ति, अनंतसुख स्वभावी, स्वाधीन; निराकुल, अतीन्द्रिय, सिद्ध, कृतकृत्य ऐसा शुद्ध आत्मा के स्वभाव का चिंतवन करना है वह रूपातीत ध्यान है। यद्यपि चित्त का एकाग्रपना ध्यान है तथापि सिद्ध परमेष्ठी के गुण समूह व उनके स्वरूप का ध्यान में अवलोकन कर अन्य सभी की शरण छोड़कर **निज स्वरूप में लीन हो जाना वही धर्मध्यान है।**

सिद्ध परमेष्ठी के गुण समूह के स्वभाव रूप अपने स्वरूप का अनुभव करना वही परमात्मा में युक्त होना है। परमात्मा में और हममें गुणों की ओर से तो समानता है; परन्तु हमारे गुण कर्मों से आच्छादित हैं, सिद्ध परमेष्ठी के समस्त गुण कर्मों का अभाव हो जाने से प्रकट हो गये हैं। इस प्रकार का निरन्तर अभ्यास करने से आत्मा को ऐसा दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि स्वप्न में भी सिद्धों का स्वभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है उसे रूपातीत ध्यान होता है। इस प्रकार रूपातीत ध्यान का वर्णन करके धर्मध्यान का वर्णन समाप्त हुआ। ४।

शुक्लध्यान : अब शुक्लध्यान का वर्णन करने का अवसर आ गया है। यद्यपि शुक्लध्यान के परिणाम एक देश मात्र भी मेरे लिये साक्षात् नहीं हुए हैं तथापि आगम की आज्ञा के अनुसार कुछ लिखते हैं।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं - पृथक्त्व वितर्क विचार १, एकत्व विर्तक अविचार २, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ३, व्युपरत क्रिया निवर्ति ४। इनमें प्रथम दो शुक्लध्यान तो पूर्वों के ज्ञाता द्वादशांग के धारी मुनियों के होते हैं, तथा शेष दो शुक्लध्यान केवली भगवान के होते हैं। इनमें प्रथम शुक्ल ध्यान तो मन-वचन-काय के तीनों योगों में होता है। दूसरा शुक्लध्यान किसी भी एक योग में ही होता है। तीसरा शुक्लध्यान केवल एक काय योग में ही होता है। चौथा शुक्लध्यान अयोगी के ही होता है।

पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान (१) : प्रथम शुक्लध्यान तो सवितर्क, सविचार होता है। सवितर्क शब्द का अर्थ है श्रुतज्ञान के शब्द व अर्थ का अवलंबन सहित है । सविचार शब्द का अर्थ है पलटना । अर्थ का पलटना, शब्द का पलटना, योग का पलटना सहित जो ध्यान है वह पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान है । अनेक शब्द, पदार्थ व योगों का पलटना इस ध्यान में होता है (किन्तु यह ध्यान निर्विकल्प दशा में होने से उस ध्यान कर्ता को यह खबर नहीं होती है कि मेरे अर्थ, शब्द, योग पलट रहे हैं, इसका ज्ञान तो केवलज्ञानी को होता है ।)

दूसरा शुक्लध्यान श्रुत का एक शब्द, एक अर्थ (पदार्थ) एक योग के अवलंबन से होता है। जिसका अवलंबन किया उससे परिणाम पलटते नहीं हैं इसलिये यह एकत्व वितर्क अविचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान है ।

यह श्रुतज्ञान का नाम **वितर्क** है, तथा अर्थ (पदार्थ) व्यंज व योग की संक्रांति अर्थात् पलट जाने का नाम **विचार** है । **अर्थ** नाम तो ध्यान करने योग्य ध्येय का है; वह ध्येय द्रव्य व पर्याय होती है । **व्यंजन** नाम वचन का है । **योग** नाम मन, वचन, काय की हलन-चलनरूप क्रिया का है । **संक्रान्ति** नाम परिवर्तन का है । द्रव्य को छोड़कर पर्याय को प्राप्त हो जाना, पर्याय को छोड़कर द्रव्य को प्राप्त होना वह अर्थ संक्रान्ति है ।

एक श्रुत के शब्द को ग्रहण कर अन्य श्रुत के वचन को ग्रहण करना, उसके वचन को छोड़कर अन्य श्रुत के वचनों का अवलंबन करना, वह व्यंजन संक्रान्ति है । काययोग को छोड़कर अन्य योग को ग्रहण करना, यह योग संक्रान्ति है । ऐसे परिवर्तन को विचार कहते हैं ।

इस प्रकार सामान्य और विशेष से जो चार धर्मध्यान और चार शुक्लध्यान कहे तथा पहिले अनेक प्रकार से गुप्ति आदि संसार के अभाव करने के उपाय कहे हैं; वे सभी महामुनियों के धारण करने योग्य कहे हैं ।

ध्यान की सामग्री व ध्यान की विधि : यहाँ ध्यान के आरंभ करने के समय इतना परिकर (सामग्री) अवश्य होता है :-

जिस काल में शरीर के तीन उत्तम संहनन सहित परिषहों की बाधा सहन करने की शक्ति आत्मा को प्राप्त होती है, उस काल में ध्यान के संयोग का परिचय करने के लिये प्रारंभ करे। कैसे करे ? सो कहते हैं : पर्वत, गुफा, कंदरा, नदी के तट, दरी, वृक्षों के कोटर, श्मशान, जीर्ण उद्यान, शून्य गृहादि में कोई एक अवकाश (खाली) स्थान हो । **वह स्थान कैसा हो ?** सर्प, मृग, पशु, पक्षी, मनुष्यों के आवागमन से रहित हो; आगन्तुक कीड़े, कीड़ी, बिच्छु, डांस, मच्छर, मधुमक्खी आदि जीवों से रहित हो । जहाँ पर बहुत गर्मी, ठण्ड, हवा, पानी, वर्षा, लू की बाधा नहीं हो; भीतर सब प्रकार के मन को तथा बाहर शरीर को बाधा पहुँचानेवाले कारणों का अभाव हो ।

ऐसी पवित्र, अनुकूल स्पर्श योग्य जमीन पर सुख से बैठकर, पद्मासन लगाकर सम सरल, कठोरता रहित, शरीर को निश्चल करके; अपनी गोदी में बांयी हथेली पर दांयी हथेली सीधी रखकर; नेत्रों



को न तो बंद करके न ही अधिक खोलकर; दाँतों से दाँतों को स्पर्श नहीं कराते हुए; थोड़ा-सा मुख को ऊपर रखे। मध्य हृदय, उदरादि सरल रखे। शरीर को अकड़ाना छोड़कर, परिणामों में मस्तक, ओंठों की गंभीरता सरलता धारण करके प्रसन्न मुख रहे।

निमेष रहित स्थिर सौम्य दृष्टि सहित होकर; निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, ग्लानि को नष्ट करके; जिसका मंद-मंद श्वासोच्छ्वास रह जाये; इतनी सामग्री सहित **साधु** नाभि के ऊपर या हृदय में या मस्तक में या इसी के बीच अन्य किसी स्थान में मन की प्रवृत्ति को (रोककर) जैसे बने वैसे निश्चल करके मोक्ष अर्थात् कर्मबन्धन से छूटने का अभिलाषी होकर प्रशस्त ध्यान करे।

उस ध्यान में एकाग्रमन होकर, राग-द्वेष-मोह की उपशमता को प्राप्त होकर, सावधानी पूर्वक शरीर की हलन-चलन क्रिया को रोकते हुए, मंद-मंद उश्वास-निश्वासरूप सम्यक् निश्चल अभिप्राय करके, क्षमावान होकर; बाह्य आभ्यन्तर द्रव्य-पर्यायों में व्यापते हुए; श्रुत की सामर्थ्य को अंगीकार करनेवाला **साधु** अर्थ, व्यंजन, काय, वचन से भिन्नता करता हुआ, उपयोग को परिवर्तित करते हुये मन से जैसे कोई पुरुष परिपूर्ण बल के उत्साह से रहित, निश्चलता रहित होकर, पैनापनारहित मोंथरे शस्त्र से बहुत समय में मजबूत चिकनी लकड़ी काट पाता है; उसी प्रकार आठवें, नवमें, दसवें गुणस्थानों के भाववाला साधु भी संज्वलन कषाय के उदय से परिपूर्ण, परिणामों के बल के उत्साह को प्राप्त नहीं होकर, भावों में कषाय के उदय के धक्का से दृढ़ निश्चलता को प्राप्त नहीं होने से, मोहनीय कर्म के समस्त उदय का नाश नहीं होने से, धीरे-धीरे करणरूप परिणामों की सामर्थ्य से मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम व क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान का धारी होता है।

फिर वीर्यान्तराय विशेष की हानि होने से योग से योगान्तर का, शब्द से शब्दान्तर, अर्थ से अर्थान्तर का आश्रय करता हुआ ध्यान के प्रभाव से समस्त मोहकर्म की रज का अभाव करके योग में लीन होता है। इस प्रकार पृथक्त्ववितर्क नाम का ध्यान का स्वरूप कहा।

एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान (२) : उपरोक्त विधि के अनुसार ही समस्त मोहनीय कर्म को जलाकर नाश करने का इच्छुक अनंतगुणी विशुद्धता सहित योग विशेष का आश्रय करके, तथा ज्ञानावरण की सहायक प्रकृतियों के बन्ध को रोकता हुआ व उन्हीं की स्थिति को घटाते-घटाते व क्षय करते हुए श्रुतज्ञान का उपयोग करते हुए, अर्थ-व्यंजन-योग का पलटना दूर होकर, मन को अविचलित करके, कषाय को क्षीण करके, वैडूर्यमणि के समान निरुपलेप होकर ध्यान से फिर बाहर नहीं आता है। इस प्रकार एकत्ववितर्क ध्यान का स्वरुप कहा।

सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान (३) : इस प्रकार एकत्ववितर्क ध्यानरूप अग्नि द्वारा जिन्होंने घातिया कर्मरूप ईंधन जला डाला है, तथा केवलज्ञान रूप सूर्य-चंद्र मंडल पूर्ण प्रकाशित हो गये हैं। मेघ समूह के दूर होने पर निकले सूर्य के समान कांति से दैदीप्यमान भगवान तीर्थंकर व अन्य केवली तीनलोक के ईश्वर, इंद्र-धरणेन्द्रादि द्वारा वंदनीय-पूजनीय होकर उत्कृष्टता से देशोन कोटिपूर्व वर्षों तक विहार करते हैं।







जब आयु अन्तर्मुहूर्त बाकी रह जाती है तब केवली भगवान वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की स्थिति को भी, यदि आयु कर्म की स्थिति के बराबर ही है तब तो समस्त मनोयोग-वचनयोग को छोड़कर बादर काययोग को भी छोड़कर, **सूक्ष्म काययोग का अवलंबन करके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान को प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं**। किन्तु यदि आयु अंतर्मुहूर्त शेष रह गयी हो तथा वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की स्थिति अधिक हो तो सयोगी केवली समस्त कर्मों की रज को नाश करने की शक्ति वाले स्वभाव के होने से **दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण समुद्घात द्वारा** अपने आत्म प्रदेशों को चार समयों में प्रसार करके तथा चार समयों में आत्म प्रदेशों को प्रसार से संकोच करके समस्त कर्मों की स्थिति को समान करके पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्म काययोग करके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान को प्राप्त हो जाते हैं।

समुच्छिन्न (व्युपरत) क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान (४) : उसके पश्चात् समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान प्रारंभ करते हैं। समुच्छिन्न अर्थात् नष्ट हो गया है श्वासोच्छवास का आना-जाना तथा समस्त काय-वचन-मन का योगरूप समस्त प्रदेशों का हलन-चलनरूप क्रिया का व्यापार जिसमें, इसलिये उसे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहते हैं। उस समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान के होने पर समस्त बंध का कारण समस्त आस्रव का निरोध हो जाता है; तथा समस्त कर्मों के नाश करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाने से अयोग केवली भगवान के सम्पूर्ण संसार के दु:खों का साथ नष्ट करने का साधन सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र, ज्ञान, दर्शन, साक्षात् मोक्ष का कारण उत्पन्न हो जाता है। जिन्होंने ध्यानरूप अग्नि से कर्म मल कलंक बंध को जला दिया है तथा जिस स्वर्ण से कीट धातु पाषाण दूर हो गया है, उस स्वर्ण के समान वे अयोग केवली भगवान अपनी आत्मा की शुद्धता प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार संक्षेप में शुक्लध्यान का वर्णन करके ध्यान नाम के तप का वर्णन समाप्त किया। इस प्रकार यह तप भावना का वर्णन हुआ।

अब यहाँ पर अनेकान्त भावना तथा समयसारादि भावना का वर्णन करना चाहते हैं, परन्तु आयु-काय का अब शिथिलपना होने से कोई ठिकाना नहीं है। अतः मूल-लेखक के कहे कथन को समेट लेना उचित समझकर मूल ग्रन्थ का कथन लिखते हैं।

यहां तक श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन तो कर चुके। अन्तिम समय में सल्लेखना के बिना व्रत सफल नहीं होते। बारह व्रतरूप स्वर्ण का मंदिर तो खड़ा किया, अब उसके ऊपर सल्लेखना रूप रत्नमय कलश चढ़ाना है, इसलिये सल्लेखना का स्वरूप कहेंगे।

षष्ठ भावना अधिकार

समाप्त




परिशिष्ट–६

शुद्धनय का उपदेश

इस जीव को जब तक पर्यायबुद्धि रहती है तब तक संसार रहता है। जब इसे शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होती है, तथा अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों व परभावों के निमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न जानता है और अपने शुद्ध-स्वरूप का अनुभव करके शुद्धोपयोग में लीन होता है, तब यह जीव कर्मों का अभाव करके निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

– समयसार प्रस्तावना : पंडित जयचंदजी छाबड़ा

शुद्धनय के विषयरूप आत्मा (पर्याय रहित त्रिकाली ध्रुव) का अनुभव करो। जगत के प्राणियो ! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो कि जहाँ यह बद्धस्पृष्टादि भाव स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं तथापि वे उस स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्य स्वभाव तो नित्य है एक रूप है और यह भाव अनित्य हैं अनेक रूप हैं; पर्यायें द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं। यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभाव का, मोह रहित होकर जगत अनुभव करे, क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहती है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता। शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्य मात्र देव अविनाशी आत्मा अंतरंग में स्वयं विराजमान है। यह प्राणी पर्यायबुद्धि बहिरात्मा उसे बाहर ढूँढता है, यह महा अज्ञान है। **– समयसार कलश ११ तथा १२ : आचार्य अमृतचंद्रदेव**

साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन ज्ञान चारित्र से ही है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जानने वाला अनुभव में आता है सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है; क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा? तत्पश्चात् समस्त अन्य भावों से भेद करके अपने में स्थिर हो।

– समयसार गाथा १७–१८ भावार्थ

अज्ञानदशा में आत्मा स्वरूप को भूलकर रागद्वेष में प्रवृत्त होता था, परद्रव्य की क्रिया का कर्ता बनता था, क्रिया के फल का भोक्ता होता था इत्यादिक भाव करता था; किन्तु अब ज्ञान दशा में वे भाव कुछ भी नहीं हैं, ऐसा अनुभव किया जाता है। **– समयसार कलश २७७ : आचार्य अमृतचंद्रदेव**

जिनके चित्त का चरित्र उदात्त है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि मैं तो सदाशुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ; और जो यह भिन्न लक्षणवाले विधि प्रकार के भाव प्रगट होते हैं वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सभी मेरे लिये परद्रव्य है। **– समयसार कलश १८५ : आचार्य अमृतचंद्रदेव**

सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करने वाला ज्ञानी भावना भाता है कि मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयपना भोगता हूँ। ऐसी भावना करने वाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानो भावना करता हुआ साक्षात् केवली हो गया हो। इसी भावना से केवली हुआ जाता है। केवल ज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहार चारित्र इसीका साधनरूप है; ऐसी भावना के बिना व्यवहार चारित्र शुभकर्म को बांधता है, व मोक्ष का उपाय नहीं है। **– समयसार कलश २३१ : आचार्य अमृतचंद्रदेव**

जो विद्या के मद से गर्विष्ट होकर अपने को पण्डित मानता है और प्रशंसा, पूजा, धन, भोजन, औषधि वगैरह के लाभ की भावना से जैन शास्त्रों को पढ़ता है तथा पढ़ाता है, और साधर्मीजनों के प्रतिकूल रहता है;

सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनियों का विरोधी रहता है उसका शास्त्रज्ञान भी विष के तुल्य है, संसार के दु:खों की प्राप्ति का ही कारण है ।

– स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा

व्यवहार यथा पदवी जानने में आता (ज्ञाता होता) हुआ उस काल प्रयोजनवान है

हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ - व्यवहार मार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा ।

यह जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्गल के संयोग से अशुद्ध - अनेक रूप हो रहा है । उसका समस्त परद्रव्यों से भिन्न, एक ज्ञायकत्वमात्र का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति यह तीनों जिसे हो गये हैं उसे पुद्गल संयोगजनित अनेक रूपता को कहनेवाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान (किसी मतलब का) नहीं है, किन्तु जहाँ तक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई, वहाँ तक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथा पदवी प्रयोजनवान है ।

जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो, वहाँ तक जो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन वचनों को सुनना, धारण करना, तथा जिन वचनों को कहनेवाले श्रीजिन गुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है;

और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है, किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई है; उन्हें पूर्व कथित कार्य, परद्रव्य का अवलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति, और पंचपरमेष्ठी का ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करनेवालों की संगति एवं विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है ।

व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा । इसलिये शुद्धनय का विषय जो साक्षात् आत्मा है उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान है - ऐसा स्याद्वाद में श्रीगुरुओं का उपदेश है ।

– समयसार गाथा १२ टीका तथा भावार्थ

परम उपेक्षारूप वैराग्य और स्वयं स्वानुभवरूप ज्ञान ये दो ही ज्ञानी के लक्षण हैं । जिसके ये लक्षण पाये जाते हैं, वही जीव मुक्त है ।

– पंचाध्यायी

आत्मा अव्यक्त है

१. षड्द्रव्यात्मक लोक ज्ञेय है, अत: व्यक्त है और जीव उससे भिन्न है, अत: अव्यक्त है ।

२. कषायचक्ररूप भावकभाव व्यक्त है और जीव उससे भिन्न है, अत: अव्यक्त है ।

३. चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न होने से जीव अव्यक्त है ।

४. क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं होने से जीव अव्यक्त है ।

५. व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को स्पर्श नहीं करता, अत: जीव अव्यक्त है ।

६. स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आने पर भी व्यक्तता के प्रति उदासीन रूप से प्रकाशमान है, अतः जीव अव्यक्त है । – समयसार टीका : गाथा ४९

जिनमत की परम्परायें

जिनधर्म में यह तो आम्नाय है कि पहिले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है । इसलिये इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है । – मोक्षमार्ग प्रकाशक १९२

जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है ही नहीं । जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो; जिसका त्याग करे उसका दोष पहिचाने; त्याग करने में जो गुण हो उसे जाने; फिर अपने परिणामों को ठीक करे; वर्तमान परिणामों के ही भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्य में निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे । तथा शरीर की शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिक का विचार करे । इस प्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी । वह भी ऐसी करनी जिससे प्रतिज्ञा के प्रति अनादर भाव न हो, परिणाम चढ़ते ही रहें । ऐसी जैनधर्म की आम्नाय है । – मो.मा.प्र. २३९

सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है कि जितने अपने रागादि दूर हुए हों उसके अनुसार जिस पद में जो धर्म क्रिया सम्भव हो वह सब अंगीकार करे । यदि अल्प रागादिक मिटे हों तो निचले पद में ही प्रवर्तन करे; परन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया न करे । – मो.मा.प्र. २४०

देखो तत्त्वविचार की महिमा ! तत्त्व विचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है । –मो.मा.प्र. २६०

जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर शुभ में ही प्रवर्तन करना, क्योंकि शुभोपयोग की अपेक्षा अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है । तथा पहले अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग हो, फिर शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग हो - ऐसी क्रम परिपाटी है । – मो.मा. प्र. २५५

तत्त्व निर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है, सो जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है । – मो.मा.प्र. ३११

स्याद्वाद दृष्टि सहित (नयों और अनुयोगों के ज्ञान सहित) जैन शास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है । – मो.मा.प्र. ३०१

जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है; इसलिये कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है; परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिये जिनमत का सर्व कथन निर्दोष है । – मो.मा.प्र. ३०३

स्यात्पद की सापेक्षता सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिनवचनों में रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त होते हैं । – मो.मा.प्र. ३०४

जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है । फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है । इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो ।– मो.मा.प्र.२९३

श्री मद् उवाच :

1. स्व द्रव्य अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखो ।
2. स्व द्रव्य के रक्षक शीघ्रता से बनो ।
3. स्व द्रव्य के व्यापक शीघ्रता से बनो ।
4. स्व द्रव्य के धारक शीघ्रता से बनो ।
5. स्व द्रव्य के रमक शीघ्रता से बनो ।
6. स्व द्रव्य के ग्राहक शीघ्रता से बनो ।
7. पर द्रव्य की रक्षकता शीघ्रता से छोड़ो ।
8. पर द्रव्य की धारकता शीघ्रता से छोड़ो ।
9. पर द्रव्य की रमणता शीघ्रता से छोड़ो ।
10. पर द्रव्य की ग्राहकता शीघ्रता से छोड़ो ।

शास्त्राभ्यास, व्रत और धन की यथार्थता

हे स्थूलबुद्धि ! तूने व्रतादिक शुभ कार्य कहे वह करने योग्य ही हैं; किन्तु **वे सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसे हैं जैसे अंक बिना बिन्दी । और जीवादिक का स्वरूप जाने बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा, जैसे बांझ का पुत्र ।** **– सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका पीठिका पृ. ६**

अर्थ का (धन का) पक्षपाती कहता है कि - इस शास्त्र के अभ्यास करने से क्या है ? सर्व कार्य धन से बनते हैं । धन से ही प्रभावना आदि धर्म होता है, धनवान के निकट अनेक पंडित आकर रहते हैं । अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है, अतः धन पैदा करने का उद्यम करना ।

उसको कहते हैं : रे पापी ! धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो नहीं होता, भाग्य से होता है । ग्रन्थाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है उसी का नाम भाग्य है । यदि धन होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा ? अगर नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा ? इसलिये धन का होना न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होता है ?

सुन ! धन है वह विनाशीक है, भयसंयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादिक का कारण है । और जो यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है वह अविनाशी है, भयरहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है । अतः महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में ही लगते हैं, और तू पापी ! शास्त्राभ्यास को छुड़ाकर धन पैदा करने की बड़ाई करता है, तो तू अनन्तसंसारी है । **– वही पृ. १२**

तूने कहा कि – धनवान के निकट पंडित भी आकर के रहते हैं । सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो, वहाँ ऐसा होता है । और शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक भी सेवा करते हैं, यहां भी बड़े-बड़े महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं, इसलिये **शास्त्राभ्यास वालों से धनवानों को महन्त न जान ।**

तूने कहा कि – धन से सर्व कार्य की सिद्धि होती है; किन्तु ऐसा नहीं है । उस धन से तो इस लोक संबंधी कुछ विषयादिक कार्य इस प्रकार के सिद्ध होते हैं जिससे बहुत काल तक नरकादिक दुःख सहने पड़ने हैं । और शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं कि जिससे इस लोक परलोक में अनेक सुखों की परंपरा प्राप्त होती है। इसलिये धन पैदा करने के विकल्प को छोड़कर शस्त्राभ्यास करना । **– वही पृ. १३**

देखो शास्त्राभ्यास की महिमा ! जिसके होने पर पंरपरा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, मोक्षमार्गरूप फल को प्राप्त होता है । यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं - १ क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है, २ पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है, ३ अति चंचल मन भी एकाग्र होता है, ४ हिंसादि पाँच पाप नहीं होते, ५ स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है , ६ हेय-उपादेय की पहिचान होती है, ७ आत्मज्ञान सन्मुख होता है, ८ अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है ९. लोक में महिमा - यश विशेष होता है, १०. अतिशय पुण्य का बंध होता है, इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये शास्त्राभ्यास अवश्य करना । **– वही पृ. १५**

तुमने भाग्य से अवसर पाया है, इसलिये तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरणा करते हैं । जैसे हो सके वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो । अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शस्त्राभ्यास कराओ । जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं उनकी अनुमोदना करो । पुस्तक लिखवाना व पढ़ने-पढ़ाने वालों की स्थिरता करनी इत्यादि शस्त्राभ्यास के बाह्य कारण उनका साधन करना; क्योंकि उनके द्वारा भी परंपरा कार्य सिद्धि होती है व महत् पुण्य उत्पन्न होता है । **– वही पृ. १६**

इस सम्यग्दर्शन भूमिका बिना हे जीव ! व्रत रूपी वृक्ष नहीं होते ।

– सावयधम्म : आचार्य योगीन्दुदेव



सप्तम - सल्लेखना अधिकार

प्रथम सल्लेखना के समय का वर्णन करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥

अर्थ :– जिसका इलाज नहीं दिखता हो, मिटने का उपाय नहीं दिखता हो, ऐसा उपसर्ग होने पर, दुर्भिक्ष आ जाने पर, वृद्ध अवस्था आ जाने पर, रोग हो जाने पर, धर्म की रक्षा के लिये जो शरीर का त्याग किया जाता है, उसे गणधरदेव सल्लेखना कहते हैं ।

भावार्थ :– देह में रहना तथा देह की रक्षा करना तो धर्म को धारण करने के लिये है; मनुष्यपना, इंद्रियाँ और मन इत्यादि का प्राप्त करना वह सब तो धर्म का पालन करने से ही सफल हैं । जहाँ धर्म ही का नाश होता दिखाई दे, ऐसा निश्चय हो जाय कि अब धर्म नहीं रहेगा, श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र नष्ट हो जायेगा, वहाँ **धर्म की रक्षा के लिये देह का त्याग करना सल्लेखना है ।**

कोई पूर्व जन्म का बैरी, असुर, पिशाच आदि देव आकर उपसर्ग करे; दुष्ट बैरी, भील, म्लेच्छादि, सिंह, व्याघ्र, गज, सर्पादि दुष्ट तिर्यंचकृत उपसर्ग आ गया हो; प्राणों का नाश करनेवाला पवन, वर्षा, गड़ा (भूकम्प), शीत, उष्णता, धूप, अग्नि, पाषाण, जलादि कृत उपसर्ग आ गया हो; दुष्ट कुटुम्ब के बांधव आदि स्नेह से या मिथ्यात्व की प्रबलता से, अपने भरण पोषण के लोभ से चारित्र (धर्म) के नाश करने को उद्यमी हो गये हों; तथा दुष्ट राजा, राजा का मंत्री इत्यादि कृत उपसर्ग आ जाय तो वहाँ सल्लेखना करना चाहिये ।

निर्जन वन में दिशा भूल हो जाय, मार्ग नहीं मिले; जिसमें अन्नपान मिलना बंद हो जाय ऐसा दुर्भिक्ष आ जाय; समस्त देह को जीर्ण कर देनेवाली, नेत्र कर्ण आदि इंद्रियों का कार्य नष्ट करने वाली, जंघा बल नष्ट करनेवाली, हाथ पैरों को शिथिल कर असमर्थ कर देनेवाली जरा (वृद्धावस्था) आ जाय उस समय सल्लेखना करना उचित है ।

असाध्य रोग आ जाय, प्रबल ज्वर, अतिसार, श्वास, कास, कफ का बढ़ जाना, वातपित्तादि की प्रबलता होना, अग्नि की मंदता से क्षुधा का घट जाना, शरीर में रक्त का अभाव हो जाना, कठोदर, सोजा इत्यादि विकार की प्रबलता हो जाना, तथा रोगों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होते जाना, ऐसे समय में शीघ्र ही धैर्य धारण करके उत्साह सहित सल्लेखना करना ही उचित है ।

ये अवश्य मरण के कारण आकर जहाँ प्राप्त हो जायें वहाँ चार आराधनाओं की शरण ग्रहण करके समस्त देह, गृह, कुटुम्ब आदि से ममत्व छोड़कर अनुक्रम से आहार आदि का त्याग कर देह को त्याग देना चाहिये । देह नष्ट हो जाये, किन्तु आत्मा का स्वभाव जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वे जैसे नष्ट नहीं हों वैसा प्रयत्न करना चाहिये । यह देह तो विनाशीक है, अवश्य ही नष्ट होगी; करोड़ों उपायों से, देव, दानव, मंत्र, तंत्र, मणि, औषधि आदि कोई रक्षा करनेवाला नहीं है ।

देह तो अनन्तभव धारणा करके छोड़ी है, किन्तु यह रत्नत्रय धर्म अनन्तभवों में प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये दुर्लभ है, संसार परिभ्रमण से रक्षा करनेवाला है, ऐसा धर्म मेरा परलोक तक मलिन नहीं हो - ऐसा निश्चय करके देह से ममता छोड़कर पंडितमरण के लिये उद्यम करना चाहिये ।

अब समाधिमरण की महिमा कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

अंतः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥

अर्थ :– अंत क्रिया अर्थात् सन्यासमरण, वही जिस तप का आधार हो, उस तप के फल की सकलदर्शी सर्वज्ञदेव भगवान स्तुवते अर्थात् प्रशंसा करते हैं । **जिस तप के करनेवाले को तप के फल से अन्त में सन्यास मरण नहीं हुआ वह तप निष्फल है** । इसलिये जितनी अपनी सामर्थ्य हो उतना समाधिमरण करने में प्रकृष्ट यत्न करना योग्य है ।

भावार्थ :– तप, व्रत, संयम करने के लोक में अनेक फल हैं । तप करने का फल देवलोक है । मिथ्यादृष्टि तप के प्रभाव से नवमें ग्रैवेयिक तक में अहमिन्द्र हो जाता है, महान ऋद्धि-संपदा प्राप्त हो जाती है । तप का फल चक्रवर्तीपना, नारायणपना, बलभद्रपना, राजेन्द्रपना, विभव, संपदा, रूप, निरोगपना, बलवानपना आदि अनेक प्रकार का है । अखण्ड आज्ञा, ऐश्वर्य, ऋद्धि, विभव परिवार ये समस्त तप का फल है ।

अंत में समाधिमरण किये बिना समस्त देवादि की संपदा अनेकबार भोग-भोगकर संसार में ही परिभ्रमण किया; परन्तु तप करके अंत में जिसने समाधिमरण की विधि से आराधनाओं की शरण सहित, भय रहित मरण किया, उसके तप के फल की सर्वदर्शी भगवान प्रशंसा करते हैं ।

जिसने कोटिपूर्व वर्ष पर्यन्त तप किया हो; किन्तु अन्त समय में यदि उसका मरण बिगड़ गया हो तो उसका तप प्रशंसा योग्य नहीं है । तप करने से देवलोक-मनुष्यलोक की संपदा पा जाय; परन्तु मरण समय में आराधना के नष्ट हो जाने से संसार परिभ्रमम ही करेगा । जैसे कोई अनेक दूर देशों में भ्रमण करके बहुत धन उपार्जन करके आ रहा हो; किन्तु अपने नगर के समीप आकर समस्त धन लुटवाकर दरिद्री हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन भर पर्याय में तप, व्रत, संयम धारण किये रहा; किन्तु अंत समय में आराधना नष्ट कर दी, तो वह अनेक भवों में जन्म-मरण करने का ही पात्र होगा ।

अब सल्लेखना ग्रहण करने के प्रारंभ में क्या करना चाहिये, यह कहनेवाला श्लोक कहते हैं:-

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥

अर्थ :– स्नेह, बैर, संग, परिग्रह इनका त्याग करके शुद्ध मनवाला होकर, स्वजन तथा परिजन के जनों के प्रति क्षमा ग्रहण करके, तथा आप भी समस्त परिजनों से प्रिय हितरूप वचनों द्वारा क्षमा मांगकर क्षमा ग्रहण करावे ।




भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि के स्नेह तथा बैर दोनों का अभाव होता है । सम्यग्ज्ञानी ऐसा विचार करता है – मैं तो कर्म के वश होकर इस पर्याय में यहाँ आकर उत्पन्न हुआ हूँ । पुण्य-पाप कर्म के उदय के आधीन जो बाह्य स्त्री-पुत्रादि इस पर्याय के उपकारक तथा अपकारक द्रव्य प्राप्त हुए थे, उनमें से जिन को इस पर्याय का उपकारक जाना उनसे दान-सन्मान आदि द्वारा स्नेह किया तथा जो इस पर्याय के उपकारक द्रव्यों को नष्ट करनेवाले थे, उनको चारित्रमोह के उदय से बैरी मानकर उनसे पराङ्मुख रहा । अब इस पर्याय के विनाश होने का समय आ गया है, अब मैं किससे स्नेह करूँ किससे बैर करूँ ?

मेरा इन सभी के आत्मा के साथ संबंध तो है ही नहीं । मैं इनके आत्मा को जानता नहीं हूँ, ये लोग हमारे आत्मा को जानते नहीं हैं । केवल हमारा और इनके शरीर का चमड़ा दिखाई देता है । इस दिखनेवाले चमड़े से ही मित्र-शत्रु का संबंध है, किन्तु ये चमड़े तो अग्नि में भस्म हो जायेंगे तथा एक-एक परमाणु उड़ जायेगा । अब किससे स्नेह-बैर का भाव रखें ?

जो कोई आपसे बिना कारण अभिमानवश ही बैर करनेवाले हों, उनसे नम्र होकर क्षमा मांगे- यदि मेरी भूलचूक हो गई है, यदि मैं आप सरीखे लोगों से अपरिचित रहा हूँ तो मैं अब आपसे प्रार्थना करता हूँ; मेरा अपराध क्षमा कर दें, आप सरीखे सज्जनों के बिना क्षमा कौन करेगा ?

यदि आपने किसी की धन-धरती छीन ली हो तो वह उन्हें वापिस देकर प्रसन्न कर कहे- मैंने दुष्टता से आपका धन रख लिया था, जमीन-जांयगा छीन ली थी वह अब आप यह वापिस लीजिये; मैं पापी हूँ, दुष्टता से, छलकपट से, लोभ से अंधा होकर मैंने दुराचार किया है; अब मैं अंतरंग में पश्चाताप करता हूँ; मैंने आपको बहुत दुःख दिया है, मैंने जो अपराध कर दिया है वह तो अब किसी प्रकार से वापिस होता नहीं है, अब मैं क्या करूँ, आप मुझे क्षमा करें । इत्यादि सरल भावों से क्षमा मांगे तथा क्षमा करे ।

जो अपने कुटुम्बी, स्नेही, मित्रादि हों उनसे इस प्रकार कहना चाहिये – तुम हमारे स्नेही-संबंधी हो, परन्तु हमारा तुम्हारा तो इसी पर्याय का संबंध है; तुम इस देह के उत्पन्न करनेवाले माता-पिता हो, इस देह से उत्पन्न पुत्र-पुत्री हो; इस देह को रमण करानेवाली स्त्री हो, इस देह से कुल के संबंधी बंधुजन हो; हमारा तुम्हारा इस विनाशीक पर्याय का संबंध इतने समय तक रहा है; यह पर्याय तो आयुकर्म के आधीन है, अब अवश्य नष्ट होगी, इस विनाशीक से स्नेह करना व्यर्थ है; इस देह से स्नेह करोगे तो भी यह रहनेवाला नहीं है; यह तो अग्नि से भस्म होकर बिखर जायेगा ।

मेरा आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अविनाशी है, अखण्ड है, मेरा निजरूप है, जिन स्वभाव का विनाश नहीं होता है। जिसका संयोग हुआ है उसका अवश्य वियोग होगा । जो अनेक पुद्गल परमाणुओं से मिलकर बना है उसका अवश्य विनाश ही होगा । इसलिये इस विनाशीक अज्ञान, जड़ स्वरूप मेरे पुद्गल देह से स्नेह छोड़कर, अपने अविनाशी ज्ञायक आत्मा के उपकार करने में उद्यमी होना योग्य है । जिस प्रकार से मेरे ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा का राग-द्वेष-मोहादि से घात नहीं




हो, तथा ज्ञानादि की उज्ज्वलता प्रकट हो, वीतराग निज स्वभाव की प्राप्ति हो जाये वैसा प्रयत्न करना चाहिये ।

यह पर्याय (शरीर) तो अनंतानंतबार धारण करके छोड़ी है । **मैंने दर्शन–ज्ञान–चारित्र की विपरीतता से विषयों के आधीन होकर विपरीत श्रद्धान, विपरीत ज्ञान, विपरीत आचरण करके चारों गतियों में परिभ्रमण किया है ।** कहाँ तो मेरा समस्त का ज्ञाता सर्वज्ञ स्वरूप, और कहाँ एकेन्द्रिय पर्याय में अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञान का रहना ? अनन्त शक्ति अन्तराय कर्म के उदय से नष्ट होकर पृथ्वी-पाषाण, जल, अग्नि, पवन, वनस्पति रूप पाँच स्थावरों में जन्म लेना, विकलत्रय होना - **यह सब मिथ्या श्रद्धान, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या आचरण का प्रभाव है ।**

अब अनन्तानन्त काल में कर्म के बहुत क्षयोपशम से वीतरागी के स्याद्वादरूप उपदेश से मुझे कुछ स्व-रूप पर-रूप का ज्ञान हुआ है । अत: हे सज्जन ! अब ऐसा यत्न करो जिससे मेरा आत्मा राग, द्वेष, मोह रहित होकर निर्भय होकर आराधनाओं की शरण सहित इस देह का त्याग करे । **अनादिकाल से मिथ्यात्व सहित अनन्तानन्तबार बाल मरण किये । यदि एक बार भी पण्डितमरण करता तो फिर मरण का पात्र नहीं होता ।**

इसलिये अब देह से स्नेहादि छोड़कर जैसे मेरा आत्मा रागादि के वश होकर संसार समुद्र में नहीं डूबे वैसा यत्न करना उचित है । इस प्रकार स्नेह-बैर आदि छोड़कर तथा देह, परिग्रह आदि का राग छोड़कर मन को शुद्ध करना चाहिये ।

समाधिमरण के इच्छुक को क्या करना चाहिये ? यह श्लोक कहते हैं :-

आलोच्यसर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२५॥

अर्थ :– यदि आपने कोई पाप अपराध किया हो, अन्य से कराया हो, करनेवालों को अच्छा जाना हो, तो उस अपराध को एकान्त में कपट रहित होकर निर्दोष वीतरागी ज्ञानी गुरु से आलोचना करे, तथा मरणपर्यन्त पूर्ण महाव्रतों का आरोपण करे, ग्रहण करे ।

भावार्थ :– वीतरागी निर्दोष गुरुओं का संयोग प्राप्त हो जाये, अपने रागादि कषायें घट जायें, परीषह आदि सहने में अपने शरीर व मन समर्थ हो, धैर्यादि गुणों का धारक हो, निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु निर्वाह करने को समर्थ (तैयार) हों, देश काल सहायक का शुद्ध संयोग प्राप्त हो जाये तो महाव्रत अंगीकार करे । यदि उक्त बाह्य-अंतरंग सामग्री प्राप्त नहीं हो तो अपने परिणामों में ही भगवान पंच परमेष्ठी का ध्यान करके अरहंत आदि से ही आलोचना करे ।

अपनी योग्यता समस्त पाँच पापों का त्याग करके, गृह में रहता हुआ ही, महाव्रती के समान होकर, रोगादि की वेदना को कायरता रहित बड़े धैर्य पूर्वक सहता हुआ, दु:खरूप वेदना को बाहर प्रकट किये बिना ही सहे । कर्म के उदय को अपने स्वभाव से भिन्न जानकर समस्त शत्रु-मित्र संयोग-वियोग में साम्यभाव धारण करते हुए परिग्रह आदि की उपाधि को त्याग कर विकल्प रहित हो जाये।

यहाँ ऐसा जानना : सन्यास के समय को जानकर परिग्रह का त्याग कर देना चाहिये । प्रथम तो किसी का ऋण देना हो तो वह देकर ऋण रहित हो जाय । किसी की धन, जमीन-जायदाद आपने अनीति से ली हो तो वह उसे वापिस देकर, उसे संतुष्ट करके, अपने अपराध की क्षमा मांगकर, अपनी निंदा-गर्हा करे ।

जो धन-परिग्रह शेष रहे उसका बंटवारा करके, देकर निराकुल हो जाये । स्त्री का हिस्सा स्त्री को देवे, पुत्रों का हिस्सा पुत्रों को देवे, पुत्री का हिस्सा पुत्री को देवे । दुःखी, दीन, अनाथ, विधवा ऐसा कोई आपके आश्रित बहिन, भुआ, बन्धु इत्यादि हो तो उनका धन भी देकर समस्त परिग्रह त्याग कर ममता रहित होकर शरीर को संवारना आदि का त्याग करे । स्त्री, पुत्र, गृह आदि समस्त कुटुम्ब में, शैय्या, आसन, वस्त्रादि में ममता छोड़ दे । अब इनका और हमारा कितने समय का संबंध है? जिस देह के संबंध से इन सबसे संबंध था, उस देह को ही जब हम छोड़ रहे हैं तब देह के संबंधियों से हमें कैसी ममता ?

अब हमारे आत्मा का संबंध तो अपने स्वभावरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से है जो हमारा निज स्वभाव है। देह तो चाम, हाड़, मांस, रुधिरमय, कृतघ्न है, जड़ है; ये हमारी नहीं, हम इसके नहीं, देह विनाशीक है, हमारा रूप अविनाशी है । हमे तो अज्ञान भाव के कारण इस देह से ममता रही, जिससे अशुभ कर्मों का ही बंध किया ।

अब इस देह के संबंध के नाश की इच्छा करता हूँ । **देह के ममत्व से ही अनन्त जन्म-मरण हुए हैं, तथा संसार में जितने दुःखों के प्रकार हैं वे सब मुझे देह के संयोग से ही हुए हैं। राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि की उत्पत्ति का कारण भी एक इस देह का संबंध ही है।** इस प्रकार देह से विरागता को प्राप्त होकर दृढ़ता पूर्वक समस्त व्रतों को धारण करे ।

अब आगे क्या करना चाहिये, वह श्लोक द्वारा कहते हैं :-

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्वोत्साहमुदीर्यं च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥१२६॥

अर्थ :- सन्यास के समय में शोक, भय, विषाद, क्लेष, कलुषता, अरति आदि भावों को छोड़कर कायरपना का अभाव करना चाहिये; अपने आत्म सत्व का प्रकाश (अनुभव, ज्ञान) करके शास्त्रज्ञानरूप अमृत के द्वारा मन को प्रसन्न रखना चाहिये ।

भावार्थ :- अनादिकाल से ही इस संसारी की पर्याय में आत्मबुद्धि हो रही है । तथा पर्याय के नाश को ही अपना नाश मान रहा है । जब पर्याय का नाश होना, तथा धन, परिग्रह, स्त्री, पुत्र, मित्र, बांधव आदि समस्त संयोग का वियोग होता दिखाई देता है तब मिथ्यादृष्टि को बड़ा शोक उत्पन्न होता है ।

सम्यग्दृष्टि को शोक उत्पन्न नहीं होता है । वह तो ऐसा विचार करता है - हे आत्मन् ! पर्यायें तो अनन्तानन्त प्राप्त हो-होकर छूट गई हैं । यह शरीर तो रोगों की उत्पत्ति का स्थान है; नित्य

ही क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, भय आदिं उत्पन्न करनेवाला है; महा कृतघ्न है, अवश्य बिनाशीक है; आत्मा को समस्त प्रकार का दुःख क्लेशादि उत्पन्न करनेवाला है; दुष्ट की संगति की तरह त्यागने योग्य है; समस्त दुःखों का बीज है; महासंताप उद्वेग को उत्पन्न करनेवाला है; सदाकाल भय उत्पन्न करनेवाला है; बंदीगृह के समान पराधीन करनेवाला है, दुःखों की जितनी भी जातियाँ हैं वे सब इसका साथ होने से भोगना पड़ती हैं ।

आत्मा के स्वरूप को भुलानेवाला, चाह की दाह को उत्पन्न करनेवाला, महामलिन, कृमि के समूहों से भरा हुआ, महादुर्गन्धमय; दुष्ट भ्राता के समान नित्य क्लेशों को उत्पन्न करने में समर्थ; अनमारण शत्रु – जैसे देह का वियोग होने का क्या शोक करना ? इसलिये ज्ञानी शोक को छोड़ देते हैं, मरण का भय नहीं करते हैं; विषाद, स्नेह, कलुषपना तथा अरतिभाव को छोड़कर उत्साह व धैर्य प्रकट करके श्रुतज्ञानरूप अमृत को पीकर मन को तृप्त करते हैं ।

अब इसी श्लोक के अर्थ की पुष्टि करने के लिये मृत्यु महोत्सव का पाठ यहाँ अठारह श्लोकों में उपकारी जानकर अर्थ सहित लिखते हैं ।

मृत्यु महोत्सव पाठ

मृत्युमार्गे प्रवृतस्य वीतरागो ददातु मे ।
समाधिबोधौ पाथेयं यावन्मुक्तिपुरौ पुरः ॥१॥

अर्थ :– हे वीतराग भगवन् ! मैं मृत्यु के मार्ग पर हूँ । मुझे आप **समाधि** अर्थात् स्वरूप की सावधानी, तथा **बोधि** अर्थात् रत्नत्रयरूप पाथेय अर्थात् परलोक के मार्ग में उपकारक – भोजनरूप वस्तु प्रदान करें; जिससे मैं मुक्तिपुरी तक पहुँच जाऊं, ऐसी प्रार्थना करता हूँ ।

भावार्थ :– मैंने अनादिकाल से अनन्त कुमरण किये हैं, जिन्हें सर्वज्ञ वीतराग देव ही जानते हैं । **मैंने एकबार भी सम्यङ्मरण नहीं किया,** यदि सम्यक्मरण किया होता तो फिर संसार में मरण का पात्र नहीं होता ।

जहाँ देह तो मर जाय; किन्तु आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव विषय-कषायों द्वारा नहीं घाता जा सके वह सम्यङ्मरण है । जहाँ मिथ्या श्रद्धानी होकर देह के नाश को ही अपनी आत्मा का नाश जानकर संक्लेश पूर्वक मरण करना है, वह कुमरण है ।

मिथ्यादर्शन के प्रभाव से मैंने देह को ही आत्मा मानकर अपने ज्ञान–दर्शन स्वरूप का घात करके अनन्त परिवर्तन किये हैं । अब आप वीतराग भगवान से ऐसी प्रार्थना करता हूँ कि– मेरा मरण के समय **वेदना मरण व आत्मज्ञान रहित कुमरण नहीं होवे** । सर्वज्ञ वीतराग की शरणसहित संक्लेशरहित धर्मध्यान पूर्वक सम्यङ्मरण चाहता हूँ, इसलिये वीतरागी की ही शरण ग्रहण करता हूँ।

अब मैं अपने आत्मा को समझाता हूँ – आत्मा ज्ञान शरीरी है :

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपिञ्जरे ।
भज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥२॥

अर्थ :– हे आत्मन् ! कृमि समूह के सैंकड़ों जालों से भरे, नित्य जर्जर होते जा रहे इस देहरूप पिंजरे के नष्ट होने का तुम भय नहीं करो, क्योंकि तुम तो ज्ञान शरीरी हो ।

भावार्थ :– तुम्हारा रूप तो ज्ञान है जिसमें ये सकल पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं; तथा अमूर्तिक, ज्ञान ज्योति स्वरूप, अखण्ड अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा है । जो यह हांड, मांस, चमड़ामय, महादुर्गन्धित विनाशीक देह है, वह तुम्हारे रूप से अत्यन्त भिन्न है; कर्म के वश से एक क्षेत्र में अवगाहन करके एक से होकर (मिलकर) रह रहे हो, तो भी तुममें-इसमें अत्यन्त भेद है । यह देह तो पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन के परमाणुओं का पिण्ड है जो समय आने पर बिखर जायेगा, किन्तु **तुम अविनाशी अखण्ड ज्ञायकरूप हो ।** इस देह का नाश होने से भय क्यों करते हो ?

अब और भी कहते हैं । **देहान्तर में गमन करने से भय नहीं करो :**

ज्ञानिन् भयं भवेत् कस्मात् प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तर स्थितिः ॥३॥

अर्थ :– हे ज्ञानी ! तुमको वीतरागी सम्यग्ज्ञानी उपदेश करते हैं - मृत्युरूप महान उत्सव प्राप्त होने पर क्यों भय करते हो ? **इस देह में रहने वाला आत्मा अपने स्वरूप में रहता हुआ अन्य देह रूप नगर को चला जाता है, इसमें भय करने का क्या कारण है ?**

भावार्थ :– जैसे कोई मनुष्य एक जीर्ण कुटिया में से निकलकर अन्य नये महल में जाकर रहने लगता है, तो वह बड़े उत्सव का अवसर है । उसी प्रकार यदि यह आत्मा अपने स्वरूप में रहता हुआ ही इस जीर्ण देहरूप कुटिया को छोड़कर नये देहरूप महल को प्राप्त कर ले तो यह महान उत्सव का अवसर है, इसमें कुछ हानि नहीं है जो भय किया जाये ।

यदि अपने ज्ञायक स्वभाव में रहते हुए, पर को अपना मानना छोड़कर, परलोक जाओगे तो बहुत आदर सहित दिव्य, धातु-उपधातु रहित, वैक्रियिक देह में देव होकर अनेक महर्द्धिक देवों में पूज्य महान देव होवोगे; और **यदि यहाँ भय करके अपने ज्ञायक स्वभाव को बिगाड़कर पर में ममता धारण करते हुए मरोगे तो** एकेन्द्रियादि की देह में अपने ज्ञान का नाश करके जड़ जैसे हो जाओगे ।

इसलिये मलिन क्लेशवान देह को छोड़कर क्लेश रहित उज्ज्वल देह में जाना तो बड़े उत्सव का कारण है । **समाधि मरण उपकारक है :**

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात् दृश्यते पूर्वसत्तमैः ।
भुज्यते स्वर्भुवं सौख्यं, मृत्युभीतिः कुतः सताम् ॥४॥

अर्थ :– पूर्वकाल में हुए गणधर आदि सत्पुरुष ऐसा बतलाते हैं कि जिस मृत्यु के द्वारा अच्छी तरह से दिया गया फल प्राप्त होता है, स्वर्गलोक का सुख भोगा जाता है, सत्पुरुषों को उस मृत्यु से कैसे भय होगा ?

भावार्थ :– अपने कर्त्तव्य का फल तो मृत्यु होने के बाद ही मिलता है । आपने जो छहकाय के जीवों को अभयदान दिया, तथा राग द्वेष काम क्रोध आदि का नाश करके, असत्य अन्याय कुशील परधन हरण का त्याग करके, परम सन्तोष धारण करके अपने आत्मा को अभयदान दिया उसका फल स्वर्गलोक के सिवा कहाँ भोगा जाता है? वह स्वर्गलोक का सुख तो मृत्यु नाम के मित्र की कृपा से ही प्राप्त होता है । अतः मृत्यु के समान इस जीव का कोई अन्य उपकारक नहीं है ।

यहाँ इस मनुष्य पर्याय में जीर्ण शरीर में कौन-कौन से दुःख भोगना पड़ते , कितने समय तक और रहना पड़ता ? आर्तध्यान-रौद्रध्यान करके तिर्यंच-नरकगति में जा पड़ते; इसलिये अब मरण का भय करके, तथा देह कुटुम्ब परिग्रह की ममता करके चिन्तामणि-कल्पवृक्ष के समान समाधिमरण को बिगाड़ करके भय सहित व ममतावान होकर कुमरण करके दुर्गति में जाना उचित नहीं है ।

समाधिराजा बन्दीगृह से मुक्त कराता है :

आगर्भाद् दुःखसन्तप्तः प्रक्षिप्तो देह पिञ्जरे ।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपतिं विना ॥५॥

अर्थ :– इस कर्म नामके मेरे बैरी ने मेरे आत्मा को जिस क्षण से यह गर्भ में आया तभी से देहरूप पिंजरे में डाल रखा है व सदा से ही क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग, आदि अनेक दुःखों से सन्तप्त होकर पड़ा हूँ । अब ऐसे अनेक दुःखों से व्याप्त इस देहरूप पिंजरे से मृत्यु नाम के राजा के बिना मुझे कौन छुड़ावेगा ?

भावार्थ :– मैं इस देहरूप पिंजरे में कर्मरूप शत्रु द्वारा पटका गया इन्द्रियों के आधीन हुआ अनेक कष्ट सह रहा हूँ । नित्य ही क्षुधा-तृषा की वेदना कष्ट देती है, निरन्तर श्वास-उच्छवास द्वारा पवन को खेंचना और निकालना, अनेक प्रकार के रोगों का दुःख भोगना, पेट भरने के लिये अनेक प्रकार की पराधीनता; सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि द्वारा महादुःखी होते रहना; शीत-उष्णता सहना; दुष्टों द्वारा ताड़न-मारन, कुवचन, अपमान, आदि सहना, कुटुम्ब के आधीन रहना; धनवान के, राजा के, स्त्री-पुत्रादि के आधीन रहना ऐसे **महान बंदीगृह समान देह में से मृत्यु नाम के बलवान राजा के बिना कौन निकाले ?**

इस देह को कहाँ तक ढोता ? उसे नित्य उठाना, पानी पिलाना, स्नान कराना, निद्रा लिवाना, कामादि विषय साधन कराना, अनेक वस्त्र-आभूषणों से सजाना, रात्रि-दिन इस देह का ही दासपना करते हुए भी **यह शरीर आत्मा को अनेक कष्ट देता है, भयभीत करता है, आत्मा का स्वरूप भुलाये रखता है** । ऐसे कृतघ्न देह से बाहर निकलना मृत्यु नाम के राजा के बिना नहीं होता ।

यदि ज्ञान सहित, देह से ममता छोड़कर, सावधानी पूर्वक, धर्मध्यान सहित, संक्लेश रहित, वीतरागता पूर्वक मैं समाधिमरण नामक राजा की सहायता ले लूँ तो फिर मेरा आत्मा देह धारण ही नहीं करेगा, दुःखों का पात्र नहीं होगा । **समाधिमरण नाम का राजा बड़ा न्यायमार्गी है, मुझे इसी की शरण प्राप्त होवे । मेरा कुमरण नहीं हो ।**

और भी कहते हैं :- सुख देने वाला मित्र समाधिमरण है :-

सर्वदुःखप्रदं पिण्डं दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः ।
मृत्युमित्रप्रसादेन प्राप्यन्ते सौख्यसम्पदः ॥६॥

अर्थ :- जो आत्मदर्शी आत्मज्ञानी हैं वे मृत्यु नामक मित्र की कृपा से सर्व दुःखों को देनेवाले देह पिण्ड को दूर छोड़कर सुख की सम्पदा को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ :- जो इस सप्तधातुमय महा अशुचि विनाशीक देह को छोड़कर दिव्य वैक्रियिक देह में प्राप्त होनेवाले अनेक सुखों की संपत्ति प्राप्त करते हैं, वह सब आत्मज्ञानियों के समाधिमरण का प्रभाव है । **समाधिमरण समान इस जीव का उपकार करनेवाला कोई नहीं है ।**

इस देह में अनेक प्रकार के दुःख भोगना, महान रोगादि दुःख भोग-भोग कर मरना फिर तिर्यंच देह में व नर्क में असंख्यात काल तक असंख्य प्रकार के दुःख भोगना, जन्म-मरणरूप अनन्त परिवर्तन करना, जहाँ कोई शरण नहीं ऐसे इस संसार में परिभ्रमण से रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं है ।

अशुभ कर्म के कुछ मंद उदय से मनुष्यगति, उच्चकुल, इंन्द्रियों की पूर्णता, सत्पुरुषों की संगति व भगवान जिनेन्द्र का परमागम का उपदेश प्राप्त हुआ है । अब यदि सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-त्याग-**संयमसहित, समस्त कुटुम्ब परिग्रह में ममत्व रहित होकर, देह से भिन्न ज्ञान स्वभावरूप आत्मा का अनुभव करके, भय रहित, चार आराधना की शरणसहित मरण हो जाये तो इस समान तीनलोक में तीनकाल में इस जीव का हित अन्य नहीं है ।** संसार परिभ्रमण से छूट जाना ही इस समाधिमरण नाम के मित्र की कृपा का फल है ।

समाधिमरण कल्पवृक्ष हैं :

मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येन आत्मार्थो न साधितः ।
निमग्नो जन्मजम्बाले स पश्चात् कः करिष्यति ॥७॥

अर्थ :- जो जीव मृत्यु नामक कल्पवृक्ष के प्राप्त होने पर भी अपना कल्याण सिद्ध नहीं कर सका, वह जीव संसाररूप कीचड़ में डूबा हुआ फिर बाद में क्या करेगा ?

भावार्थ :- इस मनुष्य जन्म में मरण का संयोग है वह साक्षात् कल्पवृक्ष हैं, जो वांछित लेना है वह ले लो । यदि ज्ञान सहित अपने निज स्वभाव को ग्रहण कर आराधना सहित मरण करोगे तो स्वर्ग का महर्द्धिकदेवपना, इन्द्रपना, अहमिन्द्रपना पाकर पश्चात् चक्रीपना, तीर्थंकरपना पाकर निर्वाण को प्राप्त हो जाओगे । **मरण समान तीनलोक में दाता दूसरा नहीं है ।** ऐसे दाता को पाकर भी यदि विषय कषायों की वांछा सहित ही रहोगे तो **विषय वांछा का फल तो नरक निगोद है।** मरण नाम के कल्पवृक्ष को बिगाड़ोगे तो ज्ञानादि अक्षयनिधान रहित होकर संसाररूप कीचड़ में डूब जाओगे ।

हे भव्य ! यदि तुम वांछा के मारे हुए खोटे नीच पुरुषों का सेवन करते हो, अतिलोभी होकर विषयों को भोगने के लिये धन की प्राप्ति हेतु हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह में आसक्त होकर

निंद्य कर्म करते हो तो भी वांछा पूर्ण नहीं होती है; किन्तु दुःख के मारे मरण ही करते हो, कुटुम्बादि को छोड़कर विदेशों में परिभ्रमण करते हो, निंद्य आचरण करते हो तथा निंद्य कर्म करते हो तो भी मरण तो अवश्य ही करोगे।

यदि एकबार भी समता धारण करके त्यागव्रत सहित मरण करोगे तो फिर संसार परिभ्रमण का अभाव करके अविनाशी सुख को प्राप्त हो जाओगे। इसलिये ज्ञानसहित पण्डितमरण करना ही उचित है।

समाधिमरण उत्तम दातार है :

जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ॥८॥

अर्थ :– जिस मृत्यु से जीर्ण देहादि सब छूटकर नये मिल जाते हैं वह मृत्यु सत्पुरुषों के लिये साता के उदय के समान क्या हर्ष का कारण नहीं है ? **ज्ञानियों की मृत्यु तो उन्हें हर्ष का ही कारण होती है।**

भावार्थ :– यह मनुष्यों का शरीर भोजन कराते हुए भी नित्य ही समय-समय जीर्ण होता जाता है; देवों के शरीर के समान वृद्धावस्था रहित नहीं है। दिन-दिन बल घटता जाता है; कान्ति व रूप मलिन होता जाता है; कोमल से कठोर होता जाता है; सभी नसों के-हड्डियों के जोड़-बंधन ढीले होते जाते हैं; चमड़ा ढीला होता जाता है; मांसादि को छोड़कर झुर्रियों युक्त होता जाता है; नेत्रों की सुन्दरता बिगड़ जाती है; कानों की श्रवण करने की शक्ति घटती जाती है; हाथों-पैरों में दिन-दिन कमजोरी बढ़ती जाती है; चलने की शक्ति धीमी होती जाती है; चलते, बैठते, उठते श्वास बढ़ने लगती है; कफ बढ़ने लग जाता है, अनेक रोग बढ़ते जाते हैं; ऐसी जीर्ण देह का दुःख कहाँ तक भोगता व ऐसे देह का घींसना (घसीटना) कहाँ तक होता ?

मरण नामक दातार के बिना ऐसे निंद्य देह से छुड़ाकर नवीन देह में निवास कौन कराता ? जीर्ण शरीर में असाता का बड़ा उदय भोगना पड़ता है। मरण नामक उपकारी दाता के बिना ऐसी असाता कौन दूर कर सकता है ? **जो सम्यग्ज्ञानी हैं, वे तो मृत्यु के आने पर बड़ा हर्ष मानते हैं** तथा व्रत, संयम, त्याग, शील में सावधान होकर ऐसा प्रयत्न करते हैं, जिससे फिर ऐसी दुःख की भरी देह को धारण ही नहीं करना पड़े। सम्यग्ज्ञानी तो इसी को महासाता का उदय मानते हैं।

ज्ञानी भय रहित होता है :

सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत्।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः ॥९॥

अर्थ :– यह आत्मा देह में रहता हुआ भी सदाकाल सुख को व दुःख को जानता ही है। परलोक की ओर गमन स्वयं करता है तो परमार्थ से मृत्यु का भय किसको होगा ?

भावार्थ :– अज्ञानी **बहिरात्मा** है इसलिये वह देह में रहता हुआ भी मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मरता हूँ, मैं भूखा, मैं प्यासा, मेरा नाश हुआ - ऐसा मानता है । **अन्तरात्मा** सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है- **जो उत्पन्न हुआ है वह मरेगा** । पृथ्वी, जल, अग्नि, पवनमय, पुद्गल परमाणुओं के पिण्डरूप यह देह उत्पन्न हुई है वह विनशेगी । **मैं ज्ञानमय अमूर्तिक आत्मा, मेरा नाश कभी नहीं होता है। ये भूख, प्यास, वात, पित्त, कफ, रोग, भय, वेदना पुद्गल के हैं, मैं इनका ज्ञाता हूँ** । मैं व्यर्थ ही इनमें अहंकार करता हूँ ।

इस शरीर का और मेरा एक क्षेत्र में रहने रूप अवगाह (संबंध) है तथापि **मेरा रूप ज्ञाता है**, शरीर जड़ है: **मैं अमूर्तिक हूँ**, देह मूर्तिक है; **मैं अखण्ड एक हूँ**, शरीर अनेक परमाणुओं का पिण्ड है; मैं अविनाशी हूँ, देह विनाशीक है । अब इस देह में जो रोग, क्षुधा, तृषादि उत्पन्न होंगे मैं उनका ज्ञाता ही रहूँगा, **क्योंकि मेरा तो ज्ञायक स्वभाव है** ।

पर में ममत्व करना वही अज्ञान है वही मिथ्यात्व है । जैसे एक मकान को छोड़कर दूसरे मकान में रहने लगते हैं, उसी प्रकार मेरे शुभ-अशुभ भावों से बांधे कर्मों से बने दूसरे शरीर में मुझे जाना है । इसमें मेरे स्वरूप का नाश नहीं होता है । अब निश्चय से विचार करने पर मरण का भय किसको होगा ?

समाधिमरण आनन्द देने वाला है :–

संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै: भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम् ॥१०॥

अर्थ :– संसार में जिनका चित्त आसक्त है, अपने स्वरूप को जो नहीं जानते हैं, मृत्यु उनके लिये भय करनेवाली है; किन्तु **जो निज स्वरूप के ज्ञाता हैं, संसार से वैरागी हैं उनके लिये तो मृत्यु आनन्द ही देने वाली है** ।

भावार्थ :– मिथ्यादर्शन के उदय से जो आत्मज्ञान रहित हैं, देह ही को आत्मा मानते हैं, खाना-पीना काम-भोग आदि इंन्द्रियों के विषयों को ही सुख मानते हैं ऐसे बहिरात्माओं को तो उनका मरण बड़ा भय उत्पन्न करने वाला है । वे तो हाय मेरा नाश हो गया, फिर खाना-पिना कहीं नहीं मिलेगा, नहीं मालूम मेरे पश्चात् क्या होगा, कैसे मरूँगा, अब यह देखना-मिलना कुटुम्ब का समागम सब मेरा गया, अब किसकी शरण में जाऊँ, कैसे जीवित रहूँ ? इस प्रकार महासंक्लेश करते हुए मरते हैं ।

जो आत्मज्ञानी हैं उनको मृत्यु के आने पर ऐसा विचार आता है: मैंने तो देहरूप बन्दीगृह में पराधीन रहते हुए इन्द्रियों के विषयों की चाह की दाह से, मिले हुए विषयों की अतृप्ति से, नित्य क्षुधा-तृषा शीत-उष्ण रोगों से उत्पन्न महावेदना से एक क्षण को भी सुख नहीं पाया है । महान दुःख, पराधीनता, अपमान, घोर वेदना, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग भोगते हुए महा संक्लेश से ही काल व्यतीत किया है । अब ऐसे कष्टों से छुड़ाकर, पराधीनता रहित, मुझे अनन्त सुख स्वरूप, जन्म-

मरण रहित, अविनाशी स्थान को प्राप्त करानेवाला यह मरण का अवसर प्राप्त हुआ है । यह मरण महासुख देनेवाला है अत्यन्त उपकारक है । यह संसारवास केवल दुःखरूप है । इसमें एक समाधिमरण ही शरण है, अन्य कोई ठिकाना नहीं है; इसके बिना चारों गतियों में महान कष्ट ही भोगा है । अब संसारवास से अत्यन्त विरक्त मैं समाधिमरण की शरण ग्रहण करता हूँ ।

आत्मा को परलोक जाने से कोई नहीं रोक सकता है :-

पुराधीशो यदा याति स्वकृतस्य बभुत्सया ।
तदासौ वार्यते केन प्रपञ्चैः पञ्चभौतिकैः ॥११॥

अर्थ :- जिस समय यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने की इच्छा से परलोक को जाता है, उस समय इसे पंचभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) संबंधी शरीर आदि के प्रपंचों द्वारा कौन रोक सकता है ?

भावार्थ :- जब इस जीव की वर्तमान आयु पूर्ण हो जाती है, तथा अन्य परलोक संबंधी आयु, काय आदि का उदय आ जाता है तब परलोक को गमन करनेवाले आत्मा को शरीरादि पंचभूत कोई भी रोकने में समर्थ नहीं होता है । अतः चार आराधनों की बहुत उत्साह सहित शरण ग्रहण कर मरण करना श्रेष्ठ है ।

समाधिमरण निर्वाण देनेवाला है :

मृत्युकाले सतां दुःखं यद् भवेद्व्याधि संभवम् ।
देहमोहविनाशाय मन्ये शिवसुखाय च ॥१२॥

अर्थ :- मृत्यु के समय पूर्व कर्म के उदय से रोगादि व्याधियों द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है वह सत्पुरूषों को देह की ममता छुड़ाने के लिये तथा निर्वाण का सुख प्राप्त कराने के लिये होता है ।

भावार्थ :- जिस दिन से इस जीव ने जन्म लिया है उसी दिन से देह में तन्मय होकर इसी में रहने को ही बड़ा सुख मानता है । इस देह को अपना निवास स्थान जानता है, इसी से ममता कर रहा है, इसमें रहने के सिवाय अन्य कहीं अपना ठिकाना नहीं दिखाई देता है । जब इस देह में रोगादि के द्वारा दुःख उत्पन्न होता है तब सत्पुरुषों का इससे मोह नष्ट हो जाता है, तथा यह साक्षात् दुःखदाई, अस्थिर, विनाशीक दिखाई देता है । देह का कृतघ्नपना जब प्रकट दिखाई देता है तब यह आत्मा अविनाशी पद की प्राप्ति के लिये उद्यमी होता है, वीतरागता प्रकट हो जाती है ।

ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि रोग उपकारी है । इस देह से ममता करके मैंने अनन्तकाल जन्म-मरण, अनेक वियोग, रोग, सन्ताप आदि नरकादि गतियों में बहुत दुःख भोगे हैं । ऐसे दुःखदायी देह में ही फिर से ममत्व करके, क्या अब भी अपने को भूल करके एकेन्द्रिय आदि अनेक कुयोनियों में भ्रमण का कारण कर्म बंध करने के लिये ममता करूँ ? इस शरीर में अभी जो ज्वर,

काश, श्वास, शूल, वात, पित्त, अतिसार, मंदाग्नि इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं, वे इस देह से ममत्व घटाने के लिये मुझे बड़ा उपकार करते हैं, धर्म में सावधानी कराते हैं ।

यदि रोगादि नहीं उत्पन्न होते तो देह से मेरी ममता भी नहीं घटती तथा अभिमान भी नहीं घटता । **मैं तो मोह की अंधेरी से अंधा होकर देह को अजर–अमर मान रहा था ।** अब इन रोगों की उत्पत्ति ने मुझे सचेत कराया है । अब इस देह को अनित्य–अशरण जानकर, ज्ञान–दर्शन–चारित्र–तप को ही एक निश्चय शरण मानकर, आराधनाओं के धारक भगवान पंच परमेष्ठी को चित्त में धारण करता हूँ ।

अब इस समय में हमारे लिये एक जिनेन्द्र का वचनरूप अमृत ही परम औषधि है । जिनेन्द्र के वचनामृत बिना विषय–कषायरूप रोग जनित दाह को मिटाने में कोई समर्थ नहीं है । बाह्य औषधि आदि तो असाता कर्म का मंद उदय होने पर कुछ देर के लिये, किसी एक रोग को शान्त कर देती है; किन्तु यह देह तो अनेक रोगों से भरी हुई है, यदि एक रोग मिट गया, तो अन्य रोग से होनेवाली वेदना भोगकर फिर भी मरण तो करना ही पड़ेगा । इसलिये जन्म-जरा-मरणरूप रोग को दूर करने वाले भगवान के उपदेशरूप अमृत का ही पान करता हूँ ।

औषधि आदि हजार उपाय करने पर भी विनाशीक देह के रोग नहीं मिटेंगे । इसलिये रोग से दुःखी होकर कुगति का कारण दुर्ध्यान करना उचित नहीं है ।

रोग आने पर भी उसे बड़ा भला ही मानो कि इस रोग के प्रभाव से ही ऐसे जीर्ण गले हुए शरीर से मैं छूट जाऊँगा । यदि रोग नहीं आता तो मेरे पूर्वकृत कर्म निर्जरित नहीं होते, तथा देहरूप महा दुर्गन्धित दुःखदायी बन्दीगृह से मेरा शीघ्र छूटना भी नहीं होता । **इस रोगरूप मित्र की सहायता जैसे–जैसे देह में बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे ही मुझे रागबंधन से, कर्मबंधन से, शरीर बंधन से छूटने में शीघ्रता हो रही है ।**

यह रोग तो देह में है, देह को ही नष्ट करेगा । **मैं आत्मा तो अमूर्तिक चैतन्य स्वभावी अविनाशी हूँ, ज्ञाता हूँ । यह रोग जनित दुःख मेरे जानने में आता है, मैं तो मात्र जाननेवाला ही हूँ,** इसके साथ मेरा नाश नहीं होगा । जैसे लोहे की संगति में अग्नि भी घनों का घात सहती है वैसे ही शरीर की संगति से वेदना का जानना मुझे भी होता है । **जैसे अग्नि से झोपड़ी जलती है, झोपड़ी के भीतर का आकाश नहीं जलता है; वैसे ही अविनाशी, अमूर्तिक, चैतन्यधातुमय आत्मा का रोगरूप अग्नि से नाश नहीं होता है ।**

अपने द्वारा बांधा गया कर्म उदय में आने पर अपने को भोगना ही पड़ेगा । कायर होकर भोगूँगा तो कर्म नहीं छोड़ेगा, तथा धैर्य धारण कर भोगूँगा तो भी कर्म नहीं छोड़ेगा । इसलिये दोनों लोकों को बिगाड़नेवाले कायरपने को धिक्कार हो । कर्म का नाश करनेवाला धैर्य धारण करना ही श्रेष्ठ है ।

हे आत्मन् ! तुम रोग के आने पर इतने कायर होते हो सो विचार करो :– नरकों में इस जीव ने कौन-कौन सा कष्ट नहीं भोगा ? वहाँ पर असंख्यातबार अनन्तबार मारे, विदारे, चीरे, फाड़े

गये हो; यहाँ पर तुम्हारे लिये कितना सा दुःख है ? तिर्यंचगति के घोर दुःख भगवान केवलज्ञानी भी वचनद्वार से कहने में समर्थ नहीं हैं । मैं तिर्यंचपर्याय में पूर्वकाल में अनन्तबार अग्नि में जल-जल कर मरा हूँ; अनन्तबार पानी में डूबकर मरा हूँ; अनन्तबार विष-भक्षण कर मरा हूँ; अनन्तबार सिंह, व्याघ्र, सर्पादि द्वारा विदारा गया हूँ; शस्त्रों से छेदा गया हूँ । अनन्तबार शीत-वेदना से, उष्णता की वेदना से, क्षुधा की वेदना से, तृषा की वेदना से मरा हूँ, अभी यह रोगजनित वेदना कितनी सी है ?

रोग तो मेरा उपकार ही कर रहा है । यदि रोग उत्पन्न नहीं होता तो मेरा देह से स्नेह नहीं घटता; सभी से छूटकर परमात्मा की शरण ग्रहण नहीं करता । इसलिये इस समय में जो रोग हुआ है वह भी मेरा आराधना मरण में प्रेरणा करनेवाला मित्र ही है। इस प्रकार विचार करनेवाला ज्ञानी रोग के आने पर भी क्लेश नहीं करता है, वह तो मोह का नाश कर देने का उत्सव ही मनाता है।

समाधिमरण तो अमृत देनेवाला है :

ज्ञानिनोऽमृतसङ्गाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा ॥१३॥

अर्थ :– इस लोक में मृत्यु तो समस्त जगत के जीवों को आताप करने वाली है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीवों के लिये तो वह अमृत का साथ अर्थात् मोक्ष प्राप्त करानेवाली है । जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े को अमृतरूप जल भरने के लिये अग्नि में पकाया जाता है, यदि कच्चे घड़े को अग्नि में विधिपूर्वक नहीं पकाया जाये तो घड़े में जल नहीं रखा जा सकता है; अग्नि में एकबार पक जाने पर उस घड़े में बहुत समय तक जल भरकर रखा जा सकता है; उसी प्रकार मृत्यु के समय यदि एकबार समभावों से आताप सहन कर लिया जाये तो यह जीव निर्वाण का पात्र हो जाये ।

भावार्थ :– अज्ञानी के तो मृत्यु के नाम से ही परिणामों में कष्ट होने लगता है कि – अब मैं चला, अब कैसे जीऊँ, क्या करूँ, कौन रक्षा करे? इस प्रकार दुःखी होने लगता है क्योंकि वह तो बहिरात्मा है, देहादि बाह्य वस्तु को ही आत्मा मानता है । **जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है वह ऐसा मानता है :** आयुकर्म आदि के निमित्त से ही देह का धारण है, यह अपनी स्थिति पूर्ण होने पर अवश्य ही विनशेगा । **मैं आत्मा अविनाशी ज्ञान स्वरूप हूँ, जीर्ण देह को छोड़कर नवीन शरीर में प्रवेश करने में मेरी कुछ भी हानि नहीं है ।**

समाधिमरण महान तप – मुक्ति का सरल उपाय :

यत्फलं प्राप्यते सद्भि र्व्रतायाः सविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥१४॥

अर्थ :– सत्पुरुष जिस फल को बड़े खेदपूर्वक व्रतों को पालन करने से प्राप्त कर पाते हैं वह फल मृत्यु के अवसर में थोड़े समय को शुभध्यानरूप समाधिमरण का सुखपूर्वक साधन करने से प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ :– स्वर्ग में जो इंद्रादि पद व परंपरा से निर्वाण पद पाँच महाव्रतों को धारण करने से तथा घोर तपश्चरण करने से प्राप्त होता है, वह पद मृत्यु के समय में देह कुटुम्बादि से ममता छोड़कर, भय रहित होकर, वीतरागता सहित चार आराधनाओं की शरण ग्रहण करके, कायरता छोड़कर, अपने ज्ञायक स्वभाव का अवलंबन लेकर मरण करने पर सहज सिद्ध हो जाता है, तथा स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव हो जाता है। वहाँ से आकर बड़े कुल में उत्पन्न होकर, उत्तम संहनन आदि सामग्री पाकर, दीक्षा धारण कर, रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होकर, निर्वाण को चला जाता है।

समाधिधारक उत्तम गति में ही जाता है :

अनार्तः शान्तिमान्मर्त्यो न तिर्यक् नापि नारकः।
धर्मध्यानी पुरोमर्त्योऽनशनीत्वमरेश्वरः ॥१५॥

अर्थ :– जो मरण के समय में आर्त अर्थात् दुःखरूप परिणाम नहीं करता है, तथा शान्तिमान अर्थात् रागद्वेष रहित होकर समभाव रूप परिणाम रखता है, वह पुरुष तिर्यंच व नारकी नहीं होता है। जो धर्मध्यान सहित अनशन व्रत धारण करके मरता है वह स्वर्गलोग में इन्द्र होता है व महर्द्धिक देव होता है, अन्य हीनपर्याय नहीं पाता है – ऐसा नियम है।

भावार्थ :– यह उत्तम मरण का अवसर प्राप्त करके आराधना सहित मरण करने का यत्न करना चाहिये। मरण आने पर भयभीत होकर परिग्रह में ममत्व करके आर्त परिणामों से मरकर कुगति में नहीं जाओ। ऐसा अवसर अनन्त भवों में नहीं मिलेगा, और मरण छोड़ेगा नहीं। इसलिये सावधान होकर धर्मध्यान सहित धैर्य धारण करके देह का त्याग करना चाहिये।

समस्त तप समाधि के लिये हैं :

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥१६॥

अर्थ :– तपों के द्वारा तपने का, व्रतों के पालने का तथा श्रुत के पढ़ने का फल तो समाधि अर्थात् अपने आत्मा की सावधानी सहित मरण करना ही है।

भावार्थ :– हे आत्मन्! तुमने जीवन में बहुत समय तक इन्द्रियों के विषयों की वांछा रहित होकर अनशनादि तप किया है, वह अन्त समय में आहारादि के त्याग पूर्वक, संयम सहित, देह से ममता रहित होकर समाधि मरण करने के लिये किया है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग आदि व्रत धारण किये हैं, वे सभी देहादि परिग्रह में ममता त्यागकर समस्त मन-वचन-काय से आरंभादि का त्यागकर, समस्त शत्रु-मित्रों में बैर-राग छोड़कर, उपसर्ग में धीरज धारण कर, अपने एक ज्ञायक स्वभाव का अवलंबन लेकर समाधिकरण करने के लिये किये हैं। तथा जो समस्त श्रुतज्ञान का पठन किया है वह भी संक्लेश रहित धर्मध्यान सहित होकर, देहादि से भिन्न अपने स्वरूप को जानकर, भयरहित, समाधिमरण के लिये ही विद्या ही अराधना में काल व्यतीत किया है।

यदि मरण के अवसर में भी ममता, भय, द्वेष, कायरता, दीनता नहीं छोड़ोगे तो जो इतने समय तक तप किये, व्रत पाले, श्रुत का अध्ययन किया वे सभी निरर्थक हो जायेंगे । इसलिये इस मरण के अवसर में सावधानी नहीं छोड़ो ।

जीर्ण शरीर से प्रीति करना अच्छा नहीं है :

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः ।
चिरतरशरीरनाशे नवतरलाभे च किं भीरुः ॥१७॥

अर्थ :- लोगों का ऐसा कहना है कि **जिस वस्तु का अतिसेवन–अतिपरिचय हो जाता है उसमें अवज्ञा–अनादर होने लगता है, रुचि घट जाती है; जिसका नया साथ होता है उसमें अधिक प्रीति होती है,** यह बात प्रसिद्ध है; किन्तु हे जीव ! तुमने इस शरीर का बहुत समय से सेवन किया है, अब इसका नाश होने पर तथा नये शरीर की प्राप्ति होने से क्यों डर रहे हो ? भय करना उचित नहीं है ।

भावार्थ :– जिस शरीर को बहुत काल तक भोगकर जीर्ण कर दिया, साररहित–बलरहित कर दिया, तथा नवीन उज्ज्वल देह धारण करने का अवसर आया है तो अब भय क्यों करते हो ? यह जीर्ण तो नष्ट ही होगा । इसमें ममता धारण करके मरण बिगाड़कर दुर्गति का कारण कर्मबन्ध नहीं करना चाहिये ।

समाधिमरण से उत्तमगति की प्राप्ति होती है :

स्वर्गादित्यपवित्रनिर्मलकुले संस्मर्यमाणा जनैः ।
दत्वा भक्तिविधायिनां बहुविधं वाञ्छानुरूपं धनम् ।
भुक्त्वा भोगमहर्निशं परकृतं स्थित्वा क्षणं मण्डले ।
पात्रावेशविसर्जनामिव मतिं सन्तो लभन्ते स्वतः ॥१८॥

अर्थ :– इस प्रकार जो भय रहित होकर समाधिमरण में उत्साह सहित चार आराधनाओं का आराधन कर मरण करता है उसे स्वर्गलोक के बिना अन्य गति की प्राप्ति नहीं होती है, स्वर्गों में महर्द्धिक देव ही होता है, ऐसा निश्चय है, स्वर्ग में आयु के अंत तक महासुख भोगकर इस मनुष्य लोक में पुण्यवान निर्मल कुल में अनेक लोगों द्वारा इन्तजार करते-करते जन्म लेकर, अपने सेवकजनों तथा कुटुम्ब-परिवार-पुत्र-मित्रादि जनों को अनेक प्रकार के इच्छित धन भोगादिरूप फल देकर, पुण्य से प्राप्त भोगों को निरन्तर भोगकर, आयु पूर्ण होने तक थोड़े समय को पृथ्वीमंडल पर संयमादि सहित वीतरागरूप होकर विहार करके, जैसे नृत्य के अखाड़े में नृत्य करनेवाला पुरुष लोगों को आनंद उत्पन्न करके चला जाता है, उसी प्रकार वह सत्पुरुष भी सभी लोगों को आनंद उत्पन्न करके स्वयं ही देह त्याग करके निर्वाण को प्राप्त हो जाता है । १८ ।




दोहा

मृत्यु महोत्सव वचनिका, लिखी सदासुख काम ।
शुभ आराधन मरणकरि, पाऊँ निजसुख धाम ॥१॥
उगणीसै ठारा शुकल, पंचमि मास असाढ़ ।
पूरन लिखि वांचो सदा, मन धरि सम्यग्गाढ़ ॥२॥

इस प्रकार सल्लेखना के वर्णन में उपकारी जानकर इसमें मृत्यु महोत्सव लिखा है । यद्यपि इसकी वचनिका संवत् उन्नीस सौ अठारह (१९१८) में लिख दी थी, वही अब यहाँ सल्लेखना के कथन में शामिल कर दी, तथा विशेष और लिखे बिना विषय है ही इसलिये तैयार कथनी लिख दी है ।

अब यहाँ सल्लेखना के दो भेद हैं : एक काय सल्लेखना, दूसरी कषाय सल्लेखना । यहाँ सल्लेखना का अर्थ सम्यक् प्रकार से कृश करने का है । देह का कृश करना वह काय सल्लेखना है । इस काय को जितना पुष्ट करो, सुखी रखो, उतना ही इन्द्रियों के विषयों की तीव्र लालसा उत्पन्न कराती है, आत्मविशुद्धता को नष्ट करती है, काम-लोभ आदि की वृद्धि करती है, निद्रा-प्रमाद-आलस आदि को बढ़ाती है, परीषह सहने में असमर्थ होती जाती है, त्याग संयम के सन्मुख नहीं होती है, आत्मा को दुर्गति में गमन कराती है, वात-पित्त-कफादि अनेक रोगों को उत्पन्न कराकर महादुर्ध्यान कराकर संसार परिभ्रमण करवाती है ।

इसलिये अनशनादि तपश्चरण करके इस शरीर को कृश करना चाहिये । रोगादि वेदना उत्पन्न नहीं हो, परिणाम अचेत नहीं हो, अत: प्रथम **काय सल्लेखना** का वर्णन करनेवाला श्लोक कहते हैं :-

काय सल्लेखना

आहारं परिहायक्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥१२७॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥१२८॥

अर्थ :- काय सल्लेखना अनुक्रम से करना चाहिये । क्रमशः आहार को छोड़कर स्निग्ध दूध आदि को बढ़ाकर ग्रहण करे, फिर दूध आदि छोड़कर छाछ को बढ़ावे, फिर छाछ को छोड़कर गर्मजल बढ़ावे, फिर गर्म जल को भी छोड़कर शक्ति अनुसार एक दो उपवास करते हुए सर्व प्रयत्न से मन में पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करे ।

भावार्थ :- अपनी आयु का शेष समय देखकर उसी के अनुसार देह से इंद्रियों से ममत्व रहित होकर आहार के स्वाद से विरक्त होकर क्रमशः काय सल्लेखना करता हुआ विचार करे :-




हे आत्मन् ! संसार परिभ्रमण करते हुए तूने इतना आहार किया है कि यदि एक–एक जन्म का एक–एक कण एकत्र करें तो अनन्त सुमेरु के बराबर हो जायें; तथा अनन्त जन्मों में इतना जल पिया है कि यदि एक-एक जन्म की एक-एक बूंद इकट्ठा करें तो अनन्त समुद्र भर जायें। इतने आहार और जल से भी तू तृप्त नहीं हुआ है तो अब रोग–जरादि से प्रत्यक्ष मरण निकट आ गया है, अब इस समय में किंचित् आहार–जल से कैसे तृप्ति होगी ?

इस पर्याय में भी जब से जन्म लिया है तब से प्रतिदिन ही आहार ग्रहण करता आया है, आहार का लोभी होकर के ही घोर आरंभ किये हैं, आहार के लोभ से ही हिंसा, असत्य, परधन–लालसा, अब्रह्म व परिग्रह का बहुत संग्रह तथा दुर्ध्यान आदि द्वारा अनेक कुकर्म उपार्जन किये हैं।

आहार की शुद्धता से ही दीनवृत्ति से पराधीन हुआ। आहार का लोभी होकर भक्ष्य–अभक्ष्य का विचार नहीं किया, रात्रि–दिन का विचार नहीं किया, योग्य–अयोग्य का विचार नहीं किया। आहार का लोभी होकर क्रोध, अभिमान, मायाचार, लोभ, याचना भी की। आहार की इच्छा करके अपना बड़ापना–स्वाभिमान नष्ट किया। आहार का लोभी होकर के अनेक रोगों का घोर दुःख सहा, नीचजाति–नीचकुल वालों की सेवा की। आहार का लोभी होकर स्त्री के आधीन रहा, पुत्र के आधीन रहा।

आहार का लंपटी निर्लज्ज होता है, आचार–विचार रहित होता है, आपस में कट-कट कर मर जाता है, दुर्वचन सहता है। आहार के लिये ही तिर्यंचगति में परस्पर मार डालते हैं, भक्षण कर लेते हैं।

बहुत कहने से क्या ? अब इस पर्याय में मुझे अल्प समय ही रहना है, आयु समाप्त होने को है, इसलिये रसों में गृद्धता छोड़कर, रसना इंद्रिय की लालसा छोड़कर यदि आहार का त्याग करने में उद्यमी नहीं होऊँगा तो व्रत, संयम, धर्म, यश, परलोक – इनको बिगाड़कर कुमरण करके संसार में ही परिभ्रमम करूँगा।

ऐसा निश्चय करके ही अतृप्ति करनेवाला आहार का त्याग करने के लिये किसी समय उपवास, कभी बेला, कभी तेला, कभी एक बार आहार करना, कभी नीरस आहार, कभी अल्प आहार इत्यादि क्रम से अपनी शक्ति अनुसार तथा आयु की शेष रही स्थिति प्रमाण आहार को घटाकर दुग्ध आदि ही पिये। फिर क्रम से दुग्ध आदि स्निग्ध पदार्थों का भी त्याग करके छांछ व गर्म जल आदि ही ग्रहण करे। फिर क्रम से जलादि समस्त आहार का त्याग करके अपनी शक्ति प्रमाण उपवास करते हुए पंच परमेष्ठी में मन को लीन करते हुए धर्मध्यान रूप होकर बड़े यत्न से देह को त्यागना – उसे सल्लेखना जानना चाहिए। इस प्रकार काय सल्लेखना का वर्णन किया।

समाधिमरण में आत्मघात का अभाव है :

अब यहाँ कोई प्रश्न करता है : यह आहारादि त्याग करके मरण करना तो आत्मघात है, तथा आत्मघात करना अनुचित बताया है ?

उसे उत्तर देते हैं – जिसके द्वारा बहुत समय तक अच्छी तरह से मुनिपना, श्रावकपना व महाव्रत-अणुव्रत पलते दिखाई दें; स्वाध्याय, ध्यान, दान, शील, तप, व्रत, उपवास आदि पलता हो; जिन पूजन, स्वाध्याय, धर्मोपदेश, धर्मश्रवण, चारों आराधनाओं का सेवन अच्छी तरह निर्विघ्न सधता हो; दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं आया हो; शरीर में असाध्य रोग नहीं आया हो; स्मरण शक्ति व ज्ञान को नष्ट करनेवाला बुढ़ापा भी नहीं प्राप्त हुआ हो; दशलक्षण धर्म तथा रत्नत्रयधर्म देह से पलता हो उसे आहार त्यागकर समाधिमरण करना योग्य नहीं है ।

जिससे धर्म सधता होने पर भी यदि वह आहार त्यागकर मरण करता है; तो वह धर्म से पराङ्मुख होकर त्याग, व्रत, शील, संयम आदि द्वारा मोक्ष की साधक उत्तम मनुष्य पर्याय से विरक्त हुआ अपनी दीर्घ आयु होने पर भी व धर्म सेवन करते बनने पर भी आहारादि का त्याग करनेवाला आत्मघाती होता है ।

भगवान की ऐसी आज्ञा है कि धर्म संयुक्त शरीर की बड़े यत्न से रक्षा करना चाहिये । यदि धर्म सेवन की सहकारी इस देह को आहार त्याग करके छोड़ देगा तो क्या नारकी–तिर्यंचों की संयम रहित देह से व्रत–तप–संयम सधेगा ? रत्नत्रय की साधक तो यह मनुष्य देह ही है। जो धर्म की साधक मनुष्य देह को आहारादि त्यागकर छोड़ देता है उसका क्या कार्य सिद्ध होता है ? इस देह को त्यागने से हमारा क्या प्रयोजन सधेगा ? व्रत-धर्म रहित और दूसरा नया शरीर धारण कर लेगा ।

अनन्तानन्त देह धारण करवाने का बीज तो कर्ममय कर्माण देह है, उसको मिथ्यात्व, असंयम, कषायादि का त्याग करके नष्ट करो । आहारादि का त्याग करने से तो औदारिक हाड़-मांसमय शरीर मरेगा, जो तुरन्त नया दूसरा प्राप्त हो जायेगा । **जब अष्ट कर्ममय कार्माण देह मरेगा तब जन्ममरण से छूटोगे ।** अतः कर्ममय देह को मारने के लिये इस मनुष्य शरीर द्वारा त्याग-व्रत-संयम में दृढ़ता धारण करके आत्मा का कल्याण करो । **जब धर्म सधता नहीं दिखाई दे तब ममत्व छोड़कर अवश्य ही विनाशीक देह को त्याग देने में ममता नहीं करना ।**

कषाय सल्लेखना : जैसे तपश्चरण से काया को कृश किया जाता है वैसे ही राग–द्वेष–मोहादि कषायों को भी साथ-साथ ही कृश करना वह कषाय सल्लेखना है । बिना कषायों की सल्लेखना किये काय सल्लेखना व्यर्थ है । काय का कृशपना तो रोगी, दरिद्री, पराधीनता से मिथ्यादृष्टि के भी हो जाता है । देह को कृश करने के साथ ही साथ राग-द्वेष-मोहादि को कृश करके, इसलोक-परलोक संबंधी समस्त वांछा का अभाव करके, देह के मरण में कुटुम्ब-परिग्रहादि समस्त पर द्रव्यों से ममता छोड़कर, परम वीतरागता से संयम सहित मरण करना वह कषाय सल्लेखना है ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना : जो विषय–कषायों को जीतनेवाला होगा उसी में समाधिमरण करने की योग्यता है । विषयों के आधीन तथा कषाय युक्त के समाधिमरण नहीं होता है । संसारी जीवों के ये विषय-कषाय बड़े प्रबल हैं, बड़े-बड़े सामर्थ्यधारियों द्वारा नहीं जीते जा पाते हैं । इन्होंने

बड़े प्रबल बल के धारक चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि को भ्रष्ट करके अपने आधीन किया है, अतः अत्यन्त प्रबल हैं ।

संसार में जितने भी दुःख हैं वे सभी विषयों के लम्पटी, अभिमानी तथा लोभी को होते हैं । कितने ही जीव जिनदीक्षा धारण करके भी विषयों की आताप से भ्रष्ट हो जाते हैं, अभिमान व लोभ नहीं छोड़ सकते हैं । अनादिकाल से विषयों की लालसा से लिप्त व कषायों से प्रज्ज्वलित संसारी जीव अपने को भूलकर स्वरूप से भ्रष्ट हो रहे हैं ।

विषय-कषायों से छूटकर वीतरागता कराने के लिये **श्री भगवती आराधना** जी शास्त्र में विषय-कषायों का स्वरूप विस्तार से परम निर्ग्रन्थ **श्री शिवायन** नाम के आचार्य ने प्रकट दिखाया है । वीतरागता के इच्छुक पुरुषों को ऐसा परम उपकार करनेवाले ग्रन्थ का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये ।

समाधिमरण के समय में जीव का कल्याण करनेवाला उपदेशरूप अमृत की सहस्रधारा रूप होकर वर्षा करता हुआ भगवती आराधना नाम का ग्रन्थ है, उसकी शरण अवश्य ग्रहण करने योग्य है । इसलिये यहाँ पर आराधनामरण (समाधिमरण) के कथन करने का अवसर पाकर भगवती आराधना के अर्थ का अंश लेकर लिख रहे हैं ।

यहाँ ऐसा विशेष जानना : साधु (मुनियों) पुरुषों को तो रत्नत्रय धर्म की रक्षा करने में सहायक आचार्य आदि का संघ तथा वैयावृत्य करनेवाले- धर्म का उपदेश देनेवाले निर्यापकों की बड़ी सहायता प्राप्त हो जाती है । इसलिये गृहस्थों को भी **धर्मवृद्ध-श्रद्धानी-ज्ञानी साधर्मियों का समागम अवश्य बनाये रखना चाहिये । परन्तु यह पंचमकाल अति विषम है । इसमें तो विषयानुरागियों तथा कषायी जीवों का साथ मिलना सुलभ है; राग-द्वेष-शोक-भय उत्पन्न करानेवाले, आर्तध्यान बढ़ानेवाले, असंयम में प्रवृत्ति करानेवालों का ही साथ बन रहा है । स्त्री, पुत्र, मित्र, बांधव आदि सभी अपने राग-द्वेष विषयकषायों में लगाकर आत्मा को भुला देनेवाले हैं । सभी अपने विषय-कषाय पुष्ट करने के ही इच्छुक हैं ।**

धर्मानुरागी, धर्मात्मा, परोपकारी, वात्सल्यता के धारी, करुणा रस से भीगे पुरुषों का संगम महा उज्वल पुण्य के उदय से मिलता है; तथापि अपने पुरुषार्थ से उत्तम पुरुषों के उपदेश का संगम मिलाना चाहिये । स्नेह और मोह के जाल में उलझानेवाले धर्म रहित स्त्री-पुरुषों का साथ दूर से ही छोड़ देना चाहिये ।

परवशता से कोई कुसंगी आ जाय तो उससे बात करना छोड़ कर मौन होकर रहना । अपने कर्मोदय के आधीन देश-काल के योग्य जो स्थान प्राप्त हुआ हो उसी में रहकर शयन, आसन, अशन करना । **जिनशास्त्रों की परमशरण ग्रहण करना, जिनसिद्धान्तों का उपदेश धर्मात्माओं से सुनना।** त्याग, संयम, शुभध्यान, भावनाओं को विस्मरण नहीं करना; क्योंकि धर्मात्मा-साधर्मी भी अपने तथा दूसरों के धर्म की पुष्टता चाहते हैं; धर्म की प्रभावना चाहते हुए धर्मोपदेशादि रूप वैयावृत्य में आलसी नहीं होना; त्याग, व्रत, संयम, शुभध्यान, शुभभावना में ही **आराधक साधर्मी को लीन करना चाहिये।**

यदि कोई आराधक ज्ञान सहित होकर भी कर्म के तीव्र उदय से तीव्र रोग, क्षुधा, तृषादि परीषह सहन करने में असमर्थ होकर व्रतों की प्रतिज्ञा तोड़ने लगे, अयोग्य वचन भी कहने लगे, रुदनादि रूप विलापरूप आर्त परिणाम हो जायें तो साधर्मी बुद्धिमान पुरुष उसका तिरस्कार नहीं करे, कटुवचन नहीं कहे, कठोर वचन नहीं कहे; क्योंकि वह वेदना से तो दुःखी है ही, बाद में तिरस्कार के व अवज्ञा के वचन सुनकर मानसिक दुःख पाकर दुर्ध्यान करके धर्म से विचलित हो जाये, विपरीत आचरण करने लगे, आत्मघात कर ले ? इसलिये **आराधक का तिरस्कार करना योग्य नहीं है।**

उपदेशदाता को बहुत धीरता धारण करके आराधक को स्नेह भरे वचन कहना, मीठे वचन कहना, जो हृदय में प्रवेश कर जायें, जिन्हें सुनते ही समस्त दुःख भूल जाये। करुणारस से भरे उपकारबुद्धि से भरे वचन कहना चाहिये।

समाधि धारक को सम्बोधन

हे धर्म के इच्छुक ! अब सावधान हो जाओ। पूर्व कर्म के उदय से रोग, वेदना, महाव्याधि उत्पन्न हुई है, परीषहों का कष्ट पैदा हुआ है, शरीर निर्बल हो गया है, आयु पूर्ण होने का अवसर आया है। अतः अब दीन नहीं होओ, कायरता छोड़कर शूरपना ग्रहण करो। कायर व दीन होने पर भी असाताकर्म का उदय नहीं छोड़ेगा। दुःख को हरण करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

असाता को दूर करके साताकर्म देने में कोई इन्द्र, धरणेन्द्र, जिनेन्द्र समर्थ नहीं है। कायरता दोनों लोकों को नष्ट करनेवाली है, धर्म से पराङ्मुखता करानेवाली है। अतः धैर्य धारण करके क्लेशरहित होकर भोगोगे तो पूर्वकर्म की निर्जरा होगी तथा नवीन कर्म के बंध का अभाव हो जायेगा। **तुम जिनधर्म के धारक धर्मात्मा कहलाते हो, सभी लोग तुम्हें ज्ञानवान समझते हैं।** धर्म के धारकों में विख्यात हो, व्रती हो, व्रत-संयम की यथाशक्ति प्रतिज्ञा ग्रहण की है, यदि तुम अब त्याग-संयम में शिथिलता दिखलाओगे तो तुम्हारा यश तथा परलोक तो बिगड़ेगा ही; किन्तु अन्य धर्मात्माओं की व धर्म की भी बहुत निन्दा होगी, अनेक भोले जीव धर्म के मार्ग में शिथिल हो जायेंगे।

जैसे कोई कुलवान मानी सुभट लोगों के बीच बहादुरी से भुजाओं को दिखलाकर फड़काता था, बाद में शत्रु को सामने आता देखते ही भयभीत होकर भाग जाय तो अन्य छोटे किंकर कैसे थिरता धारण करेंगे ? तथा दो-दिन और जी गया तो भी उसका जीवन ही धिक्कारने योग्य होता है। उसी प्रकार तुम भी त्याग, व्रत, संयम की प्रतिज्ञा लेकर यदि अब शिथिल होवोगे तो निंदा के पात्र हो जाओगे; अशुभ कर्म भी नहीं छोड़ेगा व आगे के लिये बहुत दुःख देने के कारणरूप नवीन कर्मों का ऐसा तीव्र-दृढ़ बन्ध करोगे जो असंख्यात वर्षों तक तीव्र फल (रस) देता रहेगा।

तुम्हें पहले ऐसा अभिमान था – कि मैं तो जिनेन्द्र का भक्त जैनी हूँ, आज्ञा प्रतिपालक हूँ, जिनेन्द्र के कहे व्रत, शील, संयम धारण करनेवाला हूँ, जो श्रद्धान ज्ञान आचरण अनन्त भवों में दुर्लभ है वह वीतराग गुरुओं की कृपा से प्राप्त हुआ है - ऐसा निश्चय करके भी अब कर्म के उदय से कुछ रोगजनित वेदना व परीषह के आने से कायर होकर विचलित होना अति लज्जा का कारण

है । वेदना से इतना भय क्यों करते हो ? वेदना से मरण ही तो होगा । मरण तो एक बार अवश्य होना ही है, जिसने भी देह धारण की है, वह अवश्य मरण करेगा ही ।

वीतराग गुरुओं द्वारा उपदेशित व्रत-संयम सहित, कायरता रहित, उत्साह से, चार आराधनाओं की शरण सहित यदि मरण हो जाय तो इसके समान तीनलोक में लाभ नहीं है। तीनलोक की राज्य संपदा तो विनाशीक है, पराधीन है; किन्तु आराधना की संपदा अनन्त सुख देनेवाली है, अविनाशी है । जिस भयरहित-धीरतासहित मरण को मुनीश्वर-आचार्य-उपाध्याय चाहते हैं, सभी व्रती, संयमी, सम्यग्दृष्टि चाहते हैं तथा तुम भी निरन्तर चाहते रहते थे, वह मनोवांछित समाधिमरण निकट आ गया है, इसके समान आनन्द देनेवाला कोई दूसरा है ही नहीं ।

जो यह वेदना बढ़ती है वह तुम्हारा बड़ा उपकार ही करती है । **वेदना से देह में राग नष्ट हो जायेगा ;** पूर्व में जो असाता आदि कर्म बांधे थे उनकी अल्पकाल में ही निर्जरा हो जायेगी, दुःख-रोगों से भरे देहरूप बन्दीगृह से अवश्य छुटकारा हो जायेगा, विषय भोगों से विरक्ति हो जायेगी, पर द्रव्यों से ममता घट जायेगी, मरण का भय नहीं रहेगा; मित्र, पुत्र, स्त्री बांधव आदि से ममता नष्ट हो जायगी इत्यादि अनेक-अनेक उपकार वेदना से होते जाने । यदि कायर हो गये तो वेदना बढ़ेगी, संक्लेश बढ़ेगा, कर्म का उदय आया है वह अब टलेगा नहीं । इसलिये अब दृढ़ता ही धारण करने का समय है । शूरपना धारण करके ही कर्म को जीत पावोगे । यदि कायर होकर रोवोगे, घबराओगे तो कर्म तुम्हें मारकर तिर्यंचादि कुगति प्राप्त करा देगा जहाँ पर अनेक दुःख प्राप्त करोगे ।

जिस प्रकार कुल का, साधर्मियों का, धर्म का यश बढ़े तथा तुम दुःख के पात्र नहीं होओ वैसे प्रयत्न करो । जैसे जो क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए शूरवीर हैं वे संग्राम में शस्त्रों द्वारा बहुत कष्ट पहुँचाये जाने पर भी टेढ़ी भौंहों सहित ही मरण करते हैं; परन्तु शत्रुओं की ओर से मुख उलटा नहीं फेरते हैं । उसी प्रकार परम वीतरागी पुरुषों की शरण ग्रहण करनेवाले पुरुष भी अशुभ कर्मों के अति प्रहार से देह का त्याग कर देते हैं; परन्तु दीनता कायरता नहीं दिखाते हैं ।

कितने ही जिनलिंग के धारी उत्तम पुरुषों को दुष्ट बैरियों ने चारों तरफ से अग्नि लगा दी, उसकी घोर वेदना जो वचन के अगोचर है, उस अग्नि में सब तरफ से जलते हुए भी अपना ऋण चुकने के समान जानकर, पंच परम गुरुओं की शरण सहित, धीरता धारण करते हुए जल गये हैं; परन्तु कायरता नहीं दिखाई । आत्मज्ञान की ऐसी प्रभावना है । जिसने इस शरीर से भिन्न अविनाशी, अखण्ड, ज्ञान स्वभाव का अनुभव किया है, उस अनुभव करने का फल अकंपना भयरहितपना ही है ।

जब मिथ्यादृष्टि अज्ञानी भी परलोक के सुख का चाहनेवाला होकर धैर्य धारण कर लेता है, वेदना में कायर नहीं होता है, तब संसार के समस्त दुःखों का नाश करने के इच्छुक जिनधर्म के धारक तुम क्यों कायर होकर आत्मा के हित को बिगाड़ रहे हो तथा उज्ज्वल यश को मलिन करके दुर्गति के पात्र क्यों बन रहे हो ?

अत: अब सावधान होकर धर्म की शरण ग्रहण करके कर्मजनित वेदना के ऊपर विजय प्राप्त करो । ऐसा अवसर अनन्त भवों में भी नहीं मिला है । **यह किनारे पर पहुँची नाव है, यदि अब प्रमादी रहोगे तो डूब जायेगी । समस्त पर्याय में (जीवन भर) जो ज्ञान का अभ्यास किया, श्रद्धान की उज्ज्वलता की, तप-त्याग-नियम धारण किये, वे सब इसी अवसर के लिये धारण किये थे** । अब यदि अवसर आ जाने पर भी शिथिल होकर भ्रष्ट हो जावोगे तो भ्रष्ट हो गये । समताभाव छोड़ देने से रोग, वेदना, तथा मरण तो टलेगा नहीं, अपनी आत्मा को केवल दुर्गतिरूप अन्ध कीच में डुबो दोगे ।

जैसे लोक में मरी रोग आ जाय, दुर्भिक्ष आ जाय, भयानक गहन वन में प्रवेश हो जाय, दृढ़ भय आ जाय, तीव्र रोग वेदना आ जाय, तो उत्तम कुल में उत्पन्न पुरुष सन्यास मरण अंगीकार कर लेते हैं; परन्तु नीच पुरुषों के समान निंद्य आचरण कभी नहीं करते हैं । मरी के भय से मदिरा नहीं पीते हैं; दुर्भिक्ष आ जाय तो मांस भक्षण नहीं करते हैं, कांदा (कंद, आलू आदि) नहीं खाते हैं; नीच, चांडाल आदि की जूठन नहीं खाते हैं । भय आ जाय तो म्लेच्छ-भील नहीं हो जाते हैं, हिंसादि कुकर्म नहीं करने लगते हैं । उसी प्रकार रोगादि का प्रबल कष्ट होने पर भी श्रावक धर्म का धारक **जिनधर्मी कभी अपने भावों को विकाररूप नहीं करता है** । धर्म की, त्याग की, व्रत की, साधर्मी की प्रभावना का इच्छुक होकर जो अन्त समय में अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरण की उज्ज्वलता रखते हैं उनका ही जन्म सफल होता है, व्रत तप, धर्म सफल होता है, जगत में प्रशंसा प्राप्त होती है, मरण करके उत्तम देवों में उत्पन्न होते हैं ।

मनुष्य पर्याय में उत्तमपना भी ये ही है कि – घोर आपदा वेदना आने पर भी सुमेरु पर्वत के समान अचल रहते हैं, समुद्र के समान क्षोभरहित रहते हैं । **हे धर्म के आराधक ! तुम अति घोर वेदना के आने पर भी आकुलित नहीं होना । इस कलेवर (शरीर) से भिन्न अपने ज्ञायक भाव का अनुभव करना ।**

तीव्र वेदना आने पर भी पूर्व में वेदना को जीतनेवाले हो गये उत्तम पुरुषों का ध्यान करो । हे आत्मन् ! पूर्व में जो साधु पुरुष सिंह-व्याघ्र आदि दुष्ट जीवों की दाढ़ों द्वारा चबा लिये जाने पर भी आराधना में लीन ही हुए, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

मुनियों पर आये उपसर्ग के उदाहरण –

सुकुमाल स्वामी अत्यन्त कोमल शरीर के धारी व तत्काल के दीक्षित ऐसे मुनि को **स्यालनी ने** अपने दो बच्चों के साथ तीन रात्रि-तीन दिन तक पैरों से **भक्षण करना प्रारंभ किया,** जब पेट फाड़ा तब मरण हुआ । ऐसे घोर उपसर्ग को परम धैर्य धारण कर सहकर उत्तम प्रयोजन (समाधिमरण) सिद्ध किया, तुम्हारे लिये कितनी-सी वेदना है ।

सुकौशल स्वामी की माता के जीव ने **व्याघ्री होकर उन्हें खा डाला,** तो भी वे उत्तमार्थ (समाधिमरण) से नहीं चिगे, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

भगवान गजकुमार स्वामी के समस्त अंगों में दुष्ट बैरी ने कीले ठोक दिये थे, तो भी उत्तमार्थ साधा, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

सनतकुमार नाम के महामुनि के शरीर में कुष्ट, खाज, ज्वर, कास, शोथ, तीव्रक्षुधा, वमन, नेत्रशूल, उदरशूल आदि अनेक रोग उत्पन्न हुए उनकी घोर वेदना को सौ वर्ष तक साम्यभाव से भोगी, धीरज नहीं छोड़ा, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

श्रेणिकपुत्र गंगा नदी में नाव में डूब गये; परन्तु आराधना से नहीं चिगे, तुम्हारे लिये कितनी-सी वेदना है ?

भद्रबाहु नाम के मुनि को तीव्र क्षुधा वेदना का रोग उत्पन्न हुआ, तो भी अवमौदर्य (ऊनोदर) नामक तप की प्रतिज्ञा की आराधना से नहीं चिगे, तुम्हारे लिये कितनी-सी वेदना है ?

ललितघट आदि नाम के प्रसिद्ध बत्तीस मुनि कौसांबी नदी के प्रवाह में बहते गये, तो भी आराधना मरण ही किया चिगे नहीं, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

धर्मघोष नाम के मुनि ने चम्पा नगरी के बाहर गंगा नदी के किनारे पर एक महीना के उपवास की प्रतिज्ञा करके तीव्र तृषा की वेदना से प्राण त्याग दिये, परन्तु आराधना से नहीं चिगे, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

श्रीदत्त नाम के मुनि को पूर्व जन्म के बैरी देव ने अपनी विक्रिया से घोर शीत की वेदना पहुँचाई, तो भी उनने क्लेश रहित होकर उत्तमार्थ को सिद्ध किया, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

वृषभसेन नाम के मुनि उष्ण शिलातल पर उष्ण पवन तथा उष्ण सूर्य की घोर आताप वेदना सहते हुए भी आराधना को धारण किये रहे, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

अग्नि नाम के राजपुत्र रोहेड नगर में मुनि दशा में क्रौंच नाम के वैरी द्वारा शक्ति नामक आयुध से हत्या किये जाने पर भी आराधना धारण किये रहे, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

अभयघोष नाम के मुनि के समस्त अंगों को काकंदी नगरी में चण्डवेग नाम के बैरी ने छेद डाला, तो भी घोर वेदना सहते हुये उत्तमार्थ साधा, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

विद्युच्चर नाम के मुनि ने अनेक डांस मच्छरों द्वारा खाये जाने पर भी संक्लेश रहित मरण करके उत्तमार्थ साधा, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

चिलातीपुत्र नाम के मुनि को पूर्व भव के वैरी ने शस्त्रों से घाता, फिर घावों में बड़े-बड़े कीड़े पड़ गये, जिन्होंने पूरे शरीर में चलनी की तरह छेद कर दिये, तो भी समता भावों से प्रचुर वेदना सहते हुए उत्तमार्थ साधा, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

दण्डक नाम के मुनि को पूर्वभव के वैरी यमुनावक्र ने बाणों से वेध दिया, उसकी घोर वेदना होने पर भी समता भावों से आराधना को प्राप्त किया, तुम्हारे लिये कितनी-सी वेदना है ?

अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कुम्भकारकट नगर में **घानी में पेल दिये गये** तो भी वे मुनि साम्यभावों से नहीं चिगे, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

चाणक्य नाम के मुनि को गायों के रहने के घर में सुबन्ध नाम के **वैरी ने अग्नि लगाकर जला दिया,** परन्तु वे मुनि प्रायोपगमन सन्यास से नहीं नहीं चिगे, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है?

वृषभसेन नाम के मुनि को संघ सहित कुलाल ग्राम के बाहर रिष्टाभ नाम के **वैरी ने अग्नि लगाकर जला दिये,** वे सभी परम वीतरागता पूर्वक आराधना को प्राप्त हुए, तुम्हारे लिये कितनी सी वेदना है ?

हे आराधना के आराधक ! हृदय में विचार करो - इतने मुनियों ने असहाय, एकाकी, इलाज, प्रतिकार रहित, वैयावृत्य रहित होते हुए भी, परम धैर्य धारण करके, कायरता रहित, समभावों से, घोर उपसर्ग सहित आराधना साधी । यहाँ तुम्हारे ऊपर क्या उपसर्ग हैं ? समस्त साधर्मी जन वैयावृत्य में तत्पर हैं, तो भी तुम क्यों दुःखी हो रहे हो ? ये सब बड़े-बड़े पुरुष हुए हैं उनका कोई सहायी नहीं था, कोई वैयावृत्य करनेवाला नहीं था, सभी असहाय थे । उनके ऊपर दुष्ट वैरियों ने घोर उपसर्ग किये, अग्नि में जला दिये, पर्वत से पटककर शस्त्रों से विदारे गये तिर्यंचों द्वारा विदारे गये, खाये गये, जल में डुबोये गये, कुवचनों के घोर उपद्रव हुए तो भी साम्यभाव नहीं छोड़ा । तुम्हारे ऊपर तो कोई उपसर्ग नहीं आया है, धर्म के धारक, करुणावान, धैर्य के धारक, परम हितोपदेश में उद्यमी, वैयावृत्य में उद्यमी समस्त परिकर उपस्थित है । अब आकुलता का कोई कारण नहीं है, तथा शीत-उष्ण-पवन-वर्षा का उपद्रव भी नहीं है, ऐसे अवसर में भी क्यों शिथिल हो रहे हो ?

तुम्हारे लिये जो यह रोग-जनित, अशक्तता-जनित, क्षुधा-तृषादि की वेदना हुई है उसमें परिणाम नहीं लगाओ । **साधर्मीजनों के मुख से उच्चारण किये गये जिनेन्द्र के वचनरूप अमृत का पान करो** । इससे समस्त वेदनारूप विष का अभाव होता है, परिणाम उज्ज्वल हो जाते हैं, परम धर्म में उत्साह होता है, पाप की निर्जरा होती है, कायरता का अभाव हो जाता है ।

चार गतियों के दुःखों का वर्णन : अब वेदना आने पर चारों गतियों में जो दुःख भोगे हैं उनका विचार करो । इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने कौन-कौन सी वेदना नहीं भोगी? अनेक बार क्षुधा वेदना से - तृषा वेदना से मरा है, अनेकबार अग्नि में जलकर मरा है, अनेकबार जल में डूबकर मरा है, विष भक्षणकर मरा है, अनेकबार सिंह श्वानादि द्वारा मारा गया है, पहाड़ की चोटी से गिरकर मारा है, शस्त्रों के घात से मारा है, अभी इस जीव को (तुम्हें) कितना सा दुःख है ?

जो दुःख नरक व तिर्यंचगति में दीर्घ काल तक भोगा है उसको तो केवलज्ञानी भगवान ही जानते हैं । यहाँ यह वेदना कुछ थोड़े से समय के लिये आई है, अतः धैर्य नहीं छोड़ो । जो घोर वेदना कर्मों के वश होकर चारों गतियों में भोग चुके हो, उसको करोड़ों जिह्वाओं द्वारा असंख्यात वर्षों तक कहने में भी कोई समर्थ नहीं है ।

नरक गति के दुःख

नरक में जो दुःख की सामग्री है उसकी जाति की इस लोक में है ही नहीं, कैसे दिखाई जाये? भगवान केवलज्ञानी ही जानते हैं । वहाँ पाँचवें नरक तक के उष्ण बिलों में उष्णता तो ऐसी है कि यदि सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला छोड़ो तो जमीन तक पहुँचते-पहुँचते पानी होकर बह जाय । यहाँ तुम्हारे लिये रोगजनित कितनी सी गर्मी है ? पाँचवें नरक के तीसरे भाग में तथा छठवें-सातवें नरक के बिलों में ऐसी शीत है कि सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला शीत से छार-छार होकर बिखर जाये । ऐसी वेदना इस जीव ने चिरकाल पर्यन्त भोगी है।

यहाँ मनुष्य जन्म में ज्वर आदि रोगजनित, तृषा से उत्पन्न, ग्रीष्म काल से उत्पन्न उष्ण वेदना, तथा शीत ज्वरादि से उत्पन्न, शीतकाल से उत्पन्न शीत वेदना कितनी सी है ? थोड़े ही समय तक रहेगी । अत: धर्म के धारक, ममत्व के त्यागियों को क्या यह वेदना समभावों से नहीं भोग लेनी चाहिये ? यह अवसर तो समभावों से परीषह सहने का ही है । यदि क्लेशभाव करोगे तो कर्म का उदय छोड़नेवाला नहीं है, भागकर कहाँ जाओगे ? यदि अपघात आदि से मरोगे तो नरकों में अनन्तगुणी वेदना असंख्यात काल तक भोगोगे । वहाँ तो पाप के उदय से नारकियों के स्वभाव से ही शरीर में करोड़ों रोग हमेशा ही रहते हैं ।

नरक की भूमि का स्पर्श ही करोड़ों बिच्छुओं के डंक से अधिक वेदना उत्पन्न करने वाला है । नारकियों को **क्षुधा** वेदना इतनी है कि सम्पूर्ण पृथ्वी का अन्नादि खा लेने पर भी शान्त नहीं हो, किन्तु खाने के लिये एक दाना भी नहीं मिलता है । **तृषा** वेदना इतनी अधिक है कि सभी समुद्रों का जल पी लेने पर भी नहीं बुझे, किन्तु पीने के लिये पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती है ।

नरक की पृथ्वी के पहले पटल की **मिट्टी** इतनी महा कड़वी दुर्गंधमय है कि यदि उसका एक कण इस मनुष्यलोक में आ जाय तो आधा कोस तक के पंचेन्द्रिय मनुष्य-तिर्यंच दुर्गंध से मर जायेंगे । इसी प्रकार एक-एक पटल से आधा-आधा कोस बढ़ते हुए, **सातवीं पृथ्वी के उनंचासवें पटल की मिट्टी में इतनी दुर्गंध है कि यदि उसका एक कण यहाँ आ जाये तो साढ़े चौबीस कोस तक के पंचेन्द्रिय मनुष्य तिर्यंच दुर्गंध से प्राणरहित हो जायेंगे** । इसी प्रकार का स्वरूप शब्द (आवाज) के अनुभव का दुःख भी वचनों के अगोचर है, केवली ही जानते हैं ।

बहुत आरम्भ-बहुत परिग्रह के भाव से, सप्त व्यसन के सेवन से, अभक्ष्यों के भक्षण से, हिंसादि पाँच पापों में तीव्र राग से, निर्माल्य भक्षण से, ऐसे घोर दुःखों को भोगने का पात्र नारकी होता है। नारकियों को अपार मानसिक दुःख होता है । नारकियों का शारीरिक दुःख, क्षेत्र जनित दुःख, परस्पर किया हुआ दुःख, असुरकुमारों द्वारा उत्पन्न कराया दुःख वचन के कहने के गोचर नहीं है, उसका विचार करो । नरक में आयुपूर्ण हुए बिना मरण नहीं होता है ।

तिर्यंचगति के दुःख

तिर्यंचों के पाप के उदय से जो तीव्र दुःख होते हैं, वे प्रत्यक्ष देखते ही हैं, वर्णन कितना करें ? तिर्यंचगति में पराधीनता का दुःख, वचनरहितपना, क्षुधा-तृषा-शीत-उष्णता का दुःख; ताड़ना का,

अतिभार लादने का, नासिका छेदने का, रस्सियों से बांधने का घोर दु:ख है। जिनका स्वाधीन खान-पान चलना-बैठना-उठना नहीं है, जो किसी को अपना सुख-दु:खरूप अभिप्राय बतलाकर कुछ उपाय उद्यम नहीं कर सकते हैं, किसके घर पर रहना है, किसके घर पर नहीं रहना है - वह इनके आधीन नहीं है । चांडाल म्लेच्छ निर्दयी के यहाँ पर भी रहना है, ब्राह्मणादि के आधीन भी रहना है ।

कोई अनेक प्रकार से पीटता है, त्रास देता है, कोई आहार पानी नहीं देता है, थोड़ा देता है और भार बहुत लादता है तो किसी राजादि के पास जाकर पुकार (शिकायत) करने की सामर्थ्य नहीं है; कोई दया करके रक्षा नहीं कर सकता है । नाक गल जाती है, कंधा छिल-गल जाता है, पीठ कट जाती है, हजारों कीड़े पड़ जाते हैं तो भी पत्थरों आदि का कठोर भार लादना; तथा ऐसी दशा में जब नहीं चला जा सकता है, बोझा नहीं ढोया जा सकता है तब मर्म स्थानों में चमड़े तथा लोहे की तीक्ष्ण आरियों से लाठियों से घात किया जाना व गालियाँ देकर दु:खी करके जबरदस्ती से चलाना; नासिका आदि मर्म स्थानों में रस्सी, सांकल, चमड़े के नाड़े आदि से इस तरह बांधना जिससे हलन-चलन नहीं कर सकें - ऐसे तिर्यंचों के दु:ख प्रत्यक्ष देखते ही हो, तुम्हारे लिये कितना सा दु:ख है ?

जलचर, नभचर, वनचर जीव परस्पर भक्षण कर लेते हैं, छिपे हुओं को ढूँढ-ढूँढ कर मारते हैं, निर्बल को सबल भक्षण कर लेते हैं । शिकारी, भील, धीवर, बहेलिया - ये तो जानवरों को देखते-ही साथ जहाँ भागकर जाता है, वहीं से पकड़कर ले आते हैं, मार डालते हैं, चीर देते हैं, टुकड़ों में बनाकर रांध देते हैं, भर्त्त देते हैं, इनकी कौन दया करे ? जिन्होंने पूर्व जन्म में दया धर्म नहीं धारण किया, धन के लोभी होकर अनेक झूँठ-कपट-छल किये उसका फल तिर्यंचगति में उदय में आता है, वह सब अब विचार करो ।

मनुष्यगति के दु:ख

मनुष्यों में इष्ट के वियोग का घोर दु:ख है, दुष्ट-अनिष्ट के संयोग होने का दु:ख, निर्धन होने का, पराधीन होने का, बन्दीगृह में पड़ने का, अपमान होने का, मारपीट-त्रास होने का, अंधा बहरा गूंगा लूला लंगड़ा होने का, भूख-प्यास भोगने का, शीत-उष्ण-आताप आदि भोगने का, नीचकुल नीच क्षेत्र आदि में उत्पन्न होने का, अंग-उपांग गल जाने का सड़ जाने का, वांछित आहार नहीं मिलने का इत्यादि अनेक घोर दु:ख भोगे हैं उनका विचार करो । यहाँ अभी तुम्हारे लिये कितना सा दु:ख है ?

नरक-तिर्यंचों के दु:ख तो अपार हैं ही, परन्तु पाप के उदय से अज्ञानी भाव से कषाय के वश में पड़े जीव के मनुष्य गति में भी मानसिक दु:ख भी अपार हैं । **कर्मबड़ा बलवान है ।** जिन के वचन ही मस्तक में तीक्ष्ण शूल (भयंकर दर्द) के समान कष्ट देते हैं ऐसे महादुष्ट, निर्दयी, महावक्र, अन्यायमार्गी के साथ शामिल रहने को कर्म ने उत्पन्न करा दिया उनका त्रास रात-दिन भोगना पड़ता है, हमेशा भयवान बना रहना पड़ता है ।

जो उपकारी है, प्राणों के समान प्रिय हैं, जिनके साथ रहने से अपना जीवन सफल मानते थे ऐसे स्त्री, पुत्र, मित्र, स्वामी, सेवक आदि के वियोग हो जाने का दु:ख; बाल्य अवस्था में पुत्री के विधवा हो जाने का दु:ख ; आजीविका भ्रष्ट हो जाने का, धन चोरी चले जाने का, अतिनिर्धन होने का, पेट भर भोजन नहीं मिलने का, दुष्ट स्त्री-कपूत पुत्र मिलने का, बांधवों में अपमान होने का, गुणवान स्वामी के वियोग हो जाने का, तथा अपना अपवाद होने का कलंक लगने का बड़ा दु:ख भोगता है । इसलिये हे धीर ! यहाँ समाधिमरण के अवसर में थोड़ी सी वेदना क्या है ? कुछ भी नहीं है ।

कर्म के उदय की बलवत्ता : कर्म के उदय से मनुष्य जन्म में अग्नि में जल जाता है; सिंह, व्याघ्र, सर्प, दुष्ट हाथी आदि द्वारा खा लिया जाता है; हाथ, पैर, कान नाक छेद (काट) दिये जाते हैं, शूली चढ़ाये जाते हैं, नेत्र निकाल लिये जाते हैं, जिह्वा निकाल दी जाती हैं । पाप कर्म के उदय से मनुष्य जन्म में भी घोर दु:ख भोगता है; दुष्ट बैरियों द्वारा डंडों से, वेतों से, मुद्गरों से, मुसंडों से, चमीटों से, शांकलों से पीटे जाते हैं, मारे जाते हैं, शस्त्रों से चीर दिये जाते हैं; लात, घमूका, ठोकरों की मार, पैरों की मार, कुचला जाना, जला दिया जाना आदि सब पराधीन होकर भोगता है।

यदि स्वाधीन होकर कर्म के उदयजनित शत्रु को एक बार साम्यभावों से भोग ले तो दु:खों का पात्र नहीं होगा । समस्त रोग व कष्ट अनेकबार भोगे हैं । अब तुम्हारा यह रोग शीघ्र ही निर्जरित जायेगा । रोग हुए बिना ऐसे दुष्ट जीर्ण शरीर से छूटना नहीं होता, देह से ममता नहीं घटती, धर्म में परीति नहीं बढ़ती; अत: रोग जनित वेदना को उपकार करनेवाली जानकर हर्ष ही करो ।

हे धीर ! तुमने संसार में जितने दु:ख भोगे हैं, उसका अनन्तवाँ भाग भी तुम्हारा यह दु:ख नहीं है । अब इस अवसर में तुम कायर होकर धर्म को मलिन क्यों करते हो ? जब तुमने कर्म के वश होकर चारों गतियों में घोर वेदना भोग ली है, तब यहाँ धर्मरूप तप-व्रत-संयम धारण करने पर वेदना भोगने का भय क्यों करते हो ? कर्म के वश होकर जैसी वेदना अनन्तबार भोगी है वैसी वेदना धर्म की रक्षा के लिये यदि एकबार समभावों से सहन कर लो तो बहुत बड़ी निर्जरा हो जायगी ।

हे धीर ! तुम भय करो या भय नहीं करो, इलाज करो या नहीं करो, प्रबल कर्म का उदय आने से तो नहीं रुकेगा । इलाज भी कर्म का मंद उदय होने पर ही कार्य करता है । पाप का प्रबल उदय होने पर अत्यंत शक्तिवान औषधि भी बहुत सावधानी से प्रयोग में लाने पर भी वेदना का नाश नहीं कर सकती है ।

जो असंयमी योग्य-अयोग्य सब कुछ खानेवाले हैं, त्याग-व्रत रहित हैं, रात-दिन जब सभी प्रकार से रोग को दूर करने का इलाज करते हैं तो भी वे कर्म का प्रबल उदय होने पर रोग रहित नहीं हो पाते हैं; तब तुम संयम-व्रत सहित, अयोग्य भक्षण के त्यागी, आकुलित होकर कैसे रोग रहित होने की कल्पना करते हो ?

यहाँ पर राजा के समान सभी सामग्री अन्य किसके पास होती है ? जिनको भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का विचार नहीं है; हिंसा के कारण महान आरंभ करने का जिन्हें कोई भय नहीं है, दया नहीं है; बड़े-बड़े धन्वन्तरी सरीखे अनेक वैद्य व अनेक दवाईयाँ हों तो भी वे कर्म के उदय जनित वेदना को शांत नहीं कर सकते हैं; तब तुम त्यागी-व्रती तथा तुम्हारी वैयावृत्य करने वाले भी दयावान व्रती हैं, वे कैसे तुम्हारा रोग हरण कर लेंगे ?

समस्त वेदना को शान्त करनेवाली जिनेन्द्र के वचनरूप औषधि को ग्रहण करके परम साम्यभावरूप अभेद्य चक्र को धारण करो । पूर्व कर्म के उदय रूप रस को समभावों से भोगो, जिससे अशुभ कर्म की निर्जरा हो जायेगी एवं नवीन कर्म का बन्ध भी नहीं होगा । मरण तो एक पर्याय में एक बार होना ही है, परन्तु संयम सहित मरण का अवसर तो यहाँ प्राप्त हुआ है; अतः बड़े हर्ष सहित मरण करो, जिससे अनेक जन्म धारण करके अनेक मरण नहीं करना पड़ें ।

इस बहुत ही छोटे से जीवन में धर्म छोड़कर आर्त परिणाम नहीं करो । अशुभ कर्म के जिस उदय को रोकने को इन्द्रादि सहित समस्त देव समर्थ नहीं है, उसे अल्पशक्तिधारी कैसे रोक सकेंगे ? जिस वृक्ष को भंग करने के लिये गजेन्द्र समर्थ नहीं है, उस वृक्ष को दीन निर्बल खरगोश कैसे भंग कर सकेगा ? जिस नदी के प्रबल प्रवाह में महान देह का धारक महाबलवान हाथी बहता चला जाता है, उस प्रवाह में खरगोश के बह जाने का क्या आश्चर्य करना ? जिस कर्म के उदय को तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायाण, बलभद्र तथा समस्त देवों के साथ इन्द्र भी रोकने को समर्थ नहीं है, उस कर्म को अन्य कोई रोकने में समर्थ है क्या ?

कर्म के उदय को अरोक (रोका नहीं जा सकने वाला) जानकर असाता के उदय में दुःखी नहीं होओ, शूरपना दिखाओ, साम्यभावों से कर्म की निर्जरा करो । यदि कर्म के उदय में दुःखी होवोगे दीनता दिखावोगे, रोओगे, विलाप करोगे तो वेदना नहीं घटेगी, वेदना तो बढ़ेगी ही; किन्तु धर्म, व्रत, संयम, यश, नष्ट हो जायेंगे तथा तुम आर्तध्यान से मरण करके घोर दुःख के भोगनेवाले तिर्यंचों में उत्पन्न हो जाओगे; इसमें कोई संशय नहीं है ।

असाता के उदय में सुख के लिये जो रोना है, विलाप करना है, दीनता के वचन बोलना है वह तेल के लिये बालू-रेत का पेलना है; घी के लिये जल का विलोना है; चाँवलों के लिये भूसी को फटकना है; वह केवल खेद के लिये है, आगे के लिये तीव्र बन्ध का कारण है ।

जैसे किसी पुरुष ने अज्ञानभाव के कारण पहिले किसी से धन का कर्ज लेकर खर्च कर डाला; अब अवधि पूरी होने पर वह वापिस कर्ज का धन मांगता है; **न्यायमार्गी तो हर्ष मानकर ऋण चुकाकर, अपना भार उतारकर जैसे सुखी हो जाता है; उसी प्रकार धर्म का धारक पुरुष तो कर्म के उदय में आये रोग, दारिद्र, उपसर्ग, परीषहों के भोगने को ऋण चुकाने – दूर होने के समान मानकर सुखी होता है ।** वह तो विचार करता है - यह जो आज हमारा पूर्वकृत कर्म का उदय आया है, वह अच्छे समय पर आया है । अभी हमारे पास प्रचुर ज्ञानरूप धन है, भगवान पंच परमेष्ठी की

शरण है, साधर्मियों की बड़ी सहायता है, अतः सहज ही ऋण का भार उतार कर निराकुल सुख को प्राप्त करूँगा ।

अपने कषायादि भावों से उत्पन्न किया कर्म ऐसा बलवान है कि वह ऋद्धि के, विद्या के, बन्धुजनों के, धनसम्पदा के, शरीर के, मित्रों के, देव-दानवों की सहायता के बल को आधे क्षण में ही नष्ट कर देता है । **कर्मरूप ऋण बिना चुकाये छूटता नहीं है ।**

रोग, शोक, जीवन, मरण अन्य किसी के भी उदय में नहीं आये हों, केवल तुम्हारे ही उदय में आये हैं तब तो दु:ख करना उचित है; क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग, जन्म, जरा, मरण उदय के अवसर में किसे दु:ख नहीं देते हैं? **समस्त संसारी जीवों के कर्म का उदय आता है, सभी मरण को प्राप्त होते हैं । चारों गतियों में कर्म का उदय आता है ।** अत: पूर्व अवस्था में जो कर्म का बन्ध किया था उसका उदय आने पर, आकुलता छोड़कर, परम धैर्य धारण कर, समभावों से कर्म पर विजय प्राप्त करो । समस्त दु:खों को जीतने के अवसर पर अब किसका विषाद करते हो ?

सम्यग्दृष्टि तो जन्म से ही समाधिमरण की इच्छा करता है । यह अवसर बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है । समस्त दु:खों के नाश का अवसर कठिनाई से प्राप्त हुआ है । **इस उत्साह के अवसर पर विषाद करना उचित नहीं है ।** यदि यह अवसर चूक गये तो फिर अनन्तकाल में ऐसा अवसर नहीं मिलेगा ।

संयम भंग करना महा अपराध है: अरहन्त, सिद्ध, आचार्य आदि भगवान परमेष्ठी व समस्त साधर्मियों की साक्षी में जो त्याग, व्रत, संयम ग्रहण किया था, उस त्याग को भंग कर देने में पंच परमेष्ठी की विरुद्धता (अनादर) हुई; समस्त धर्म का लोप हुआ, धर्म का लोप हुआ, धर्म को दूषण लगाया, धर्म के मार्ग की विराधना की, अपने दोनों लोक नष्ट किये । मरण तो अवश्य ही होगा । मरण और दु:ख तो व्रत-संयम को भंग कर देने पर भी दूर नहीं हो सकते हैं ।

जो कार्य राजा और पंचों को साक्षी बनाकर किये जाते हैं, यदि उन कार्यों को फिर बिगाड़ दे तो वह महापराध के तीव्र दण्ड को प्राप्त करने योग्य है, समस्त लोक में धिक्कार व तिरस्कार को प्राप्त होता है; परलोक में अनन्तकाल तक अनन्त जन्म, मरण, रोग, वियोग होने का पात्र होता है । जो त्याग आदि नहीं करता है वह तो अनादि का संसारी है ही; उसने तो त्याग, संयम, व्रत पाये ही नहीं हैं । किन्तु जो त्याग, व्रत, संयम, समाधिमरण, सन्यास लेकर फिर बिगाड़ देता है । उसे धर्म की गंध प्राप्त होना अनन्तानन्त काल में दुर्लभ है । व्रत भंग करना महा अपराध है ।

आहार की गृद्धता : आहार की गृद्धता अत्यन्त निंदनीय है । जो उत्तम पुरुष हैं वे तो क्षुधा वेदना को प्राणों का अपहरण करनेवाली जानकर उसके इलाज मात्र के लिए आहार करते हैं । उसकी भी उन्हें बड़ी लज्जा है । आहार की कथा को भी दुर्ध्यान को करनेवाली जानकर त्यागते हैं ।

यह हाड़-मांसमय देह आहार के बिना नहीं रह सकती है तथा देह के बिना तप, व्रत, संयमरूप, रत्नत्रयधर्म नहीं पल सकता है; इसलिये रत्नत्रय धर्म को पालने के लिये रस-नीरस जैसे भोजन की

विधि कर्म मिला दे वैसे निर्दोष उज्ज्वल भोजन से उदर भरता है । रसना इंद्रिय की लंपटता को कभी प्राप्त नहीं होता है ।

मनुष्य जन्म की सफलता तो आहार की लंपटता को जीतने से ही है । तिर्यंचगति में तो आहार की लंपटता से बलवान होकर के वे निर्बल का तथा परस्पर में भक्षण कर लेते हैं, आहार की गृद्धता से माता (सर्प) पुत्र का भी भक्षण कर लेती है ।

मनुष्य गति में भी नीच उच्च-जाति का भेद, समस्त आचार का भेद भोजन के निमित्त से ही है । इस लोक में जितना निंद्य आचरण है वह सब भोजन का विचार रहित के ही होता है । भोजन में जिनकी लंपटता नहीं है वे उज्ज्वल हैं (शुद्ध), वे वांछा रहित हैं, वे उत्तम हैं; नीच-उच्च जाति-कुल का भेद भी भोजन के निमित्त से ही है ।

आहार का लम्पटी घोर आरंभ करता है । बाग-बगीचों में एक अपने भोजन जीमने के स्वाद के लिये करोड़ों त्रस जीवों को मारता है, महापाप की अनुमोदना करता है, अभक्ष्य भक्षण करता है । असत्य वचन, हिंसादि महापाप के वचन आहार का लंपटी बोलता है । मिष्ट, सुन्दर भोजन के लिये क्रोध करता है, मान करता है, छल-कपट करता है, चोरी करता है, कुल की मर्यादा तोड़ता है, कुशील सेवन करता है, धन परिग्रह में मूर्च्छावान हो जाता है, अन्य लोगों को मार देता है, झूठ बोलता है, चोरी करके भी मिष्ठ भोजन के लिये धन संग्रह करता है ।

भोजन का लंपटी निर्लज्ज हो जाता है : नीच जातिवालों के साथ शामिल होकर खा लेता है, नीच कुल के मद्य-मांस खानेवालों की सेवा-नौकरी भी करने लगता है, अपने पद के योग्य उच्चता जाति-कुल का आचार नहीं देखता है, स्वादिष्ट भोजन देखकर मन बिगाड़ लेता है । बहुत धन का धनी तथा अपने धन पर सुन्दर भोजन नित्य मिलता होने पर भी नीचों के, दरिद्रियों, शूद्रों के, म्लेच्छ-मुसलमानों के घर पर जाकर भी भोजन कर लेता है ।

भोजन का लोलुपी ग्राम-नगर में बिकनेवाला, नीचे आचरण करनेवालों के द्वारा बनाया गया, तथा सभी मुसलमान आदि जिसे छूते जाते हैं, बेचते हैं ऐसे अधम भोजन को भी खरीद लाता है और खा लेता है ।

भोजन का लम्पटी तपश्चरण, ज्ञानभ्यास, श्रद्धान, आचरण, समस्त शील-संयम को दूर से ही छोड़ता है; अपना अपमान होना नहीं देखता है, अभक्ष्य में, जूँठी वस्तु में, मांसादिक में आसक्त हो जाता है । अयोग्य संगति, अयोग्य आचरण द्वारा अपने कुलक्रम को नष्ट कर देता है, मलिन कर देता है । जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता क्या-क्या अनर्थ नहीं कराती है ? शोधना, देखना तो आहार के लंपटी के है ही नहीं । ये आहार कैसा है, कहाँ से आया है ? ऐसा विचार तो आहार के लंपटी के रहता ही नहीं है ।

आहार के लम्पटी की तीक्ष्णबुद्धि भी मन्द हो जाती है, बुद्धि विपरीत हो जाती है, सुमार्ग छोड़कर कुमार्ग में प्रवीण हो जाती है, धर्म से पराङ्मुख हो जाती है । **वही देखते भी हैं -- कितने**

ही पुरुषों ने अनेक शास्त्र पढ़े हैं, वचनों से अनेक जीवों को शुभ मार्ग का उपदेश देते हैं, बहुत समय से सिद्धान्त ग्रन्थ सुनते आये हैं तो भी उनके सत्यार्थ श्रद्धान-ज्ञान आचरण नहीं होता है, विपरीत मार्ग से नहीं छूटते, हैं -वह सब अन्याय का व अभक्ष्य भोजन करने का फल है।

मुनीश्वरों के तो आहार की शुद्धता ही प्रधान है, तथा श्रावक के भी समस्त बुद्धि की शुद्धता का कारण एक भोजन की शुद्धता को ही जानो ।

आहार के लंपटी के योग्य-अयोग्य का, शोधने का, नेत्रों से देखने का स्थिरपना नहीं होता है । धैर्य रहित होकर शीघ्रता से ही भोजन करता है । जिह्वा का लंपटी मान, सम्मान, सत्कार, अपने पद की योग्यता, उच्चता आदि नहीं देखता है; मीठा भोजन मिल जाने को ही परम निधियों का लाभ होना गिनता है । भोजन का लंपटी मिष्ट भोजन देनेवाले के आधीन होकर माता-पिता, स्वामी, गुरु, का उपकार भूल जाता है तथा उनका अपकार करने लगता है । भोजन के लंपटी की विनय उसके अपने स्त्री-पुत्र भी नहीं करते हैं । **भोजन के लंपटी को धर्म का श्रद्धान भी नहीं होता है ।**

सम्यग्दृष्टि तो आत्मीक सुख को ही सुख जानता है, उसको तो इंद्रियों के विषयजनित सुख में अत्यंत अरुचि होती है ।

जिसे सुंदर भोजन में ही सुख दिखता है वह तो विपरीत ज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है । जिह्वा का लंपटी महाभिमानी उच्चकुली भी नीचों की चाटुकारता-प्रशंसा करता है । भोजन का लंपटी दीन होकर औरों का मुख देखता फिरता है, याचना करता है, नहीं करने योग्य कार्य भी करता है । एक भोजन की चाह कर-कर के शालिमच्छ (तन्दुलमच्छ) सातवें नरक में जाता है, तथा अनेक प्राणियों का भक्षण करके महामच्छ भी सातवें नरक में जाता है । देखो-सुभौम नाम का चक्रवर्ती भी देवोपनीत दशांग भोगों से तृप्त नहीं हुआ, किसी विदेशी के लाये फल के रस की गृद्धता से कुटुम्ब सहित समुद्र में डूबकर सप्तम नरक में गया, औरों की क्या कथा कहें ?

ऐसे जिनेन्द्र के वचनरूप अमृत का पान करने से भी यदि तुम्हारी आहार में- रसवान भोजन में गृद्धता नष्ट नहीं हुई है, तो जानते हैं कि अभी तुम्हें असंख्यात काल अनन्तकाल संसार में ही परिभ्रमण करना है; तथा क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग, जन्म, मरण अनन्तबार भोगना है ।

यदि तुम इस प्रकार विचारते हो-मैं तो भोजन-पान करके क्षुधा-तृषा को मिटाकर तृप्त हो जाऊँगा, किन्तु आहार से कभी तृप्ति नहीं होती । क्षुधा-तृषा की वेदना तो असाता कर्म के नाश होने पर मिटेगी, आहार करने से नहीं घटेगी, आहार करने से तो अधिक गृद्धता बढ़ेगी । जैसे अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती, समुद्र नदियों से तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार आहार से भी तृप्ति नहीं होती, लालसा अधिक बढ़ती है ।

लाभान्तराय के अत्यंत क्षयोपशम से उत्पन्न अत्यंत बल-वीर्य-तेज-कान्ति करनेवाला मानसिक आहार असंख्यातकाल तक स्वर्ग में इन्द्र-अहमिंद्र का सुख भोगा तो भी क्षुधा वेदना की अभावरूप तृप्ति नहीं हुई । चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, प्रतिनारायण, भोगभूमि के मनुष्यादि को लाभान्तराय-भोगान्तराय

के अत्यंत क्षयोपशम से प्राप्त हुए दिव्य आहार को बहुत समय तक भोग करके भी क्षुधा वेदना दूर नहीं हुई तो तुम्हारे द्वारा कुछ थोड़ा सा अन्नादि खा लेने से कैसे तृप्ति होगी ?

अतः धैर्य धारण करके आहार की इच्छा जीतने का प्रयत्न करो । आहार कितना भक्षण करोगे, व इसका स्वाद कितनी देर तक है ? जिह्वा के स्पर्श मात्र तक स्वाद है, निगलने के बाद स्वाद नहीं, पहले स्वाद नहीं, केवल अधिक तृष्णा बढ़ाता है । समस्त प्रकार के आहार का भक्षण तुमने अनादि से किया है, तब भी तृप्ति नहीं हुई, तो अब अन्त समय में जब कण्ठ में प्राण आ गये हैं, तब थोड़े से आहार से कैसे तृप्ति होगी ? अतः दृढ़ता धारण करके अपना-आत्मा का हित करो ।

लोक में ऐसा कोई भी अपूर्व आहार नहीं है जिसे तुमने नहीं भोगा हो । जब समस्त समुद्र का जल पीकर भी तृप्त नहीं हुए तो ओस की बूंद को चांटकर कैसे तृप्त होवोगे ? पूर्व समय में भी रात्रि दिन आहार के लिये ही दुःखी होकर जीवन व्यतीत किया है । देखो-बहुत समय तक तो आहार के स्वाद लेने की इच्छा रहती है वह दुःख; फिर आहार की विधि मिलाने को सेवा, व्यापार आदि करके धन कमाने में दुःख; दीनता करते हुये पराधीन रहने में भी दुःख; धन खर्च करने में दुःख; स्त्री-पुत्र आदि जो आहार की विधि मिलाते हैं, उनके आधीन होने का दुःख ।

बहुत समय तक आप भोजन बनाने का आरंभ करते हो, किन्तु जब तक भोजन तैयार नहीं हो जाता तब तक उसकी इच्छा करते रहते हो वह दुःख; कोई रस आदि सामग्री नहीं लाता है तो उसे लाने को जाने का दुःख; अपनी इच्छा के अनुसार नहीं मिले तो दुःख; मीठा भोजन खाते समय खट्टे की इच्छा, फिर चरपरे की इच्छा, फिर मीठे की इच्छा, इत्यादि बार-बार अनेक इच्छायें जहाँ तक नहीं मिटी वहाँ सुख कहाँ है? दुःख ही है । जिह्वा का स्पर्श हुआ और निगल लेता है । श्रेष्ठ-मनोवांछित आहार भी एक क्षण में जिह्वा के मूल के नीचे उतर जाता है । भोजन का स्वाद तो जिह्वा का अग्रभाग ही जानता है । जब तक जिह्वा ने स्पर्श नहीं किया तब तक स्वाद नहीं आता है; जब जिह्वा के नीचे उतर गया तो स्वाद नहीं । एक क्षण मात्र को आहार के स्पर्श का स्वाद है जिसको पाने के लिये घोर दुर्ध्यान करता है, महासंकट भोगता है, किन्तु भोजन करके भी इच्छा रहित नहीं होता है ।

इसलिये ऐसे दुःख देनेवाले आहार के त्याग का समय आया है, इस समय को महादुर्लभ, अक्षय निधान के लाभ के समान जानो । आहार के स्वाद से अति विरक्त होओ । यदि यहाँ दृढ़ परिणामों से आहार से विरक्त होओगे तो स्वर्गलोग में जाकर उत्पन्न हो जाओगे जहाँ हजारों वर्ष तक क्षुधा वेदना उत्पन्न नहीं होगी । **वहाँ जितने सागर की आयु है उतने हजार वर्ष तक तो भोजन की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती है** । बाद में जब कुछ इच्छा उत्पन्न होती है तब कंठ में से अमृत के परमाणु ऐसे बह जाते हैं, जिनसे एक क्षण मात्र में इच्छा का अभाव हो जाता है । यह समस्त प्रभाव असंख्यात वर्ष तक क्षुधा वेदना नहीं होने का, पूर्व जन्म में आहार की लालसा छोड़कर अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग तप करने का है ।

ये तिर्यंचगति-मनुष्यगति में जो क्षुधा-तृषा रोगादि के घोर दुःख अनन्तकाल से भोग रहे हो, वह सब आहार की लंपटता का प्रभाव है । जिस-जिसने आहार की लंपटता छोड़ी है वे क्षुधादि वेदना रहित-कवलाहार रहित दिव्य देव हुए हैं । यदि अभी इस वेदना से दुःखी हो रहे हो तो आहार के त्याग करने में ही दृढ़ता धारण करो, कुछ थोड़े समय में ही वेदना रहित होकर कल्पवासी देवों में जाकर उत्पन्न हो जाओगे; किन्तु आहार भक्षण करके तो वेदना रहित नहीं होवोगे ।

समस्त दुःखों का मूल कारण इस जीव को एक शरीर का ममत्व है । इसकी ममता से इनकी रक्षा के कारण से ही अनन्तानन्त काल तक दुःख भोगे हैं । जितने क्षुधा-तृषा-रोगादि परीषहों के दुःख हैं, वे समस्त एक देह की ममता के कारण से हैं । जो महापुरुष देह में ममता के त्यागी हुए हैं उन्हें हाड़-मांस-चाममय महादुर्गन्धित रोगों की भरी देह धारण नहीं करना पड़ती । जब तक संसार का अभाव नहीं होता तब तक इन्द्रादि देवों की दिव्य देह प्राप्त होती है, उसके बाद शील-संयम आदि सामग्री पाकर निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं ।

यदि देह की वेदना से दुःखी हो रहे हो तो शीघ्र ही देह की ममता-लालसा छोड़ दो, जिससे देह नहीं धारण करना पड़े । यदि आहार की चाह से दुःखी हो रहे हो, तो आहार का त्याग कर दो; जिससे फिर क्षुधा-तृषादि वेदना से आहार ग्रहण नहीं करना पड़े । क्रम से देह को इस तरह कृश करो, जिससे वात-पित्त-कफ का विकार मंद होता जाय, परिणामों की विशुद्धता बढ़ती जाय। इस प्रकार आहार के त्याग का क्रम पहले कहा ही है । बाद में अन्त समय में जितनी शक्ति हो उसके अनुसार जल का भी त्याग करना ।

अंतिम समय में जब तक शक्ति रहे तब तक पंच नमस्कार मंत्र का तथा बारह भावनाओं का स्मरण करना । जब शक्ति घटने लग जाये तो अरहन्त नाम का ही, सिद्ध नाम मात्र का ही ध्यान करना ।

जब शक्ति नहीं रहे तब धर्मात्मा, वात्सल्य अंग के धारक, स्थितिकरण कराने में होशियार ऐसे साधर्मी निरन्तर चार आराधना व पंच नमस्कार का मधुर स्वरों से बड़ी धीरता से श्रवण करावें, जैसे आराधक के निर्बल शरीर में व मस्तक में वचनों से खेद या दुःख उत्पन्न न हो तथा सुनने में चित्त लग जाय उस प्रकार श्रवण करावें । बहुत आदमी मिलकर कोलाहल नहीं करें एक-एक साधर्मी अनुक्रम से धर्म श्रवण व जिनेन्द्रनाम स्मरण करावे । आराधक के निकट बहुत जनों का व सांसारिक ममत्व-मोह की कथा-वार्ता करनेवालों का आगमन रोक देवे । पंच नमस्कार या चार शरण इत्यादि वीतराग कथा सिवाय नजदीक में अन्य कोई चर्चा नहीं करे । दो चार धर्म के धारक सिवाय अन्य का समागम नहीं रहे ।

आराधक भी **सल्लेखना के पाँच अतिचार** दूर से ही त्याग दे । उन पाँच अतिचारों को कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टः ॥१२९॥

अर्थ :– सल्लेखना धारण करके जो जीने की इच्छा करता है कि–दो दिन और जी जाऊँ तो ठीक है, वह **जीविताशंसा** नाम का अतिचार है १; मरण की इच्छा करना कि–अब मरण हो जाय तो ठीक है, वह **मरणाशंसा** नाम का अतिचार है २; भय करना कि–देखो मरण में कैसा दु:ख होगा, कैसे सहूँगा, वह **भय** नाम का अतिचार है ३; अपने स्वजन पुत्र–पुत्री–मित्र आदि की याद करना, वह **मित्रस्मृति** नाम का अतिचार है ४; आगामी पर्याय में विषय–भोग–स्वर्गादिकी चाह करना, वह **निदान** नाम का अतिचार है ५। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने सल्लेखना के पाँच अतिचार कहे हैं।

भावार्थ :– सल्लेखना मरण में समस्त प्रकार का त्याग करके, केवल अपने शुद्ध ज्ञायकभाव का अवलम्बन लेकर, समस्त देहादि से ममत्व छोड़कर सन्यास ग्रहण किया, फिर भी जीने की इच्छा करना, मरण की इच्छा करना, भय करना, मित्रों में अनुराग कर याद करना, आगे सुख की इच्छा करना – वे सब परिणामों की उज्ज्वलता नष्ट करके राग–द्वेष–मोह बढ़ानेवाले परिणाम हैं; अतएव वे सभी सल्लेखना को मलिन करनेवाले अतिचार कहे गये हैं ।

निर्विघ्न आराधना को धारण करने से गृहस्थ को स्वर्गलोग में महर्द्धिक देव होना तो पहले वर्णन किया है; पश्चात् संयम धारण करके नि:श्रेयस अर्थात् निर्वाण को प्राप्त होता है ।

नि:श्रेयस का स्वरूप कहनेवाला श्लोक कहते हैं :-

नि:श्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
नि:पिबति पीतधर्मा सर्वै र्दु:खैरनालीढ: ॥१३०॥

अर्थ :– इस प्रकार समाधिमरण धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टि अंत समय में सल्लेखना सहित बारह व्रतों को धारण कर लेता है; वह जिनेन्द्र के धर्मरूप अमृत का पानकर तृप्त हो जाता है । पीतधर्मा अर्थात् जिसने धर्म का आचरण पिया है ऐसा धर्मात्मा श्रावक अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग का महर्द्धिक देवपना असंख्यात काल तक भोगकर, फिर मनुष्यों में उत्तम राज्यादि वैभव पाकर, फिर संसार–शरीर–भोगों से विरक्तहोकर, शुद्ध संयम अंगीकार करके नि:श्रेयस जो निर्वाण है, उसे नि:पिबति अर्थात् आस्वादन करता है, अनुभव करता है । **कैसा है नि:श्रेयस ?** निस्तीर अर्थात् जिसके किनारे का कोई अंत नहीं है तथा दुस्तर है अर्थात् जिसका पार नहीं है, तथा सुख जल का समुद्र है ऐसे निर्वाण को समस्त दु:खों से अस्पृष्ट रहता हुआ भोगता है ।

आगे और भी नि:श्रेयस का स्वरूप कहते हैं :-

जन्मजरामयमरणै: शोकै: दुखै: भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्ध सुखं नि:श्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

अर्थ :– जन्म, जरा, रोग, मरण से रहित; शोक, दु:ख, भय से रहित; नित्य, अविनाशी, समस्त पर का संयोग रहित; केवल शुद्ध, सुख स्वरूप जो निर्वाण है, उसे नि:श्रेयस कहते हैं ।

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुज: ।
निरतिशया निरवधयो नि:श्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥१३२॥

अर्थ :– विद्या अर्थात् केवलज्ञान, अनन्तदर्शन तथा अनन्तवीर्य, स्वास्थ्य अर्थात् परमवीतरागता, प्रल्हाद अर्थात् अनन्त सुख, तृप्ति अर्थात् विषयों की निर्वांछकता, शुद्धि अर्थात् द्रव्यकर्म-भाव कर्म की रहितता से आत्म स्वरूप को प्राप्त हुए, निरतिशया अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानादिगुणों की हीनता-अधिकता से रहित, निरवधयः अर्थात् काल की मर्यादा रहित होते हुए ऐसा जो निर्वाण उसमें निश्रेयस अर्थात् सुखरूप जैसे होते हैं, वैसे रहते हैं ।

भावार्थ :– धर्म के प्रभाव से आत्मा निःश्रेयस में रहता है । केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तशक्ति, परमवीतरागतारूप निराकुलता, अनन्तसुख, विषयों की निर्वांछकता, कर्ममल रहितता इत्यादि गुणरूप होकर गुणों की हीनाधिकता रहित, काल की मर्यादा रहित, सुखरूप अनन्तानन्त काल तक रहते हैं।

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः ॥१३३॥

अर्थ :– अनन्तानन्त कल्पकाल व्यतीत हो जाने पर भी मुक्त जीवों को विकार अर्थात् स्वरूप के संबंध में अन्यथाभाव नहीं देखा जाता है, न ही प्रमाण से जानने में आता है । तीनों लोकों को संभ्रमन (उलट-पुलट) करने में समर्थ ऐसा कोई उत्पात हो जाने पर भी सिद्धों को विकार नहीं होता है ।

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ।
निःकिट्टिकालिमाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥१३४॥

अर्थ :– जो निर्वाण को प्राप्त हुए मुक्त जीव हैं वे किट्ट कालिमा रहित, कांतिमान छवि को धारण करनेवाले स्वर्ण के समान, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रूप मलरहित-दैदीप्यमान होते हुए तीन लोक की शिखामणिरूप लक्ष्मी (शोभा) को धारण करते हैं ।

समाधि धारक पुरुष स्वर्ग में जाते हैं, ऐसा श्लोक द्वारा कहते हैं :-

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥१३५॥

अर्थ :– समाधि से उपार्जित सम्यग् धर्म अभ्युदय अर्थात् इन्द्रादि पदवी के रूप में फलता है । **कैसा अभ्युदय फलता है ?** पूजा (प्रतिष्ठा), धन, आज्ञा, ऐश्वर्य द्वारा तथा बल, परिकर के लोग, कामभोग की सामग्री की प्रचुरता तीनलोक में नहीं समाती है; तीनलोक में आश्चर्यरूप अभ्युदय इस सम्यक् धर्म का ही फल है ।

भावार्थ :– तीन लोक में जो देखने में, सुनने में, विचारने में नहीं आता ऐसा अद्भुत अभ्युदय सम्यग्धर्म ही का फल है । धर्म के प्रभाव से ही इन्द्रपना अहमिन्द्रपना प्राप्त होता है ।

सप्तम – सल्लेखना अधिकार

समाप्त

परिशिष्ट–७

धर्म का स्वरूप

निश्चय से जो मोह के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकल्प समूह से तथा वचन एवं शरीर के संसर्ग से भी रहित जो शुद्ध आनन्दरूप आत्मा की परिणति होती है, उसे ही धर्म इस नाम से कहा जाता है। लोक में सब ही प्राणियों ने चिरकाल से जन्म-मरणरूप संसार की कारणीभूत वस्तुओं के विषय में सुना है, परिचय किया है, तथा अनुभव भी किया है; किन्तु मुक्ति की कारणीभूत जो शुद्ध आत्मज्योति है, उसकी उपलब्धि उन्हें सुलभ नहीं है।

जिस प्रकार अभेद स्वरूप से अग्नि में उष्णता रहती है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान है; इस प्रकार की प्रतीति का नाम शुद्ध सम्यग्दर्शन, और उसी प्रकार से जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है; और इन दोनों के साथ उक्त आत्मा के स्वरूप में स्थित होने का नाम सम्यक्चरित्र है। जो भव्यजीव भ्रम से रहित होकर अपने को कर्म से अस्पृष्ट, बन्ध से रहित, एक, परके संयोग से रहित तथा पर्याय के सम्बन्ध से रहित शुद्ध द्रव्यस्वरूप देखता है उसे निश्चय शुद्धनय पर निष्ठा रखनेवाला समझना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानरूप अग्नि के निमित्त से शरीररूप सांचे में से कर्मरूप मैनमय शरीर के गल जाने पर आकाश के समान शुद्ध अपने चैतन्य स्वरूप को देखनेवाला योगी सिद्ध हो जाता है। निश्चय से देखा जाये तो जीव कर्मबन्धन से रहित शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा है, उसका किसी भी बाह्य पर पदार्थ से प्रयोजन नहीं है। – **पद्मनंदि पंचविंशतिका**

समाधिमरण का स्वरूप

सम्यग्ज्ञानी पुरुष का यह सहज स्वभाव ही है कि वह समाधिमरण की ही इच्छा करता है, उसकी हमेशा यही भावना रहती है। अन्त में मरण समय निकट आने पर वह इस प्रकार सावधान होता है जिस प्रकार वह सोया हुआ सिंह सावधान होता है - जिसको कोई पुरुष ललकारे कि हे सिंह ! तुम्हारे ऊपर वैरियों की फौज आक्रमण कर रही है, तुम पुरुषार्थ करो और गुफा से बाहर निकलो। जब तक वैरियों का समूह दूर है तब तक तुम तैयार हो जाओ और वैरियों की फौज जीत लो। महान पुरुषों की यही रीति है कि वे शत्रु के जागृत होने से पहले तैयार होते हैं।

उस पुरुष के ऐसे वचन सुनकर शार्दूल तत्क्षण ही उठा और उसने ऐसी गर्जना की कि मानों आषाढ मास में इन्द्र ने ही गर्जना की हो। मृत्यु को निकट जानकर सम्यग्ज्ञानी पुरुष सिंह की तरह सावधान होता है और कायरपने को दूर से ही छोड़ देता है।

संसार में अब तक काल ने किसको छोड़ा है और अब किसको छोड़ेगा ? हाय ! हाय ! ! देखो, आश्चर्य की बात कि आप निर्भय होकर बैठे हो, यह आपकी अज्ञानता ही है। आपकी क्या होनहार है ? यह मैं जानता हूँ। इसलिए आपसे पूछता हूँ कि आपको अपना और पर का कुछ ज्ञान भी है ? हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? यह पर्याय पूर्ण कर कहाँ जायेंगे ? पुत्रादि से प्रेम करते हैं सो वे भी कौन हैं ? हमारा पुत्र इतने दिन तक (जन्म लेने से पहिले) कहाँ था, जो इसके प्रति हमारी ममत्वबुद्धि हुई और हमें इसके वियोग का शोक हुआ ? इन सब प्रश्नों पर सावधानी पूर्वक विचार करो और भ्रमरूप मत रहो। – **पं. गुमानीराम जी**

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरतैं न बचावै कोई ॥



– **छहढाला : पं. दौलतराम जी**

अष्टम – प्रतिमा अधिकार

अब श्रावक धर्म के ग्यारह पद हैं, जिसकी जैसी सामर्थ्य हो वैसा ही पद ग्रहण करो, ऐसा कहते हैं :-

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥

अर्थ :– भगवान सर्वज्ञदेव ने श्रावक धर्म के ग्यारह स्थान कहे हैं । वे स्थान पूर्व के स्थानों के गुणों सहित क्रम से बढ़ते हुए रहते हैं । श्रावक के ग्यारह पद ये हैं: दर्शन १, व्रत २, सामायिक ३, प्रोषधोपवास ४, सचित्त त्याग ५, रात्रिभोजन त्याग ६, ब्रह्मचर्य ७, आरम्भ त्याग ८, परिग्रह त्याग ९, अनुमति त्याग १०, उद्दिष्ट त्याग ११-ऐसे ये ग्यारह पद हैं ।

जो ऊपर के पद का आचरण करेगा, उसके पिछले पद का समस्त व्रत नियम आदि का आचरण धारण रहेगा । ऐसा नहीं होता कि ऊपर के पद के व्रत-नियम तो धारण कर लिए, नीचे के पद के हैं ही नहीं, छोड़ दिये । इस प्रकार जो ब्रह्मचर्य पद धारण करेगा उसके दर्शन आदि छह स्थानों का आचरण नियम से होता है, आठवें पद में नीचे के सातों स्थानों का आचरण होता ही है । अब **प्रथम दर्शन पद** के धारक का लक्षण कहते हैं :-

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पंचगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१३७॥

अर्थ :– जो सम्यग्दर्शन के पच्चीस मल दोषों से रहित हो; निरन्तर संसार-वास से, शरीर के साथ से, इन्द्रियों के भोगों से विरक्त हो; पंच परमेष्ठी ही जिसको शरणभूत हों; सर्वज्ञभाषित जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करनेवाला हो; वह सत्यार्थ मार्ग में ग्रहण करने योग्य दार्शनिक श्रावक प्रथम पद का धारक होता है ।

भावार्थ :– जो स्याद्वादरूप परमागम के प्रसाद से निश्चय-व्यवहार रूप दोनों नयों से निर्णयपूर्वक स्वतत्त्व-परतत्त्व को जानकर दृढ़ श्रद्धानी हो; जाति-कुलादि अष्ट मद रहित हो; अभिमान की मंदता से स्वयं ही समस्त गुणीजनों के गुण विचारकर अपने को तृण समान लघु मानता हो ।

यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के जोर से विषयों में राग नहीं घटा है, गृहस्थी के सभी आरंभों में प्रवर्तता है, तो भी ऐसा जानता है - ये हमारे समस्त मोह के प्रभाव से अज्ञानभाव हैं, जो त्यागने योग्य हैं, कब इनसे छूटूँ ? अभी मेरा रागभाव परिणामों को चलायमान करता है ।

धर्मात्माजनों के उत्तम गुण ग्रहण करने में जिसे अनुराग हो, रत्नत्रय के धारकों में बड़ी विनय हो, धर्म के धारकों से बड़ा अनुराग रखता हो वही सम्यग्दृष्टि होता है । **जो देहादि से तथा राग-द्वेष-मोहादि से अनादि का मिला हुआ है; तो भी अपने ज्ञायक स्वभाव को भेदविज्ञान**

के बल से भिन्न अनुभव करता है; जीव से मिली हुई देह को भी वस्त्र के समान अलग (न्यारा) जानता है ।

अठारह दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग में ही देवबुद्धि से उनकी आराधना करता है, दोष सहित में देवबुद्धि नहीं करता है । धर्म दयारूप ही मानता है, हिंसा में कभी तीनकाल में धर्म नहीं मानता। आरंभ-परिग्रह रहित ही गुरु है, अन्य गुरु नहीं-ऐसा दृढ़ श्रद्धान होता है ।

कोई जीव किसी जीव को मारता नहीं है, जिलाता नहीं है, दु:खी नहीं करता है, सुखी नहीं करता है, उपकार-अपकार नहीं करता है, दरिद्री-धनाढ्य नहीं करता है, केवल अपने भावों से बांधे गये कर्मों के उदय से जीता है, मरता है, सुख-दु:खी होता है, दरिद्री-धनाढ्य होता है, अपने कर्मों के उदय से प्राप्त संसार के भोग भोगता है ।

भक्ति से पूजे व्यंतर आदि देव, मन्त्र, यन्त्रादि समस्त ही पुण्यहीन का कुछ भी उपकार करने में समर्थ नहीं हैं । पुण्य नष्ट हो जाने पर सभी मित्रादि भी शत्रु हो जाते हैं । पुण्य-पाप के प्रबल उदय से माटी, धूल, भस्म, पत्थर आदि देवता के रूप में होकर उपकार-अपकार करते हैं ।

सम्यग्दृष्टि के तो ऐसा निश्चय है : जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस प्रकार से जन्म-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख होना जिनेन्द्र भगवान ने दिव्यज्ञान से जाना है उस जीव के, उस देश में, उस काल में, उसी प्रकार से जन्म-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख नियम से होते हैं, उसे दूर करने को कोई इन्द्र, अहमिन्द्र, जिनेन्द्र समर्थ नहीं हैं । जो ऐसा समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानता है, श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि प्रथम पद का धारक दार्शनिक श्रावक जानना चाहिये । १ ।

अब **दूसरे व्रत पद** का लक्षण कहते हैं :-

निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि ।
धारयते नि:शल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिक: ॥१३८॥

अर्थ :- जो अतिचार रहित पाँच अणुव्रत और सात शील (तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत) इन बारह व्रतों को माया-मिथ्या-निदान शल्यों से रहित होकर धारण करता है, वह व्रतियों के बीच व्रती श्रावक माना जाता है । २ ।

अब **तीसरे सामायिक** पद का लक्षण कहते हैं :-

चतुरावर्तत्रितयश्चतु:प्रणाम: स्थितो यथाजात: ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोग शुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१३९॥

अर्थ :- सामायिक में पंच नमस्कार के पहले व अन्त में तथा थोस्सामि के पहिले चारों दिशाओं में एक-एक प्रणाम, तीन-तीन आवर्त करता है; कायोत्सर्ग में स्थित, बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से रहित, दो आसन में से किसी एक आसन में, देववंदन के पहले व पश्चात् दो बार झुककर, दिन में तीन

बार वन्दना सहित सामायिक करनेवाले को सामायिक नाम के तीसरे पद में जानना । इसकी विशेष विधि बहुज्ञानी गुरुओं की परिपाटी से कहे अनुसार प्रमाण है । ३ ।

अब **चौथे प्रोषध पद** का लक्षण कहते हैं :-

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे-मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥१४०॥

अर्थ :- एक-एक माह में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी इस प्रकार चार पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर, आहार-पानी आदि का त्यागकर या नीरस आहार या अल्प आहार या छाँछ आदि मात्र ही लेकर, शुभ ध्यान में लीन होकर प्रोषध पूर्वक नियम से उपवास करनेवाले को, जो चारों पर्वों में इसी प्रकार रहता है, उस प्रोषध नाम के चौथे पद में जानना । ४ ।

अब सचित्त त्याग नामक पंचमपद का लक्षण कहते हैं :-

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥

अर्थ :- जो श्रावक मूल, फल, पत्र, डाली, करीर (कोंपल, वंशकिरण), कंद, फल और बीज बिना अग्नि से पकाये, कच्चे हो; उन्हें निरर्गल होकर भक्षण नहीं करता है, वह दया की मूर्ति ही सचित्तविरत नाम के पांचवें पद में स्थित जानना । ५ ।

अब **रात्रिभुक्ति विरत नामक छठे पद** का लक्षण कहते हैं :-

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥१४२॥

अर्थ :- जो प्राणियों पर अनुकम्पा (दया) रूप परिणामों को मन में धारण करनेवाला पुरुष रात्रि में अन्न से बना हुआ भोजन; पान अर्थात् जल, दूध, शरबत इत्यादि पीने योग्य; खाद्य अर्थात् पेड़ा, लड्डू, पाक आदि; लेह्य अर्थात् स्वाद लेने योग्य मात्र इलायची, सुपारी, लौंग, औषधि आदि- इस प्रकार चार तरह से कहने से समस्त खाने योग्य-पीने योग्य सामग्री को रात्रि में नहीं खाता है, वह रात्रि भुक्तिविरत नामक छठे पद का धारी श्रावक है । ६ ।

अब **ब्रह्मचर्य नामक सप्तम पद** का लक्षण कहते हैं :-

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद् विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

अर्थ :- यह शरीर माता के रुधिर व पिता के वीर्यरूप मल से उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसका बीज मल ही है । यह शरीर मल को ही उत्पन्न करता है, अतः यह मल की योनि है । यह सदा ही नव द्वारों से मल को ही बहाता रहता है, अतः गलन्मल है । महादुर्गन्धयुक्त तथा घृणा का स्थान है । ऐसे शरीर को देखते हुए जो कामभाव से विरक्त हो जाता है, वह ब्रह्मचारी सप्तम पद वाला है।

यह ब्रह्मचारी अपनी विवाहित स्त्री के साथ, निकट एक स्थान में शयन नहीं करता है; पूर्व में भोगे हुए भोगों की कथा-वार्तालाप-विचार नहीं करता है; कामोद्दीपन करने वाले पुष्ट आहार का त्याग करता है; राग उत्पन्न करनेवाले वस्त्र-आभरण नहीं पहिनता है; गीत, वादित्र, नृत्य आदि का सुनना-देखना त्याग देता है; फूलों की माला, सुगन्ध, विलेपन, इत्र, फुलेल आदि त्याग देता है; शृंगार कथा, हास्य कथारूप काव्य, नाटक आदि का पढ़ना-सुनना त्याग देता है; तांबूल आदि राग बढ़ानेवाली वस्तुओं का दूर से ही त्याग करता है; उसके ही ब्रह्मचर्य नाम का सातवाँ श्रावक का पद होता है। ७।

अब परिणाम बढ़ने पर **आठवें आरंभ त्याग पद** का लक्षण कहते हैं :-

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४॥

अर्थ :- जो जीव हिंसा के कारण हैं ऐसे नौकरी (सेवा), कृषि, व्यापार आदि से मुख्यता से, तथा असिकर्म, लेखनकर्म, शिल्पकर्म से भी जिनमें हिंसा होती है, ऐसे आरंभों से विरक्त होता है, वह आरंभनिवृत नामक आठवें पद का धारी श्रावक है।

भावार्थ :- वह धन उत्पन्न करने के कारण समस्त व्यापारादि पाप के आरंभ त्याग देता है। स्त्री-पुत्रादि को समस्त परिग्रह का बंटवारा करके थोड़ा-सा धन अपने पास रख लेता है, नया धन नहीं कमाता है। अपने पास जो थोड़ धन रख लिया था उसमें से दु:खी-भूखों का उपकार करना, अपने शरीर के साधन औषधि-भोजन-वस्त्रादि में लगाना, तथा अपना हित चाहनेवालों, अपने से ममत्व रखनेवालों के लिये व साधर्मियों के दु:ख निवारण के लिये देता है, अन्य पाप के आरंभ में नहीं लगता है।

जो मर्यादारूप थोड़ा धन अपने पास रख लिया था, उसे कोई चोर, हिस्सेदार, दुष्ट, राजादि छीन ले तो क्लेश नहीं करता है; पुन: कमाने का यत्न नहीं करता है; **त्याग करके ऊपर ही चढ़ता है**। वहाँ विचारता है-अहो ! मैंने रागी-मोही होकर इतना परिग्रह रख लिया था जो चला गया, कर्मोदय ने मेरा बड़ा उपकार किया। ममता, आरंभ, रक्षा, भयादि समस्त क्लेश से छूट गया, इसका बड़ा दुर्ध्यान था, वह सहज ही छूट गया; ऐसा भाव जिसके होता है, उसके आरंभनिवृत नाम का आठवाँ पद है। ८।

अब **नवमें परिग्रहत्याग नामक पद** का लक्षण कहते हैं :-

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः ॥१४५॥

अर्थ :- दश प्रकार के बाह्य परिग्रह में ममत्व छोड़कर के, हमारा किंचित् भी कुछ भी नहीं है ऐसा निर्ममत्वपने में लीन रहता है; देहादि, रागादि, समस्त परद्रव्य- पर पर्यायों में आत्मबुद्धि रहित होकर, अपने अविनाशी ज्ञायक भाव में स्थिर रहता है; जो भोजन, स्थान, वस्त्रादि कर्मोदय से मिला है उससे अधिक नहीं चाहता हुआ, संतोषरूप होकर, समस्त वांछा-दीनता रहित हो जाता है; साथ

में जो परिचित परिग्रह है उससे भी अत्यन्त विरक्त रहता है; वह परिग्रहत्यागी श्रावक नवमें पदवाला होता है ।

भावार्थ :– नवमें पदवाले श्रावक के रुपया, मोहर, स्वर्ण, चाँदी, गहना, आभरण आदि सकल परिग्रह का त्याग है । जिसके पास शीत-उष्णता की वेदना दूर करने मात्र के लिये कोई अल्पमोल का आवश्यक प्रामाणिक वस्त्र होता है; तथा हाथ-पैर धोने के लिये, पानी पीने के पात्र-मात्र परिग्रह होता है, वह नवमें परिग्रहत्याग पद वाला है ।

जो गृह में या अन्य एकान्त स्थान में शयन-आसन आदि करता है; भोजन-वस्त्रादि जो घर के लोग दे देते हैं सो वह ले लेता है; औषधि-आहार-पान-वस्त्रादि की, तथा शरीर की टहल कराने की इच्छा हो तो स्त्री-पुत्रादि को कहता है; घर के स्त्री-पुत्रादि कर दें तो करा ले; नहीं करें तो उनसे कुछ उजर नहीं करता कि हमारा मकान है, धन है, आजीविका है, हमारा कहना क्यों नहीं करते हो ? ऐसी उजर (शिकायत) या परिणाम में संक्लेशादि विचार नहीं करता है, वह परिग्रहत्याग नाम का नवमाँ पद है । ९ ।

अब **दशवें अनुमतित्याग** नामक पद का लक्षण कहते हैं :-

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥

अर्थ :– जो आरंभ में, परिग्रह में, इसलोक संबंधी कार्य जो विवाह आदि, गृह बनवाना, वणिज, सेवा इत्यादि क्रिया में, कुटुम्ब के लोग पूछें तो भी अनुमति नहीं देता है; तुमने अच्छा किया-ऐसा मन-वचन-काय से नहीं प्रकट करता; रागादि रहित समबुद्धि वाला है, वह श्रावक अनुमतिविरत है।

भावार्थ :– जो खारे, कडुवे, मीठे, स्वादिष्ट, वेस्वाद भोजन में राग-द्वेष रहित होकर सुन्दर-असुंदर नहीं कहता; तथा बेटा-बेटी के, लाभ-अलाभ के, हानि-वृद्धि के, दु:ख-सुख के सभी कार्यों में हर्ष-विषाद रहित होकर अनुमोदना नहीं करता है; उसके अनुमतिविरत नाम का दशवाँ पद होता है । १० ।

अब **ग्यारहवें उद्दिष्ट त्याग पद** का लक्षण कहते हैं :-

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

अर्थ :– जो समस्त परिग्रह का त्याग करके, अपने घर से मुनियों के रहने के वन में जाकर, गुरुओं के समीप व्रतों को ग्रहण करके, खण्ड-वस्त्र धारण करके भिक्षा द्वारा भोजन करता हुआ तपश्चरण करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है ।

भावार्थ :– जो समस्त गृह, कुटुम्ब से विरक्त होकर, वन में जाकर, मुनियों के निकट दीक्षा लेकर, एक कोपीन (लंगोटी) मात्र या कोपीन तथा खण्ड वस्त्र जिससे पूरा शरीर नहीं ढकता - सिर

ढांके तो पैर नहीं ढंके, पैर ढांके तो मस्तक नहीं ढंके, केवल कुछ डांस, मच्छर, शीत, आताप, वर्षा, पवन के परीषह में सहारा रहे - तथा भिक्षा-भोजन अयाचीक वृत्ति पूर्वक मौन सहित ग्रहण करता है ।

अपने लिये बनाया गया भोजन ग्रहण नहीं करता है; निमन्त्रण करने पर बुलाने पर नहीं जाता है; अपने लिये कुछ भी आरंभ किया जान ले तो भोजन का त्याग कर देता है; वन में या ग्राम के बाहर वस्तिका में रहता है; उपसर्ग परीषह आ जाय तो निर्भय होकर सहता है; कायरता या दीनता नहीं दिखाता है; ध्यान-स्वाध्याय में सदाकाल लीन रहता है ।

गृहस्थ के घर बिना बुलाये जाता है, गृहस्थ ने स्वयं के लिये जो भोजन बनाया हो उसमें से, भक्ति पूर्वक दिया हुआ, ग्रहण करता है । रस सहित हो या रस रहित हो, कडुआ-खारा-मीठा जो गृहस्थ दे, वह समभावों से आहार ग्रहण करता है; दिन में एकबार आहार-पान ग्रहण करता है; अंतराय हो जाय तो उपवास करता है । अनशनादि तप में शक्ति अनुसार उद्यमी रहता है । ऐसा उद्दिष्ट आहार त्याग नाम का ग्यारहवाँ उत्कृष्ट श्रावक का स्थान है । इस प्रकार श्रावक धर्म के ग्यारह पद कहे हैं, उनको अपनी शक्ति प्रमाण अंगीकार करना चाहिये । ११ ।

अब **श्रेष्ठ ज्ञाता का स्वरूप कहते हैं :-**

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८॥

अर्थ :- पाप इस जीव का वैरी है, धर्म वह बन्धु है - ऐसा दृढ़ निश्चय करता हुआ **जो अपने को समय अर्थात् शुद्ध आत्म स्वरूप को जानता है, वही अपने कल्याण को जाननेवाला होता है ।**

भावार्थ :- इस जीव का संसार में दुःख देनेवाला कोई वैरी ही नहीं है, एक अपने विषय-कषायों के मिथ्या (विपरीत) अनुराग से उत्पन्न किया पाप कर्म वही वैरी है, अन्य तो बाह्य निमित्त मात्र हैं । अन्य जो दुर्वचन बोलनेवाले, दोषों को कहनेवाले, धन-आजीविका-स्थान को जबरदस्ती से छीननेवाले, ताड़न-मारन बंधन-छेदन करनेवाले हैं, वे मेरे उत्पन्न किये पापकर्म के उदय से संबधित हैं । जो **अपने पापकर्म के सिवाय अन्य पुरुष को वैरी मानता है वह मिथ्याज्ञानी है; उसने जिनेन्द्र के आगम को जाना ही नहीं है** । इसी प्रकार इस जीव का उपकारक बंधु यदि कोई है तो वह पुण्य कर्म ही है । **जो अपने पुण्य कर्म के उदय के सिवाय अन्य को उपकारक जानता है, वह भगवान के आगम का ज्ञानी नहीं, मिथ्याज्ञानी है ।**

श्रावकाचार के उपदेश को समाप्त करते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी फल प्रतिपादन करते हैं :-

येन स्वयं वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥१४९॥

अर्थ :– जो पुरुष अपने आत्मा को कलंक व अतिचारों से रहित निर्दोष ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नों का करण्ड अर्थात् पिटारा की पात्रता को प्राप्त कर लेता है, उस पुरुष को तीनलोक में सर्व वांछित अर्थ की सिद्धि उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार अपने पति को प्राप्त स्त्री की सर्व-अर्थ सिद्धि हो जाती है ।

भावार्थ :– जिस पुरुष ने अपने आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नों का पात्र बनाया उसे तीन भुवन की सर्वोत्कृष्ट अर्थ की सिद्धि स्वयमेव ही प्राप्त हो जाती है, ऐसा नियम है ।

अंतिम प्रार्थना (मंगल)

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीताज्जिनपतिपद पद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१५०॥

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों का अवलोकन करनेवाली सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी मुझे उसी प्रकार सुखी कर दे, जिस प्रकार कामिनी (स्त्री) कामी पुरुष को सुखी कर देती है; जैसे शुद्धशीला अर्थात् शुद्ध स्वभाव की धारक माता अपने पुत्र का पालन करती है, वैसा ही मेरा पालन करो; तथा जैसे शीलादि गुण ही हैं आभूषण जिसके ऐसी कन्या कुल को पवित्र करती है, उसी प्रकार हे सम्यग्दर्शन ! मुझे भी पवित्र करो, उज्ज्वल करो ।

भावार्थ :– जैसे काम के आताप से दुःखी पुरुष को कामिनी सुखी कर देती है, जैसे शुद्धि स्वभाव की धारक माता अपने पुत्र का पालन करती है, तथा जैसे गुणवान कन्या कुल को पवित्र करती है, उसी प्रकार जिनपति अर्थात् शुद्धात्मा को भावों में साक्षात् अवलोकन करानेवाली सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी मेरे मिथ्याज्ञान जनित आताप को दूर करके मुझे नित्य अनन्त ज्ञानादि रूप आत्मीक सुख को प्राप्त कराओ; संसार के जन्म-जरा मरणादि दुःख निवारण करके मेरे अनन्त चतुष्टयादि स्वरूप को पुष्ट करो, तथा राग-द्वेष-मोह रूप मल को दूर करके मेरे आत्म स्वरूप को उज्ज्वल करो ।

अष्टम सल्लेखना अधिकार समाप्त

मूल ग्रन्थ कर्ताः आचार्य संमतभद्र स्वामी

ढुंढारी भाषा-टीका कर्ताः पं. सदासुखदासजी कासलीवाल

हिन्दी भाषा परिवर्तन कर्ताः मन्नूलाल जैन वकील, सागर

वचनिकाकार प्रशस्ति

दोहा – मगंल श्री अरंहतजिन, मंगल श्री जिनवानि ।
सिद्ध साधु जिन धर्म नीति, करैं विघ्न की हानि ॥१

चौपाई – देश धर्मधर कूं आधार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।
स्वामि समंतभद्र रचिसार, कीनों भव्यनि को उपकार ॥२
याकी महिमा कहत न बनै, सुनि धारैं कर्मनिकों हनै ।३
याकी देश वचनिका होय, तो याकूं समझैं सब कोय ॥४
या विचारि उद्यम मैं किया, तुच्छ बुद्धि माफिक लिखि दिया ।५
चूक भूलि लखि हास्य न करो, दोष टालि गुण संग्रह करो ॥६
राग द्वेष मद वशि हम परै, चूक रहित गुण कैसे धरै ।७
ज्ञानी ऐसा करि निरधार, दया सहित तिष्ठो अविकार ॥८
संवत् उगणीसै उगणीस, मगसर बदि अष्टमि दिनईस ।९
लिखने का आरंभ जु किया, शुभ उपयोग माहिं चित दिया ॥१०
संवत् उगणीसै अरु बीस, चैत कृष्ण चउदसि निज शीस ।११
पूरण करि स्थापन जब किया, शुभ उद्यम का निज फल लिया ॥१२

जयपुर नगर मनोज्ञ अति, धन मति धर्म विचार । वर्णाश्रम आचार को, अति उज्ज्वल आधार ॥१३
यामै राजकरै निपुण, रामसिंह जन पाल । क्रोध लोभ मद टारिकै, विघ्न हरण को ढाल ॥१४
जैनीजन इहां बहु बसैं, दया धर्म निज धार । स्याद्वाद ज्ञायक प्रबल, मत एकांत निवार ॥१५
गोत्र काशलीवाल है, नाम सदासुख जास । सहली तेरापंथ में करैं जु ज्ञान अभ्यास ॥१६
जिन सिद्धान्त प्रसाद तैं, लिखी वचनिका सार । पढ़ि सुनि श्रद्धा भक्तितैं, करो धर्म निरधार ॥१७
मेरे शुभ उपयोग तैं, बढ़यो जु अति उत्साह । तातैं उद्यम करि लिखी, अन्य नहीं कछु चाह ॥१८
समयसार गुन कहन कूं, शक्त न सुरगुरु होय । ताको शरण सदा रहो, रागादिक मलधोय ॥१९
हे ! जिनवानी भगवती, भुक्ति मुक्ति दातार । तेरे सेवन तैं रहै, सुख मय नित अविकार ॥२०
दुःख दरिद्र जाण्यो नहीं, चाह न रही लगार । उज्ज्वल यशमय विसतरयो, यो तेरो उपकार ॥२१
अड़सठि वरसजु आयु के, बीते तुझ आधार । शेष आयु तव शरण तैं, जाहु यही मम सार ॥२२
जितनै भव तितनैं रहों, जैन धर्म अमलान । जिनवर धर्म बिना जु मम, अन्य नहीं कल्यान ॥२३
जिनवाणी सूं वीनती, मरण वेदना रोक । आराधन के शरणतैं, देहु मुझे परलोक ॥२४
बाल मरण अज्ञानतैं, करे जु अपरंपार । अब आराधन शरणतैं, मरण होहु अविकार ॥२५
हरि अनीति कुमरण हरो, करो जु ज्ञान अखण्ड । मोकूं नित भूषित करो, शास्त्र जु खण्ड ॥२६

संवत् ११२० चैत्र कृष्णा चतुर्दशी मंगलवार के दिन मूलग्रन्थ समाप्त भयो ।

मूलग्रन्थ समाप्त

जैनतत्व ज्ञान संबंधी वाक्यांश

१. धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। परद्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर अपने ज्ञातादृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव और ज्ञायक स्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण है वह धर्म है। पृ. २

२. इस देह में पैर के नख से लगाकर मस्तक तक जो ज्ञान है, चैतन्य है वह हमारा धन है। इस ज्ञानभाव से भिन्न एक परमाणु मात्र भी हमारा नहीं है। पृ. २२

३. मैं ज्ञान स्वरूप आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ, अत: विनाश को भी प्राप्त नहीं होऊंगा। हमारा लोक तो हमारा ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, जिसमें सभी पदार्थ प्रतिबिंबित हो रहे हैं। जिसमें समस्त पदार्थ झलकते हैं ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव का अवलोकन करता हूँ। पृ. २२

४. आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्तारूप भाव प्राण हैं, उनका किसी भी काल में नाश नहीं होता है। पृ. २३

५. वस्तु का जो निजरूप है, वह अपने स्वरूप के भीतर ही है। इसमें पर का प्रवेश ही संभव नहीं है। पृ. २३

६. सम्यग्दृष्टि अहिंसा को ही निश्चयरूप धर्म जानता है। पृ. २४

७. जो सम्यग्दृष्टि है उसे आत्मा का अनुभव तो होता ही है। पृ. २५

८. जो सम्यक्त्व होता है वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव होने पर होता है। अव्रत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हुआ है। मिथ्यात्व के अभाव से तो सच्चा आत्मतत्त्व का तथा परतत्त्व का श्रद्धान प्रकट होता है। अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से विपरीत राग भाव का अभाव होता है। पृ. २६

९. जो सम्यग्दृष्टि है, वह वस्तु का सच्चा स्वरूप जानता ही है। पृ. २८

१०. यहां संसारी जीव मिथ्यात्व के प्रभाव से रागीद्वेषी देवों की पूजन प्रभावना देखकर प्रशंसा करते हैं। पृ. २९

११. जो किसी का अपराध नहीं करता, वैर नहीं करता उसकी विराधना देव भी नहीं कर सकते। पृ. २९

१२. यक्ष, क्षेत्रपाल, पद्मावती, चक्रेश्वरी इत्यादी को जिनशासन की रक्षक मानकर पूजते हैं, वह सब तीव्र मिथ्यात्व का प्रभाव है। पृ. २९

१३. क्षेत्र, कालादि के निमित्त से जो भावी होनहार है, उसे टालने में कोई भी समर्थ नहीं है। पृ. ३१

१४. प्रवचनसार सिद्धान्तग्रन्थ में ऐसा कहा है - राग, द्वेष, मोह ये बंध के ही कारण हैं। पाप कर्म का ही बंध करते हैं। पृ. ३३

१५. अज्ञानरूप अंधकार को स्याद्वादरूप परमागम के प्रकाश से दूरकर, स्वरूप और पररूप का प्रकाश-ज्ञान करना वह प्रभावना नाम का अंग है। पृ. ३५

१६. जिसका आठ अंगों में से यदि एक भी अंग कम है - प्रकट नहीं हो पाया है उसके संसार का अभाव नहीं होता है। पृ. ३६

१७. आत्मा तो अपने स्वभाव से ही अत्यन्त पवित्र है। पृ. ३९

१८. जगत के पापी मिथ्यादृष्टि लोगों ने निश्चयरूप निर्मल तत्त्वों का सरोवर देखा ही नहीं है, और कभी ज्ञानरूप रत्नाकर समुद्र भी नहीं देखा है। समता नाम की अत्यन्त शुद्ध नहीं भी नहीं देखी है। पृ. ४०

१९. यह भगवान जिनेन्द्र का धर्म अनेकान्तरूप है निश्चय-व्यवहार का विरोध रहित ही धर्म है, सर्वथा एकान्तरूप जिनेन्द्र का धर्म नहीं है। पृ. ४२

२०. आगम की आज्ञा मानने में ही हित है। पृ. ४२

२१. जो जैनी है और अपने को अव्रती जानता है, वह सम्यग्दृष्टि से अपनी वंदना पूजा कैसे करायेगा ? पृ. ४५

२२. कोई देवादि पूजा करने से धन, आजीविका, स्त्री, पुत्रादि देने में समर्थ नहीं है । पृ. ४७

२३. जिसके एक भी मद हो, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है । पृ. ४९

२४. हे आत्मन् ! तेरा स्वभाव तो सकल लोकालोक को जाननेवाला केवलज्ञानरूप है । पृ. ५०

२५. मिथ्यादर्शन जनित मिथ्याभाव जीव को अपना स्वरूप भुलाकर ऐश्वर्य में उलझाकर नरक में पहुँचा देता है। पृ. ५१

२६. तप तो वह है जिससे कर्मशत्रुओं के उदय को जीतकर शुद्धात्मदशा में लीन हो जाये । पृ. ५४

२७. जिसके पच्चीस दोष रहित आत्मा का श्रद्धानभाव है उसी के निश्चय सम्यग्दर्शन होने का नियम है । पृ. ५८

२८. मेरा स्वरूप तो ज्ञाताद्रष्टा है । मुनिपना-क्षुल्लकपना भी पुद्गल का भेष है । पृ. ७७

२९. पांच पापों का अभाव होना ही चारित्र है । पृ. ८७

३०. अपने ज्ञायक भावरूप स्वभाव में चर्या है उसी का नाम स्वरूपाचरण चारित्र है । पृ. ८८

३१. मेरा उपार्जन किया-हुआ मेरा कर्म ही वैरी है । पृ. १५८

३२. मिथ्यादर्शन के उदय के जोर से बड़ा भ्रम है तथा अनंतानुबंधी कषाय के उदय से अभिमान है, वह थोड़े दिनों में ही नरक का नारकी बना देगा । पृ. १८२

३३. अनाकुलता लक्षण है जिसका ऐसा स्वाधीन अनन्तज्ञान, वह ही सुख है । पृ. २२३

३४. जगत का स्वभाव चिन्तवन करने से संसार परिभ्रमण से भय लगने लगता है, तथा शरीर का स्वभाव चिन्तवन करने से शरीर से रागभाव का अभाव होता है । पृ. २२४

३५. इस जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्व नाम के कर्म के वश में होकर अपने स्वरूप की और पर द्रव्यों के स्वरूप की पहिचान नहीं की । जो पर्याय कर्म के उदय से प्राप्त की उसी पर्याय को अपना स्वरूप जान लिया । पृ. २२९

३६. मैं एक जाननेवाला, ज्ञायकरूप, अविनाशी, अखण्ड, चेतनालक्षण, देहादि समस्त पर द्रव्यों से भिन्न आत्मा हूँ । रागद्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभादि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मेरे ज्ञायक स्वभाव में विकार हैं । वे मेरा रूप नहीं है, पर हैं । पृ. २२९

३७. अब भगवान पंच परमेष्ठी की शरण ग्रहण करके अपने अजर, अमर, अखण्ड, ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को ग्रहण करो । ऐसा अवसर पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है । पृ. २३२

३८. जातिकुल में अहंकार करना मिथ्यादर्शन है । हे आत्मन् ! तुम्हारा जाति-कुल तो सिद्धों के समान है । पृ. २३४

३९. भगवान के परमागम के सेवन के प्रभाव से मेरा आत्मा रागद्वेष आदि से भिन्न आपने ज्ञायक स्वभाव में ही ठहर जाय, रागादि के वशीभूत नहीं हो, वही मेरे आत्मा का हित है । पृ. २४३

४०. समस्त द्रव्यों में मिला हुआ होने पर भी एक आत्मा का भिन्न अनुभव होना, वही ज्ञानोपयोग है । पृ. २४३

४१. समस्त परिग्रह में आत्मबुद्धि का मूल मिथ्यात्व नाम का परिग्रह ही है । पृ.२४७

४२. सम्यक्त्व बिना जो मिथ्यादृष्टि है वह जिनराज की पूजन करे, निर्ग्रन्थ गुरु की वंदना करे, समोशरण में जाये, जिनागम का अभ्यास करे उत्कृष्ट तप करे तो भी अनन्तकाल तक संसार में ही निवास करता रहेगा । पृ. २५३

४३. अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को राग-द्वेष आदि दोषों से लिप्त नहीं होने देना वह अपने आत्मा का वैयावृत्य है । पृ. २५५

४४. सम्यग्दर्शन में तथा अर्हन्तभक्ति में नाम भेद है, अर्थ भेद नहीं है । पृ. २६०

४५. नाम, जाति, कुलादि तेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ । पृ. २८९

४६. वीतराग धर्म के धारकों को तो अपने आत्मा का शुद्धपना साधने योग्य है । पृ. २९२

४७. जो अपने आत्मा को देह से भिन्न ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोगमय, अखण्ड, अविनाशी, जन्म-जार-मरण रहित अनुभव करता है ध्याता है, उसे शौचधर्म होता है । पृ. ३०१

४८. अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप के बिना अन्य किंचिन्मात्र भी मेरा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ, ऐसे अनुभव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं । पृ. ३०१

४९. समस्त विषयों में अनुराग छोड़कर ब्रह्म जो ज्ञायक स्वभाव आत्मा उसमें चर्या अर्थात् प्रवृत्ति करना वह ब्रह्मचर्य है । पृ. ३११

५०. जो इच्छा करता है उसका पुण्य भी नष्ट हो जाता है, तथा पाप का बंध हो जाता है । पृ. ३१७

५१. मिथ्यात्व का जहर उगले बिना सत्यधर्म प्रवेश ही नहीं करता है । पृ. ३१९

५२. जो भवितव्यता है वह दुर्लंघ्य है । यदि मरण का, हानि का, वियोग का दिन आ जाय तो उसे एक क्षण भी टालने में कोई इन्द्र जिनेन्द्र, नरेन्द्र समर्थ नहीं है । पृ. ३४८

५३. मुझमें और परमात्मा में गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है, शक्ति-व्यक्ति का ही भेद है । मैं सिद्ध समान, निर्विकार, स्वाधीन, सुखस्वरूप हूँ । पृ. ३४८

५४. कर्म के उदय जनित पर पुद्गलों की विनाशीक पर्यायों में जिसकी आत्मबुद्धि होती है वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है । पृ. ३५९

५५. जो सिद्धात्मा है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो परमेश्वर है । इसलिये मेरे स्वरूप से अन्य मुझे उपासना करने योग्य दूसरा नहीं है तथा मैं किसी अन्य के द्वारा उपासना करने योग्य नहीं हूँ । पृ. ३६१

५६. अपने चित्त को विकल्परहित करना ही परमतत्त्व है, तथा अनेक विकल्पों से उपद्रवित करना ही अनर्थ है। पृ. ३६१

५७. अपने आत्मज्ञान के भ्रम से उत्पन्न दुःख आत्मा का ज्ञान करने से हा नष्ट होता है । पृ. ३६१

५८. शरीर को आत्मा जानना वह देह धारण करने की परिपाटी का कारण है, तथा अपने स्वरूप को आत्मा जानना, वह अन्य शरीर धारण करने से छूटने का कारण है । पृ. ३६२

५९. ज्ञानी अपने सिद्ध समान शुद्ध स्वरूप की आराधना करके सिद्धपने को प्राप्त हो जाते हैं । यह आत्मा भी अपने आत्मा की आराधना करके परमात्मा हो जाता है । पृ. ३६३

६०. परमात्मपद का बीज बहिरात्मत्पना छोड़कर अंतरात्मपने में लीन होना है । पृ. ३६४

६१. अनादि के भ्रम से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषायादि कर्मबंध के कारण मेरे दुर्निवार हैं । यद्यपि मैं तो शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय निर्मल नेत्र का धारक सिद्ध स्वरूप हूँ । पृ. ३६६

६२. मेरा स्वरूप ज्ञातादृष्टा, अविनाशी, अखण्ड है, कर्म की उदयजनित परिणति से भिन्न है । पृ. ३६७

६३. मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यादि के प्रभाव से जीव के समस्त ज्ञानादि गुण नष्ट हो जाते हैं । पृ. ३८६

६४. सुख तो पांचों पापों के त्याग से होता है । मिथ्यादृष्टि पांचों पाप करके अपने धन की वृद्धि, कुटुम्ब की वृद्धि, सुख की वृद्धि चाहता है । इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति होने में सुख जानता है, यही मोह से अंधापना है । पृ. ३९४

६५. ये स्वामी, सेवक, पुत्र, स्त्री, मित्र, बांधवों को जो अपना मानते हो वह मिथ्यामोह की महिमा है, इसी को मिथ्यात्व कहते हैं । पृ. ३९६

शुद्ध जैनाचार संबंधी वाक्यांश

१५. अभक्ष्य-भक्षण करने से ही लोगों की वृद्धि सत्यार्थ धर्म से रहित हो गई है। पृ. १४६
१६. उपवास इंद्रियों को जीतने के लिये किया जाता है। पृ. १६५.
१७. इस पंचमकाल में वीतरागी भावलिंगी साधु कोई विरला ही देशान्तर में रहता है। पृ. १८१
१८. शास्त्र पढ़ाने के समान दूसरा दान नहीं है। पृ. १८५
१९. इस दुःखमकाल में यहाँ सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति होती ही नहीं है। पृ. १८८
२०. दान के उत्तम पात्र तो निर्ग्रन्थ वीतरागी समस्त मूलगुण उत्तरगुण के धारक, दश लक्षण धर्म के धारक, बाईस परीषह सहनेवाले साधु है। पृ. १९१
२१. अनेक एकांती परमागम की शरण रहित आत्मज्ञान रहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र है। पृ. १९२
२२. इस कलिकाल में लोग भगवान का कहा नय-विभाग तो समझते नहीं है, तथा शास्त्रों में लिखा है, उस कथनी को नय विभाग से जानते नहीं हैं तथा अपनी कल्पना से ही पक्ष ग्रहण करके चाहे जैसे इच्छानुसार प्रवर्तते हैं। पृ. २०२
२३. मुनिराज तो समस्त स्त्री मात्र का साथ ही नहीं करते हैं, स्त्रियों में उपदेश नहीं करते हैं। पृ २४१
२४. पात्रदान होना महाभाग्य से जिनका भला होना होता है उन्हीं के द्वारा होता है। पृ. २४८
२५. करोड़ों उपकार करने पर भी जैसे कृतघ्न अपना नहीं होता है उसी प्रकार शरीर भी अनेक प्रकार से सेवा करने पर अपना नहीं होता है। पृ. २६२
२६. पंचमकाल के धनाढ्य पुरुष तो पूर्व भव से ही मिथ्याधर्म, कुपात्र दान, कुदान आदि में लिप्त होकर ऐसे कर्म बांधकर आये हैं कि उनकी नरक तिर्यंचगति की परिपाटी असंख्यात काल अनन्तकाल तक नहीं छूटेगी। पृ. २८६
२७. जिसे अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, स्याद्वादरूप परमागम, दयारूप धर्म में वात्सल्य है वही संसार परिभ्रमण का नाश करके निर्वाण को प्राप्त करता है। पृ. २८७
२८. यदि रोगी का जहर दूर नहीं हो, तो वैद्य स्वयं जहर नहीं खा लेता है। पृ. २९१
२९. फल तो जैसी हमारी चेष्टा, परिणाम, आचरण होगा वैसा प्राप्त होगा। पृ. २९३
३०. जैसे टेढ़े म्यान में सीधी तलवार प्रवेश नहीं करती है उसी प्रकार कपट से वक्र परिणामी के हृदय में जिनेन्द्र का आर्जव रूप सरल धर्म प्रवेश नहीं करता है। पृ. २९६
३१. अभक्ष्य-भक्षण करनेवालों के व अन्याय के विषय तथा धन भोगनेवालों के परिणाम इतने मलिन होते हैं कि करोड़ोंबार धर्म का उपदेश व समस्त सिद्धान्त शास्त्रों की शिक्षा बहुत वर्षों से सुनते रहने पर भी वह कभी हृदय में प्रवेश नहीं करती है। पृ. ३०२
३२. जिनको पचास वर्ष शास्त्र सुनते हुये हो गये हैं, किन्तु जिन्हें धर्म के स्वरूप ज्ञान ही नहीं हुआ है, वह सब अन्याय का धन तथा अभक्ष्य भक्षण का फल है। पृ. ३०२
३३. जो कृतघ्नी, उपकार को लोपनेवाले हैं उनके पाप का सन्तान क्रम असंख्यात भवों तक करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से दान करने से दूर नहीं होता है। विश्वासघाती सदा ही मलिन है। पृ. ३०२
३४. पांचव्रतों का धारण, पांच समितियों का पालन, चार कषायों का निग्रह, तीन दण्डों का त्याग, पांच इंद्रियों की विजय को जिनेन्द्र के परमागम में संयम कहा है। पृ. ३०३
३५. संयम पाकर उसे बिगाड़ने के समान बड़ा अनर्थ दूसरा नहीं है। पृ. ३०४
३६. जैसे पाषाण में जल प्रवेश नहीं करता है उसी प्रकार सद्गुरुओं का उपदेश कठोर पुरुष के हृदय में प्रवेश नहीं करता है। पृ. ३१३

३७. संयम का पालन करके भोगों की इच्छा करना तो उसी प्रकार की मूर्खता है जैसे कोई चिन्तामणि रत्न को एक कौंडी में बेच देता है, अपनी रत्नों से भरी समुद्र में दौड़ती हुई नाव को ईंधन के लिये तोड़ देता है, धागे के लिये मणियों के हार को तोड़ता है, राख के लिये गोशीर चन्दन को जला डालता है। पृ. ३१७

३८. इस संसार में जब अनन्त पर्यायें दु:ख की प्राप्त होती है, तब एक पर्याय इंद्रियजनित सुख की प्राप्त होती है। पृ. ३१७

३९. इस संसार में स्वयंभूरमण समुद्र के समस्त जल के बराबर तो दु:ख हैं, तथा एक बाल की नोंक पर जितना जल लगता है उसके अनंतभाग करने पर उसमें से एक भाग के बराबर इंद्रियजनित सुख है। पृ. ३१७

४०. जो वचनों से अपनी प्रशंसा करता है वह नीचगोत्र कर्म का बंध करता है। पृ. ३२१

४१. भावों में से विषयों की इच्छा, रागद्वेषादि उपद्रव, मिथ्यात्वरूप महामल दूर हुए बिना मुनि का आचार तथा का आचार उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता है। पृ. ३२४

४२. अवमौदर्यतप भोजन में लालसा घटाने के लिये किया जाता है। पृ. ३३०

४३. जैसे मूढ़ वैद्य रोगी का विपरीत इलाज करके उसे प्राण रहित कर देता है, उसी प्रकार अज्ञानी गुरु भी शिष्य को संसार समुद्र में डुबो देता है। पृ. ३३३

४४. इस कलिकाल में तपस्वीजनों में भी सत्य आचार के धारी अति विरले ही दिखाई देते हैं. केवल भेषधारी ही बहुत दिखाई पड़ते हैं। पृ. ३३४

४५. सम्यक देशनालब्धि का प्राप्त होना अनन्तकाल में भी दुर्लभ है। धर्मोपदेश भी मिल जाय; किन्तु योग्य श्रोतापना बिना धर्म ग्रहण नहीं होता है। पृ. ३४१

४६. मिथ्यादर्शन से जिनके ज्ञान नेत्र ढंक रहे हैं उनका आचार विनयादि सभी कार्य संसार बढ़ाने के लिये हैं। पृ. ३६६

४७. इस लक्ष्मी के समान आत्मा को ठगने वाला दूसरा नहीं है। पृ. ३७६

४८. कर्म का उदय आकाश पाताल में कहीं भी नहीं छोड़ता है। पृ. ३७८

४९. जैसे गरम अधन में चावल के दाने चारों तरफ दौड़ते हुए पकते हैं, उसी प्रकार संसारी जीव कर्मों से तपाया हुआ चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। पृ. ३८१

५०. बहुत आरम्भ करनेवाले बहुत परिग्रह में आसक्त, घोर हिंसक परिणामी, स्वामी द्रोही, गुरु द्रोही, विश्वासघाती, कृतघ्नी, अन्यायमार्गी, धर्मद्रोही भी नरक की आयु बांधते हैं। पृ. ३८४

५१. कोई धन, कुटुम्ब आदि जीव के साथ नहीं जोता है, अपने भावों से कमाया हुआ पुण्य-पाप कर्म ही साथ जाता है। पृ. ३८६

५२. जैसे मल का बनाया हुआ घड़ा, मल से ही भरा, फूटा हुआ चारों तरफ मल को ही बहाता है, वह जल से धोने पर कैसे पवित्र हो सकात है ? पृ. ३९८

५३. जगत में जितनी अपवित्र वस्तुएं हैं, वे देह के एक-एक अवंयव के स्पर्श से होती है, देह के संबंध बिना लोक में अपवित्रता कहाँ से होगी ? पृ. ३९८

५४. धर्म की रक्षा के लिये देह का त्याग करना सल्लेखना है। पृ. ४२९

५५. अनादिकाल से मिथ्यात्व सहित अनन्तानन्तबार वाल मरण किये। यदि एक बार भी पंडित मरण करता तो फिर मरण का पात्र नहीं होता। पृ. ४३२

५६. समाधिमरण समान इस जीव का उपकार करनेवाला कोई नहीं है। पृ. ४३७

५७. आहार का लंपटी निर्लज्ज होता है, आचार विचार रहित होता है । पृ. ४४६
५८. संसार में जितने भी दुःख हैं वे सभी विषयों के लम्पटी, अभिमानी तथा लोभी को होते हैं । पृ. ४४७
५९. यह किनारे पर पहुँची नाव है, यदि अब प्रमादी रहोगे तो डूब जायेगी । पृ. ४५०
६०. भगवान सर्वज्ञदेव ने श्रावक के ग्यारह स्थान (प्रतिमायें) कहे हैं । वे स्थान पूर्व के स्थानों के गुणों सहित क्रम से बढ़ते हुए रहते हैं । पृ. ४६५
६१. जो अपने पाप कर्म के सिवाय अन्य पुरुष को वैरी मानता है, वह मिथ्याज्ञानी है; उसने जिनेन्द्र के आगम को जाना ही नहीं है । पृ. ४७०

जीव-जन्मादि रहित नित्य ही है तथापि मोही जीव को अतीत-अनागत का विचार नहीं है, इसलिए प्राप्त पर्याय मात्र ही आपकी स्थिति मानकर पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर हो रहा है ।

—पं. टोडरमल जी: मोक्षमार्ग प्रकाशक

कीच सौ कनक जाकै, नीच सौ नरेश पद, मीत सी मिताई, गरुवाई जाकै गार सी ।
जहर सी जोग जाति, कहर सी करामाति, हहर सी हौंस, पुद्गल छवि छार सी ॥
जाल सो जग विलास, भाल सौ भुवन वास, काल सौ कुटुम्ब काज, लोक लाज लार सी ।
सीट सौ सुजसु जानै, वीठसौ वखत मानै, ऐसी जाकी रीति, ताहि बन्दत बनारसी ॥

—प. बनारसीदास जी: नाटक समयसार

चाहत है धन होय किसी विधि, तो सब काज सरैं जियरा जी ।
गेह चिनाय करूं गहना कछु, ब्याह सुतासुत बांटिये भाजी ॥
चिंतत यों दिन जांहि चले, जम आन अचानक देत दगा ही ।
खेलत खेल खिलारि गये, रहि जाय रूपी शतरंज की बाजी ॥

— पंडित भूधरदासजी: जैन शतक

दया दान पूजा शील पूंजी सों अजानपने, जितनों हंस तू अनादिकाल में कमायगो ।
तेरे बिन विवेक की कमाई न रहे हाथ, भेदज्ञान बिना एक समय में गमायगो ॥
अमल अखंडित स्वरूप शुद्ध चिदानंद, याके वणिज मांहि एक समय जो रमायगो ।
मेरी समझ मान जीव अपने प्रताप आप, एक समय की कमाई तू अनंतकाल खायगो ॥

-पं. बनारीसदास जी

भजन अहो ! यह उपदेश माहिं, खूब चित्त लगावना ।
होयगा कल्याण तेरा, सुख अनन्त बढ़ावना ।
रहित दूषन विश्व भूषन, देव जिनपति ध्यावना ।
गगनवत् निर्मल अचल मुनि, तिनहिं शीश नमावना ।
धर्म अनुकम्पा प्रधान, न जीव कोई सतावना ।
सप्त तत्त्व परीक्षा करि, हृदय श्रद्धा लावना ।
पुद्गलादिक तैं पृथक, चैतन्य ब्रह्म लखावना ।

या विधि विमल सम्यक्त्व धरि, शंकादि पंक वहावना।
रुचैं भव्यनि कौं वचन ये, शठनि को न सुहावना ।
चन्द्र लखि जिमि कुमुद विकसैं, उपल नहिं विकसावना ।
"भागचन्द्र" विभाव तजि, अनुभव स्वभावित भावना ।
या शरण न अन्य जगतारण्य में कहुं पावना ।

- पं. भागचन्द्र जी

अब हम आतम को पहिचाना जी
जैसा सिद्धक्षेत्र में राजत तैसा घट में जाना जी ।
देहादिक परद्रव्य न मेरे, मेरा चेतनवाना जी ।
द्यानत जो जाने सो स्याना, नहिं जाने सो दीवानाजी ।

- पं. द्यानतराय जी

समाप्त

॥ इति शुभम् ॥



श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ प्रकाशन में कीमत कम करने हेतु राशि दातारों की सूची

11000=00	आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट, ए/304 पूनम अर्पाटमेन्ट्स वरली बम्बई - 18
11000=00	श्रीमान् विनोदकुमारजी दिनेशकुमारजी पान्डे सुपुत्र श्री छोटेलालजी पान्डे, बम्बई
11000=00	श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट बम्बई
5101=00	श्री परमागमश्रुत वाणी हस्ते श्री पूनमचन्दजी सेठी, ग्रेटर कैलाश देहली
5101=00	श्रीमती चन्द्रप्रभादेवी धर्मपत्नि श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया, बम्बई
5101=00	श्रीमती कमलप्रभा धर्मपत्नि श्री मानकचन्दजी लुहाडिया, देहली
5101=00	श्रीमती रत्नप्रभा जैन धर्मपत्नि श्री मोतीचन्दजी लुहाड़िया, जोधपुर
5101=00	श्रीमती शशिप्रभा धर्मपत्नि श्री प्रकाशचन्दजी लुहाडिया, इन्दौर
5101=00	श्रीमती सरोजदेवी पाटनी धर्मपत्नि श्री प्रकाशचन्दजी पाटनी, अजमेर
5001=00	श्रीमती झंकारी बाई खेमराज बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़
5001=00	श्रीमती हगामबाई चन्दनलालशाह प्रतापगढ़ (राजस्थान)
3000=00	श्रीमती ताराबाई बडजात्या धर्मपत्नि श्री शीतलचन्दजी, ग्वालियर
2501=00	श्रीमती कुसुम जैन धर्मपत्नि जितेन्द्रकुमारजी सेठी, इन्दौर (आनन्द कूलर्स वाले)
2501=00	श्रीमान् कमलकुमारजी सुपुत्र श्री उम्मेदमलजी बडजात्या, बम्बई
2501=00	श्रीमती अल्काजी धर्मपत्नि श्री पदम जैन बोहरा, दिल्ली
2501=00	श्रीमती रत्नमाला जैन धर्मपत्नि श्री कैलाशचन्दजी जैन, दिल्ली (राजा टॉयज वाले)
2501=00	श्रीमान् गंभीरचन्दजी प्रकाशचन्दजी सेमारिवाल, अहमदाबाद
2501=00	श्रीमान् शान्तिनाथजी सोनाज अकलूज
2501=00	श्रीमान् प्रकाश गाँधी, सोलापुर
2501=00	स्व. श्री मूलचन्द भाई, जयचन्द भाई दोसी, सुदासना (गुजरात)
2501=00	श्रीमती मनोरमा श्रीपाल दोसी, माण्डुवे
2121=00	श्रीमान् कपूरचन्द अनूपचन्द जैन, अजमेर
2100=00	श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल ट्रस्ट, उदयपुर
1100=00	श्रीमान् कैलाशचन्दजी जैन हस्ते श्री पृथ्वीचन्दजी जैन, माडल बस्ती, देहली
1100=00	श्रीमती विमला देवी धर्मपत्नि श्री शांतिलालजी बोहरा, अजमेर हस्ते श्री कमल जैन, कोटा
1100=00	श्रीमती शांतिदेवी बोहरा धर्मपत्नि श्री हीराचन्दजी बोहरा, कलकत्ता हस्ते श्री कमल जैन, कोटा
1100=00	श्रीमती कौशल्या देवी धर्मपत्नि श्री इन्द्रसेनजी जैन शाहदरा दिल्ली
1100=00	श्रीमान् इन्द्रसेनजी जैन शाहदरा दिल्ली
1100=00	श्रीमान् रुपचन्दजी कटारिया, राजपुर रोड, दिल्ली
1100=00	श्रीमती शांतिदेवी धर्मपत्नि श्री रूपचन्दजी कटारिया, दिल्ली
1100=00	श्रीमान् पुष्पक जयकुमारजी शाह, बम्बई
1100=00	श्रीमान रिखबचन्दजी नेमिचन्दजी पहाड़िया, पीसांगन
1000=00	श्रीमती कान्ताबाई धर्मपत्नि श्री पं. पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर
1000=00	श्रीमान् हिम्मतलाल हरिलालजी शाह, दादर, बम्बई
1000=00	श्रीमान् तखतराजजी जैन, कलकत्ता

1000=00	श्रीमान् बसन्तभाई एम दोशी, बम्बई
1000=00	श्रीमती हंसाबेन जयवन्तलाल जवेरी घाटकोपर, बम्बई
1000=00	श्रीमान् एक मुमुक्षुभाई हस्ते निशाबहन, कोचीन
1000=00	ब्र. श्री हीरालाल खुशालचन्दजी दोशी, माण्डुवे
1000=00	श्री कुन्द-कुन्द दि. जैन तेरापंथ स्वाध्याय ट्रस्ट, खेकड़ा (मेरठ)
1000=00	श्रीमती शान्ता बहन गोधरलाल दोसी, सुदासना
501=00	श्रीमती संतोषबालाजी धर्मपत्नि श्री सुखवीर सिंहजी नमकवाले, देहली
501=00	श्रीमती रीमा जैन धर्मपत्नि श्री हरीश जैन नमकवाले, दिल्ली
501=00	श्रीमान् कांतिप्रसादजी जैन, शिवाजी पार्क, शाहदरा, दिल्ली
501=00	श्रीमान् कपूरचन्दजी गदिया, अजमेर
501=00	श्रीमती मनोहरबाई चौधरी धर्मपत्नी अर्जुनलालजी चौधरी, भीलवाड़ा
501=00	श्रीमान् सिताबराय लक्ष्मीचन्दजी जैन हस्ते डॉ. आर. के. जैन, विदिशा
501=00	श्रीमती सुषमादेवी धर्मपत्नि डॉ. आर. के. जैन, विदिशा
501=00	श्रीमती शांतिदेवी जैन, दिल्ली
501=00	श्रीमान् मीठालाल मगनलाल दोशी, हिम्मतनगर
501=00	श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद जी, कलकत्ता
501=00	श्रीमान् विनायक हरी राहलकर, बडौदा
501=00	श्रीमान् छीतरमलजी अशोककुमारजी बाकलीवाल, पीसांगन
501=00	श्रीमान् नेमिचन्दजी विनोदकुमारजी बाकलीवाल
501=00	श्रीमती अंजना पाटोदी धर्मपत्नी श्री ज्ञानमलजी पाटोदी, भीलवाड़ा
501=00	श्रीमती अंजलीरानी धर्मपत्नी श्री राजकुमारजी जैन, खंडवा द्वारा आ.के.जैन एण्ड कं., खंडवा
403=00	गुप्तदान (ह. निहालचन्दजी पाण्डया) अजमेर
300=00	श्रीमान् नाथूराम जैन, लता भवन, प्रकाशनगर नागदा (उज्जैन)
300=00	ब्र. बहिन सुशीला श्री कंचन बेन, पुष्पा बेन, सोनगढ़
300=00	श्री गुप्त दातार
300=00	श्रीमान् प्रेमचन्दजी जैन (महावीर टेन्ट हाऊस), अजमेर
251=00	कुन्दकुन्द कहान स्मृति प्रकाशन ट्रस्ट, विदिशा
251=00	श्रीमान् सेठ लक्ष्मीचन्द शिखरचन्द जैन सर्राफ, विदिशा
251=00	श्रीमती इन्दुमति रसिकलाल ढोलकिया, घाटकोपर बम्बई
251=00	श्रीमान् पन्नालाल हमीरचन्दजी जैन, अहमदाबाद
251=00	श्रीमती शकरीबेन ताराचन्द शाह, तलोद
251=00	श्रीमती अरुणाबेन महेन्द्रकुमारजी, हिम्मतनगर
251=00	श्रीमती सुलोचना धर्मपत्नि तेजकुमारजी गंगवाल, इन्दौर
251=00	श्रीमती देविका बेन लालजीभाई गाला, दादर, बम्बई
251=00	श्रीमती प्रफुल्ला बेन किशोर भाई, जामनगर
201=00	श्रीमान् भागचन्दजी बज, अजमेर
201=00	श्रीमती ज्ञानमाला धर्मपत्नि श्री अजितकुमारजी पाटनी, अजमेर
201=00	श्रीमती कंचनदेवी धर्मपत्नि श्री मानकचन्दजी पाण्डया, अजमेर
201=00	श्रीमती लक्ष्मीदेवी धर्मपत्नि श्री निहालचन्दजी पाण्डया, अजमेर
201=00	श्रीमान शिखरचन्दजी तिलोकचन्दजी सोनी, अजमेर

151=00	श्रीमान् बाबूलालजी जैन एडवोकेट, विदिशा
151=00	श्रीमती विजयादेवी धर्म पत्नि महेन्द्र जैन, विदिशा
151=00	श्रीमती अमित मोदी पिंकी गारमेन्ट्स, विदिशा
151=00	श्रीमान् राजेन्द्रकुमार अतुलकुमार जैन, विदिशा
151=00	श्रीमती स्नेहलता धर्म पत्नि श्री देवेन्द्रकुमार जैन, भोपाल
151=00	श्रीमान् सुरेन्द्रकुमारजी सोगानी, भोपाल
101=00	श्रीमती गुणमाला बाई धर्मपत्नि निर्मलचन्दजी, अजमेर
101=00	श्रीमती कमला बाई धर्मपत्नि श्री मिश्रीलालजी पाटनी, अजमेर
101=00	श्री कुन्दकुन्द मूलचन्द फेमेली चेरिटेबल ट्रस्ट, अजमेर
101=00	श्रीमान् सोहनलालजी झांझरी, अजमेर
101=00	श्रीमती झंनकारी बाई, कोडरमा
101=00	गुप्तदान (शिखरजी में)
101=00	श्रीमान् चिमनलाल छोटालाल शाह, अहमदाबाद
101=00	श्रीमान् सनतभाई शाह, हिम्मतनगर
101=00	श्रीमान् सुरेशचन्दजी जैन, अजमेर

पं. सदासुख ग्रन्थमाला अजमेर द्वारा प्रकाशित
"श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार"
ग्रन्थ की कीमत कम करने हेतु "श्री मुमुक्षु मंडल भोपाल द्वारा सहायाता राशि –

5001=00	श्री जिनधर्म प्रभावना ट्रस्ट भोपाल - ह. ब्र. सुमतप्रकाश जी भोपाल
1001=00	श्रीमति स्व. लक्ष्मीबाई अध्यापिका धर्मपत्नि स्व. श्री बंशीधरजी ट्रस्ट, भोपाल हस्ते श्री चन्दनमलजी
1001=00	श्रीमति कस्तुरीबाई धर्मपत्नि श्री सुन्दरलालजी जैन हस्त श्री अशोककुमारजी सुभाष ट्रा., भोपाल
1001=00	श्रीमति शक्करबाई धर्मपत्नि चौ. बिहारीलालजी बेरासिया भोपाल
501=00	श्री कुन्द-कुन्द कतान दि.जैन स्वाध्याय मंदिर सार्वजनिक न्यास, भोपाल हस्ते केशरीमलजी
501=00	श्रीमान् अशोककुमारजी केसलीवाले, भोपाल
301=00	श्रीमान् कालूरामजी नन्नूमलजी भंडारी, भोपाल
251=00	श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नि श्री रतनलालजी सौगानी, भोपाल
251=00	श्रीमति नवलकुमारी सौगानी, भोपाल
251=00	श्रीमान् सन्दीप जी सौगानी, भोपाल
251=00	श्रीमान् प्रकाशचन्द जी घाटीवाले, भोपाल
251=00	श्रीमति स्नेहलता धर्मपत्नि श्री देवेन्द्रकुमार बड़कुल, भोपाल
251=00	श्रीमति मंजूलता धर्मपत्नि श्री सन्तोषकुमार पाटनी, वाशिम
201=00	श्रीमान् विजयकुमार जी सौगानी, भोपाल
201=00	श्रीमति चन्द्रा धर्मपत्नि श्री उमेशचन्द्र जी, भोपाल
201=00	श्रीमान् राजमल जी जैन (मे. एस. रतनलाल), भोपाल
201=00	श्रीमान् सुरेशचन्द्र जी जैन, भोपाल
201=00	श्रीमति प्रकाशचन्द्र जी, जैन भंडारी, भोपाल
151=00	श्रीमान् अजयकुमारजी सौगानी, भोपाल

151-00	श्रीमान् प्रमोदकुमार जी, पीपल्या वाले, भोपाल
101-00	श्रीमान् सुरेन्द्रकुमारजी सौगानी, भोपाल
101-00	श्रीमान् राजेन्द्रकुमारजी सौगानी, भोपाल
101-00	श्रीमान् कस्तूरचन्द्र जी सिलवानी, भोपाल
101-00	श्रीमति चमेलीबाई धर्मपत्नि कस्तूरचन्द्र जी, भोपाल
101-00	श्रीमान् पन्नालाल जी, भोपाल
101-00	श्रीमान् दरबारीलाल नरेन्द्रकुमारजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् गुहुलाल नरेन्द्रकुमार जी, भारिल्ल, भोपाल
101-00	श्रीमति लक्ष्मी देवी धर्मपत्नि श्री विमलकुमार जी भारिल्ल, भोपाल
101-00	श्रीमति मीना देवी धर्मपत्नि श्री राजेन्द्रकुमार जी भारिल्ल, भोपाल
101-00	श्रीमान् बागमल जी पवैया, भोपाल
101-00	श्रीमान् कालूराम जी, भोपाल
101-00	श्रीमान् बदामीलाल जी, भोपाल
101-00	श्रीमान् ज्ञानचन्द्रजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् छगनलालजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् कोमलचन्द्रजी, माडर्न कटपीस, भोपाल
101-00	श्रीमति क्रान्तिदेवी धर्मपत्नि श्री कोमलचन्द्र जी भोपाल
101-00	श्रीमान् मांगीलालजी भोपाल
101-00	श्रीमान् सुनिलकुमारजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् राजमलजी, लीडर, भोपाल
101-00	श्रीमान् श्रीचन्द्रजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् श्रीमलजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् मिश्रीलाल कन्हैयालालजी जैन, भोपाल
101-00	श्रीमान् सौभागमलजी स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, भोपाल
101-00	श्रीमान् मदनमस्तजी, भोपाल
101-00	श्रीमति कविता जैन धर्मपत्नि श्री संजीवकुमारजी भोपाल
101-00	श्रीमान् राजीवकुमार एवं कु. विनीता जैन पुत्री श्री उमेशचन्द्र जैन
101-00	श्रीमान् धन्नालालजी प्रमोदकुमारजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् भैयालाल शिखरचन्द्रजी, भोपाल
101-00	श्रीमति कनिका जैन धर्मपत्नि श्री प्रवीनकुमारजी लुहाड़िया, देहली
101-00	श्रीमति रतनबाई धर्मपत्नि स्व. श्री सुगनचन्द्रजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् पं. राजमलजी बी. कॉम., भोपाल
101-00	श्रीमान् सुभाषचन्द्रजी चौधरी, भोपाल
101-00	श्रीमान् मुल्तानचन्द्र मुकेशकुमारजी, भोपाल
101-00	श्रीमान् शरद जैन पुत्र श्री नन्नूमलजी जैन, भोपाल
101-00	श्रीमान् मातिकमल श्रीबाई धर्मपत्नि स्व. श्री डालचन्द्रजी, भोपाल
51-00	श्रीमान् सुहागमल जी जैन कोठरी वाले, भोपाल
51-00	श्रीमति सावित्रीबाई पन्त जैन, भोपाल
51-00	गुप्तदान तः शान्तिबाई, भोपाल
172-00	गुप्तदान

